The Drinched Book

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_184289

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—24—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No S294.4 Accession No. S1551

Author A31I

Title अकलंकदेव. तत्त्वार्थवार्तिक. भाग-1. 1953

This book should be returned on or before the date last marked below

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क १०]

भट्टाकलंकदेवविरचितम्

तत्त्वार्थवार्तिकम्

[राजवार्तिकम्]

[हिन्दीसारसहितम्]



सम्पादक—

प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, जैन-प्राचीन न्यायतीर्थ

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

प्रथम आवृत्ति
१००० प्रति

माघ वीर नि० सं० २४७९
वि० स० २००९
जनवरी १९५३

मूल्य १२ रु०

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृतिमें
तत्सुपुत्र सेठ शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासंभव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला मे प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक—[प्राकृत और संस्कृत विभाग]

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आदिनाथ उपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट्०

संस्कृत ग्रन्थांक १०

प्रकाशक—

अयोध्याप्रसाद गोयलीय,

मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी

दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ४

मुद्रक—देवताप्रसाद गहमरी, ससार प्रेस, काशीपुरा, बनारस

स्थापनाब्द फाल्गुण कृष्ण ६ वीर नि० २४७०

सर्वाधिकार सुरक्षित

विक्रम स० १८ फरवरी



स्वर्गीय मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNA-PĪTHA MŪRTIDEVI JAINA GRANTHAMALA

SAMSKRIT GRANTHA No. 10

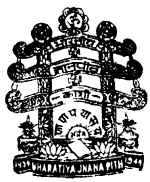
TATTVARTHAVARTIK

OF

SHRI AKALANK DEVA

WITH

HINDI TRANSLATION



Edited with

Introduction, appendices, variant readings, comparative notes etc.

BY

Prof. MAHENDRA KUMAR JAIN

Nyayacharya, Jain-Prachina Nyayatirtha, etc.

Published by

Bhāratīya Jñānapīṭha Kāshi

First Edition
1000 Copies.

MAGHA, VIR SAMVAT 2479
VIKRAMA SAMVAT 2009
JANUARY, 1953.

Price
Rs. 12/-

BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA KĀSHI

Founded by

SETH SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTI DEVĪ

JÑĀNA-PITHA MŪRTI DEVĪ JAIN GRANTHAMĀLĀ

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED, JAIN AGAMIC, PHILOSOPHICAL PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRANSA, HINDI, KANNADA & TAMIL ETC, WILL BE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & JAIN LITERATURE OF POPULAR INTEREST WILL ALSO BE PUBLISHED.

General Editors of the Prakrit and Samskrit Section

Dr HIRALAL JAIN, M. A., D. Litt.

Dr. A. N. UPADHYA, M. A., D. Litt.

SAMSKRIT GRANTHA No. 10

PUBLISHER

AYODHYA PRASAD GOYALIYA

SECY, BHĀRATIYA JÑĀNAPĪTHA,

DURGAKUND ROAD, BANARAS No 4.

Founded in Falguna Krishna 9, Vira Sam. 2470

All Rights Reserved.

Vikrama Samvat 2000
18th Feb. 1944

तत्त्वार्थवार्तिक

प्रकाशन-व्यय

१५६०।-)	कागज २२ × २६ = ३६ पौण्ड ६३ रीम १ जिस्ता	२५३२।॥-)॥	सम्पादन व्यय
२५८६॥)	छपाई ५६ फार्म	७३४।॥=)॥	कार्यालय व्यवस्था
१०००)	जिल्द बँधाई	२५०)	प्रूफ संशोधन
६०)	कवर कागज	१२००)	भेंट, आलोचना
१२०)	कवर छपाई तथा ब्लाक	१२७)	पोस्टेज ग्रन्थ भेंट भेजनेका
		३२००)	कमीशन, विज्ञापन, विक्री-व्ययादि

कुल लागत १३४०४॥-)।

१००० प्रति छपी। लागत एक प्रति १३।=)

मूल्य १२ रु०

तत्त्वार्थवार्तिक

विषय-सूची

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
प्रथम अध्याय		
मगलाचरण	१	२६५
सूत्रकारने मार्गका ही क्यों उपदेश दिया ?	१	२६५
मोक्षका अस्तित्व निरूपण	२	२६५
बन्धका कारण बतलाकर ही मोक्षका कारण बतलाना इष्ट है	२	२६६
मोक्षमार्गका स्वरूप	**३**	**२६६**
सम्यग्दर्शनका स्वरूप	३	२६६
सम्यक्चारित्रका स्वरूप	४	२६७
सम्यग्ज्ञान आदि शब्दोकी व्युत्पत्ति	४	२६७
आत्मा और ज्ञान आदिका एकान्ततः भेदाभेद पक्षका खण्डन और कथचिद्भेदाभेद पक्षका स्थापन	४	२६७
समवायसम्बन्धका निषेध	६	२६८
पर्याय और पर्यायीमे कथचिद्भेदाभेद का निरूपण	७	२६९
सूत्रस्थ ज्ञानादि पदोका पौर्वापर्य विचार	९	२६९
मोक्षके स्वरूपका वर्णन	१०	२६९
मार्गशब्दकी व्युत्पत्ति	१०	२६९
साख्य, वैशेषिक, न्याय तथा बौद्धमत-सम्मत मोक्षकारणका खण्डन करके जैन मतानुसार सम्यग्दर्शनादिकी मोक्ष-कारणताका निरूपण	११	२७१
ज्ञानसे ही मुक्ति होती है इस मतका खण्डन	१४	२७३
ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति होनेसे उनके एकत्वका परिहार	१६	२७४
ज्ञान और चारित्रमे कालभेद न होनेसे उनमे अभेद है इस मतका परिहार	१७	२७४
सम्यग्दर्शनादिमे लक्षणभेदसे वे मिलकर एक मार्ग नहीं हो सकते इस शकाका समाधान	१७	२७५
सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमे अविनाभावका निरूपण	१७	२७५
सम्यग्दर्शनका लक्षण	**१९**	**२७६**
सम्यक् शब्दकी निरुक्ति और उसका अर्थ	१९	२७६
दर्शन शब्दके अर्थका विचार	१९	२७६
तत्त्व शब्दके अर्थका निरूपण	१९	२७६
तत्त्वार्थ और श्रद्धान शब्दकी निरुक्ति व अर्थनिरूपण	१९	२७६
'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्रमे 'तत्त्व' और 'अर्थ' पदके ग्रहणकी सार्थकता	२०	२७७
श्रद्धानका अर्थ इच्छा माननेपर दोषापत्ति	२१	२७८
सम्यग्दर्शनके भेद और उनका लक्षण	२२	२७८
सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके प्रकार	**२२**	**२७८**
निसर्ग और अधिगम शब्दकी निरुक्ति	२२	२७८
सम्यग्दर्शनके निसर्गज और अधिगमज ये दो भेद माननेपर आनेवाले दोषोंका परिहार	२२	२७८
सूत्रमे आये हुए 'तत्' शब्दकी सार्थकता	२४	२७९

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
जीवादि सात पदार्थोंका निर्देश	**२४**	**२७६**
जीवादि सात पदार्थ ही क्यो कहे इसका कारण	२४	२८०
आस्रव आदिकका जीव और अजीवमें अन्तर्भाव हो जानेपर भी उनके पृथक् ग्रहणका प्रयोजन	२५	२८०
जीव आदि शब्दोका निर्वचन	२५	२८०
जीवादि पदार्थोंका लक्षण निर्देश	२६	२८१
सूत्रमें जीवादि पदोके यथाक्रम रखनेकी सार्थकता	२७	२८१
'तत्त्व' शब्दके साथ जीवादि पदोके समानाधिकरणका विचार	२७	२८२
जीवादि तत्त्वोंके सम्यवहारके लिए निक्षेप प्रक्रियाका निरूपण	२८	२८२
नाम आदि निक्षेपोका लक्षण	२८	२८२
नाम और स्थापनाके एकत्वकी आशका का परिहार	२९	२८२
द्रव्य और भावकी एकताकी आशका का परिहार	२९	२८३
नाम आदि पदोके पौर्वापर्यका निरूपण	३०	२८३
एक शब्दार्थके नाम आदि चार निक्षेप माननेमें आनेवाले दोषोका निराकरण	३०	२८३
द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकमें नाम आदि निक्षेपोंके अन्तर्भाव हो जानेके कारण उनके पुनः उल्लेखसे होनेवाले पुनरुक्ति दोषका निराकरण	३२	२८४
सूत्रमें आये हुए 'तत्' शब्दकी सफलता	३३	२८४
तत्त्वाधिगम के उपाय	**३३**	**२८४**
सूत्रमें 'प्रमाण' शब्दके पहले रखनेका कारण	३३	२८४
अधिगम हेतु भेद	३३	२८५
सप्तभंगीका लक्षण तथा उसका स्वरूप	३३	२८५
अनेकान्तमें विधिप्रतिषेधकल्पनाकी सिद्धि	३५	२८७
अनेकान्तका निरूपण न तो छल है और न संशयका हेतु है इस बातका समर्थन	३६	२८७
जीवादि पदार्थोंके अधिगमके अन्य उपाय	**३८**	**२८८**
निर्देश आदि पदोके क्रम-निर्देशका कारण व उनका स्वरूप निर्देश	३८	२८८
जीव पदार्थमें दो नयका अवलम्बन लेकर निर्देश आदिकी योजना	३८	२८८
अजीव आदिमें निर्देश आदिकी योजना	३९	२८९
जीवादिके अधिगमके अन्य उपाय	**४१**	**२९१**
'सत्' शब्दका अर्थ	४१	२९१
सूत्रमें आये हुए 'सत्' आदि पदोका पौर्वापर्यविचार व स्वरूपनिर्देश	४१	२९१
निर्देश आदि पदोसे सत् आदि पदोको भिन्न रखनेकी सार्थकता	४२	२९२
सम्यग्ज्ञानके पाँच भेद	**४४**	**२९३**
सूत्रमें आये हुए मति आदि शब्दोकी व्युत्पति	४४	२९३
अन्य मतोमें ज्ञान शब्दकी करण आदि साधनोमें सिद्धि नही होती इसका प्रतिपादन	४५	२९४
मति आदि पदोंके पौर्वापर्य क्रमका निरूपण	४७	२९६
मति और श्रुतके एकत्वका निराकरण	४८	२९७
श्रुतज्ञानके स्वरूपका निर्देश व शका-समाधान	४८	२९७
मति आदि ज्ञान दो प्रमाणोंमें विभक्त है इस बातका निर्देश	**४९**	**२९७**
'प्रमाण' शब्दकी निरुक्ति व उसका स्वरूप निर्देश	४९	२९७
प्रमाणके फलका निर्देश	५०	२९८
ज्ञाता और प्रमाणमें सर्वथा भेद है इस मतका खण्डन	५०	२९८
सन्निकर्ष प्रमाण है इस मतका खण्डन	५१	२९९
मति और श्रुतमें परोक्षत्वकी व्यवस्था	**५२**	**३००**
आद्य शब्दका अर्थ	५२	३००
परोक्ष शब्दका अर्थ और उसकी प्रमाणता	५२	३००
अवधि आदि ज्ञान प्रत्यक्ष हैं	**५३**	**३००**
प्रत्यक्षका लक्षण	५३	३००
अन्य द्वारा प्रत्यक्ष तथा परोक्षके माने गये लक्षणोंका निराकरण	५३	३०१
मतिज्ञानके नामान्तर	**५७**	**३०४**
मति आदि नामान्तरोंका मति शब्द के साथ अभेदार्थ कथन तथा उस विषयमें शका-समाधान	५७	३०४
मति ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण	**५९**	**३०५**
इन्द्रिय और अनिन्द्रिय शब्दका अर्थ	५९	३०५

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
सूत्रमें आये हुए 'तत्' पदकी सार्थकता	५९	३०६
मतिज्ञानके अवग्रह आदि चार भेद	**६०**	**३०६**
अवग्रह आदिके लक्षण व आनुपूर्वी निरूपणकी सार्थकता	६०	३०६
अवग्रह तथा ईहा ज्ञानकी अप्रमाणता का निराकरण	६०	३०६
अवाय शब्दके समान अपाय शब्दकी सार्थकता	६१	३०७
दर्शन और अवग्रहमें भेद	६१	३०७
अवग्रह आदिके कार्यभेदका निरूपण	६१	३०७
अवग्रह आदि किन अर्थोंके होते है ?	**६२**	**३०८**
युक्ति पूर्वक बहु आदि शब्दोंका अर्थ	६२	३०८
बहु आदिको प्रारम्भमें रखनेका कारण	६३	३०९
इन्द्रिय और मनके आलम्बनसे बहु आदिककी योजना	६३	३०९
बहु बहुविध आदि शब्दोंके अर्थमें भेद	६४	३०९
ये बहु आदि भेद पदार्थके है	**६५**	**३१०**
अवग्रहकी विशेषता	**६६**	**३१०**
व्यंजनावग्रह चक्षु और मनसे नही होता	**६७**	**३११**
चक्षु और मन अप्राप्यकारी है	६७	३११
मनके अनिन्द्रियत्व तथा अननिन्द्रियत्वका विचार	६९	३१३
मतिज्ञानका विषय	७०	३१३
श्रुतज्ञानका विवेचन	**७०**	**३१४**
श्रुतज्ञानके अङ्ग प्रविष्ट और अङ्ग बाह्य ये दो मूल भेद तथा इनके उत्तर भेदोंका विवेचन	७२	३१५
भवप्रत्यय अवधिज्ञान और उसके स्वामीका निर्देश	**७९**	**३१९**
देवो और नारकियोंके द्रव्य, क्षेत्र आदिकी अपेक्षा अवधिज्ञानका निरूपण	८०	३२०
क्षयोपशमनिमित्तक अवधि व उसके स्वामीका विचार	**८१**	**३२१**
अवधिज्ञानके अनुगामी आदि भेदों का विवेचन	**८१**	**३२१**
प्रकारान्तरसे अवधिज्ञानके देशावधि आदि तीन भेद तथा उनके जघन्य आदि भेदोंका तारतम्य	८१	३२१
मनःपर्ययज्ञान और उसके भेद	**८३**	**३२३**
ऋजु आदिका लक्षण तथा मनःपर्ययके अर्थका विचार	८३	३२३
ऋजुमति तथा विपुलमतिके भेद	८४	३२४
दोनों मन.पर्ययज्ञानोंकी परस्पर विशेषता	**८५**	**३२४**
अवधि तथा मन.पर्ययज्ञानकी परस्पर विशेषता	**८६**	**३२४**
मन.पर्ययज्ञान किनके होता है ?	८६	३२५
मति और श्रुतका विषय	**८७**	**३२५**
अवधिज्ञानका विषय	८८	३२६
मन पर्ययज्ञानका विषय	**८८**	**३२६**
केवलज्ञानका विषय	**८८**	**३२६**
द्रव्य और पर्यायका विवेचन	८८	३२६
एक ही आत्मामें एक साथ कितने ज्ञान होते है ?	**९०**	**३२७**
सूत्रस्थ पदोंका तात्पर्य एवं ज्ञान सम्बन्धी विशेष विचार	९०	३२७
मति, श्रुत और अवधि विपर्यय भी होते हैं	९१	३२८
विपर्यय होनेका हेतु निर्देश	९१	३२८
ये तीन ज्ञान विपर्यय क्यों है इस बातका विवेचन	**९२**	**३२८**
अन्य मतवालोंके द्वारा मानी गई पदार्थ व्यवस्था विपर्ययका कारण	९३	३२९
भेदपूर्वक नयोंका कथन	**९४**	**३३०**
नयका लक्षण व उसके दो मूल भेद	९४	३३०
सातों नयोंका लक्षणपूर्वक विस्तृत विवेचन	९५	३३०
सात नयोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता व पूर्व पूर्वहेतुताका विचार	९९	३३४

द्वितीय अध्याय

जीवके औपशमिक आदि भावोंका कथन	**१००**	**३३६**
औपशमिक आदि पदोंका अर्थ व उनका क्रमनिर्देश	१००	३३६
औपशमिक आदि भावोंके भेद	**१०३**	**३३७**
द्वि आदि शब्दोंका भेद शब्दके साथ तथा द्वि आदि शब्दोंका परस्पर सम्बन्ध कथन	१०३	३३७
औपशमिक भावके भेद	**१०४**	**३३८**
औपशमिक सम्यक्त्वका लक्षण	१०४	३३८

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
कर्मके उपशम होनेका कारण काललब्धि आदि	१०४	३३८
औपशमिक चारित्रका स्वरूप और सम्यक्त्व तथा चारित्रका पौर्वापर्य विचार	१०५	३३९
क्षायिक भावके भेद तथा उनके लक्षण	**१०५**	**३३९**
अभयदान आदि कार्य सिद्धोंमें क्यों नहीं होते ?	१०६	३४०
मिश्र भावके भेद	**१०६**	**३४०**
सूत्रगत पदोंका परस्पर सम्बन्ध कथन	१०६	३४०
क्षयोपशमका स्वरूप	१०६	३४१
स्पर्धकका लक्षण	१०७	३४१
क्षायोपशमिक भावके भेदोंका विशेष विचार	१०७	३४१
सज्ञित्व आदि भावोंका अन्तर्भाव	१०८	३४२
औदयिक भावके भेद	**१०७**	**३४२**
औदयिक भावके गति आदि भेदोंका स्वरूप	१०८	३४२
पारिणामिक भावके भेद	**११०**	**३४३**
जीवत्व आदिके पारिणामिकत्वका समर्थन व उनका स्वरूप	११०	३४३
'च' शब्दकी सार्थकता	१११	३४४
अस्तित्व आदि भाव अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाते है, इसलिए उनका सूत्रमें सग्रह नही किया इसका विचार	१११	३४४
सान्निपातिक भावका मिश्र भावमें अन्तर्भाव	११४	३४५
औपशमिक आदि भाव आत्माके ही परिणाम है	११६	३४७
अमूर्त आत्मा भी कर्मसे बद्ध है	११७	३४७
जीवका लक्षण उपयोग	**११८**	**३४८**
हेतुके भेद	११८	३४८
लक्षण विचार	११९	३४८
तादात्म्यस्वरूप उपयोग आत्माका लक्षण कैसे हो सकता है इस शकाका परिहार	११९	३४९
आत्माके अभावमें दिखाई गई युक्तिका खण्डन	१२१	३५०
उपयोगके भेद-प्रभेद	**१२३**	**३५२**
उपयोगके साकार और अनाकार ये दो भेद	१२३	३५२
सूत्रस्थ पदोंका पौर्वापर्य विचार	१२४	३५२
जीवके संसारी और मुक्त दो भेद	**१२३**	**३५२**
सूत्रमें आये हुए पदोंका अर्थ	१२४	३५३
'च' शब्दकी सार्थकता	१२५	३५३
संसारी जीवके समनस्क और अमनस्क भेद	**१२५**	**३५३**
सूत्रगत पदोंका तात्पर्य	१२५	३५३
'समनस्कामनस्काः' पृथक् सूत्र बनाने का तात्पर्य	१२५	३५३
संसारीके त्रस और स्थावर भेद	**१२६**	**३५४**
त्रस शब्दका तात्पर्य	१२६	३५४
स्थावर शब्दका अर्थ	१२६	३५४
सूत्रस्थ पदोंका पौर्वापर्यविचार	१२७	३५४
स्थावरके पाँच भेद	**१२७**	**३५४**
पृथिवी आदि प्रत्येकके चार भेद	१२७	३५४
सूत्रस्थ पदोंका पौर्वापर्य विचार	१२७	३५४
त्रस कौन है ?	**१२८**	**३५५**
सूत्रस्थ शब्दोंका तात्पर्य विवेचन	१२८	३५५
द्वीन्द्रिय आदिमें किसके कितने प्राण है	१२९	३५५
इन्द्रियोंकी संख्या	**१२९**	**३५५**
इन्द्रिय शब्दका अर्थ	१२९	३५५
मन इन्द्रिय न होनेका कारण	१२९	३५५
यहाँ इन्द्रिय शब्द द्वारा कर्मेन्द्रियोंका ग्रहण नही किया	१२९	३५६
प्रत्येक इन्द्रिय दो दो प्रकारकी है	**१३०**	**३५६**
द्रव्येन्द्रियके दो भेद	**१३०**	**३५६**
निर्वृत्तिका लक्षण व उसके भेद	१३०	३५६
उपकरणका लक्षण व उसके भेद	१३०	३५६
भावेन्द्रियके दो भेद	**१३०**	**३५६**
लब्धिका लक्षण	१३०	३५१
उपयोगका लक्षण	१३०	३५६
उपयोग इन्द्रिय क्यो है इसका विचार	१३०	३५६
पाँच इन्द्रियोंके नाम	**१३१**	**३५७**
इन्द्रियोंके नामोंकी व्युत्पत्ति	१३१	३५७
पहले स्पर्शन अनन्तर रसना इत्यादि क्रमसे कथन करनेका कारण	१३१	३५७
ये इन्द्रियाँ परस्पर और आत्मासे कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है	१३२	३५७

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
इद्रियोंका विषय	**१३२**	**३५८**
सूत्रस्थ शब्दोकी व्युत्पत्ति	१३२	३५८
पौर्वापर्य विचार	१३३	३५८
पृथिवी आदिमे किसमे कितने गुण है इसका विचार	१३३	३५८
ये स्पर्शादिक परस्पर और आत्मासे कथञ्चित् अभिन्न है	१३३	३५८
मनका विषय	**१३४**	**३५९**
श्रुत श्रोत्र इन्द्रियका विषय नही है	१३४	३५९
वनस्पत्यन्त जीवोके एक स्पर्शन इन्द्रिय है	**१३४**	**३५९**
सूत्रस्थ पदोका विशेष खुलासा	१३४	३५९
कृमि आदि जीवोंके एक एक इन्द्रिय अधिक है	**१३५**	**३५९**
सूत्रस्थ पदोका विचार	१३५	३५९
समनस्क शब्दका व्याख्यान	१३६	३६०
सज्ञा शब्दका अर्थ	१३६	३६०
विग्रह गतिमें जीवके कर्मयोग होता है	**१३६**	**३६०**
विग्रह पदका अर्थ	१३६	३६०
कर्म शब्दका अर्थ	१३७	३६०
योग शब्दका अर्थ	१३७	३६०
जीवकी गति श्रेणीके अनुसार होती है	**१३७**	**३६०**
मुक्त जीवकी गति	**१३८**	**३६१**
संसारी जीवोंकी विग्रहगति कितने समयवाली है	**१३९**	**३६१**
सूत्रस्थ पदोका स्पष्टीकरण	१३९	३६१
जीवकी चार गतियोके नाम और उनका समय	१३९	३६१
अविग्रहवाली गतिका कालनिर्धारण	**१३९**	**३६१**
आत्मा क्रियावान् है इसकी सिद्धि	१३९	३६१
जीव कितने कालतक अनाहारक रहता है	**१४०**	**३६२**
आहारका लक्षण	१४०	३६२
विग्रहगतिमे आहारका ग्रहण क्यो नहीं होता	१४०	३६२
किस गतिमे किस समय जीव आहार ग्रहण करता है	१४०	३६२
जन्मके भेद	**१४०**	**३६२**
सम्मूर्च्छन आदि शब्दोके अर्थ	१४०	३६२
पौर्वापर्यपर विचार	१४०	३६२

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
जन्मके अनेक भेद क्यो हैं इसका कारण	१४१	३६२
योनियोंके सचित्त आदि नौ भेद	**१४१**	**३६३**
सचित्त आदि शब्दोका अर्थ	१४१	३६३
सूत्रस्थ 'च' शब्दकी सार्थकता	१४१	३६३
सूत्रमे आये हुए 'एकशः' और 'तत्' पदकी सार्थकता	१४२	३६३
योनि और जन्ममे भेद है	१४२	३६३
सचित्त आदि पदोके पौर्वापर्यका विचार	१४२	३६३
किन जीवोके कौन योनि होती है इस बातका निर्देश	१४३	३६३
उत्तर योनियाँ चौरासी लाख है इस बातका कथन	१४३	३६३
गर्भ जन्म किन जीवोंके होता है	**१४३**	**३६४**
जरायुज आदि शब्दोका तात्पर्य	१४३	३६४
पोतज शब्द न रखनेका कारण	१४४	३६४
जरायुज आदिके पौर्वापर्यका विचार	१४४	३६४
उपपाद जन्म किन जीवोके होता है	**१४५**	**३६४**
देवादि गतिके उदयसे जन्म भिन्न है	१४५	३६४
सम्मूर्च्छन जन्म किन जीवोंके होता है	**१४५**	**३६५**
शरीरके पाँच भेद	**१४५**	**३६५**
शरीर शब्दका अर्थ	१४५	३६५
औदारिक आदि पदोकी व्युत्पत्ति तथा उनका अर्थ	१४६	३६५
सब शरीर कार्मण क्यो नही है इस बातका स्पष्टीकरण	१४६	३६५
कार्मण शरीरके अस्तित्वकी सिद्धि	१४६	३६५
औदारिक आदि पदोके पौर्वापर्यका विचार	१४७	३६६
औदारिक आदि शरीरोके यथाक्रम सूक्ष्मत्वका कथन	**१४७**	**३६६**
तैजसके पूर्वके शरीरोंके प्रदेशोका विचार	**१४७**	**३६६**
प्रकृतमे प्रदेश शब्दका अर्थ	१४७	३६६
असख्येय शब्दका अर्थ	१४७	३६३
उत्तरोत्तर शरीरोके प्रदेश असख्यात गुणे होनेसे वे महापरिमाण वाले क्यो नहीं है इस बातका निर्देश	१४८	३६६
अन्तिम दो शरीरोंके प्रदेशोका विचार	**१४८**	**३६६**
तैजस और कार्मण शरीरकी इन्द्रियो द्वारा उपलब्धि न होनेका कारण	१४८	३६७

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
अन्तिम शरीरके अप्रतिघातित्व का समर्थन	**१४९**	**३६७**
प्रतीघातका अर्थ	१४९	३६७
यहाँ तैजस और कार्मण शरीर ही अप्रतीघाती क्यो कहे इसका कारण	१४९	३६७
अन्तके दो शरीर अनादि सम्बन्ध वाले हैं	**१४९**	**३६७**
सूत्रमें आये हुए 'च' शब्दका तात्पर्य	१४९	३६७
शरीर सम्बन्धको सर्वथा सादि माननेमें दोष	१४९	३६७
शरीर सम्बन्धको सर्वथा अनादि माननेमें दोष	१४९	३६७
अन्तके दो शरीर किनके होते है	**१५०**	**३६७**
एक जीवके एक साथ कितने शरीर होते है इसका कथन	**१५०**	**३६७**
एक जीवके वैक्रियिक और आहारक एक साथ नहीं होते इस बातका कथन	१५०	३६८
अन्तिम शरीर निरुपभोग है	**१५१**	**३६८**
उपभोग शब्दका अर्थ	१५१	३६८
तैजस शरीरका उपभोग प्रकरणमें विचार क्यो नहीं किया	१५१	३६८
औदारिक शरीर किस जन्मसे उत्पन्न होता है इसका निरूपण	**१५१**	**३६८**
वैक्रियिक शरीर किस जन्मसे उत्पन्न होता है इसका कथन	**१५१**	**३६८**
वैक्रियिक शरीर लब्धिप्रत्यय भी है	**१५१**	**३६८**
लब्धिका अर्थ	१५१	३६८
सब शरीर वैक्रियिक क्यो नहीं है ? इस बातका विचार	१५२	३६८
तैजस शरीर लब्धिज है	**१५२**	**३६९**
आहारक शरीरका स्वरूप	**१५२**	**३६९**
सूत्रमें आये हुए पदोका विचार	१५२	३६९
सूत्रमें आये हुए 'च' शब्दकी सार्थकता	१५२	३६९
सज्ञा आदिके द्वारा सब शरीरोका परस्पर भेद-प्रदर्शन	१५३	३६९
कौन गतिके जीव नपुंसक होते हैं	**१५६**	**३७१**
नपुसक होनेका कारण	१५६	३७१
देव नपुंसक नहीं होते	**१५६**	**३७१**
शेष गतिके जीव तीन वेदवाले होते हैं	**१५६**	**३७२**
तीनो वेदोकी उत्पत्तिके कारण	१५७	३७२
वेद अर्थात् लिङ्गके भेद और उनका अर्थ	१५७	३७२
अकाल मृत्युका नियम	**१५७**	**३७२**
सूत्रस्थ ओपपादिक आदि पदोका अर्थ	१५७	३७२

तृतीय अध्याय

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
सात नरक भूमियोंका नाम निर्देश व उनका आधार	**१५९**	**३७३**
सूत्रस्थ पदोका साफल्य प्रदर्शन	१५९	३७३
सातो भूमियोकी मुटाई	१६०	३७३
'पृथुतराः' श्वेताम्बर पाठका खण्डन	१६१	३७४
सातों भूमियोंमे नरक संख्या	**१६१**	**३७४**
नरकोंका निश्चित स्थान व उनके इन्द्रक आदि भेद तथा प्रत्येक भूमिमें प्रस्तार विचार व उनके नाम	१६२	३७४
प्रत्येक भूमिमें इन्द्रक आदि नरकोकी गहराई	१६३	३७५
नारकी अशुभतर लेश्या आदिवाले होते है	**१६३**	**३७५**
सूत्रस्थ पदोके अनुसार लेश्यादिका विशेष खुलासा	१६३	३७५
नारकियोंको एक दूसरेके द्वारा दिये जानेवाले दुखोंका वर्णन	**१६४**	**३७६**
प्रारम्भकी तीन भूमियोंमें संक्लिष्ट असुरो द्वारा दिये गये दुख	**१६५**	**३७६**
सूत्रस्थ पदोका तात्पर्य	१६५	३७६
क्रमसे नरकोंमें जीवोकी उत्कृष्ट आयु का वर्णन	**१६६**	**३७७**
सूत्रस्थ शब्दोका परस्पर सम्बन्ध	१६६	३७७
रत्नप्रभा आदिमें प्रति प्रस्तार जघन्य स्थितिका वर्णन	१६७	३७७
प्रति प्रस्तार आयु लानेका करणसूत्र	१६८	३७८
नरकोमें उत्पत्तिका विरहकाल	१६८	३७८
नरकमें कौन जीव कहातक उत्पन्न होते है	१६८	३७८
किस नरकसे आकर जीव किस अवस्थाको प्राप्त होते है और किस अवस्थाको नहीं प्राप्त होते	१६८	३७८
द्वीप और समुद्रोंके नाम	**१६९**	**३७९**
जम्बू द्वीप सज्ञाका कारण	१६९	३७९
लवणोद संज्ञाका कारण	१६९	३७९

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
द्वीप और समुद्रोंका विष्कम्भ आदि	१७०	३८०
सूत्रमें आये हुए पदोंकी सार्थकता	१७०	३८०
जम्बूद्वीपका वर्णन	१७०	३८०
सात क्षेत्रोंका नाम निर्देश	१७१	३८०
प्रथम क्षेत्रका नाम भरत क्यों पड़ा ?	१७१	३८०
भरत क्षेत्र कहां है और उसके छह खण्ड कैसे होते हैं ?	१७१	३८०
विजयार्द्ध अर्थात् रजताद्रिका वर्णन	१७१	३८१
हैमवत आदि क्षेत्र कहां हैं और उनमें क्या-क्या विशेषता है ?	१७२	३८१
विदेहक्षेत्रके भेद तथा उनका विशेष वर्णन	१७३	३८२
मेरुपर्वत कहां है और उसका अवगाह व व्यास आदि कितना है इस बातका विशेष विचार	१७७	३८२
रम्यक आदि क्षेत्र कहां हैं और उनमें क्या विशेषता है ?	१८१	३८२
हिमवान् आदि पर्वतोंके नाम	१८२	३८३
हिमवान् आदि शब्दोंका अर्थ तथा उनकी स्थिति	१८२	३८३
पर्वतोंका रङ्ग	१८४	३८४
पर्वतोंकी अन्य विशेषताएँ	१८४	३८४
पर्वतोंके ऊपर छह सरोवरोंका वर्णन	१८४	३८४
प्रथम सरोवरके आयाम और विष्कम्भ का वर्णन	१८४	३८४
प्रथम सरोवरके अवगाहका निर्देश	१८५	३८४
प्रथम सरोवरके बीचके पुष्करका परिमाण	१८५	३८५
अन्य सरोवर व उनके पुष्करोंके परिमाणका विवेचन	१८५	३८५
सूत्रमें आये हुए 'तद्द्विगुणद्विगुणाः' पदकी सार्थकता	१८६	३८५
सरोवरोंमें रहनेवाली देवियोंके नाम व उनकी अन्य विशेषताएँ	१८६	३८५
चौदह नदियोंके नाम व उनका स्थान-निर्देश	१८७	३८६
दो-दो नदियोंमें प्रथम नदीका पूर्व समुद्र गमन निरूपण	१८७	३८६
दो-दो नदियोंमें द्वितीय नदीका पश्चिम समुद्राभिमुख गमन	१८७	३८६
गंगा, सिन्धु आदि नदियोंका पद्मह्रद आदि सरोवरोंसे उत्पत्तिका वर्णन	१८७	३८६
गंगा, सिन्धु आदि नदियोंकी परिवार नदियोंका वर्णन	१९०	३८७
भरतक्षेत्रका विस्तार	१९०	३८८
विदेह पर्यन्त पर्वतों व क्षेत्रोंका विस्तार	१९०	३८८
उत्तरके क्षेत्र आदि दक्षिणके क्षेत्र आदिके समान हैं	१९१	३८८
भरत व ऐरावतमें काल विचार	१९१	३८८
वृद्धि और ह्रास किनका होता है इसका विचार	१९१	३८८
अवसर्पिणी व उत्सर्पिणीका लक्षण	१९१	३८८
कालके छः भेद व उनका परिमाण	१९२	३८८
अन्य भूमियाँ अवस्थित हैं	१९२	३८९
हैमवतक हारिवर्षक और देवकुरुवक मनुष्योंकी आयुका वर्णन	१९२	३८९
उक्त मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई व आहारका नियम	१९२	३८९
दक्षिणके क्षेत्रोंमें स्थित मनुष्योंके समान उत्तरके क्षेत्रोंमें स्थितमनुष्य हैं	१९२	३८९
विदेह क्षेत्रके मनुष्योंकी आयु	१९२	३८९
विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई व आहारका नियम	१९२	३८९
भरतक्षेत्रके विष्कम्भका प्रकारान्तरसे वर्णन	१९३	३८९
लवण समुद्रका विष्कम्भ व मध्यमें जलकी ऊँचाईका परिमाण	१९३	३८९
चार महापातालोंका व अन्य पातालों का वर्णन	१९३	३८९
जलको धारण करनेवाले नागोंका व उनके आवासोंका वर्णन	१९४	३९०
गौतम द्वीपका वर्णन	१९४	३९०
लवण समुद्र कहाँ कितना गहरा है	१९४	३९०
सब समुद्रोंके पानीका स्वाद	१९४	३९०
जलचर जीव किन समुद्रोंमें हैं आदि	१९४	३९०
धातकीखण्डका वर्णन	१९४	३९०
धातकीखण्डमें भरत आदि क्षेत्रोंके विष्कम्भ आदिका निरूपण	१९५	३९०
पुष्करार्ध द्वीपका वर्णन	१९६	३९१
'च' शब्दकी सार्थकता	१९६	३९१
पुष्करार्धमें भरत आदि क्षेत्रोंके विष्कम्भ आदिका वर्णन	१९६	३९५

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
पुष्करार्ध संज्ञाका कारण	१९७	३९१
मानुषोत्तरके पूर्व ही मनुष्योंका निवास है	**१९७**	**३९१**
किस प्रकारके मनुष्य मनुष्यलोकके बाहर पाये जाते है इस बातका विचार	१९८	३९१
नन्दीश्वर द्वीपका वर्णन	१९८	३९१
कुण्डलवर द्वीपका वर्णन	१९९	३९१
मनुष्योंके दो भेद आर्य और म्लेच्छ	**२००**	**३९२**
आर्योंके भेद व उनके लक्षण	२००	३९२
अनृद्धिप्राप्त आर्योंके भेद-प्रभेद व उनका स्वरूप	२००	३९२
ऋद्धिप्राप्त आर्योंके भेद-प्रभेद व उनका स्वरूप	२०१	३९२
म्लेच्छोंके भेद व उनका वर्णन	२०४	३९५
कौन-कौन क्षेत्र कर्मभूमि हैं इसका कथन	**२०४**	**३९५**
कर्म शब्दका अर्थ	२०४	३९५
मनुष्योंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु का वर्णन	**२०५**	**३९५**
प्रमाणके भेद	२०५	३९६
लौकिक प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०६	३९६
लोकोत्तर प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०६	३९६
द्रव्य प्रमाणके भेद व उनका विचार	२०७	३९६
सख्या प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०६	३९६
उपमान प्रमाणके भेद व उनका विशेष विचार	२०७	३९८
पल्यके भेद तथा उनका वर्णन	२०७	३९८
क्षेत्र प्रमाणके भेद	२०८	३९९
काल प्रमाणका वर्णन	२०९	३९९
भाव प्रमाणके भेद	२०९	३९९
तिर्यग्योनिजोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु	**२०९**	**३९९**
तिर्यग्योनि शब्दका अर्थ	२०९	३९९
तिर्यञ्चोके भेद तथा उनकी उत्कृष्ट भवस्थितिका वर्णन	२०९	३९९
भवस्थिति और कायस्थितिकी विशेषता	२१०	४००
तिर्यञ्चोकी कायस्थिति	२१०	४००

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
चतुर्थ अध्याय		
देवोंके चार भेद	**२११**	**४०१**
देव शब्दका अर्थ	२११	४०१
निकाय शब्दका अर्थ	२११	४०१
आदिके तीन निकायोंमें लेश्या विचार	**२११**	**४०१**
भवनवासी आदि निकायोंके अवान्तर भेद	**२१२**	**४०१**
प्रत्येक अवान्तर भेदके इन्द्र आदि दस भेद	२१२	४०१
इन्द्र आदिका स्वरूप	२१२	४०१
व्यन्तर और ज्योतिष्क निकायोंमें त्रायस्त्रिंश तथा लोकपालको छोड़ कर आठ भेद	**२१३**	**४०२**
भवनवासी और व्यन्तर देवोंके अवान्तर प्रत्येक भेदमें दो दो इन्द्रका कथन	**२१३**	**४०२**
भवनवासी और व्यन्तर इन्द्रोंके नाम	२१४	४०२
ऐशान कल्पतकके देवोंमें प्रवीचार का विचार	**२१४**	**४०२**
शेष कल्पवासी देवोंमें प्रवीचारका विचार	२१४	४०३
कल्पातीत देवोंमें अप्रवीचारका कथन	**२१५**	**४२०**
भवनवासी देवोंके भेद	**२१६**	**४०३**
भवनवासी शब्दका अर्थ	२१६	४०३
असुर सज्ञाका कारण युद्ध नहीं है	२१६	४०३
कुमार शब्दकी सार्थकता	२१६	४०४
भवनवासी देवोका निवासस्थान व उनके वैभवका वर्णन	२१६	४०४
व्यन्तर देवोंके भेद	**२१७**	**४०४**
व्यन्तर शब्दका अर्थ	२१७	४०४
किन्नर आदि सज्ञाओका कथन	२१७	४०४
व्यन्तर देवोका निवासस्थान	२१७	४०५
ज्योतिष्क देवोंके भेद	**२१८**	**४०५**
ज्योतिष्क शब्दका अर्थ	२१८	४०५
सूर्य आदि शब्दोका पौर्वापर्य विचार	२१८	४०५
ज्योतिष्क देवोका निवास-स्थान	२१९	४०५
ज्योतिष्कोके विमान आदि वैभवका वर्णन	२१९	४०५
मनुष्यलोकमें ज्योतिष्कोंका गमन विचार	**२२०**	**४०६**
ज्योतिष्क विमानोके गमन करनेका कारण	२२०	४०६

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
ढाई द्वीपमें और उसके बाहर सूर्य चन्द्र आदि कितने है	२२०	४०६
इस सम्बन्धी अन्य आवश्यक जानकारी	२२०	४०६
ज्योतिषियोंकी गतिसे दिन-रात आदि व्यवहारकालका कथन	**२२१**	**४०७**
मुख्य कालकी सिद्धि	२२२	४०८
अस्तिकायोंमें कालके स्वीकार न करने का कारण	२२२	४०८
मनुष्यलोकके बाहर ज्योतिषियोंकी अवस्थिति	**२२२**	**४०८**
चतुर्थ निकायका नाम निर्देश	**२२१**	**४०८**
वैमानिक शब्दका अर्थ तथा विमानोंके भेद	२२२	४०८
वैमानिक देवोंके भेद	**२२३**	**४०८**
वैमानिक देवोंके निवासस्थान ऊपर हैं	२२३	४०८
वैमानिक देवोंके सौधर्म आदि स्थानों के नाम	**२२३**	**४०९**
सौधर्म आदि शब्दोंकी कल्प सज्ञाका कारण	२२४	४०९
सर्वार्थसिद्धि शब्दको पृथक् ग्रहण करने का कारण	२२४	४०९
ग्रैवेयक आदिको पृथक् ग्रहण करनेका कारण	२२४	४०९
नव पदको पृथक् ग्रहण करनेका कारण	२२४	४०९
'उपर्युपरि' पदके साथ दो दो कल्पो का सम्बन्ध है	२२५	४०९
सोलह कल्पोंमें इन्द्र विचार	२२५	४०९
'आनतप्राणतयोः' व 'आरणाच्युतयोः' पदोंको पृथक् रखनेका कारण	२२५	४०९
सौधर्म आदि स्वर्गोंके स्थान, विमान प्रस्तार, देव परिषद् तथा देवताओंकी आयु आदिका विस्तृत वर्णन	२२५	४०९
स्थिति प्रभाव आदिसे उत्तरोत्तर देवों की विशेषता	**२३५**	**४१०**
स्थिति आदि शब्दोंका अर्थ	२३५	४१०
देवोंकी गति आदि आगे आगे हीन है	**२३६**	**४१०**
गति आदि शब्दोका अर्थ	२३६	४१०
गति आदि शब्दोका पौर्वापर्य विचार	२३६	४११
देवोंके उत्तरोत्तर अभिमान हीनतामें युक्ति	२३६	४११
सौधर्म आदि कल्पोंमें लेश्याका कथन	**२३७**	**४११**
पाठान्तरका निर्देश	२३८	४१२
निर्देश, वर्ण और परिणाम आदिके द्वारा लेश्याकी सिद्धि	२३८	४१२
ग्रैवेयकसे पहलेतक कल्प संज्ञाका कथन	**२४१**	**४१४**
छह निकाय और सात निकाय देवोका चार निकाय देवोमें अन्तर्भाव हो जाता है	२४२	४१५
लौकान्तिक देवोंका स्थान	**२४२**	**४१५**
लोकान्तिक शब्दका अर्थ	२४२	४१५
लौकान्तिक देवोके भेद	**२४३**	**४१५**
'च' शब्दसे सारस्वत तथा आदित्य आदिके मध्यवर्ती देवोंके नाम और विस्तारपूर्वक उनका वर्णन	२४३	४१५
विजय आदि विमानोंमें द्विचरमत्वका कथन	**२४४**	**४१६**
द्विचरम शब्दका अर्थ व शका समाधान	२४४	४१६
अर्थविरोधका परिहार	२४८	४१६
औपपादिक मनुष्योसे इतर तिर्यञ्च हैं इसका कथन	**२४५**	**४१७**
सूत्रस्थ 'शेष' पदका स्पष्टीकरण	२४५	४१७
तिर्यग्योनि शब्दका अर्थ	२४५	४१७
तिर्यञ्च सर्वलोकमें निवास करते है इसका कथन	२४५	४१७
भवनवासियोकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन	**२४६**	**४१७**
सौधर्म और ऐशान देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति	**२४६**	**४१७**
'अधिके' पदका अध्याहार सहस्रार कल्पतक होता है	२४६	४१७
सानत्कुमार तथा माहेन्द्र कल्पके देवों को उत्कृष्ट स्थिति	**२४६**	**४१७**
ब्रह्मलोकसे लेकर अच्युत पर्यन्त देवों की उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन	**२४७**	**४१८**
सूत्रमें आये हुए 'तु' शब्दकी सार्थकता	२४७	४१८
अच्युतसे ऊपरके विमानोंकी उत्कृष्ट स्थिति	**२४७**	**४१८**

	मूल पृष्ठ	हिन्दी पृष्ठ
सूत्रमें सर्वार्थसिद्धि पदको पृथक् ग्रहण करनेका कारण	२४७	४१८
सौधर्म और ऐशान देवोंकी जघन्य स्थिति	२४७	४१८
अन्य देवोंकी जघन्य स्थिति	२४८	४१८
द्वितीय आदि नरकोंकी जघन्य स्थिति का वर्णन	२४८	४१८
प्रथम नरककी जघन्य स्थिति	२४८	४१९
भवनवासी देवोंकी जघन्य स्थिति	२४९	४१९
व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति	२४९	४१९
व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४९	४१९
ज्योतिषियोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४९	४१९
ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति	२४९	४१९
ज्योतिष्क देवोंके चन्द्र आदि भेदोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४९	४१९
लौकान्तिकोंकी स्थितिका वर्णन	२५०	४१९
एक जीवपदार्थ नाना रूप है इस बात का विविध युक्तियों द्वारा समर्थन	२५०	४१९
अनेकात्मक एक जीवका ज्ञान कराने वाला शब्द दो प्रकारसे प्रवृत्त होता है	२५२	४२१
वे क्रम और यौगपद्य कालादिके भेदकी मुख्यता और गौणतासे होते है	२५२	४२१
सकलादेश और विकलादेशका अर्थ	२५२	४२२
सकलादेशमें सप्तभङ्गीकी सघटना	२५३	४२२
सात भङ्ग ही क्यो होते है इस बातका विचार	२५३	४२२
'स्यादस्त्येव जीवः' भङ्गका स्पष्टीकरण	२५३	४२३
'स्यादस्त्येव जीवः' यह भङ्ग पर्याप्त है, अन्य भङ्गोकी क्या आवश्यकता इस शकाका परिहार व अन्य उपयोगी शका-समाधान	२५३	४२३
काल आत्म रूप आदिके द्वारा विचार	२५७	४२५
शेष भङ्गोका विचार व शका-समाधान	२५९	४२७

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितं

तत्त्वार्थवार्तिकम्

प्रणम्य सर्वविज्ञानमहास्पदमुरुश्रियम् ।
[1]निर्धूतकल्मषं वीरं वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्तिकम् ॥१॥

श्रेयोमार्गप्रतिपित्सात्मद्रव्यप्रसिद्धेः ।१। उपयोगस्वभावस्यात्मन. श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रसिद्धौ सत्या तन्मार्गप्रतिपित्सोत्पद्यते । कथम् ?

चिकित्साविशेष[2]प्रतिपत्तिवत् ।२। यथा व्याधिनिवृत्तिजफलश्रेयसा योक्ष्यमाणस्य चिकित्स्यस्य प्रसिद्धौ चिकित्सामार्गविशेषप्रतिपित्सोत्पद्यते तथा आत्मद्रव्यप्रसिद्धौ श्रेयोमार्गप्रतिपित्सेति । तस्मात् साधीयसी मोक्षमार्गव्याख्या स्वायम्भवीति । किञ्च,

सर्वार्थप्रधानत्वात् ।३। ससारिण. पुरुषस्य सर्वेष्वर्थेषु मोक्ष. प्रधानम्, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति तस्मात्तन्मार्गोपदेश. कार्य. तदर्थत्वात् ।

मोक्षोपदेशः पुरुषार्थप्रधानत्वादिति चेत्; न; जिज्ञासमानार्थिप्रश्नापेक्षिप्रतिवचनसद्भावात् ।४। आह मोक्षोपदेश एव कार्यो न मार्गोपदेश. । कस्मात् ? पुरुषार्थप्रधानत्वात् । सर्वश्रेयोभ्य पु सो मोक्ष एव पर श्रेय. आत्यन्तिकानुपमश्रेयस्त्वादिति, तन्न; जिज्ञासमानार्थिप्रश्नापेक्षिप्रतिवचनसद्भावात् । योऽसौ [3]मोक्षेणार्थी जिज्ञासमान स मार्गमेव पृष्टवान् न मोक्षम्, अतस्तन्मार्गोपदेश एव न्याय्य. ।

मोक्षमेव कस्मान्नाप्राक्षीदिति चेत् ? न; कार्यविशेषसम्प्रतिपत्तेः ।५। स्यादेतत्–अय प्रष्टा मोक्षमेव कस्मान्न पृष्टवान् कैमर्थक्यान्मार्ग पृष्टवानिति ? तन्न; कार्यविशेषसम्प्रतिपत्ते. । मोक्षकार्यं प्रति सर्वेषा सद्वादिना [4]सम्प्रतिपत्तेर्न कारण प्रति ।

कारणं तु प्रति विप्रतिपत्तिः, पाटलिपुत्रमार्गविप्रतिपत्तिवत् ।६। यथा केचित् पुरुषा नानादिग्भागापेक्षिषु मार्गेषु विप्रतिपद्यन्ते न पाटलिपुत्रे प्राप्तव्ये, तथा मोक्षकार्य प्रतिपद्य तदर्थमादृताः सर्वे सद्वादिनस्तत्कारणेषु[5] विप्रतिपद्यन्ते । तद्यथा, [6]केचित्तावदाहु.–ज्ञानादेव मोक्ष इति । [7]अपर आहु –ज्ञानवैराग्याभ्यामिति । पदार्थाविबोधो ज्ञानम्, विषयसुखानभिष्वङ्गलक्षण वैराग्यमिति । [8]अपर आहु –क्रियात एव मोक्ष इति *"**नित्यकर्महेतुकं निर्वाणम्**" [ ] इति वचनात् । किञ्च,

---

१ निर्धौत– मु०, आ०, ब०, द० । २ –पप्रवृत्ति– मु०, आ०, ब०, द० । ३ **मोक्षेणार्थि जि–** मु०, आ०, ब०, द० । ४ **सम्प्रतिपत्तिर्न** मु०, आ०, ब०, द० । ५ **ज्ञानचारित्रादिषु –सम्पा०** । ६ **नैयायिकाः –सम्पा०** । ७ **योगदर्शनिनः –सम्पा०** । ८ **मीमांसकाः –सम्पा०** ।

पराभिप्रायनिवृत्त्यशक्यत्वात् ।७। न च परस्य प्रष्टु. प्रश्नाभिप्रायोऽस्मदादिभि. शक्यो निवर्तयितुं 'मा प्राक्षीर्मार्गं मोक्ष पृच्छ' इति[1], भिन्नरुचित्वाल्लोकस्य ।

कल्पनाभेदात्तद्विप्रतिपत्तिरिति चेत्; न; कर्मविप्रमोक्षसामान्यात् ।८। आह– न मोक्षं प्रति सम्प्रतिपत्तिरस्ति किन्तु विप्रतिपत्तिरेव । कस्मात् ? कल्पनाभेदात् । [2]अन्येऽन्यथालक्षणं मोक्ष परिकल्पयन्ति–'रूपवेदनासंज्ञा[3]संस्कार[4]विज्ञानपञ्चकस्कन्धनिरोधादभावो मोक्ष.' इति । 'गुणपुरुषान्तरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्तविवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्यस्वरूपावस्था मोक्षः' इत्यपरे[5] । 'बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारनवात्मगुणात्यन्तोच्छेदो मोक्ष ' इत्यन्ये[6] । तस्मात् कल्पनाभेदात् मोक्ष प्रति विप्रतिपत्तिरिति, तन्न; कर्मविप्रमोक्षसामान्यात् । सर्वेषां हि प्रवादिनां यां कामवस्थां प्राप्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष एव मोक्षोऽभिप्रेत इति आस्माकीनसमयाविरोधात् मोक्षकार्यं प्रति सम्प्रतिपत्ति· ।

कार्यविशेषोपलम्भात् कारणान्वेषणप्रवृत्तिरिति चेत्; न; अनुमानतस्तत्सिद्धेर्घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिवत् ।९। आह–कार्यविशेषमुपलभ्य लौकिका· कारणान्वेषणं प्रति आद्रियन्ते यथा ज्वरादिरोगदर्शनात्तत्कारणान्वेषणे भिषक् प्रवर्तते चिकित्साप्रसिद्धयर्थं तथा मोक्षदर्शनात्तत्कारणान्वेषणं न्याय्यम् । न चासौ दृश्यते, तस्मान्मोक्षकारणान्वेषणाभाव इति; तन्न; अनुमानतस्तत्सिद्धेः । प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानस्यापि मोक्षकार्यस्यानुमानत उपलब्धौ मोक्षकारणान्वेषणं युक्तं घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिवत् । यथा बलीवर्दपरिभ्रमणापादितारगर्तभ्रान्ति घटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां बलीवर्दपरिभ्रमणाभावे चारगर्तभ्रान्त्यभावाद् घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्ति च प्रत्यक्षत उपलभ्य सामान्यतोदृष्टादनुमानाद् बलीवर्दतुल्यकर्मोदयापादितां चतुर्गत्यरगर्तं भ्रान्ति शारीरमानसविविधवेदनाघटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां प्रत्यक्षत उपलभ्य ज्ञानदर्शनचारित्राग्निनिर्दग्धस्य कर्मण उदयाभावे चतुर्गत्यरगर्तभ्रान्त्यभावात् संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्त्या भवितव्यमित्यनुमीयते । यासौ संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिः स एव मोक्ष इति । तस्मादनुमानतो मोक्षकार्यसिद्धेरध्यवस्यामो मोक्षकारणान्वेषणं न्याय्यमिति । किञ्च,

सर्वशिष्टसम्प्रतिपत्तेः ।१०। सर्वे शिष्टा. प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानस्यापि मोक्षकार्यस्यानुमानादस्तित्वमभ्युपेत्य प्रतिनियतमोक्षकारणेषु प्रयतन्ते । किञ्च,

आगमात्तत्प्रतिपत्तेः ।११। प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानोऽपि मोक्षः आगमादस्तीति निश्चीयते । कथम् ?

सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणवत् ।१२। यथा सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणममुष्यां वेलायाम् अमुना वर्णेन अमुना [7]दिग्विभागेन सर्वग्रासि नवेत्येवमादि सांवत्सरैरप्रत्यक्षमपि आगमाज्ज्ञायते तथा मोक्षोऽपीति । किञ्च,

स्वसमयविरोधात्[8] ।१३। 'अप्रत्यक्षत्वात् मोक्षो नास्ति' इति यस्य मतं तस्य स्व-[9]समयविरोधो भवति । सर्वे हि समयवादिनो मोक्षादीनर्थानप्रत्यक्षानभिवाञ्छन्ति ।

बन्धकारणानिर्देशादयुक्तमिति चेत्; न; मिथ्यादर्शनादिवचनात् ।१४। स्यादेतत्–अन्यत्र[10]

---

१ –ति चेन्न भि– मु०, आ०, ब०, द० । २ बौद्धाः । "प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः।" –प्रमाणवार्तिकाल० १।४५ । ३ निमित्तोद्ग्रहणात्मकं विकल्पविज्ञानम् –सम्पा० । ४ रागद्वेषादि –सम्पा० । ५ सांख्याः । "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" –योगसू० १।३ । ६ वैशेषिकाः । "नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।" –प्रश० व्यो० पृ० ६३८ । ७ –त्राभिर्द –मु०, आ०, ब०, द० । ८ दिग्भागेन मु०, आ०, ब०, द० । ९ –विरोधः मु०, आ०, ब०, द० । १० आगमविरोधः –सम्पा० । ११ सांख्यादिशास्त्रेषु –सम्पा० ।

बन्धकारणनिर्देशः कृत. *"**विपर्ययाद् बन्धः**" [सांख्य का० ४४] इत्यादि.[१], इह तु न कृत., ततो मोक्षकारणनिर्देशस्यायुक्तिरिति; तन्न; मिथ्यादर्शनादिवचनात्। वक्ष्यते एतत्–*"**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः**।" [त० सू०८।१] इति।

बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य प्राक् तत्कारणनिर्देश इति चेत्; न, आश्वासनार्थत्वात् ।१५। स्यादारेका–प्राङ्मोक्षकारणनिर्देशाद् बन्धकारणनिर्देशो न्याय्यः यतो बन्धपूर्वको मोक्ष इति; तन्न; आश्वासनार्थत्वात्। कथम् ?

बन्धनबद्धवत् ।१६। यथा कारावन्धनबद्ध. प्राणी बन्धकारणश्रवणाद् बिभेति मोक्षकारणश्रवणादाश्वसिति, तथा अनादिससारकारावरुद्ध आत्मा प्रथममेव बन्धकारणश्रवणात् मा भैषीत् मोक्षकारणश्रवणाच्च कथमाश्वास यायादिति प्रथम बन्धकारणमनुक्त्वा मोक्षकारणोपदेश कृत.। किञ्च,

मिथ्यावादिप्रणीतमोक्षकारणनिराकरणार्थं वा ।१७। मिथ्यावादिप्रणीतैकद्विमोक्षकारणनिराकरणार्थोऽयमार्हतो मोक्षकारणनिर्देश आदौ कृत, 'त्रयमेतत् सगतं मोक्षमार्गो नैकशो द्विशो वा' इति।

अतो विपर्ययमात्रप्रभवां संसारप्रक्रिया परिकल्प्य ज्ञानविशेषात्तद्विनिवृत्तिरित्येवमाद्यनेकमिथ्यावादिप्रणीतमतनिवृत्तये त्रैविध्यविजृम्भितमोक्षकारणप्रदर्शनार्थमाह––

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥ [२]इति।

अपरे 'आरातीयपुरुष[१]शक्त्यपेक्षत्वात्सिद्धान्तप्रक्रियाऽविष्करणार्थं मोक्षकारणनिर्देशसम्बन्धेन शास्त्रानुपूर्वी रचयितुमन्विच्छन् इदमवोचत्' इत्याचक्षते। नात्र शिष्याचार्य्यसम्बन्धो विवक्षित। किन्तु ससारसागर[२]निमग्नानेकप्राणिगणाभ्युज्जिहीर्षां प्रत्यागूर्ण[३] 'अन्तरेण मोक्षमार्गोपदेश हितोपदेशो 'दुष्प्राप' इति निश्चित्य मोक्षमार्गं व्याचिख्यासुरिदमाह[४]।

प्रणिधानविशेषाहितद्वैविध्यजनितव्यापारं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।१। प्रणिधानम् उपयोग परिणाम[५] इत्यनर्थान्तरम्। 'येनार्थोऽर्थान्तराद्विशेष्यते यो वाऽर्थान्तरगतात्पर्यायाद्[६] विशिष्यते स विशेष, विशिष्टिर्वा विशेष, प्रणिधानमेव विशेष प्रणिधानविशेष, प्रणिधानस्य वा विशेष प्रणिधानविशेष[७]। आहितम् आत्मसात्कृत परिगृहीतम् इत्यनर्थान्तरम्। विधयुक्तगतप्रकारा समानार्था। निसर्गाधिगमभेदाद् द्वौ विधावस्येति द्विविधम्, द्विविधस्य भाव कर्म वा द्वैविध्यम्। प्रणिधानविशेषेणाहित प्रणिधानविशेषाहितम्। प्रणिधानविशेषाहित द्वैविध्यमस्य प्रणिधानविशेषाहितद्वैविध्यम्। जनित प्रादुर्भावित, व्यापृतिर्व्यापार अर्थप्रापणसमर्थ. क्रियाप्रयोग.। जनितो व्यापारोऽस्य जनितव्यापारम्। कश्चास्य व्यापार. ? इह अन्तर्दर्शनमोहोपशमक्षयक्षयोपशमपर्यायपरिणामाद् बाह्यपरिणामकारणापादिताद् आत्मनो जीवादिपदार्थविचारविषयोऽधिगमो निसर्गश्च व्यापार। प्रणिधानविशेषा-

१ –दि इ –मु०, आ०, ब०, द०। २ 'इति' नास्ति आ०। ३ –व सव्यपेक्ष–ता०। ४ –यरेनि ता०, श्र०, ब०। ५ उद्धतः। ६ तुलना–"नर्ते च मोक्षमार्गाद् हितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्।" –स० भा० का० ३१। ७ तत्र सम्यग्दर्शनस्य कारणभेदलक्षणानां वक्ष्यमाणत्वादिह उद्देशमात्रमाह। ८ विशुद्धमध्यवसायमित्यर्थः। ९ सास्नादिमत्त्वादिना गवादिः अश्ववादेः। १० केसरादेः। ११ परोपदेशानपेक्षत्वमितियावत्।

हितद्वैविध्यमेव जनितव्यापार प्रणिधानविशेषाहितद्वैविध्यजनितव्यापार तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम् । अस्यार्थ उत्तरत्र वक्ष्यते ।

[1]**नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम् ।२।** नयौ च प्रमाणे च नयप्रमाणानि, तेषा विकल्पा. नयप्रमाणविकल्पा । द्वौ नयौ द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्च, द्वे प्रमाणे प्रत्यक्ष परोक्षं च, तेषा विकल्पा नैगमादयो मत्यादयश्च वक्ष्यन्ते । पूर्वशब्दस्तत्कारणवाची । नयप्रमाणविकल्पपूर्वको नयप्रमाणविकल्पहेतुक इत्यर्थ । येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था अवस्थिता. तेन तेनावगम जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगम. सम्यग्ज्ञानम् । मोहसशयविपर्ययनिवृत्त्यर्थ सम्यग्विशेषणम् ।

[2]**संसारकारणविनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो [3]बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः[4] सम्यक्चारित्रम् ।३।** ससार पञ्चविध द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरिवर्तनभेदात् । तस्य कारण कर्म अष्टिविधम्, तस्य विशेषेणात्यन्तिकी निवृत्ति ससारकारणविनिवृत्ति, ता प्रत्यागूर्णस्योद्यतस्य, ज्ञानवत इति प्रशसाया मतु, यथा रूपवानिति प्रशसायुक्तस्य सत्ता कथ्यते । नहि कस्यचिद्रूप नास्ति, प्रशस्त तु नास्ति, तथा ज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानवानिति प्रशसायुक्तस्य सत्ता कथ्यते । न कस्यचिज्ज्ञान नास्ति सर्व एवात्मा ज्ञानवान् चैतन्यात्, मिथ्यादर्शनोदये विपरीतार्थग्राहित्वात् मिथ्यादृष्टिरज्ञ, तदभावे याथात्म्येनार्थविभावनात् सम्यग्दृष्टि प्रशस्तज्ञान, तस्य ज्ञानवत । क्रिया क्रियान्तरादिशिष्यते येन स विशेष, विशिष्टिर्वा विशेष । स द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । बाह्यो वाचिक कायिकश्च बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, आभ्यन्तरो मानस छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात्, तस्योपरम सम्यक्चारित्रमित्युच्यते[5] । स पुन. परमोत्कृष्टो भवति वीतरागेषु यथाख्यातचारित्रसज्ञक । आरातीयेषु सयतासयतादिषु सूक्ष्मसाम्परायिकान्तेषु प्रकर्षाप्रकर्षयोगी भवति ।

ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं कर्मसाधनश्चारित्रशब्दः ।४। ज्ञान दर्शनमिति करणसाधनावेतौ शब्दौ, *"**करणाधिकरणयो** " [जैने० २।४।९९] इति युटो विधानात् । कर्मसाधनश्चारित्रशब्द *"**भूवदिगृभ्यो णित्रश्चरेर्वृत्ते**"[उणादि० ४।१७७-७८] इति कर्मणि विधानात् । ज्ञानदर्शनशक्तिविशेषशुद्धिसन्निधाने जीवादीनर्थानात्मा जानाति पश्यति वा येन तज्ज्ञान दर्शन च । चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमसद्भावे चर्यते तदिति चारित्रम् ।

कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवदिति चेत्; नः तत्परिणामादग्निवत् ।५। स्यादेरेका—ज्ञानदर्शनयोरात्मद्रव्यादन्यत्वम्, कस्मात् ? दृष्टत्वात् देवदत्तपरशुवदिति; तन्न; कि कारणम् ? तत्परिणामादग्निवत् । यथा बाह्यद्रव्यादिपञ्चतयहेतुसन्निधाने सति आभ्यन्तरपरिणामवशात् [6]तेजस्कायिकनामकर्मोदयाविर्भावितौष्ण्यपर्याय आत्मा

---

१ तथैव निर्देक्ष्यमाणत्वात् सम्यग्ज्ञानलक्षणमिह निरुक्तिलभ्यं व्याचष्टे । २ सम्यक्चारित्रं निरुक्तिगम्यलक्षणमाह । ३ विनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रमित्युच्यमाने शीर्षोपहारादिषु स्वशीर्षादिद्रव्यनिवृत्तिः सम्यक्त्वादिस्वगुणनिवृत्तिश्च तन्माभूदिति क्रियाग्रहणम् । ४ बहिःक्रियायाः कायवाग्योगरूपाया एव आभ्यन्तरक्रियाया एव वा मनोयोगरूपाया विनिवृत्तिः सम्यक्चारित्रं माभूदिति क्रियाया बाह्याभ्यन्तरविशेषणम् । लाभार्थं तदुभक्रियाविनिवृत्तिरपि (तन्माभूदिति संसारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्येति वचनम्) नापि मिथ्यादृशः सा तद् भवति इति ज्ञानवत इति वचनात् । सम्यग्विशेषणाद्हि ज्ञानाश्रयता ससारकारणविनिवृत्तिता च लभ्यते । चरित्रशब्दात् बहिरभ्यन्तरक्रियाविनिवृत्तिता सम्यक्चारित्रस्य सिद्धा तदभावे तद्भावानुपपत्तेः । ५ –त्रमुच्यते ता०, आ०, ब०, द० । ६ तैज– मु० ।

तत्परिणामादग्निव्यपदेशभाग् भवति, स एवम्भूतनयवक्तव्यतया उष्णपर्यायादनन्य, तथा एवम्भूतनयवक्तव्यवशाज्[१] ज्ञानदर्शनपर्यायपरिणत आत्मैव ज्ञान[२] दर्शन च तत्स्वाभाव्यात् ।

अतत्स्वाभाव्येऽनवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत् ।६। यथा अग्निरुष्णपर्यायेणान्यद्रव्यासाधारणेनावधार्यते 'अयमग्नि' इति, स चेत्तत्स्वभावो न भवेत् प्रतिविशिष्टासाधारणपर्यायाभावादग्नेरनवधारणप्रसङ्ग । तथा आत्मनोऽपि ज्ञानादन्यत्वेऽनवधारणम्, यतोऽयमन्यद्रव्यासाधारणज्ञानपर्याय. तत्स्वभावात्, ततोऽनन्यो द्रव्यार्थादेशात् । स चेन्न ज्ञानस्वभाव. सत्येवमज्ञ. स्यात्, ततश्चास्यानवधारणप्रसङ्ग । ५

अर्थान्तरात् संप्रत्यय इति चेत्; न; उभयासत्त्वात् ।७। स्यादेतत्—अन्यत्वे सत्यपि नानवधारणम् । कुत ? यस्मादर्थान्तरात् सप्रत्ययः नीलीद्रव्यसम्बन्धाच्छाटीपटकम्बलादिषु नीलसम्प्रत्यवत् । यथा अर्थान्तरभूतेन नीलीद्रव्येण [३]सम्बद्धत्वाच्छाटीपटकम्बलादिषु नीलसम्प्रत्यय तथा अर्थान्तरभूतोष्णगुणसमवायादुष्णोऽग्नि, आत्मा[४]चार्थान्तरभूतज्ञानगुणसमवायाज् ज्ञ इति; तन्न; कि कारणम् ? उभयासत्त्वात् । दण्डदण्डिवत्[५]। यथा दण्डसम्बन्धात् प्राग्दण्डी जात्यादिभिर्लक्षणै. स्वतः सिद्धत्वात् सन्,[६] दण्डोऽपि प्राग्दण्डिसम्बन्धाद्वृत्तद्राघिमादिना लक्षणेन स्वत सिद्धत्वात् सन्, [७]अतो दण्डयोगाद्दण्डीत्येतन्न्याय्यम्, तथा नीलद्रव्ययोगाच्छाटचादि नीलमित्येतन्न्याय्यम्, तथोष्णगुणयोगान्न प्रागग्नेरन्यद्विशेषलक्षण सद्भावस्य प्रख्यापकमस्तीति असन्नग्नि, उष्णस्यापि प्रागग्नियोगादसत्त्व निराश्रयगुणाभावात् । न चासतो सम्बन्धो दृष्ट इष्टो वा । आत्मनोऽपि ज्ञानगुणयोगात् प्रागसत्त्व विशेषलक्षणाभावात् । ज्ञानस्याप्यात्मद्रव्यसबन्धात् प्रागसत्त्व निराश्रयगुणाभावात् । नचासतो. सम्बन्धो दृष्ट इष्टो वा । तस्मादुभयासत्त्वान्नार्थान्तरात् सप्रत्यय । किञ्च, १० १५

उभयथाप्यसद्भावात् ।८। कथम् ? २०

[८]सर्वासिद्धादिवत् ।९। इदमसि[९]त्व प्रष्टव्य—उष्णगुणोगात् प्रागग्ना उष्ण इति ज्ञानं स्याद्वा, न वेति ? य दि प्रागुष्णगुणयोगादग्नावुष्ण इति ज्ञान[१०] स्यात्; कैमर्थक्यादुष्णगुणयोग प्रार्थ्यते ? अथ नास्ति; अतोऽप्युष्णज्ञानाभावात्, अनुष्णस्वभावस्याग्ने उष्णगुणयोगादुष्ण इति व्यपदेशाभाव[११] । किञ्च,

अनवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषप्रसङ्गात् ।१०। कथम् ? २५

सर्वसत्प्रतिपक्षवादिवत् ।११। यथा यद्युष्णगुणयोगादग्निरुष्ण; अथोष्णगुण, केन योगादुष्ण ? स्वभावादिति चेत्; अग्नौ कोऽपरितोष ? उष्णत्वादुष्णगुणस्योष्णत्वमिति चेत्; उष्णत्वस्योष्णत्व कुत ? स्वत एवेति चेत्; अग्नौ कोऽपरितोष ? अथाग्नेरुष्णत्व स्वत एव मासिधदिति उष्णत्वस्याप्यन्यदुष्णत्वमस्ति तस्याप्यन्यदित्यनवस्था । अथानवस्था माभूदिति स्वत एवोष्णत्वस्योष्णत्वम्, ननु प्रतिज्ञाहानि 'अर्थान्तरात् सप्रत्यय.' इति । तथा यदि ज्ञानगुणयोगादात्मा ज्ञ, अथ ज्ञानगुण केन योगात् ? स्वभावादिति चेत्; आत्मनि कोऽपरितोष । ज्ञानत्वाज्ज्ञानगुणस्य ज्ञानव्यपदेश इति चेत्; ज्ञानत्वस्य ज्ञानत्व कुत. ? स्वत एवेति चेत्; आत्मनि कोऽपरितोषः ? अथात्मनो ज्ञत्व स्वत ३० ३५

१—क्तव्यतावशा—मु०, आ०, ब०, द०। २ —नं च दर्शनं मु०, आ०, ब०, द०। ३ सम्बन्ध—आ०, ब०, मु०। ४ वार्था—मु०, आ०, ब०। ५ व्यतिरेकदृष्टान्तोऽयम्। ६ स दण्डो मु०, आ०, ब०। ७ सतो मु०, आ०, ब०। ८ सर्वसद्वादि— अ०। ९ इदमस्तित्वं मु०, आ०, ब०। 'इद त्वं प्रष्टव्योऽसि' इत्यर्थः—सम्पा०। १० —नं कै— मु०, आ०, ब०, द०। ११ —भावात् किञ्च ता०, मु०, आ०, ब०, द०।

एव मासिधदिति ज्ञानत्वस्याप्यन्यज्ज्ञानत्वमस्ति [1]तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यदित्यनवस्था। अथानवस्था माभूदिति स्वत एव ज्ञानत्वस्य ज्ञानत्वमिष्टं ननु प्रतिज्ञाहानि. 'अर्थान्तरात् सप्रत्यय.' इति। किञ्च,

तत्परिणामाभावात्।१२। यथा, दण्डसंबन्धेऽपि दण्डिनो न दण्डपरिणाम दण्डि-व्यपदेशमात्रप्रतिलम्भात्, तथा उष्णगुणस्योष्णत्वसामान्यविशेषसंबन्धे नोष्णत्व गुण-सामान्य-विशेषपदार्थभेदात्, अत 'उष्णत्ववानुष्णगुण' इत्यासक्त न तु 'उष्ण' इति। तथोष्णगुणसंबन्धेऽप्यग्नेर्नोष्णत्वं द्रव्य-गुणपदार्थभेदात्, अत 'उष्णवानग्नि' इत्यासक्त न तु स्वयम् 'उष्ण.' इति।

समवायादिति चेत्; न; प्रतिनियमाभावात्।१३। स्यान्मतम्–समवायो नामायुतसिद्धलक्षण सबन्ध इहेदबुद्ध्यभिधानप्रवृत्तिहेतु तेनैकत्वमिव[2] नीताना व्यपदेशो भवति–उष्णत्वसमवायादुष्णो गुण, उष्णगुणसमवायाच्चाग्निरुष्ण इति; तन्न; कुत ? प्रतिनियमाभावात्। उष्णत्वोष्णगुणयो अग्न्युष्णयोश्चान्यत्वे कोऽयं प्रतिविशिष्टो नियमो यदुष्णगुणस्याग्नावेव समवायो नाप्सु, शीतगुणस्य चाप्स्वेव समवायो नाग्नौ। उष्णत्वस्य चोष्णगुणेनैव समवायो न शीतादिगुणान्तरेणेति। [3]तद्येन विशेषेणाय प्रतिनियम इष्यते न त पश्याम। अत एव द्रव्यपरिणाम एवौष्ण्यमिति सिद्ध नान्यस्तत्प्रतिनियमहेतुरस्ति। स्वभावो हेतुरिति चेत्; तत एव तत्परिणामसिद्धि[4]। किञ्च,

समवायाभावो वृत्त्यन्तराभावात्।१४। नास्ति तत्परिकल्पित समवाय। कुतः ? वृत्त्यन्तराभावात्। यथा गुणादीना पदार्थाना द्रव्ये समवायसबन्धाद्वृत्तिरिष्टा तथा समवाय पदार्थान्तर भूत्वा केन सबन्धेन द्रव्यादिषु वर्त्स्यति समवायान्तराभावात् ? एक एव हि समवाय *[5]**"तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्"** [वैशे० ७।२।२८] इति वचनात्। न च सयोगेन वृत्ति युतसिद्धयभावात्, युतसिद्धानामप्राप्तिपूर्विका प्राप्ति सयोग। न चान्य संबन्ध. संयोगसमवायविलक्षणोऽस्ति येन समवायस्य द्रव्यादिषु वृत्ति[6] स्यात्। अत समवायिभिरनभिसंबन्धात् नास्ति खरविषाणवत् समवाय।

प्राप्तित्वात् प्राप्त्यन्तराभाव इति चेत्; न; व्यभिचारात्।१५। स्यान्मतम्–द्रव्यादीनि प्राप्तिमन्ति अतस्तेषा यया कयाचित् प्राप्त्या भवितव्यम्, समवायस्तु प्राप्तिर्न प्राप्तिमान्, अत प्राप्त्यन्तराभावेऽपि स्वत एव प्राप्नोतीति; तच्च न; कस्मात् ? व्यभिचारात्। यथा सयोग प्राप्तिरपि सन् प्राप्त्यन्तरेण समवायेन वर्तते तथा समवायस्यापि स्यादिति।

प्रदीपवदिति चेत्; न; तत्परिणामादनन्यत्वसिद्धेः।१६। स्यादेतत्–यथा प्रदीप प्रदीपान्तरमनपेक्षमाण आत्मान प्रकाशयति घटादीश्च, तथा समवायः सबन्धान्तरापेक्षामन्तरेणात्मनश्च द्रव्यादिषु वृत्तिहेतुर्द्रव्यादीना च परस्परत इति; तन्न; कुत ? तत्परिणामादनन्यत्वसिद्धे। यथा प्रदीप. स्वयं प्रकाशपरिणामात् प्रकाशात्मनोऽनन्य. प्रकाशान्तर नापेक्षते, अन्यथा प्रकाशात्मनोऽन्यत्वे प्रदीपस्याप्रदीपत्वप्रसङ्ग, यतो न प्रकाशात्मान [7]प्रोज्झ्यान्य प्रदीपोस्ति, तथा न द्रव्यादन्ये गुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया: सन्ति द्रव्यस्यैवोभयपरिणामकारणापेक्षस्य गुण. कर्म

---

१ तस्याप्यन्यदि–आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २–वानी–मु०। ३ तस्माद्येन मु०, आ०, ब०, द०। ४ –सिद्धेः ता०। ५ "व्याख्यातमिति शेषः। तत्त्वमेकत्वं, भावेन सत्तया व्याख्यातम्। यथैका सत्ता सर्वत्र सद्बुद्धिप्रवर्तिका तथैक एव समवायः सर्वत्र समवेतबुद्धिप्रवर्तकः स्वलिङ्गाविशेषात् विशेषालिङ्गाभावाच्च" –वैशे० उप०। ६ प्रोह्यान्यः मु०, आ०, ब०।

सामान्यं विशेषः समवाय इत्येवमादिपर्यायान्तरेण परिणाम । यथा प्रदीपः स्वलक्षणप्रसिद्धो घटादिभ्योऽन्यो नैव समवाय स्वलक्षणप्रसिद्ध. द्रव्यादन्योऽस्ति, द्रव्यस्यैव गुणादि-पर्याय-परिणामात् । तस्मान्न प्रदीपवत् समवायसिद्धि. । अन्यथा च द्रव्यादन्यत्वे गुणादीनां द्रव्यस्याद्रव्यत्वप्रसङ्गो यतो न गुणादिपर्यायान् प्रोज्झ्यान्यद् द्रव्यमस्ति । यदि वा गुणादीन् प्रोज्झ्य द्रव्य केनचिदन्येन स्वविशेषेण प्रसिद्ध यद् गुणादिभि सम्बध्यते स विशेष उच्यताम् ? यतो न गुणादिपरित्यागेनान्यो द्रव्यस्य विशेष स्वत प्रसिद्धोऽस्ति । अतो द्रव्यपरिणामा एव गुणादय [1]इति सिद्धम् । किञ्च, ५

[2]विशेषविज्ञानाभावात् ।१७। यस्य युतायुतसिद्धार्थग्राहक विज्ञानमेकमस्ति तस्य अयुतसिद्धानां समवाय. युतसिद्धानां सयोग इति स्याद्विशेषविज्ञानम्, भवतस्तु [3]क्षणिकैकार्थविषयत्वाज्ज्ञानानां तद्विशेषविज्ञानाभाव, तदभावात्तद्विवेकाभाव । १०

संस्कारादिति चेत्; न; तस्यापि तादात्म्यात् ।१८। स्यादेतत्–ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च सस्कारोऽस्ति, तस्याद सामर्थ्यमिति; तन्न, कुत ? तस्यापि तादात्म्यात्। एकार्थग्राहिज्ञानजस्य[4] सस्कारस्य चैकार्थग्राहिज्ञानहेतुत्वात्, अनेकार्थग्राहिज्ञानाभावाच्चानेकार्थग्राहिज्ञानसस्काराभाव, तस्मात् पूर्वोक्तो दोषस्तदवस्थ एव ।

अथवा, अयमर्थ –'कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीना परश्वादिवदिति चेत्; न; तत्परिणामादग्निवदिति । यथा अग्निरग्निस्वभावादन्यो दहन्[5]–दाहक्रियाया कर्ता । किकरणो दहति ? तत्परिणामादग्न्यात्मैव करणम्, तथा आत्मा ज्ञस्वभावत्वात् ज्ञानादन्य, तत्परिणामादर्थान् जानन् ज्ञानक्रियाया कर्ता । किकरणो जानाति ? तत्परिणामात् तदेव ज्ञान करणत्वेन विवक्ष्यते । अन्यथा [6]'चाऽतत्स्वाभाव्ये अनवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत्' इत्येवमादिवाक्यार्थविवरण दहनस्वभावापेक्षया योज्यम् । किञ्च, १५ २०

अनेकान्तात् पर्यायपर्यायिणोरर्थान्तरभावस्य घटादिवत् ।१९। यथा घटकपालशकलशर्करादीनां नयद्वयार्पणाभेदात् स्यादेकत्व स्यादन्यत्वम् । कथम् ? इह पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् पर्यायार्थानर्पणात् मृद्रूपद्रव्याजीवानुपयोगादिद्रव्यार्थार्पणात् स्यादेकत्वम्, यतो घटकपालादयो मृद्रूपद्रव्यार्थ न जहति । तेषामेव द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् द्रव्यार्थानर्पणात् कारणविशेषापादितभेदपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यतोऽन्यो घटपर्याय अन्यश्च कपालादिपर्याय, तथा मृदो घटादिपर्यायाणा च स्यादेकत्व स्यादन्यत्वम् । कथम् ? तत्परिणामात् स्यादेकत्वम्, यतो मृद्रूपमेव उभयपरिणामकारणवशाद् घटकपालादिपर्याय-परिणतं तद्व्यपदेशभाग् भवति, नान्या मृत् नान्ये घटादयो मृद्रूपव्यतिरिक्तघटादिपर्यायाभावात् । पर्यायि-पर्यायभेदाच्च स्यादन्यत्वम्, यत पर्यायि मृद्द्रव्य पर्याया घटादय । तथा आत्मनोऽपि ज्ञानादिपर्यायाणा च स्यादेकत्व स्याज्ञानात्वम् । कथम् ? पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् पर्यायार्थानर्पणात् अनादिपारिणामिकचैतन्य[7]जीवद्रव्यादिद्रव्यार्थार्पणात् स्यादेकत्वम्, यतो ज्ञानादयोऽनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्यादिद्रव्यार्थं न जहति । तेषामेव द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् द्रव्यार्थानर्पणात् कारणविशेषापादितभेदपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यतोऽन्यो ज्ञानपर्यायोऽन्ये च दर्शनादिपर्याया, तथा आत्मनो ज्ञानादिपर्या- २५ ३०

---

१ इति प्रति– मु० । २ विशेषपरिज्ञा–मु०, आ०, ब०, द० । ३ क्षणिकम् एकार्थविषयञ्च ज्ञानं यतः । ४ –नस्य संस्का– आ०, ब०, मु०, द० । ५ कोऽर्थः । ६ वा त– मु०, आ०, ब०, द० । ७ –जीवद्रव्यार्था– मु०, आ०, ब०, द० ।

याणां च स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम् । कथम् ? तत्परिणामादेशात् स्यादेकत्वम्, यत आत्मैवोभय-परिणामकारणवशात् ज्ञानादिपर्यायपरिणतो ज्ञानादिव्यपदेशभाग् भवति, नान्य आत्मा नान्ये ज्ञानादय. आत्मद्रव्यव्यतिरिक्तज्ञानादिपर्यायाभावात् । पर्यायिपर्यायभेदाच्च स्यादन्यत्वम्, यत. पर्यायी आत्मा पर्याया ज्ञानादय । तस्मादेकत्वान्यत्वं प्रत्यनेकान्तोपपत्ते. तत्परिणामत्वेऽपि करणभावो युक्त ।

इतरथा हि एकार्थपर्यायादन्यत्वप्राप्तिर्वृक्षवत् ।२०। यस्यैकान्तिकं कर्तृकरणयोरन्यत्वं तस्यैकार्थपर्यायादन्यत्व प्राप्तम् । कथम्? वृक्षवत् । यथा 'प्रासाद करोति परश्वादिभि.' इत्यत्र कर्तृकरणयोरन्यत्व तथा 'भज्यते वृक्ष शाखाभारेण' इत्येकस्य वृक्षस्य शाखाभारार्थपर्यायादन्यत्व प्राप्तम्, [1]न चादोऽस्ति, यतो न शाखाभारादृते अन्यो वृक्ष । न च शाखाभारादन्यो वृक्षो न भवतीति 'भज्यते वृक्ष· शाखाभारेण' इति एकार्थपर्यायात्मक करणनिर्देशो न [2]भवति ? तथा नात्मद्रव्यादृते अन्यज्ज्ञानम् । न चात्मद्रव्यादृते नान्यज्ज्ञानमिति 'जानात्यनेनार्थानात्मा' इत्येकार्थपर्यायात्मक करण न भवति ? किञ्च,

करणस्योभयथोपपत्तेर्द्रव्यस्य मूर्तिमदमूर्तिभेदवत् ।२१। यथा द्रव्यस्य मूर्तिमदमूर्तिभेदादेकान्तपरिग्रहो नास्ति–पुद्गलद्रव्य मूर्तिमत्, धर्माधर्माकाशकाला अमूर्तय, आत्मा [3]चामूर्ति द्रव्यार्थादेशात् न पर्यायार्थादेशात्,[4]तस्यानादिकार्मणशरीरसबन्धात् । तथा करणं द्वेधा–विभक्ताऽविभक्तकर्तृकभेदात् । कर्तुरन्यद्विभक्तकर्तृक यथा 'परशुना छिनत्ति देवदत्त' इति । कर्तुरनन्यदविभक्तकर्तृक यथा 'अग्निरिन्धन दहत्यौष्ण्येन[5]' इति । तथा 'आत्मा ज्ञानेनार्थान् जानाति' इत्यविभक्तकर्तृक करणम् । किञ्च,

दृष्टान्ताच्च कुशूलस्वातन्त्र्यवत् ।२२। यथा 'भिनत्ति कुशूल देवदत्त' इत्यत्र कुशूलो यदा भिदिक्रियाया सुकरतया स्वातन्त्र्येण विवक्षित स्वयमेवात्मान भिनत्ति इति, तदा 'किं करणोऽसावात्मान भिनत्ति' इति विवक्षाया कुशूलात्मैव करणत्वेनोपादीयते । तथा आत्मैव ज्ञाता करण च भवति । किञ्च,

एकार्थपर्यायविशेषोपपत्तेरिन्द्रादिव्यपदेशवत् ।२३। इहैकस्यार्थस्य अनेक[6]पर्यायविशेषोपपत्तिर्दृष्टा । न चास्य तेभ्यः पर्यायेभ्योऽन्यत्वम् । कथम् ? इन्द्रादिव्यपदेशवत् । यथैकस्य देवराजार्थस्य इन्द्रशक्रपुरन्दराद्यनेकव्यञ्जनपर्यायविशेषोपपत्ति । नच देवराजस्य इन्द्रशक्रपुरन्दरा[7]दिपर्यायेभ्योऽन्यत्वम् । न चानन्यत्वात् येनायमिन्द्रस्तेनैव शक्र पुरन्दरो वा, येन वा शक्रस्तेनैवेन्द्र पुरन्दरो वा, येन वा पुरन्दरस्तेनैवेन्द्र शक्रो वा । कथम् ? इह यत इन्द्रादीना प्रतिनियतव्यञ्जनपर्यायोपपत्ति –इन्दनादिन्द्र. शकनाच्छक्र पूर्दारणात् पुरन्दर इति । न चेन्दनशकनपूर्दारणव्यञ्जनपर्यायभेदात् देवराज इन्द्र शक्र पुरन्दरो वा न भवति । भवत्येव । तथैकस्य आत्मनो ज्ञानादिपर्यायविशेषोपपत्ति, तस्मादेकार्थपर्यायविशेषोपपत्ते. नान्यत्वमात्मद्रव्यादेकान्तेन ज्ञानादीनाम् ।

कर्तृसाधनत्वाद्वा दोषाभावः ।२४। अथवा, नेमौ ज्ञानदर्शनशब्दौ करणसाधनौ । किं तर्हि ? कर्तृसाधनौ । तथा चारित्रशब्दोऽपि न कर्मसाधन । किं तर्हि ? कर्तृसाधन. । कथम् ? एवम्भूतनयवशात् । ज्ञानदर्शनचारित्राणि आत्मैवेष्ट·, अतस्तत्परिणामाज्ज्ञानादिपरिणत आत्मैव

---

१ न चादोऽस्ति ता० । २ भवन्तीति आ०, ब०, द०,मु० । ३ चामूर्तः आ०, ब, द ०, मु०, ता० । ४ –ष्णेनेति आ० । ५–कत्वप– श्र० । ७ –रपर्या– श्र० ।

जानातीति ज्ञानम्, पश्यतीति दर्शनम्, चरतीति चारित्रम्। अतो 'य उक्त –'कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनाम्' इति दोष; स न भवति।

लक्षणाभाव इति चेत्; न; बाहुलकात्।२५। स्यादेतत्–न लक्षणमस्ति कर्तरि युटो विधायकमिति; तन्न; कुत ? बाहुलकात् *"**युड् व्याबहुलम्**" [जैने० २।३।९४] इति कर्तरि युट् णित्रश्च यत्र विहिता ततोऽन्यत्रापि दृश्यन्ते–[२]त्या भावकर्मणोर्विहिता करणादिष्वपि भवन्ति–स्नात्यनेन स्नानीयश्चूर्ण, ददात्यस्मै इति दानीयोऽतिथि, समावर्तन्ते तस्मादिति समावर्तनीयो गुरु। करणाधिकरणयोर्युङुक्त. कर्मादिष्वपि दृश्यते–निरदति तदिति निरदनम्, प्रस्कन्दति तस्मादिति प्रस्कन्दनम्। अथवा,

भावसाधना ज्ञानादिशब्दाः तत्त्वकथनात् दात्रस्य करणव्यपदेशवत्।२६। यथौदासीन्येनावस्थितमच्छिन्दत्तृणादि दात्र करणमिति व्यपदिश्यते, तथौदासीन्येनावस्थितानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि प्रतिनियतज्ञानदर्शनचरणक्रिया[३]व्यापार प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि कथ्यन्ते–कोऽसौ मोक्षमार्ग ? ज्ञानदर्शनचारित्राणि–ज्ञातिर्ज्ञानम्, दृष्टिर्दर्शनम्, चरण चारित्रमिति। क्रियाव्यापृतानां तु ज्ञानादीनां कर्त्रादिकारकव्यवहार।

व्यक्तिभेदादयुक्तमिति चेत्; न; एकार्थे शब्दान्यत्वाद् व्यक्तिभेदगतेः।२७। स्यादेतत्–'ज्ञानमात्मा'इत्ययुक्तम्। कस्मात् ? व्यक्तिभेदात्, अभिधेयवल्लिङ्गसख्ये भवतोऽभिधानस्येति'ज्ञान आत्मा' इति प्राप्नोतीति, तन्न, कि कारणम् ? एकार्थे शब्दान्यत्वाद् व्यक्तिभेदगते –एकस्मिन्नप्यर्थे शब्दभेदाद् व्यक्तिभेदा दृश्यन्ते, यथा 'गेह कुटी मठ, पुण्य तारका नक्षत्रम्' इति, एव 'ज्ञानमात्मा' इत्यपि स्यात्।

ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यं तत्पूर्वकत्वाद्दर्शनस्य।२८। आह–इह ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यम्। कुतः ? तत्पूर्वकत्वाद्दर्शनस्य, यत पदार्थतत्त्वोपलब्धिपूर्वक श्रद्धानम्।

अल्पाच्तरत्वाच्च।२९। दर्शनात् ज्ञानमल्पाच्तरम्, अतश्च पूर्वं वाच्यम्।

न; उभयोर्युगपत्प्रवृत्तेः,[३] प्रकाशप्रतापवत्।३०। नैष दोष। कुत ?उभयोर्युगपत्प्रवृत्तेः। कथम् ? प्रकाशप्रतापवत्। यथा सवितुर्घनपटलावरणविगमे प्रतापप्रकाशप्रवृत्तिर्युगपद् भवति तथा ज्ञानदर्शनयोर्युगपदात्मलाभ। तद्यथा–यदा दर्शनमोहस्योपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति तदैव तस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञाननिवृत्तिपर्वक मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति।

दर्शनस्यैवाभ्यर्हितत्वात्।३१। यदप्युक्तम्–'अल्पाच्तरत्वाज्ज्ञानस्य पूर्वनिपात.' इति; तदसत्; कस्मात् ? दर्शनस्यैव अभ्यर्हितत्वात्। ज्ञानाद्दर्शनमेवाभ्यर्हितम्, दर्शनसन्निधाने सत्यज्ञानस्यापि ज्ञानभावात्, ज्ञात्वाप्यश्रद्दधतस्तदभावात्।

मध्ये ज्ञानवचनम्, ज्ञानपूर्वकत्वाच्चारित्रस्य।३२। यतो जीवादिपदार्थतत्त्वज्ञानसन्निधाने सति '[४]चारित्रमोहस्योपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा कर्मादानहेतुक्रियाविशेषोपरमश्चारित्रपरिणामो भवति, ततश्चारित्रस्य ज्ञानपूर्वकत्वात् ज्ञान पूर्वं प्रयुक्तम्।

इतरेतरयोगे द्वन्द्वः, मार्गं प्रति परस्परापेक्षाणां प्राधान्यात्।३३। अयमितरेतरयोगे द्वन्द्वो दर्शनं च ज्ञानं च चारित्र च दर्शनज्ञानचारित्राणीति। कुत. ? मार्ग प्रति परस्परापेक्षाणां प्राधान्यात्।

---

१ यदुक्तं क–ध०, ता०, मू०। २ व्याभाव–आ०, ब०, द०, मु०। त्याः इति प्रत्यया इत्यर्थः। –ध० टि०, ता० टि०। ३ प्रतापप्रकाशवत् मु०, आ०, ब०, द०,। ४ चारित्रमोहोप–मु०, आ०, ब०।

सर्वपदार्थप्रधानत्वाद् बहुवचनान्तः ।३४। यथा प्लक्षन्यग्रोधपलाशा इति अस्त्यादिसमानकालक्रियाणां प्लक्षादीनां परस्परापेक्षाणामितरेतरयोगे द्वन्द्वः सर्वपदार्थप्रधानत्वात् बहुवचनान्त, तथा दर्शनज्ञानचारित्राणामस्त्यादिसमानकालक्रियाणां परस्परापेक्षाणामितरेतरयोगे द्वन्द्व सर्वपदार्थप्रधानत्वाद् बहुवचनान्त. । यतस्त्रयाणामपि दर्शनादीनां [1]सहितानां परस्परापेक्षाणां मोक्षमार्गत्वं प्रति प्राधान्यं नैकस्य न द्वयो ।

प्रत्येकं सम्यग्विशेषणपरिसमाप्तिर्भुजिवत् ।३५। यथा 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्ताम्' इति भुजि प्रत्येकं परिसमाप्यते, तथा प्रशसावचनस्य सम्यक्शब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धो दर्शनादिभि –सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति ।

पूर्वपदसामानाधिकरण्यात् तद्व्यक्तिवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; मोक्षोपायस्यात्मप्रधानत्वात् ।३६। स्यादेतद्–दर्शनादिभि· सामानाधिकरण्यात् तद्व्यक्तिवचने मोक्षमार्गस्य प्राप्नुत इति; तन्न; कि कारणम् ? मोक्षोपायस्य आत्मप्रधानत्वात् । यो मोक्षमार्गो मोक्षोपायस्तस्य आत्मा स्वभाव· [2]येनात्मना येन स्वभावेन मोक्षमार्ग उच्यते, स दर्शनज्ञानचारित्राणा सर्वेषामविशिष्ट एक. पुल्लिङ्गश्च तस्य प्राधान्यात् सत्यपि सामानाधिकरण्ये न तद्वचक्तिवचनप्राप्ति, यथा 'साधव प्रमाणम्' इति ।

आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्षः ।३७। 'मोक्ष असने' इत्येतस्य घञ् भावसाधनो मोक्षण मोक्षः असन क्षेपणमित्यर्थ, स आत्यन्तिक सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते ।

मृजेः शुद्धिकर्मणो मार्ग इवार्थाभ्यन्तरीकरणात् ।३८। मृष्ट शुद्धोऽसाविति मार्ग, मार्ग इव मार्ग । क उपमार्थ ? यथा स्थाणुकण्टकोपलशर्करादिदोषरहितेन मार्गेण मार्गगा सुखमभिप्रेतस्थान गच्छन्ति, तथा मिथ्यादर्शनाऽसयमादिदोषरहितेन त्र्यशेन श्रेयोमार्गेण सुखं मोक्ष गच्छन्ति ।

अन्वेषणक्रियस्य वा करणत्वोपपत्तेः ।३९। अथवा, 'मार्ग अन्वेषणे' इत्यस्य मार्गः सिध्यति । कुत ? सम्यग्दर्शनादीना करणत्वोपपत्ते । मोक्षो येन मार्ग्यते स मोक्षमार्ग इति ।

युक्त्यनभिधानादमार्ग इति चेत्; न; मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयमानां प्रत्यनीकत्वादौषधवत् ।४०। स्यादेतत्, नात्र युक्तिरुक्ता–'सम्यग्दर्शनादित्रयमित्थ मोक्षमार्ग ' इति,अतोऽस्य मार्गत्व नोपपद्यते इति, तन्न; किं कारणम् ? मिथ्यादर्शनाज्ञानासयमाना प्रत्यनीकत्वात् । कथम् ? औषधवत् । यथा वातादिकारोद्भूतरोगाणां निदान[3]प्रत्यनीक स्निग्धरूक्षाद्यौषधमुच्छेदकारणम्, तथा मिथ्यादर्शनाज्ञानासयमादीनां निदानप्रत्यनीक सम्यग्दर्शनाद्यौषधमुच्छेदकारणम् ।

इति तत्त्वार्थवार्त्तिके[4] व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये प्रथममाह्निकम्[5] ॥ १ ॥

---

१ संहतानां मु० । २ येनात्मीयेन स्वभावेन स मो–मु०, आ०, ब० । येनात्माना येन स्वभावेन स मो– व०, श्र० । ३ आदिकारणं वातादि । ४ –कव्या– ब०, ता० । सूत्राणामनुपपत्तिचोदनातत्परिहारो विशेषाभिधानञ्चेति वार्तिकलक्षणम् । ५ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे शास्त्रलक्षणव्याख्यानावसरे आह्निकलक्षणमप्युक्तम्– वर्णात्मकं हि पदम्, पदसमुदायविशेषः सूत्रम्, सूत्रसमूहः प्रकरणम्, प्रकरणसमितिराह्निकम् । आह्निकसंघातोऽध्यायः, अध्यायसमुदायः शास्त्रमिति ।

विपर्ययाद् बन्धस्यात्मलाभे सति ज्ञानादेव तद्विनिवृत्तेस्त्रित्वानुपपत्तिः ।४१। अत्र कश्चिदाह–विपर्ययाद् बन्धस्यात्मलाभो भवति तदभावात्तत्त्वज्ञाने सति [1]बन्धविनिवृत्तिर्भवति । कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति । बन्धनिवृत्तिरेव च मोक्ष । अतो मोक्षमार्गस्य त्रित्वं नोपपद्यते ।

प्रतिज्ञामात्रमिति चेत्; न; सर्वेषामविसंवादात् ।४२। स्यादेतत्–प्रतिज्ञामात्रमेतत्–'विपर्ययाद् बन्धो भवति' इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वेषामविसवादात् । नात्र [2]प्रवादिनो विसवदन्ते । तद्यथा— ५

'धर्मेण गमनम्'[3] इत्यादिवचनमेकेषाम् ।४३। *"धर्मेण गमनमूर्ध्वम्" [साख्यका० ४४] भवति-अष्टसु ब्राह्मयसौम्यप्राजापत्यैन्द्रगान्धर्वयक्षराक्षसपिशाचेषु । *"गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण" अधर्मेण खलु षट्सु स्थानेषु मानुषपशुमृगमत्स्यसरीसृपस्थावरेषु गमनम् । *"ज्ञानेन चापवर्गो" यदास्य रजस्तमसोर्गुणभावात् सत्त्वस्य प्राधान्यात् [4]प्रकृतिपुरुषान्तरपरिज्ञानमाविर्भवति १० तेनापवर्ग. । *"विपर्ययाद्विष्यते बन्धः" योऽ[5]स्याव्यक्तमहदहङ्कारतन्मात्रसज्ञास्वष्टासु प्रकृतिषु अनात्मीयासु आहङ्कारिकेषु वैकारिकेषु चेन्द्रियेषु आत्मत्वाभिमान स विपर्यय, तस्माद् बन्ध इत्येकेषा वचनम् ।

तथा अनात्मीयेष्वात्माभिमानविपर्ययात्[6] तस्य शब्दाद्युपलब्धिरादि गुणपुरुषान्तरोपल[7]ब्धिरन्तः । [8]'यावदस्याविभक्त' प्रत्यय –श्रोत्रादीन्द्रियवृत्तिषु श्रवणादिषु 'अह श्रोता' इत्येवमादिः, १५ पाञ्चभौतिके च शिर पाण्यादिसमूहे शरीरे 'अह पुरुष' इति प्रत्ययो भवति, तावदप्रतिबुद्ध[9]त्वात् ससार । गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्त, यदा पुरुषवर्जं[10]सर्वं प्रकृतिकृतं त्रिगुणमचेतन भोग्यमिति जानाति भोक्तारमकर्तार चेतन च पुरुषमन्य प्रधानादवैति अचेतनांश्च गुणान् तदा तस्य गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्त ससारस्य । इति ज्ञानान्मोक्षो विपर्ययाद् बन्ध इत्येकेषाम् ।

इच्छाद्वेषाभ्यामपरेषाम्[11] ।४४। इच्छाद्वेषपूर्विका [12]धर्माधर्मयो प्रवृत्तिस्ताभ्या सुखदु ख तत २० इच्छाद्वेषौ । न च विमोहस्य तौ मिथ्यादर्शनाभावात् । मोहश्चाज्ञानम् । विमोहस्य यते षट्पदार्थतत्त्वज्ञस्य वैराग्यवत. सुखदु खेच्छाद्वेषाभाव, इच्छाद्वेषाभावाद्धर्माधर्माभाव, तदभावे सयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च, स मोक्ष, तयोर्धर्माधर्मयोरभावे भवत्यपवर्ग । कथम् ? प्रदीपोपरमे प्रकाशाभाववत् । यद्धि यद्भाव प्रतीत्यात्मान प्रतिलभते तत्तस्योपरमात्तिरोभाव याति तद्यथा प्रदीपोपरमात् प्रकाशाभाव. । बन्धश्चादृष्टाद् भवति, कथम् ? अधर्मसंज्ञाददृष्टाद- २५ ज्ञान भवति, अज्ञानाच्च मोह, [13]मोहवत इच्छाद्वेषौ जायेते, इच्छाद्वेषाभ्या धर्माधर्मौ, स [14]एष बन्ध, अत ससारस्य प्रसूति । तस्माद् भवत्यदृष्टाभावे सयोगाभाव । कतरस्य सयोगस्याभाव ? जीवनतज्ञकस्य । धर्माधर्मापेक्ष सदेहस्यात्मनो मनसा सयोगो जीवनम्,[15] तस्य धर्माधर्मयोरभावादभावोऽप्रादुर्भावश्च प्रत्यग्रशरीरस्यात्यन्तमभाव.[16] स मोक्ष । कथमभावो

---

१ बन्धनिवृ –आ०, ब०, द०, ता०, मु० । २ प्रतिवा– अ०, ब०, द०, ता०, मु० । ३ गमनमूर्ध्वमि– आ०, ब०, मु० । "धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण । ज्ञानेन चापवर्गः विपर्ययाद्विष्यते बन्धः ॥" –सांख्यका० ४४ । ४ सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानम् । ५–स्यावक्तव्यम– आ०, ब०, मु० । ६ बन्ध इत्येकेषां वचनमित्यत्रापि योज्यम् । ७ ज्ञानम् । ८ यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवारणे इत्यवधौ । ९ अज्ञानात् । १० वैशेषिकाणाम् –सम्पा० । "इच्छा द्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः ।" –वैशे० सू० ६।२।१४ । द्रष्टव्यम् –प्रश० भा० पृ० १४४-४५ । ११ धर्माधर्मप्रवृ– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १२ अन्यथादर्शनम् । १३ एव मु०, आ०, ब० । १४ सकायपुरुषमानससंयोगो धर्माद्यपेक्षो जीवनमिति प्रतिपादनात् । १५ –त्यन्ताभावः आ०, ब०, द० मु० ।

धर्माधर्मयोः ? अनागतानुत्पत्ति-सञ्चितनिरोधाभ्याम् । अनागतानुत्पत्तिः सचितनिरोधश्च द्विविधोऽभाव. । तत्रानागतानुत्पत्तिस्तावत् धर्माधर्मयो –शरीरेन्द्रियमनोव्यतिरिक्तात्मदर्शनाद् अकुशलस्या[1]धर्मस्यानुत्पत्ति तत्साधनानां पारवर्जनात्, धर्मस्यापि तत्साधनानामनभिसम्बन्धात्, नानभिसहितं कर्म बध्नातीति । सचितनिरोधोऽपि–तदुद्वेगपरिखेदफलादधर्मनाश[2], तस्मात् ससारादुद्वेग. । शरीरतत्त्वावलोकनात् शीतोष्णशोकादिनिमित्त शरीरपरिखेद प्रदाया-धर्मोऽतिरिच्यते । भोगदोषदर्शनात् षण्णा च पदार्थाना तत्त्वविनिर्णयात् प्रीतिमारभ्य धर्मस्य विनाश[3], अतो मोक्ष इत्यपरेषा दर्शनम् ।

'दुःखादिनिवृत्ति.' इत्यन्येषाम्[4] ।४५। *"**दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावान्निःश्रेयसाधिगमः**" [न्यायसू० १।१।२] इत्यन्येषा दर्शनम् । पाठ प्रत्युत्तर मिथ्या-ज्ञानम् । सर्वेषामुत्तरस्य तत्त्वज्ञानान्निवृत्तौ यस्तदनन्तरोऽर्थस्तस्य निवृत्ति । कश्चासौ ? दोष[5], स हि मिथ्याज्ञानादनन्तर तत्कार्यत्वात् । स चोत्तर [6]प्रवृत्ते, प्रवृत्तिश्चानन्तरा तत्कार्यत्वात्, ततो दोषाभावे प्रवृत्त्यभाव । प्रवृत्तिरप्युत्तरा जन्मन, प्रवृत्तेरभावाज्जन्माभाव तत्कार्यत्वात् । तथा जन्मोत्तरं दु खात्, अतो जन्माभावाद् दु खनिवृत्तिः । तन्निवृत्तौ [7]च आत्यन्तिक. सुखदुःखानुपभोगो निःश्रेयसमिति ।

'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः' इत्यादिवचनं केषाञ्चित्[8] । ४६। अविद्या विपर्ययात्मिका, सर्व-

---

१ श्र० प्रतौ 'अधर्मस्य' इति पदम् 'अकुशलस्य' इति पदस्य टिप्पणभूतम् । २ नैयायिकानाम् । ३ धर्माधर्मरूपायाः । ४ य आ-आ०, ब०, द०, मु० । ५ बौद्धानाम् । "तत्र प्रतीत्यसमुत्पादः शालिस्तम्ब-सूत्रेऽभिहितः । तत्र आध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धनः कतमः यदिदम्– अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः यावज्जातिप्रत्ययं जरामरणमिति. ।" –शिक्षासमुच्चय पृ० २१६ । "तद्यथोक्तमार्यशालिस्तम्ब-सूत्रे– एवमुक्ते मैत्रेयो बोधिसत्त्वो महासत्त्व आयुष्मन्तं शारिपुत्रमेतदवोचत् । यदुक्तं भगवता धर्मस्वामिना सर्वज्ञेन । यो भिक्षवः प्रतीत्यसमुत्पाद पश्यति स धर्मं पश्यति । यो धर्मं पश्यति स बुद्धं पश्यति । तत्र कतमः प्रतीत्यसमुत्पादो नाम । यदिदमविद्याप्रत्ययाः संस्काराः । संस्कारप्रत्यय विज्ञानम्, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्, नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेदनप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्, उपादानप्रत्ययो भवः, भवप्रत्यया जाति, जातिप्रत्ययाः जरामरणशोकपरिदेवदुःख-दौर्मनस्यादयः ।. ... तत्राविद्या कतमा एतेषामेव षण्णां धातूनां यैकसज्ञा, पिण्डसंज्ञा, नित्यसज्ञा, ध्रुवसंज्ञा, शाश्वतसंज्ञा, सुखसंज्ञा, आत्मसंज्ञा, सत्त्वसंज्ञा, जीवसंज्ञा, जन्तुसंज्ञा, मनुजसंज्ञा, मानवसंज्ञा, अहङ्कारमम-कारसंज्ञा, एवमादिविविधमज्ञानमियमुच्यते अविद्या । एवमविद्यायां सत्या विषयेषु रागद्वेषमोहाः प्रवर्त्तन्ते, तत्र ये रागद्वेषमोहा विषयेषु अमी अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इत्युच्यन्ते । वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञानम् । चत्वारि महाभूतानि च उपादानानि रूपम् ऐकध्यरूपम्, विज्ञानसम्भूताश्चत्वारोऽरूपिणः स्कन्धा नाम, तन्नामरूपम् । नामरूपसन्निःसृतानि इन्द्रियाणि षडायतनम् । त्रयाणां धर्माणां सन्निपातः स्पर्शः । स्पर्शा-नुभवो वेदना । वेदनाध्यवसानं तृष्णा । तृष्णावैपुल्यमुपादानम् । उपादाननिर्जातं पुनर्भवजनकं कर्म भवः । भवहेतुकः स्कन्धप्रादुर्भावो जातिः । जात्यभिनिर्वृत्तानां स्कन्धानां परिपाको जरा । स्कन्धविनाशो मरण-मिति ।" –बोधिचर्या० पं० पृ० ३६८ । शिक्षासमु० पृ० २२२ । माध्यमिकका० पृ० ५६४ । मध्यान्तवि० सू० टी० पृ० ४२ । "पुनरपरं तत्त्वेऽप्रतिपत्तिः मिथ्याप्रतिपत्तिः अज्ञानम् अविद्या । एवम् अविद्यायां सत्यां त्रिविधाः संस्कारा अभिनिवर्तन्ते– पुण्योपगा अपुण्योपगा आनिञ्ज्योपगाश्च इम उच्यन्ते अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इति । तत्र पुण्योपगानां संस्काराणां पुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, अपुण्योपगानां संस्काराणाम् अपुण्योपगमे च विज्ञानं भवति, आनिञ्ज्योपगानां संस्काराणाम् आनिञ्ज्योपगमे च विज्ञानं भवति । इदमुच्यते संस्कारप्रत्ययं विज्ञानमिति । एवं नामरूपम् । नामरूपविवृद्धया षड्भिः आयतनद्वारैः कृत्यक्रिया प्रवर्त्तते, तत् नामरूपप्रत्ययं षडायतनमुच्यते.....।" –शिक्षासमु० पृ० २२३ ।

भावेष्वनित्या[1]नात्माशुचिदु:खेषु नित्यसात्मकशुचिसुखाभिमानरूपा। [2]तत्प्रत्यया सस्कारा इत्यादिवचन केषाञ्चित्। के पुनस्ते सस्कारा ? रागादय[3]। ते च त्रिधा[4]पुण्यापुण्यानेज्य-[5] सस्कारा, यत इदमुच्यते अविद्याप्रत्यया सस्कारा। वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञान[6]मिति। तत्र पुण्योपगानां सस्काराणां पुण्योपगमे च विज्ञान भवति, अपुण्योपगाना सस्काराणामपुण्योपगमे च विज्ञान भवति, आनेज्योपगाना सस्काराणामानेज्योपगमे च विज्ञानं भवति, यत इदमुच्यते सस्कारप्रत्यय विज्ञानम्। विज्ञानसभूताश्चत्वार स्कन्धा नाम, चत्वारि महाभूतानि रूपम्, नाम च [7]रूप च नामरूपमिति। यत इदमुच्यते विज्ञानप्रत्यय नामरूपम्। नामरूपसन्निहितानीन्द्रियाणि षडायतनमिति। नामरूपवृद्धचा षड्भिरायतनद्वारै कृत्य क्रिया च प्रजायते इति नामरूपप्रत्ययं षडायतनमुच्यते। त्रयाणा धर्माणा सन्निपात स्पर्श। केषाम् त्रयाणाम् ? विषयेन्द्रियविज्ञानानाम्, सगति स्पर्श। षड्भ्य आयतनेभ्य षट् स्पर्शकाया प्रवर्तन्त इति षडायतनप्रत्यय. स्पर्श। स्पर्शानुभवन[8] वेदना। यज्जातीय स्पर्शो भवति तज्जातीया वेदना प्रवर्तत इतीदमुच्यते स्पर्शप्रत्यया वेदनेति। वेदनाध्यवसाना तृष्णा। यतस्तान् वेदनाविशेषानास्वादयत्यभिनन्दयत्यध्यवस्यति तृष्यति[9] सा वेदनाप्रत्यया तृष्णोच्यते। तृष्णावै[10]पुल्यमुपादानम्। सा मे प्रिया सानुरागेति भवेन्नित्यमपरित्यागो भूयो भूयश्च प्रार्थना, तदुच्यते तृष्णाप्रत्ययमुपादानमिति। उपादाननिमित्त पुनर्भवजनक कर्म भव., एवं प्रार्थयमान पुनर्भवजनकं कर्म समुत्थापयति कायेन मनसा वाचा। तद्धेतुक स्कन्धप्रादुर्भावो जाति। जातिस्कन्धपरिपाको जरा। जात्यभिनिर्वृत्ताना स्कन्धानामपचय परिपाक, परिपाकाद्विनाशो भवति तन्मरणम्। तदेव[11]जातिप्रत्यय जरामरणमुच्यते। [12]एवमय द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादोऽन्योन्यहेतुक। तत्र सर्वभावेष्वविपरीतदर्शन विद्या। यत्सर्वभावेष्वनित्यानात्मकाशुचिदु खेषु अनित्यानात्मकाशुचिदु:खदर्शन सा विद्या। ततो मोक्ष। कथम् ?अविद्याया विद्यातो निवृत्ति, अविद्यानिवृत्ते सस्कारनिरोध, सस्कारनिरोधाद्विज्ञाननिरोध, एवमुत्तरेष्वपीति। तदेवमविद्यातो बन्धो भवति विद्यातश्च मोक्ष इति।

मिथ्यादर्शनादेरिति[13] मतं भवताम्।४७। *"**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः**" [त० सू० ८।१] इति भवतामार्हतानामपि मतम्। पदार्थविपरीताभिनिवेशश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्, विपरीताभिनिवेशश्च मोहात्, मोहश्चाज्ञानमित्यज्ञानाद् बन्ध। अतो मिथ्यादर्शनमादिर्बन्धस्य। सामायिकमात्रप्रतिपत्तेश्च *"**अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धाः**"[ ] इति[13] वचनात्, सामायिक च ज्ञानम्, अत. आर्हतानामपि ज्ञानान्मोक्ष इत्यविसवादात् त्रितयमोक्ष मार्गकल्पना न युक्ता। किञ्च,

दृष्टान्तसामर्थ्याद् वणिक्स्वप्रियैकपुत्रवत्।४८। "तद्यथा वणिक् स्वप्रियैकपुत्रसदृशविग्रहं

---

१ –नित्यानात्मकाशु –आ०, ब०, मु०। २ अविद्याकारणकाः। ३ आदिशब्देन उपेक्षोपादीयते। ४ त्रिष्ठाः द०, ता०, श्र०। ५ औदासीन्य। ६ विकल्पज्ञानमित्यर्थः। ७ नाम च रूपनाम च नाम– मु०। ८ –भवने वे– श्र०। ९ –ष्यतीति आ०, ब०, द०, मु०। १० तदेवं जा– आ०, ब०, द०, मु०। ११ अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं नामरूपप्रत्ययं षडायतनम् षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः स्पर्शप्रत्यया वेदना वेदनाप्रत्यया तृष्णा तृष्णाप्रत्ययमुपादानम् उपादानप्रत्ययो भवः भवप्रत्यया जातिः जातिप्रत्ययं जरामरणमिति द्वादशाङ्गं प्रतीत्यसमुत्पाद इति। १२–नादिरिति मु०। १३ "श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः" –तत्त्वार्थभा० सम्बन्धका० २७। १४ यथा मु०।

गजेनावमृद्यमानं बालमुपलभ्यातिदुःखाभिभवमूर्च्छया गतप्राण इवाभवत्, विनिवृत्तकायादिक्रियस्य चास्य कुशलसुहृद्भिरुपायपूर्वक प्रत्याहितप्राणवृत्ते स्वपुत्र एव दर्शनविषयमुपनीते 'अय मम पुत्र' इत्याविर्भूततत्त्वज्ञानस्य स्वपुत्रसादृश्योद्भूतमिथ्याज्ञानजनित दुःख तदभूतपूर्वमिवाभवत्। एवमज्ञानाद् बन्ध केवलाच्च ज्ञानान्मोक्ष इति।

न वा नान्तरीयकत्वाद् रसायनवत्।४९। न वा एष दोष। किं कारणम्? नान्तरीयकत्वात्, नहि त्रितयमन्तरेण मोक्षप्राप्तिरस्ति। कथम्? रसायनवत्। यथा न रसायनज्ञानादेव रसायनफलेन[1] अभिसबन्धः रसायनश्रद्धानक्रियाभावात्, यदि वा रसायनज्ञानमात्रादेव रसायनफलसबन्धः कस्यचिद् दृष्टः सोऽभिधीयताम्? न चासावस्ति। न च रसायनक्रियामात्रादेव;[2] ज्ञानश्रद्धानाभावात्। न च [3]श्रद्धानमात्रादेव; रसायनज्ञानपूर्वक्रियासेवनाभावात्। अतो रसायनज्ञानश्रद्धानक्रियासेवनोपेतस्य तत्फलेनाभिसबन्ध इति नि प्रतिद्वन्द्वमेतत्। तथा न मोक्षमार्गज्ञानादेव मोक्षेणाभिसबन्धो दर्शनचारित्राभावात्। न च श्रद्धानादेव; मोक्षमार्ग[4]ज्ञानपूर्वक्रियानुष्ठानाभावात्। न च क्रियामात्रादेव; ज्ञानश्रद्धानाभावात्। यत क्रिया ज्ञानश्रद्धानरहिता नि फलेति। यदि च ज्ञानमात्रादेव क्वचिदर्थसिद्धिर्दृष्टा साभिधीयताम्? न चासावस्ति। अतो मोक्षमार्गत्रितयकल्पना ज्यायसीति। **'अनन्ताः सामायिकसिद्धाः'** इत्येतदपि त्रितयमेव साधयति। कथम्? ज्ञस्वभावस्यात्मनस्तत्त्व श्रद्दधानस्य सामायिकचारित्रोपपत्ते। समय एकत्वमभेद इत्यनर्थान्तरम्, समय एव सामायिक चारित्र सर्वसावद्यनिवृत्तिरिति अभेदेन सग्रहादिति। उक्तञ्च—

***"हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।**
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः ॥१॥
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।
अन्धश्च पङ्गुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥२॥" [ ] इति।

ज्ञानादेव मोक्ष इति चेत्; अनवस्थानादुपदेशाभावः।५०। यस्य ज्ञानादेव मोक्षः तस्यानवस्थानादुपदेशाभाव। यथा प्रदीपस्य तमोनिवृत्तिहेतुत्वात् प्रदीपे सति न मुहूर्तमपि तमोऽवतिष्ठते। नह्येतदस्ति 'प्रदीपश्च नाम ज्वलति तमश्चावतिष्ठते' इति। तथा [5]आत्मपरस्वरूपावबोधाविर्भावानन्तरमेव आप्तस्य मोक्षः स्यात्। न ह्येतद्युक्तिमत् 'ज्ञान च नाम मोक्षस्य कारमस्ति न च मोक्ष' इति। ततो ज्ञानानन्तरमेवाप्तस्य शरीरेन्द्रियवृत्त्यादि[6]निवृत्ते प्रवचनोपदेशाभावः।

संस्काराक्षयादवस्थानादुपदेश इति चेत्; न; प्रतिज्ञातविरोधात्।५१। स्यादेतत्—यावदस्य संस्कारा न क्षीयन्ते तावदवस्थानमित्युपदेश उपपन्न इति; तन्न; किं कारणम्? प्रतिज्ञातविरोधात्। यद्युत्पन्नज्ञानोऽपि सस्कारक्षयापेक्षत्वादवतिष्ठते न मुच्यते, न तर्हि ज्ञानादेव मोक्ष। कुत? सस्कारक्षयात्। इति यत्प्रतिज्ञातम्—***"ज्ञानेन चापवर्गः"** [साख्यका० ४४] इति तद्विरोध। किञ्च,

उभयथा दोषोपपत्तेः।५२। इदमिह संप्रधार्यम्—सस्कारक्षयस्य ज्ञान वा हेतुः स्यात्, अन्यो वेति? यदि ज्ञानम्; ननु ज्ञानादेव सस्कारनिरोध इति प्रवचनोपदेशाभावः। अथान्य; स कोऽन्यो भवितुमर्हति अन्यतश्चारित्रात्, इति पुनरपि प्रतिज्ञातविरोध इति। किञ्च,

---

१ आरोग्येण। २ तत्फलेनाभिसम्बन्धः एवमुत्तरत्रापि। ३ न च रसायनश्रद्धान— मु,० आ०, ब०, द०। ४ मार्गोज्ञा— मु०। ५ आत्मस्वरूपा— मु०, आ०, ब०, द०,। ६ इच्छाद्वाक्प्रवृत्त्यादि।

प्रव्रज्याद्यनुष्ठानाभावप्रसङ्गश्च ।५३। यदि ज्ञानादेव मोक्षः, ननु ज्ञान एव यत्न कार्य्यं, शिरस्तुण्डमुण्डन-काषायाम्बरधारणादिलक्षणप्रव्रज्या-यम-नियम-भावनाद्यभावप्रसङ्ग स्यात् ।

ज्ञानवैराग्यकल्पनायामपि ।५४। किम् ? 'अवस्थानाभावादुपदेशाभाव' इत्यादि । पदार्थपरिज्ञाने सति विषयानभिष्वङ्गलक्षणे च वैराग्य आप्तस्य तत्क्षण एव मोक्षोपपत्तेः[1] । किञ्च, ५

नित्यानित्यैकान्तावधारणे तत्कारणासंभवः ।५५। नित्या एवार्था अनित्या एव वेत्येकान्तावधारणे तत्कारणा सम्भव तत्कारणस्य [2]ज्ञानस्य वैराग्यस्य वाऽसभव । तद्यथा–

नित्यत्वैकान्ते विक्रियाभावाद् ज्ञानवैराग्याभावः ।५६। विक्रिया द्विविधा–ज्ञानादिविपरिणामलक्षणा, देशान्तरसक्रमरूपा च । येषा नित्य एवात्मा सर्वगतश्चेति दर्शनम्, तेषामुभय्यपि सा नास्ति । ततश्चतुष्टय[3]त्रयद्वयसन्निकर्षजविज्ञानाभावाद् वैराग्यपरिणामाभावाच्च १० पूर्वापरकालतुल्यवृत्तेरात्मन आकाशस्येव मोक्षाभाव । समवायादिति चेत्; नः तस्य प्रत्याख्यातत्वात् ।

क्षणिकैकान्तेऽप्यवस्थानाभावात् ज्ञानवैराग्यभावनाभावः ।५७। येषा मतम्–*"क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" [ ] इति[4]; तेषामप्युत्पत्त्यनन्तर[5] विनाशे सति ज्ञानादीनामवस्थानं नास्ति । नच तेभ्योऽन्यदवस्थास्नु वस्तु विद्यते । अतस्तदभावाज्ज्ञानवैराग्यभावनाभाव । तत १५ एवोत्पत्त्यनन्तर निरन्वयविनाशाभ्युपगमात् परस्पर[6]संश्लेषाभावे निमित्तनैमित्तिकव्यवहाराप्रह्लवाद् 'अविद्याप्रत्यया संस्कारा.' इत्येवमादि विरुध्यते । सन्तानादिकल्पनाया वा अन्यत्वानन्यत्वयोरनेकदोषानुषङ्ग[7] ।

विपर्ययाभावः प्रागनुपलब्धः उपलब्धौ वा बन्धाभावः ।५८। इह लोके प्रागनुभूतस्थाणुपुरुषविशेषस्य प्रकाशाभावात् अभिभवात् करणक्लमाद्वा 'विशेषानुपलब्धौ विपर्ययो दृष्ट । २० न चावनितलभवनसभूतस्य प्रागप्रतीततदन्तरस्य विपर्ययप्रत्ययो भवति । नच तथा अनादौ संसारेऽनभिव्यक्तशक्ते. पुरुषस्य गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरस्ति, अत प्रागनुपलब्धेर्नास्ति विपर्यय । तथा सर्वभावेष्वनित्यानात्मकाशुचिदु खेषु नित्यसात्मकशुचिसुखरूपेण विपर्ययो नास्ति, प्रागननुभूतविशेषत्वात् । यदि वा क्वचिदप्रसिद्धसामान्यविशेषस्य कस्यचिद्विपर्ययो दृष्ट· सोऽभिधीयताम् ? न चोच्यते अतो विपर्ययाभावाद् बन्धाभाव । तत्र यदुक्तम्–'विपर्ययाद् २५ बन्ध' इति तद् व्याहन्यते । अथ प्राक् तद्विषेषोपलब्धिरभ्युपगम्यते; ननु तदैव तद्धेतुकेन मोक्षेण भवितव्यमिति बन्धाभाव स्यात् । किञ्च,

प्रत्यर्थवशवर्त्तित्वाच्च ।५९। 'विपर्ययाभाव' इत्यनुवर्तते । येषा दर्शनं प्रत्यर्थवशवर्ति विज्ञानमिति तेषा पुरुषविषय विज्ञान न स्थाणुमवगृह्णाति, स्थाणुविषयं च यद्विज्ञानं न तत्पुरुषमवबुध्यते, अत परस्परविषयसक्रमाभावान्न सशयो न विपर्यय, तथा सर्वेषु पदार्थे- ३०

---

१ तर्हि सयोगकेवलिनः । २ ज्ञानवैराग्यस्यासंभ– आ०, ब०, द०, मु० । ३ आत्ममनः इन्द्रियार्थसम्प्रयोगात् घटादिज्ञानं चतुष्टयसन्निकर्षजम् । आत्ममनःसुखाद्यर्थसम्बन्धाज्जायमानं सुखादिज्ञानं त्रयसन्निकर्षजम् । आत्ममनःसम्प्रयोगाज्जायमानमात्मज्ञानं द्वयसन्निकर्षजम् –सम्पा० । ४ "क्षणिकाः सर्वसस्काराः स्थिराणां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥" इति पूर्णः श्लोकः सम्पा० । ५ –नन्तरवि– श्र०, ता० । ६ –रं सं–आ०, ब०, द० मु०– । ७. ....प्रकल्पितम् । सन्तानिव्यतिरेकेण यतः काचिन्न सन्ततिः । व्यतिरेकेऽपि नित्यत्वं सन्तानस्य यदीष्यते । प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात् क्षणिकैकान्तवादिनाम् । क्षणिकत्वेऽपि सन्तानपक्षनिक्षिप्तदूषणम् । कृतनाशादिकं तस्य सर्वमेव प्रसज्यत इति । ८ कोटरादि ।

ष्वनेकार्थग्रहणैकविज्ञानाभावात् असति विपर्यये बन्धाभावः । तत एव पदार्थविशेषानुपलब्धेर्मोक्षाभाव । नह्येकार्थग्राहि विज्ञानं तदन्तरमवच्छिनत्ति ।

ज्ञानदर्शनयोर्युगपत्प्रवृत्तेरेकत्वमिति चेत्; न; तत्त्वावायश्रद्धानभेदात् तापप्रकाशवत् ।६०। स्यादेतद्–ज्ञानदर्शनयोरेकत्वम् । कुत. ? युगपत्प्रवृत्तेरिति; तन्न; कि कारणम् ? तत्त्वावायश्रद्धानभेदात् । कथम् ? तापप्रकाशवत् । यथा तापप्रकाशयोर्युगपदात्मलाभेऽपि दाहद्योतनसामर्थ्यभेदान्नैकत्वम्, तथा ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वावायश्रद्धानभेदान्नैकत्वम् । तत्त्वस्य ह्यवगमो ज्ञानम्, श्रद्धानं दर्शनमिति ।

दृष्टविरोधाच्च[1] ।६१। यस्य मतं युगपदात्मलाभ एकत्वे हेतुरिति तस्य दृष्टविरोध आपद्यते । दृष्ट हि गोविषाणादीना युगपदुत्पद्यमानानामपि नानात्वम् ।

उभयनयसद्भावे अन्यतरस्याश्रितत्वाद्वा रूपादिपरिणामवत् ।६२। उभयनयसद्भावे अन्यतरस्याश्रितत्वाद्वा न दोष । कथम् ? रूपादिपरिणामवत् । यथा परमाण्वादिपुद्गलद्रव्याणां बाह्याभ्यन्तर[2]परिणामकारणापादिते युगपद् रूपादिपरिणामेऽपि न रूपादीनामेकत्वं तथा ज्ञानदर्शनयोरपि ।

अथवा, उभयनयसद्भावेऽन्यतरस्याश्रितत्वात् । यथा रूपादिपरिणामानां द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोरन्यतरगुणप्रधानभावार्पणात् स्यादेकत्व स्यान्नानात्वम् । कथम् ? इह पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् पर्यायार्थानर्पणात् अनादिपारिणामिकपुद्गलद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकत्वम्, यथा रूपपर्याय पुद्गलद्रव्य तथा रसादयोऽपि द्रव्यार्थादेशात् पुद्गलद्रव्यम् । तेषामेव द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् द्रव्यार्थानर्पणात् प्रतिनियतरूपादिपर्यायार्थेनार्पिताना स्यादन्यत्वम्, यतोऽन्यो रूपपर्याय अन्ये च रसादय. । तथा ज्ञानदर्शनयोरनेन विधिना अनादिपारिणामिकचैतन्यजीव[3]द्रव्यार्थादेशात् स्यादेकत्वम्, यतो द्रव्यार्थादेशाद् यथा ज्ञानपर्याय आत्मद्रव्यं तथा दर्शनमपि । तयोरेव प्रतिनियतज्ञानदर्शनपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यस्मादन्यो ज्ञानपर्यायोऽन्यश्च दर्शनपर्यायः ।

ज्ञानचारित्रयोरकालभेदादेकत्वम् अगम्यावबोधवदिति चेत्; न; आशूत्पत्तौ सूक्ष्मकालाप्रतिपत्तेः उत्पलपत्रशतव्यधनवत् ।६३। स्यादेतत्–ज्ञानचारित्रयोरेकत्वम् । कस्मात् ? अकालभेदात् । कथम् ? अगम्यावबोधवत् । यथा केनचित् मोहोदयापादिताऽन्याङ्गनाभिसरणोत्सुकमतिना पुंसा मेघोदयोद्भूतबहलान्धकारायां रात्रौ वीथ्यन्तराले 'मातृपुंश्चली 'स्वाभिलषिता' इति स्पृष्टा, तदैव विद्युता च विद्योतितम् । तेन द्योतेन 'मातेयम्' इति तस्य ज्ञानं यदोत्पन्न तदैव अगम्यावबोधाद् अगम्यागमननिवृत्ति', न अगम्यावबोध-अगम्यागमननिवृत्त्योः कालभेदोऽस्ति । तथा यदैव ज्ञानावरणक्षयोपशमाज्जीवेषु ज्ञानं 'जीवा' इत्याविर्भवति, तदैव 'ते न हिस्या.' इति जीवे हिसाप्रत्ययस्य[4] निवृत्ति, निवृत्तिश्च चारित्रम् । न च जीवज्ञान–हिसानिवृत्त्यो कालभेदोऽस्तीति; तन्न; कि कारणम् ? आशूत्पत्तौ सूक्ष्मकालाप्रतिपत्ते[5]. । तत्राप्यस्त्येव कालभेद[5] सौक्ष्म्यात्तु न प्रतीयते । कथम् ? उत्पलपत्रशतव्यधनवत् । यथा उत्पलपत्रशतव्यधनक्रम आसंख्येयसमयिक. सर्वज्ञप्रत्यक्षोऽतिसूक्ष्मोऽस्ति न तु विभाव्यते छद्मस्थै', यतो यावदेकमुत्पलपत्रमासश्छित्त्वा द्वितीयं छिनत्ति तावदसंख्येया. समया अतीता इति कालसूक्ष्मोपदेश[5] । तथा अन्योऽगम्यावबोधकालः, अन्यश्च निवृत्तिकाल. ।

---

१ –रोधात् तस्य भा० १ । २ –रकार –श्र० । ३ जीवाद्विद्रव्या –ता० । ४ निन्द्ये पाषाणकेनेति समासः । ५ कारणस्य ।

अर्थभेदाच्च ।६४। किम् ? 'नैकत्वम्' इति वर्तते । 'ज्ञानस्य तत्त्वावबोधोऽर्थ, चारित्रस्य कर्मादानहेतुक्रियाविशेषोपरमोऽर्थ' इत्यतो नानात्वम् ।

कालभेदाभावो नार्थाभेदहेतुः गतिजात्यादिवत् ।६५। न[1]कालभेदाभावोऽर्थाभेदहेतुर्न्याय्य. । कथम् ? गतिजात्यादिवत् । यथा यदैव देवदत्तजन्म तदैव मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिशरीरवर्णगन्धादीनां जन्म, नान्यो देवदत्तजन्मकाल, अन्यश्च मनुष्यगत्यादिपर्यायजन्मकाल. । न चैककालत्वात् मनुष्यगत्यादीनामेकत्वम् । यस्य पुन कालभेदाभाव एकत्वहेतुरिष्ट तस्य मनुष्यगत्यादिपर्यायाणामेकत्वप्रसङ्ग । न चेष्यते, अतो न कालभेदाभावाज्ज्ञानचारित्रयोरेकत्वम् ।

उक्तं च ।६६। किमुक्तम् ? 'उभयनयसद्भावात् स्यादेकत्व स्यान्नानात्वम्' इति ।

लक्षणभेदात्तेषामेकमार्गत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; परस्परसंसर्गे सत्येकत्वं प्रदीपवत् ।६७। स्यादेतत्–तेषा सम्यग्दर्शनादीनामेकमार्गत्व नोपपद्यते । कुत. ? लक्षणभेदात् । नहि भिन्नलक्षणानामेकत्व युज्यते । ततस्त्रयोऽमी मोक्षमार्गा प्रसक्ता इति; तन्न; किकारणम् ? परस्परससर्गे सत्येकत्वम् । कथम् ? प्रदीपवत् । यथा परस्परविलक्षणवर्तिस्नेहानलार्थानां बाह्याभ्यन्तरपरिणामकारणापादितसयोगपर्यायाणा [2]समुदयो भवत्येक प्रदीपो न त्रय, तथा परस्परविलक्षणसम्यग्दर्शनादित्रयसमुदये भवत्येको मोक्षमार्गो न त्रय । किञ्च,

सर्वेषामविसंवादात् ।६८। विलक्षणानामेकत्वावाप्तौ न प्रतिवादिनो विसवदन्ते । [3]केचित्तावदाहु –[4]प्रसादलाघवशोषतापावरणसादनादिभिन्नलक्षणाना सत्त्वरजस्तमसा साम्ये प्रधानमेकम्, न तेषा त्रित्वात् प्रधानस्य त्रैविध्यमिति । [5]अपर आहु –कक्खडतादीना[6] चतुर्णां भूतानां भौतिकानां च वर्णादीना विलक्षणानां समुदय एको रूपपरमाणु, न तेषां भेदात् परमाणोरनेकत्वम् । तथा रागादीनां धर्माणां प्रमाणप्रमेयाधिगमरूपाणा च विलक्षणानां समुदय एकं विज्ञानम्, न तेषा भेदाद्विज्ञानभेद इति । [7]इतर आहुः–चित्राणा तन्तूनां समुदयश्चित्रपट एक., न तेषा भेदात्पटस्य भेद इति । तद्वदिहापि सम्यग्दर्शनादीना भिन्नलक्षणाना समुदय एको मोक्षमार्ग इति को विरोध. ?

एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् ।६९। एषा सम्यग्दर्शनादीना पूर्वस्य लाभे [8]भजनीयमुत्तरं वेदितव्यम् ।

उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः।७०। उत्तरस्य तु लाभे नियत. पूर्वलाभो द्रष्टव्यः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणा पाठ प्रति पूर्वत्वमुत्तरत्वं च । पूर्वस्य सम्यग्दर्शनस्य लाभे ज्ञानमुत्तरं भजनीयम्, उत्तरज्ञानलाभे तु नियत पूर्वसम्यग्दर्शनलाभ । तथा पूर्वज्ञानलाभे उत्तर चारित्रं भजनीयम्, उत्तरचारित्रलाभे तु नियत सम्यग्दर्शनज्ञानलाभ. ।

तदनुपपत्तिः, अज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्गात्।७१। 'पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्' इत्येतस्याऽनुपपत्ति । कुतः ? अज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्गात् । यदि पूर्वसम्यग्दर्शनलाभे उत्तरज्ञानलाभो भजनीय, ननु [9]ज्ञानाभावादज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्ग. । किञ्च ।

---

१ कालभेदाभावः अर्थभेद– ता० । कालभेदाभावः नार्थाभेद अ० । २ समुदये भ–आ०, ब०, द०, मु० । ३ सांख्याः । ४ "सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टवष्टम्भकं चलं च रजः । गुरुवरणकमेव तमः साम्यावस्था भवेत् प्रकृतिः ॥" सांख्यका० १३ । ५ बौद्धाः । ६ काक्खडता–मु० । काक्खडता–आ०, ब०, द० । कर्कशतेति पाठान्तरम् । तुलना–"यत्किञ्चिद् बाह्यं कक्खडत्वं खरगतमनुपात्तम्, अयमुच्यते बाह्यः पृथिवी धातुः" –शिक्षासमु० पृ० २४५ । ७ वैशेषिकाः । ८ विकल्पनीयम् । ९ ज्ञानालाभाद –अ० ।

अनुपलब्धस्वतत्त्वेऽर्थे श्रद्धानानुपपत्तिः अविज्ञातफलरसोपयोगवत् ।७२। यथा नाविज्ञाते फले 'तद्रसोपयोग अमुष्य फलस्य[1]' च सन्निष्पादयिता' इति श्रद्धानमस्ति, तथा नाविज्ञातेषु जीवादिषु श्रद्धानमस्तीति श्रद्धानाभाव स्यात् । किञ्च,

आत्मस्वरूपाभावप्रसङ्गात् ।७३। यदि सम्यग्दर्शनलाभे ज्ञानं[2] भजनीयत्वाद् असत, ५ विरोधात् मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सम्यग्ज्ञानस्य चाभावाज्ज्ञानोपयोगाभाव आत्मन· प्रसक्त· । ततश्च लक्षणाभावाल्लक्ष्यस्यात्मनोऽप्यभाव स्यात्, तदभावाच्च मोक्षमार्गपरीक्षा व्यर्थेति ।

न वा; यावति ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते तावतोऽसंभवान्नयापेक्षं वचनम् ।७४। न वा एष दोष । कि कारणम् ? यावति ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते तावतोऽसभवान्नयापेक्षमिदं वचनम् 'भजनीयमुत्तरम्' इति । [3]क्व च ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते ? श्रुतकेवलयो, यत श्रुतकेवल- १० ज्ञानग्राही शब्दनय· श्रुतकेवले एवेच्छति नान्यज्ज्ञानम् अपरिपूर्णत्वादिति । [4]तदपेक्ष्य सपूर्ण-द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वलक्षणं श्रुतं केवल च भजनीयमुक्तम् । तथा पूर्वसम्यग्दर्शनलाभे देशचारित्र संयतासयतस्य, सर्वचारित्र[5] च प्रमत्तादारभ्य सूक्ष्मसाम्परायान्ताना यच्च यावच्च नियमादस्ति, सपूर्ण यथाख्यातचारित्रं तु भजनीयम् ।

पूर्वसम्यग्दर्शनज्ञानलाभे भजनीयमुत्तरमिति चेत्, न; निर्देशस्याऽगमकत्वात् ।७५। १५ स्यादेतत्—नाज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसङ्गोऽस्ति । कुत ? पूर्वसम्यग्दर्शनज्ञानलाभे चारित्रमुत्तर भजनीयमित्यभिसम्बन्धादिति; तन्न; कि कारणम् ? निर्देशस्यागमकत्वात् । युक्तोऽयमर्थो न तु तस्य निर्देशो गमक,[6] 'पूर्वस्य लाभे' इति 'पूर्वयो' इति हि वक्तव्यं स्यात् । अथ सामान्य-निर्देशादुभयगति कल्प्यते; नैवं शक्यम्; व्यवस्थाविशेषस्य विवक्षितत्वात् । इतरथा हि [7]उत्तरेऽपि तथा प्रक्लृप्तौ तद्दोषानतिवृत्ति· स्यात् । तस्मात्पूर्वोक्त एवार्थो नयापेक्षं वचनमिति । २० अथवा, क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य [8]लाभे क्षायिक सम्यग्ज्ञान भजनीयम् । अथवा, युगपदात्मलाभे साहचर्यादुभयोरपि पूर्वत्वम्, यथा साहचर्यात् पर्वतनारदयो, पर्वतग्रहणेन नारदस्य ग्रहणं नारदग्रहणेन वा पर्वतस्य[9] तथा सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य [10]वा अन्यतरस्यात्मलाभे चरित्र-मुत्तरं भजनीयम् ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके[11]व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥२॥

---

१ आरोग्यलक्षणस्य । –स्य रसं सपादयतेति आ०, ब०, द०, मु० । २ ज्ञानं भजनीयत्वाद-सिद्धिरो–द० । ज्ञानस्य भजनीयत्वादसिद्धिरो –श्र० । ३ क्वचन ज्ञा–आ०, ब०, द०, मु० । ४ तदपेक्ष आ०, ब०, द०, मु० । तदपेक्ष्यं श्र०, ता० । ५ –त्रं प्र–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ ज्ञापकः । ७ उत्तरे हि तथा श्र० । उत्तरमित्यस्मिन् सामान्यकल्पनायां सत्याम् । ८ –र्शनलाभे आ०, ब०, ता०, द०, मु० । ९ –स्य ग्रहणं तथा आ०, ब०, ता०, द० । १० –स्यान्य– आ०, ब०, ता०, द०, मु०, श्र० । ११ –कव्या–आ०, द०, ज०, मु० ।

अमीषां मोक्षकारणसामान्ये सत्यविशिष्टाना विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमाह—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

सम्यगिति कोऽयं शब्दः ?

सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः क्वचन्तो वा ।१। सम्यगित्यय निपात प्रशसार्थो वेदितव्य. सर्वेषा प्रशस्तरूपगतिजातिकुलायुर्विज्ञानादीनाम् आभ्युदयिकाना मोक्षस्य च प्रधानकारणत्वात् । प्रशस्त दर्शन सम्यग्दर्शनम् । ननु च *"**सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः**" [ ]इति वचनात् प्रशसार्थाभाव इति; तन्न; अनेकार्थत्वान्निपातानाम् । अथवा, सम्यगिति तत्त्वार्थो निपात, तत्त्व दर्शन सम्यग्दर्शनम् । अविपरीतार्थविषय तत्त्वमित्युच्यते । अथवा, क्वचन्तोऽय शब्द, समञ्चतीति सम्यक् । यथा[1]ऽर्थोऽवस्थितस्तथैवावगच्छतीत्यर्थ । अथ किमिद दर्शनमिति ?

करणादिसाधनो दर्शनशब्दः उक्तः ।२। दृशे करणादिसाधने युटि दर्शनशब्दो व्याख्यात ।

दृशेरालोकार्थत्वादभिप्रेतार्थासंप्रत्यय इति चेत्; न; अनेकार्थत्वात् ।३। स्यादेतत्—दृशिरयमालोकार्थे वर्त्तते । आलोकश्चेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्ति, नचासाविहाभिप्रेत श्रद्धानमिष्टम्, न तस्यार्थस्य [2]सप्रत्ययोऽस्तीति । तन्न; किं कारणम् ? अनेका[3]त्वात्, इह श्रद्धानमिष्टमभिसबध्यते । कथ पुनर्ज्ञायते आलोक इह नेष्ट श्रद्धानमिष्टमिति[4] ? अत उत्तर पठति—

मोक्षकारणप्रकरणाच्छ्रद्धानगतिः ।४। मोक्षकारण प्रकृतम् । तत्त्वार्थविषय श्रद्धान मोक्षस्य कारण नालोक [5]इत्यत प्रकरणाच्छ्रद्धा[6]नस्यार्थस्य गतिर्भवति ।

अथ तत्त्वमित्यनेन किं प्रत्याय्यते ?

प्रकृत्यपेक्षत्वात् प्रत्ययस्य [7]भावसामान्यसंप्रत्ययः तत्त्ववचनात् ।५। तदित्येषा प्रकृति सामान्याभिधायिनी सर्वनामत्वात् । प्रत्ययश्च भावे उत्पद्यते । कस्य भावे ? तदित्यनेन योऽर्थ उच्यते । कश्चासौ ? सर्वोऽर्थ । अतस्तदपेक्षत्वाद्भावस्य भावसामान्यमुच्यते तत्त्वशब्देन । योऽर्थो यथा अवस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थ ।

तत्त्वेनार्यत इति तत्त्वार्थः ।६। अर्यते गम्यते ज्ञायते इत्यर्थ, तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थ । येन भावेनार्थो व्यवस्थितस्तेन भावेनार्थस्य ग्रहणं यत्सन्निधानाद्भवति[8] तत्सम्यग्दर्शनम् ।

श्रद्धानशब्दस्य करणादिसाधनत्वं पूर्ववत् ।७। यथा दर्शनशब्दस्य करणादिसाधनत्व व्याख्यातं तथा श्रद्धानशब्दस्यापि वेदितव्यम् ।

स त्वात्मपरिणामः ।८। स तु [9]श्रद्धानशब्दवाच्योऽर्थ करणादिव्यपदेशभाग् आत्मपरिणामो वेदितव्य ।

वक्ष्यमाणनिर्देशादिसूत्रविवरणात् पुद्गलद्रव्यसंप्रत्यय इति चेत्; न; आत्मपरिणामेऽपि[10] तदुपपत्तेः ।९। स्यादेतत्—वक्ष्यमाणनिर्देशादिसूत्रविवरणात् पुद्गलद्रव्यस्य सप्रत्यय प्राप्नोति; तन्न; किं कारणम् ? आत्मपरिणामेऽपि तदुपपत्ते. । कि तत्त्वार्थश्रद्धानम् ? आत्मपरिणाम । कस्य ? आत्मन इत्येवमादि ।

---

१ अर्थो व्यव—मु०, आ०, ब०, द० । २ निश्चयः । ३ —ष्ट इति ता०, श्र०, । ४ इत्यर्थः ता०, श्र० । ५ —नगतिर्भ—आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ सत्तासामान्यनिश्चयः । ७ आत्मनः । ८ श्रद्धानवा—ता० । ९ —मे तदु —श्र० ।

कर्माभिधायित्वेप्यदोष इति चेत्; न; मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विवक्षितत्वात् ।१०। स्यादेतत्–सम्यक्त्वकर्मपुद्गलाभिधायित्वेप्यदोष इति; तन्न; कि कारणम् ? मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विवक्षितत्वात् । औपशमिकादिसम्यग्दर्शनमात्मपरिणामत्वात् मोक्षकारणत्वेन विवक्ष्यते न च सम्यक्त्वकर्मपर्याय, पौद्गलिकत्वेऽस्य परपर्यायत्वात् ।

स्वपरनिमित्तत्वादुत्पादस्येति चेत्; न; उपकरणमात्रत्वात् ।११। स्यादेतत्–स्वपरनिमित्त उत्पादो दृष्टो यथा घटस्योत्पादो मृन्निमित्तो दण्डादिनिमित्तश्च, तथा सम्यग्दर्शनोत्पाद आत्मनिमित्त. सम्यक्त्वपुद्गलनिमित्तश्च, तस्मात्तस्यापि मोक्षकारणत्वमुपपद्यते इति; तन्न; कि कारणम् ? उपकरणमात्रत्वात् । उपकरणमात्र हि बाह्यसाधनम् । किञ्च,

आत्मपरिणामादेव तद्रसघातात् ।१२। यदिदं दर्शनमोहाख्य कर्म तदात्मगुणघाति, कुतश्चिदात्मपरिणामादे[1]वोपक्षीणशक्तिक सम्यक्त्वाख्यां लभते । अतो न तदात्मपरिणामस्य प्रधानं कारणम्, आत्मैव स्वशक्त्या दर्शनपर्यायेणोत्पद्यत इति तस्यैव मोक्षकारणत्वं युक्तम् । किञ्च,

अहेयत्वात् स्वधर्मस्य ।१३। न हीयते न परित्यज्यत इत्यहेयोऽयमाभ्यन्तर आत्मन सम्यक्त्वपरिणाम, यत सत्याभ्यन्तरे आत्मन सम्यक्त्वपरिणामे नियमेनात्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति । बाह्यस्तु हेय. कर्मपुद्गल, तमन्तरेणापि क्षायिकसम्यक्त्वपरिणामात् । किञ्च,

प्रधानत्वात् ।१४। आभ्यन्तर आत्मीय सम्यग्दर्शनपरिणाम प्रधानम्, सति तस्मिन् बाह्यस्योपग्राहकत्वात् । अतो बाह्य आभ्यन्तरस्योपग्राहक [2]पारार्थ्येन वर्तत इत्यप्रधानम् । किञ्च,

प्रत्यासत्तेः ।१५। प्रत्यासन्नं हि कारणमात्मपरिणामो मोक्षस्य तादात्म्येनाविर्भावात्, नतु सम्यक्त्व कर्म, विप्रकृष्टान्तरत्वात् तादात्म्ये[3]नाऽपरिणामाच्च । तस्मात् अहेयत्वात् प्रधानत्वात् प्रत्यासत्तेश्च मोक्षस्य कारणमात्मपरिणामो युक्तो न कर्मेति ।

अल्पबहुत्वकल्पनाविरोध इति चेत्; न; उपशमाद्यपेक्षस्य सम्यग्दर्शनत्रयस्यैव तदुपपत्तेः ।१६। स्यादेतत्–सम्यग्दर्शनस्यात्मपरिणामत्वे अल्पबहुत्वकल्पनाविरोध इति; तन्न; कि कारणम् ? उपशमाद्यपेक्षस्य सम्यग्दर्शनत्रयस्यैव तदुपपत्ते । सर्वेषु[4] स्तोका उपशमसम्यग्दृष्टय । ससारिण क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणा । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयोऽसख्येयगुणा । सिद्धा क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणा इति । तस्मात् सम्यग्दर्शनमात्मपरिणाम श्रेयोऽभिमुखमध्यवस्याम ।

तत्त्वाग्रहणम्, अर्थश्रद्धानमित्यस्तु लघुत्वात् ।१७। कश्चिदाह–तत्त्वग्रहणमनर्थकम्, अर्थश्रद्धानमित्येवास्तु । कुत. ? लघुत्वादिति ।

नः सर्वार्थप्रसङ्गात् ।१८। नैतद्युक्तम्; कुतः? सर्वार्थप्रसङ्गात् । तत्त्वग्रहणादृते मिथ्यावादिप्रणीतेषु सर्वार्थेषु श्रद्धान सम्यग्दर्शनं प्राप्नोति ।

सन्देहाच्च, अर्थशब्दस्याऽनेकार्थत्वात् ।१९। अर्थशब्दोऽर्थमनेकार्थ:–क्वचिद् द्रव्यगुणकर्मसु वर्तते *"अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु" [वैशे० ७।२।३] इति वचनात् । क्वचित् प्रयोजने वर्तते 'किमर्थमिहागमनं भवत. ?' कि प्रयोजनमिति । क्वचिद्धने वर्तते अर्थवानयं देवदत्त:

---

१ –देवापक्षीण–आ०, ब०, द०, मु० । २ परेऽर्थे–मु०,आ०, ब०, द० । परोऽर्थे भा० २ । ३ –म्येनैवापरि–आ०, ब०, द०, मु० । ४ तदुक्तम्–संखावलिहिदपल्ला खइया तत्तो य वेदगुवसमया । आवलि-असंखगुणिदा असंखगुणहीणया कमसो । (गो० जी०, गा० ६५७) इति ।

धनवानिति । क्वचिदभिधेये वर्तते शब्दार्थसंबन्ध इति । एवमर्थशब्दस्यानेकार्थाभिधायित्वे सन्देह–'कस्यार्थस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इति ?

सर्वानुग्रहाददोष इति चेत्; न; असदर्थविषयत्वात् ।२०। स्यादेतत्–नाय दोष सर्वार्थप्रसङ्ग इति, अस्तु सर्वार्थविषय श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्, तथा सति सर्वानुग्रह कृतो भवति । कश्चेदानी भवतो मत्सर. सर्वो लोकोऽभ्युदये न युज्यतामिति ? तन्न; किकारणम् ? असदर्थविषयत्वात् । न खलु कश्चिन्नो मत्सर । असदर्थविषय हि तच्छ्रद्धान संसारकारणमिति । अत सर्वानुग्रहार्थमेव तत्त्वेन विशिष्यते ।

अर्थग्रहणादेव तत्सिद्धिरिति चेत्; न; विपरीतग्रहणदर्शनात् ।२१। स्यादेतत्–अर्यत इत्यर्थो निश्चीयत इत्यर्थ । न च मिथ्यावादिप्रणीता अर्था;[1]असत्त्वात् । तस्मादर्थग्रहणादेव तत्त्वसंप्रत्ययात् नार्थस्तत्त्वग्रहणेनेति; तन्त्र, कि कारणम् ? विपरीतग्रहणदर्शनात् । यथा पित्तोदयाकुलितकरण पुमान् मधुररसं कटुक मन्यते, तथात्मा मिथ्याकर्मोदयदोषाद् अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वाऽनित्यत्वाऽन्यत्वाऽनन्यत्वाद्येकान्तरूपेण मिथ्या अध्यवस्यति । अत तन्निराकरणार्थं तत्त्वग्रहणमिति

अर्थग्रहण किमर्थम् ? ननु [2]'तत्त्वान्येवार्थ' इत्यर्थानां तत्त्वसामानाधिकरण्यात् तत्त्ववचनेनैव संप्रत्यय सिद्ध ? उच्यते––

अर्थग्रहणमव्यभिचारार्थम् ।२२। अर्थ ग्रहण क्रियते अव्यभिचारार्थम् ।

तत्त्वमिति श्रद्धानमिति चेत्; एकान्तनिश्चितेऽपि प्रसङ्गः ।२३। यदि 'तत्त्वमिति श्रद्धानं तत्त्वश्रद्धानम्' इत्युच्यते; एकान्तनिश्चितेऽपि प्राप्नोति । एकान्तवादिनोऽपि हि 'नास्त्यात्मा' इत्येवमादि 'तत्त्वम्' इति श्रद्दधति ।

तत्त्वस्य श्रद्धानमिति चेत्; भावमात्रप्रसङ्गः ।२४। यदि 'तत्त्वस्य श्रद्धान तत्त्वश्रद्धानम्' इत्युच्यते; भावमात्रप्रसङ्ग स्यात् । तत्त्व भाव सामान्यमिति केचित्[3] कथयन्ति । द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिसामान्य द्रव्यादिभ्योऽर्थान्तरम्, तस्य श्रद्धान सम्यग्दर्शन प्राप्नोति । न हि द्रव्यादिभ्योऽन्यत् सामान्यं युक्तिमदिति परीक्षितमेतत्[4] ।

अथवा, तत्त्वमेकत्वमित्यर्थ *"**पुरुष एवेदं सर्वम्**"[ऋग्० ८।४।१७] इत्यादि, तस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शन प्राप्नोति । नचादो युक्तम्, [5]क्रियाकारकभेदलोपप्रसङ्गादिति ।

तत्त्वेन श्रद्धानमिति चेत्; कस्य [6]कस्मिन्वेति प्रश्नानिवृत्तिः ।२५। यदि 'तत्त्वेन श्रद्धानम्' इत्युच्यते; कस्य कस्मिन्वेति प्रश्नो न विनिवर्तते । तस्मात् सूक्तम्–'अर्थग्रहणमव्यभिचारार्थम्' इति ।

[7]**इच्छाश्रद्धानमित्यपरे ।२६।** इच्छा श्रद्धानमित्यपरे वर्णयन्ति ।

तदयुक्तम्, मिथ्यादृष्टेरपि प्रसङ्गात् । २७। यतो मिथ्यादृष्टयो बाहुश्रुत्यप्रचिख्याप-

---

१ अतत्त्वात् आ०, ब०, मु० । २ भावेन भाववतोऽभिधानं तदव्यतिरेकादिति मत्वा भावस्तत्त्वं भाववानर्थः । ३ वैशेषिकाः । ४ 'अर्थान्तरात्संप्रत्ययः' इत्यादि प्राक् प्रबन्धेन । ५ तथा चोक्तं स्वामिना–अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते । कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते ।। (आप्तमी० २।१) इति । ६ कस्मिन्निति श्र० । ७ इच्छाश्रद्धानमित्यपरे वर्णयन्ति आ०, ब०, मु०, द० ।

यिषया अर्हन्मतविजिगीषया वा[1]अर्हन्मतमधीयन्ते । नचेच्छामन्तरेण अध्ययनमस्ति, अतस्तेषामपि सम्यग्दर्शनं प्राप्नोति । इत्ययुक्तमुक्तम्–'इच्छा श्रद्धानम्' इति ।

केवलिनि सम्यक्त्वाभावप्रसङ्गाच्च ।२८। यदि च, इच्छा सम्यक्त्वम्, इच्छा च लोभपर्याय, न च क्षीणमोहे केवलिनि लोभोऽस्ति, तदभावादिच्छाभाव इति सम्यक्त्वाभाव स्यात् । तस्मात् यद्भावात् यथाभूतमर्थं गृह्णात्यात्मा तत् सम्यग्दर्शनमिति प्रत्येतव्यम् ।

तद् द्विविधं सरागवीतरागविकल्पात् ।२९। एतत्सम्यग्दर्शन द्विविधम् । कुत ? सराग-[2]वीतरागविकल्पात् ।

प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तलक्षणं प्रथमम् ।३०। रागादीनामनुद्रेक प्रशम । ससाराद्भीरुता सवेग । सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा । जीवादयोऽर्था [3]यथास्व भावै सन्तीति मतिरास्तिक्यम् । एतैरभिव्यक्तलक्षण प्रथम सरागसम्यक्त्वमित्युच्यते ।

[4]आत्मविशुद्धिमात्रमितरत् ।३१। सप्तानां कर्मप्रकृतीनाम् आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते[5]। अत्र पूर्व साधन भवति, उत्तर साधन साध्य च ।

अथैतत्सम्यग्दर्शन जीवादिपदार्थविषयं कथमुत्पद्यत इति ? अत आह–

तन्निसर्गादधिगमाद् वा ॥३॥

निसर्ग इति कोऽय शब्द ? निपूर्वात् सृजेर्भावसाधनो घञ्, निसर्जन निसर्ग स्वभाव इत्यर्थ । अथाधिगम इति क [6]अधिपूर्वाद् गमेर्भावसाधनोऽच्, अधिगमनमधिगमः । तयोर्हेतुत्वेन निर्देशो निसर्गादधिगमादिति[7] । [8]कस्या ? क्रियाया । का च क्रिया ? 'उत्पद्यते' इत्यध्याह्रियते, सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम् । तदेतत्सम्यग्दर्शन निसर्गादधिगमाद्वा उत्पद्यत इति ।

कश्चिदाह–

सम्यग्दर्शनद्वैविध्यकल्पनानुपपत्तिः; अनुपलब्धतत्त्वस्य श्रद्धानाभावात् रसायनवत् ।१। द्विविध सम्यग्दर्शनमिति कल्पना नोपपद्यते । कुत ? अनुपलब्धतत्त्वस्य श्रद्धानाभावात्, कथम् ? रसायनवत् । यथा अत्यन्तपरोक्षरसायनतत्त्वफलस्य[9] न रसायने श्रद्धान दृष्टम्, तथा अनधिगतजीवादितत्त्वस्य न तत्र श्रद्धानमिति नैसर्गिकसम्यग्दर्शनाभाव ।

[10]शूद्रवेदभक्तिवदिति चेत्; न; वैषम्यात् ।२। स्यादेतत्–यथा शूद्रस्याऽनधिगतवेदार्थस्य वेदार्थ [11]आत्यन्तिकी भक्ति ,तथाऽनुपलब्धजीवादितत्त्वस्य श्रद्धानमिति, तन्न, कि कारणम् ? वैषम्यात् । युज्यते शूद्रस्य भारतादिश्रवणात् तज्ज्ञवचनानुवृत्त्यादिभिश्च वेदार्थभक्ति, नासौ नैसर्गिकी । इह तु नैसर्गिकी रुचिरिष्टेति वैषम्यम् । अथवा, सम्यक्त्वाधिकारात् जीवादिपदार्थतत्त्वोपलब्धिपूर्वकेण सम्यग्दर्शनेन मोक्षकारणेनेह भवितव्यम्, न च शूद्रस्य तादृश श्रद्धानमिति वैषम्यम् ।

---

१ आर्हतमतमभिधीयते–आ०, ब०, द०, मु० । आर्हतमधीयन्ते ता० । २ –विराग –श्र० । ३ यथास्वभावैः आ०, ब०, मु० । ४ आत्मशु –श्र० । ५ –ते पू–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ हेतुः । ७ कस्य क्रि–आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ स्वरूप । ९ आरोग्य । १० अत्राचार्याभिप्रायानभिज्ञः कश्चिज्जैनाभासः तं प्रत्युत्तरं ददाति, तमप्याचार्यः प्रतिषेधयति । ११ आत्यन्तिकभ- आ०, ब०, द०, मु० ।

मणिग्रहणवदिति चेत्; न; [1]प्रत्यक्षोपलब्धिसद्भावात् ।३। स्यादेतत्–यथा अनधिगतमणिविशेषस्यापि पुंसो मणिग्रहण भवति तस्य च फल दृष्टम्, तथा अनधिगतजीवादितत्त्वस्यापि तत्त्वग्रहणं भवति तस्य च फल [2]भवतीति तन्नैसर्गिकं दर्शनमिति, तन्न; कि कारणम् ? प्रत्यक्षोपलब्धिसद्भावात् । नात्यन्तपरोक्षं मणि गृह्णाति किन्तु प्रत्यक्षत उपलभ्य गृह्णाति । [3]वीर्यविशेषं तु न प्रतिपद्यते, अतोऽस्य अनुपलब्धमणिविशेषस्यापि प्रत्यक्षदर्शनाद् ग्रहणं न्याय्यम् । अत्यन्तपरोक्षे तु जीवादितत्त्वे कथमस्य निसर्गजसम्यग्दर्शनसिद्धि ? सामान्याधिगमे तु अधिगमसम्यग्दर्शनमेवेति ।

तापप्रकाशवत् युगपदुत्पत्तेरभ्युपगमाच्च ।४। किम् ? 'निसर्गजसम्यग्दर्शनाभाव' [4]इत्यनुवर्तते । यदा अस्य सम्यग्दर्शनमुत्पद्यते तदैव प्राक्तनं मत्यज्ञान श्रुताज्ञान च [5]सम्यक्त्वेन परणमतीत्यधिगमजमेव तद्भवति । यस्य ज्ञानात् प्राग् दर्शन स्यात् तस्य नैसर्गिक स्यात् । तच्चाऽनिष्टमिति । उच्यते—

उभयत्र तुल्ये अन्तरङ्गहेतौ बाह्योपदेशापेक्षाऽनपेक्षभेदाद् भेदः ।५। उभयत्र सम्यग्दर्शने अन्तरङ्गो हेतुस्तुल्य दर्शनमोहस्योपशम क्षय क्षयोपशमो वा, तस्मिन् सति यद् बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्, यत् परोपदेशपूर्वक जीवाद्यधिगमनिमित्त तदुत्तरम्, इत्यनयोरय भेद ।

अपरोपदेशपूर्वके निसर्गाभिप्रायो लोकवत् ।६। यथा लोके हरिशार्दूलवृकभुजगादयो निसर्गत [6]क्रौर्यशौर्याहारादिसप्रतिपत्तौ वर्तन्त इत्युच्यन्ते । नचासावाकस्मिकी कर्मनिमित्तत्वात् । अनाकस्मिक्यपि सती नैसर्गिकी भवति, परोपदेशाभावात् । तथेहाप्यपरोपदेशपूर्वके निसर्गाभिप्राय । अपर आह—

भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्त अधिगमसम्यक्त्वाभावः ।७। यदि अवधृतमोक्षकालात् प्रागधिगमसम्यक्त्वबलात् मोक्ष स्यात् स्यादधिगमसम्यग्दर्शनस्य साफल्यम् । न चादोऽस्ति । अत कालेन योऽस्य मोक्षोऽसौ, स निसर्गजसम्यक्त्वादेव सिद्ध इति ।

न, विवक्षितापरिज्ञानात् ।८। नैतद्युक्तम् । कुत ? विवक्षिताऽपरिज्ञानात् । सम्यग्दर्शनादित्रयान्मोक्ष उक्त' । तत्र यत्प्रथम[7] तत् 'कुत उत्पद्यते' इत्युक्ते 'निसर्गादधिगमाद्वा' इत्यमर्थोऽत्र विवक्षित । यदि सम्यग्दर्शनादेव[8] केवलान्निसर्गजादधिगमजाद्वा ज्ञानचारित्ररहितान्मोक्ष इष्ट. स्यात्, तत इद युक्त स्यात्–'भव्यस्य कालेन नि श्रेयसोपपत्ते' इति । नचायमर्थोऽत्र विवक्षित ।

अथवा, यथा कुरुक्षेत्रे क्वचित् कनक बाह्यपौरुषेयप्रयत्नाभावात् जायते,[10] तथा बाह्यपुरुषोपदेशपूर्वकजीवाद्यधिगममन्तरेण यज्जायते तन्निसर्गजम् । यथा कनकाश्म [11] विध्युपायज्ञपुरुषप्रयोगापेक्ष.[12] कनकभावमापद्यते,तथा यत् सम्यग्दर्शन[13]विध्युपायज्ञमनुष्यसपर्काज्जीवादिपदार्थतत्त्वाधिगमापेक्षमुत्पद्यते तदधिगम[14]सम्यग्दर्शनम् इत्ययमर्थो विवक्षित, नचान्यतरस्याभाव इति । अतो विवक्षितापरिज्ञानात् न सम्यगुक्तम्–'अधिगमाभाव' इति ।

---

१ प्रत्यक्षेणोप –आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ भवति त –श्र० । ३ विपर्ययविशे –आ०, ब०, द०, ु०। ४ इति वर्तते श्र० । ५ समीचीनत्वेन । ६ –त्र दर्श–आ०, ब०, द०, ु०, ता० । ७ क्रौर्यशौर्याशौर्याहारा–आ०, ब०, द०, मु० । ८ सम्यग्दर्शनम् । ९ निसर्गादधिगमाद्वा ता०, श्र०, मु० । १० ज्ञायते मु०, ता० । ११ –इमवि–आ०, द०, मु० । १२ –क्षक–आ०, द०, मु० । १३–नवि आ०, ब०, द०, मु० । –नविशुद्धघुपा–ता० । १४ –गमजस–आ०, ब० मु० ।

कालानियमाच्च निर्जरायाः ।९। यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति। कोचद् भव्या सख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन, केचिदनन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति। ततश्च न युक्तम्–'भव्यस्य कालेन नि.श्रेयसोपपत्ते.' इति।

चोदनानुपपत्तेश्च ।१०। सर्वस्येयं चोदना नोपपद्यते। ज्ञानात् क्रियाया द्वयात् त्रितयाच्च मोक्षमाचक्षाणस्य सर्वस्य नेदं युक्तम्–'भव्यस्य कालेन मोक्षः' इति। यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्ट. स्यात्, बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य वा विरोधः स्यात्।

तदित्यनन्तरनिर्देशार्थम् ।११। 'तत्' इत्येतदनन्तरस्य सम्यग्दर्शनस्य निर्देशार्थं क्रियते। ननु तत्प्रकृतम्, अन्तरेणापि तद्वचन सिद्धम्;

इतरथा हि मार्गसम्बन्धप्रसङ्गः ।१२। अक्रियमाणे हि तद्वचने मोक्षमार्गोऽपि प्रकृतः तेनाभिसंबन्ध. प्रसज्येत। ततो निसर्गमात्रेणापि मोक्षमार्गलाभ उक्त स्यात्। बाहुश्रुत्यप्रचिख्यापयिषया च मोक्षमार्गाधिगममात्रादेव मिथ्यादृष्टीनामपि मोक्षः स्यात्। [1]ननु च *"**अनन्तरस्य वा विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा**" [पा० म० १।२।४७] इत्यनन्तरत्वात् सम्यग्दर्शनेनैव संबन्धो न्याय्य। [2][इति चेत्; न;] *"**प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः**" [ ] इति मार्ग एव सबध्येत। तस्मात्तद्वचन क्रियते विस्पष्टार्थम्।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये तृतीयमाह्निकं[3]समाप्तम् ॥३॥

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम्। अथ 'कि तत्त्वम्' इति? अत इदमाह–

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

किमर्थमेषामुपादानम्? ननु द्रव्यमित्येव[4] वक्तव्यं तद्भेदा हि सर्वे[5] पदार्था भवन्तीति? अत[6] उत्तरं पठति–

एकाद्यनन्तविकल्पोपपत्तौ विनेयाशयवशान्मध्यमाभिधानम् ।१। एको द्वौ त्रय. संख्येया असख्येया अनन्ता इति पदार्था भिद्यन्ते। तत्रैक पदार्थो भवति, [7]*"**एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्**" [ ]इति वचनात्। द्वौ पदार्थौ, जीवाजीवभेदात्। त्रय. पदार्था [8]अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्। एवमुत्तरे[9] च [10]वचनविकल्पापेक्षया असख्येया ज्ञानज्ञेयविकल्पापेक्षया असंख्येया अनन्ताश्चा भवन्ति। तत्र विनेयाशयवशात् पदार्थनिरूपणाभेद इति मध्यमेन क्रमेणाभिधानं कृतम्। अतिसंक्षेपे सुमेधसामेव प्रतिपत्ति. स्याद् अतिप्रपञ्चे [11]चातिचिरेण संप्रतिपत्तिर्न स्यादिति। कश्चिदाह–

---

१ तर्हि। २ इति चेन्न। ३ कं। ता० आ०, ब०, द०, मु०। ४ –त्येवव–ता०, द०। ५ अस्मिन्। ६ सत्ता सकलपदार्था सविश्वरूपा ह्यनन्तपर्याया। स्थितिभङ्गोदयसहिता सप्रतिपक्षा भवेदेका। (पञ्चा० गा० ८)। ७ बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचकाः। तुल्या बोधादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः॥ (आप्तमी० श्लोक ८५) इति स्वामिभिः प्रोक्तम्। ८ –रे ब–ता०। ९ शब्द। १० चातिचिरेण आ०, ब०, द०, मु०।

जीवाजीवयोरन्यतरत्रैवान्तर्भावाद् आस्रवादीनामनुपदेशः ।२। आस्रवो हि जीवो वा स्यात्, अजीवो वा ? यदि जीव; [1]जीवेऽन्तर्भाव इति । अथाऽजीव; अजीवे । एव सवरादयोऽपि । तस्मादेषामनुपदेश –अनर्थक उपदेशोऽनुपदेश ।

न वा; परस्परोपश्लेषे संसारप्रवृत्तितदुपरमप्रधानकारणप्रतिपादनार्थत्वात् ।३। न वाऽनर्थक उपदेश । कुत ? जीवाजीवयो परस्परोपश्लेषे सति ससारप्रवृत्तितदुपरमप्रधानकारणप्रतिपादनार्थत्वात् । इह मोक्षमार्ग प्रकृत, तस्य फलमवश्य मोक्षो निर्देष्टव्य । 'स कस्य'इति जीव उपात्त । स च ससारपूर्वक । स च सत्यजीवे जीवस्य भवति, इत्यजीव उपात्त । तयोश्च परस्परोपश्लेष ससार । तत्प्रधानहेतू आस्रवो बन्धश्चेत्युपात्तौ । तदुपरमस्य मोक्षस्य प्रधानहेतू सवरनिर्जरे इत्युपादान तयो । एवमेषा [2]निर्ज्ञाने सति [3]प्राप्तव्यमोक्षस्य निर्ज्ञान भवतीति । दृश्यते सामान्ये अन्तर्भूतस्यापि विशेषस्य पृथगुपादान प्रयोजनार्थम्, क्षत्रिया आयाता सूरवर्माऽपीति ।

उभयथापि [4]चोदनानुपपत्तिः ।४। यो जीवाजीवयोरन्तर्भावात् आस्रवादीनामनुपदेश चोदयति, तस्योभयथापि चोदना नोपपद्यते । कथम् ? आस्रवादीनि जीवाजीवाभ्या पृथगुपलभ्य वा चोदयेत्, अनुपलभ्य वा ? यदि पृथगुपलभ्य; अत एव ततोऽर्थान्तरत्व सिद्धम् । [5]अथाऽनुपलभ्य, अनुपलम्भादेव चोदनाभाव । किञ्च, जीवाजीवाभ्था पृथक्सिद्धान् वा चोदयेत्, असिद्धान् वा ? यदि सिद्धाश्चोदयेत्; अत एवाऽर्थान्तरभाव. । अथाऽसिद्धाश्चोदयति, कथमत्रान्तर्भावश्चोद्यते ? न हि खरविषाणादीनामन्तर्भावश्चोदनार्ह ।

अनेकान्ताच्च ।५। 'चोदनानुपपत्ति' इति वर्तते । कथम् ? द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्गुणप्रधानभावेन अर्पणानर्पण[6]भेदात् जीवाजीवयोरास्रवादीना स्यादन्तर्भाव स्यादनन्तर्भावः । पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थानर्पणात् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्यादिद्रव्यार्थार्पणाद् आस्रवादीना स्याज्जीवेऽजीवे वान्तर्भाव । तथा द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थार्पणाद् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्यादिद्रव्यार्थाऽनर्पणाद् आस्रवादीना जीवाजीवयो स्यादनन्तर्भाव. । [7]तदपेक्षया स्यादुपदेशोऽर्थवान् ।

तेषां निर्वचनलक्षणक्रमहेत्वभिधानम् ।६। तेषा जीवादीना पृथगुपदेशे प्रयोजनमुक्तम् । इदानी निर्वचनलक्षणक्रमहेत्वभिधान कर्तव्यम् । तदुच्यते–

त्रिकालविषयजीवनानुभवनात् जीवः ।७। दशसु प्राणेषु यथोपात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् 'जीवति, अजीवीत्, जीविष्यति' इति वा जीव । तथा सति सिद्धानामपि जीवत्वं सिद्ध जीवितपूर्वत्वात् । सप्रति न जीवन्ति सिद्धा, भूतपूर्वगत्या जीवत्वमेषाम् इत्यौपचारिकत्व स्यात्, मुख्य चेष्यते, नैष दोष; भावप्राणज्ञानदर्शनानुभवनात् साप्रतिकमपि जीवत्वमस्ति । अथवा रूढिशब्दोऽयम् । रूढौ च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थेवेति कादाचित्क जीवनमपेक्ष्य सर्वदा वर्तते गोशब्दवत् ।

तद्विपर्ययोऽजीवः ।८। यस्य जीवनमुक्तलक्षण नास्त्यसौ तद्विपर्ययाद् अजीव इत्युच्यते ।

---

१ जीवेऽन्तर्भवति आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ विज्ञाने ता० । ३ प्राप्यस्य मो– आ०, ब०, द०, ज०, मु०, ता० । ४ प्रश्नानुपपत्तिः । ५ अथवाऽनुप –श्र० । ६ –र्पणाभे–मु०, ब० । ७ पर्यायापेक्षया ।

आस्रवत्यनेन आस्रवणमात्रं वा आस्रवः ।९। येन कर्मासूवति यद्वा आसूवण[1]मात्र वा स आसूव. ।

[2]बध्यतेऽनेन [3]बन्धनमात्रं वा बन्धः ।१०। बध्यते येन अस्वतन्त्रीक्रियते येन, अस्वतन्त्रीकरणमात्रं वा बन्ध ।

संव्रियतेऽनेन संवरणमात्रं वा संवरः ।११। येन संव्रियते येन सरुध्यते, संरोधनमात्रं वा संवर[4] ।

निर्जीर्यते यया निर्जरणमात्रं वा निर्जरा ।१२। निर्जीयते निरस्यते यया, निरसनमात्रं वा निर्जरा ।

मोक्ष्यते येन मोक्षणमात्रं वा मोक्षः ।१३। मोक्ष्यते अस्यते येन असनमात्र वा मोक्ष. । एतेषामितरेतरयोगे[5] द्वन्द्व । उक्त निर्वचनम् । इदानी लक्षणमुच्यते–

चेतनास्वभावत्वात्तद्विकल्पलक्षणो जीवः ।१४। जीवस्वभावश्चेतना, यत इतरेभ्यो द्रव्येभ्यो भिद्यते । तद्विकल्पा ज्ञानादय । यत्सन्निधानादात्मा ज्ञाता द्रष्टा कर्ता भोक्ता च भवति तल्लक्षणो जीव ।

तद्विपरीतत्वादजीवस्तदभावलक्षणः ।१५। तद्विपरीतत्वात् अचेतनस्वभावत्वात् ज्ञानादीनामभावो यस्य लक्षण सोऽजीव । कथमभावो [6]निरुपाख्यो वस्तुनो लक्षण भवति? अभावोऽपि वस्तुधर्मो हेत्वङ्गत्वादे[7]भाववत्[8]। अतोऽसौ[9] लक्षण युज्यते । स हि यदि वस्तुनो लक्षण न स्यात् सर्वसङ्करः स्यात् । यद्येव वनस्पत्यादीनामजीवत्व प्राप्नोति तदभावात् । ज्ञानादीना हि प्रवृत्तित उपलब्धि, न च तेषा तत्पूर्विका प्रवृत्तिरस्ति हिताहितप्राप्तिपरिवर्जनाभावात् । उक्तं च–

*"**बुद्धिपूर्वा क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् ।**
मन्यते बुद्धिसद्भाव सा न येषु न तेषु धीः ॥" [सन्ताना० सि० श्लो० १] इति[10]। नैष दोष; तेषामपि ज्ञानादय सन्ति सर्वज्ञप्रत्यक्षा, इतरेषामागमगम्या[11]। आहारलाभालाभयो[12] पुष्टि[13]म्लानादिदर्शनेन[14] युक्तिगम्याश्च । अण्डगर्भस्थमूर्च्छितादिषु सत्यपि जीवत्वे तत्पूर्वकप्रवृत्त्यभावात् हेतुव्यभिचार ।

पुण्यपापागमद्वारलक्षण आस्रवः ।१६। पुण्यपापलक्षणस्य कर्मण [15]आगमनद्वारमास्रव इत्युच्यते । आस्रव इवास्रव । क उपमार्थ ? यथा महोदधे सलिलमापगामुखैरहरहरापूर्यते, तथा मिथ्यादर्शनादिद्वारानुप्रविष्टै कर्मभिरनिशमात्मा समापूर्यत[16] इति मिथ्यादर्शनादि द्वारमास्रव ।

आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बन्धः ।१७। मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययोपनीतानां कर्मप्रदेशानाम् आत्मप्रदेशाना च परस्परानुप्रवेशलक्षणो बन्ध । बन्ध इव बन्ध । क उपमार्थः ?

---

१ –णमास्रवः ता०, द० । २ बध्यतेऽस्वतन्त्रीक्रियते येन भा० २ । ३ बन्धमात्रं ता० । ४ आविर्भूतावयवभेद इतरेतरः, तिरोहितावयवभेदः समाहारः । ५ निःस्वभावः । ६ यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा ह्रदे इत्यभावः अग्निरूपवस्तुधर्मः । ७ यत्र धूमस्तत्राग्निः यथा महानस इति (वत्) । ८ अभावः । ९ तुलना– "बुद्धिपूर्वा क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् । ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित् ॥"– सिद्धिवि० द्वि० परि० । १० –म्लानादि–आ०, ब०, द०, मु० । ११ –ने यु–ता०, श्र० । १२ आगमद्वा–आ०, ब०, द० । १३ पूर्यते श्र० ।

यथा निगडादिद्रव्यबन्धनबद्धो देवदत्तोऽस्वतन्त्रत्वाद् अभिप्रेतदेशगमनाद्यभावाद् अतिदुःखी भवति, तथा आत्मा कर्मबन्धनबद्धः पारतन्त्र्यात् शारीरमानसदुःखाभ्यर्दितो भवति ।

आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः ।१८। पूर्वोक्तानामास्रवद्वाराणां शुभपरिणामावशान्निरोधः संवरः । संवर इव संवरः । क उपमार्थः ? यथा सुगुप्तसुसंवृतद्वारकवाटः[1] पुरं सुरक्षितं दुरासदमरातिभिर्भवति, तथा सुगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रात्मनः सुसंवृतेन्द्रियकषाययोगस्य अभिनवकर्मागमद्वारसंवरणात् संवरः । ५

एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा ।१९। उपात्तस्य कर्मणः तपोविशेषसन्निधाने सत्येकदेशसंक्षयलक्षणा निर्जरा । निर्जरैव निर्जरा । क उपमार्थः ? यथा मन्त्रौषधबलान्निर्जीर्णवीर्यविपाकं विषं न दोषप्रदं तथा सविपाकाऽविपाकनिर्जराप्रत्ययतपोविशेषेण निर्जीर्णरसं कर्म न संसारफलप्रदम् । १०

कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः ।२०। सम्यग्दर्शनादिहेतुप्रयोगप्रकर्षे सति कृत्स्नस्य कर्मणश्चतुर्विधबन्धवियोगो मोक्षः । मोक्ष इव मोक्षः । क उपमार्थः ? यथा निगडादिद्रव्यमोक्षात् सति स्वातन्त्र्ये अभिप्रेतप्रदेशगमनादौ पुमान् सुखी भवति, तथा कृत्स्नकर्मवियोगे सति स्वाधीनात्यन्तिकज्ञानदर्शनानुपमसुखः[2] आत्मा भवति । लक्षणमुक्तम् । इदानीं क्रमहेतुरुच्यते—

तादर्थ्यात् परिस्पन्दस्य आदौ जीवग्रहणम् ।२१। योऽयं मोक्षमार्गतत्त्वाविष्करणपरिस्पन्दः स आत्मार्थः, तस्य मोक्षपर्यायपरिणामात् । यो वा जीवाद्युपदेशपरिस्पन्दः स आत्मार्थः, तस्योपयोगस्वाभाव्ये सति ग्राहकत्वात् । अत आदौ जीवग्रहणम् । १५

तदनुग्रहार्थत्वात् तदनन्तरमजीवाभिधानम् ।२२। यतः शरीरवाङ्मनःप्राणापानादिनोपकारेणाऽजीव आत्मानमनुगृह्णाति, अतस्तदनन्तरमजीवाभिधानम् ।

तदुभयाधीनत्वात् तत्समीपे आस्रवग्रहणम् ।२३। यतः आत्मकर्मणोः परस्पराश्लेषे सत्यास्रवप्रसिद्धिर्भवति, अतस्तत्समीपे आस्रवग्रहणम् । २०

तत्पूर्वकत्वाद् बन्धस्य ततः परं बन्धवचनम् ।२४। यतः आस्रवपूर्वको बन्धः, ततः परं वचनं तस्य क्रियते ।

संवृतस्य बन्धाभावात् तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थं संवरवचनम् ।२५। यतः संवृतस्यात्मनो बन्धो नास्ति ततस्तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थं तदनन्तरं संवरवचनम् । २५

संवरे सति निर्जरोपपत्तेस्तदन्तिके[3] निर्जरावचनम् ।२६। यतः संवरपूर्विका निर्जरा ततस्तदन्तिके निर्जरावचनम् ।

अन्ते [4]प्राप्यत्वात् मोक्षस्यान्ते वचनम् ।२७। निर्जीर्णेषु कर्मस्वन्ते मोक्षः प्राप्यत इत्यन्ते वचनम् ।

पुण्यपापपदार्थोपसंख्यानमिति चेत्; न; आस्रवे बन्धे वा अन्तर्भावात् ।२८। स्यादेतत्—पुण्यपापपदार्थयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम् अन्यैरप्युक्तत्वादिति; तन्न; किं कारणम् ? आस्रवे बन्धे वा अन्तर्भावात्, यतः आस्रवो बन्धश्च पुण्यपापात्मकः । ३०

तत्त्वशब्दस्य भाववाचित्वात् जीवादिभिः सामानाधिकरण्याऽनुपपत्तिः ।२९। तत्त्वशब्दो भाववाचीति व्याख्यातमेतत् । अतस्तस्य जीवादिभिर्द्रव्यवचनैः समानाधिकरण्यं नोपपद्यते ।

---

१ —कपाटं आ०, ब०, द०, मु० । २ - सुखमात्मानुभवति आ०, ब०, द०, मु० । ३ तदनन्तरे नि- आ०, ब०, द०, मु० । ४ प्राप्तत्वा—ता०, श्र०, मू० ।

न वा, अव्यतिरेकात्[1] तद्भावसिद्धेः ।३०। [2]न वा एष दोषः । किं कारणम् ? अव्यतिरेकात्तद्भावसिद्धे । न हि द्रव्याद् व्यतिरिक्तो भावोऽस्ति अतस्तद्भावेनाऽध्यारोप्यते यथा 'ज्ञानमेवात्मा' इति । यदि तद्भावोऽध्यारोप्यते तल्लिङ्गसंख्यानुवृत्ति[3] प्राप्नोति ?

तल्लिङ्गसंख्यानुवृत्तौ चोक्तम् ।३१। किमुक्तम् ? 'न, उ[4]पात्तव्यक्तिवचनत्वात्' इति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये चतुर्थमाह्निकम् ॥४॥

एवं संज्ञास्वालक्षण्यादिभिरुद्दिष्टाना जीवादीनां संव्यवहारविशेषव्यभि[5]चारनिवृत्त्यर्थमाह–

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥

नीयते गम्यतेऽनेनार्थ, नमति वाऽर्थमभिमुखीकरोतीति नाम । स्थाप्यते प्रतिनिधीयतेऽसाविति स्थापना[6]। द्रोष्यते गम्यते गुणै:,द्रोष्यति गमिष्यति गुणानिति वा द्रव्यम् । भवन भवतीति वा भाव । नामादीनामितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्व । नामस्थापनाद्रव्यभावैर्नामस्थापनाद्रव्यभावत । ***"आद्यादित्वात्"** [जैने० वा० ४।२।४९] ***"दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि"** [जैने० ४।१।७९] इति वा तसि । न्यसनं न्यस्यत इति वा न्यासो निक्षेप इत्यर्थ । तेषा[7] न्यासस्तन्न्यास । एतेषां नामादीनां किं लक्षणमिति ? अत्रोच्यते–

निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम ।१। निमित्ता[8]दन्यन्निमित्त निमित्तान्तरम्, तदनपेक्ष्य[9] क्रियमाणा सज्ञा नामेत्युच्यते । यथा परमैश्वर्यलक्षणेन्दनक्रियानिमित्तान्तरानपेक्ष कस्यचित् 'इन्द्र' इति नाम । तथा जीवनक्रियानपेक्ष श्रद्धानक्रियानपेक्ष वा कस्यचित् 'जीव सम्यग्दर्शनम्' इति वा नाम ।

सोऽयमित्यभिसंबन्धत्वेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना ।२। यथा परमैश्वर्यलक्षणो यः शचीपतिरिन्द्र, 'सोऽयम्' इत्यन्यवस्तु प्रतिनिधीयमानं स्थापना भवति । एवं 'जीव इति वा सम्यग्दर्शनम्'[10] इति वा अक्षनिक्षेपादिषु[11] 'सोऽयम्' इति व्यावस्थापनामात्रं स्थापना ।

अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम् ।३। यद् भाविपरिणामप्राप्ति प्रति योग्यतामादधान तद् द्रव्यमित्युच्यते ।

[12]अतद्भावं वा ।४। अथवा, अतद्भाव वा द्रव्यमित्युच्यते । यथेन्द्रार्थमानीत काष्ठमिन्द्रप्रतिमापर्यायप्राप्ति प्रत्यभिमुखम् 'इन्द्र' इत्युच्यते, तथा [13]जीव-सम्यग्दर्शनपर्यायप्राप्ति प्रति गृहीताभिमुख्य द्रव्य द्रव्यजीवो द्रव्यसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते । युक्त तावत् सम्यग्दर्शनप्राप्तिं प्रति गृहीताभिमुख्यमिति, अतत्परिणामस्य जीवस्य सभवात्, इद त्वयुक्तम्–जीवनपर्यायप्राप्ति

---

१ अभेदात् । २ नवा न दोष. ता० । ३ विशेषणविशेष्यसम्बन्धे सत्यपि शब्दशक्तिव्यपेक्षया उपात्तलिङ्गसख्याव्यतिक्रमो न भवतीत्यर्थः । ४ अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च निक्षेपविधिना शब्दार्थः प्रस्तीर्यत इत्यर्थः । ५ –ना गम्यते आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ६ सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनाञ्च । ७ –दन्यन्निमित्तान्त–आ०, ब०, द०, मु० । ८ जातिद्रव्यक्रियागुणाः निमित्तम्, तानपेक्ष्य । द्रव्यं द्विविधम् विषाणादिकं समवायिद्रव्यम्, घण्टादिकं संयोगिद्रव्यम् । ९ –नमित्यक्ष–आ०, ब०, द०, मु० । १० आदिशब्देन काष्ठपुस्तचित्रादि गृह्यते । ११ अतद्भवं मु० । १२ जीवनस–ता०, मू० ।

प्रति गृहीताभिमुख्यमिति । कुत ? सदा [1]तत्परिणामात् । यदि न स्यात्; प्रागजीव प्राप्नोति । नैष दोष ; मनुष्यजीवादिविशेषापेक्षया स व्यपदेशो वेदितव्य ।

तद्द्विविधम्–आगम-नोआगमभेदात् ।५। तदेतद् द्रव्यं द्विविधम् । कुत· ?आगम–नो-आगमभेदात् । आगमद्रव्यजीव नोआगमद्रव्यजीव, आगमद्रव्यसम्यग्दर्शन नोआगमद्रव्य-सम्यग्दर्शनमिति च । ५

अनुपयुक्तः प्राभृतज्ञाय्यात्मा आगमः ।६। अनुपयुक्त प्राभृतज्ञायी[2] आत्मा आगमद्रव्यमि-त्युच्यते ।

इतरत् त्रिविधम्–ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात् ।७। इतरन्नोआगमद्रव्य त्रैवि-ध्यमास्कन्दति । कुत ? ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात् । ज्ञातुर्यच्छरीर[3] त्रिकाल-गोचरं तज्ज्ञायकशरीरम् । [4]जीवन-सम्यग्दर्शनपरिणामप्राप्ति [5]प्रत्यभिमुख द्रव्य भावीत्युच्यते । १० तद्व्यतिरिक्त कर्म–नोकर्मविकल्पम्[6] ।

वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः ।८। वर्तमानेन तेन[7] जीवन-सम्यग्दर्शनपर्यायेणो-पलक्षितं द्रव्य भावजीवो भावसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते । यथा इन्द्रनामकर्मोदयापादितेन्दन-क्रियापर्यायपरिणत आत्मा भावेन्द्र ।

स द्विविधः पूर्ववत् ।९। स एष भावो द्विविधो वेदितव्य पूर्ववत् आगम-नोआगमभेदात् । १५

तत्प्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमः ।१०। जीवादिप्राभृतविषयेणोपयोगेनाविष्ट आत्मा आगमतो [8]भावजीवो भावसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते ।

जीवनादिपर्यायाविष्टोऽन्यः ।११। जीवनादिपर्यायेणाऽऽविष्ट आत्माऽन्यो नोआगमतो भाव इत्युच्यते ।

नामस्थापनयोरेकत्वं संज्ञाकर्माऽविशेषादिति चेत्; न; आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्वात् स्थापना- २० **याम् ।१२।** स्यान्मतम्–नामस्थापनयोरेकत्वम् । कुत ? सज्ञाकर्माविशेषात् । यतो नाम्नि स्था-पनाया च सज्ञाकरण समानम्, न ह्यकृते नाम्नि स्थाप्यत इति । तच्च न; कुत ? आदरानु-ग्रहाकाङ्क्षित्वात् स्थापनायाम् । यथा अर्हदिन्द्रस्कन्देश्वरादिप्रतिमासु आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्व जनस्य, न तथा परिभाषिते वर्तते । ततोऽन्यत्वमनयो ।

द्रव्यभावयोरेकत्वम् अव्यतिरेकादिति चेत्; न; कथञ्चित् संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदात् तद्भे- २५ **दसिद्धेः ।१३।** स्यादारेका–द्रव्यभावयोस्तहर्ये कत्व प्रसज्यते । कुत ? तदव्यतिरेकात् । नहि द्रव्यव्यतिरेकेण भाव उपलभ्यते भावव्यतिरेकेण वा द्रव्यम्, अतोऽनयोरेकत्वमिति । तच्च न; कुत ? सज्ञास्वालक्षण्यादिभेदात् तद्भेदसिद्धे । इह ययो सज्ञास्वालक्षण्यादिकृतो भेद तयो-र्नानात्वमुपलभ्यते तथा [9]द्रव्यभावयोरपीति । कश्चिदाह–

---

१ तत्परिणामो यदि आ०, ब०, द०, मु० । २ –ज्ञाय्यागम–आ०, ब०, द०, मु० । ३ ज्ञातुः शरीरं त्रिधा–भूत-वर्तमान-भविष्यद्भेदात् । भूतमपि त्रिधा च्युतं च्यावितं त्यक्तञ्चेति । पक्वफलमिव स्वयमेव आयुष. क्षयेण पतितं च्युतम् । कदलीघातेन पतितं च्यावितम् । त्यक्त पुनस्त्रिधा–भक्तप्रत्या-ख्यान–इङ्गिनी–प्रायोपगमनमरणैः । ४ अनागत । ५ प्रत्यनभिमु–ता० । ६ ...द्विविध कर्मनोकर्म-भेदेन, जीवादिप्राभृतविषयेणोययोगेन परिणतजीवेनार्जिततीर्थकारादिशुभप्रकृतिस्वरूप कर्म नोआगम-द्रव्यकर्म । एवं नोकर्म–नोआगमद्रव्यनोकर्म–शरीरोपोचयापचयनिमित्तपुद्गलद्रव्यस्यानेकरूपत्वात् । ७ तेन तेन जी– आ०, ब०, द०, मु० । ८ आगमभावजीव इत्यर्थः, स्थानिप्यकर्माधारे इत्यपादानम् । ९ भविष्यत्परिणामाभिमुखम् अतीतपरिणामं वा वस्तु द्रव्यम्, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्य भाव इति स्वा-लक्षण्याद् भेदः ।

द्रव्यस्यादौ वचनं न्याय्यं तत्पूर्वकत्वान्नामादीनाम् ।१४। द्रव्यस्यादौ वचनं न्याय्यम् । कुत. ? तत्पूर्वकत्वान्नामादीनाम् । सतो हि सज्ञिनो नामादिभिर्भवितव्यमिति; नैष दोष ;

संव्यवहारहेतुत्वात् संज्ञायाः पूर्ववचनम् ।१५। संव्यवहारहेतुत्वात् सज्ञाया पूर्ववचन क्रियते । सर्वो हि लोकसंव्यवहार सज्ञापूर्वक. तदात्मकत्वात्, तदनात्मकत्वे वस्तुव्यवहार-
५ विच्छेद । तदात्मकत्वाच्च स्तुतिनिन्दयो रागद्वेषप्रवृत्ति सिद्धा ।

ततः स्थापनावचनम्, आहितनामकस्य स्थापनोपपत्तेः ।१६। तत परं स्थापना विधीयते । कुत ? आहितनामकस्य स्थापनोपपत्ते । आहितनामकस्य 'सोऽयम्' इति किञ्चित् प्रतिनिधीयते ।

द्रव्यभावयोः [1]पूर्वपरन्यासः पूर्वोत्तरकालवृत्तित्वात् ।१७। द्रव्यभावयो पूर्वपरन्यास
१० क्रियते । कि कारणम् ? [2]पूर्वोत्तरकालवृत्तित्वात् । पूर्वकालविषयं[3] हि द्रव्यम् । उत्तरकालभावी भाव इति ।

[4]तत्त्वप्रत्यासत्तिप्रकर्षाऽप्रकर्षभेदाद्वा तत्क्रमः ।१८। अथवा, तत्त्वप्रत्यासत्ते प्रकर्षाप्रकर्षभेदात्तेषा नामादीनामुद्दिष्ट क्रमो वेदितव्य । तत्त्व भाव प्रधानम्, तदर्थानीतराणि, तत्र प्रत्यासत्तेस्तत्समीपे द्रव्य प्रयुक्त तद्भावापत्ते । तत पूर्व स्थापनोपादानम्, अतद्भावेपि तद्भाव
१५ प्रति प्रधानहेतुत्वात् । तत पूर्वं नामोपादानम् भाव प्रति विप्रकृष्टत्वात्[5] ।

नामादिचतुष्टयाभावो विरोधात् ।१९। अत्राह–नामादिचतुष्टयस्याभाव । कुत ? विरोधात् । एकस्य शब्दार्थस्य नामादिचतुष्टय विरुध्यते । यथा नामैक नामैव, न स्थापना । अथ नाम स्थापना इष्यते न नामेद नाम । स्थापना तर्हि; न चेय स्थापना, नामेदम् । अतो[6] नामार्थ एको विरोधान्न स्थापना । तथैकस्य जीवादेरर्थस्य सम्यग्दर्शनादेर्वा विरोधान्नामाद्यभाव इति ।
२० **न वा; सर्वेषां संव्यवहारं प्रत्यविरोधात् ।२०।** न वैष दोष । कि कारणम् ? सर्वेषाम् संव्यवहारं प्रत्यविरोधात् । लोके हि सर्वैर्नामादिभिर्दृष्ट सव्यवहार । इन्द्रो देवदत्त इति नाम । प्रतिमादिषु चेन्द्र इति स्थापना । इन्द्रार्थे[7] च काष्ठे द्रव्ये इन्द्रसंव्यवहार 'इन्द्र आनीत.' इति वचनात् । अनागतपरिणामे [8]चार्थे द्रव्यसंव्यवहारो लोके दृष्ट– [9]द्रव्यमयं माणवक, आचार्य श्रेष्ठी वैयाकरणो राजा वा भविष्यतीति व्यवहारदर्शनात् । शचीपतौ च भावे इन्द्र
२५ इति । न च विरोध । किञ्च,

अभिहितानवबोधात् ।२१। 'यथा नामैक नामैवेष्यते न स्थापना' इत्याचक्षाणेन त्वया अभिहितानवबोध[10] प्रकटीक्रियते । यतो नैवमाचक्ष्महे–'नामैव स्थापना' इति, किन्तु एकस्यार्थस्य नामस्थापनाद्रव्यभावैर्न्यास इत्याचक्ष्महे ।

अनेकान्ताच्च ।२२। नैतदेकान्तेन [11]प्रतिजानीमहे–नामैव स्थापना भवतीति न वा,
३० स्थापना वा नाम भवति नेति च । कथम् ?

मनुष्यग्राह्मणवत् ।२३। यथा ब्राह्मण स्यान्मनुष्यो ब्राह्मणस्य मनुष्यजात्यात्मकत्वात् । मनुष्यस्तु ब्राह्मण स्यान्न वा,मनुष्यस्य ब्राह्मणजात्यादिपर्यायात्मकत्वादर्शनात्[12] । तथा स्थापनास्यान्नाम, अकृतनाम्न स्थापनानुपपत्ते । नाम तु स्थापना स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात् ।

---

१ पूर्वापर– आ०, ब०, मु० । २ –यं द्र– श्र० । ३ भाव । ४ अतिद्रत्वात् । ५ यतो श्र० । ६ वार्थे आ०, ब०, मू०, मु० । ७ योग्योऽयं बालः –सम्पा० । ८ अज्ञत्वम् । ९ प्रतिज्ञां कुर्महे । १० –नाच्च तथा आ०, ब०, द०, मु० ।

तथा द्रव्य स्याद्भावः, [1]भावद्रव्यार्थादेशात् न भावपर्यायार्थादेशाद् द्रव्यम्[2]। भावस्तु द्रव्यं स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात्। किञ्च,

अतस्तत्सिद्धेः।२४। यत एव नामादिचतुष्टयस्य विरोध भवानाचष्टे अत एव नाभाव[3]। कथम्? इह योऽयं सहानवस्थानलक्षणो विरोधो वध्यघातकवत्[4] स सतामर्थाना भवति नाऽसतां [5]काकोलूक-छायातपवत्, न काकदन्त-खरविषाणयोर्विरोधोऽसत्त्वात्। किञ्च, ५

नामाद्यात्मकत्वाऽनात्मकत्वे विरोधस्याऽविरोधकत्वात्।२५। यो नामादिचतुष्टयस्य विरोध. स नामाद्यात्मको वा स्यात्, न वा? उभयथा च विरोधाभाव। यदि नामाद्यात्मक; नासौ विरोधको नामाद्यात्मवत्। अथ तदात्मकोऽपि विरोधो नामादीना विरोधक; नामाद्यात्मापि विरोधक स्यात्, ततो नामादीनामभावाद्विरोध एव न स्यात्। अथ न नामाद्यात्मक; एवमपि नामादीना नासौ विरोधकोऽर्थान्तरत्वात्। [6]अथ अर्थान्तरभावेऽपि विरोधकत्वमिष्यते; सर्वेषा पदार्थाना परस्परतो नित्य विरोध स्यात्। न चासावस्तीति। अतो विरोधाभाव। १०

तादगुण्याद् भावस्य प्रामाण्यमिति चेत्; नः इतरव्यवहारनिवृत्तेः।२६। स्यादेतत्–तादगुण्याद् भाव एव प्रमाण न नामादि। स जीवनादिर्गुणो यस्य स तद्गुण, तस्य भावस्तादगुण्यम्, अतो भाव एव प्रमाण न नामादिः, तादगुण्याभावादिति; तन्न; कि कारणम्? इतरव्यवहारनिवृत्ते। एव हि सति नामाद्याश्रयो व्यवहारो निवर्तेत। स चास्तीति। अतो न भावस्यैव प्रामाण्यम्। १५

उपचारादिति चेत्; न; तद्गुणाभावात्।२७। स्यादेतत्–यद्यपि भावस्यैव प्रामाण्यं तथापि[7] नामादिव्यवहारो न निवर्तते। कुत? उपचारात्, माणवके सिहशब्दव्यवहारवदिति। तन्न; किं कारणम्? तद्गुणाभावात्। युज्यते माणवके सिहशब्दव्यवहार क्रौर्यशौर्यादिगुणैकदेशयोगात्, इह तु नामादिषु जीवनादिगुणैकदेशो न कश्चिदप्यस्तीत्युपचाराभावाद् व्यवहारनिवृत्ति स्यादेव। २०

मुख्यसंप्रत्ययप्रसङ्गाच्च।२८। यद्युपचारान्नामादिव्यवहार स्यात्, *"**गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः**" [पात० महा० ८।३।८२] इति मुख्यस्यैव सप्रत्यय स्यान्न नामादीनाम्। यतस्त्वर्थप्रकरणादिविशेषलिङ्गाभावे सर्वत्र सप्रत्यय [8]अविशिष्ट कृतसगतेर्भवति, अतो न नामादिषूपचाराद् व्यवहार। २५

***"कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवति"** [पात० महा० १।१।२२] **इति चेत्; न; उभयगतिदर्शनात्।२९।** स्यादेतत्–कृत्रिमाकृत्रिमयो कृत्रिमे सप्रत्ययो भवतीति लोके। तद्यथा 'गोपालकमानय कटेजकमानय' इति, यस्यैषा सज्ञा भवति स आनीयते, न यो गा पालयति यो वा कटे जात। एवमिहापि यस्यैषा 'जीवादि' इति सज्ञा कृता तस्यैव सप्रत्यय. स्यान्नेतरेषामिति; तन्न; कि कारणम्? उभयगतिदर्शनात्। लोके ह्यर्थात् प्रकरणाद्वा कृत्रिमे सप्रत्यय स्यात् अर्थो वाऽस्यैवंसज्ञकेन भवति, प्रकृत वा तत्र भवति 'इदमेवंसज्ञकेन कर्तव्यम्' इति, [9]अर्थात् प्रकरणाद्वा लोके संप्रत्ययो भवति। [10]अङ्ग [11]हि भवान्, ३०

---

१ भावस्थं द्रव्यं भावद्रव्यं तदेवार्थः तस्यावेशस्तस्मात्। २ 'द्रव्यम्' इति पदधर्मिकं भाति –सम्पा०। ३ विरोधः – ता० टि०। ४ –कवच्च सता– आ०, बु०, द०, मु०, ता०, श्र०। ५ –लूकवच्छाया– मु०, आ०, ब०। ६ अर्था– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ७ तथा ना– ता०, श्र०। ८ विशेषरहितः। ९ अतश्चार्था– ता०, आ०, ब०, द०, मु०। १० अङ्गेति प्रियत्वामान्त्रणे। ११ कष्टम्।

[1]ग्राम्य [2]पाशुलपादकमप्रकरणज्ञमागत ब्रवीतु–'गोपालकमानय कटेजकमानय' इति, [3]उभयगतिस्तस्य भविष्यति । किञ्च,

अनेकान्तात् ।३०। नायमेकान्त· कृत्रिममेवेदं न कृत्रिममेवेति । कि तर्हि ? अनेकान्त । [4]नाम सामान्यापेक्षया स्यादकृत्रिम विशेषापेक्षया कृत्रिमम् । एव स्थापनादयश्चेति । तत किम् ? *"**कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययः**" इत्यस्याभाव । किञ्च,

नयद्वयविषयत्वात् ।३१। द्वौ नयौ द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्च, तयोर्विषयो नामादिन्यास· । तत्र नामस्थापनाद्रव्याणि [5]प्राच्यस्य, सामान्यात्मकत्वात् । पाश्चात्यस्य भाव, परिणतिप्रधानत्वात् । तत किम् ? *"**गोणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः**" "**कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययः**" इति च न भवति । प्रतिविषय नयभेदात् ।

द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकान्तर्भावान्नामादीनां तयोश्च नयशब्दाभिधेयत्वात् पौनरुक्त्यप्रसङ्गः ।३२। यतो नामस्थापनाद्रव्याणि द्रव्यार्थिकस्य, भाव पर्यायार्थिकस्येत्युक्तम्, ततो नामादीना नयान्तर्भावात्, नयविकल्पाना च वक्ष्यमाणत्वात् पौनरुक्त्य प्राप्नोति ।

न वा; विनेयमतिभेदाधीनत्वाद् द्व्यादिनयविकल्पनिरूपणस्य ।३३। न वा एष दोष । किं कारणम् ? विनेयमतिभेदाधीनत्वाद् द्व्यादिनयविकल्पनिरूपणस्य । ये सुमेधसो विनेयास्तेषा द्वाभ्यामेव द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्या सर्वनयवक्तव्यार्थप्रतिपत्ति तदन्तर्भावात् । ये त्वतो मन्दमेधस तेषा [6]त्र्यादिनयविकल्पनिरूपणम् । अतो विशेषोपपत्तेर्नामादीनामपुनरुक्तत्वम् ।

तच्छब्दाऽग्रहणं प्रकृतत्वात् ।३४। सम्यग्दर्शनादित्रयस्य प्रकृतत्वादेव नामादिन्यासाभि[7]सबन्ध । ततस्तच्छब्दस्य ग्रहणमनर्थकम् ।

प्रत्यासन्नत्वाऽजीवादिषु प्रसङ्ग इति चेत्; न; सम्यग्दर्शनविषयत्वात् ।३५। स्यादेतत्– तच्छब्दाद् विना प्रत्यासन्ना जीवादयस्तेषामेव न्यासाभिसबन्धो भवेत् न सम्यग्दर्शनादीनाम् । कुत ? *"**अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा**" [पात० महा० १।२।४७] इति; तन्न; कि कारणम् ? सम्यग्दर्शनविषयत्वात् । सम्यग्दर्शनादित्रयस्य प्राधान्येनोपदेश. तदर्थत्वाच्छास्त्रारम्भस्य, सम्यग्दर्शनादिविषयत्वेन तु जीवादीना गुणभूतत्वेनोपदेश. । अतस्तच्छब्दादृतेऽपि सम्यग्दर्शनादित्रयस्य प्राधान्यात् नामादिन्यासेनाभिसबन्धो युक्त ।

विशेषातिदिष्टत्वाच्च ।३६। जीवादय सम्यग्दर्शनविषयत्वेन विशेषेणातिदिष्टा. प्रकृत सम्यग्दर्शनादित्रय न बाधिष्यन्ते *"**विशेषातिदिष्टाः प्रकृतं न बाधन्ते**" [ ] इति ।

सर्वभावाधिगमार्थं तु ।३७। सर्वेषा भावाना जीवाजीवादीनामप्रधानाना प्रधानाना च सम्यग्दर्शनादीनाम् अधिगमार्थ [8]तर्हि तच्छब्दग्रहणम् । इतरथा हि प्रधानाभिसबन्ध एव स्यात् ।

एवमजीवादिषु ज्ञानचारित्रयोश्च नामादिन्यासविकल्पो योजयितव्य. ।

अधिकृतानामेव सम्यग्दर्शनादिजीवादीना पदार्थानाम् अभिधानाभिधेयसव्यवहाराऽव्यभिचाराय नामादिभिर्निक्षिप्ताना तत्त्वाधिगमहेतुर्वक्तव्य इति । अत आह–

---

१ भ्राम्यन् श्र० । २ प्राधूर्णकमित्यर्थः । पांशुलखुरपाद– आ०, ब०, द०, मु० । पांशुखुरपा– भा० २ । ३ गोपालकस्य गो.पालयितुश्च परिज्ञानम् । ४ अनादिसम्बन्ध इन्द्र इति । ५ द्रव्यार्थिकस्य । ६ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशब्द । ७ –सम्बन्धस्तच्छ– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ –र्थं तच्छ– ता० ।

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

प्रमाणे च नयाश्च प्रमाणनया, तैरधिगमो भवति सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनाम्। प्रमाणनया वक्ष्यमाणलक्षणा । ननु च नयशब्दस्या[1]ल्पाच्तरत्वात् पूर्वनिपातेन भवितव्यम् ?

अभ्यर्हितत्वात् प्रमाणशब्दस्य पूर्वनिपातः ।१। *"**अभ्यर्हितं पूर्वम् निपतति**" [पात० महा० २।२।३४] इति प्रमाणशब्दस्य पूर्वनिपातो वेदितव्य । कथमभ्यर्हितत्वम् ?

प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तेर्व्यवहारहेतुत्वादभ्यर्हः ।२। यत प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तिर्व्यवहारहेतुर्भवति नान्येषु अतोऽस्याभ्यर्हितत्वम् ।

समुदायाऽवयवविषयत्वाद्वा ।३। अथवा, समुदायविषय प्रमाणम् अवयवविषया नया इति प्रमाणस्याभ्यर्हितत्वम् । तथा चोक्तम्– *"**सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः**" [ ] इति ।

अधिगमहेतुर्द्विविधः ।४। [अधिगमहेतुर्द्विविध] स्वाधिगमहेतु, पराधिगमहेतुश्च । स्वाधिगमहेतुर्ज्ञानात्मक प्रमाणनयविकल्प, पराधिगमहेतुर्वचनात्मक । तेन श्रुताख्येन प्रमाणेन स्याद्वादनयसस्कृतेन प्रतिपर्याय सप्तभङ्गीमन्तो जीवादय पदार्था अधिगमयितव्या ।

अत्राह–केय सप्तभङ्गी इति ? अत्रोच्यते–

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभङ्गी ।५। एकस्मिन् वस्तुनि[2] प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाऽविरुद्धा विधिप्रतिषेधविकल्पना[3] सप्तभङ्गी विज्ञेया। तद्यथा–स्याद् घट, स्यादघट, स्याद् घटश्चाऽघटश्च, स्यादवक्तव्य, स्याद् घटश्चाऽवक्तव्यश्च, स्यादघटश्चावक्तव्यश्च, स्याद् घटश्चाऽघटश्चाऽवक्तव्यश्चेति अर्पितानर्पितनयसिद्धेर्निरूपयितव्या ।

तत्र स्वात्मना स्याद् घट, परात्मना स्यादघट । को वा घटस्य स्वात्मा को वा परात्मा ? घटबुद्ध्यभिधानप्रवृत्तिलिङ्ग स्वात्मा, यत्र तयोरप्रवृत्ति स परात्मा पटादि । स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्य हि वस्तुनो वस्तुत्वम् । यदि स्वस्मिन् पटाद्यात्मव्यावृत्तिविपरणतिर्न स्यात् सर्वात्मना घट इति व्यपदिश्येत । अथ [4]परात्मना व्यावृत्तावपि स्वात्मोपादानविपरणतिर्न स्यात् खरविषाणवदवस्त्वेव स्यात् ।

अथवा, नामस्थापनाद्रव्यभावेषु यो विवक्षित स स्वात्मा, इतर परात्मा । तत्र विवक्षितात्मना घट, नेतरात्मना । यदीतरात्मनापि घट स्यात् विवक्षितात्मना वाऽघट; नामादिव्यवहारोच्छेद स्यात् ।

अथवा, तत्र विवक्षितघटशब्दवाच्यसादृश्यसामान्यसबन्धिषु कस्मिश्चिद् घटविशेषे परिगृहीते प्रतिनियतो य. सस्थानादि स स्वात्मा, इतर परात्मा । तत्र प्रतिनियतेन रूपेण घट नेतरेण । यदीतरात्मक स्यात्; एकघटमात्रप्रसङ्ग । तत सामान्याश्रयो व्यवहारो विनश्येत् ।

अथवा, तस्मिन्नेव घटविशेषे कालान्तरावस्थायिनि पूर्वोत्तरकुशूलान्तकपालाद्यवस्थाकलाप. परात्मा, तदन्तरालवर्ती स्वात्मा। स तेनैव घट तत्कर्मगुणव्यपदेशदर्शनात्,

---

१ –ल्पाक्षर– मु० । २ –नि अविरोधेन प्र– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –धकल्पना आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ परात्मव्यावृ–श्र० ।

नेतरात्मना। यदि हि कुशूलान्तकपालाद्यात्मनापि घट स्यात्; घटावस्थायामपि तदुपलब्धिर्भवेत्,[१] उत्पत्तिविनाशार्थं पुरुषप्रयत्नफलाभावश्चानुषज्येत। अथान्तरालवर्तिपर्यायात्मनाप्यघट स्यात्; घटकृत्य फल नोपलभ्येत।

अथवा, प्रतिक्षण द्रव्यपरिणामोपचयापचयभेदादर्थान्तरत्वोपपत्ते. ऋजुसूत्रनयापेक्षया प्रत्युत्पन्नघटस्वभाव स्वात्मा, घटपर्याय एवातीतोऽनागतश्च परात्मा। तेन प्रत्युत्पन्नस्वभावेन सता स घट नेतरेणासता, तथोपलब्ध्यनुपलब्धिसद्भावात्। इतरथा हि प्रत्युत्पन्नवदतीतानागतात्मनापि घटत्वे एकसमयमात्रमेव सर्वं स्यात्, अतीतानागतवद्वा प्रत्युत्पन्नाभावे घटाश्रयव्यवहाराभाव [२]आपद्येत विनष्टानुत्पन्नघटव्यवहाराभाववत्।

अथवा, तस्मिन् प्रत्युत्पन्नविषये रूपादिसमुदये परस्परोपकार[३]वर्तिनि पृथुबुध्नाद्याकार स्वात्मा, इतर परात्मा। तेन पृथुबुध्नाद्याकारेण स घटोऽस्ति नेतरेण; घटव्यवहारस्य तद्भावे भावात् तदभावे[४] चाऽभावात्। यदि हि पृथुबुध्नाद्यात्मनापि घटो न स्यात्; स एव न स्यात्। अथेतरात्मनापि घट स्यात्; तदाकारशून्येऽपि घटव्यवहार प्राप्नुयात्।

अथवा, रूपादिसन्निवेशविशेष सस्थानम्। तत्र 'चक्षुषा घटो गृह्यते' इत्यस्मिन् व्यवहारे रूपमुखेन घटो गृह्यत इति रूप स्वात्मा, रसादि परात्मा। स घटो रूपेणास्ति नेतरेण रसादिना; प्रतिनियतकरणग्राह्यत्वात्। अथ हि 'चक्षुषा घटो गृह्यते' इत्यत्र रसादिरपि घट इति गृह्येत; सर्वेषा रूपत्वप्रसङ्ग, ततश्च करणान्तरकल्पनाऽनर्थिका। यदि वा रसादिवद्रूपमपि घट इति न गृह्येत; चक्षुर्विषयताऽस्य न स्यात्।

अथवा, शब्दभेदे ध्रुवोऽर्थभेद इति घटकुटादिशब्दानामप्यर्थभेद—घटनाद् घट. कौटिल्यात् कुट इति तत्क्रियापरिणतिलक्षण[५] एव तस्य शब्दस्य वृत्तिर्युक्ता। तत्र घटनक्रियाविषयकर्तृभाव स्वात्मा, इतर परमात्मा। तत्राद्येन घट नेतरेण, तथार्थसम[६]भिरोहणात्। यदि च घटनक्रियापरणतिमुखेनाप्यघट स्यात्; तद्व्यवहारनिवृत्ति स्यात्। यदि वा [७]इतरव्यपेक्षयापि घट स्यात्, पटादिष्वपि तत्क्रियाविरहितेषु तच्छब्दवृत्ति स्यात्, एकशब्दवाच्यत्व वा वस्तुन।

अथवा, घटशब्दप्रयोगानन्तरमुत्पद्यमान उपयोगाकार स्वात्मा अहेयत्वादन्तरङ्गत्वाच्च। बाह्यो घटाकार परात्मा तदभावेऽपि घटव्यवहारदर्शनात्। स घट उपयोगाकारेणास्ति नान्येन। यदि हि उपयोगाकारात्मनाऽप्यघट स्यात्; वक्तृश्रोतृहेतुफलभूतोपयोगघटाकाराभावात् तदधीनो व्यवहारो विनाशमाप्नुयात्। इतरोऽसन्निहितोऽपि यदि घटः स्यात्; पटादीनामपि स्याद् घटत्वप्रसङ्ग।

अथवा, चैतन्यशक्तेर्द्वावाकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकार, प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकार। तत्र ज्ञेयाकार स्वात्मा, तन्मूलत्वाद् घटव्यवहारस्य। ज्ञानाकार परात्मा, सर्वसाधारणत्वात्। स घटो ज्ञेयाकारेणास्ति नान्यथा। यदि ज्ञेयाकारेणाप्यघट स्यात्; तदाश्रयेतिकर्तव्यतानिरासः स्यात्। अथ हि ज्ञानाकारेणापि घट स्यात्; पटादि[८]ज्ञानाकारकालेऽपि तत्सन्निधानाद् घटव्यहारवृत्ति प्रसज्येत।

---

१ —त् तदुत्प— मु०, ता०। २ आपद्यते मु०, आ०, ब०, द०। ३ —वर्तिपृथु—अ०। ४ —वेऽभा— मु०, आ०, ब०, द०। ५ —तिक्षण आ०, ब०, द०, मु०। ६ —समीपरो —अ०। ७ चेतर—मु०, आ०, ब०, द०। ८ —ज्ञानकालेऽपि आ०, ब०, द०. मु०।

उक्तैः प्रकारैरर्पितं घटत्वमघटत्वं च परस्परतो न भिन्नम् । यदि भिद्येत; सामानाधिकरण्येन तद्बुद्धयभिधानवृत्तिर्न स्याद् घटपटवत् । ततश्चेतरतराविनाभावे उभयोरप्यभावात् तदाश्रयव्यवहारापह्नव कृत स्यात् । अतस्तदुभयात्मकोऽसौ क्रमेण तच्छब्दवाच्यतामास्कन्दन् 'स्याद् घटश्चाघटश्च' इत्युच्यते । यदि तदुभयात्मक वस्तु घट इत्येवोच्येत; इतरात्माऽसग्रहादतत्त्वमेव स्यात् । अथाघट एवेत्युच्यते; घटात्मानुपादानाद् अनृतमेव स्यात्, न वस्तु तावदेवेति । नचान्य शब्द तदुभयात्मावस्थतत्त्वाभिधायी विद्यते, अतोऽसौ घटो वचनगोचरातीतत्वात् 'स्यादवक्तव्य ' इत्युच्यते । [1]घटात्मार्पणामुखेन उक्तावक्तव्यस्वरूपनिरूपणेन चादिश्यमान स एवार्थ इति 'स्याद् घटश्चावक्तव्यश्च' । निरूपिताऽघटभङ्गसङ्गेन प्रदर्शितावक्तव्यवर्त्मना चापदेश्य स एवार्थ इति 'स्यादघटश्चावक्तव्यश्च' । तदुभयाभिधानक्रमाक्रमार्पणावशाद् आविर्भूततद्व्यपदेश. स एवार्थ 'स्याद् घटश्चाघटश्चावक्तव्यश्च भवति' ।

एवमिय सप्तभङ्गी जीवादिषु सम्यग्दर्शनादिषु च द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयार्पणाभेदाद्योजयितव्या । तत्र [2]द्रव्यार्थैकान्तोऽनिश्चिततत्त्व [3]'अतत्तदेव' इत्यवधारणाद् उन्मत्तवत् । [4]'पर्यायार्थैकान्तोऽपि तथैव, 'अतद्वस्तु [5]'तदेव' (तद्वस्तु अतदेव)इत्यवधारणादुन्मत्तवत् । स्याद्वादो निश्चितार्थ अपेक्षितयाथातथ्यवस्तुवादित्वात् अनुन्मत्तवचनवत् । अवक्तव्यैकान्तोऽप्यसद्वाद , स्ववचनविरोधात् सदा [6]'मौनवृत्तिकवत् । अमृषार्थ स्यादवक्तव्यवाद वक्तव्यावक्तव्यवादित्वात् सत्येतरवचनविशेषज्ञवादवत् ।

[7]'अनेकान्ते तदभावादव्याप्तिरिति चेत्; न; तत्रापि तदुपपत्तेः ।६। स्यादेतत्–अनेकान्ते सा विधिप्रतिषेधविकल्पना नास्ति । यदि स्यात्; यदा अनेकान्तो न भवति तदैकान्तदोषानुषङ्गो भवेत् अनवस्थाप्रसङ्गश्च । ततस्तत्र[8] अनेकान्तत्वमेव[9], इति सा सप्तभङ्गी व्याप्तमती न भवतीति; तन्न; कि कारणम् ?तत्रापि तदुपपत्ते । स्यादेकान्त , स्यादनेकान्त , स्यादुभय स्यादवक्तव्य , स्यादेकान्तश्चावक्तव्यश्च, स्यादनेकान्तश्चावक्तव्यश्च, स्यादेकान्तश्चानेकान्तश्चावक्तव्यश्चेति । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते—

प्रमाणनयार्पणाभेदात् ।७। एकान्तो द्विविध –सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति । अनेकान्तोऽपि द्विविध –सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति । तत्र सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्ष प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेश । एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवण[10]'प्रणिधिर्मिथ्यैकान्त । एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्ध सम्यगनेकान्त । तदतत्स्वभावावस्तुशून्य परिकल्पितानेकात्मक केवल वाग्विज्ञान मिथ्याऽनेकान्त । तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते । सम्यगनेकान्त प्रमाणम् । नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात् । यद्यनेकान्तोऽनेकान्त एव स्यान्नैकान्तो भवेत्; एकान्ताभावात् तत्समूहात्मकस्य तस्याप्यभाव स्यात्, शाखाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत् । यदि चैकान्त एव स्यात्; तदविनाभाविशेषनिराकरणादात्मलोपे सर्वलोप स्यात् । एवमुत्तरे च भङ्गा योजयितव्या ।

---

१ घटार्थार्प–ता० । २ द्रव्यार्थिकैकान्तः आ०, ब०, द०, मु० । ३ वस्तुनस्तदतत्स्वभावत्व तदेवेत्यवधृतं सदुन्मत्तप्रलपितमिव भवेत्–द० टि० । ४ पर्यायार्थिकैका–आ०, ब०, मु० । ५ अतदेवे–श्र० । ६ यावज्जीवमहं मौनीत्यादिवत् स्ववचनविरोधोपपत्तेः । ७ अनेकान्तेऽनेकान्तत्वं न व्याप्नोति अतस्तत्र सप्तभङ्गी व्याप्तिमती न स्यात्; तन्न तत्रापि संभवात् –द० टि० । ८ अनेकान्ते । ९ व्यभिचारित्वम् । १० –प्रणीति–श्र० ।

छलमात्रमनेकान्त इति चेत्; नः छललक्षणाभावात् ।८। स्यान्मतम्–'त देवास्ति तदेव नास्ति तदेव नित्य तदेवानित्यम्' इति चानेकान्तप्ररूपण छलमात्रमिति; तन्न; कुत ?छललक्षणाभावात्। छलस्य हि लक्षणमुक्तम् *"**वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्**" [न्यायसू० १।२।१०] इति। यथा 'नवकम्बलोऽयम्' इत्यविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पनम् 'नवास्य कम्बला न चत्वार इति, नवो वास्य कम्बलो न पुराण' इति नवकम्बल । न तथा अनेकान्तवाद । यत [1]उभयनयगुणप्रधानभावापादितार्पितानर्पितव्यवहारसिद्धिविशेषबललाभप्रापितयुक्तिपुष्कलार्थः अनेकान्तवाद ।

संशयहेतुरिति चेत्; न; विशेषलक्षणोपलब्धेः ।९। स्यान्मतम्–सशयहेतुरनेकान्तवाद । कथम्? एकत्राधारे विरोधिनोऽनेकस्यासभवात्। आगमश्चैव प्रवृत्त –*'**एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्**" [ ] इति। किमागमप्रामाण्यादस्ति वा नास्ति वा नित्य वा अनित्य वेति ? तच्च न; कस्मात् ? विशेषलक्षणोपलब्धे । इह सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च[2] सशय । तद्यथा स्थाणुपुरुषोचिते देशे नातिप्रकाशान्धकारकलुषाया वेलायामूर्ध्वत्वमात्र सारूप्य पश्यतो वक्रकोटर[3]वयो[4]निलयनादीन् स्थाणुगतान् विशेषान् [5]वस्त्रसयमन-शिर कण्डूयन-शिखाबन्धनादीन् पुरुषगताश्चाऽनुपलभमानस्य तेषा[6] च स्मरत सशय उत्पद्यते, नच तद्वदनेकान्तवादे विशेषानुपलब्धिः, यत [7]स्वरूपाद्यादेशवशीकृता विशेषा उक्ता व्यक्ता [8]प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते। ततो 'विशेषोपलब्धेर्न सशयहेतु' इति यदगदिष्म तत्सम्यग्निरजैष्म[9]।

एवमपि सशय । कथम् ? इद [10]तावदसि प्रष्टव्य –एषामस्तित्वादीना धर्माणा साधका प्रतिनियता हेतव [11]सन्ति वा, न वा ? यदि न सन्ति; [12]विप्रतिपन्नप्रतिपादनासभव । अथ सन्ति, एकत्र [13]विरुद्धसाधनहेतुसन्निधाने सति भवितव्य संशयेनेति ? उच्यते–

विरोधाभावात् संशयाभावः ।१०। यदि विरोधोऽभविष्यत्[14] सशयोऽजनिष्यत् । न च विरोधो नयोपनीताना धर्माणामस्ति । कुत ?

अर्पणाभेदादविरोधः [15]पितापुत्रादिसम्बन्धवत् ।११। उक्तादर्पणाभेदाद् एकत्राऽविरोधेनावरोधो[16] धर्माणा पितापुत्रादिसबन्धवत् । तद्यथा–एकस्य देवदत्तस्य जातिकुलरूपसज्ञाव्यपदेशविशिष्टस्य 'पिता पुत्रो भ्राता भागिनेय' इत्येवप्रकारा सबन्धा जन्यजनकत्वादिशक्त्यर्पणाभेदान्न विरुध्यन्ते। न ह्येकापेक्षया पितेति शेषापेक्षयापि पिता भवति, शेषापेक्षया वा पुत्रादिव्यपदेशार्ह इति उक्तापेक्षयापि पुत्रादिव्यपदेशभाक्। न च पितापुत्रादिकृत सबन्धबहुत्व देवदत्तस्यैकत्वेन विरुध्यते । तद्वदस्तित्वादयोऽपि[17] न यान्ति विरोधमेकत्र।

---

१ उभयगुण–आ०, ब०, द०, मु० । २ धारणाबलोद्भूता अतीतार्थविषया तदिति परामर्शिनी स्मृतिः। तुलना–वैशे० सू० २।२।१७। ३ –र विशेषवयो–आ०, ब०, द०, मु० । ४ पक्षिस्थान। नीड इत्यर्थः –सम्पा० । ५ वस्त्रस्रसयन– आ०, ब०, द०, मु० । ६ स्मरतेः कर्मणि षष्ठी प्रयोक्तव्येति– द० टि० । ७ स्वपराद्या– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ प्रत्यर्थमुप– आ०, ब०, द०, मु० । ९ –र वैष्म आ०, ब०, द०, मु० । १० तावदस्ति प्र– आ०, ब०, द०, मु० । ११ स्युर्वा ता०, श्र०, म०, द०, ब०, ज०– । १२ वादि । १३ 'साध्यविपर्ययव्याप्तस्तु विरुद्धः, स यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वात् घटवत् । कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन व्याप्तं यतो यत्कृतकं तदनित्यमिति, अतो विरुद्ध कृतकत्वम्' इत्यभिप्रायो न वाच्योऽत्र किन्तु विरुद्धानां नित्यानित्यत्वादिधर्माणां साधनं स एव हेत्वरिति वक्तव्यम्, अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्, नित्यः शब्दः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् व्योमवदिति, अन्यथा हेत्वाभासप्रसङ्गः प्रसज्येत । १४ तिङ्निमित्तेऽवृत्तौ भूते च लृङ् । १५ पितृपुत्रादि– आ०, ब०, मु० । १६ स्वीकारः । १७ –त्वादयो न आ०, ब०, द०, मु० ।

सपक्षासपक्षापेक्षोपलक्षितसत्त्वासत्त्वादिभेदोपचितैकधर्मवद्वा ।१२। अथवा, [1]सपक्षाऽ-[2]सपक्षापेक्षयोपलक्षिताना सत्त्वासत्त्वादीना भेदानामाधारेण[3] पक्ष[4]धर्मेणैकेन तुल्य सर्वद्रव्यम् । निरपेक्षयोर्हयेकत्र वादिप्रतिवादिप्रयोगापेक्षया[5] सशय उक्त, इतरथा हि पक्षधर्मेऽपि संशय कल्प्येत ।

एकस्य हेतोः साधकदूषकत्वाऽविसंवादवद्वा ।१३। अथैवमुपपत्त्याऽविरोधे प्रतिपादितेऽपि मिथ्यादर्शनाभिनिवेशात्तत्त्व न प्रतिपद्यते यस्त प्रति सार्वलौकिकहेतुवादमाश्रित्योच्यते–इह [6]स्वपक्षमर्यादानतिक्रमेण [7]न्यायधर्ममनुपालयता वादिना अभिप्रेतप्रतिज्ञार्थसिद्धिमाशसता [8]हेत्वनुपदेशे [9]'सर्वाभिलषितार्थसिद्धि प्रतिज्ञामात्रादेव मा प्रापत्' इत्यतिप्रसङ्गदोषनिवृत्तये यो हेतुरुपदिश्यते स साधको दूषकश्च–स्वपक्ष साधयति परपक्ष दूषयति । न तौ साधनदूषणार्थौ हेतोरन्यौ भवत । नचानन्यत्वमस्तीति कृत्वा येन साधकस्तेन दूषको येन वा दूषकस्तेन साधक । न तयो सकरो विरोधो वा । एव सर्वार्थेषु विरोधदोषमपनुदन्ती विसर्पत्यनेकान्तप्रक्रियेति ।

सर्वप्रवाद्यविप्रतिपत्तेश्च ।१४। नात्र प्रतिवादिनो विसवदन्ते एकमनेकात्मकमिति । केचित्[10] तावदाहु –'सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रधानम्' इति । तेषा प्रसादलाघवशोषतापावरणसादनादिभिन्नस्वभावाना प्रधानात्मना[11] मिथश्च न विरोध । अथ मन्येथा 'न प्रधान नामैक गुणेभ्योऽर्थान्तरभूतमस्ति, किन्तु त एव गुणा साम्यमापन्ना प्रधानाख्या लभन्ते' इति; यद्येव [12]भूमा प्रधानस्य स्यात् । स्यादेतत्–तेषा समुदय प्रधानमेकमिति; अत एवाविरोध सिद्ध गुणानामवयवाना समुदायस्य च ।

अपरे[13] मन्यन्ते–'अनुवृत्तिविनिवृत्तिबुद्ध्यभिधानलक्षण सामान्यविशेष ' इति । तेषा च सामान्यमेव विशेष [14]सामान्यविशेष इत्येकस्यात्मन उभयात्मक न विरुध्यते ।

अपर[15] आहु –'वर्णादिपरमाणुसमूदयो रूपपरमाणु ' इति । तेषा [16]कक्खडत्वादिभिन्नलक्षणाना [17]रूपात्मना [18]मिथश्च न विरोध । अथ मतम् 'न परमाणुर्नामैकोऽस्ति बाह्य , किन्तु [19]विज्ञानमेव तदाकारपरिणत परमाणुव्यपदेशार्हम्' इत्युच्यते; अत्रापि ग्राहक-विषयाभास[20]-सवित्ति[21]शक्तित्रयाकाराधिकरणस्यैकस्याभ्युपगमान्न विरोध [22] ।

किञ्च, [23]सर्वेषामेव तेषा पूर्वोत्तरकालभाव्यवस्थाविशेषार्पणाभेदादेकस्य[23] कार्यकारणशक्तिसमन्वयो न विरोधस्यास्पदमित्यविरोधसिद्धि ।

एव प्रमाणनयैरधिगताना जीवादीना पुनरप्यधिगमोपायान्तरप्रदर्शनार्थमाह–

---

१ महानस । २ महाह्रद । ३ पर्वत । ४ हेतुना । ५ शब्दो नित्य उतानित्य इति । एको ब्रूते शब्दो नित्य इति अपरोऽनित्य इति । तयोर्विप्रतिपत्त्या मध्यस्थस्य पुंसो भवति सशय –किमयं शब्दो नित्य उतानित्य इति । ६ स्वदर्शनसीमा । ७ अनुमान । ८ हेत्वनपदेशे आ०, ब०, द०, भा० १, भा० २ । ९ सर्वेषा वादिनाम् । १० साख्याः । ११ एकेन । प्रधानात्मना आ०, ब०, मु०, द० । १२ बहुत्वम्–ता० टि० । १३ वैशेषिकाः । १४ सामान्यविशेषाः पृथिवीत्वादयः अपरसामान्यात्मकाः । १५ बौद्धाः । १६ काकवडत्वा– आ०, ब०, द०, मु० । कर्कश । पृथ्व्यादीनाम्– ता० टि० । १७ रूपात्मनां आ०, ब०, द०, मु० । १८ वर्णादीनाम् । १९ ज्ञान –श्र० । २० आकार इत्यर्थः –सम्पा० । आभासशब्द. प्रत्येकं परिसमाप्यते ग्राहकाकारो विषयाकारश्चेति । २१ संवेदन । २२ वादिना लौकिकानाञ्च । २३ पदार्थस्य । २४ –धः सिद्धः आ०, ब०, द०, मु० ।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

के पुनरिमे निर्देशादय ? निर्देशोऽर्थात्मावधारणम्[1]। स्वामित्वमाधिपत्यम्। साधन [2]कारणम्। अधिकरण प्रतिष्ठा। स्थिति कालकृता व्यवस्था। विधान प्रकार। 'अधिगम.' इत्यनुवर्तते। एतैरेतेभ्यो वा अधिगम, [3]पूर्ववत्तसि। केषामधिगमः ? जीवादीना सम्यग्दर्श-
५ नादीनां च। स तर्हि तथा निर्देश कर्तव्य ? न कर्तव्य, अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामो भवति। तद्यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाण्यामन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति गम्यते।

अथ किमर्थमादौ निर्देश ? उच्यते—

अवधृतार्थस्य धर्मविकल्पप्रतिपत्तेरादौ निर्देशवचनम्।१। स्वरूपेणावधृतस्यार्थस्य स्वामित्वादिका धर्मविकल्पप्रतिपत्तिर्भवति, अतोऽस्य निर्देशस्यादौ वचन क्रियते।

१० **इतरेषां प्रश्नवशात् क्रमः।२।** इतरेषा स्वामित्वादीना प्रश्नवशात् क्रमो वेदितव्य। यद्येव स एव [4]तावदुच्यता को जीव इति ?

औपशमिकादिभावपर्यायो जीवः पर्यायादेशात्।३। वक्ष्यमाण औपशमिकादिभावपर्यायो जीव इत्युच्यते पर्यायादेशात्।

द्रव्यार्थादेशान्नामादिः।४। द्रव्यार्थादेशान्नामादि [5] 'जीव' इत्युच्यते।

१५ **तदुभयसंग्रहः प्रमाणम्।५।** तस्योभयस्य[6] सग्रह प्रमाणनिर्देश इत्युच्यते।

कस्य जीव [7] ?

तत्परिणामस्य, भेदादग्नेरौष्ण्यवत्।६। स परिणामो यस्य सोऽय तत्परिणाम. तस्यासौ[8] व्यपदिश्यते। कुत. ? कथञ्चिद्भेदात्, परिणामपरिणामिनोर्भेदकल्पनासद्भावात् अग्नेरौष्ण्यवत्। तद्यथा—औष्ण्यात्मकस्याग्ने दहनपचनस्वेदनादिक्रियासामर्थ्यमौष्ण्य भेदेनोच्यते[9]।

२० **व्यवहारनयवशात् सर्वेषाम्।७।** जीवादीना सर्वेषा पदार्थाना व्यवहारनयवशाज्जीव स्वामी। कि साधनो जीव ?

पारिणामिकभावसाधनो निश्चयतः।८। योऽसौ जीवात्मा पारिणामिकस्तत्साधनो जीवो निश्चयनयेन। तेन ह्यसावात्मान[10] सर्वकाल लभत इति।

औपशमिकादिभावसाधनश्च व्यवहारतः।९। व्यवहारनयवशात् औपशमिकादिभाव-
२५ साधनश्चेति व्यपदिश्यते। चशब्देन शुक्रशोणिताहारादिसाधनश्च। किमधिकरणो जीव ?

स्वप्रदेशाधिकरणो निश्चयतः।१०। योऽसौ स्वप्रदेशोऽसख्यातस्वरूप. कर्मकृतशरीर-परिमाणानुविधायित्वेऽप्यपरिप्राप्तहीनाधिकभाव, तदधिकरणो जीव, स्वात्मप्रतिष्ठाकाशवत्।

व्यवहारतः शरीराद्यधिष्ठानः।११। कर्मोपात्त शरीरम् [11]इतरच्चाधिकरण[12]मात्मा व्यवहारनयवशादधितिष्ठतीत्युच्यते। कि स्थितिको जीव. ?

३० **स्थितिस्तस्य द्रव्यपर्यायापेक्षाऽनाद्यवसाना समयादिका च।१२।** तस्य जीवस्य स्थितिर्द्रव्यपर्यायापेक्षा द्विधा कल्प्यते। द्रव्यापेक्षाऽनाद्यवसाना, जीवद्रव्य हि चैतन्यजीवद्रव्योपयोगाऽस-

---

१ जीवादिस्वरूपनिश्चयः। २ उत्पत्तिनिमित्तमित्यर्थः। ३ आद्यादित्वात्, वृश्यन्तेऽप्यतोऽपि इति वा तसिः। ४ तावदुच्यते को आ०, ब०, द०, मु०। ५ आदिशब्देन स्थापनाद्रव्ये गृह्यंते। ६ द्रव्यपर्यायस्य। ७ स्वामीति शेषः —श्र० टि०। जीवः स्वामी तत्प— आ०, ब०, मु०, भा० २। ८ परिणामः, अस्याय परिणाम इति व्यपदिश्यते। अस्य परिणामस्य अयं जीवः स्वामीति व्यपदिश्यत इत्यर्थः। ९ अग्नेरौष्ण्यमिति। १० स्वस्वरूपम्। ११ स्वर्गादि। शरीरमेतच्चाधि— आ०, ब०, द०, मु०। १२ शीङस्थासादेराधारः इति द्वितीया।

ख्येयप्रदेशादिसामान्यादेशान्न प्रच्यवते सर्वकालमिति। पर्यायस्त्वन्यश्चान्यश्च भवति, तदपेक्षा समयादिका कल्प्यते। किमस्य विधानम्?

नारकादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रकारो जीवः।१३। नारकादय [1]सख्येया [2]असख्येया [3]अनन्ताश्च प्रकारा भिद्यन्ते जीवस्य।

[4]तथैवेतरेषामागमाविरोधात् निर्देशादिवचनम्।१४। तेनैव प्रकारेण आगमाविरोधेन इतरेषामजीवादीना निर्देशादयो वक्तव्या[5]। तद्यथा–[6]अजीवस्तावद्दशप्राणपर्यायरहित नामादिश्च। अजीवात्मैव अजीवस्य स्वामी, जीवो वा भोक्तृत्वात्। पुद्गलानाम् अणुत्वादिसाधन भेदादि, तन्निमित्तं वा कालादि। धर्माधर्मकालाकाशाना गतिस्थितिवर्तनावगाहहेतुता पारिणामिकी अगुरुलघुगुणानुगृहीता, स्वात्मभूतसत्ता [7]सबद्धा जीवपुद्गला वा[8] तदपेक्षत्वाद् गत्यादिहेतुताभिव्यक्ते। स्वात्मैवाधिकरण सर्वद्रव्याणा स्वात्मव्यवस्थितत्वात्, आकाश साधारणम्, असाधारण च [9]घटादिर्जलादीनाम्। स्थितिर्द्रव्यापेक्षाऽनाद्यवसाना, पर्यायापेक्षा समयादिका। विधान धर्मादित्रिक प्रतिनियतानादिपारिणामिकद्रव्यार्थादेशादेकैकम्, [10]पर्यायार्थिकनयादेशादनेकम्, सख्येयासख्येयानन्ताना [11]द्रव्याणा गतिस्थित्यवगाहनाद्युपकार[12]पर्यायादेशात् स्यादेक स्यादनेक स्यात्सख्येय स्यादसख्येय स्यादनन्तम्। काल सख्येयोऽसख्येयोऽनन्तश्च भवति[13] परप्रत्ययात्[14]। पुद्गलद्रव्य रूपस्पर्शादिपारिणामिकद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकम्, प्रतिनियतैकानेकसख्येयासख्येयानन्तप्रदेशपर्यायादेशात् स्यादनेक स्यात्सख्येय स्यादसख्येय स्यादनन्तम्।

आस्रवनिर्देश –कायवाङ्मन क्रियापरिणामो नामादिर्वा। जीवोऽस्य स्वामी, कर्म वा तन्निमित्तत्वात्। [15]स्वात्मैव साधन शुद्धस्य तदभावात, कर्म वा सति तस्मिन् प्रवृत्ते। अधिकरणम् [16]आत्मन्येवासौ[17] तत्र तत्फलदर्शनात्, कर्मणि कर्मकृते च कायादावुपचारत। स्थिति वाङ्मनसास्रवयोर्जघन्येनैकसमय, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः; कायास्रवस्य जघन्येनान्तमुहूर्तः उत्कर्षेणानन्तः [18]कालः, असख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। विधानम् वाङ्मनसास्रवयोश्चतुर्विकल्पसख्य सत्यमृषोभयानुभयभेदात्। कायास्रव सप्तविध औदारिकवैक्रियिकाहारकमिश्रकार्मणभेदात्। औदारिकौदारिकमिश्रकौ मनुष्यतिरश्चाम्। वैक्रियिकवैक्रियिकमिश्रकौ देवनारकाणाम्। आहारकाहारकमिश्रकौ सयतानाम् ऋद्धिप्राप्तानाम्। कार्मणकायास्रवो [19]विग्रहापन्नाना केवलिना वा समुद्घातगतानाम्। अथवा, आस्रवस्य प्रकार शुभाऽशुभ। तत्र कायिको हिसाऽनृतस्तेयाब्रह्मादिषु प्रवृत्तिनिवृत्तिसज्ञ। वाचिक परुषाक्रोशपिशुनपरोपघातादिषु वचस्सु प्रवृत्तिनिवृत्तिसज्ञ। मानसो [20]मिथ्याश्रुत्यभिघातेर्ष्यासूयादिषु[21] मनसः प्रवृत्तिनिवृत्तिसज्ञः।

बन्धनिर्देश–जीवकर्मप्रदेशान्योन्यसश्लेषो बन्धः, नामादिर्वा। स जीवस्य तत्र तत्फलदर्शनात्, कर्मणश्च तस्य द्विष्ठत्वात्। मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धस्य साधनम्, तत्परिणतो वा आत्मा। स्वामिसबन्धार्हमेव वस्त्वधिकरण भवति, विवक्षातः कारकप्रवृत्तेः।

---

१ श्रुतकेवलिभिः। २ अवधिज्ञानिभि। ३ केवलज्ञानिभिः। ४ तथेतरे– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ५ व्याख्येयाः। ६ अजीवद्रव्यस्य तु दशप्राणरहितत्वमेव भावपर्यायत्वम्। ७ सम्बन्धात् जी– मु०। सम्बन्धा जी– आ०, ब०, द०। ८ साधनम्। ९ अधिकरणम्। १० अर्थपर्याय। ११ जीवपुद्गलादीनाम्। १२ व्यञ्जनपर्याय। १३ संख्येयासख्येयानन्तजीवपुद्गलान् प्रति। १४ जीवपुद्गलादेः पराधीनत्वात्। १५ स्वस्य व्यापारवानात्मैव आस्रवस्य, व्यापारवान् जीवः आस्रवस्य साधनमित्यर्थः। १६ आत्मैवासौ मु०। १७ आस्रवः। १८ –णानन्तकालः आ०, ब०, द०, मु०। १९ विग्रहगतिमाप– आ०, ब०। २० मिथ्याश्रुतेर्ष्या– आ०, ब०, द०, मु०। २१ अक्षान्तिरीर्ष्याऽसूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि।

स्थितिर्जघन्या उत्कृष्टा च। तत्र जघन्या वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ताः। नामगोत्रयोरष्टौ। शेषाणामन्तर्मुहूर्ताः। उत्कृष्टा ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः। मोहनीयस्य सप्ततिः। नामगोत्रयोर्विंशतिः। त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः। अथवा बन्धसन्तानपर्यायादेशात् स्यादनादिरनिधनश्चाभव्यानाम्, भव्यानां च केषाञ्चित् ये अनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यन्ति। ज्ञानावरणादिकर्मोत्पादविनाशात् स्यात्सादि सनिधनश्च। विधानम्–[1]बन्धः सामान्यादेशात् एकः, द्विविधः शुभाशुभभेदात्, त्रिधा द्रव्यभावोभयविकल्पात्, चतुर्धा प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात्, पञ्चधा मिथ्यादर्शनादिहेतुभेदात्, षोढा नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावैः, सप्तधा तैरेव भवाधिकैः, अष्टधा ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिभेदात्। एव [2]सख्येयाऽसख्येयानन्तविकल्पश्च भवति हेतुफलभेदात्।

संवरनिर्देश–आस्रवनिरोध नामादिर्वा। जीवोऽस्य स्वामी, कर्म वा निरुध्यमानविषयत्वात्। निरोधस्य साधन गुप्तिसमितिधर्मादय। 'स्वामिसबन्धार्हमेवाधिकरणम्' इत्युक्तम्। स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहर्ता, उत्कृष्टा पूर्वकोटी देशोना। विधानम् एकादिरष्टोत्तरशतविध, तत उत्तरश्च सख्येयादिविकल्पो निरोध्यनिरोधकभेदाद्वेदितव्य। तत्राष्टोत्तरशतविध उच्यते–तिस्रो गुप्तय, पञ्च समितय, धर्मो दशविध, अनुप्रेक्षा द्वादश, परीषहा द्वाविंशति, तपो द्वादशविधम्, प्रायश्चित्त नवविधम्, विनयश्चतुर्विध, वैयावृत्य दशविधम्, स्वाध्याय पञ्चविध, व्युत्सर्गो द्विविध, धर्मध्यान दशविधम्, शुक्लध्यान चतुर्विधमिति।

निर्जरानिर्देश–यथाविपाकात्तपसो वा उपभुक्तवीर्य कर्म निर्जरा, नामादिर्वा। सा आत्मन कर्मणो वा द्रव्यभावभेदात्। साधन तपो यथाकर्मविपाकश्च। अधिकरणमात्मा निर्जरात्मैव वा। स्थितिर्जघन्येनैकसमय उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त, सादि सपर्यवसाना वा। विधानम् सामान्यादेका निर्जरा, द्विविधा यथाकालौपक्रमिकभेदात्, अष्टधा मूलकर्मप्रकृतिभेदात्। एव सख्येयाऽसख्येयानन्तविकल्पा भवति कर्मरस[3]निर्हरणभेदात्।

मोक्षनिर्देश–कृत्स्नकर्मसक्षयो मोक्ष, नामादिर्वा। तस्य स्वामी परमात्मा मोक्षात्मैव वा। साधन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। स्वामिसबन्धार्हमेवाधिकरण तद्विषयत्वात्। स्थितिस्तस्य सादिरनिधना। विधानम्–सामान्यादेको मोक्ष, द्रव्यभावमोक्तव्यभेदाद[4]नेकोऽपि।

सम्यग्दर्शननिर्देश–तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन नामादिर्वा। तत्पुनरात्मन स्वस्यैव वा। दर्शनमोहोपशमादि साधनम्, बाह्य चोपदेशादि, स्वात्मा वा। स्वामिसबन्धभागेवाधिकरणम्। स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्ता, उत्कर्षेण[5] षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि। अथवा सादिसनिधनमौपशमिकक्षायोपशमिकम्, साद्यनिधन क्षायिकम्। विधानम् सामान्यादेकम्, द्विधा निसर्गजाधिगमजभेदात्, त्रिधौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकविकल्पात्। एव [6]सख्येयासख्येया[7]नन्तविकल्प च भवत्यध्यवसाय[8]भेदात्।

ज्ञाननिर्देश–जीवादितत्त्वप्रकाशन ज्ञान नामादिर्वा। तत् आत्मन स्वाकारस्य वा। ज्ञानावरणादिकर्मक्षयोपशमादि साधनम्, स्वाविर्भावशक्तिर्वा। अधिकरणम्–आत्मा स्वाकारो

---

१ बन्धसा– आ०, ब०, ता०। २ संख्येया असंख्येया अनन्तविकल्पाश्च भवन्ति आ०, ब०, मु०। ३ –निर्हणभे– ता०। ४ नेकः स– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ५ वेदकसम्यक्त्वं प्रति। लांतवकप्पे तेरस अच्चुदकप्पे य होंति बावीसा। उवरिम एक्कत्तीसं एवं सव्वाणि छावट्ठी। ६ शब्दतः संख्येयपिकल्पम्। ७ श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात्। ८ –सान भे– आ०, ब०, द०, मु०, । रुचिविकल्पात्।

वा तत्र प्रतिष्ठानात्। स्थिति.–सादिसनिधन क्षायोपशमिक ज्ञान [1]चतुर्विकल्पम्, साद्यनिधन क्षायिकम्। विधानम्–सामान्यादेक ज्ञानम्, प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विधा, द्रव्यगुणपर्यायविषयभेदात् त्रिधा, नामादिविकल्पाच्चतुर्धा, मत्यादिभेदात् पञ्चधा। इत्येव सख्येयासंख्येयानन्तविकल्प च भवति ज्ञेयाकारपरिणतिभेदात्।

चारित्रनिर्देश– कर्मादानकारणनिवृत्तिश्चारित्रम्, नामादिर्वा। तत्पुनरात्मन स्वरूपस्य ५
वा। चारित्रमोहोपशमादि साधन स्वशक्तिर्वा। स्वामिसबन्धभागेवाधिकरणम्। स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्ता, उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना। अथवा सादिसपर्यवसानम् औपशमिकक्षायोपशमिकम्, साद्यपर्यवसान क्षायिकम्, [2]शुद्धिव्यक्त्यपेक्षया। विधानम्–सामान्यादेकम्, द्विधा बाह्याभ्यन्तरनिवृत्तिभेदात्, त्रिधा औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकविकल्पात्, चतुर्धा [3]चतुर्थमभेदात्, पञ्चधा सामायिकादिविकल्पात्। इत्येव सख्येयासख्येयानन्तविकल्प च भवति १०
परिणामभेदात्।

'किमेतैरेव जीवादीनामधिगमो भवति उतान्योऽप्यधिगमोपायोऽस्ति' इति परिपृष्टः 'अस्ति' इत्याह–

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

'अधिगम' इत्यनुवर्तते। १५

प्रशंसादिषु सच्छब्दवृत्तेरिच्छातः सद्भावग्रहणम् ।१। सच्छब्द. प्रशसादिषु वर्तते। तद्यथा–प्रशसाया तावत् 'सत्पुरुष, सदश्व' [4] इति। क्वचिदस्तित्वे 'सन् घट, सन् पट' इति। क्वचित् 'प्रज्ञायमाने–प्रव्रजित सन् कथमनृत ब्रूयात्? 'प्रव्रजित' इति [5]प्रज्ञायमान इत्यर्थ। क्वचिदादरे 'सत्कृत्यातिथीन् भोजयति' 'आदृत्य' इत्यर्थ। तत्रेहेच्छात. [6]सद्भावे गृह्यते।

[7]अव्यभिचारात् सर्वमूलत्वाच्च तस्यादौ वचनम् ।२। सत्त्व हयव्यभिचारि सर्वपदार्थविषयत्वात्। नहि कश्चित्पदार्थ सत्ता व्यभिचरति। यदि व्यभिचरेत्; वाग्विज्ञानगोचरातीत स्यात्। गुणास्तु रूपादयो ज्ञानादयश्च केषुचित् सन्ति केषुचिन्न सन्ति। क्रिया च परिस्पन्दात्मिका जीवपुद्गलेष्वस्ति नेतरेष्विति न व्याप्तिमती। सर्वेषा च विचारार्हाणामस्तित्व मूलम्। तेन हि निश्चितस्य वस्तुन उत्तरा चिन्ता युज्यते। अतस्तस्यादौ वचन क्रियते। २०

सतः [8]परिमाणोपलब्धेः संख्योपदेशः ।३। सतो हि वस्तुन सख्याताऽसख्याताऽनन्तपरि- [9]माणोपलब्धे सख्याद्यन्यतमपरिमाणावधारणार्थं सख्या भेदलक्षणा उपदिश्यते। २५

निर्ज्ञातसंख्यस्य निवासविप्रतिपत्तेः क्षेत्राभिधानम् ।४। निश्चयेन ज्ञातसख्यस्यार्थस्य ऊर्ध्वाधस्तिर्यङ्निवासविप्रतिपत्ते ऊर्ध्वाद्यन्यतमनिवासनिश्चयार्थ क्षेत्राभिधानम्।

अवस्थाविशेषस्य वैचित्र्यात् त्रिकालविषयोपश्लेषनिश्चयार्थं स्पर्शनम् ।५। [10]अवस्था- विशेषो विचित्र. त्र्यस्रचतुरस्रादि, तस्य त्रिकालविषयमुपश्लेषण स्पर्शनम्। [11]कस्यचित्तत्क्षेत्र- ३०

---

१ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययभेदात्। २ शुद्धव्यक्त्य– ता०। ३ चतुर्थमभे–मु०। चतुर्यतिभे– ता०, श्र०, मू०। रिति स्याता प्रमत्तमुख्येषु वं गुणेषु चतुर्षु। ४ सदश्वश्चेति मु०, द०, ता०। ५ प्रतिज्ञायमा– आ०, ब०, द०, मु०। ६ सद्भावो आ०, ब०, द०, ता०, मु०। ७ अव्यभिचारत्वात् श्र०। ८ परिणामो– आ०, ब०, द०, मु०। ९ विमानादेः। १० देवादेः।

मेव[1] स्पर्शनम्, [2]कस्यचिद् द्रव्यमेव,[3] [4]कस्यचिद् रज्जव षडष्टौ वेति एकसर्वजीवसन्निधौ, तन्निश्चयार्थं तदुच्यते ।

स्थितिमतोऽवधिपरिच्छेदार्थं कालोपादानम् ।६। 'स्थितिमतोऽर्थस्यावधि परिच्छेत्तव्य' इति कालोपादान क्रियते ।

अन्तरशब्दस्यानेकार्थवृत्तेः छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमग्रहणम् ।७। [अन्तर शब्दः] [5]बहुष्वर्थेषु दृष्टप्रयोग । क्वचिच्छिद्रे वर्तते सान्तर काष्ठम्, सच्छिद्रम् इति । क्वचिदन्यत्वे *"**द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते**[6]" [वैशे० सू० १।१।१०] इति । क्वचिन्मध्ये हिमवत्सागरान्तर इति । क्वचित्सामीप्ये 'स्फटिकस्य शुक्लरक्ताद्यन्तरस्थस्य तद्वर्णता' इति 'शुक्लरक्तसमीपस्थस्य' इति गम्यते । क्वचिद्विशेषे–

*"**वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम् । नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ।।**" [गरुडपु० ११०।१५] इति, महान् विशेष इत्यर्थ । क्वचिद् बहिर्योगे [7]'ग्रामस्यान्तरे कूपा' इति । क्वचिदुपसव्याने[8] अन्तरे 'शाटका' इति । क्वचिद्विरहे अनभिप्रेतश्रोतृजनान्तरे मन्त्र मन्त्रयते, तद्विरहे मन्त्रयते इत्यर्थ । तत्रेह[9] छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमो वेदितव्य ।

अनुपहतवीर्यस्य न्यग्भावे पुनरुद्भूतिदर्शनात्तद्वचनम् ।८। अनुपहतवीर्यस्य द्रव्यस्य [10]निमित्तवशात् कस्यचित् पर्यायस्य[11] न्यग्भावे सति पुर्ननिमित्तान्तरात् तस्यैवाविर्भावदर्शनात् तदन्तरमित्युच्यते ।

परिणामप्रकारनिर्णयार्थं भाववचनम् ।९। औपशमिकादि परिणामप्रकारो निर्णेतव्य इति भाववचन क्रियते ।

संख्याद्यन्यतमनिश्चयेऽपि अन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्पबहुत्ववचनम् ।१०। सख्याता-दिष्वन्यतमेन [12]परिमाणेन निश्चितानामन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्पबहुत्ववचन क्रियते–[13]इमे [14]एभ्योऽल्पा [15]इमे बहव' इति[16] । आह–

निर्देशवचनात् सत्त्वप्रसिद्धेरसद्ग्रहणम् ।११। निर्देशवचनादेव सत्त्व सिद्धम्, न ह्यसतो निर्देश इति, तस्माद् असद्ग्रहणम्–अनर्थक सद्ग्रहणमसद्ग्रहणम् ।

न वा, क्वास्ति क्व नास्तीति चतुर्दशमार्गणास्थानविशेषणार्थत्वात् ।१२। न वैष दोष । कि कारणम् ? नानेन सम्यग्दर्शनादे सामान्येन सत्त्वमुच्यते किन्तु गतीन्द्रियकायादिषु चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु 'क्वास्ति सम्यग्दर्शनादि, क्व नास्ति' इत्येव विशेषणार्थं सद्वचनम् ।

सर्वभावाधिगमहेतुत्वाच्च[17] ।१३। अधिकृताना सम्यग्दर्शनादीना जीवादीना च निर्देश-वचनेन अस्तित्वमधिगत स्यात्, ये त्वनधिकृता जीवपर्याया क्रोधादयो ये चाऽजीवपर्याया वर्णादयो घटादयश्च तेषामस्तित्वाधिगमार्थ पुनर्वचनम् ।

---

१ विमानादि । २ निगोदादेः । ३ कन्दादिः । ४ यः कश्चिज्जीवोऽस्मिल्लोके तपस्तप्त्वाऽच्युतकल्प उत्पन्नः ततश्च्युत्वाऽस्मिल्लोके जातः तस्य त्रिकालविषयं गमनागमन प्रति षड् रज्जवः स्पर्शनम् । तस्यैवातृतीयनरकात् त्रिकालविषय विहरणं प्रत्यष्टौ रज्जवः स्पर्शनम् । ५ अवकाशे क्षणे वस्त्रे बहिर्योगे व्यतिक्रमे । मध्येऽन्त.करणे रन्ध्रे विश्लेषे विरहेऽन्तरम् । इति भट्टधनञ्जय. । ६ उत्पादयन्ति । ७ अन्तरं बहिर्योगोपसव्यानयोरिति सर्वादि । ८ अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोऽशुके । ९ नरक-बिलादिषु छिद्रार्थः । १० मिथ्यात्वादिकारणवशात् । ११ सम्यग्दर्शनादेः । सम्यग्दर्शनादिनिमित्त-वशात् मिथ्यात्वादिपर्यायस्येत्यादि वा । १२ परिणामेन आ०, ब०, मु० । १३ उपशमसम्यग्दृष्टयः । १४ ससारिक्षायिकसम्यग्दृष्टिभ्यः । १५ क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयः । ततः सिद्धाः क्षायिकसम्यग्दृष्टयः । १६ एवं सर्वत्र योज्यम् । १७ –त्वात् भा० १ ।

अनधिकृतत्वादिति चेत्; न; सामर्थ्यात् ।१४। स्यादेतत्–अनधिकृतास्ते ततो न पुनर्युक्तमेषां ग्रहणमिति; तन्न; कि कारणम् ? सामर्थ्यात् तेषामपि ग्रहण भवति ।

विधानग्रहणात् संख्यासिद्धिरिति चेत्, न, भेदगणनार्थत्वात् ।१५। स्यादेतत्–विधानग्रहणादेव सख्यासिद्धिरिति; तन्न; कि कारणम् ? भेदगणनार्थत्वात् । [1]प्रकारगणन हि तत्, भेदगणनार्थमिदमुच्यते–'उपशमसम्यग्दृष्टय इयन्त , क्षायिकसम्यग्दृष्टय एतावन्त ' इति । ५

क्षेत्राधिकरणयोरभेद इति चेत्, न, उक्तत्वात् ।१६। स्यादेतत्–यदेवाधिकरण तदेव क्षेत्रम्, अतस्तयोरभेदात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; कि कारणम् ? उक्तार्थत्वात् । उक्तमेतत्–सर्वभावाधिगमार्थत्वादिति ।

क्षेत्रे सति स्पर्शनोपलब्धेरम्बुघटवत् पृथग्ग्रहणम् ।१७। यथेह सति घटे क्षेत्रे अम्बुनोऽवस्थानात् [2]नियमाद् घटस्पर्शनम्, नहचेतदस्ति–'घटे अम्बु अवतिष्ठते न च घट स्पृशति' १० इति । तथा आकाशक्षेत्रे जीवावस्थाना नियमादाकाशे स्पर्शनमिति क्षेत्राभिधानेनैव स्पर्शनस्यार्थगृहीतत्वात् पृथग्ग्रहणमनर्थकम् ।

न वा, विषयवाचित्वात् ।१८। नवैष दोष । कि कारणम् ? विषयवाचित्वात् । विषयवाची क्षेत्रशब्द , यथा राजा जनपदक्षेत्रेऽवतिष्ठते, न च कृत्स्न जनपद स्पृशति । स्पर्शन तु कृत्स्नविषयमिति । १५

त्रैकाल्यगोचरत्वाच्च ।१९। यथा साम्प्रतिकेनाम्बुना साप्रतिक घटक्षेत्र स्पृष्ट नातीतानागतम्, नैवमात्मन साप्रतिकक्षेत्रस्पर्शने स्पर्शनाभिप्राय , स्पर्शनस्य त्रिकालगोचरत्वात् ।

स्थितिकालयोरर्थान्तरत्वाभाव इति चेत्; न; मुख्यकालास्तित्वसंप्रत्ययार्थम् ।२०। स्यादेतत्–स्थितिरेव काल , काल एव च स्थितिरित्यतो नास्त्यनयोरर्थान्तरभाव इति; तन्न; कि कारणम् ? मुख्यकालास्तित्वसप्रत्ययार्थ पुन कालग्रहणम् । द्विविधो हि कालो मुख्यो २० व्यावहारिकश्चेति । तत्र मुख्यो निश्चयकाल । पर्यायिपर्यायावधिपरिच्छेदो व्यावहारिक । तयोरुत्तरत्र निर्णयो वक्ष्यते ।

उक्तं च ।२१। किमुक्तम् ? सर्वभावाधिगमहेतुत्वादिति ।

नामादिषु भावग्रहणात् पुनर्भावाग्रहणमिति चेत्; न; औपशमिकाद्यपेक्षत्वात् ।२२। स्यादेतत्–नामादिषु भावग्रहण कृत तेनैव सिद्धत्वात् पुनर्भावग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; कि २५ कारणम् ? औपशमिकाद्यपेक्षत्वात् । पूर्व भावग्रहण 'द्रव्य न भवति' इत्येवपरम्, इद तु औपशमिकादिवक्ष्यमाणभावापेक्षम्–'कि सम्यग्दर्शनमौपशमिक क्षायिकम्' इत्यादि ।

विनेयाशयवशो वा तत्त्वाधिगमहतुविकल्पः ।२३। अथवा, सर्वेषामेव परिहार–विनेयाशयवशो हि तत्त्वाधिगमहेतुविकल्पो वेदितव्य । केचित् सक्षेपेण प्रतिपाद्या , केचिद्विस्तरेण[3] केचिदनतिसक्षेपेण केचिदनतिविस्तरेण । इतरथा हि प्रमाणग्रहणादेव सिद्धेरितरेषामधिगमो- ३० पायाना ग्रहणमनर्थक स्यादिति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे प्रथमेऽध्याये पञ्चममाह्निकम् ॥५॥

---

१ संख्या हि गणनामात्ररूपा व्यापिनी, विधान तु प्रकारगणनारूपम् । तथोक्तम्– गणनामात्ररूपेयं संख्योक्ताऽतः कथञ्चन। भिन्ना विधानतो भेदगणनालक्षणादिह ॥ इति । २ तन्नि– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –ण इत– आ०, ब०, द०, मु० । –ण केचिदनतिसक्षेपेणानतिविस्तरेण इ– श्र० ।

एवं सम्यग्दर्शनस्यादावुद्दिष्टस्य[1] लक्षणोत्पत्तिस्वामिविषयन्यासाधिगमोपाया निर्दिष्टा, तत्सबन्धेन च जीवादीना सज्ञापरिणामादि[2]र्निर्दिष्ट । तदनन्तरमिदानी सम्यग्ज्ञान विचारार्हमित्याह–

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

५ मत्यादय इति क एते शब्दा ?

मतिशब्दो भावकर्तृकरणसाधनः ।१। अय मतिशब्दो भावकर्तृकरणेष्वन्यतमसाधनो वेदितव्य । मनेर्भावसाधने क्ति । तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमर्थस्य मनन मति औदासीन्येन तत्त्वकथनात् । बहुलापेक्षया कर्तृसाधन करणसाधनो वा, 'मनुतेऽर्थान् मन्यतेऽनेन' इति वा मति, भेदाभेदविवक्षोपपत्ते ।

१० **श्रुतशब्दः कर्मसाधनश्च ।२।** किञ्च पूर्वोक्तविषयसाधनश्चेति वर्तते । श्रुतावरणक्षयोपशमा[3]द्यन्तरङ्गबहिरङ्गहेतुसन्निधाने सति [4]श्रूयते स्मेति श्रुतम् । कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव [5]शृणोतीति श्रुतम् । भेदविवक्षाया श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्र वा ।

अवपूर्वस्य दधातेः कर्मादिसाधनः किः[6] ।३। कर्मादिषु साधनेष्वन्यतमे क्रिय वेदितव्य । अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसन्निधाने [7]सति अवाग् धीयते अवाग्दधाति अवाग्धानमात्र वाऽवधि । [8]अवशब्दोऽध पर्यायवचन, यथा 'अध क्षेपणम् अवक्षेपणम्' इति । [9]अधोगतभूयोद्रव्यविषयो ह्यवधि । अथवा, अवधिर्मर्यादा, अवधिना प्रतिबद्धं ज्ञानमवधिज्ञानम् । तथाहि वक्ष्यते– *"**रूपिष्ववधे**" [त० सू० १।२७] इति । [10]सर्वेषा प्रसङ्ग इति चेत्; न; रूढिवशाद् व्यवस्थोपपत्तेर्गोशब्द[11]प्रवृत्तिवत् ।

मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानं मनःपर्ययः ।४। तदावरणकर्मक्षयोपशमादिद्वितयनिमित्तवशात् परकीयमनोगतार्थज्ञान मन पर्यय । भावादिसाधनत्व पूर्ववद्वेदितव्यम् । कथ मन प्रतीत्य प्रतिसधाय वा ज्ञानमिति ? अत्रोच्यते–परकीयमनसि गतोऽर्थ 'मन.' इत्युच्यते, तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति । स च क. मनोगतोऽर्थ ? भावघटादि.,[12] तमर्थं समन्तादेत्य अवलम्ब्य वा स्वप्रसादादात्मनो ज्ञान मन पर्यय ।

मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत्; न; अपेक्षामात्रत्वात् ।५। स्यादेतत्–[13]मन पर्ययज्ञान मतिज्ञानं प्राप्तम् । कुत ? मनोनिमित्तत्वात् । एव ह्यार्षी प्रक्रिया[14] मनसा मन सपरिचिन्त्येति; तन्न; कि कारणम् ? अपेक्षामात्रत्वात् । स्वपरमनोऽपेक्षामात्र तत्र क्रियते यथा 'अभ्रे[15] चन्द्रमस पश्य' इति, न [16]तत्कार्य मतिज्ञानवत्, आत्मशुद्धिनिमित्तत्वादे[17]स्तस्येति ।

बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषान् यदर्थं केवन्ते तत्केवलम् ।६। तप क्रियाविशेषान् वाङ्मनसकायाश्रयान् [18]बाह्यानाभ्यन्तराश्च यदर्थमर्थिन केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम् ।

---

१ –दावुपदिष्टस्य ता०, श्र०, द०। २ –दि निर्दिष्टम् आ०, ब०, द०, मु०। ३ आदिशब्देन वीर्यान्तरायादिकस्य क्षयोपशमादिकं गृह्यते। ४ कर्मसाधनोऽयं ज्ञायते। स्वसंवेदनेन। ५ जानाति। ६ धोः किः इति। ७ सत्यवधीयते आ०, ब०, द०, मु०। अवशब्दार्थोद्योतकोऽयमवाक्शब्द·। ८ अवधिशब्दो मु०, द०, ब०, आ०, ता०, श्र०, मू०। ९ कल्पना स्यादि (?) भवप्रत्ययस्यापेक्षया व्युत्पत्तिरियं रूढिशब्दत्वादन्यत्रापि। १० मत्यादिमनःपर्ययान्तानाम्, तेषा मननमात्रसद्भावात्। ११ यथा गच्छतीति गौरित्युक्ते गमनक्रिया अश्वादिष्वपि वर्तते, न गोष्ठे (स्थितायां गवि?)। १२ ज्ञानविषयत्वात्। १३–पर्यायश्र०। १४ तुलना–"मणेण माणसं पडिविंदइत्ता···"–महाबंध पु० २४। १५ मेघे। १६ मनसः। १७ –देवतस्येति ता०, श्र०। १८ बाह्याभ्यन्तरा– ता०, श्र०, द०।

अव्युत्पन्नो वाऽसहायार्थः केवलशब्दः ।७। 'यथा केवलमन्न भुङ्क्ते देवदत्तः' इति 'असहायं व्यञ्जनरहित भुङ्क्ते' इति गम्यते, तथा क्षायोपशमिकज्ञानासपृक्तम् असहाय केवलम् इत्यव्युत्पन्नोऽय शब्दो द्रष्टव्य ।

करणादिसाधनो ज्ञानशब्दो व्याख्यातः ।८। अय ज्ञानशब्द करणादिसाधन इति व्याख्यात पुरस्तात् ।

इतरेषां तदभावः ।९। इतरेषामेकान्तवादिना तस्य ज्ञानस्य करणादिसाधनत्व नोपपद्यते। तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

आत्माभावे ज्ञानस्य करणादित्वानुपपत्तिः कर्तुरभावात् ।१०। येषामात्मा न विद्यते तेषां ज्ञानस्य करणादित्वं नोपपद्यते। कुत ? कर्तुरभावात्। सति हि देवदत्ते छेत्तरि परशो करणत्वं दृष्टम्। तथा चात्मन्यसति नास्य[1] करणत्वम्। तत एव भावसाधनत्वमपि नोपपद्यते– 'ज्ञातिर्ज्ञानम्' इति। न ह्यसति भाववति[2] भाव इति।

स्यादेतत्–जानातीति ज्ञानमिति कर्तृसाधनत्वमिति; तन्न; निरीहकत्वात्[3]। न हि निरीहको भाव कर्तृत्वमास्कन्दति। निरीहकाश्च[4] सर्वे भावा ।

किञ्च, पूर्वोत्तरापेक्षस्य लोके कर्तृत्व दृष्टम्। न च तस्य ज्ञानस्य पूर्वोत्तरापेक्षास्ति क्षणिकत्वात्, अतो निरपेक्षस्य कर्तृत्वाभाव ।

किञ्च, करणव्यापरापेक्षस्य लोके कर्तृत्व दृष्टम्। न च ज्ञानस्यान्यत् करणमस्ति। अतोऽस्य कर्तृत्वमपि नोपपद्यते। स्वशक्तिरेव करणमिति चेत्; न; शक्तिशक्तिमद्भेदाभ्युपगमे आत्मास्तित्वसिद्धे । अभेदे च स [5]दोपस्तदवस्थ एवेति। सन्तानापेक्षया कर्तृकरणभेदोपचार इति चेत्; न; परमार्थविपरीतत्वे मृषावादोपपत्ते, भेदाभेदविकल्पनयोरुक्तदोषप्रसङ्गाच्च। मनश्चेन्द्रियञ्चास्य करणमिति चेत्; न; तस्य तच्छक्त्यभावात्। मनस्तावन्न करणम्; विनष्टत्वात् *"**षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः**" [अभिध०१।१७] इति वचनात्। नेन्द्रियमप्यतीतम्; तत[6] एव। नाप्युपजायमानस्य[7] करणत्वम्। नहि सव्यविषाण युगपदुपजायमानमितरस्य विषाणस्य करण भवति ।

किञ्च, प्रकृत्यर्थादन्यस्याभावात्। 'ज्ञा' इत्यस्या प्रकृतेरवबोधनमर्थ, न तस्मादन्यः कश्चिदर्थोऽस्ति यः कर्तृत्वमनुभवेत्, अतोऽस्य कर्तृत्वाभाव ।

किञ्च, एकक्षणविषय यत्कर्तृत्व तदनेकक्षणगोचरोच्चारणलब्धजन्मना कर्तृशब्देन कथमुच्यते ? कथ वाऽयमेकक्षणेऽसन् वाचक स्यात् ? सन्तानावस्थानाद् वाच्यवाचक[8]भावसबन्ध इति चेत्; न; तस्य [9]प्रतिविहितत्वात् ।

अथ मतमेतत्–खात्पतिता नो रत्नवृष्टि., अवाच्यमेव हि तत्त्वमिष्यते। अव्यापारेषु हि सर्वधर्मेषु वाग्व्यवहारो नास्त्येवेति; तदपि नोपपद्यते; स्ववचनविरोधात्, तत्त्वप्रतिपत्त्युपायापह्नवप्रसङ्गाच्च ।

किञ्च, जानातीति ज्ञानमिति कर्तृसाधनत्व नोपपद्यते। कुत ? विशेषानुपलब्धेः।

---

१ ज्ञानस्य । २ आत्मनि । आत्माभावे तद्धर्मो न घटत इति यावत्– ता० टि०। ३ निर्व्यापारत्वात्, वाञ्छा तावदात्मन्येव वर्तते न तु ज्ञाने –ता० टि०। ४ यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः। न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥ इति भवन्मते प्रतिपादनात्। ५ कर्तृत्वाभावदोष.। ६ "चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायमनोविज्ञानानाम् अनन्तरमतीतं (पूर्वकालिक) च यद्विज्ञान तदेव मन इत्युच्यते। यथैक एव पुरुषः पितापि पुत्रोपि, एकमेव बीजं धान्यमपि बीजमपि।"– अभि० व्या० १।१७। सम्या०– । ७ विनष्टत्वादेव । ८ युगपत् –ता० टि०। ९ –क स– श्र०। १० निराकृतत्वात्।

येन हि कर्तृसाधनत्वमवगत करणादिसाधनत्व च तेनेद युज्यते वक्तुम्–'कर्तृसाधनमिदं न करणादिसाधनम्' इति । नच क्षणिकवादिनः प्रत्यर्थवशवर्तिज्ञानविकल्पनायाम् अनवधारितोभयस्वभावस्य तद्विशेषोपलब्धिरस्ति । न हि शुक्लेतरविशेषानभिज्ञस्य 'शुक्लमिद न नीलादि' इति विशेषणमुपपद्यते ।

५ **अस्तित्वेऽप्यविक्रियस्य तदभावः, अनभिसंबन्धात् ।११।** आत्मनः अस्तित्वेऽपि ज्ञानस्य [1]करणाद्यभावः । कुतः ? अनभिसबन्धात् । [2]यस्य मतम्–आत्मनो ज्ञानाख्यो गुणः, तस्माच्चार्थान्तरभूतः, *"**आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् यन्निष्पद्यते तदन्यत्**" [वैशे० सू० ३।१।१८] इति वचनादिति; तस्य ज्ञान करण न भवितुमर्हति । कुतः ? पृथगात्मलाभाभावात् । दृष्टो हि लोके छेत्तुर्देवदत्ताद् अर्थान्तरभूतस्य परशोः तैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्यादिविशेषलक्षणोपेतस्य
१० सतः करणभावः, नच तथा ज्ञानस्य स्वरूप पृथगुपलभामहे ।

किञ्च, अपेक्षाभावात् । दृष्टो हि परशोः देवदत्ताधिष्ठितो[3]द्यमननिपातनापेक्षस्य करणभावः, न च तथा ज्ञानेन किञ्चित्कर्तृसा[4]ध्य क्रियान्तर[5]मपेक्ष्यमस्ति ।

किञ्च, तत्परिणामाभावात् । छेदनक्रियापरिणतेन हि देवदत्तेन तत्क्रियायाः साधिव्ये नियुज्यमानः परशुः 'करणम्' इत्येतद्युक्तम्, न च तथा आत्मा ज्ञानक्रियापरिणतः ।

१५ [6]अर्थान्तरत्वे तस्याज्ञत्वात् । इह यज्ज्ञानादन्यद्भवति तदज्ञ दृष्ट यथा घटादिद्रव्यम्, तथा च ज्ञानादन्य आत्मा इत्यज्ञत्वप्रसङ्गः । ज्ञानयोगाज्ज्ञत्व दृष्टत्वात् दण्डिवदिति चेत्; न; तत्स्वभावाभावे सबन्धनियमानुपपत्तिः इन्द्रियमनोवत् । ज्ञस्वभावाभावे सति 'आत्मन्येव योगो न मनसेन्द्रियेण वा' इति नियमाभावः । युतसिद्धयोश्च दण्डदण्डिनोः सबन्धः, दण्डस्य च प्रसिद्धस्य सतो विशेषणमात्रत्वेनोपादानात्, आत्मनश्च तदुत्पत्तौ हिताहितविचारणाक्रिया[7]-
२० नुपपत्तेरसाम्यम् । उभयोश्चाज्ञयोः सबन्धेऽप्यज्ञत्वप्रसङ्ग , दृष्टत्वात्, जात्यन्धयोः सबन्धे दर्शनशक्त्यभावात् ।

किञ्च, इन्द्रियमनःप्रसङ्गात् । यदि 'ज्ञायतेऽनेन ज्ञानम्' इति करणमभ्युपगम्यते, तेनेन्द्रियाणा मनसश्च [8]ज्ञानत्वप्रसङ्ग· विशेषाभावात्, तैरपि ज्ञायत इति ।

किञ्च, उभयोर्निष्क्रियत्वात्। सर्वगतस्य तावदात्मनः क्रिया नास्ति, नापि ज्ञानस्य ।
२५ *"**क्रियावत्त्वं द्रव्यस्यैव 'लक्षणम्**" [ ] इति वचनात् । ततः क्रियाविरहितस्य कथ कर्तृत्व करणत्व वा स्यात् ?

[9]यस्यापि [10]मतम्–'अनित्यगुणव्यतिरेकाच्छुद्धः पुरुषो नित्यश्च निर्विकारत्वात्' इति; तस्य ज्ञान करण न भवतुमर्हति । कुतः ? अनभिसबन्धात् । या बुद्धिः इन्द्रियमनोऽहङ्कारमहद्वृत्त्युपनीता आलोचनसकल्पाभिमान[11]व्यवसायरूपा सा प्रकृतिः, पुरुषः पुनरविक्रियः[12]
३० शुद्धश्च, तस्य सा करण कथ स्यात् ? क्रियापरिणतस्य हि देवदत्तस्य लोके करणसप्रयोगो दृष्टः । इत्येवमादि योज्यम् ।

नापि कर्तृसाधनत्व युज्यते । लोके हि करणत्वेन प्रसिद्धरयासेः तत्प्रशसापरायामभिधानप्रवृत्तौ [13]समीक्षितायां 'तैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्याहितविशेषोऽयमेव छिनत्ति' इति कर्तृधर्मा-

---

१ करणत्वाभाव इति वा पाठ –श्र० टि० । २ वैशेषिकस्य । ३ उत्पतन । ४ –र सम्रपेक्ष्य– मु०, द०, आ०, ब० । ५ अन्यत्वे । ६ –क्रियोपपत्ते– आ०, ब०, द०, मु० । ७ ज्ञानप्र– श्र०, ता० । ८ तुलना–"क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" –वैशे० सू० १।१।१५ । ९ साख्यस्यापि । १० मतमन्यत् गु– आ०, ब०, द०, मु० । ११ नित्यत्वात् । १२ विवक्षितायाम् ।

ध्यारोपः क्रियते, न च तथा ज्ञान करणत्वेन प्रसिद्धमस्ति पूर्वदोषोपपत्तेः। अतोऽस्य कर्तृत्वमयुक्तम्।

नच भावसाधनत्वमुपपत्तिमत्; अविक्रियस्य तत्परिणामाभावात्। विक्रियास्वभावस्य[1] हि वस्तुनस्तण्डुलादे· विक्लेदादिदर्शनात्, 'पचन पाकः' इत्येवमादि भावनिर्देशो युक्तः नाकाशस्येति। ५

किञ्च, फलाभावात्। ज्ञान हि प्रमाणमिष्टम्। प्रमाणेन च फलवता भवितव्यम्। न चावबोधनमन्तरेण फलमन्यदुपलभ्यते। तस्मादन्येन ज्ञानेन भवितव्य यस्मिन् सति सा ज्ञातिरवबोधः फलमात्मनो भवति, तच्च नास्यतो न भावसाधनत्वम्।

अधिगमश्चात्र न भावान्तरमिति 'फले प्रामाण्योपचारः' इति चाऽयुक्तम्; मुख्याभावात्। आकारभेदात् फलप्रमाणपरिकल्पना चाऽयुक्ता; आकाराकारवतोर्भेदाभेदयोरनेकदोषोपपत्तेः। निर्विकल्पकत्वाच्च तत्त्वस्य आकारकल्पनाभावः। बाह्यवस्त्वाकारोपोहे अन्तरङ्गाकारानुपपत्तिश्चेति। जैनेन्द्राणा तु परमर्षिसर्वज्ञप्रणीतनयभङ्गगहनप्रपञ्चविपश्चिता स्याद्वादप्रकाशोन्मीलितज्ञानचक्षुषाम् एकस्मिन्नप्यर्थेऽनेकपर्यायसभवादुपपद्यते इति [2]विमृष्टार्थमेतत्। १०

मत्यादीनां ज्ञानशब्देन प्रत्येकमभिसंबन्धो भुजिवत्।१२। यथा 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्ताम्' इति देवदत्तादीना भुजिना प्रत्येकमभिसबन्धो भवति, एवमिहापि प्रत्येकमभिसबन्धः—'मतिज्ञान श्रुतज्ञानमवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञानम्' इति। सत्यपि [3]तत्सामानाधिकरण्ये 'उपात्तलिङ्गसख्या[4]त्वात्त[5]लिङ्गसख्योपादान नास्ति' इत्युक्त पुरस्तात्। १५

स्वन्तत्वाद् अल्पाच्तरत्वाद् अल्पविषयत्वाच्च मतिग्रहणमादौ।१३। 'मति' इत्येतत् पद स्वन्तम्[6] अल्पाच्तर च अवध्यादिभ्यो विषयश्चास्याल्पः चक्षुरादीना प्रतिनियतविषयत्वात्, तस्मादस्यादौ ग्रहण क्रियते। २०

तदनन्तरम् [7]श्रुतम् तत्पूर्वकत्वात्।१४। *"**मतिपूर्वं** हि **श्रुतम्**" [त० सू० १।२०] इति वक्ष्यते। ततस्तदनन्तर श्रुत क्रियते। इतश्च[8]—

विषयनिबन्धनतुल्यत्वाच्च।१५। *"**मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु**" [त० सू० १।२६] इति वक्ष्यते, अतस्तत्तुल्यत्वाच्च तदनन्तर श्रुतम्। २५

तत्सहायत्वाच्च।१६। यथा नारदपर्वतयो सहायत्वात् यत्र नारदस्तत्र पर्वत, यत्र पर्वतस्तत्र नारद परस्परापरित्यागात्, तथा मतिश्रुतयो परस्परापरित्याग—'यत्र मतिस्तत्र श्रुत यत्र श्रुत तत्र मति' इति।

प्रत्यक्षत्रयस्यादाववधिवचनम्, विशुद्धचभावात्।१७। सत्यपि मतिश्रुताभ्या प्रत्यक्षत्वाद् [9]विशुद्धत्वेऽवधे औपरिष्ट[10] प्रत्यक्षज्ञानमपेक्ष्यावधिर्न विशुद्धस्ततोऽस्य प्रागुपन्यास। ३०

ततो विशुद्धतरत्वात् मनःपर्ययग्रहणम्।१८। ततोऽवधेर्मन पर्ययज्ञान विशुद्धतरम्। [11]किं कृतोऽस्य विशुद्धिप्रकर्ष ? सयमगुणसन्निधानकृत। अतोऽस्य तदनन्तर ग्रहणम्।

अन्ते केवलग्रहणम्, ततः परं ज्ञानप्रकर्षाभावात्।१९। सर्वेषा ज्ञानाना परिच्छेदने

---

१ —स्वाभाव्यस्य श्र०। २ परामृष्टार्थम्। ३ मत्यादिभिः। ४ ज्ञानस्य। ५ मत्यादि। ६ स्वमते इदुदन्तस्य सुरिति संज्ञा। धिसज्ञकमित्यर्थः —सम्पा०। ७ श्रुत तत्पूर्वं हि आ०, ब०, द०, मु०। ८ वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः। ९ —शुद्धित्वे ता०, श्र०। १० औपविष्टम् आ०, मु०, द०। उपरिभवम्। ११ केन कृतः।

[1]केवलस्य सामर्थ्यात्, अस्य चान्येन ज्ञानेनाऽपरिच्छेद्यत्वात् नातोऽन्यत्प्रकृष्ट ज्ञानमस्तीति, तत परं ज्ञानप्रकर्षाभाव ।

तेनैव सह निर्वाणाच्च ।२०। यतश्च केवलेनैव सह निर्वाणं न क्षायोपशमिकज्ञानैः सह, अतोऽस्ते केवलग्रहणम् । कश्चिदाह–

मतिश्रुतयोरेकत्वम्, साहचर्यादेकत्रावस्थानाच्चाऽविशेषात् ।२१। मतिश्रुतयोरेकत्व प्राप्नोति । कुत ? साहचर्यात्, एकत्रावस्थानाच्च अविशेषात् ।

न; अतस्तत्सिद्धेः ।२२। नाविशेष ! कुत ? अतस्तत्सिद्धे । यत एव मतिश्रुतयो साहचर्यमेकत्रावस्थान चोच्यते अत एव [2]विशेष सिद्ध । प्रतिनियतविशेषसिद्धयोर्हि साहचर्यमेकत्रावस्थान च युज्यते, नान्यथेति ।

तत्पूर्वकत्वाच्च ।२३। *"**मतिपूर्वं श्रुतम्**" [त० सू० १।२०] इति वक्ष्यते । ततश्चानयोर्विशेष । यत्पूर्व यच्च पश्चात्तयो कथमविशेष ?

तत एवाविशेषः, कारणसदृशत्वात् युगपद्वृत्तेश्चेति चेत्; न, अत एव नानात्वात् ।२४। स्यादेतत्–यतो मतिपूर्वकत्वमत एवाविशेष । कुत ? कारणसदृशत्वात् कार्यस्य । कथम् ? तन्तुपटवत् । यथा शुक्लादितन्तुकार्यं पटद्रव्य शुक्लादिगुणमेव, तथा मतिकार्यत्वाच्छ्रुतस्यापि मत्यात्मकत्वम् । युगपद्वृत्तेश्च । यथा अग्नौ औष्ण्यप्रकाशनयोर्युगपद्वृत्ते अग्न्यात्मकत्वम्, तथा सम्यग्दर्शनाविर्भावानन्तर युगपन्मतिश्रुतयोर्ज्ञानव्यपदेश[3]वृत्तेरविशेष इति; तन्न; किं कारणम्? अत एव नानात्वात् । यत एव कारणसदृशत्व युगपद्वृत्तिश्च चोद्यते अत एव नानात्व सिद्धम् । द्वयोर्हि सादृश्यं [4]युगपद्वृत्तिश्चेति ।

विषयाविशेषादिति चेत्, न; ग्रहणभेदात् ।२५। स्यादेतत्–विषयाविशेषात् मतिश्रुतयोरेकत्वम् । एव हि वक्ष्यते–*"**मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु**" [त० सू० १।२६] इति; तन्न, किं कारणम् ? ग्रहणभेदात् । अन्यथा हि मत्या गृह्यते अन्यथा श्रुतेन । यो हि मन्यते 'विषयाभेदादविशेष' इति; तस्य एकघटविषयदर्शनस्पर्शनाविशेष स्यात् ।

उभयोरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वादिति चेत्, न, असिद्धत्वात् ।२६। स्यादेतत्–उभयोरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वादेकत्वम् । मतिज्ञान [5]तावत् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति प्रतीतम्, श्रुतमपि वक्तृश्रोतृजिह्वाश्रवणनिमित्तत्वादन्त करणनिमित्तत्वाच्च तदुभयनिमित्तमिति; तन्न; किं कारणम् ? असिद्धत्वात् । जिह्वा हि शब्दोच्चारक्रियाया निमित्त न ज्ञानस्य, श्रवणमपि स्वविषयमतिज्ञाननिमित्त न श्रुतस्य, इत्युभयनिमित्तत्वमसिद्धम् । सिद्धो हि हेतुः साध्यमर्थं साधयेन्नासिद्धः । किन्निमित्त तर्हि श्रुतम् ?

अनिन्द्रियनिमित्तोऽर्थावगमः श्रुतम् ।२७। इन्द्रियानिन्द्रियबलाधानात् पूर्वमुपलब्धेऽर्थे नोइन्द्रियप्राधान्यात् यदुत्पद्यते ज्ञान तत् श्रुतम् ।

ईहादिप्रसङ्ग इति चेत्; न; अवगृहीतमात्रविषयत्वात् ।२८। स्यादेतत्–ईहादीनामपि श्रुतव्यपदेशः प्राप्त., तेऽप्यनिन्द्रियनिमित्ता इति; तन्न; किं कारणम् ? अवगृहीतमात्रविषयत्वात् । इन्द्रियेणावगृहीतो योऽर्थस्तन्मात्रविषया ईहादयः, श्रुतं पुनर्न तद्विषयम् । किं विषयं तर्हि श्रुतम् ? अपूर्वविषयम् । एक घटमिन्द्रियानिन्द्रियाभ्या निश्चित्याऽय घट इति तज्जातीयमन्यमनेकदेशकालरूपादिविलक्षणमपूर्वमधिगच्छति यत्तत् श्रुतम् ।

१ केवलसा– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ भेदः । ३ –व्यपदेश इति आ०, ब०, द०, मु० । कुमुतिकुश्रुतयोः सम्यग्ज्ञानव्यपदेशवृत्तेरभेदः।४ देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्ता युगदायाता इति । ५ तावत्तदिन्द्रि– ता०,श्र०।

नानाप्रकारार्थप्ररूपणपरं यत् तद्वा श्रुतम् ।२९। अथवा, इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यामेकं जीवमजीवं चोपलभ्य तत्र सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वादिभिः प्रकारैरर्थप्ररूपणे कर्तव्ये यत्समर्थं तत् श्रुतम् ।

श्रुत्वाऽवधारणात् श्रुतमिति चेत्; न; मतिज्ञानप्रसङ्गात् ।३०। श्रुत्वा यदवधारयति तत् श्रुतमिति केचिन्मन्यन्ते; तन्न युक्तम्; कुत ? मतिज्ञानप्रसङ्गात् । तदपि शब्द श्रुत्वा 'गोशब्दोऽयम्' इति प्रतिपद्यते । असाधारणेन नाम लक्षणेन भवितव्यम् । श्रुत पुनस्तस्मिन्निन्द्रियानिन्द्रियगृहीतागृहीतपर्यायसमूहात्मनि शब्दे तदभिधेये च श्रोत्रेन्द्रियव्यापारमन्तरेण जीवादौ नयादिभिरधिगमोपायैर्यथात्म्येनाऽवबोधः ।

"प्रमाणनयैरधिगमः" [त० सू० १।६] इत्युक्तम् । 'प्रमाणं च केषाञ्चित् ज्ञानमभिमतम्, केषाञ्चित् सन्निकर्षः' इति, अतोऽधिकृतानामेव मत्यादीना प्रमाणत्वख्यापनार्थमाह—

तत्प्रमाणे ॥१०॥

प्रमाणशब्दस्य कोऽर्थः ?

भावकर्तृकरणत्वोपपत्तेः प्रमाणशब्दस्य इच्छातोऽर्थाध्यवसायः ।१। अथ प्रमाणशब्दः भावे कर्तरि करणे च वर्तते । तत्र भावे तावत् प्रमेयार्थं प्रति निवृत्तव्यापारस्य तत्त्वकथनात् प्रमा प्रमाणमिति । कर्तरि प्रमेयार्थं प्रति प्रमातृत्वशक्तिपरिणतस्याश्रितत्वात्[१] प्रमिणोति प्रमेयमिति प्रमाणम् । करणे [२]प्रमातृप्रमाणयोः प्रमाणप्रमेययोश्च स्यादन्यत्वात् प्रमिणोत्यनेनेति प्रमाणम् ।

अनवस्थेति चेत्; न; दृष्टत्वात् प्रदीपवत् ।२। स्यान्मतम्—इदमिह सप्रधार्यं प्रमाणसिद्धिः परतो वा स्यात्, स्वत एव वेति ? यदि यथा प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाधीना[३] एव प्रमाणसिद्धिरपि प्रमाणान्तराधीनेति, तस्याप्यन्यत् तस्याप्यन्यदित्यनवस्था । अथ स्वत एव सिद्धिः; एवमपि यथा प्रमाणस्य स्वत एव सिद्धिस्तथा प्रमेयस्यापि [४]प्रमेयात्मन एव सिद्धिरिति प्रमाणव्यवस्थाकल्पना न घटते । [५]इच्छामात्रत्व (त्वे) विशेषहेतुवचन चेति; तन्न; कि कारणम् ? दृष्टत्वात् प्रदीपवत् । दृष्टो हि प्रदीपो घटादीना प्रकाशकः स्वस्य च, तथा प्रमाणमपि[६] इति ।

अथवा, अयमपरोऽर्थः—यदि भावकर्तृकरणानामन्यतमसाधनः प्रमाणशब्द.; अनवस्था प्राप्नोति[७] । [८]न ह्येकस्मिन्नर्थात्मनि विरुद्धशक्त्यवस्थानमिति, तन्न; कि कारणम् ? दृष्टत्वात् प्रदीपवत् । यथैकस्य प्रदीपस्य 'प्रदीपन प्रदीपयति प्रदीप्यतेऽनेन' इति वा भावादिशक्त्यविरोध. तथा प्रमाणस्यापि इति[९] ।

इतरथा हि प्रमाणव्यपदेशाभावः ।३। यदि प्रमाण स्वस्याप्रकाशक स्यात् परसवेद्यत्वात् अस्य प्रमाणव्यपदेशो न स्यात् ।

विषयज्ञानतद्विज्ञानयोरविशेषः ।४। विषयाकारपरिच्छेदात्मनि ज्ञाने यदि स्वाकारपरिच्छेदो न स्यात् [१०]तद्विषये विज्ञाने विषयाकाररूपतैवेति तयोरविशेष स्यात् ।

---

१ अङ्गीकृतत्वात् । २ प्रमातृप्रमेययोः आ०, ब०, द०, मु० । ३ प्रमाणादर्थसंसिद्धिरिति वचनात् । ४ स्वरूपतः । ५ इच्छामात्रवि— आ०, ब०, द०, मु० । ६ —णमिति ता० । ७ न चैवं सर्वेषु तस्य विवक्षितत्वात् । ८ तथा सति विरोध इत्याह न विरोध इति, नेति परिहरति । ९ समत्वम्— ता० टि० । १० विषयभूते वस्तुनि तद्ग्राहके च विज्ञाने । तद्विषये— घटज्ञानविषयके घटज्ञानेऽपि विषयाकारतैवेति तयोः घटज्ञान—घटज्ञानज्ञानयोः अभेदः प्राप्नोति । तुलना— "विषय—ज्ञानतज्ज्ञानभेदाद् बुद्धेर्द्विरूपता ।" —प्रमाणसमु० १ । १२ । —सम्पा० ।

स्मृत्यभावप्रसङ्गश्च ।५। न ह्यनुपलब्धपूर्वेऽर्थे 'स एवायम्' इति स्मृतिर्भवति यदि च विज्ञान स्वात्मानं न विजानीयात् । उत्तरकालम् अनधिगतस्वात्मविज्ञानः कथं ब्रूयात् 'ज्ञोऽहम्' इति ? ततः स्मृतेरभाव स्यात् ।

फलाभाव इति चेत्; न; अर्थावबोधे प्रीतिदर्शनात् ।६। स्यादेतत्--भावसाधने प्रमाणे प्रमैव प्रमाणमिति न फलमन्यदुपलभ्यत इति फलाभाव इति; तन्न; कि कारणम् ? अर्थावबोधे प्रीतिदर्शनात् । ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य [1]करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते, सा फलमित्युच्यते ।

उपेक्षाऽज्ञाननाशो वा ।७। रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा, अज्ञाननाशो वा फलमित्युच्यते ।

ज्ञातृप्रमाणयोरन्यत्वमिति चेत्; न; अज्ञत्वप्रसङ्गात् ।८। स्यान्मतम्--'प्रमिणोत्यात्मान पर वा प्रमाणम्' इति कर्तृसाधनत्वमयुक्तम्; यस्मादन्यत्प्रमाण ज्ञानम्, स च गुणः, अन्यश्च प्रमाता आत्मा स च गुणी, गुणिगुणयोश्चाऽन्यत्व द्रव्यरूपवत् । तथा च *"**आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्**" [वैशे० सू० ३।१८] इति वचनात् अन्यत्प्रमाणम् अन्यः प्रमाता, ततः करणसाधनत्वमेव युक्तमिति; तन्न; कि कारणम् ? अज्ञत्वप्रसङ्गात् । यदि ज्ञानादन्य आत्मा, तस्याऽज्ञत्वं प्राप्नोति घटवत् ।

ज्ञानयोगादिति चेत्; न; अतत्स्वभावत्वे ज्ञातृत्वाभावः अन्धप्रदीपसंयोगवत् ।९। स्यादेतत्--ज्ञानयोगाज्ज्ञातृत्व भवतीति; तन्न; कि कारणम् ? अतत्स्वभावत्वे ज्ञातृत्वाभावः । कथम् ? अन्धप्रदीपसयोगवत् । यथा जात्यन्धस्य प्रदीपसयोगेऽपि न द्रष्टृत्व तथा ज्ञानयोगेऽपि अज्ञस्वभावस्यात्मनो न ज्ञातृत्वम् ।

प्रमाणप्रमेययोरन्यत्वमिति चेत्; न; अनवस्थानात् ।१०। स्यान्मतम्--अन्यत् प्रमाणमन्यत् प्रमेयम् । कुतः ? लक्षणभेदात् दीपघटवत् इति; तन्न; कि कारणम् ? अनवस्थानात् । यदि यथा [2]बाह्यप्रमेयाकारात् प्रमाणमन्यत् तथाभ्यन्तर[3]प्रमेयाकारादप्यन्यत् स्यात्, अनवस्थाऽस्य स्यात् ।

प्रकाशवदिति चेत्; न; प्रतिज्ञाहानेः ।११। तत्रैतत्स्यात्--नानवस्थादोषः । कथम् ? प्रकाशवत् । यथा प्रकाशस्य घटादीनामात्मनश्च प्रकाशकस्य नानावस्थादोषः एवमिहापीति; तन्न; कि कारणम् ? प्रतिज्ञाहानेः । प्रकाशो हि [4]स्वात्मनोऽन्यः स्वपरप्रकाशने समर्थः प्रदर्श्यमानः प्रमाणप्रमेययोरन्यत्वप्रतिज्ञा हापयति ।

[5]**अनन्यत्वमेवेति चेत्; न; उभयाभावप्रसङ्गात्** ।१२। यद्यन्यत्वे दोषोऽनन्यत्व तर्हि ज्ञातृप्रमाणयोः प्रमाणप्रमेययोश्चेति; तन्न; कि कारणम् ? उभयाभावप्रसङ्गात् । यदि ज्ञातुरनन्यत्प्रमाण प्रमाणाच्च प्रमेयम्; अन्यतराभावे तदविनाभाविनोऽवशिष्टस्याप्यभाव इत्युभयाभावप्रसङ्गः । कथ तर्हि सिद्धिः ?

अनेकान्तात्सिद्धिः ।१३। स्यादन्यत्वं स्यादनन्यत्वमित्यादि । सज्ञालक्षणादिभेदात् स्यादन्यत्वम्, व्यतिरेकेणानुपलब्धेः स्यादनन्यत्वमित्यादि । ततः सिद्धमेतत्--'प्रमेय नियमात् प्रमेयम्, प्रमाणं तु स्यात्प्रमाण स्यात्प्रमेयम्' इति ।

---

१ करणलम्बनार्थ- श्र० । २ बाह्यात् प्र- आ०, ब०, द०, मु० । ३ भावघट इत्यर्थः । ४ वादिनस्तवेत्यर्थः । स्वात्मनोऽनाशः श्र०, ता०, ब० । स्वात्मनो भासः आ० । स्वात्मनो स्वपर-मु० । ५ अथ मीमांसकः प्रत्यवतिष्ठते ।

वक्ष्यमाणभेदापेक्षया द्वित्वनिर्देशः ।१४। * "आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत्" । [त० सू० १।११,१२] इति वक्ष्यते । तदपेक्षया 'प्रमाणे' इति द्वित्वनिर्देशः क्रियते[1] ।

तद्वचनं सन्निकर्षादिनिवृत्त्यर्थम् ।१५। तत् मत्यादिज्ञान वर्णित प्रमाणव्यपदेश लभते न सन्निकर्षादीनि । अथ सनिकर्षादे प्रमाणत्वे को दोषः ?

सन्निकर्षे प्रमाणे सकलपदार्थपरिच्छेदाभावः तदभावात् ।१६। यस्य[2] मतम्–सन्निकर्षः प्रमाणम्, अर्थाधिगमः फलमिति; तस्य सकलपदार्थपरिच्छेदो नास्ति । कुतः ? तदभावात् । तस्य सन्निकर्षस्याभावात् । कथमिति चेत् ? उच्यते–येन केनचित्सर्वज्ञेन भवितव्यम् । तस्यार्थपरिच्छेदहेतुर्यदि सन्निकर्षः; स चतुष्टयत्रयद्वयविषयः स्यात् । तत्र चतुष्टयविषयस्त्रयविषयश्च न संभवति; मनस इन्द्रियाणां चाऽयुगपत्प्रवृत्तित्वात्, प्रतिनियतविषयत्वाच्च । अनन्तो हि ज्ञेयस्त्रिकालविषयः [3]सूक्ष्मान्तरितविप्रकृष्टरूपः, स कथमिह तैः सन्निकृष्यते ? असन्निकृष्टे [4]नैतत्फलमवबोधः प्रवर्तते । अतः सर्वज्ञाभाव स्यात् । तत एव द्वयसन्निकर्षोऽपि न भवति । सर्वगतत्वादात्मन सकलेनार्थेन सन्निकर्ष इति चेत्; न; तस्य परीक्षायामनुपपत्तेः । यदि हि सर्वगत आत्मा स्यात्; तस्य क्रियाभावात् पुण्यपापयोः कर्तृत्वाभावे तत्पूर्वकससारः तदुपरति[5]रूपश्च मोक्षो न योक्ष्यते इति । करणग्रामस्य ससार इति चेत्; न; तस्याचेतनत्वात्, तस्यैव मोक्षप्रसक्तेश्च ।

सर्वेन्द्रियसन्निकर्षाभावश्च ।१७। चक्षुर्मनसोः प्राप्यकारित्वाभावात् सर्वेन्द्रियविषयः सन्निकर्षो न सभवति ? प्राप्यकारित्वाभावश्चोपरिष्टाद्वक्ष्यते[6] ।

सर्वथा ग्रहणप्रसङ्गश्च; सर्वात्मना सन्निकृष्टत्वात् ।१८। यानीन्द्रियाणि प्राप्यकारीणि तैरपि सर्वथा अर्थस्य ग्रहण प्राप्नोति । कुतः ? सर्वात्मना सन्निकृष्टत्वात् ।

तत्फलस्य साधारणत्वप्रसङ्गः स्त्रीपुरुषसंयोगवत् ।१९। तस्य सन्निकर्षस्य प्रमाणस्य यत्फलमर्थविबोधनम्, तेन च साधारणेन भवितव्यम्। कथम् ? स्त्रीपुरुषसयोगवत् । यथा स्त्रीपुरुष[7]सयोगज सुखमुभयोरपि साधारण तथेन्द्रियाणा मनसोऽर्थस्य चावबोधन प्राप्नोति ।

शय्यादिवदिति चेत्; न, अचेतनत्वात् ।२०। स्यान्मतम्–यथा शय्यादीना पुरुषस्य च सयोगे साधारणेऽपि तत्फल सुख न शय्यादीना भवति, कि तर्हि ? पुरुषस्यैवेति, तथेहापीति; तन्न; कि कारणम् ? अचेतनत्वात् । अचेतनाना शय्यादीना सत्यपि सयोगे सुख न भवति ।

इहापि तत एवेति चेत्; न; अविशेषात् ।२१। स्यादेतत्–मन प्रभृतीना सत्यपि सन्निकर्षे न तत्फलमवबोधन भवति । कुत ? अचेतनत्वादेवेति; तन्न; कि कारणम् ? अविशेषात् । अज्ञस्वभावत्व तावत् सर्वेषामात्मादीनामविशिष्ट तत्र किकृतोऽय विशेष –"सन्निकर्षजं फलमवबोधनमर्थान्तरभूतमपि सत् आत्मनैव सम्बध्यते न मन प्रभृतिभि.' इति । ज्ञस्वभावत्वे चात्मन प्रतिज्ञाहानि ।

समवायादिति चेत्; न; अविशेषात् ।२२। स्यादेतत्–समवायो नामायुतसिद्धिलक्षण सम्बन्धोऽस्ति, तःकृतोऽय विशेष इति; तन्न; कि कारणम् ? अविशेषात् । 'समवायो हि

---

१ स च द्विवचननिर्देशः प्रमाणान्तरसंख्यानिवृत्त्यर्थः । प्रत्यक्षञ्चानुमानञ्च शास्त्रञ्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥ जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः । सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः । २ नैयायिकस्य –सम्पा० । ३ परमाण्वादि, रामरावणादि, मेर्वादि । ४ न तत्फल– आ०, ब०, द०, मु० । ५ निवृत्ति । ६ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामित्यत्र । ७–षसंगजं अ० । ८ सन्निकर्षफल– आ०, ब०, द०, मु० ।

सर्वगतः ज्ञस्वभावशून्यत्वे समानेऽपि आत्मनैव ज्ञानं योजयति, न मन.प्रभृतिभि' इति वचनं न विपश्चिन्मन प्रीतिकरम् । एवमिन्द्रियेऽपि योज्यम् ।

अनुमानौपम्ययो अनुमानागमयो अनुमानप्रत्यक्षयो. औपम्यप्रत्यक्षयो औपम्यागमयो· आगमप्रत्यक्षयो प्रत्यक्षपरोक्षयोश्च [१]विपर्ययप्रसङ्गे [२]मत्यादीनाञ्चाविशेषेण प्रमाणद्वयासक्तेरवधारणार्थमाह—

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

आदिशब्दस्यानेकार्थवृत्तित्वे विवक्षातः प्राथम्यार्थसङ्ग्रह ।१। अयमादिशब्दोऽनेकार्थवृत्ति.। क्वचित्प्राथम्ये वर्तते, 'अकारादयो वर्णा., ऋषभादयस्तीर्थकरा.' इति । क्वचित्प्रकारे, 'भुजङ्गादय· परिहर्तव्या' इति । क्वचिद्व्यवस्थायाम् *"**सर्वादि सर्वनाम**" [जैने० १।१।३५] इति । क्वचित्सामीप्ये 'नद्यादीनि क्षेत्राणि' इति । क्वचिदवयवे, *"**टिदादिः**" [जैने० १।१।५३] इति । तत्रेह आदिशब्दस्य विवक्षात प्राथम्यार्थो वेदितव्य । आदौ भवमाद्यम् । किं पुनस्तत् ? मति श्रुतं च ।

श्रुताग्रहणमप्रथमत्वात् ।२। श्रुतस्य ग्रहणं न प्राप्नोति । कुत ? अप्रथमत्वात् । नहि सूत्रे श्रुत प्रथमम् ।

उत्तरापेक्षया आदित्वमिति चेत्; न; अतिप्रसङ्गात् ।३। स्यान्मतम्–अवध्याद्युत्तारमपेक्ष्य श्रुतस्यादित्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? अतिप्रसङ्गात् । उत्तरमपेक्ष्य यद्यादित्व कल्प्यते; केवल व्युदस्य सर्वस्यादित्वं प्राप्नोति ।

द्वित्वनिर्देशादिति चेत्; न; तदवस्थत्वात्[३] ।४। स्यादेतत्–द्वित्वनिर्देशेन सर्वस्य ग्रहणं न भवति, अतो नातिप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम् ? तदवस्थत्वात् । एवमप्यतिप्रसङ्ग एव भवति–'कयोर्द्वयोर्ग्रहणम्' इति ।

न वा; प्रत्यासत्तेः श्रुतग्रहणम् ।५। न वैष दोष । किं कारणम् ? प्रत्यासत्ते श्रुतग्रहणं भवति । द्वित्वनिर्देशाद् गृह्यमाणं यदाद्यस्य प्रत्यासन्न तदेव गृह्यते । तस्य हि सामीप्यादौपचारिक प्राथम्यमस्तीति, तथा[४]सामीप्यं श्रुते[५]रर्थाच्च[६] ।

उपात्तानुपात्तपराधान्यादवगमः परोक्षम् ।६। उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि[७] पर तत्प्राधान्यादवगम परोक्षम् । यथा गतिशक्त्युपेतस्यापि स्वयमेव गन्तुमसमर्थस्य यष्ट्याद्यवलम्बनप्राधान्यं गमनम्, तथा मतिश्रुतावरणक्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मन. स्वयमेवार्थानुपलब्धुमसमर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधानं ज्ञान परायत्तत्वात्तदुभयं परोक्षमित्युच्यते ।

अत एव प्रमाणत्वाभावः इत्यनुपालम्भः ।७। अत्राऽन्ये उपालभन्ते–'परोक्ष प्रमाणं न भवति, प्रमीयतेऽनेनेति हि प्रमाणम्, न च परोक्षेण किञ्चित्प्रमीयते 'परोक्षत्वादेव' इति; सोऽनुपालम्भ.। कुत ? अत एव। यस्मात् 'परायत्तं परोक्षम्' इत्युच्यते न 'अनवबोध.' इति ।

---

१ अप्रमाणत्वप्रसङ्गे । २ मत्यादीनामवि- आ०, ब०, द०, मु० । ३ अतिप्रसङ्गस्य, अतिप्रसङ्गो न निवर्तते इत्यर्थः । ४ सामीप्यश्रुतेरर्थाच्च आ०, ब०, द०, मु० । ५ उच्चारणकाले श्रवणात् । ६ मतेः सकाशात् मतिश्रुतयोरित्यादिसूत्रे (तयोः समानार्थविषयत्वसूचनात्) । ७ –दि तत्प्रा– मु०, मू०, ता०, श्र०, द०, ब०, ज० । केवलं भा० २ प्रतौ– दि परः तत्प्रा– इति पाठः । ८ अविषयत्वात् ।

अभिहितलक्षणात् परोक्षादितरस्य सर्वस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनार्थमाह–

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

अन्यत्त्रिविध प्रत्यक्षमित्युच्यते । किमिदं प्रत्यक्ष नाम ?

इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम् ।१। इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्च, अनिन्द्रिय मन, तेष्वपेक्षा यस्य न विद्यते। 'अतस्मिंस्तदिति ज्ञान व्यभिचार.' सोऽती- ५
तोऽस्य । आकारो[1] विकल्प, यत्सह आकारेण वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्युच्यते। 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम्' इति विशेषणं मतिश्रुतनिवृत्त्यर्थम् । 'अतीतव्यभिचारम्' इत्येतद्विभङ्गज्ञाननिवृत्त्यर्थम्, तद्धि मिथ्यादर्शनोदयाद् व्यभिचरतीति । 'साकारग्रहणम्' इत्येतदवधिकेवलदर्शनव्युदासार्थम् । [2]अनाकार हि तदिति । कि [3]गतमेतदियता सूत्रेण, आहोस्विदेव वक्तव्यमिति ?गत प्रतिपन्नम् । कथमिति चेत् ? उच्यते– १०

अक्षं प्रति नियतमिति परापेक्षानिवृत्तिः ।२। 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति' इति अक्ष आत्मा, प्राप्तक्षयोपशम प्रक्षीणावरणो वा, तमेव प्रति नियत प्रत्यक्षमिति विग्रहात् परापेक्षानिवृत्ति कृता भवति ।

अधिकारात् अनाकारव्यभिचारव्युदासः ।३। अधिकृतमेतत्–'ज्ञान सम्यक्' इति च, ततोऽनाकारस्य दर्शनस्य व्यभिचारिणो ज्ञानस्य च व्युदास कृतो भवति । १५

करणात्यये ग्रहणाभाव इति चेत्; न; दृष्टत्वात् ईशवत् ।४। स्यादेतत्–करणात्यये अर्थस्य ग्रहण न प्राप्नोति, न हचकरणस्य [4]कस्यचित् ज्ञान दृष्टमिति, तन्न; कि कारणम् ? दृष्टत्वात् । कथम् ? ईशवत्। यथा रथस्य कर्ता [5]अनीश उपकरणापेक्षो रथ करोति, स तदभावे न शक्त, य पुनरीश तपोविशेषात् परिप्राप्तर्द्धिविशेष स बाह्योपकरणगुणानपेक्ष स्वशक्त्यैव रथ निर्वर्तयन् प्रतीत, तथा कर्ममलीमस आत्मा क्षायोपशमिकेन्द्रियानिन्द्रियप्रका- २०
शाद्युपकरणापेक्षोऽर्थान् सवेत्ति, स एव पुन क्षयोपशमविशेषे क्षये च सति करणानपेक्ष स्वशक्त्यैवार्थान् वेत्ति इति को विरोध ?

ज्ञानदर्शनस्वभावत्वाच्च भास्करादिवत् ।५। यथा भास्करादय प्रकाशस्वभावत्वात् प्रकाशान्तरानपेक्षा प्रकाश्यानर्थान् प्रकाशयन्ति, तथा ज्ञानदर्शनस्वभाव आत्मा तदावरणक्षयक्षयोपशमविशेषे सति स्वशक्त्यैवार्थानाविष्करोतीति सिद्धम् । २५

[6]इन्द्रियनिमित्तं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, तद्विपरीतं परोक्षम्' इत्यविसंवादिलक्षणमिति चेत्; न; आप्तस्य प्रत्यक्षाभावप्रसङ्गात् ।६। स्यान्मतम्–'इन्द्रियव्यापारजनित ज्ञान प्रत्यक्षम्, व्यतीतेन्द्रियविषयव्यापार परोक्षम्' इत्येतदविसवादि लक्षणम् । तथा चोक्तम्–

*[7]"[8]प्रत्यक्षं कल्पनापोढं [9]नामजात्यादियोजना[10]।
असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते ॥" [प्रमाणसमु० १। ३, ४] ३०

*"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्[11]व्यपदेश्यमव्यभिचारि [12]व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" [न्यायसू० १।१।४] *"आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्" [वैशे० ३।१।१८]

१ भेदग्रहणमाकारः । भेद इत्यर्थः । २ किस्विदिति भासमानम् । ३ ज्ञातम् । ४ कस्यापि मु० । ५ असमर्थः । ६ अथ बौद्धः प्रत्यवतिष्ठते । ७ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना । असाधारणहेतुत्वाद् व्यपदेश्यं तविन्द्रियैः ॥" –प्रमाणसमु० । ८ कल्पना केत्याह । ९ आदिशब्देन क्रियागुणद्रव्याणि गृह्यन्ते । तथाचोक्तम्–जातिः क्रिया गुणो द्रव्यं संज्ञा पञ्चैव कल्पना । अश्वो याति सितो घण्टी कत्तलाख्यो यथाक्रमम् । १० शब्दरहितम् । ११ निश्चयरूपम् ।

*"श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्[1]।" [ ] *[2]"सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्" [मी० द० १।१।४][3] इति च सर्वैरभ्युपगम्यते। अत एव तल्लक्षणमविसंवादि निश्चेतव्यमिति; तन्न; किं कारणम्? आप्तस्य प्रत्यक्षाभावप्रसङ्गात्। यदीन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते, एवं सत्याप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात्। नहि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगमः। अथ तस्यापि करणपूर्वकमेव ज्ञानं कल्प्यते; तस्यासर्वज्ञत्वं पुरस्तादुक्तम्।

आगमादिति चेत्; न; तस्य प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात्।७। स्यादेतत्—आगमादतीन्द्रियार्थाधिगमेऽभ्याहतशक्ते सर्वार्थविबोध इति; तन्न; किं कारणम्? तस्य प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात्। आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति न सर्वं। यदि सर्वं स्यात्; अविशेषः स्यात्। स च नास्ति, इत्यागमस्य प्रामाण्याभावः।

अपौरुषेयादिति चेत्; न; तदसिद्धेः।८। स्यादेतत्—अपौरुषेय आगमोऽस्ति अनादिनिधनोऽत्यन्तपरोक्षेष्वप्यर्थेष्वप्रतिहतगतिः, ततः *[4]सर्वार्थाधिगम इति; तन्न; किं कारणम्? तदसिद्धेः। न च कश्चिदागमोऽपौरुषेय सिद्धोऽस्ति, हिंसादिविधायिनां प्रामाण्यासिद्धेः।

अतीन्द्रियं योगिप्रत्यक्षमिति चेत्; न; अर्थाभावात्।९। स्यान्मतम्—योगिनोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानमस्ति आगमविकलपातीतम्, तेनासौ सर्वार्थान् प्रत्यक्षं वेत्ति। उक्तञ्च—*"योगिनां गुरु-*[5]"निर्देशाद् व्यतिभिन्नार्थमात्रदृक्"[6] [प्रमाणसमु० १।६] इति; तन्न; किं कारणम्? अर्थाभावात्। 'अक्षमक्षं प्रति वर्तते' इति प्रत्यक्षम्। न चायमर्थो योगिनि विद्यते अक्षाभावात्।

अथवा, न सन्ति सर्वे भावाः स्वपरोभयहेत्वहेतुभ्य उत्पत्त्याद्यभावात्, [7]सामान्यविशेषयोश्चैकानेकयोर्वृत्त्यसंभवादिदोषोपपत्तेः, अतोऽर्थाभावान्निरालम्बनं योगिनो ज्ञानं कथं स्यात्? "परिकल्पितात्मना न सन्ति भावाः निर्विकल्पात्मना सन्ति' इति चायुक्तम्; तदधिगमोपायाभावात्। न हि निर्विकल्पोऽर्थोऽस्ति, तद्विषयं ज्ञानं चेति प्रतिपादयितुं शक्यम्, लक्षणाभावात्।

तदभावाच्च।१०। तस्य योगिनोऽभावाच्च। न हि कश्चित्[8]त्परिकल्पितो योगी विद्यते, विशेषलक्षणविरहात्, सर्वविरहाच्च निर्वाणप्राप्तौ। [9]तन्नैतत्स्यात्—*"[10]**निर्वाणं द्विविधम्**—[11]**सोप-**

---

१ सांख्यमतम्। २ सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः। प्रयोग इन्द्रियाणाञ्च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते॥ —ता० टि०। मीमांसकभाट्टप्राभाकराणां मतम्। ३ इति वा तत्प्रत्यक्षमिति च स— आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ४ सर्वाधिगम इति श्र०। ५ —शास्यति— आ०, ब०, द०, मु०। ६ इन्द्रियादिनिरपेक्षम्, आत्मेन्द्रियमनोनिरपेक्षदर्शनमित्यर्थः। "योगिनां गुरुनिर्देशादसंकीर्णार्थमात्रदृक्— ...आगमस्य सविकल्पकत्वं निर्देशशब्देनोक्तम्, तेन असंकीर्णं रहितमित्यर्थः। अनेन स्फुटाभत्वमपि श्रूयते। निर्विकल्पकं हि स्फुटाभत्वाव्यभिचरितम्। मात्रशब्दः आरोपितार्थव्यवच्छेदार्थम् अतः यत् शुद्धार्थविषयकमार्यसत्यदर्शनात्मकं तदेव प्रमाणम्।" —प्रमाणसमु० टी०।—प्रस्पा०। ७ एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद् बहूनि वा। भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते। ८ नामजात्यादि। ९ बौद्ध। १० तत्रैतत्स्यात् ता०, श्र०, मु०। ११ तुलना— "इह हि भगवता उषितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्मानुधर्मप्रतिपत्तियुक्तानां पुद्गलानां द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितं सोपधिशेषम्, निरुपधिशेषं च। तत्र निरवशेषस्याविद्यारागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते। तत्रोपधीयतेऽस्मिन्नात्मस्नेह इत्युपधिः। उपधिशब्देनात्मज्ञप्तिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते। शिष्यत इति शेषः। उपधिरेव शेषः उपधिशेषः। सह उपधिशेषेण वर्तते इति सोपधिशेषम्। किं तत्? निर्वाणम्। तच्च स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्टिपर्यादिक्लेशसस्काररहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राममात्रावस्थानसाधर्म्येण तत्सोपधिशेषं निर्वाणम्। यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि नास्ति तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम्। निर्गत उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा। निहताशेषचौरगणस्य ग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण।" —माध्यमिकवृ० पृ ५१९। १२ सोपाधि— ता०, द०।

धिविशेषं, निरुपधिविशेषं चेति। तत्र सोपधिविशेषे निर्वाणे बोद्धाऽस्ति" [ ] इति; तत्रापि यथा [1]बाह्यस्याभावः कल्प्यते[2] तथागतै तथाभ्यन्तरस्यापीति बोद्धुरभाव एव।

[3]योगजधर्मानुग्रहादात्मा करणविरहितोऽप्यवैतीति चेत्; न; तस्य निष्क्रियस्य नित्यस्य [4]सतस्तत्क्रियावदनुग्रहविकाराभावात्।

[5]तल्लक्षणानुपपत्तिश्च स्ववचनव्याघातात् ।११। तस्य प्रत्यक्षस्योक्त लक्षणमपि नोपपद्यते। कुत ? स्ववचनव्याघातात्। [6]अन्यापोहिकप्रतिविहितान्येव[7] शेषप्रमाणलक्षणानि। ततस्तत्र नो नातितरा प्रतिविधानादर, किन्तु तत्प्रमाणलक्षणगुणसभावनातिरस्कारार्थं किञ्चिद्व्याप्रियामहे। यदुक्तम्–*"**कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्**" [प्रमाणसमु० १।३] इति। [8]कल्पना हि जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकृतो वाग्बुद्धिविकल्प, ततोऽनापोढ कल्पोढम्। कि तत् सर्वथा कल्पनापोढम्, उताहो कथञ्चिदिति ? यदि सर्वथा; 'अस्ति प्रमाण ज्ञान कल्पनापोढम्' इत्येवमादि कल्पनाभ्योऽप्यपोढमिति अस्त्यादिवचनव्याघात। अथ अस्त्यादिकल्पनाभ्योऽनपोढमिष्यते; 'सर्वथा कल्पनापोढम्' इति वचनव्याघात। अथ कथञ्चित्कल्पनापोढम्; एकान्तवादत्यागात् पुनरपि स्ववचनव्याघात एव।

अथ मतम्–नास्माकमेकान्त 'कल्पनापोढमेव' इति। किमर्थ तर्हि विशेषणम् ?परमतापेक्ष विशेषणम्। परमते हि नामजात्यादिभेदोपचारकल्पना प्रोक्ता, ततोऽपोढ न स्वविकल्पादिति।

उक्तञ्च– *"**सवितर्कविचारा हि पञ्च विज्ञानधातवः[9]।**
निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाविकल्पकाः ॥" [अभिध० १।३२] इति।

अत्रोच्यते–'आलम्बने अर्पणा वितर्क, तत्रैवानुमर्शन विचार[10], तस्य नामादिभि. प्रकल्पना निरूपणम्, पूर्वानुभूतानुसारेण विकल्पनमनुस्मरणम्, इति। एते धर्मा क्षणमात्रावस्थानेष्वक्षविषयविज्ञानेषु[11]निरन्वयेषु[12]नोपपद्यन्ते युगपदुत्पत्तेरनवस्थानाच्च। अतो ग्राह्यग्रहणभावाभावश्च स्यात् सव्येतरगोविषाणवत्। क्रमवृत्तित्वे च तेषा स्वार्थाभावप्रसङ्गश्चेति। सन्तानाद्यपेक्षया तदुपपत्तिरिति चेत्, न तत्, परीक्षाऽक्षमत्वात्। अत. सर्वस्मिन्नसति विकल्पे 'अय[13] विकल्पोऽस्ति अय [14]'नास्ति' इति विज्ञानस्य विवेको नोपपद्यते। सर्वविकल्पविरहाच्च नास्तित्वमेवास्य स्यात्। अनुस्मरणाद्यभ्युपगमे च एकस्यानेकक्षणवर्तिनो वस्तुनोऽस्तित्व सिद्धम्। अनुस्मरणादि हि स्वयमनुभूतस्यार्थस्य दृष्टम्, नाननुभूतस्य नान्यानुभूतस्येति।

तथा मानसमपि प्रत्यक्ष नोपपद्यते। अपि च, *"**षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः**" [अभिध० १।१७] इति–अतीतमसत् कथ विज्ञानस्य कारण स्यात् ? अथ पूर्वोत्तरनाशोत्पत्त्योर्युगपद्वृत्ते कार्यकारणभाव. कल्प्यते; भिन्नसन्तानयोरपि विनश्यदुत्पद्यमानयो कार्यकारणभाव स्यात्। एकसन्ताने शक्त्यनुगमाभ्युपगमे प्रतिज्ञाहानिश्च स्यात्।

---

१ वस्तुनः। २ –ते तैस्त– आ०, ब०, द०, मु०। ३ अथ लब्धावकाशा नैयायिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते। ४ आत्मनः। ५ अथ नैयायिकमत निराकृत्येदानी प्रकृतमनुसन्दधन् बौद्धपरिकल्पित-प्रत्यक्ष निराकरोति। ६ अन्यापोहेन युक्तः बौद्ध इत्यर्थः अन्यापोहो व्यावृत्तिः। ७ –वाशेष–मु०। नैयायिकादीनाम्। ८ "अथ कल्पना कीदृशी चेदाह– नामजात्यादियोजना। यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति। जातिशब्देषु जात्या गौरियमिति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण विषाणीति।" –प्र० स० टी० पृ० १२। –सम्पा०। ९ कारणानि। १० "वितर्कविचारौदार्यसूक्ष्मते– चित्तस्य औदार्यं वितर्कः, सूक्ष्मावस्था विचारः"– अभिध० टी० २।३२। ११ –यज्ञानेषु श्र०। अक्षश्च विषयाश्च ज्ञानानि च तेषु। १२ त्रुट्यद्रूपेषु।– १३ सवितर्कादि। १४ नामजात्यादिभेदोपचारकल्पना।

अपूर्वाधिगमलक्षणानुपपत्तिश्च सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः ।१२। 'अपूर्वाधिगमलक्षणं प्रमाणम्' इत्येतच्च नोपपद्यते। कुत ?सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्ते । प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्, सर्वेण च ज्ञानेन प्रमीयते। यथा अन्धकारेऽवस्थिताना घटादीनामुत्पत्त्यनन्तर प्रकाशक प्रदीप उत्तरकालमपि न त व्यपदेश जहाति तदवस्थानकारणत्वात्, एवं ज्ञानमप्युत्पत्त्यनन्तर घटादीनामवभासक भूत्वा प्रमाणत्वमनुभूयोत्तरकालमपि न त व्यपदेशं त्यजति तदर्थत्वात्। अथ मतम्–क्षणे क्षणेऽन्य एव प्रदीपोऽपूर्वमेव प्रकाशकत्वमवलम्बत इति; एव सति ज्ञानमपि तादृगेवेति क्षणे क्षणेऽन्यत्वोपपत्तेरपूर्वाधिगमलक्षणमविशिष्टमिति[1]; [2]तत्र यदुक्तम्–*"**स्मृतीच्छाद्वेषादिवत् पूर्वाधिगतविषयत्वात् पुनः पुनरभिधानं ज्ञानं न प्रमाणम्**" [ ] इति, तद् व्याहन्यते ।

स्वसंवित्तिफलानुपपत्तिश्च अर्थान्तरत्वाभावात् ।१३। प्रमाण लोके फलवदुपलब्धम् । अस्य च प्रमाणस्य केनचित् फलेन भवितव्यमिति । कश्चिदाह–द्वयाभास हि ज्ञानमुत्पद्यते–[3]स्वाभास विषयाभास च। तस्योभयाभासस्य यत्सवेदन तत्फलमिति; तन्नोपपद्यते; कुतः ? अर्थान्तरत्वाभावात्। लोके प्रमाणात् फलमर्थान्तरभूतमुपलभ्यते। तद्यथा–छेतृछेत्तव्यछेदनसन्निधाने द्वैधीभाव फलम्, न च तथा स्वसवेदनमर्थान्तरभूतमस्ति। तस्मादस्य फलत्व नोपपद्यते। सत्यम्, एवमेतत्, अतएव तस्मिन्नधिगमरूपे फले सव्यापारप्रतीतताम[4]पादाय प्रमाणोपचार इति;[5]

प्रमाणोपचारानुपपत्तिः मुख्याभावात् ।१४। सति मुख्ये लोके उपचारो दृश्यते, यथा सति सिहे विशिष्टतिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियजातिनखदष्ट्रासटाटोपभासुरकपिलनयनतारकाद्यवयवविशिष्टे अन्यत्र क्रौर्यशौर्यादिगुणसाधर्म्यात् सिहोपचार क्रियते। न च तथेह मुख्य प्रमाणमस्ति, तदभावात् फले प्रमाणोपचारो न युज्यते ।

आकारभेदाद्भेद इति चेत्; नः एकान्तवादत्यागात् ।१५। स्यादेतत्–ग्राहकविषयाभाससवित्तिशक्तित्रयाकारभेदात् प्रमाणप्रमेयफलकल्पनाभेद इति; तन्न; कि कारणम् ? एकान्तवादत्यागात् । 'एकमनेकाकारम्' इत्येतज्जैनेन्द्र दर्शनम्, तत्कथमेकान्तवादे युज्यते ? यदि ह्येवमभ्युपगम्येत[6] द्रव्ये कोऽपरितोषः ; 'रूपाद्यनेकात्मकमेक परमाणुद्रव्यम्, ज्ञानाद्यनेकात्मकमात्मद्रव्यम्' इति । अथ द्रव्यसिद्धिर्माभूदिति 'आकारा एव न ज्ञानम्' इति कल्प्यते; एव सति कस्य ते आकारा इति तेषामप्यभाव स्यात्। किञ्च, तेषामाकाराणा यौगपद्येन वा उत्पत्ति. स्यात्, क्रमेण वा ? यदि योगपद्येन, हेतुहेतुमद्भावो विरुध्यते। अथ क्रमेण; क्षणिकस्य विज्ञानस्याकाराणा कथ क्रम ? यदि स्यात् ; *"**अधिगमश्चात्र न [7]भावान्तरम्**" [ ] इति व्याहन्यते। अपि च बाह्यस्य विज्ञेयस्याभावे अन्तरङ्गाकारत्रयकल्पनाया प्रमाणप्रमाणाभा[8]सविशेषो नोपपद्यते अन्तरङ्गाकाराभेदात्। 'असद्वस्तु यत्सदिति कल्पयति तत् प्रमाणाभासम्, असदेवेति यत्प्रतिपद्यते तत्प्रमाणम्' इत्यस्ति विशेष इति चेत्; 'प्रमेयद्वयव्यवस्थापितप्रमाणद्वयकल्पनाव्याघात । स्वलक्षणविषय हि प्रत्यक्षम्, सामान्यलक्षणविषयमनुमानम् । स्वलक्षणमसाधारणो धर्म विकल्पातीतत्वात् 'इद तत्' इत्यव्यपदेश्य । तद्विपरीत सामान्यलक्षणमिति। सर्वस्यासत्त्वे किकृतोऽय विशेष ? असत्त्व हि न स्वतो भिद्यते। सबन्धिभेदात् स्याद्भेद –'घटस्यासत्त्व पटस्यासत्त्वम्' इति; तेषा घटादीनां सबन्धिनामभावे तद्विशेषाभाव इति ।

---

१ अधिगमः प्रमाणमित्यैव वक्तव्यम् । २ तथा सति । ३ स्वाकारम् । तुलना– "स्विसंवित्तिः फलं वात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः ।" –प्रमाणसमु० १।१०। ४ –तामुपधाय मु०, आ०, ब० । तुलना– "सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव तत् । प्रमाणत्वोपचारस्तु निर्व्यापारे न विद्यते ।।"–प्रमाणसमु० १।६। ६ प्रमाणाद्भेदः। ७ –णाभासौ नोपपद्येते –आ०, ब०, द०, मु० । ८ तुलना–"तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ।" –प्रमाण वा० २।६०।

स्यान्मतम्–खात्पतिता नो रत्नवृष्टि , इष्टमेवाप्रतर्कितमुपस्थितम्, अत एव सर्वं विज्ञानाभिधानमयथार्थं परिकल्पितार्थत्वात्, निर्विकल्पार्थगोचरमात्मीयमेव विज्ञान प्रमाणमिति । उक्तञ्च–

***"शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते[1] ।**
अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्या प्रवर्तते ॥" [वाक्यप० २।२३५] इति । ५

एतच्चानुपपन्नम्; तदधिगमोपायाभावात् । उक्तञ्च–

***"प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते[2] न यत्र तल्लिङ्गगम्यं न तदर्थलिङ्गम् ।**
वाचो न वा तद्विषयेण योगः का तद्गतिः कष्टमशृण्वतां ते[3]॥" [युक्त्यनु०श्लो०२२]इति ।

आहितोभयप्रकारस्य प्रमाणस्य आदिप्रकारविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह[4]–

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥ १०

इतिशब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षावशादाद्यर्थसंप्रत्ययः ।१। इतिशब्दोऽनेकार्थः[5] सभवति । क्वचिद्धेतौ वर्तते–'हन्तीति पलायते, वर्षतीति धावति'। क्वचिदेवमित्यस्यार्थे वर्तते–इति स्म उपाध्यायः कथयति 'एवं स्म' इति गम्यते । क्वचित्प्रकारे वर्तते–यथा 'गौरश्व,[6] शुक्लो नीलः, चरति प्लवते, जिनदत्तो देवदत्त ' इति, 'एव प्रकारा ' इत्यर्थ । क्वचिद्व्यवस्थाया वर्तते–यथा *"उवलितिकसंताण:" [जैने० २।१।११२] इति । क्वचिदर्थविपर्यासे वर्तते–यथा 'गौरित्ययमाह-गौरिति जानीते' इति । क्वचित्समाप्तौ वर्तते–'इति प्रथममाह्निकम्' इति 'द्वितीयमाह्निकम्' इति । क्वचिच्छब्दप्रादुर्भावे वर्तते–इति [7]श्रीदत्तम्, इति सिद्धसेनमिति । तत्रेह विवक्षावशादादिशब्दार्थो वेदितव्य । मतिस्मृतिसज्ञाचिन्ताभिनिबोधादय इत्यर्थ । के पुनस्ते ? [8]प्रतिभाबुद्ध्युपलब्ध्यादय[9]। प्रकारे वा, एवं प्रकारा इति। कथमेषा शब्दानामनर्थान्तरत्वम् ? १५

मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तार्थोपलब्धिविषयत्वादनर्थान्तरत्वं रूढिवशात् ।२। एतेषां मत्यादीना शब्दाना मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तायामर्थोपलब्धौ वृत्तेरनर्थान्तरत्व वेदित- २०

---

१ –एव प्रव– ता० । २ वर्तते, 'वृत्तिसर्वतायनें व्रतेः' (जैने० १।१।३४) इति वृत्यर्थे तङ्, वृत्तिरात्मयापनमतिप्रबन्धो वा, तत्र आत्मान यापयति न प्रतिहन्यते वेत्यर्थः । नञा सह अत्र प्रतिहन्यते न वर्तत इति यावत् । ३ –मशृण्वतस्ते आ०, द०, ब०, मु०, ता० । तव मतम् । " यत्र सविदद्वैते तत्त्वे प्रत्यक्षबुद्धिर्न क्रमते न प्रवर्तते कस्यचित्तथा निश्चयानुत्पत्तेः । तल्लिङ्गगम्य स्यात् स्वर्गप्रापणशक्त्यादिवत् । न च तत्रार्थरूप लिङ्गः सम्भवति तत्स्वभावलिङ्गस्य तद्वत् प्रत्यक्षबुध्यतिक्रान्तत्वात्, लिङ्गान्तरगम्यत्वेऽनवस्थानुषङ्गात् । तत्कार्यलिङ्गस्य वाऽसम्भवात्, सम्भवे वा द्वैतप्रसङ्गात् । न च वाचः परार्थानुमानरूपायास्तद्विषयेण सविदद्वैतरूपेण योगः, परम्परयाऽपि सम्बन्धायोगात् । ततः का तस्य तत्त्वस्य गतिः ? न काचित् प्रत्यक्षा लैङ्गिकी शाब्दी वा प्रतिपत्तिरस्तीति कष्टं दर्शन ते तव शासनमशृण्वता तथागतानामिति ग्राह्यम् ।" –युक्त्यनु० टी० पृ० ४६ ।

४ उक्तञ्च– मत्यादिष्विव बोधेषु स्मृत्यादीनामसंग्रहः । इत्याशङ्क्याह मत्यादिसूत्रं मत्यात्मसविदे । इति । ५ हेतावेवंप्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये । प्रादुर्भावे समाप्तौ च इति शब्दः प्रकीर्तितः ॥ इति धनञ्जयसूरिः । ६ जातिगुणक्रियाद्रव्य । इतिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते गौरितीति । ७ शब्दप्रथेत्यादिसत्रेण अव्ययीभावसमासः । शब्दप्रादुर्भावः प्रकषण ख्यातिः । श्रीदत्तादिशब्दो लोके सुष्ठु प्रथते इत्यर्थः । ८ तथा चोक्तम्- इतिशब्दात् प्रकारार्थात् बुद्धिर्मेधा च गृह्यते । प्रज्ञा च प्रतिभा भान संभवोपमिती तथा ॥ ९ प्रत्येकमिति शब्दस्य ततः सङ्गतिरिष्यते । समाप्ताविति शब्दोऽयं सूत्रेस्मिन्न विरुध्यते ॥ मतिरिति स्मृतिरिति संज्ञेति चिन्तेति अभिनिबोध इति प्रकारोऽनर्थान्तरमेव, मतिज्ञानमेकमिति विज्ञेयम्, मत्यादिभेदं मतिज्ञानमिति परिसमाप्तम् ।

व्यम्। कथं पुन. 'मनन मन्यत इति वा मति' इत्येवमाद्यर्थविषयाणामेषामनर्थान्तरत्वम् इति ? अत आह–रूढिवशादिति। यथा गच्छतीति गौरित्यङ्गीकृतमपि गमन न शब्दवृत्तिनियमकारण रूढिवशात् क्वचिदेव वर्तते, तथा मत्यादय शब्दा व्युत्पत्तिकर्मणि सत्यप्यर्थाश्रयेण भेदे क्वचिदेव वर्तन्त इत्यनर्थान्तरत्वमवसीयते।

५ **शब्दभेदादर्थभेदो गवाश्वादिवदिति चेत्, न, अतः संशयात्।३।** स्यादेतत्–मत्यादीनां शब्दाना परस्परतोऽर्थान्तरत्वमस्ति। कुत ? शब्दभेदात्, गवाश्वादिवदिति; तन्न; कि कारणम्, अत सशयात्। यत एव मत्यादीना शब्दभेदादन्यत्वमाह भवान्, अत एव सशय.। कथम् ? इन्द्रादिवत्। यथा इन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दभेदेऽपि नार्थभेद तथा मत्यादिशब्दभेदेऽप्यर्थाभेद इति। न हि यत एव सशयस्तत एव [1]निर्णय। किञ्च,

१० **शब्दाभेदेऽप्यर्थैकत्वप्रसङ्गात्।४।** यस्य शब्दभेदोऽर्थभेदे हेतुरिति मतम्, तस्य वागादि-[2]नवार्थेषु गोशब्दाभेददर्शनाद् वागाद्यर्थानामेकत्वमस्तु। अथ नैतदिष्टम्; न तर्हि शब्दभेदोऽन्यत्वस्य हेतु। किञ्च,

आदेशवचनात्।५। यथा इन्द्रादीनामेकद्रव्यपर्यायादेशात् स्यादेकत्व प्रतिनियतपर्यायार्थादेशाच्च स्यादन्यत्वम्–इन्दनादिन्द्र, शकनाच्छक्र, पूर्दारणात्पुरन्दर इति। तथा मत्यादीनामेक-
१५ द्रव्यपर्यायादेशात् स्यादेकत्वम्, प्रतिनियतार्थपर्यायादेशाच्च स्यान्नानात्वम्–'मनन मति स्मरण स्मृति सज्ञान सज्ञा चिन्तन चिन्ता आभिमुख्येन नियत बोधनमभिनिबोध'[3] इति।

पर्यायशब्दो लक्षणं नेति चेत्; न; ततोऽनन्यत्वात्।६। स्यान्मतम्–मत्यादय [4]अभिनिबोधपर्यायशब्दा नाभिनिबोधस्य लक्षणम्। कथम् ? मनुष्यादिवत्। यथा मनुष्यमर्त्यमनुजमानवादय पर्यायशब्दा मनुष्यस्य लक्षण न भवन्तीति; तन्न; कि कारणम् ? ततोऽनन्यत्वात्।
२० इह पर्यायिणोऽनन्य पर्यायशब्द, स लक्षणम्। कथम् ? औष्ण्याग्निवत्। यथा पर्यायशब्द औष्ण्यमग्ने पर्यायिणोऽनन्यत्वादग्नेर्लक्षण भवति तथा पर्यायशब्दा मत्यादय आभिनिबोधिकज्ञानपर्यायिणोऽनन्यत्वेन अभिनिबोधस्य लक्षणम्। अथवा, ततोऽनन्यत्वात्। यथा मनुष्यमर्त्यमनुजमानवादय असाधारणत्वादन्यघटादिद्रव्यासभविनो[5] मनुष्यादनन्यत्वात्तस्य लक्षणम्, अन्यथा हि मनुष्यादिपर्यायालक्षणत्वात् मनुष्याभावो भवेत्, यतो न मनुष्यादिलक्षणव्यति-
२५ रेकेणास्यान्यल्लक्षणमस्तीति। न चाभाव इष्ट', अत' पर्यायशब्दो लक्षणम्। तथा मतिस्मृत्यादयोऽसाधारणत्वाद् अन्यज्ञानासभविनोऽभिनिबोधादनन्यत्वात्तस्य लक्षणम्।

इतश्च पर्यायशब्दो लक्षणम्। कस्मात् ?

गत्वा प्रत्यागतलक्षणग्रहणात्।७। कथम् ? अग्न्युष्णवत्। यथा अग्निरिति गत्वा ज्ञात्वा बुद्धिरुष्णपर्यायशब्द गच्छति। कथ गच्छति ? कोऽयमग्नि ? य उष्ण इति। उष्ण
३० इति च गत्वा बुद्धि प्रत्यागच्छति। कोऽयमुष्ण ? योऽग्निरिति। तथा मतिरिति गत्वा बुद्धि स्मृति गच्छति। का मति ? या स्मृतिरिति। तत स्मृतिरिति गत्वा बुद्धि प्रत्यागच्छति। का स्मृति ? या मतिरिति। एवमुत्तरेष्वपि। तस्माद् गत्वा प्रत्यागतलक्षणग्रहणात् पश्यामः 'पर्यायशब्दो लक्षणम्' इति। किञ्च,

---

१ निश्चयः आ०, ब०, मु०। २ गौः स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्रे चन्द्रमसि स्मृतः। अर्जुने नेत्रदिग्बाणे भूवाग्वारिषु गौर्मता॥ इति विश्वप्रकाशिका। ३ –बोधनः ता०, श्र०। ४ मतिज्ञानमित्यर्थः। 'अभिमुखनियमितबोधनमाभिनिबोधनमनिन्द्रियेन्द्रियजम्' इत्युक्तत्वात् –ता० टि०। ५ –सभविनो आ०, ब०, मु०।

पर्यायद्वैविध्यादग्निवत् ।८। यथा अग्नेरात्मभूत उष्णपर्यायो लक्षण न धूम, तस्य बाह्येन्धननिमित्तत्वे कादाचित्कत्वात्, तथा आभ्यन्तरो मत्यादिपर्याय आत्मभूतत्वाल्लक्षण नाऽऽत्मभूतो बाह्यो मत्यादिशब्द पुद्गल तत्प्रत्यायनसमर्थ, तस्य बाह्यकरणप्रयोगनिमित्तत्वात् ।

इति करणस्य वाऽभिधेयार्थत्वात् ।९। अथवा इतिकरणोऽयम् अभिधेयार्थ प्रयुज्यते । ५
मति स्मृति. संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध इति योऽर्थोऽभिधीयते तन्मतिज्ञानमिति । ततो लक्षणत्वमुपपद्यते ।

श्रुतादीनामेतैरनभिधानात् ।१०। न ह्येतैर्मत्यादिभि श्रुतादीन्यभिधीयन्ते ।

वक्ष्यमाणलक्षणसद्भावाच्च ।११। श्रुतादीना हि लक्षण वक्ष्यते । तत तेषा मत्यप्रसङ्ग । १०

[1]यद्येवंलक्षणं मतिज्ञानमवधिर्यते अथास्यात्मलाभे किन्निमित्तमिति ? अत आह—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

अथवा, आत्मप्रसादाविशेषात् सर्वज्ञानानामेकत्वप्रसङ्गे निमित्तभेदान्नानात्व प्रतिपिपादयिषन्[2] ब्रवीति—सत्यपि अमुष्मिन्नविशेषे पृथक्त्वमेषामवेम । कुत ? यस्मात्तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति । किमिदमिन्द्रिय नाम ? १५

इन्द्रस्यात्मनोऽर्थोपलब्धिलिङ्गमिन्द्रियम् ।१। इन्द्र आत्मा, तस्य कर्ममलीमसस्य स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थस्याऽर्थोपलम्भने यल्लिङ्ग तदिन्द्रियमित्युच्यते ।

अथ किमिदमनिन्द्रियम् ?

अनिन्द्रियं मनोऽनुदरावत् ।२। मनोऽन्त करणमनिन्द्रियमित्युच्यते । कथमिन्द्रियप्रतिषेधेन मन उच्यते ? यथा 'अयमब्राह्मण' इत्युक्ते ब्राह्मणत्वरहिते कस्मिश्चित् सप्रत्ययो २०
भवति, तथा इन्द्रलिङ्गविरहिते अन्यस्मिन् अनिन्द्रियमिति सप्रत्यय स्यात्, न तु इन्द्रलिङ्ग एव मनसि; नैष दोष: ईषत्प्रतिषेधात् । कथम् ? अनुदरावत् । यथा 'अनुदरा कन्या' इति नास्या उदर न विद्यते, किन्तु गर्भभारोद्वहनसमर्थोदराभावादनुदरा, तथा अनिन्द्रियमिति नास्येन्द्रियत्वाभाव, किन्तु चक्षुरादिवत् प्रतिनियतदेशविषयावस्थानाभावात् अनिन्द्रिय मन इत्युच्यते । २५

अन्तरङ्गं तत्करणम्, इन्द्रियानपेक्षत्वात् ।३। नास्येन्द्रियेष्वपेक्षास्तीति इन्द्रियानपेक्षम् । न ह्यस्य गुणदोषविचारस्वविषयप्रवृत्तौ इन्द्रियापेक्षास्ति ततोऽन्तरङ्ग तत्करणमिति वेदितव्यम् । तदुभयमवष्टभ्य यदुत्पद्यते तन्मतिज्ञानमिति ।

तदित्यग्रहणम्, अनन्तरत्वादिति चेत्; न; उत्तरार्थत्वात् ।४। स्यादेतत्—मतिज्ञानस्यानन्तरत्वादनेनाभिसंबन्धो भवतीति तदित्येतद्ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् ? उत्तरार्थ- ३०
त्वात् । उत्तरार्थं [3]हि तत् । इतरथा हि अवग्रहेहावायधारणा मतिज्ञानभेदा इति विज्ञातुमशक्या. । तद्ग्रहणे पुन क्रियमाणे तन्मतिज्ञानमवग्रहादय इति सबन्ध सुगमो भवति ।

यदेतस्मिन्निमित्तद्वयसन्निधाने सत्यात्मलाभ प्रत्यागूर्णमनिर्वर्णितभेदमिति तद्भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

---

१ यदेवं ता० । २ –यिष्यन् आ०, ब०, मु० । ३ ह्येतत् आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यं[1] ग्रहणमवग्रहः ।१। विषयविषयिसन्निपाते दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रह ।

अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा ।२। यथा 'पुरुष' इत्यवगृहीते तस्य भाषावयोरूपादिविशेषैराकाङ्क्षणमीहा ।

विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः ।३। भाषादिविशेषनिर्ज्ञानात्तस्य याथात्म्येनावगमनमवाय· । 'दाक्षिणात्योऽयम्, युवा, गौर' इति वा ।

[2]निर्णीतार्थाऽविस्मृतिर्धारणा ।४। भाषावयोरूपादिविशेषैर्याथात्म्येन निर्णीतस्य पुरुषस्योत्तरकालम्[3] 'स एवायम्' इत्यविस्मरणं यतो भवति सा धारणा । त एते मतिज्ञानभेदा ।

अत्राह–इदमानुपूर्व्यं· किं कृतमेषाम् ? उच्यते–

अवग्रहादीनामानुपूर्व्यमुत्पत्ति[4]क्रमापेक्षम् ।५। अवग्रहपूर्वकत्वात् इतरेषाम् आदावग्रह क्रियते । [5]तथेतरेष्वपि योज्यम् । अत्राह–

अवग्रहेहयोरप्रामाण्यं तत्सद्भावेऽपि संशयदर्शनाच्चक्षुर्वत् ।६। यथा चक्षुषि न निर्णय, सत्येव तस्मिन् 'किमय स्थाणुराहोस्वित् पुरुष.' इति सशयदर्शनात्, तथा अवग्रहेऽपि सति न निर्णय ईहादर्शनात्, ईहाया च न निर्णय, यतो निर्णयार्थमीहा नत्वीहैव निर्णय । यश्च निर्णयो न भवति स सशयजातीय इत्यप्रामाण्यमनयोरिति ।

अवग्रहवचनादिति चेत्; न; संशयानतिवृत्तेरालोचनवत् ।७। स्यादेतत्–नावग्रह संशय । कुत ?[6] अवग्रहवचनात् । यत उक्त 'पुरुषोऽयम्' इति अवग्रह, 'तस्य भाषावयोरूपादिविशेषाकाङ्क्षणमीहा' इति । संशयस्तु अप्रतिपत्तिरेवेति; तन्न, कि कारणम् ? सशयानतिवृत्ते । कथम् ? आलोचनवत् । यथा ऊर्ध्वार्थालोचने 'किमयमूर्ध्वोऽर्थ स्थाणु, उत पुरुष' इति सशयानतिवृत्ति तथा 'ऊर्ध्वोऽयमर्थ' इत्यवग्रहे ईहाद्यपेक्षत्वात् सशयानतिवृत्ति । उच्यते–

लक्षणभेदादन्यत्वमग्निजलवत् ।८। यथा अग्निजलयोः दहनप्रकाशनादि–द्रवतास्नेहनादिप्रतिनियतलक्षणभेदात् अन्यत्व तथा अवग्रहसंशययोर्लक्षणभेदादन्यत्वम् । कोऽसौ लक्षणभेद ? उच्यते–

अनेकार्थाऽनिश्चिताऽपर्युदासात्मकः संशयः तद्विपरीतोऽवग्रहः ।९। स्थाणुपुरुषाद्यनेकार्थालम्बनसन्निधानादनेकार्थात्मक सशय, एकपुरुषाद्यन्यतमात्मकोऽवग्रह । स्थाणुपुरुषानेकधर्मानिश्चितात्मक· संशय, यतो न स्थाणुधर्मान् पुरुषधर्माश्च निश्चिनोति, अवग्रहस्तु पुरुषाद्यन्यतमैकधर्मनिश्चयात्मकः । स्थाणुपुरुषानेकधर्माऽपर्युदासात्मकः सशय·, यतो न प्रतिनियतान् स्थाणुपुरुषधर्मान् पर्युदस्यति संशय·, अवग्रह· पुन. पर्युदासात्मक, स ह्यन्यान् [7]ध्रुवादीन् पर्यायान् पर्युदस्य 'पुरुष.' इत्येकपर्यायालम्बनः ।

संशयतुल्यत्वमपर्युदासादिति चेत्; न; निर्णय[8]विरोधात् संशयस्य ।१०। स्यादेतत्–संशयतुल्योऽवग्रहः । कुत· ? अपर्युदासात् । यथा संशयः स्थाणुपुरुषविशेषापर्युदासात्मकः तथा अवग्रहोऽपि 'पुरुषः' इति भाषावयोरूपाद्यपर्युदासात्मकः । अतश्चैतदेव यदुत्तरकालं तद्विशेषार्थमीहामारभत इति, तन्न ; कि कारणम् ? निर्णयविरोधात् संशयस्य । सशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः निर्णयदर्शनात् ।

---

१ –माद्यग्र– आ०, ब०, मु० । २ निर्ज्ञातार्था– मु० । ३ –काले भा० २ । ४ –त्तिक्रियापे– मु० । ५ तथोत्तरे– मु० । ६ प्रतिपत्ति । ७ –न् भावादीन् मु० । –न् भवादीन् आ०, ब०, द०, ता०, भा० २ । स्थाणुरस्त्री ध्रुवः शङ्कुः । स्थाण्वादीनित्यर्थः । ८ –यनिरो– मु० ।

ईहायां तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; अर्थादानात्।११। स्यादेतत्–यदि निर्णयाविरोध्यवग्रह इति न संशय, ननु ईहाया निर्णयविरोधिनीत्वात् सशयत्वप्रसङ्ग इति, तन्न; कि कारणम् ? अर्थादानात्। अवगृह्यार्थं तद्विशेषोपलब्ध्यर्थमर्थादानमीहा। सशय पुनर्नार्थविशेषालम्बनः।

संशयपूर्वकत्वाच्च।१२। संशयो हि पूर्वमुपजायते ईहाया । कथम् ? इह पुरुषमवगृह्य 'किमयं दाक्षिणात्य उत औदीच्य.' इत्येवमाद्यप्रतिपत्तौ सशय, एवसंशयितस्योत्तरकाल विशेषोपलिप्सा प्रति यतनमीहेति संशयादर्थान्तरत्वम् ।

अत एव संशयावचनम् अर्थगृहीतेः।१३। अत एव सूत्रे सशयो नोक्त । कुत ? अर्थगृहीते । सति[1] हि सशये ईहाया प्रवृत्तिर्नाऽसतीति ।

आह–किमयम् अपाय उत अवाय इति ? उभयथा न दोष· । अन्यतरवचनेऽन्यतरस्यार्थगृहीतत्वात् । यदा 'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपायं त्यागं करोति तदा 'औदीच्य' इत्यवायोऽधिगमोऽर्थगृहीतः। यदा च 'औदीच्य' इत्यवाय करोति तदा 'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपायोऽर्थगृहीत ।

कश्चिदाह–यदुक्तं भवता विषयविषयिसन्निपाते दर्शनं भवति, तदनन्तरमवग्रह इति; तदयुक्तम्; अवैलक्षण्यात् । न ह्यवग्रहाद्विलक्षणं दर्शनमस्तीति । अत्रोच्यते–न; वैलक्षण्यात् । कथम्? इह चक्षुषा चक्षुर्दर्शना[2]वरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामावष्टम्भाद् अविभावितविशेषसामर्थ्येन 'किञ्चिदेतद्वस्तु' इत्यालोकनमनाकार दर्शनमित्युच्यते बालवत् । यथा जातमात्रस्य बालस्य प्राथमिक उन्मेषोऽसौ अविभावितरूपद्रव्यविशेषालोचनाद्दर्शन विवक्षित तथा सर्वेषाम्। ततो [3]द्वित्रादिसमयभाविषून्मेषेषु चक्षुरवग्रहमतिज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयापेशमाङ्गोपाङ्गनामावष्टम्भाद् 'रूपमिदम्' इति विभावितविशेषोऽवग्रह । यत् प्रथमसमयोन्मेषितस्य बालस्य दर्शन तद् यदि अवग्रहजातीयत्वात् ज्ञानमिष्टम्; तन्मिथ्याज्ञान वा स्यात्, सम्यग्ज्ञान वा ? मिथ्याज्ञानत्वेऽपि सशयवि[6]पर्ययानध्यवसायात्मक [वा] स्यात् ? तत्र न तावत् सशयविपर्ययात्मक[7] वाऽचेष्टि; तस्य[8] [9]सम्यग्ज्ञानपूर्वकत्वात् । प्राथमिकत्वाच्च तन्नास्तीति । न वाऽनध्यवसायरूपम्; जात्यन्धबधिररूपशब्दवत् वस्तुमात्रप्रतिपत्ते । न सम्यग्ज्ञानम्; अर्थाकारावलम्बनाभावात् । किञ्च,

कारणनानात्वात् कार्यनानात्वसिद्धे । यथा मृत्तन्तुकारणभेदात् घटपटकार्यभेद तथा दर्शनज्ञानावरणक्षयोपशमकारणभेदात् तत्कार्यदर्शनज्ञानभेद इति । अस्ति प्राक् अवग्रहाद्दर्शनम् । तत. शुक्लकृष्णादिरूपविज्ञानसामर्थ्योपेतस्यात्मन 'कि शुक्लमुत कृष्णम्' इत्यादिविशेषाप्रतिपत्तेः संशय । तत शुक्लविशेषाकाङ्क्षणं प्रतीहनमीहा । तत 'शुक्लमेवेद न कृष्णम्' इत्यवायनमवाय । [4]अवेतस्यार्थस्याविस्मरणं धारणा । एव श्रोत्रादिषु मनस्यपि योज्यम् । तदावरणकर्मक्षयोपशमविकल्पात् प्रत्येकमवग्रहादिज्ञानावरणभेद इष्यते । कथम् ? ज्ञानावरणमूलप्रकृतेः पञ्चोत्तरप्रकृतय., तासामप्युत्तरोत्तरा प्रकृतिविशेषा सन्ति । ***"ज्ञानावरणस्योत्तरोत्तरप्रकृतयः असंख्येया लोकाः"** [ ] इति वचनात् ।

---

१ सति संशये ईहायाः प्रवृत्तिर्नास्तीति द०, मु० । असति सं– आ०, ब० । २ –वरणीयवी– आ०, ब०, मु० । ३ सुज्वेत्यादिना समासः । ४ –पर्यासानध्य– ता० । ५ वाचेष्टितस्य मु०, आ०, ब०, द० । बालेऽस्ति तस्य मु० । लुङ् चेष्टितम्– ता० टि० । न तावत् संशयविपर्ययात्मकं वा बालेन अचेष्टि चेष्टितमित्यर्थः । ६ संशयविपर्ययात्मकस्य । ७ समीचीन । ८ निश्चितस्य । ९ नानाजीवापेक्षया । असंख्येयलोकाः मु० ।

आह–ईहादीनाममतिज्ञानप्रसङ्गः। कुत ? परस्परकार्यत्वात्। अवग्रह कारणम् ईहा कार्यम्, ईहा कारणम् अवाय कार्यम्, अवाय कारण धारणा कार्यम्। न चेहादीनाम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वमस्तीति; नैष दोष ; ईहादीनाम् अनिन्द्रियनिमित्तत्वात् मतिज्ञानव्यपदेश। यद्येव श्रुतस्यापि प्राप्नोति; इन्द्रियगृहीतविषयत्वादीहादीनाम् अनिन्द्रियनिमित्तत्वमप्युपचर्यते, न तु श्रुतस्याथ विधिरस्ति तस्यानिन्द्रियविषयत्वादिति श्रुतस्याप्रसङ्ग। यद्येव चक्षुरिन्द्रियेहादिव्यपदेशाभाव इति चेत्; न; इन्द्रियशक्तिपरिणतस्य जीवस्य भावेन्द्रियत्वे तद्व्यापारकार्यत्वात्। इन्द्रियभावपरिणतो हि जीवो भावेन्द्रियमिष्यते, तस्य विषयाकारपरिणामा ईहादय इति चक्षुरिन्द्रियेहादिव्यपदेश इति।

य इमे अवग्रहादयो मतिज्ञानप्रभेदा उक्तास्ते ज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्ता[1] केषा भवन्तीति ? उच्यते–

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात्।१। बहुशब्दो हि सख्यावाची वैपुल्यवाची च, तस्योभयस्यापि ग्रहणम्। कस्मात् ? अविशेषात्। सख्यायाम् 'एको द्वौ बहव' इति, वैपुल्ये 'बहुरोदनो बहु सूप' इति।

बह्ववग्रहाद्यभावः प्रत्यर्थवशवर्तित्वादिति चेत्, न; सर्वदैकप्रत्ययप्रसङ्गात्।२। स्यादेतत्–प्रत्यर्थवशवर्ति विज्ञान नानेकमर्थं ग्रहीतुमलम्, अतो बह्ववग्रहादीनामभाव इति; तन्न; किं कारणम् ? सर्वदैकप्रत्ययप्रसङ्गात्। यथा [2]इरिणाटव्या कश्चिदेकमेव पुरुषमवलोकयन् नानेक इत्यवैति, मिथ्याज्ञानमन्यथा स्यात् एकत्र अनेकबुद्धिर्यदि भवेत्, तथा नगरवनस्कन्धावारावगाहिनोऽपि तस्यैकप्रत्यय स्यात् सार्वकालिक। अतश्चानेकार्थग्राहिविज्ञानस्यात्यन्तासभवात् नगरवनस्कन्धावारप्रत्ययनिवृत्ति। नैता सज्ञा ह्येकार्थनिवेशिन्य, तस्माल्लोकसव्यवहारनिवृत्ति। किञ्च,

[3]नानार्थप्रत्ययाभावात्।३। यस्यैकार्थमेव नियमाज्ज्ञान तस्य पूर्वज्ञाननिवृत्तावुत्तरज्ञानोत्पत्ति स्यात्, अनिवृत्तौ वा ? उभयथा च दोष। यदि पूर्वमुत्तरज्ञानोत्पत्तिकालेऽस्ति; यदुक्तम् *"एकार्थमेकमनस्त्वात्" [ ] इत्यदो विरुध्यते। यथैक मनोऽनेकप्रत्ययारम्भक तथैकप्रत्ययोऽनेकार्थो भविष्यति, अनेकस्य प्रत्ययस्यैककालसभवात्। [4]नन्वनेकार्थोपलब्धिरुपपत्स्यते; तत्र [5]'यदभिमतम्'–*"एकमेव एकस्य ज्ञानमेकं चार्थमुपलभते" [ ] इत्यमुष्य व्याघात.। अथ [6]'पुनर्विनिवृत्ते पूर्वस्मिन्नुत्तरज्ञानोत्पत्ति प्रतिज्ञायते; ननु सर्वथैकार्थमेकमेव ज्ञानमिति, अत. 'इदमस्मादन्यत्' इत्येष व्यवहारो न स्यात्। अस्ति च स, तस्मान्न किञ्चिदेतत्। किञ्च,

आपेक्षिकसंव्यवहार[7]विनिवृत्तेः।४। यस्यैकज्ञानमनेकार्थविषय न विद्यते; तस्य [8]'मध्यमाप्रदेशिन्योर्युगपदनुपलम्भात् तद्विषयदीर्घह्रस्वव्यवहारो विनिवर्तेत। आपेक्षिको ह्यसौ, न चापेक्षास्ति। किञ्च,

संशयाभावप्रसङ्गात्।५। एकार्थविषयवर्तिनि विज्ञाने, स्थाणौ पुरुषे वा प्राक्प्रत्ययजन्म स्यात्, नोभयो प्रतिज्ञातविरोधात्। यदि स्थाणौ; पुरुषाभावात् स्थाणुवन्ध्यापुत्रवत्

---

१ –त्ताः पुन. के –ता०। २ शून्याटव्याम्। संकीर्णो निचिताशुद्धाविरिणं शून्यमूषरमित्यमरः। यथारण्याटव्याम्– आ०, द०, ब०, मु०। ३ नानात्वप्रत्य– आ०, ब०, द० मु०, मू०। ४ नत्वनेका– मु०। नत्वेका – ब०। ५ यदभिमतमेवैकस्य आ०, द०, ब०, मु०। ६ पुर्नानिवृ– आ०, द०, ब०, मु०। ७ –र नि– आ०, द०, ब०, मु०। ८ अङ्गुल्योः।

सशयाभाव स्यात्। अथ पुरुषे; तथा स्थाणुद्रव्यानपेक्षत्वात् सशयो न स्यात्, तत्पूर्ववत्। नत्वभाव[१] इष्ट, अतो नैकार्थग्राहिविज्ञानकल्पना श्रेयसीति। किञ्च,

ईप्सितनिष्पत्त्यनियमात् ।६। विज्ञानस्यैकार्थविलम्बित्वे चित्रकर्मणि निष्णातस्य चैत्रस्य पूर्णकलशमालिखत[२] तत्क्रियाकलशतत्प्रकारग्रहणविज्ञानभेदात् इतरेतरविषयसक्रमाभावात् अनेकविज्ञानोत्पादनिरोध[३]क्रमे सति अनियमेन निष्पत्ति स्यात्। दृष्टा तु सा नियमेन। सा चैकार्थग्राहिणि विज्ञाने विरुध्यते। तस्मान्नानार्थोऽपि प्रत्ययोऽभ्युपेय।

द्वित्रादिप्रत्ययाभावाच्च ।७। एकार्थविषय[४]वर्तिनि विज्ञाने 'द्वाविमौ इमे त्रय' इत्यादि प्रत्ययस्याभाव, यतो नैक विज्ञान द्वित्राद्यर्थाना ग्राहकमस्ति।

सन्तानसंस्कारकल्पनायां च विकल्पानुपपत्तिः ।८। सन्ताने सस्कारे च कल्प्यमाने विकल्पयोरनुपपत्ति[५]। स सन्तानः सस्कारश्च ज्ञानजातीयो वा स्यात्, अज्ञानजातीयो वा? यद्यज्ञानजातीयः; न ततः किञ्चित् प्रयोजनमस्ति। ज्ञानजातीयत्वेऽपि एकार्थग्राहित्व वा स्यात्, अनेकार्थग्राहित्व वा? यद्येकार्थग्राहित्वम्; दोषविधिस्तदवस्थः। अथानेकार्थग्राहित्वम्, प्रतिज्ञाहानिः प्रसज्यते।

विधग्रहणं प्रकारार्थम् ।९। 'विधयुक्तगतप्रकाराः समानार्थाः' इति प्रकारार्थो विधशब्दः। बहुविध बहुप्रकारमित्यर्थः।

क्षिप्रग्रहणमचिरप्रतिपत्त्यर्थम् ।१०। 'अचिरप्रतिपत्तिः कथ स्यात्' इति क्षिप्रग्रहण क्रियते।

अनिःसृतग्रहणमसकलपुद्गलोद्गमार्थम् ।११। अनिःसृतग्रहण क्रियते असकलपुद्गलोद्गमार्थम्।

अनुक्तमभिप्रायेण प्रतिपत्तेः[६] ।१२। 'अभिप्रायेण प्रतिपत्तिरस्ति' इत्यनुक्तग्रहण क्रियते।

ध्रुवं यथार्थग्रहणात् ।१३। ध्रुवग्रहण क्रियते 'यथार्थग्रहणमस्ति' इति।

सेतरग्रहणाद्विपर्ययावरोधः[७] ।१४। 'अल्पमल्पविध चिर निःसृतमुक्तमध्रुवम्' इत्येतेषामवरोधो भवति सेतरग्रहणात्।

अवग्रहादिसंबन्धात् कर्मनिर्देशः ।१५। 'बह्वादीनाम्' इति कर्मनिर्देशोऽवग्रहाद्यपेक्षो वेदितव्य।

बह्वादीनामादौ वचनं विशुद्धिप्रकर्षयोगात् ।१६। ज्ञानावरणक्षयोपशमविशुद्धिप्रकर्षयोगे सति बह्वादीनामवग्रहादयो भवन्ति इति तेषा ग्रहणमादौ क्रियते।

ते च प्रत्येकमिन्द्रियानिन्द्रियेषु द्वादशविकल्पा नेया। तद्यथा—प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोपष्टम्भात् सभिन्नश्रोताज्यो वा युगपत्तत[८]वितत[९]घन[१०]-[११]सुषिरादिशब्दश्रवणाद् बहुशब्दमवगृह्णाति। अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणाम आत्मा ततशब्दादीनामन्यतममल्प शब्दमवगृह्णाति। प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिसन्निधाने सति तत्तादिशब्दविकल्पस्य प्रत्येकमेकद्वित्रिचतुःसङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तगुणस्यावग्राहकत्वात् बहु-

---

१ संशयस्याभावः — ता० टि०। २ —तः क्रिया— ता०, मू० श्व०। —तः सत्क्रिया— द०। ३ नाश। ४ —विषयविज्ञाने ता०। ५ —त्तिः सन्ता— श्व०। ६ —पत्ति. श्व०, द०। —पत्त्यर्थं भा० १। ७ अङ्गीकारः। ८ वीणादिवाद्य। ९ मुरजादि। १० तालादि। ११ वशादि। तत वीणादिक वाद्यमानद्धं मुरजादिकम्। वंशादिकं तु सुषिरं कास्यं तालादिकं घनम्॥ इत्यमरः।

विधमवगृह्णाति । अल्पविशुद्धिश्रोत्रेन्द्रियादिपरिणामकारण आत्मा तत्तादिशब्दानामेकविधावग्रहणात् एकविधमवगृह्णाति । प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपरिणामित्वात् क्षिप्रं शब्दमवगृह्णाति । अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपारिणामिकत्वात् चिरेण शब्दमवगृह्णाति । [1]सुविशुद्धश्रोत्रादिपरिणामात् साकल्येनानुच्चारितस्य ग्रहणात् अनिःसृतमवगृह्णाति । निःसृतं प्रतीतम् । प्रकृष्टविशुद्धिश्रोत्रेन्द्रियादिपरिणामकारणत्वात् एकवर्णानिर्गमेऽपि[2] अभिप्रायेणैव अनुच्चारित शब्दमवगृह्णाति 'इमं भवान् शब्दं वक्ष्यति' इति । अथवा, स्वरसचारणात् प्राक् तन्त्रीद्रव्यातोद्याद्यामर्शनेनैव अवादितम् अनुक्तमेव शब्दमभिप्रायेणावगृह्य आचष्टे-'भवानिमं शब्दं वादयिष्यति' इति । उक्तं प्रतीतम् । सक्लेशपरिणामनिरुत्सुकस्य यथानुरूपश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपरिणामकारणावस्थितत्वात् यथा प्राथमिकं शब्दग्रहणं तथावस्थितमेव[3] शब्दमवगृह्णाति नोनं नाभ्यधिकम् । पौनःपुन्येन सक्लेशविशुद्धिपरिणामकारणापेक्षस्यात्मनो यथानुरूपपरिणामोपात्तश्रोत्रेन्द्रियसान्निध्येऽपि तदावरणस्येषदीषदाविर्भावात् पौनःपुनिकं प्रकृष्टावकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणादिक्षयोपशमपरिणामत्वाच्च अध्रुवमवगृह्णाति शब्दम्-क्वचिद् बहु क्वचिदल्प क्वचिद् बहुविध क्वचिदेकविध क्वचित् क्षिप्रं क्वचिच्चिरेण क्वचिदनिःसृतं क्वचिन्निःसृतं क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तम् ।

[4]अत्राह--बहुबहुविधयोः कः प्रतिविशेषो [5]यावतोभयत्रापि तत्तादिशब्दग्रहणमविशिष्टमस्ति ? उच्यते-न, [6]विशेषदर्शनात् । यथा कश्चित् बहूनि शास्त्राणि [7]मौलेन सामान्यार्थेनाविशेषितेन व्याचष्टे न तु बहुभिर्विशेषितार्थैः, कश्चिच्च तेषामेव बहूना शास्त्राणा बहुभिरर्थैः परस्परातिशययुक्तैर्बहुविकल्पैर्व्याख्यानं करोति, तथा तत्तादिशब्दग्रहणाविशेषेऽपि यत्प्रत्येकं तत्तादिशब्दानाम् एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणपरिणतानां ग्रहणं तद् बहुविधग्रहणम्, यत्तत्तादीना सामान्यग्रहणं तद् बहुग्रहणम् ।

आह-उक्तनिःसृतयो: क: प्रतिविशेष, यत सकलशब्दनिःसरणान्निःसृतम् उक्तमप्येवविधमेव ? उच्यते-अन्योपदेशपूर्वक शब्दग्रहणम् उक्तम् 'गोशब्दोऽयम्' इति । स्वत एव ग्रहणं निःसृतम् ।

[8]चक्षुषा तु विशुद्धचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणामकारणत्वात् शुक्लकृष्णरक्तनीलपीतरूपपर्याय बहुमवगृह्णाति । अल्पं पूर्ववत् । प्रकृष्टविशुद्धिचक्षुरिन्द्रियादिक्षयोपशमपरिणामकारणत्वात् शुक्लादिपञ्चतयरूपगुणस्य प्रत्येकमेकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तगुणपरिणामिनोऽवग्राहकत्वसामर्थ्याद् बहुविध रूपमवगृह्णाति । एकविधं पूर्ववत् । क्षिप्रचिरयोरप्युक्त एव क्रम । पञ्चवर्णवस्त्रकम्बलचित्रपटादीना सकृदेकदेशविषयपञ्चवर्णग्रहणात् कृत्स्नपञ्चवर्णेष्वदृष्टेष्वपि सूतेष्वपि तद्वर्णाविष्करणसामर्थ्याद् अनिःसृतमवगृह्णाति । अथवा, देशान्तरस्थपञ्चवर्णपरिणतैकवस्त्रादिकथनात् साकल्येनाऽकथितस्यापि एकदेशकथनेनैव तत्कृत्स्नपञ्चवर्णग्रहणाद् अनिःसृतम् । निःसृतं प्रतीतम् । [9]सुविशुद्धचक्षुरिन्द्रियादिक्षयोपशम आत्मा शुक्लकृष्णादिवर्णमिश्रीकरणदर्शनात् परेणाकथितमपि वर्णमभिप्रायेणैव प्रतिपद्यते-'भवानिमं वर्णमे-[10]तद्वर्णद्वयमिश्रणात् करिष्यति' इत्येव ग्रहणादनुक्तं रूपमवगृह्णाति । अथवा, देशान्तरस्थपञ्च-

---

१ सुविशुद्धिश्रो- आ०, ब०, द०, मु० । २ -र्णनिर्ग- आ०, ब०, द०, मु० । ३ -मेव गृ- श्र० । ४ आह आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ५ यस्मात् कारणात् । ६ एकप्रकारनानाप्रकारकृतविशेषदर्शनात् । ७ मौनेन आ०, ब०, द०, मु० । ८ चक्षुषा वि- श्र० । चक्षुषा स तु वि- ता० । ९ सुविशुद्धिचक्षु आ०, ब०, द०, मु० । १० -तद्वर्णमि- ।

वर्णैकद्रव्यकथने तालवादिकरणसश्लेषात् प्राक् सकृदप्यकथितमेव द्रव्यमाचष्टे 'भवानेवविधमस्माक [1]'पञ्चवर्णद्रव्य व्याकरिष्यति' इत्यनुक्त रूपमवगृह्णाति । परकीयाभिप्रायानपेक्षम् आत्मीयचक्षुरिन्द्रियपरिणामसामर्थ्यादेवोक्त रूपमवगृह्णाति । सक्लेशपरिणामनिरुत्सुकस्य यथानुरूपचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणामकारणावस्थितत्वात् यथा प्राथमिकं रूपग्रहणं तथावस्थितमेव रूपमवगृह्णाति नोन नाभ्यधिकम् । पौन पुन्येन सक्लेशविशुद्धिपरिणाम[2]कारणापेक्षस्य आत्मनो यथानुरूपपरिणामोपात्तचक्षुरिन्द्रियसान्निध्येऽपि तदावरणस्येषदीषदाविर्भावात् पौन[3]पुनिक प्रकृष्टावकृष्टचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणामकारणत्वाच्च अधुवमवगृह्णाति [4]रूप क्वचिद् बहु क्वचिदल्प क्वचिद् बहुविध क्वचिदेकविध क्वचित् क्षिप्र क्वच्चिरेण क्वचिदनिःसृतं क्वचिन्नि सृत क्वचिदनुक्त क्वचिदुक्तम् । एव घ्राणाद्यवग्रहेष्वपि योज्यम् । तथेहावायधारणा अपि बह्वादिभि सेतरैरवसेया ।

कश्चिदाह—श्रोत्रघ्राणस्पर्शनरसनचतुष्टयस्य प्राप्यकारित्वात् अनि सृतानुक्तशब्दाद्यवग्रहेहावायधारणा न युक्ता इति; उच्यते—

अप्राप्तत्वात् ।१७। कथम् ?

पिपीलिकादिवत् ।१८। यथा पिपीलिकादीना घ्राणरसनदेशाप्राप्तेऽपि गुडादिद्रव्ये गन्धरसज्ञानम्, तच्च यैश्च यावद्भिश्चास्मदाद्यप्रत्यक्षसूक्ष्मगुडावयवै पिपीलिकादिघ्राणरसनेन्द्रिययो [5]परस्परानपेक्षा प्रवृत्तिस्ततो न दोष ।

अस्मदादीनां तदभाव इति चेत्; न; श्रुतापेक्षत्वात् । १९ । यथा भूगृहसवर्द्धितोत्थितस्य पु स चक्षुरादिभिरवभासितेष्वपि घटादिषु 'घटोऽय रूपमिदम्' इत्यादि यद्विशेषपरिज्ञान तत् श्रुतापेक्ष परोपदेशापेक्षत्वात्, तथा अस्मदादीनामप्यनि सृतानुक्तमपि [6]ज्ञानविकल्पशब्दात्[7] यदवग्रहादिज्ञान तत् श्रुतापेक्षम् । किञ्च,

[8]लब्ध्यक्षरत्वात् ।२०। श्रुतज्ञानप्रभेदरूपणाया लब्ध्यक्षरश्रुतकथनं षोढा प्रविभक्तम् । तद्यथा—*"**चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनमनोलब्ध्यक्षरम्**" [ ] इत्यार्ष उपदेश. । अत. चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनेन्द्रियमनोलब्ध्यक्षररसान्निध्यात् एतत्सिध्यति अनिसृतानुक्तानामपि शब्दादीना अवग्रहादिज्ञानम् ।

यद्यवग्रहादयो बह्वादीना कर्मणामाक्षेप्तारो[9] बह्वादीनि पुनर्विशेषणानि कस्येति? अत आह—

अर्थस्य ॥१७॥

चक्षुरादिविषयोऽर्थ', तस्य बह्वादिविशेषणविशिष्टस्य अवग्रहादयो भवन्ति ।

इर्यति पर्यायनर्यते वा तैरित्यर्थो द्रव्यम् ।१। प्रत्यात्म[10]संबन्धिन पर्यायान् उभयनिमित्तवशादुत्पत्तिं प्रत्यागूर्णान् इर्यति गच्छति, अर्यते गम्यते वा तैरित्यर्थ । क. पुनरसौ ? द्रव्यम्।

किमर्थमिदमुच्यते—

---

१ पञ्चवर्णं व्यति— आ०, ब०, द०, मु० । पञ्चवर्णं व्या— ता० । २ —मापेक्ष— आ०, ब०, द०, मु० । ३ अत्राप्यध्र वस्योदाहरणमाह । ४ परस्परापेक्षा प्रवृत्तिः मू० । परस्परापेक्षावृत्तिः आ०, ब०, द०, मु० । ५ भावश्रुत । ६ —ज्ञाद्यव— आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ आत्मनोऽर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः भावेन्द्रियम्, तद्रूपमक्षर लब्ध्यक्षरम्, आत्मज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वात् । ८ सूचकाः । ९ स्वरूप ।

अर्थवचनं गुणग्रहणनिवृत्त्यर्थम् ।२। [1]केचित्–'रूपादयो गुणा एवेन्द्रियैः सन्निकृष्यन्ते तत्स्तद्ग्रहणम्' इति मन्यन्ते; तन्मतनिवृत्त्यर्थम् 'अर्थस्य' इत्युच्यते[2]। न हि ते रूपादयो गुणा अमूर्ता इन्द्रियसन्निकर्षमापद्यन्ते इति। [3]तत्प्रचयविशेषे सति सन्निकर्षसभव इति चेत्; न; गुणाना[4] प्रचयानुपपत्ते.[5]। सत्यपि वा प्रचये [6]अर्थान्तरप्रादुर्भावाभावात् सूक्ष्मावस्थानतिक्रमात् अग्रहणमेवैषां स्यात्। न तर्हीदानीमिद भवति–'रूप मया दृष्ट गन्धो वा घ्रातः' इति, भवति च; अर्थग्रहणात् तदव्यतिरेकात् तेषामपि ग्रहणोपपत्ते ।

तेषु सत्सु मतिज्ञानात्मलाभात् सप्तमीप्रसङ्गः ।३। यतो विषयेषु सत्सु मतिज्ञानमाविर्भवति अतः 'अर्थे' इति वाच्यम् ।

न; अनेकान्तात् ।४। नायमेकान्तोऽस्ति–'सत्यर्थे मतिज्ञान भवति' इति, यत सत्यप्यर्थे अवनितलभवनसभूतस्य कुमारस्योत्तीर्णमात्रस्य घटरूपादिमतिज्ञानाभाव । अथवा, नायमेकान्तोऽस्ति, अधिकरणस्य सत्त्वात् सप्तमीप्रसङ्ग इति। कस्मात् ? तस्याविवक्षितत्वात्। विवक्षावशाद्धि कारकाणि भवन्ति ।

क्रियाकारकसंबन्धस्य विवक्षितत्वात् ।५। अवग्रहादय क्रियाविशेषा उक्ता, तेषामवश्य केनचित् कर्मणा भवितव्यमिति 'बह्वादिविकल्पस्यार्थस्य' इत्युच्यते ।

बह्वादिसामानाधिकरण्याद् बहुत्वप्रसङ्गः ।६। यतो बह्वादिरेवार्थ नातोऽन्य, ततो बह्वादिसामान्याधिकरण्यात् 'अर्थानाम्' इति बहुत्व प्राप्नोति ?

न वा, अनभिसम्बन्धात् ।७। न वैष दोष । कि कारणम् ? अनभिसबन्धात्। न ह्यस्य [7]बह्वादिभिरभिसंबन्ध क्रियते। केन तर्हि ? अवग्रहादिभि । 'कस्य' इत्युक्ते 'अर्थस्य' [8]इत्यभिसम्बध्यते, तद्विशेषण बह्वादिग्रहणम् ।

सर्वस्य वाऽर्यमाणत्वात् ।८। अथवा, सर्वस्यार्यमाणस्यार्थत्वम्, अतो जातिप्रधानत्वान्निर्देशस्य 'अर्थस्य' इत्येकत्वनिर्देशो युक्त ।

प्रत्येकमभिसंबन्धाद्वा ।९। अथवा प्रत्येकमभिसबन्ध क्रियते–बहोरर्थस्य बहुविधस्यार्थस्य इति ।

किममी अवग्रहादयः सर्वस्येन्द्रियानिन्द्रियार्थस्य भवन्ति उत कश्चिद्विषयविशेषोऽस्तीति ? अत आह–

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

[9]व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजात तस्यावग्रहो भवति। किमर्थमिदम् ? नियमार्थम्–'अवग्रह एव नेहादयः' इति। स तर्ह्येवकार कर्तव्य ?

न वा; सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेः अब्भक्षवत्[10] ।१। न वा कर्तव्य । कि कारणम् ? सामर्थ्यादवधारणप्रतीते । कथम् ? अब्भक्षवत्[10]। यथा न कश्चिदपो न भक्षयतीति सामर्थ्यादव-

---

१ वैशेषिकाः। २ यावता बह्वादिरर्थ एव, सत्यमेव किन्तु प्रवादिपरिकल्पनानिवृत्त्यर्थमर्थस्येत्युच्यते इत्याह। ३ रूपादीनाम्। ४ गुणादीनां आ०, ब०, द०, मु०। ५सम्बन्धाभावात्। ६ अन्योऽर्थः अर्थान्तरं तस्य, भेदस्य घातोभावादणूनां तन्मते अन्यार्थप्रादुर्भावाभाव इत्यर्थः। ७ बहुत्वादिभि– मु०, आ०, द०, ब०। ८ इतीह सम्ब– आ०, ब०, द०, मु०। ९ विगतमञ्जनमभिव्यक्तिर्यस्य तद् व्यञ्जनम्। व्यज्यते मुक्ष्यते प्राप्यत इति। व्यञ्जनमिति च व्यक्तिमक्षणयोरर्थयोर्ग्रहणात् शब्दादिकं श्रोत्रादिनेन्द्रियेण प्राप्तमपि यावन्नाभिव्यक्तं तावदेव व्यञ्जनमित्युच्यते एकवारजलकणसिक्तनूतनशरावत्। १० अब्भक्षणवत् ता०।

धारणं प्रतीयते–'अप एव भक्षयति' इति, तथा सर्वेषामवग्रहादीना प्रसिद्धौ अवग्रहवचनमवधारणार्थं विज्ञायते ।

तयोरभेदो ग्रहणाविशेषादिति चेत्; न; व्यक्ताऽव्यक्तभेदाद् अभिनवशरावत् ।२। स्यादेतत्–तयोरर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्नास्ति भेद –ग्रहणाविशेषात्, न हि शब्दादिग्रहण प्रति विशेषोऽस्तीति; तन्न; कि कारणम् ? व्यक्ताव्यक्तभेदात् । व्यक्तग्रहणमर्थावग्रह । अव्यक्तग्रहणं व्यञ्जनावग्रह । कथम् ? अभिनवशरावत् । यथा सूक्ष्मजलकणद्वित्रसिक्त[1] शरावोऽभिनवो नार्द्रीभवति, स एव पुनः पुन सिच्यमान शनैस्तिम्यति, तथा आत्मनः '[2]शब्दादीनामव्यक्तग्रहणात्[3] प्राक्' व्यञ्जनावग्रह, व्यक्तग्रहणमर्थावग्रह. ।

सर्वेन्द्रियाणामविशेषेण व्यञ्जनावग्रहप्रसङ्गे यत्रासभवस्तदर्थं प्रतिषेधमाह–

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

चक्षुषा अनिन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति । कुत ?

व्यञ्जनावग्रहाभाव चक्षुर्मनसोरप्राप्यकारित्वात् ।१। यतोऽप्राप्तमर्थमविदिक्क [4]युक्तसन्निकर्षविषयेऽवस्थित बाह्यप्रकाशाभिव्यक्तमुपलभते चक्षु, मनश्चाप्राप्तम्, ततो नानयोर्व्यञ्जनावग्रहोऽस्ति ।

इच्छामात्रमिति चेत्; न; सामर्थ्यात् ।२। स्यादेतत्–इच्छामात्रमिदम्–'अप्राप्तार्थावग्राहि चक्षु' इति; तन्न; कि कारणम् ? सामर्थ्यात् । कथ सामर्थ्यम् ? आगमतो युक्तितश्च । आगमतस्तावत्[5]–

* "[6]पुट्ठं [7]सुणेदि सद्दं अपुट्ठं [8]पुण पस्सदे रूवं ।
गंधं रसं च फासं [9]बद्धं पुट्ठं विजाणादि ॥" [ ] इति ।

युक्तितोऽपि—

अप्राप्यकारि चक्षु स्पृष्टानवग्रहात् । यदि प्राप्यकारि स्यात्, त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमञ्जन गृह्णीयात् । न च गृह्णाति । अतो मनोवदप्राप्यकारीत्यवसेयम् ।

अत्र केचिदाहु –प्राप्यकारि चक्षु. आवृतानवग्रहात् त्वगिन्द्रियवदिति[10]; अत्रोच्यते– "[11]काचाभ्रपटलस्फटिकावृतार्थावग्रहे सति अव्यापकत्वादसिद्धो[12] हेतु, वनस्पतिचैतन्ये स्वापवत्[13]। तथा सशयहेतु, अप्राप्यकारिण्ययस्कान्तोपले साध्यविपक्षेऽपि दर्शनादिति । भौतिकत्वात् प्राप्यकारि चक्षुरग्निवदिति चेत्; न; अयस्कान्तेनैव प्रत्युक्तत्वात् । बाह्येन्द्रियत्वात् प्राप्यकारि

---

१ –द्वित्रिसिक्तः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ शब्दादीनां व्य– आ०, ब०, द०, मु० । ३ हेतोः –मू० टि० । ४ अर्थावग्रहात् प्राक् –मू० टि० । ५ युक्तं स– मु०, आ०, ब०, द० । ६ –तावत् गाथा पुट्ठं आ०, ब०, मु० । तावत् गाहा पुट्ठं, द०, ता० । आगमस्तावत्– आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । ७ सुणोदि मु०, द० । ८ पुणो वि प– ता० । पुण वि प– आ०, ब०, द०, मु० । ९ पुट्ठमपुट्ठं ता०, आ०, ब०, सा० । आव० नि० गा० ५ । पंचसं० १ ।६८। स्पृष्टं शृणोति शब्दं अस्पृष्टं पुनः पश्यति रूपम् । गन्धं रसं च स्पर्शं बद्धं स्पृष्ट विजानाति ॥ उद्धृतेयम्– स० सि० १ । १९ । –सम्पा० । १० द्रष्टव्यम्– न्यायकुमु० पृ० ७५ टि० २ । ११ तुलना– "काचेन अभ्रपटलेन स्फटिकेन अन्तरुना चान्तरितं व्यवहितं कथं दृश्यते सप्रतिघत्वात् । काचादिव्यवहितं चक्षुर्न पश्येत । तच्च पश्यतीति सिद्धान्तः ।" –स्फु० अभि० पृ० ८४ । १२ भागासिद्धः । १३ चेतनास्तरुः स्वापात्, न हि तरुषु सर्वत्र स्वापः, पत्रसंकोचलक्षणस्य तस्य द्विदलेष्वेव भावात् ।

चक्षुरिति चेत्; न; द्रव्येन्द्रियोपकरणस्य भावेन्द्रियस्य प्राधान्यात् । अप्राप्यकारित्वे व्यवहितातिविप्रकृष्टग्रहणप्रसङ्ग इति चेत्; न; अयस्कान्तेनैव प्रत्युक्तत्वात् । अयस्कान्तोपलम् अप्राप्य लोहमाकर्षदपि न व्यवहितमाकर्षति नातिविप्रकृष्टमिति सशयावस्थमेतदिति । अप्राप्यकारित्वे सशयविपर्ययाभाव इति चेत्; न; [1]प्राप्यकारित्वेऽपि तदविशेषात् ।

५ कश्चिदाह–[2]रश्मिवच्चक्षु, तैजसत्वात्, तस्मात्प्राप्यकारीति, अग्निवदिति; एतच्चायुयुक्तम्; अनभ्युपगमात् । [3]न वयमभ्युपगच्छाम 'तैजस चक्षु' इति । तेजोलक्षणमौष्ण्यमिति कृत्वा चक्षुरिन्द्रियस्थानमुष्ण स्यात् । न च तद्देश स्पर्शनेन्द्रियम् उष्णस्पर्शोपलम्भि दृष्टमिति । इतश्च, अतैजस चक्षु भासुरत्वानुपलब्धेः । अदृष्टवशादनुष्णाभासुरत्वमिति चेत्, न; अदृष्टस्य गुणत्वात्, [4]अक्रियस्य [5]भावस्वभावनिग्रहासामर्थ्यात् । [6]नक्तञ्चररश्मिदर्शनाद्

१० रश्मिवच्चक्षुरिति चेत्; न; अतैजसोऽपि पुद्गलद्रव्यस्य भासुरत्वपरिणामोपपत्तेरिति[7] ।

किञ्च, [8]गतिमद्वैधर्म्यात् । इह यद् गतिमद्भवति न तत् सन्निकृष्टविप्रकृष्टा[9]वर्थावभिन्न काल प्राप्नोति, न च तथा चक्षु । चक्षुर्हि शाखाचन्द्रमसावभिन्नकालमुपलभते, यावता कालेन शाखा प्राप्नोति तावता चन्द्रमसमिति स्पष्ट गतिमद्वैधर्म्यम्, तस्मान्न गतिमच्चक्षुरिति ।

यदि च प्राप्यकारि चक्षुः स्यात्; तमिस्राया रात्रौ दूरेऽग्नौ प्रज्वलति तत्समी-

१५ पगतद्रव्योपलम्भन भवति कुतो नान्तरालगतद्रव्यालोचनम् ? प्रकाशाभावादिति चेत्; न; तैजसत्वादग्न्यादिवत् सहायान्तरानपेक्षत्वप्रसङ्गात् ।

किञ्च, यदि प्राप्यकारि चक्षुः स्यात् [10] सान्तराधिकग्रहण न प्राप्नोति । नहीन्द्रिया-[11]न्तरविषये गन्धादौ सान्तरग्रहण दृष्ट नाप्यधिकग्रहणम् । अथ मतम्–बहिरधिष्ठानाद्वृत्तिरिन्द्रियस्य अत उपपन्न तद्विषयस्य सान्तराधिकग्रहणमिति; तदयुक्तम्; यस्मान्न

२० बहिरधिष्ठानादिन्द्रियम्, तत्र चिकित्सादिदर्शनात्, अन्यथा अधिष्ठानपिधानेऽपि ग्रहणप्रसङ्ग । मनसश्चाबहिर्भावात् । मनसाऽधिष्ठित हि इन्द्रिय स्वविषये व्याप्रियते, न च मनो बहिरधिष्ठानादस्ति,[12] तदभावादग्रहणप्रसङ्ग । अनुवृत्तौ[13] च सभवाभावात् विप्रकीर्ण[14] चक्षूरश्मिसमूह कथमणुमनोऽधिष्ठास्यति ?

कश्चिदाह[15]–श्रोत्रमप्राप्यकारि विप्रकृष्टविषयग्रहणादिति; एतच्चायुक्तम्; [16]असिद्धत्वात् ।

२५ साध्यं तावदेतत्–विप्रकृष्ट शब्दं गृह्णाति श्रोत्रम् उत घ्राणेन्द्रियवदवगाढ स्वविषयभावपरिणतं

---

१ चेन्न तत्प्राप्य– आ०, ब०, द०, मु० । चक्षुषः । २ दृष्टव्यम्– न्यायकुमु० पृ० ७६ टि० १ । ३ न हि वय– आ०, ब०, द०, मु० । ४ आत्मनः । ५ पदार्थ । ६ "नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च" –न्यायसू०३।१।४३ । ७ –पपत्तिरिति– श्र०, द० । ८ तुलना–"पश्येच्चक्षुश्चिराद् दूरे गतिमद् यदि तद्भवेत् । अत्यभ्यासे च दूरे च रूपं व्यक्तं न तत्र किम् ॥१३॥ यदि चक्षुः प्राप्यकारित्वात् विषयदेशं गच्छेत् तदोन्मिषितमात्रेण न चन्द्रतारकादीनर्थान् गृह्णीयात् ।" –चतुश० पृ० १८६ । ९ –ष्टावभि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १० तुलना– "सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च । अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं न शक्तिर्विषयेक्षणे ॥ –सान्तरग्रहणं विच्छिन्नग्रहणम् । अधिकग्रहणम् इन्द्रियासम्बद्धग्रहणमिति ।' –प्रमाणसमु० वृ० पृ० ४१–४२ । ११ –न्द्रियान्तरे वि– ता० । –न्द्रियनिरन्तरे वि– मू० । १२ –नमस्ति आ०, ब, द०, मु० । –नादस्ति तदग्रहण– मू० । १३ वृत्तौ वृत्तौ मनसः संभवो नास्ति यतः । –सम्पा० । १४ –र्णः चक्षूरश्मिसमूहः कथ– आ०, ब०, द०, मु० । १५ बौद्धः –सम्पा० । "अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि·····" –अभिध० १।४३ । १६ अप्रसिद्ध– श्र०, मू० । साध्यसमोऽयं हेतुः । –श्र० टि० ।

पुद्गलद्रव्य गृह्णाति इति। विप्रकृष्टशब्दग्रहणे[1] च स्व[2]कर्णान्तर्विलगतमशकशब्दो नोपलभ्येत। नहीन्द्रिय किञ्चिदेक दूरस्पृष्टविषयग्राहि दृष्टमिति। [3] आकाशगुणत्वाच्छब्दस्य [4]स्पर्शवद्गुणत्वाभाव इति चेत्; न; अमूर्तगुणस्य आत्मगुणवत् इन्द्रियविषयत्वादर्शनादिति। प्राप्तावग्रहे श्रोत्रस्य दिग्देशभेदविशिष्टविषयग्रहणाभाव इति चेत्; न; शब्दपरिणतविसर्पत्पुद्गलवेगशक्तिविशेषस्य तथाभावोपपत्ते[5], सूक्ष्मत्वात् अप्रतिघातात् समन्तत प्रवेशाच्च, सिद्धमेतत्– 'चक्षुर्मनसी वर्जयित्वा शेषाणामिन्द्रियाणा व्यञ्जनावग्रह, सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थावग्रह' इति।

मनसोऽनिन्द्रियव्यपदेशाभावः स्वविषयग्रहणे करणान्तरानपेक्षत्वाच्चक्षुर्वत् ।३। यथा चक्षु रूपहणे करणान्तर नापेक्षत इति इन्द्रियव्यपदेश लभते तथा मनोऽपि गुणदोषविचारादिस्वव्यापारे करणान्तर नापेक्षत इतीन्द्रिय प्राप्नोति नानिन्द्रियमिति।

न वा, अप्रत्यक्षत्वात् ।४। नवैष दोष। कि कारणम्? अप्रत्यक्षत्वात्। यथा चक्षुरादि परस्परस्यैन्द्रियकत्वात् प्रत्यक्ष न तथा मन ऐन्द्रियकम्। कुत? सूक्ष्मद्रव्यपरिणामात्, तस्मादनिन्द्रियमित्युच्यते। अत्राह– कथमवगम्यते अप्रत्यक्षं तद् 'अस्ति' इति?

अनुमानात्तस्याधिगमः ।५। अप्रत्यक्षाणामप्यर्थाना लोकेऽनुमानादधिगतिर्दृष्टा, यथा आदित्यस्य गति, वनस्पतीना[6] च वृद्धिह्रासौ। तथा मनसोऽप्यस्तित्वमनुमानादधिगम्यते[7]। कोऽसावनुमान[8]?

[9]युगपज्ज्ञानक्रियानुत्पत्तिर्मनसो हेतुः ।६। सत्सु चक्षुरादिकरणेषु शक्तिमत्सु[10], सत्सु च बाह्येषु रूपादिषु, सति चानेकस्मिन् प्रयोजने यतो ज्ञानाना क्रियाणा च युगपदनुत्पत्ति, तदस्ति मन इत्यनुमीयते।

अनुस्मरणदर्शनाच्च ।७। यत सकृद् दृष्ट श्रुत वाऽनुस्मर्यते, अतस्तद्दर्शनात्तदस्तित्वमवसेयम्। अत्राह–एकस्यात्मन कुत करणभेद?

ज्ञस्वभावस्यापि करणभेदः अनेककलाकुशलदेवदत्तवत् ।८। यथा अनेकज्ञानक्रियाशक्तियुक्तस्यापि देवदत्तस्य करणभेदो दृश्यते–चित्रकर्मणि वर्तमानस्य वर्तिकालेखनीकूर्चिकाद्युपकरणापेक्षा, काष्ठकर्मणि वर्तमानस्य [11]वासीघटमुखवृक्षादनादि[12]करणापेक्षा, तथा आत्मनोऽपि क्षयोपशमभेदात् ज्ञानक्रियापरिणामशक्तियुक्तस्य चक्षुराद्यनेककरणापेक्षा न विरुध्यते।

स नामकर्मसामर्थ्यात् ।९। स एष करणभेद नामकर्मसामर्थ्याद्वेदितव्य[13]। स कथम्? इह यदेतत् शरीरनामकर्मोदयाद्यापादित यवनालिकासस्थान श्रोत्रेन्द्रियम्, एतदेव शब्दोपलब्धिसहिष्णु नेतराणि। तथा यदेतद् घ्राणेन्द्रियम् अतिमुक्तकचन्द्रकसस्थानम्, एतदेव गन्धावगमसमर्थं नेतराणि। तथा यदेतज्जिह्वेन्द्रिय क्षुरप्राकृति, एतदेव रसावगमेऽल नान्यानि। तथा यदेतत् स्पर्शनेन्द्रियमनेकाकृति तदेव स्पर्शोपलम्भनेऽल नेतराणि। तथा यदेतच्चक्षु-

---

१ –णे स्व– ता०। २ –र्णप्रान्तवि– भा० २। –र्णतान्तर्वि– मु०, द०, ब०, ज०। ३ तुलना– न्यायकु० पृ० ८३। वैशेषिकाः –सम्पा०। ४ स्पर्शगुण– ता०। ५ तथाभावापत्तेः आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ६ –नां वृ– श्र०। ७ –दवगम्य ते –आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ८ कोऽसावनुमान इति भाष्यम् (पात० महा० १।१।३) –श्र० टि०। "मन्यतेर्घञ्जि अनुमान इति रूपम्" –पात० महा० प्र० १।१।३। ९ "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" –न्यायसू० १।१।१६। १० –मत्सु च बा– आ०, द०, ब०, मु०। –मत्सु सत्सु वा– श्र०, ता०। ११ वासीपुटमुख– मू०। १२ वृक्षादनो वृक्षभेदीत्यमरः। १३–व्यः क– आ०, ब, द०, मु०, मू०।

रिन्द्रिय मसूरिकाकार कृष्णतारकाधिष्ठानं तदेव रूपाविष्करणेऽल नेतराणि इति ।

एवमोभिनिबोधिक द्रव्यक्षेत्रकालभावैरवसेयम् । द्रव्यतो मतिज्ञानी सर्वद्रव्याण्यसर्वपर्यायाण्युपदेशेन जानाति । क्षेत्रत उपदेशेन सर्वक्षेत्राणि जानाति । अथवा क्षेत्र विषय । चक्षुष क्षेत्र सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रिषष्टयधिके च द्वे योजनशते योजनस्य चैकविंशति षष्टिभागा । श्रोत्रस्य क्षेत्र द्वादश योजनानि । घ्राणरसनस्पर्शनाना नवयोजनानि । कालत उपदेशेन सर्वकाल जानाति । भावत उपदेशेन जीवादीनामौदयिकादीन् भावान् जानाति । [1]तत् सामान्यादेकम् । इन्द्रियानिन्द्रियभेदाद् द्विधा[2] । अवग्रहादिभेदाच्चतुर्धा । तैरिन्द्रियगुणितैश्चतुर्विंशतिविधम् । तैरेव व्यञ्जनावग्रहाधिकैरष्टाविंशतिविधम् । तैरेव मूलभङ्गाधिकैर्द्व्यादिसहितैर्वा द्वात्रिंशद्विधम् । त एते त्रयो विकल्पा बह्वादिभि[3] षड्भिरितरानपेक्षैर्गुणिताः चतुश्चत्वारिंश शतम् अष्टषष्टयुत्तर शतम् द्वानवत्यधिक शतमिति च भवन्ति[4] । त एव बह्वादिभिर्द्वादशभिर्गुणिता द्वे शते अष्टाशीत्युत्तरे, त्रीणि शतानि षट्त्रिंशानि, चतुरशीत्यधिकानि त्रीणि शतानि च भवन्ति ।

आह—व्यञ्जनावग्रहे बह्वाद्यभाव । कस्मात् ? अव्यक्तत्वात् । उच्यते—अवग्रहवत् तत्सिद्धि । यथा अव्यक्तग्रहणमवग्रह तथा बह्वादिविकल्पोप्यव्यक्तरूपेणैव वेदितव्य । अथाऽनिसृते कथम् ? तत्रापि ये च यावन्तश्च पुद्गला सूक्ष्मा निसृता सन्ति, सूक्ष्मास्तु साधारणैर्[5] गृह्यन्ते, तेषामिन्द्रियस्थानावगाहनम् अनिसृतव्यञ्जनावग्रह ।

परोक्षे द्वैविध्ये सत्युपक्लृप्तलक्षणविकल्प[6]मतिज्ञानविधर्मि यद् द्वितीयमपदिष्ट[7] तत्किन्निमित्त कतिविध चेति ? उच्यते—

श्रुतं मतिपूर्वं द्वि-अनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

श्रुतशब्दो[8] जहत्स्वार्थवृत्ती रूढिवशात् कुशलशब्दवत् ।१। यथा कुशलशब्द. कुशलवन क्रियां प्रतीत्य व्युत्पादित तद्धित्वा सर्वत्र पर्यवदाते[9] वर्तते, तथा श्रुतशब्दोऽपि श्रवणमुपादाय व्युत्पादितो रूढिवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञानविशेषे[10] वर्तते ।

कार्यप्रतिपालनात् पूरणाद्वा पूर्वं कारणम् ।२। [11]कार्यं पालयति पूरयतीति वा पूर्वं कारण लिङ्गं निमित्तमित्यनर्थान्तरम् । मतिज्ञान व्याख्यात तत्पूर्वमस्येति[12]मतिपूर्व 'मतिकारणम्'[13] इत्यर्थ ।

मतिपूर्वकत्वे श्रुतस्य तदात्मकत्वप्रसङ्गो घटवत्, अतदात्मकत्वे वा तत्पूर्वकत्वाभावः ।३। कश्चिदाह—मतिपूर्व श्रुत तदपि मत्यात्मक प्राप्नोति, कारणगुणानुविधानं हि कार्यं दृष्ट यथा मृन्निमित्तो घटो मृदात्मक । अथाऽतदात्मकमिष्यते,[14] तत्पूर्वकत्व तर्हि तस्य हीयते इति ।

---

१ एक्कचउक्कं चउवीसट्ठवीसं च तिप्पडि किच्चा । इगिछब्बारसगुणिदे मदिणाणे होंति ठाणाणि ॥ २ द्विविधम्— ता० । ३ अल्पादिसेतरानपेक्षैः । ४ भवति ता०, श्र०, मू०, द० । ५ पुरुषः । ६ —रूपं म— ता०, मू० । ७ —ग्रमुपदिष्ट आ०, ब, द०, मु० । ८ —ब्दोऽज— ता०, श्र० । ९ प्रौढे — ता० टि०, श्र० टि० । १० मतिपूर्वलक्षणे । ११ श्रुतस्य प्रमाणरूपम् । १२ मतिपूर्वकं म— ता० । १३ —णकमि— आ०, ब०, द०, मु० । १४ —त्मकत्वमिष्यते आ०, ब०, द०, ता०, मु० ।

न वा, निमित्तमात्रत्वाद्दण्डादिवत् ।४। न वैष दोष । किं कारणम् ? निमित्तमात्रत्वाद् दण्डादिवत् । यथा मृद स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये, दण्डचक्रपौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति, [1]यत सत्स्वपि दण्डादिनिमित्तेषु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्ड स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामनिरुत्सुकत्वान्न घटीभवति, [2]अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तापेक्ष आभ्यन्तरपरिणामसान्निध्याद् घटो भवति न दण्डादय, इति दण्डादीना निमित्तमात्रत्वम् । तथा पर्यायिपर्याययोः स्यादन्यत्वाद् आत्मन स्वयमन्त श्रुतभवनपरिणामाभिमुख्ये मतिज्ञान निमित्तमात्र भवति, यत सत्यपि सम्यग्दृष्टे श्रोत्रेन्द्रियबलाधाने बाह्याचार्यपदार्थोपदेशसन्निधाने च श्रुतज्ञानावरणोदयवशीकृतस्य स्वयमन्त श्रुतभवननिरुत्सुकत्वादात्मनो न श्रुत भवति, अतो[3] बाह्यमतिज्ञानादिनिमित्तापेक्ष आत्मैव आभ्यन्तरश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमापादितश्रुतभवनपरिणामाभिमुख्यात् [4]श्रुतीभवति, न मतिज्ञानस्य श्रुतीभवनमस्ति, तस्य निमित्तमात्रत्वात्[5]। ५ १०

अनेकान्ताच्च ।५। नायमेकान्तोऽस्ति–'कारणसदृशमेव कार्यम्' इति । कुत ? तत्रापि सप्तभङ्गीसभवात् । कथम् ? घटवत् । यथा घट कारणेन मृत्पिण्डेन स्यात्सदृश, स्यान्न सदृश इत्यादि[6]। मृद्द्रव्याजीवानुपयोगाद्यादेशात् स्यात्सदृश, पिण्डघटसस्थानादिपर्यायादेशात् स्यान्न सदृश । पूर्ववदुत्तरे च भङ्गा नेतव्या । यस्यैकान्तेन कारणानुरूप कार्यम्, तस्य [7]घटपिण्डशिविकादिपर्याया[8] उपालभ्यन्ते[9]। किञ्च, घटेन जलधारणादिव्यापारो न क्रियेत मृत्पिण्डे तददर्शनात् । अपि च, मृत्पिण्डस्य घटत्वेन परिणामवद् घटस्यापि घटत्वेन परिणाम स्यात्, एकान्तसदृशत्वात् । न चैव भवति । अतो नैकान्तेन कारणसदृशत्वम् । तथा श्रुत सामान्यादेशात् स्यात्कारणसदृश यतो मतिरपि ज्ञान श्रुतमपि । अव्यवहिताभिमुखग्रहण-नानाप्रकारार्थप्ररूपणसामर्थ्यादिपर्यायादेशात् स्यान्न कारणसदृशम् । पूर्ववदुत्तरे[10] च भङ्गा नेतव्या । २० २५

श्रोत्रमतिपूर्वस्यैव श्रुतत्वप्रसङ्गस्तदर्थत्वादिति चेत्; नः उक्तत्वात् ।६। स्यादेतत्– श्रोत्रमतिपूर्वस्यैव[11] श्रुतत्व प्राप्नोति । कुत ? तदर्थत्वात् । श्रुत्वा अवधारणाद्धि श्रुतमित्युच्यते, तेन चक्षुरादिमतिपूर्वस्य[12] श्रुतत्व न प्राप्नोति; तन्न; कि कारणम् ? [13]उक्तमेतत्–'श्रुतशब्दोऽयं रूढिशब्द ' इति । रूढिशब्दाश्च स्वोत्पत्ति[14]निमित्तक्रियानपेक्षा प्रवर्तन्त इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्वसिद्धिर्भवति । २५

आदिमतोऽन्तवत्त्वात् श्रुतस्याऽनादिनिधनत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; द्रव्यादिसामान्यापेक्षया तत्सिद्धेः ।७। स्यादेतत्–श्रुतस्य आदिमत्त्वमभ्युपगतम्–'मतिपूर्वम्' इति वचनात्, आदिमतश्च लोके अन्तवत्त्व दृष्टम्, तत आद्यन्तसभवाद् 'अनादिनिधन श्रुतम्' इति व्याहन्यते, ततश्च पुरुषकृतित्वादप्रामाण्य स्यादिति; नैष दोष ; द्रव्यादिसामान्यापेक्षया तत्सिद्धे[15]। द्रव्यक्षेत्रकालभावाना विशेषस्याविवक्षाया श्रुतम् 'अनादिनिधनम्' इत्युच्यते, न हि केनचित्पुरुषेण क्वचित् कदाचित् कथञ्चिदुत्प्रेक्षितमिति । तेषामेव विशेषापेक्षया आदिरन्तश्च सभवतीति मतिपूर्व- ३० ३५

---

१ पूर्वोक्तवाक्यमेव विवृण्वन्नाह यत इति । २ ततो श्र० । ३ ततो आ०, ब०, द०, मु० । ४ श्रुतं भ– आ०, ब०, मु० । ५ दण्डादिवत् । ६ –दि इति मु– आ०, ब०, द०, मु० । ७ घटे पिण्ड– मू० । ८ –या उपल– ता, द०, आ० । –या न उपल– मु० । ९ निराक्रियन्ते –श्र० दि० । घटपिण्डशिवकादयः पृथक् पर्याया न स्युरित्यर्थः, सर्वे मृत्पिण्डात्मका एव भवेयुः –सम्पा० । १० –त्तरे भ– आ०, द०, ब०, मु०, ता० । ११ –र्वकस्यैव श्र०, ता०, द० । १२ –र्वकस्यैव श्रु –आ०, द०, ब०, मु० । १३ उक्तमेव श्रु– आ०, ब०, द०, मु०, ता०, श्र० । १४ –त्तिक्रिया– मु०, आ०, ब०, द० । १५ –सिद्धिः आ०, ब०, द०, मु० ।

मित्युच्यते । यथा अङ्कुरो [1]बीजपूर्व, स च सन्तानापेक्षया अनादिनिधन इति । [2]न चाऽपुरुषकृतित्व प्रामाण्यकारणम्; चौर्याद्युपदेशस्यास्मर्यमाणकर्तृकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । अनित्यस्य च प्रत्यक्षादे. प्रामाण्ये को विरोध. ?

सम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपन्मतिश्रुतोत्पत्तेर्मतिपूर्वकत्वाभाव इति चेत्; न; सम्यक्त्वस्य तदपेक्षत्वात् ।८। स्यान्मतम्–मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयो प्रथमसम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपज्ज्ञानपरिणामात् मतिपूर्वकत्व श्रुतस्य नोपपद्यत इति; तन्न; कि कारणम् ? सम्यक्त्वस्य तदपेक्षत्वात् । तयोर्हि सम्यक्त्व[3] सम्यग्दर्शनोत्पत्तौ युगपद्भवति [4]आत्मलाभस्तु क्रमवान्, इति मतिपूर्वकत्व युक्त पितापुत्रवत् ।

मतिपूर्वकत्वाविशेषात् श्रुताविशेष इति चेत्; न; कारणभेदात्तद्भेदसिद्धेः ।९। स्यादेतत्–सर्वेषा प्राणिना श्रुतमविशिष्ट प्राप्नोति । [5]कुत ? कारणाविशेषात् । मतिपूर्वत्व[6] हि कारणमिष्टम्, तच्च सर्वेषामविशिष्टमिति । तन्न; कि कारणम् ? कारणभेदात्तद्भेदसिद्धे । प्रतिपुरुष हि मतिश्रुतावरणक्षयोपशमो बहुधा भिन्न तद्भेदाद् बाह्यनिमित्तभेदाच्च श्रुतस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगो भवति मतिपूर्वकत्वाविशेषेऽपि ।[7]

श्रुतात् श्रुतप्रतिपत्तेर्लक्षणाव्याप्तिरिति चेत्; न; तस्योपचारतो मतित्वसिद्धेः ।१०। स्यान्मतम्–यदा शब्दपरिणतपुद्गलस्कन्धादाहितवर्णपदवाक्यादिभावात् चक्षुरादिविषयाच्च आद्यश्रुतविषयभावमापन्नाद् अविनाभाविन [8]कृतसङ्गीतिर्जनो घटाज्जलधारणादिकार्यसबन्ध्यन्तर प्रतिपद्यते धूमादेर्वाऽग्न्यादिद्रव्यम्, तदा श्रुतात् श्रुतप्रतिपत्तिरिति कृत्वा 'मतिपूर्वलक्षणमव्यापीति; तन्न; कि कारणम् ? तस्योपचारतो मतित्वसिद्धे । मतिपूर्वं हि श्रुत क्वचित् 'मति ' इत्युपचर्यते[9]। अथवा, व्यवहिते पूर्वशब्दो वर्तते, तद्यथा 'पूर्वं मथुराया पाटलिपुत्रम्' इति । तत साक्षान्मतिपूर्वं [10]परम्परया वा[11] मतिपूर्वमपि मतिपूर्वग्रहणेन गृह्यते ।

भेदशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ।११। यथा 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्ताम्' इति भुजि प्रत्येक परिसमाप्यते तथेहापि भेदशब्द प्रत्येकमभिसबध्यते–द्विभेदमनेकभेद द्वादशभेद च इति । तत्राङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्य चेति द्विविधम् ।

अङ्गप्रविष्टमाचारादिद्वादशभेदं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरानुस्मृतग्रन्थरचनम् ।१२। भगवदर्हत्सर्वज्ञहिमवन्निर्गतवाग्गङ्गाऽर्थविमलसलिलप्रक्षालितान्तःकरणै बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम् आचारादिद्वादशविधमङ्गप्रविष्टमित्युच्यते । तद्यथा–आचार, सूत्रकृतम्, स्थानम्, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययनम्, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरणम्, विपाकसूत्रम्, दृष्टिवाद इति । आचारे चर्या-

---

१ बीजपूर्वकः मु०, ता० । २ न वा पुरुषकृतित्वमप्रामाण्यका– आ०, द०, ब०, मु० । तुलना– स०, सि० १ । २० । "तस्मादपौरुषेयत्वे स्यादन्योप्यनराश्रयः । म्लेच्छादिव्यवहाराणां नास्तित्वयवचसामपि ॥ अनादित्वाद् भवेदेवं·····" –प्रमाणवा० ३ । २४५ । ३ समीचीनत्वम् । ४ उत्पत्तिः । ५ मतिपूर्वकत्वं श्र०, द० । ६ 'मतिपूर्वकत्वाविशेषेपि' इति श्र० प्रतौ 'श्रुताच्छ्रुत' इत्यादि वार्तिक एव सम्मिलितः । ७ कृतसंगति– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ मतिपूर्वं त– श्र० । ९ तथा चोक्तम्– मतिपूर्वं श्रुतं दक्षैरुपचारात् मतिर्मता । मतिपूर्वं ततः सर्वं श्रुतं ज्ञेयं विचक्षणैरिति । अपि च, अर्थादर्थान्तरं ज्ञानं मतिपूर्वं मतं भवेत् । शाब्दं तल्लिङ्गजं चात्र द्वयनेकद्वादशभेदकम् ॥ १० साक्षान्मति पूर्वमिव परम्परया मतिपूर्वमपि इत्यर्थः । वा शब्द इवार्थः ।

विधान शुद्धयष्टकपञ्चसमितित्रिगुप्तिविकल्पं कथ्यते[१]। सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना [२]कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहारधर्मक्रिया प्ररूप्यन्ते[३]। स्थाने[४] अनेकाश्रयाणामर्थाना निर्णय क्रियते[५]।

[६]समवाये सर्वपदार्थानां समवायश्चिन्त्यते[७]। स चतुर्विध –द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पै[८]। तत्र धर्माऽधर्मास्तिकायलोकाकाशैकजीवाना तुल्याऽसख्येयप्रदेशत्वात् एकेन प्रमाणेन द्रव्याणां समवायनाद् द्रव्यसमवाय.। जम्बूद्वीपसर्वार्थसिद्धच[९]प्रतिष्ठाननरकनन्दीश्वरैकवापीना तुल्ययोजनशतसहस्रविष्कम्भप्रमाणेन क्षेत्रसमवायनात् क्षेत्रसमवाय। उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योस्तुल्यदशसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणात् कालसमवायनात् कालसमवाय[१०]। क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातचारित्राणां यो भाव.[११] तदनुभवस्य तुल्यानन्तप्रमाणत्वात् भावसमवायनाद् भावसमवाय[१२]।

व्याख्याप्रज्ञप्तौ[१३] षष्टिव्याकरणसहस्राणि[१४] 'किमस्ति जीव, नास्ति' इत्येवमादीनि निरूप्यन्ते[१५]। [१६]ज्ञातृधर्मकथायाम् आख्यानोपाख्यानाना बहुप्रकाराणा कथनम्[१७]। उपासकाध्ययने[१८] श्रावकधर्मलक्षणम्। ससारस्यान्त कृतो यैस्ते अन्तकृत। नमिमतङ्गसोमिलरामपुत्रसुदर्शनयम[१९]लीकवलीककिष्कम्बलपालाम्बष्ठपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थङ्करतीर्थे। एवमृषभादीना त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये च दश दशानगारा दश दश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृत दश अस्यां वर्ण्यन्ते[२०] इति अन्तकृद्दशा। अथवा, अन्तकृता दशा अन्तकृद्दशा, तस्याम् अर्हदाचार्यविधि सिध्यता च। उपपादो जन्म प्रयोजन येषा त इमे औपपादिका, विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धाख्यानि पञ्चानुत्तराणि, अनुत्तरेष्वौपपादिका अनुत्तरौपपादिका –ऋषिदास[२१]-वान्य-सुनक्षत्र-कार्तिक-नन्द-नन्दन-शालिभद्र-अभयवारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थकरतीर्थे। एवमृषभादीना त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये च दश दशानगारा दश दश दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्ना इत्येवमनुत्तरौपपादिका दशास्या वर्ण्यन्त[२२] इत्यनुत्तरौपपादिकदशा। अथवा, अनुत्तरौपपादिकाना दशा अनुत्तरौपपादिकदशा तस्यामायुर्वैक्रियिकानुबन्धविशेष। आक्षेपविक्षेपैर्हेतुनयाश्रिताना

---

१ आचारे अष्टादशसहस्र (१८०००) पदैः। २ योग्यायोग्य। ३ षट्त्रिंशत्सहस्र (३६०००) पदैः। ४ तिष्ठन्त्यस्मिन् एकाद्येकोत्तराणि स्थानानीति स्थानम्। ५ स्थाने द्वाचत्वारिंशत्सहस्र-(४२०००) पदैः। ६ सं सग्रहेण सादृश्यसामान्येन अवेयन्ते ज्ञायन्ते जीवादिपदार्था द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य, तस्मिन्निति। सग्रहनयेन स एक एवात्मा, व्यवहारनयेन संसारी मुक्तश्चेति द्विविकल्पः उत्पादव्ययध्रौव्य इति त्रिलक्षणः इत्यादीनि जीवस्य। सामान्यार्पणया एक एव पुद्गलः, विशेषार्पणया अणुस्कन्धभेदात् त्रितयः इत्यादीनि पुद्गलादीनाञ्चैकाद्येकोत्तरस्थानानि प्ररूप्यन्ते। ७ समवाये एकलक्षचतुःषष्टि (१६४०००) पदैः। ८ –द्ध्यर्थप्र– आ०, ब०, मु०। सप्तमपृथिवीनरकनाम। ९ अथवा प्रथमपृथिवीनारकभावनव्यन्तराणां जघन्यायूंषि सदृशानीत्यादि योज्यम्। १० पर्यायः। ११ प्रश्ने। १२ द्विलक्षाष्टाविंशतिसहस्र (२२८०००) पदैः किमस्ति जीवः किं नास्ति जीवः किमेको जीवः किमनेको जीवः किं नित्यो जीवः किमनित्यो जीवः इत्यादीनि षष्टिसहस्रसंख्यानि भगवद्वर्हत्तीर्थंकरसन्निधौ गणधरदेवप्रश्नवाक्यानि निरूप्यन्ते। १३ पञ्चलक्षषट्पञ्चाशत्सहस्र (५५६०००) पदैः। १४ तीर्थंकरोक्तं गणधरपृष्टास्तित्वादिस्वरूपम् चक्रवर्त्यादीनां धर्मानुबन्धिकथोपकथानाञ्च कथनम्। १५ कथोपकथा। १६ एकादशलक्षसप्ततिसहस्र (११७०००) पदैः श्रावकाचारक्रियामन्त्राणां निरूपणम्। १७ –यमवाल्मीकवलीकनिष्क– मु०। १८ अन्तकृद्दशायां त्रयोविंशतिलक्षाष्टाविंशतिसहस्र (२३२८०००) पदैः। १९ –स धन्य– आ०, ब०, मु०। २० अनुत्तरौपपादिकदशाया द्विनवतिलक्षचतुश्चत्वारिंशत्सहस्र (९२४४०००) पदैः।

प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्, तस्मिल्लौकिकवैदिकानामर्थानां निर्णय[१]। विपाकसूत्रे सुकृतदु कृतानां विपाकश्चिन्त्यते[२]।

द्वादशमङ्गं दृष्टिवाद इति[३]। कौत्कलकाणे[४]विद्धि-कौशिक-हरिस्मश्रु-मांछपिक रोमश-हारीत-मुण्डाश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतम्, मरीचिकुमार-कपिलोलूक-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाद्वलि-माठर-मौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीना चतुरशीति, साकल्य-वल्कल-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कठ-माध्यन्दिन-मौद-पैप्पलाद - बादरायण[५]म्बष्ठि - कृदौविकायन-वसु-जैमिन्यादीनामज्ञानिकुदृष्टीना सप्तषष्टि, वशिष्ठ-पाराशर-जतुकर्णि-वाल्मीकि [६]रोमहर्षणिसत्यदत्त-व्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीना वैनयिकदृष्टीना द्वात्रिंशत्। एषा दृष्टिशताना त्रयाणा त्रिषष्टयुत्तराणा प्ररूपण निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।

[७]स पञ्चविध -परिकर्म[८] सूत्रं प्रथमानुयोग [९]पूर्वगतं चूलिका चेति।

तत्र पूर्वगत[१०] चतुर्दशप्रकारम्-उत्पादपूर्वम् अग्रायण वीर्यप्रवादम् अस्तिनास्तिप्रवाद ज्ञानप्रवाद सत्यप्रवादम् आत्मप्रवाद कर्मप्रवाद[११] प्रत्याख्याननामधेय विद्यानुवाद कल्याणनामधेय प्राणावाय क्रियाविशाल लोकबिन्दुसारमिति। कालपुद्गलजीवादीना यदा यत्र यथा च पर्यायेणोत्पादो वर्ण्यते तदुत्पादपूर्वम्[१२]। क्रियावादादीना प्रक्रिया [१३]अग्राणीव अङ्गादीना स्वसमय-

---

१ प्रश्नव्याकरणे त्रिनवतिलक्षषोडशसहस्र (९३१६०००) पदैः। दूतप्रश्नमुद्दिश्य नष्टमुष्टिचिन्तादिकं शिष्यप्रश्नमुद्दिश्य आक्षेपणी–विक्षेपिणी सवेजनी–निर्वेजनी चेति चतुर्णा कथानाम्। २ विपाकसूत्रे एककोटि-चतुरशीतिलक्ष (१८४०००००) पदैः। एतेषां विशेषस्वरूपपरिज्ञानाय द्रष्टव्यम्– ध० टी० सं० पृ० १०८–१२२। जयध० प्र० पृ० ९३–९४, १२२–१३२। ३ दृष्टिवादस्वरूपनिर्धारणाय द्रष्टव्यम्– ध० टी० सं० पृ० १०८–१२२। जयध० पृ० ९४–९६, १३२–१४८। ४ –काण्ठेवि– आ०, ब०, मु०। काण्वेवि– द०। ५ –गाम्बरीशस्विष्टिकृदेतिकायन– श्र०। –गाम्बष्ठिकृदेलिकायन ता०। –णास्विष्टिक्यदेतिकायन– द०। ६ –रोमर्षिस– आ०, ब० द० मु०। ७ दृष्टिवादः। ८ तत्र परिकर्म पञ्चविधम्– चन्द्रप्रज्ञप्तिः, सूर्यप्रज्ञप्तिः जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः, द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः, व्याख्याप्रज्ञप्तिश्चेति। तत्र चन्द्रप्रज्ञप्तिः षट्त्रिंशल्लक्षपञ्चसहस्र (३६०५०००) पदैः चन्द्रस्य विमानायुःपरिवारर्द्धिगमनवृद्धिहानिसाकारग्रहणादीनि वर्णयति। सूर्यप्रज्ञप्तिः पञ्चलक्षत्रिंसहस्र (५०३०००) पदैः सूर्यस्यायुर्मण्डलपरिवारर्द्धिगमनप्रमाणग्रहणादीनि वर्णयति। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः त्रिलक्षपञ्चविंशतिसहस्र (३२५०००) पदैः जम्बूद्वीपगतमेरुकुलशैलह्रदवर्षवेदिकावनषण्डव्यन्तरावासादीन् वर्णयति। द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः द्विपञ्चाषल्लक्षषट्त्रिंशत्सहस्र (५२३६०००) पदैः असंख्यातद्वीपसागरस्वरूपं वर्णयति। व्याख्याप्रज्ञप्तिश्चतुरशीतिलक्षषट्त्रिंशत्सहस्र (८४३६०००) पदैः रूप्यरूपिजीवादिद्रव्यस्वरूप कथयति। सूत्रम् अष्टाशीतिलक्षपदैः जीवः अबन्धकः अकर्ता निर्गुणः अभोक्ता स्वप्रकाशकः·····त्पादव्ययध्रौव्यलक्षणवस्त्वादीनि वर्णयति। ·····चूलिका पञ्चविधा– तत्र जलगता द्विकोटिनवलक्षनवाशीतिसहस्रद्विशत (२००९८९२००) पदैः जलस्तम्भनजलगमनाग्निस्तम्भनभक्षणाशनप्रवेशनादिकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। स्थलगता तावद्भूः (२००९८९२००) पदैः मेरुकुलशैलभूम्यादिषु प्रवेशनशीघ्रगमनादिकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। मायागता तावद्भूः पदैः मायारूपेन्द्रजलविक्रिया कारणमन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। आकाशगता तावद्भूः पदैः आकाशगमनकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि वर्णयति। रूपगता तावद्भूः पदैः सिंहगजतुरगतरुनरहंसादिरूपपरावर्तनकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीनि चित्रकाष्ठलेप्योत्खातनादिलक्षणधातुवादरसवादखान्यवादादीनि च वर्णयति इति शास्त्रान्तरे (धवलादिषु)कथितम्। ९ पूर्वकृतम् ता०, श्र०। १० –दं च प्र– ब०, मु०, मू०, ता०, श्र०, द०। ११ एककोटि (१०००००) पदम्। १२ अग्रायणीचाङ्गादीनां स्वसमवाय– आ०, ब०, द०, मु०। "अग्रस्य द्वादशाङ्गेषु प्रधानमूलस्य वस्तुनः अयन ज्ञानमग्रायणं तत्प्रयोजनमग्रायणीयम्।" –गो० जीव० जी० गा० ३६५। जयध० पृ० १४० टि०। –सम्पा०

विषयश्च यत्र ख्यापितस्तदग्रायणम्[१]। छद्मस्थकेवलिना वीर्यं सुरेन्द्रदैत्याधिपाना ऋद्धयो नरेन्द्र-चक्रधरबलदेवाना च वीर्यलाभो द्रव्याणा सम्यक्त्वलक्षण च यत्राभिहित तद्वीर्यप्रवादम्[२]। पञ्चानामस्तिकायानामर्थो नयाना चानेकपर्यायै 'इदमस्तीद नास्ति' इति च कात्स्न्येन यत्रावभासित तदस्तिनास्तिप्रवादम्[३]। अथवा, षण्णामपि द्रव्याणा भावाभावपर्यायविधिना स्वपरपर्यायाभ्याम् उभयनयवशीकृताभ्याम् अर्पितानर्पितसिद्धाभ्या यत्र निरूपण तदस्तिनास्तिप्रवादम्। पञ्चानामपि ज्ञानाना प्रादुर्भावविषयायतनाना[४] ज्ञानिनाम् अज्ञानिनामिन्द्रियाणा च प्राधान्येन यत्र विभागो विभावित तज्ज्ञानप्रवादम्[५]।

वाग्गुप्तिसस्कारकारणप्रयोगो द्वादशधा भाषा वक्तारश्चानेकप्रकारमृषाभिधान दशप्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र प्ररूपित तत् सत्यप्रवादम्[६]। वाग्गुप्तिर्वक्ष्यमाणा। वाक्सस्कारकारणानि शिर कण्ठादीनि अष्टौ[७] स्थानानि। वाक्प्रयोग शुभेतरलक्षणो वक्ष्यते।

अभ्याख्यानकलहपैशुन्यासबद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यङ्मिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा। हिसादे कर्मण कर्तुविरतस्य विरताविरतस्य वाऽयमस्य कर्तेत्यभिधानम् अभ्याख्यानम्। कलह प्रतीत। पृष्ठतो दोषाविष्करण पैशुन्यम्। धर्मार्थकाममोक्षाऽसबद्धा वाग् असबद्धप्रलाप। शब्दादिविषयदेशादिषु रत्युत्पादिका रतिवाक्। तेष्वेवारत्युत्पादिका अरतिवाक्। या वाच श्रुत्वा परिग्रहार्जनरक्षणादिष्वासज्यते सोपधिवाक्। वणिग्व्यवहारे यामवधार्य निकृतिप्रवण आत्मा भवति सा [८]निकृतिवाक्। या श्रुत्वा तपोविज्ञानाधिकेष्वपि न प्रणमति सा अप्रणतिवाक्। या श्रुत्वा स्तेये वर्तते सा मोषवाक्। सम्यङ्मार्गस्योपदेष्ट्री सा सम्यग्दर्शनवाक्। तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक्। वक्तारश्च आविष्कृतवक्तृत्वपर्याया द्वीन्द्रियादय। द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयमनेकप्रकारमनृतम्।

दशविध सत्यसद्भाव – नाम-रूप-स्थापना-प्रतीत्य-सवृति-सयोजना-जनपद-देश-भाव-समयसत्यभेदेन। तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्यासत्यप्यर्थे यद्वचव्यवहारार्थं सज्ञाकरण तन्नामसत्यम्, इन्द्र इत्यादि। यदर्थासन्निधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यम्, यथा चित्रपुरुषादिषु असत्यपि चैतन्योपयोगादावर्थे पुरुष इत्यादि। असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापित द्यूताक्षनिक्षेपादिषु तत् स्थापनासत्यम्। आदिमदनादिमदौपशमिकादीन् भावान् प्रतीत्य यद्वचन तत् प्रतीत्यसत्यम्। यल्लोके सवृत्या नीत वचस्तत् सवृतिसत्य यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति 'पङ्के जात पङ्कजम्' इत्यादि। धूपचूर्णवासानुलेपनप्रधर्षादिषु पद्म-मकर-हस-सर्वतोभद्र-क्रौञ्च-व्यूहादिषु वा सचेतनेतरद्रव्याणा यथा भागविधिसन्निवेशाविर्भाविक यद्वचस्तत् सयोजनासत्यम्। [९]द्वात्रिशज्जनपदेष्वार्यानार्यभेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणा प्रापक यद्वच तत् जनपदसत्यम्। ग्रामनगरराजगणपाखण्डजातिकुलादिधर्माणामुपदेष्टृ यद्वच तद् देशसत्यम्। छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययथात्म्यादर्शनेऽपि सयतस्य सयतासयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमित्यादि यद्वच तत् भावसत्यम्। प्रतिनियतषट्तयद्रव्यपर्यायाणामागमगम्यानां याथात्म्याविष्करण यद्वच तत् समयसत्यम्।

---

१ अग्रायणीयपूर्वं षण्णवतिलक्ष (९६०००००) पदम्। २ सप्ततिलक्ष (७०००००००) पदम्। ३ षष्टिलक्ष (६०००००००) पदम्। ४ स्थान। ५ एकोनकोटि (९९९९९९९९९) पदम्। ६ षड्त्तरैककोटि (१०००००६) पदम्। ७ "अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठःशिरस्तथा। जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च॥" –पाणिनिशि० श्लो० १३। ८ –न्याबद्धप्र-ता०, श्र०, मू०। ९ वञ्चना। १० द्वात्रिंशत्सहस्रजन– आ०, ब०, द०।

[1]यत्रात्मनोऽस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादयो धर्मा. षड्जीवनिकायभेदाश्च युक्तितो निर्दिष्टा. तदात्मप्रवादम्। बन्धोदयोपशमनिर्जरापर्याया अनुभवप्रदेशाधिकरणानि स्थितिश्च जघन्यमध्यमोत्कृष्टा [2]यत्र निर्दिश्यते तत्कर्मप्रवादम्। व्रत-नियम-प्रतिक्रमण-प्रतिलेखन-तप -कल्पोपसर्गाचार-प्रतिमा - विरा नाराधनाविशुद्धचुपक्रमा श्रामण्यकारणं च परिमितापरिमितद्रव्यभावप्रत्याख्यानं च [3]यत्राख्यातं तत्प्रत्याख्याननामधेयम्।

समस्ता[4] विद्या अष्टौ महानिमित्तानि तद्विषयो रज्जुराशिविधि क्षेत्र श्रेणी लोकप्रतिष्ठा[5]संस्थान समुद्घातश्च यत्र [6]कथ्यते तद्विद्यानुवादम्। तत्राङ्गुष्ठप्रसेनादीनामल्पविद्याना सप्तशतानि[7] महारोहिण्यादीना महाविद्यानां पञ्चशतानि। अन्तरिक्ष-भौमाङ्ग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यञ्जन-छिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि। तेषां विषयो लोक। क्षेत्रमाकाशं पटसूत्रवच्चर्मावयववद्वा आनुपूर्व्येण ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यवस्थिता असख्याता आकाशप्रदेश[8]पङ्क्तय श्रेणय उक्ता।

अलोकाकाशस्यानन्तस्य बहुमध्ये सुप्रतिष्ठकसंस्थानो लोक, ऊर्ध्वमधस्तिर्यङ्मृदङ्गवेत्रासनझल्लर्याकृति, तनुवातवलयपरिक्षिप्त ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु प्रतरवृत्तश्चतुर्दशरज्ज्वायाम। मेरुप्रतिष्ठवज्रवैडूर्यपटलान्तर[9]रुचक[10]संस्थिता अष्टावाकाशप्रदेशा लोकमध्यम्। लोकमध्याद् यावद्देशानान्त तावत् एका रज्जुरर्धं च। माहेन्द्रान्ते तिस्र। ब्रह्मलोकान्तेऽर्धचतुर्था। कापिष्ठान्ते चतस्र। महाशुक्रान्तेऽर्धपञ्चमा। सहस्रारान्ते पञ्च। प्राणतान्तेऽर्धषष्ठा। अच्युतान्ते षट्। आलोकान्तात् सप्त। तथा लोकमध्यादधो यावच्छर्करापृथिव्यन्तस्तावदेका रज्जु। ततोऽध पृथिवीना पञ्चाना प्रत्येकमन्तेऽन्ते रज्जुरेकैका वृद्धा। ततोऽधस्तमस्तम प्रभाया आलोकान्तादेका रज्जु। एव सप्ताधो रज्जव।

धनोदधि-घनानिल-तनुवातवलयानि त्रीणि, यैरयं परिक्षिप्त सर्व समन्ताल्लोक। त्रयाणामप्यधोलोकदिग्विदिक्पार्श्वभाविना प्रत्येक विस्तारो विशतियोजनसहस्राणि। तत उपरि क्रमतो हानिवशात्तिर्यग्लोकभाविदिग्विदिक्पार्श्वेष्वष्टासु प्रत्येक त्रीण्यपि वलयानि [11]पञ्च चत्वारि त्रीणि योजनविस्तीर्णानि। पुनरुपरि वृद्धिवशाद् ब्रह्मलोके दिग्विदिक्पार्श्वेष्वष्टासु प्रत्येक त्रीण्यपि वलयानि सप्तपञ्चचतुर्योजनविस्तीर्णानि। पुनर्हानिवशाल्लोकाग्रे अष्टास्वपि दिग्विदिक्पार्श्वेषु प्रत्येक त्रीण्यपि वलयानि पञ्चचतुस्त्रियोजनविस्तीर्णानि। दण्डवलयानि पुनरुपरि अधश्च त्रीण्यपि। उपरि लोकाग्रे घनोदधेर्द्विगव्यूती घनानिलस्य क्रोश. तनुवातस्य देशोन.क्रोशो विस्तार। अध कलङ्ककलपृथिवीपयन्ते घनोदधे सप्त घनानिलस्य पञ्च तनुवातस्य चत्वारि योजनानि विस्तार।

अध लोकमूले दिग्विदिक्षु विष्कम्भ: सप्त रज्जव। तिर्यग्लोके रज्जुरेका। ब्रह्मलोके पञ्च। पुनर्लोकाग्रे रज्जुरेका। लोकमध्यादधो रज्जुमवगाह्य शर्करान्ते अष्टास्वपि दिग्विदिक्षु

---

१ आत्मप्रवादपूर्वं षड्विंशतिकोटि (२६०००००) पदैः। जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो। वेदो विण्हू सयंभू सरीरी तह माणओ। सत्तो जंतू य माणी य माई जोगी य संकुडो (अंग प० गा० ८६-८७) इत्याद्यात्मनः-श्व० टि०। २ कर्मप्रवादपूर्वं एककोटचशीतिलक्ष (१८००००००) पदैः। ३ चतुरशीतिलक्ष (८४०००००) पदैः। ४ समस्तवि- श्र०। ५ लोकाधारसंस्थानम्। ६ एककोटिदशलक्ष (११००००००) पदैः। ७ -नि रोहि- आ०, ब०, द०, मु०। ८ -शभूमयः आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ९ वृत्त। १० चतुरस्र। ११ पञ्चचतुस्त्रियो- आ०, ब०, द०, मु०। भूलोयतले पासे हेट्ठादो जाव रज्जुत्ति। जोयणवीससहस्सं बहलं बलयस्सयाण पत्तेयं॥ सत्तमखिदिपणधिम्मि य सगपणचत्तारि पणचदुक्कतियं। तिरिए बम्हे उड्ढे सत्तमतिरिए च उत्तकमं॥ कोसाणं दुगमेक्कं वेसूणं तच्च लोयसिहरम्मि। ऊणधणूणपमाणं पणुवीसंज्झहिय चारि सयं॥

विष्कम्भः रज्जुरेका रज्ज्वाश्च षट्सप्तभागाः। ततो रज्जुमवगाह्य बालुकान्ते द्वे रज्जू रज्ज्वाश्च पञ्चसप्तभागाः। ततो रज्जुमवगाह्य पङ्कान्ते तिस्रो रज्जव. रज्ज्वाश्च चत्वार. सप्तभागा.। ततो रज्जुमवगाह्य धूमान्ते चतस्रो रज्जव. रज्ज्वाश्च त्रय. सप्तभागा । ततो रज्जुमवगाह्य तम प्रभान्ते पञ्च रज्जव रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ। ततो रज्जुमवगाह्य तमस्तम प्रभान्ते षड् रज्जव. रज्ज्वाः सप्तभागश्चैक । ततो रज्जुमवगाह्य कलङ्ककलान्ते विष्कम्भ. सप्त रज्जवः। वज्रतलादुपरि रज्जुमुत्क्रम्य विष्कम्भो द्वे रज्जू रज्ज्वाश्चैक सप्तभाग । ततो रज्जुमुत्क्रम्य तिस्रो रज्जव· रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ। ततो रज्जुमुत्क्रम्य चतस्रो रज्जव रज्ज्वाश्च त्रयः सप्तभागा.। ततोऽर्धरज्जुमुत्क्रम्य रज्जव. पञ्च । ततोऽर्धरज्जुमुत्क्रम्य चतस्रो रज्जव रज्ज्वाश्च त्रय· सप्तभागा । ततो रज्जुमुत्क्रम्य तिस्रो रज्जव , रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ । ततो रज्जुमुत्क्रम्य द्वे रज्जू रज्ज्वाश्चैक सप्तभाग । ततो रज्जुमुत्क्रम्य लोकान्ते रज्जुरेका विष्कम्भ.। एष रज्जुविधि ।

हन्तेर्गमिक्रियात्वात् सभूयात्मप्रदेशाना च बहिरुद्हनन[1] समुद्घात । स सप्तविध—वेदनाकषायमारणान्तिकतेजोवैक्रियाऽऽहारककेवलिविषयभेदात्। तत्र वातिकादिरोगविषादिद्रव्यसबन्धसन्तापापादितवेदनाकृतो वेदनासमुद्घात । द्वितय[2]प्रत्ययप्रकर्षोत्पादितक्रोधादिकृत कषायसमुद्घात. । औपक्रमिकानुपक्रमायु क्षयाविर्भूतमरणान्तप्रयोजनो मारणान्तिकसमुद्घात । जीवानुग्रहोपघातप्रवणतेज शरीरनिर्वर्तनार्थस्तेजस्समुद्घात । एकत्वपृथक्त्वनानाविधविक्रियशरीरवाक्प्रचारप्रहरणादिविक्रियाप्रयोजनो वैक्रियिकसमुद्घात । अथोक्तविधिना अल्पसावद्यसूक्ष्मार्थग्रहणप्रयोजनाहारकशरीरनिर्वृत्त्यर्थ आहारकसमुद्घात । वेदनीयस्य बहुत्वाद् अल्पत्वाच्चायुषोऽनाभोग[3]पूर्वकमायु समकरणार्थ द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भाविोपशमनवद्[4] देहस्थात्मप्रदेशाना बहि समुद्घातन केवलिसमुद्घात ।

आहारकमारणान्तिकसमुद्घातावेकदिक्कौ। यत आहारकशरीरमात्मा निर्वर्तयन् श्रेणिगतित्वात् एकदिक्कानात्मदेशानसख्यातान्निर्गमय्य आहारकशरीरमरत्निमात्र निर्वर्तयति। अन्यक्षेत्रसमुद्घातकारणाभावात् यत्रानेन नरकादावुत्पत्तव्य तत्रैव मारणान्तिकसमुद्घातेन आत्मप्रदेशा एकदिक्का [5]समुद्धन्यन्ते नान्यक्षेत्रे, अतस्तावेकदिक्कौ। शेषा पञ्च समुद्घाता षड्दिक्का। यतो वेदनादिसमुद्घातवशाद् बहिर्नि सृतानामात्मप्रदेशाना पूर्वापरदक्षिणोत्तरोर्ध्वाधोदिक्षु गमनमिष्टं श्रेणिगतित्वादात्मप्रदेशानाम्। वेदना-कषाय-मारणान्तिक-तेजोवैक्रियिकाऽऽहारकसमुद्घाता [6]षडसंख्येयसमयिका । केवलिसमुद्घात अष्टसमयिक—दण्डकवाटप्रतरलोकपूरणानि चतुर्षु समयेषु पुन प्रतरकपाटदण्ड[7]स्वशरीरानुप्रवेशाश्चतुर्षु इति ।

रविशशिग्रहनक्षत्रतारागणानां चारोपपादगतिविपर्ययफलानि शकुनव्याहृतम् अर्हद्बलदेव-वासुदेव-चक्रधरादीना गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च यत्रोक्तानि तत्[8] कल्याणनामधेयम्। कायचिकित्साद्यष्टाङ्ग आयुर्वेद भूतिकर्म जाङ्गुलिकप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि [9]यत्र विस्तारेण वर्णितस्तत् प्राणावायम्। लेखादिका [10]कला द्वासप्तति, गुणाश्चतु षष्टि स्त्रैणा, शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियाछन्दोविचितिक्रिया-क्रियाफलोपभोक्तारश्च [11]यत्र व्याख्याताः

१—द्गमनं- आ०, ब०, द०, मु०। २ हेतु। ३ मनःपूर्वकरहितम्, चित्ताभोगो मनस्कारः इत्यमरः। ४ —शमवद् श्र०। ५ समुद्गम्यन्ते आ०, ब०, द०, मु०। ६ षट्संख्येय— आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ७ —दण्डकस्वश— मू०, ता०, श्र०। ८ कल्याणवादपूर्वे षट्विंशतिकोटि (२६००००००) पदैः। ९ त्रयोदशकोटि (१३००००००) पदैः। १० भरतशास्त्रादि। ११ नवकोटि (९०००००००) पदैः।

तत्क्रियाविशालम् । - [1]यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि परिकर्म राशिक्रियाविभागश्च [2]सर्वश्रुतसपदुपदिष्टा तत्खलु लोकबिन्दुसारम् ।

आरातीयाचार्यकृताङ्गार्थप्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम् ।१३। यद् गणधरशिष्यप्रशिष्यै[3]-रारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वै कालदोषादल्पमेधायुर्बलाना प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं सक्षि-
५ प्ताङ्गार्थवचनविन्यास तदङ्गबाह्यम् ।

तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात् ।१४। तदङ्गबाह्यमनेकविधम्—कालिक-मुत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात् । स्वाध्यायकाले नियतकाल कालिकम् । अनियतकाल-मुत्कालिकम् । तद्भेदा [4]उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः[5] ।

अत्राह—अनुमानादीना पृथगनुपदेश किमर्थ ?

१० **अनुमानादीनां पृथगनुपदेशः श्रुतावरोधात् ।१५।** यस्मादेतान्यनुमानादीनि श्रुते अन्त-र्भवन्ति तस्मात्तेषा पृथगुपदेशो न क्रियते । तद्यथा—*[6]**"प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च"** [न्यायसू० १।१।५] इति । तत्र [7]'येनाग्नेर्नि सरन् पूर्वं धूमो दृष्ट स प्रसिद्धाग्निधूमसबन्धाहितसस्कार पश्चाद्धूमदर्शनाद् 'अस्त्यत्राग्नि' इति [8]"पूर्ववदग्नि गृह्णातीति पूर्ववदनुमानम् । तथा येन पूर्व विषाणविषाणिनो सबन्ध उपलब्ध तस्य विषाणरूपदर्शनाद्विषा-
१५ णिन्यनुमान शेषवत् । तथा देवदत्तस्य देशान्तरप्राप्ति गतिपूर्विका दृष्ट्वा सबन्ध्यतरे सवितरि देशान्तरप्राप्तिदर्शनाद् गतेरत्यन्तपरोक्षाया अनुमान सामान्यतोदृष्टम् । तदेतत्त्रितयमपि स्वप्रतिपत्तिकाले अनक्षरश्रुत 'परप्रतिपादनकाले अक्षरश्रुतम् । 'यथा गौस्तथा गवय. केवल सास्नारहित' इत्युपमानमपि स्वपरप्रतिपत्तिविषयत्वादक्षरानक्षरश्रुते अन्तर्भवति । तथा शाब्द-मपि प्रमाण श्रुतमेव । ऐतिह्यस्य च[9] 'इत्याह स भगवान् ऋषभ' इति परपरीणपुरुषागमाद्
२० गृह्यते इति श्रुतेऽन्तर्भाव । [10]प्रकृतिपुष्टो दिवा न भुङ्क्ते अथ च जीवतीत्यर्थादापन्न रात्रौ भुङ्क्ते इत्यर्थापत्ति । 'चत्वार. प्रस्था आढकम्' इति सति ज्ञाने आढक दृष्ट्वा सभवत्यर्धाढक [11]कुडवो वेति प्रतिपत्ति सभव । तृणगुल्मादीना स्नेहपर्णफलाद्यभाव दृष्ट्वा अनुमीयते नूनमत्र न वृष्ट पर्जन्य इत्यभाव । एतेषामप्यर्थापत्त्यादीनाम् अनुक्तानामनुमानसमानमिति पूर्ववत् श्रुतान्तर्भाव [12] ।

२५ व्याख्यातं परोक्षम्, प्रत्यक्षमिदानी वक्तव्यम् । तद् द्वेधा—देशप्रत्यक्ष सर्वप्रत्यक्ष च । देश-प्रत्यक्षम्—अवधिमन पर्ययज्ञाने । सर्वप्रत्यक्ष केवलम् । यद्येवमिदमेव तावदवधिज्ञान त्रिप्रकार-प्रत्यक्षस्याऽऽद्य व्याक्रियतामिति । अत्रोच्यते—व्याख्यातमस्य लक्षणम्—आत्मप्रसादविशेषे[13] सत्यन्वर्थसज्ञाकरणादवधीयते तदित्यवधिज्ञानमिति । यद्येव तस्येदानी भेदो वक्तव्य ? उच्यते—द्विविधोऽवधि, भव-गुणप्रत्ययभेदात्, देशसर्वावधिभेदाद्वा । यद्येव त्रैविध्य नोपपद्यते—

---

१ द्वादशकोटिपञ्चाशल्लक्ष (१२५००००००) पदैः । २ त्रिलोकावयवस्वरूपं मोक्षसुखञ्च । ३ -र्ष्यः प्रशि- आ०, ब०, मु० । ४ उत्तराणि अधीयन्तेऽस्मिन्निति उत्तराध्ययनम्, अत्र चतुर्विधो-पसर्गाणा द्वाविंशतिपरीषहसहनविधानम्, अस्य प्रश्नस्य अयमुत्तर इति विधानञ्च कथ्यते । ५ सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवः वन्दना प्रतिक्रमणमित्यादयः । ६ पुरुषेण । ७ पूर्वं दृष्टधूमवन्तम् । ८ परप्रति-पत्तिका- आ०, ब०, द०, मु० । ९ चेतोह- मु०, मू०, ब०, द०, आ०, श्र०, ता० । १० स्वभावेन प्रकृत्या, रात्रिभोजी इत्यर्थः— सम्पा० । प्रकृतिपुरुषो मु०, ता०, श्र०, द०, ब०, ज० । ११ कुडुवो ता०, श्र०, आ०, ब० । १२ इति तत्त्वार्थवार्त्तिकालङ्कारे प्रथमाध्याये सप्तममाह्निकम्— श्र० । १३ —सादाविशेषे— मू०, श्र० ।

देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति; नैष दोषः; सर्वशब्दस्य निरवशेषवाचित्वात्, सर्वावधिमपेक्ष्य परमावधेर्देशावधित्वमेवेति वक्ष्याम ।

तत्र योऽसौ भवप्रत्ययस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—

[1]भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

भव इत्युच्यते[2] । को भवो नाम ? ५

आयुर्नामकर्मोदयविशेषापादितपर्यायो भवः ।१। आत्मनो य पर्याय आयुषो नाम्नश्चोदयविशेषाच्छेषकारणापेक्षादाविर्भवति साधारणलक्षणो भव इत्युच्यते ।

प्रत्ययशब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातो निमित्तार्थगतिः ।२। अय प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थ । क्वचिज्ज्ञाने वर्तते, यथा 'अर्थाभिधानप्रत्यया' इति । क्वचिच्छपथे वर्तते, यथा परद्रव्यहरणादिषु सत्युपालम्भे [3]'प्रत्ययोऽनेन कृत' इति । क्वचिद्धेतौ वर्तते, यथा अविद्याप्रत्यया संस्कारा इति । १० तत्रेह विवक्षातो निमित्तार्थो वेदितव्य । भवप्रत्ययो भवनिमित्त इति ।

क्षयोपशमाभाव इति चेत्; न; तस्मिन् सति सद्भावात् खे पतत्त्रिगतिवत् ।३। स्यादेतत्—यदि तत्र भवनिमित्तोऽवधि कर्मण क्षयोपशमोऽनर्थक इति; तन्न, किं कारणम् ? तस्मिन् सति सद्भावात्[4] खे पतत्त्रिगतिवत् । यथा आकाशे सति पक्षिणो गतिर्भवति तथा अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमे अन्तरङ्गे हेतौ सत्यववेर्भवि[5], भवस्तु बाह्यो हेतु । १५

इतरथा हयविशेषप्रसङ्गः ।४। [6]यदि हि भव एव हेतु स्यात् सर्वेषा देवनारकाणा तुल्य इत्यवधेरविशेषप्रसङ्ग स्यात् ? इष्यते च प्रकर्षाप्रकर्षभावेन वृत्ति । कथ पुनर्भवो हेतु इति चेत् ?

व्रतनियमाद्यभावात् ।५। यथा तिरश्चा मनुष्याणा चाऽहिंसादिव्रतनियमहेतुकोऽवधि न तथा देवाना नारकाणा चाऽहिंसादिव्रतनियमाभिसन्धिरस्ति । कुत ? भव प्रतीत्य कर्मोदयस्य २० तथाभावात्, तस्मात्तत्र भव एव बाह्यसाधन[7] प्रधानमित्युच्यते ।

अविशेषात् सर्वप्रसङ्ग इति चेत्, न, सम्यगधिकारात् ।६। स्यादेतत्—देवनारकाणामित्यविशेषवचनात् मिथ्यादृष्टीनामप्यवधिप्रसङ्ग इति; [8]तन्न; किं कारणम् ? सम्यगधिकारात् । 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानम्' [9]इत्यनुवर्तते, तत्सबन्धात् सम्यग्दृष्टीनामवधि मिथ्यादृष्टीना विभङ्गो वेदितव्य । अथवा, वक्ष्यमाणाभिसबन्धान्न सर्वप्रसङ्ग । वक्ष्यते हि एतत्—*"**मतिश्रुतावधयो** २५ **विपर्ययश्च ।**" [त० सू० १।३५] इति । अथवा, व्याख्यानाद्विशेषप्रतिपत्ति ।

आगमे प्रसिद्धेर्नारकशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेत्; न; उभयलक्षणप्राप्तत्वात् देवशब्दस्य ।७। स्यादेतत्—नारकशब्दस्य पूर्वनिपातेन भवितव्यम् । कुत ? आगमे प्रसिद्धे । आगमे हि [10]जीवस्थानादौ सदादिष्वनुयोगद्वारेण आदेशवचने नारकाणामेवादौ सदादिप्ररूपणा कृता, ततो नारक-

---

१ अत्र देशावधेर्जघन्यमिति ज्ञातव्यम् । स गृहस्थतीर्थकराणामपि भवप्रत्ययो भवति । तदुक्तं नेमिचन्द्रसिद्धान्तिभिः—भवपच्चइगो ओही देसोही होइ परमसव्वोही । गुणपच्चइगो णियमा देसोही वि य गुणो होदि । देसोहिस्स य अवर णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं । परमोही सव्वोही चरमसरीरस्स विरदस्स ॥ इति । —श्र० टि० । २ को नाम भवः आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ३ प्रत्ययो येन श्र० । ४ तद्भावात् आ०, ब०, द०, मु० । ५ उत्पत्तिः । ६ यदि भव— आ०, ब०, मु० । ७—साधनमित्यु— आ०, ब, मु० । ८ चेन्न श्र० । ९ —इति वर्तते आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १० षट्खं सं०, पु० २०१ ।

शब्दस्य पूर्वनिपातेन भवितव्यमिति; तन्न; किं कारणम् ? उभयलक्षणप्राप्तत्वाद् देवशब्दस्य । देवशब्दो हि अल्पाजभ्यर्हितश्चेति 'वृत्तौ पूर्वप्रयोगार्ह. । आगमे वाक्यविषयो निर्देश इति नास्ति नियम ।

आह–उक्त भवता 'इष्यते प्रकर्षाप्रकर्षभावेन वृत्ति.' इति; तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–
५ देवेषु तावद् भवनवासिनां दशप्रकाराणामपि जघन्योऽवधि पञ्चविंशतियोजनानि । उत्कृष्टः–असुराणां तिर्यगसख्याता योजनकोटिकोटचोऽध, ऊर्ध्वमृतुविमानस्योपरिपर्यन्त । नागादिकुमाराणा नवविधानामप्युत्कृष्टोऽवधि अधोऽसख्यातानि योजनसहस्राणि, ऊर्ध्वं मन्दिर[२]चूलिकाया उपरिपर्यन्त, तिर्यगसंख्यातानि योजनसहस्राणि । व्यन्तराणामष्टविधानां जघन्योऽवधि पञ्चविंशतियोजनानि । उत्कृष्टोऽप्यसंख्यातानि योजनसहस्राणि अध', ऊर्ध्वं स्वविमानस्योपरिपर्यन्त,
१० तिर्यगसख्याता योजनकोटिकोटचः । ज्योतिषा जघन्योऽवधिरध सख्येयानि योजनानि, उत्कृष्टश्चाऽसख्येयानि योजनसहस्राणि, ऊर्ध्वमात्मीयविमानस्योपरिपर्यन्त, तिर्यगसख्याता योजनकोटिकोटच ।

वैमानिकेषु सौधर्मैशानीयानां जघन्योऽवधिर्ज्योतिषामुत्कृष्ट, रत्नप्रभाया अधश्चरम उत्कृष्ट. । सानत्कुमारमाहेन्द्राणा जघन्योऽवधि रत्नप्रभाया अधश्चरम, उत्कृष्ट शर्करा-
१५ प्रभाया अधश्चरम । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठाना जघन्योऽवधि शर्कराप्रभाया अधश्चरम, उत्कृष्टो वालुकाप्रभाया अधश्चरम । शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्राराणा जघन्योऽवधि वालुकाप्रभाया अधश्चरम, उत्कृष्ट पङ्कप्रभाया अधश्चरम । आनतप्राणताऽऽरणाऽच्युताना जघन्योऽवधि पङ्कप्रभाया अधश्चरम, उत्कृष्टो धूमप्रभाया अधश्चरम । नवाना ग्रैवेयिकाना जघन्योऽवधि धूमप्रभाया अधश्चरम, उत्कृष्ट तम प्रभाया अधश्चरम । नवानामनुदिशाना
२० पञ्चानुत्तरविमानवासिनाञ्च लोकनालिपर्यन्तोऽवधि । सौधर्मादीनामनुत्तरान्तानामूर्ध्वं स्वविमानस्योपरिपर्यन्त, तिर्यगसंख्याता योजनकोटिकोटच ।

अथैषां कालद्रव्यभावेषु कोऽवधिरिति ? अत्रोच्यते–यस्य यावत्क्षेत्रावधिस्तस्य तावदाकाशप्रदेशपरिच्छिन्ने कालद्रव्ये [५]भवत । तावत्सु[६] समयेष्वतीतेष्वनागतेषु च ज्ञान वर्तते, [७]तावदसख्यातभेदेषु [८]अनन्तप्रदेशेषु पुद्गलस्कन्धेषु जीवेषु च सकर्मकेषु । भावत स्वविषयपुद्गल-
२५ स्कन्धाना रूपादिविकल्पेषु जीवपरिणामेषु चौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेषु वर्तते । कुत ? पौद्गलिकत्वादेषाम् ।

नारकेषु च 'योजनमर्धगव्यूतहीनमागव्यूतात् । तद्यथा–रत्नप्रभाया योजनमवधिः अध । द्वितीयायामध अर्धचतुर्थानि गव्यूतानि । तृतीयायामध त्रीणि गव्यूतानि । चतुर्थ्यामधोऽर्ध-तृतीयानि गव्यूतानि । पञ्चम्या द्वे गव्यूते । षष्ठ्यामधोऽर्धाधिक गव्यूतम् । सप्तम्यामधो
३० गव्यूतम् । सर्वासु पृथिवीषु नारकाणामवधिरुपरि आत्मीयनरकावासान्त, तिर्यगसख्याता योजनकोटीकोटच । कालद्रव्यभावपरिमाण पूर्ववद्वेदितव्यम् ।

यदि भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्, अथ क्षयोपशमहेतुक केषामिति ? अत आह—

---

१ समासे –सम्पा० । २ मेरुपर्वतचूलिकायाः –सम्पा० । ३ देवस्य । ४ कालश्च द्रव्यञ्च ते । ५ आकाशपरिच्छिन्नप्रदेशरूपेषु । ६ द्रव्यावधि व्याचष्टे । ७ तेषु प्रत्येकं देशेषु । ८ सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव । जाव य पढमे णिरए जोयणमेक्कं हवे पुण्णं ॥ (गो० जीव० गा० २४३) –श्र० टि० ।

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

अवधिज्ञानावरणस्य देशघातिस्पर्धकानामुदये सति सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभाव क्षय, तेषामेवाऽनुदयप्राप्तानां सदवस्थोपशम, तौ निमित्तमस्येति क्षयोपशमनिमित्त । स शेषाणा वेदितव्य । के पुन शेषा ? मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च । ५

शेषग्रहणादविशेषप्रसङ्ग इति चेत्; न; तत्सामर्थ्यविरहात् ।१। स्यादेतत्-देवनारकेभ्योऽन्ये शेषा, ततस्तेषामविशेषात् सर्वेषा तिरश्चा मनुष्याणा वाऽवधिप्रसङ्ग इति; तन्न; कि कारणम् ? तत्सामर्थ्यविरहात् । न ह्यसज्ञिनामपर्याप्तकाना च तत्सामर्थ्यमस्ति, सज्ञिना पर्याप्तकाना च न सर्वेषाम् । केषा तर्हि ?

यथोक्तनिमित्तसन्निधाने सति शान्तक्षीणकर्मणां तदुपलब्धेः ।२। यथोक्तसम्यग्दर्शनादि- १०
निमित्तसन्निधाने सति [1]शान्तक्षीणकर्मणा तस्योपलब्धिर्भवति । ननु [2]सर्व क्षयोपशमनिमित्त तत्र किमुच्यते–'क्षयोपशमनिमित्त शेषाणाम्' इति ?

सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे तद्वचनं नियमार्थम् अब्भक्षवत् ।३। यथा न कश्चिदपो न भक्षयति इत्यवग्रहण नियमार्थ क्रियते अप एव भक्षयति इति, तथा [3]सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे क्षयोपशमग्रहण नियमार्थम् 'क्षयोपशमनिमित्त एव न भवनिमित्त' इति । १५

स एषोऽवधि षड्विकल्प । कुत ?

अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानाऽवस्थिताऽनवस्थितभेदात् षड्विधः ।४। कश्चिदवधि भास्करप्रकाशवद् गच्छन्तमनुगच्छति । कश्चिन्नानुगच्छति तत्रैवातिपतति [4]उन्मुखप्रश्नादेशिकपुरुषवचनवत् । अपरोऽवधि अरणिनिर्मथनोत्पन्नशुष्कपत्रोपचीयमानेन्धननिचयसमिद्धपावकवत् सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धिपरिणामसन्निधानाद् यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते आ- २०
असख्येयलोकेभ्य । अपरोऽवधि [5]परिच्छिन्नोपादानसन्ततयग्निशिखावत् सम्यग्दर्शनादिगुणहानिसक्लेशपरिणामविवृद्धियोगात् यत्प्रमाण उत्पन्नस्ततो हीयते आ अङ्गुलस्याऽसख्येयभागात् इति । अपरोऽवधि सम्यग्दर्शनादिगुणावस्थानात् यत्परिमाण उत्पन्नस्तत्परिमाण एवावतिष्ठते न हीयते नापि वर्धते लिङ्गवत्[6], आभवक्षयादाकेवलज्ञानोत्पत्तेर्वा । अन्योऽवधि सम्यग्दर्शनादि-गुणवृद्धिहानियोगात् यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते यावदनेन वर्धितव्य हीयते २५
च यावदनेन हातव्य वायुवेगप्रेरितजलोर्मिवत् । एव षड्विकल्पोऽवधि भवति ।

पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदा –देशावधि परमावधि सर्वावधिश्चेति । तत्र देशावधिस्त्रेधा– जघन्य उत्कृष्ट अजघन्योत्कृष्टश्चेति । तथा परमावधिरपि त्रिधा । सर्वावधिरविकल्पत्वादेक एव । [7]'उत्सेधाङ्गुलासख्येयभागक्षेत्रो देशावधिर्जघन्य । उत्कृष्ट कृत्स्नलोक । तयोरन्तराले असख्येयविकल्प अजघन्योत्कृष्ट । परमावधिर्जघन्य एकप्रदेशाधिकलोकक्षेत्र । उत्कृष्टोऽ- ३०
सख्येयलोकक्षेत्र । अजघन्योत्कृष्टो मध्यमक्षेत्र. । उत्कृष्टपरमावधिक्षेत्राद् बहिरसख्यातक्षेत्र सर्वावधि[8] ।

---

१ क्षयोपशम । २ सर्वस्य आ०, ब० द०, मु० । ३ सर्वक्षयो– आ०, ब०, द०, मु० । ४ अभिमुख । ५ उद्धृत । ६ काष्ठ । ७ स्वस्तिकादिवत् । श्रीवृक्षशङ्खपद्मवज्रस्वस्तिकक्षपकलशादिशुभचिह्नानि यथा न हीयन्ते नापि वर्धन्ते तथा प्रकृतमपि । ८ व्यवहाराङ्गुलमत्र ग्राह्यम् । सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि । अवरोगाहणमाणं जहण्णय ओहिखेत्त तु । इत्युक्तत्वात्– श्र० टि० ।

'वर्धमानो हीयमान. अवस्थित. अनवस्थित अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाती प्रतिपाती' इत्येतेऽष्टौ भेदा देशावधेर्भवन्ति । हीयमानप्रतिपातिभेदवर्जा इतरे षड् भेदा भवन्ति परमावधे । 'अवस्थितोऽनुगा[1]म्यननुगाम्यप्रतिपाती' इत्येते चत्वारो भेदा सर्वावधे । तत्र षडाद्या उक्तलक्षणा । प्रतिपातीति विनाशी विद्युत्प्रकाशवत् । तद्विपरीतोऽप्रतिपाती ।

तत्र देशावधे सर्वजघन्यस्य क्षेत्रम् उत्सेधाङ्गुलस्याऽसख्येयभाग, आवलिकाया असख्येयभाग काल, अङ्गुलस्याऽसख्येयभागक्षेत्रप्रदेशप्रमाण द्रव्यम्, तत्प्रमाणपरिच्छिन्नेष्वसख्येयेषु स्कन्धेष्वनन्तप्रदेशेषु ज्ञान वर्तते, स्वविषयस्कन्धगतानन्तवर्णादिविकल्पो भाव ।

[2]तस्य वृद्धिरुच्यते—प्रदेशोत्तरा क्षेत्रवृद्धिर्नास्त्येकजीवस्य, नानाजीवानां तु प्रदेशोत्तरक्षेत्र[3]वृद्धिर्भवति आसर्वलोकात् । एकजीवस्य त्वङ्गुलासख्येयभागादूर्ध्वं विशुद्धिवशात् मण्डूकप्लुत्या अगुङ्गलासख्येयभागक्षेत्रवृद्धिर्भवति आसर्वलोकात् । नानाजीवा अपि प्रदेशोत्तरवृद्धया तावद्वर्धयन्ते यावदङ्गुलस्यासख्येयभाग । कालवृद्धिरेकजीवस्य नानाजीवाना वा मौलादावलिका[4]सख्येयभागात् क्वचिदेकसमयोत्तरा क्वचिद् द्विसमयोत्तरा क्वचित् सख्येयसमयोत्तरा क्वचिदसख्येयसमयोत्तरा यावदावलिकाया असख्येयभाग । सेय क्षेत्रकालवृद्धि । कया वृद्धया ? चतुर्विधया सख्येयभागवृद्धया असख्येयभागवृद्धया सख्येयगुणवृद्धया असख्येयगुणवृद्धया वा । एव द्रव्यमपि वर्धमान चतुर्विधया वृद्धया वर्धते । भाववृद्धि पोढा—अनन्तभागवृद्धि असख्येयभागवृद्धि सख्येयभागवृद्धि सख्येयगुणवृद्धिरसख्येयगुणवृद्धिरनन्तगुणवृद्धिरिति । अनया क्षेत्रकालद्रव्यभाववृद्धयोक्तया आसर्वलोकात् वृद्धिरवसेया । हानिरपि तथैव । योऽङ्गुलसख्येयभागक्षेत्रोऽवधि तस्यावलिकाया सख्येयभाग काल, अङ्गुलसख्येयभागक्षेत्राकाशप्रदेशप्रमाण द्रव्यम्, भाव पूर्ववदनन्तो वा स्यादसख्येयो वा स्यात्सख्येयो वा स्यात् । योऽङ्गुलमात्रक्षेत्रोऽवधि तस्येषदूना आवलिका काल, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । योऽङ्गुल[5]पृथक्त्वक्षेत्रोऽवधि तस्य आवलिका काल द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो हस्तप्रमाणक्षेत्रोऽवधि तस्य आवलिकापृथक्त्व काल, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो गव्यूतिमात्रक्षेत्रोऽवधि तस्य साधिकोच्छ्वास काल, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो योजनमात्रक्षेत्रोऽवधि तस्य भिन्नमुहूर्त काल, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । य पञ्चविंशतियोजनप्रमाणक्षेत्रोऽवधि तस्येषदूनो दिवस काल, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो भरतक्षेत्रमात्रोऽवधि तस्य अर्धमास काल, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो जम्बूद्वीपमात्रक्षेत्रोऽवधि तस्य साधिको मास काल, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो मनुष्यलोकमात्रक्षेत्रोऽवधि तस्य सवत्सर काल, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । यो रुचकान्तप्रमाणक्षेत्रोऽवधि तस्य सवत्सरपृथक्त्व काल, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । य सख्येयद्वीपसमुद्रक्षेत्रोऽवधि तस्य सख्येया सवत्सरा काल, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । योऽसख्येयद्वीपसमुद्रक्षेत्रोऽवधि तस्याऽसख्येया सवत्सरा काल, द्रव्यभावौ पूर्ववत् । एव ज(एवमज)घन्योत्कृष्टस्तिर्यङ्नराणा देशावधिरुक्त ।

अथ तिरश्चामुत्कृष्टदेशावधिरुच्यते—क्षेत्रमसख्येया द्वीपसमुद्रा । कालोऽप्यसख्येया सवत्सरा । तेजश्शरीरप्रमाण द्रव्यम् । कियच्च तत् ? असख्येयद्वीपसमुद्राकाशप्रदेशपरिच्छिन्नाभि असख्येयाभिस्तेज शरीरद्रव्यवर्गणाभिर्निर्वर्तित तावदसख्येय[6]स्कन्धानन्तप्रदेशान् जानातीत्यर्थ । भाव पूर्ववत् । तिरश्चा मनुष्याणा च जघन्यो देशावधिर्भवति । तिरश्चा तु देशावधिरेव न परमावधिर्नापि सर्वावधि ।

---

१ –गामीवर्धमानाप्र– भा० २ । २ सर्वजघन्यस्य । ३ –क्षेत्रे वृद्धि– आ०, ब०, द०, मु० । ४ –कालास– आ०, ब०, द०, मु० । ५ –लिपृ– श्र०, ता० । ६ –स्कन्धानन्त– श्र० ।

अथ मनुष्याणामुत्कृष्टो देशावधिरुच्यते–क्षेत्रमसख्येया द्वीपसमुद्रा । कालोऽप्यसंख्येया संवत्सरा । द्रव्य कार्मणद्रव्यम् । कियच्च तत्? असख्येयद्वीपसमुद्राकाशप्रदेशपरिच्छिन्ना असख्येया ज्ञानावरणादिकार्मणद्रव्यवर्गणा । भाव. पूर्ववत् । एष देशावधिरुत्कृष्टो मनुष्याणां सयताना भवति ।

परमावधिरुच्यते–जघन्यस्य परमावधे क्षेत्र प्रदेशाधिको लोक । काल प्रदेशाधिक- ५
लोकाकाशप्रदेशावधृतप्रमाणा अविभागिन समया, ते चाऽसख्याता सवत्सरा । द्रव्यं प्रदेशा-
धिकलोकाकाशप्रदेशावधृतप्रमाणम् । भाव पूर्ववत् । अत पर क्षेत्रवृद्धि –नानाजीवैकजीवा-
नामविशेषेण विशुद्धिवशादसंख्येया लोका, एव तावदसंख्येया लोका वृद्धिर्याविदुत्कृष्टपरमाव-
धिक्षेत्रम् । कियन्तश्च ते असख्येया ? आवलिकाया असख्येयभागप्रमाणा । कालद्रव्य-
भावा पूर्ववत् । उत्कृष्टपरमावधे क्षेत्र सलोकालोकप्रमाणा[1] असख्येया लोका । कियन्तस्ते ? १०
अग्निजीवतुल्या । कालद्रव्यभावा पूर्ववत्[2]। स एष त्रिविधोऽपि परमावधि उत्कृष्टचारित्र-
युक्तस्यैव भवति नान्यस्य । वर्धमानो भवति न हीयमान । अप्रतिपाती न प्रतिपाती । यस्य
यावति[3] च लोके लोकप्रमाणासख्येयलोकक्षेत्रे जातस्तस्य तावत्यवस्थानादवस्थितो भवति,
अनवस्थितश्च वृद्धि प्रति न हानिम् । ऐहलौकिकदेशान्तरगमनादनुगामी पारलौकिकदेशान्त-
रानुगमनाभावादननुगामी । १५

सर्वावधिरुच्यते–असख्येयानामसख्येयभेदत्वाद् उत्कृष्टपरमावधिक्षेत्रमसख्येयलोकगुणि-
तमस्य क्षेत्रम्, कालद्रव्यभावा पूर्ववत् । स एष न वर्धमानो न हीयमानो नानवस्थितो न प्रति-
पाती, प्राक्सयतभवक्षयात् अवस्थितोऽप्रतिपाती, भवान्तर प्रत्यननुगामी देशान्तर प्रत्यनुगामी।
सर्वशब्दस्य साकल्यवाचित्वात् द्रव्यक्षेत्रकालभावै सर्वावधेरन्त पाती परमावधि, अत परमा-
वधिरपि देशावधिरेवेति द्विविध एवावधि –सर्वावधिर्देशावधिश्च । २०

उक्ताया वृद्धौ यदा कालवृद्धिस्तदा चतुर्णामपि वृद्धिर्नियता । क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिर्भाज्या–
स्यात्कालवृद्धि स्यान्नेति, द्रव्यभावयोस्तु वृद्धिर्नियता । द्रव्यवृद्धौ भाववृद्धिर्नियता, क्षेत्रकाल-
वृद्धि पुनर्भाज्या–स्याद्वा न वेति । भाववृद्धावपि द्रव्यवृद्धिर्नियता, क्षेत्रकालवृद्धिर्भाज्या–स्याद्वा
न वेति ।

स एषोऽवधिज्ञानोपयोगो द्विधा भवति एकक्षेत्रोऽनेकक्षेत्रश्च । [4]श्रीवृक्षस्वस्तिकनन्द्या- २५
वर्ताद्यन्यतमोपयोगोपकरण एकक्षेत्र । तदनेकोपकरणोपयोगोऽनेकक्षेत्र । यद्येव परायत्त-
त्वात् परोक्षत्वप्रसङ्ग ? न; इन्द्रियेषु परत्वरूढे[5] ।

*"इन्द्रियाणि [6]पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेः परतरो हि सः[7] ॥" [भग० गी० ३।४२] इति ।

एव बहुधा व्याख्यातमवधिज्ञानम्, मन पर्ययस्येदानीमवसर [8]प्राप्त, तस्य भेदपुरस्सरं ३०
लक्षणं व्याचिख्यासुरिदमाह–

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

[9]ऋज्वी निर्वर्तिता प्रगुणा च । कस्मात्? निर्वर्तितवाक्कायमनस्कृतार्थस्य परकीयमनो-
गतस्य विज्ञानात् । ऋज्वी मतिर्यस्य सोऽयमृजुमतिः । [10]अनिर्वर्तिता कुटिला च विपुला । कस्मात्?

१ लोकप्रदेशप्रमाण । २ –त् एष मु० । ३– ति स लोके आ०, ब०, द०, मु०, अ०, ता०, ज०, भा० १, भा० २। ४ श्रीवृषभस्व– आ०, ब०, द०, मु० । ५ अन्य । ६ आत्मा । ७ –वसरप्राप्तस्य आ०, ब०, मु० । –सरप्राप्तस्तस्य ब०, द०, मू०, ता० । प्रस्तुतः कालः । ८ सा ऋज्वी इत्युच्यते । ९ असम्पूर्णा । १० या सा ।

अनिर्वर्तितवाक्कायमनस्कृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात् । विपुला मतिरस्य स विपुलमति । ऋजमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती । एकस्य मतिशब्दस्य [1]गतार्थत्वादप्रयोग[2]। अथवा, ऋजुश्च विपुला च ऋजुविपुले, ऋजुविपुले मती [3]ययोस्तौ ऋजुविपुलमती इति[4] । स एष मन पर्ययो द्विधा ऋजुमतिर्विपुलमतिरिति । अत्रोक्तो भेद ।

५ लक्षणमस्येदानी वक्तव्यमिति ? अत्रोच्यते—

मनःसंबन्धेन लब्धवृत्तिर्मनःपर्ययः ।१। वीर्यान्तरायमन पर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभोपष्टम्भाद् आत्मीयपरकीयमन संबन्धेन लब्धवृत्तिरुपयोगो मन पर्यय ।

मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत्; न; अन्यदीयमनोऽपेक्षामात्रत्वाद् अभ्रे चन्द्रव्यपदेशवत् ।२। स्यान्मतम्—यथा मनश्चक्षुरादिसबन्धाच्चक्षुरादिज्ञानमाविर्भवति तन्मतिज्ञानम् तथा मन पर्ययोऽपि मन सबन्धाल्लब्धवृत्तिरिति मतिज्ञान प्राप्नोतीति, तन्न; कि कारणम् ? अन्यदीयमनोऽपेक्षामात्रत्वात् । कथम् ? अभ्रे चन्द्रव्यपदेशवत् । यथा 'अभ्रे चन्द्रमस पश्य'इति अभ्रमपेक्षाकारणमात्र भवति, न च चक्षुरादिवन्निर्वर्तक चन्द्रज्ञानस्य, तथा अन्यदीयमनोऽपि अपेक्षाकारणमात्र भवति 'परकीयमनसि व्यवस्थितमर्थं जानाति मन पर्यय ' इति । ततो नास्य तदायत्त [5]प्रभव इति न मतिज्ञानप्रसङ्ग ।

स्वमनोदेशे वा तदावरणकर्मक्षयोप[6]शमव्यपदेशात् चक्षुष्यवधिज्ञाननिर्देशवत् ।३। अथवा, चक्षुर्देशस्थानामात्मप्रदेशानाम् अवध्यावरणक्षयोपशमात् यथा चक्षुष्यवधिज्ञानव्यपदेश इष्ट, नचाऽवधि मतिर्भवति, तथा मन पर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमात् स्वमनोदेशस्थानामात्मप्रदेशाना मन पर्ययव्यपदेश, न चास्य मतित्वम् ।

[7]मनःप्रतिबन्धज्ञानादनुमानप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रत्यक्षलक्षणाऽविरोधात् ।४। स्यान्मतम्—यथा धूमप्रतिबन्धाद्धूमसपृक्तेऽग्नावनुमान तथा अन्यदीयमन प्रतिबन्धात् [8]तन्मन सपृक्तानर्थान् जानन् मन पर्ययोऽनुमानमिति, तन्न; कि कारणम् ? प्रत्यक्षलक्षणाऽविरोधात् । यत्प्रत्यक्षलक्षणमुक्तम् 'इन्द्रियानिन्द्रियनिरपेक्षमतीतव्यभिचार साकारग्रहण प्रत्यक्षम्' इति, तेनाऽविरोध (धात्), न मन पर्ययोऽनुमानम् । अनुमान हि तेन विरुध्यते ।

उपदेशपूर्वकत्वाच्चक्षुरादिकरणनिमित्तत्वाद्वाऽनुमानस्य ।५। उपदेशाद्धि 'अयमग्निरय धूम ' इत्युपलभ्य पश्चाद्धूमदर्शनादग्नावनुमान करोति, चक्षुरादिकरणसबन्धाच्च, ततोऽस्योक्त प्रत्यक्षलक्षण विरुध्यते । न च तथा मन पर्यय उपदेश चक्षुरादिकरणसबन्ध चाऽपेक्षते ।

स द्वेधा सूत्रोक्तविकल्पात् ।६। स मन पर्ययो द्वेधा । कुत ? सूत्रोक्तविकल्पात् । ऋजुमतिर्विपुलमतिरिति ।

आद्यस्त्रेधा ऋजुमनोवाक्कायविषयभेदात् ।७। आद्य ऋजुमतिमन पर्ययस्त्रेधा । कुत ? ऋजुमनोवाक्कायविषयभेदात्—ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ ऋजुवाक्कृतार्थज्ञः ऋजुकायकृतार्थज्ञश्चेति । तद्यथा, मनसाऽर्थं व्यक्त सञ्चित्य वाच वा[9] धर्मादियुक्तामसंकीर्णामुच्चार्य[10] कायप्रयोग चोभयलोकफलनिष्पादनार्थमङ्गोपाङ्गप्रत्यङ्गनिपातनाकुञ्चनप्रसारणादिलक्षण कृत्वा पुनरनन्तरे समये कालान्तरे वा तमेवार्थं चिन्तितमुक्तं कृतं वा विस्मृतत्वान्न शक्नोति चिन्तयितुम्,

---

१ ज्ञातार्थत्वात् । २ द्वन्द्वान्ते श्रयमाणशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यत इति न्यायात् । ३ मनःपर्यय भेदयोः । ४ विग्रहः कार्यः, अनेन भेदकथनं कृतम् । ५ उत्पत्तिः । ६ मनसः । ७ प्रतिनियतो बन्धः सम्बन्धः प्रतिबन्धः । ८ तस्य परस्य । ९ च धर्मा– श्र० । १० असंकराम् ।

तमेवविधमर्थं ऋजुमतिमन.पर्ययः पृष्टोऽपृष्टो वा जानाति 'अयमसावर्थोऽनेन विधिना त्वया चिन्तित उक्त कृतो वा' इति । कथमयमर्थो लभ्यते ? आगमाविरोधात् । [1]आगमे ह्युक्तम्–*"**मनसा मनः [2]परिच्छिद्य परेषां संज्ञादीन् जानाति**" [महाबन्ध पृ० २४] इति । मनसा आत्मनेत्यर्थ [3] । परमन. समन्ताद्विदित्वा परिच्छिद्य मनसा चिन्तितस्य सचेतनेतरस्यार्थस्य मनस्यवस्थात् मनोव्यपदेश. मञ्चस्थाना पुरुषाणा मञ्चव्यपदेशवत् । [4]तमात्मना आत्माऽवबु- ५
ध्य आत्मन परेषा च चिन्ताजीवितमरणसुखदु खलाभालाभादीन् विजानाति । *"**व्यक्तमनसां जीवानामर्थं जानाति नाऽव्यक्तमनसाम्**।" [महाबन्ध] [5]व्यक्त स्फुटीकृतोऽर्थश्चिन्तया सुनिर्वर्तितो यैस्ते जीवा व्यक्तमनसस्तैरर्थ चिन्तितं ऋजुमतिर्जानाति नेतरै । कालतो जघन्येन जीवानामात्मनश्च द्वित्राणि, उत्कर्षेण सप्ताष्टानि भवग्रहणानि गत्यागत्यादिभि प्ररूपयति । क्षेत्रतो जघन्येन [6]गव्यूतिपृथक्त्वस्याभ्यन्तर न बहि । १०

द्वितीयः षोढा ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात् ।८। द्वितीयो विपुलमति षोढा भिद्यते । कुत ? ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात् । ऋजुविकल्पा पूर्वोक्ता, वक्रविकल्पाश्च तद्विपरीता योज्या । तथा आत्मन परेषा च चिन्ताजीवितमरणसुखदु खलाभालाभादीन् अव्यक्तमनोभिर्व्यक्तमनोभिश्च चिन्तितान् अचिन्तितान् जानाति विपुलमति, कालतो जघन्येन सप्ताष्टानि भवग्रहणानि, उत्कर्षेणाऽसख्येयानि गत्यागतिभि प्ररूपयति । क्षेत्रतो १५
जघन्येन योजनपृथक्त्वम्, उत्कर्षेण [7]मानुषोत्तरशैलाभ्यन्तर न बहि ।

एव द्विभेदो मन पर्ययो वर्णित । तस्य कि परस्परतो विशेषोऽस्त्युत नास्ति ? अत आह–

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति आत्मन प्रसादो विशुद्धि । प्रतिपतन प्रतिपात [8] । उप-
शान्तकषायस्य चारित्रमोहोद्रेकात् प्रच्युतसयमशिखरस्य प्रतिपातो भवति । क्षीणकषायस्य २०
प्रतिपातकारणाभावादप्रतिपात । विशुद्धिश्चाऽप्रतिपातश्च विशुद्ध्यप्रतिपातौ ताभ्या विशु-
द्ध्यप्रतिपाताभ्या [9]तयोर्विशेषस्तद्विशेष ।

पूर्वसूत्र एव तयोर्विशेषो निर्ज्ञात किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?

---

१ "मणेण माणसं पडिविदइत्ता परेसि सण्णा सदिमदि चिंतादि विजाणदि, जीविदमरणं लाभालाभं सुहुदुक्खं णगरविणास देसविणासं जणपदविणासं अदिवुट्ठि, अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि दुब्भिक्खं खेमाखेमं भयरोगं उब्भम इब्भमं संभमं वत्तमणाण जीवाणं णो अवत्तमणाण जीवाणं जाणदि ।" –महाबंध० पृ० २४–२५ । २ परिवेद्य श्र०, ता०, मू० । ३ अथास्य वाक्यस्यावयवार्थं कथयति । ४ समुदायार्थमाह । ५ आगमे वाक्यान्तरमाह । ६ अस्यार्थं विवृणोति । ७ गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्स होदि जोयणपुधत्त । विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं ॥ दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवति उक्कस्सं । अडणवभवा हु अवरमसखेज्जं विउलउक्कस्स ॥ अवरं दव्वमुरालियसरीरणिज्जिणसमयबद्धं । तु चक्खिंदियणिज्जिण्णं उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे ॥ मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं । खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं ॥ अट्ठण्ह कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयं । धुवहारेणिगिवार भजिदे विदियं हवे दव्वं ॥ तव्विदियं कप्पाणमसखेज्जाणं च समयसंखसमं । धुवहारेणवहरिदे होदि तु उक्कस्सयं दव्वं ॥ (गो० जीव०) –श्र० टि० । ८ प्राणिकपुरुषो यदा मानुषोत्तराभ्यन्तरे स्थित्वा प्रश्नं करोति तदा जानातीति भाव:, न तावति क्षेत्रे स्थितानर्थान् । ९ प्रच्यवनमित्यर्थः । १० ऋजुविपुलमत्योः । तथा चोक्तम्– पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि विदिया हु । सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो विदियबोहो दु ॥ इति –श्र० टि० ।

विशेषान्तरप्रतिपत्त्यर्थं पुनर्वचनम् ।१। य पूर्वसूत्रे विशेष उक्त तावतास्य[1] न परितोषस्ततो विशेषान्तरप्रतिपत्त्यर्थं पुनरिदमुच्यते ।

चशब्दप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्राथमकल्पिकभेदाभावात् ।२। यथा मन पर्ययस्य ऋजुविपुलमती भेदौ तथा विशुद्धचप्रतिपातावपि तस्यैव यदि भेदौ स्याता युक्तश्चशब्द स्यात् । यतस्तु विशुद्धचप्रतिपातौ ऋजुविपुलमत्योर्विशेषौ न भेदौ, अतश्चशब्दाऽप्रसङ्ग । तत्र विशुद्धचा तावदृजुमतेर्विपुलमतिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विशुद्धतर । कथम् ? इह य[2] कार्मणद्रव्यानन्तभागो[3]ऽन्त्य सर्वावधिना ज्ञातस्तस्य पुनरनन्तभागीकृतस्य [4]मन पर्ययज्ञेयो[5]ऽनन्तभाग, अनन्तस्याऽनन्तभेदत्वात् । ऋजुमतिकार्मणद्रव्याऽनन्तभागाद् दूरविप्रकृष्टोऽल्पीयाननन्तभाग[6] विपुलमतेर्द्रव्यम् । क्षेत्रकालविशुद्धिरुक्ता । भावतो विशुद्धि सूक्ष्मतरद्रव्यविषयत्वादेव वेदिव्या । प्रकृष्टक्षयोपशमविशुद्धिभावयोगादप्रतिपातेनापि विपुलमतिर्विशिष्टा, स्वामिना प्रवर्धमानचारित्रोदयत्वात् । ऋजुमति पुन प्रतिपाती स्वामिना कषायोद्रेकाद्धीयमानचारित्रोदयत्वात् ।

यद्यस्य मन पर्ययस्य प्रत्यात्ममय विशेष अथाऽनयोरवधिमन पर्याययो कुतो विशेष इति ? अत आह—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ॥२५॥

विशुद्धि प्रसाद । क्षेत्र यत्रस्थान् भावान् प्रतिपद्यते । स्वामी प्रयोक्ता । विषयो ज्ञेय ।

अवधिज्ञानान्मनःपर्ययस्य विशुद्धचभावोऽल्पद्रव्यविषयत्वादिति चेत्, न; भूयःपर्ययज्ञानात् ।१। स्यान्मतम्—अवधिज्ञानान्मन पर्ययोऽविशुद्धतर । कुत[7] ? अल्पद्रव्यविषयत्वात् । यत सर्वावधिरूपिद्रव्यानन्तभागो मन पर्ययद्रव्यमिति; तन्न; कि कारणम् ? भूय पर्ययज्ञानात् । यथा कश्चिद् बहूनि शास्त्राणि व्याचष्टे एकदेशेन, न साकल्येन तद्गतमर्थ शक्नोति वक्तुम्, अपरस्त्वेकं शास्त्र साकल्येन व्याचष्टे यावन्तस्तस्यार्थास्तान् सर्वान् शक्नोति वक्तुम्, अय पूर्वस्माद्विशुद्धतरविज्ञानो भवति । तथा अवधिज्ञानविषयानन्तभागज्ञोऽपि मन पर्ययो विशुद्धतर, यतस्तमनन्तभाग रूपादिभिर्बहुभि. पर्यायै प्ररूपयति । क्षेत्रमुक्तम् । विषयो वक्ष्यते[8] । स्वामित्व प्रत्युच्यते—

विशिष्टसंयमगुणैकार्थ[9]समवायी मनःपर्ययः ।२। विशिष्ट. संयमगुणो यत्र विद्यते तत्रैव वर्तते मन पर्यय । तथा चोक्तम्—

***"मनुष्येषु मनःपर्यय आविर्भवति; न देवनारकतैर्यग्योनेषु । मनुष्येषु चोत्पद्यमानः पर्याप्तकेषूत्पद्यते न सम्मूर्च्छनजेषु । गर्भजेषु चोत्पद्यमानः कर्मभूमिजेषूत्पद्यते नाकर्मभूमिजेषु । कर्मभूमिजेषूत्पद्यमानः पर्याप्तकेषूत्पद्यते नापर्याप्तकेषु । पर्याप्तकेषूपजायमानः सम्यग्दृष्टिषूपजायते न मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टिषु । सम्यग्दृष्टिषूपजायमानः संयतेषूपजायते नाऽसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतेषु । संयतेषूपजायमानः प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषूपजायते नोत्तरेषु । तत्र चोपजायमान प्रवर्धमानचारित्रेषूजायते न हीयमानचारित्रेषु । 'प्रवर्धमानचारित्रेषूपजायमानः सप्तविधान्यतमर्द्धिप्राप्तेषूपजायते[10] नेतरेषु । ऋद्धिप्राप्तेषु च केषुचिन्न सर्वेषु" [ ] इति ।**

---

१ मनःपर्ययस्य । २ द्रव्यतस्तावद्वाह । ३ अनन्तानन्तपरमाण्वात्मकः पुद्गलस्कन्धः । ४ ऋजुमतिरूप । ५ –योऽन्त्यभा– श्र० । ६ सोऽपि स्कन्धो न परमाणुः । ७ रूपिष्ववधेरित्यादिना । ८ समानाधिकरण । ९ संप्रव– आ०, ब०, द०, मु० । १० –षु जायते आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

विशिष्टसयमग्रहणं वाक्ये[१] कृतम् । अवधि पुन. चातुर्गतिकेष्विति स्वामिभेदादप्यनयोर्विशेष ।

इदानी केवलज्ञानलक्षणाभिधानं प्राप्तकाल तदुल्लङ्घ्य ज्ञानाना विषयनिबन्ध परीक्ष्यते । कुत ? तस्य *"**मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्**" [त० सू० १०।१] इत्यत्र वक्ष्यमाणत्वात् । यद्येवमाद्ययोरेव तावन्मतिश्रुतयोर्विषयनिबन्ध उच्यतामिति ? आह--

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

निबन्धन निबन्ध । कस्य ? मतिश्रुतविषयस्य । तत्तर्हि विषयग्रहण कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम् ।

प्रत्यासत्तेः प्रकृतविषयग्रहणाभिसंबन्धः ।१। प्रकृत विषयग्रहणमस्ति । क्व प्रकृतम् ? 'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्य' इति । तत्र प्रत्यासत्तेर्विषयग्रहणमिहाभिसबध्यते । ननु च स विभक्त्यन्तरनिर्दिष्टो न शक्यते इह सबद्धुम् ?

अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः ।२। यथा 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमन्त्रयस्वैनम्' 'देवदत्तम्' इति गम्यते, 'देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यम्, आढ्यो वैधवेय' 'देवदत्त' इति गम्यते, एवमिहापि । निबन्ध कस्य ? 'विषयस्य'इत्यभिसबध्यते। अथ द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देश किमर्थ ?

द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देशः [२]सर्वद्रव्यसंग्रहार्थः ।३। जीवधर्माऽधर्माकाशकालपुद्गलाभिधानानि षडत्र द्रव्याणि, तेषा सर्वेषा सग्रहार्थ द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देश क्रियते ।

तद्विशेषणार्थमसर्वपर्यायग्रहणम् ।४। तेषा द्रव्याणामविशेषेण मतिश्रुतयोर्विषयभावप्रसङ्गे तद्विशेषणार्थम् असर्वपर्यायग्रहण क्रियते । तानि द्रव्याणि मतिश्रुतयोर्विषयभावमापद्यमानानि कतिपयैरेव पर्यायैर्विषयभावमास्कन्दन्ति न सर्वपर्यायैरनन्तैरपीति । तत्कथम् ? इह मति चक्षुरादिकरणनिमित्ता रूपाद्यालम्बना, सा यस्मिन् द्रव्ये रूपादयो वर्तन्ते न तत्र सर्वान् [३]पर्यायानेव (सर्वानेव पर्यायान्) गृह्णाति, चक्षुरादिविषयानेवाऽऽलम्बते । श्रुतमपि शब्दलिङ्गम्,[४] शब्दाश्च सर्वे सख्येया एव, द्रव्यपर्याया [५]पुन सख्येयाऽसख्येयानन्तभेदा, न ते सर्वे विशेषाकारेण[६] तैर्विषयीक्रियन्ते । उक्तञ्च--

*"**पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं[७]।**
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥" [सन्मति० गा० २।१६] इति ।

अतीन्द्रियेषु मतेरभावात् सर्वद्रव्यासंप्रत्यय इति चेत्; न; नोइन्द्रियविषयत्वात् ।५। स्यान्मतम्--धर्मास्तिकायादिषु मतेरभावोऽतीन्द्रियत्वात्, ततो 'मति सर्वद्रव्यविषयनिबन्धा' इति लक्षणमयुक्तमिति; तन्न; कि कारणम् ? नोइन्द्रियविषयत्वात् । नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमलब्ध्य-

---

१ वार्तिके । २ --द्रव्यपर्यायेसं- आ०, ब०, मु० । ३ पर्यायानवगृ- आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ साधनम् । ५ पुनः संख्येयानन्त -मू०, द० । पुनरसंख्येयानन्त- आ०, ब०, मु० । ६ सर्वपर्यायाः शब्देन विषयीक्रियन्त इत्युक्ते कथ तर्हि अनन्तभेदा इत्युच्यते स्ववचनविरोधात् इत्याशङ्कायाह विशेषाकारेणेति विशेषणमाह । शब्दः सामान्येन विषयीक्रियन्त इति भाव. । ७ प्रज्ञापनीया भावा अनन्तभागस्तु अनभिलाप्यानाम् । प्रज्ञापनीयानां पुनः अनन्तभागः श्रुतनिबद्धः ॥ सर्वज्ञेन प्रज्ञापनीया भावा । ८ अनभिलाप्यानाम् ।

पेक्षं नोइन्द्रिय तेषु व्याप्रियते। अथ हि तत्र न वर्तेत [1]अवधिना सह [2]निर्दिश्येत रूपिष्वेव[3] वृत्ते.।

अथ मतिश्रुतयोरनन्तरनिर्देशार्हस्यावधे. को विषयनिबन्ध इति ? अत आह–

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

रूपशब्दस्याऽनेकार्थत्वे सामर्थ्याच्चक्षुर्ग्रहादिग्रहणम् ।१। अथ रूपशब्दोऽनेकार्थ. क्वचिच्चाक्षुषे[4] वर्तते यथा–'रूपरसगन्धस्पर्शा' इति। क्वचित्स्वभावे वर्तते यथा 'अनन्तरूपमनन्तस्वभावम्' इति[5]। तत्रेह सामर्थ्याच्चक्षुर्विषये शुक्लादौ वर्तमानो गृह्यते। यदि स्वभाववाचिनो ग्रहणं स्यात् अनर्थकं स्यात्। न हि कस्यचित् स्वभावो नास्तीति।

भूमाद्यनेकार्थसंभवे नित्ययोगोऽभिधानवशात् ।२। यद्यपि मत्वर्थीयस्य भूमादयोऽर्था बहव सभवन्ति, इहाभिधानवशात्[6] 'नित्ययोगो वेदितव्य। नित्य हि पुद्गला युक्ता रूपेणेति, यथा क्षीरिणो वृक्षा इति।

यद्येवमवधिज्ञानस्य पुद्गला रूपमुखेनैव विषयभाव प्रतिपद्येरन् न रसादिमुखेन ? नैष दोष;

तदुपलक्षणार्थत्वात् तदविनाभाविरसादिग्रहणम् ।३। तद्रूप द्रव्यस्योपलक्षणत्वेनोपादीयते अतस्तदविनाभाविनो रसादयोऽपि गृह्यन्ते।

यद्येव तद्गतेषु सर्वेष्वनन्तेषु पर्यायेषु[7] अवधेर्विषयनिबन्धः प्राप्नोतीति ? अत आह–

असर्वपर्यायग्रहणानुवृत्तेर्न सर्वगतिः ।४। 'असर्वपर्यायेषु' इत्येतद्ग्रहणमनुवर्तते। यथा 'देवदत्ताय गौर्दीयता जिनदत्ताय कम्बलः' इति 'दीयताम्' इत्यभिसबध्यते, एवमिहापि 'असर्वपर्यायेषु' इत्यभिसबन्धान्न सर्वगतिर्भवति। ततो रूपिषु पुद्गलेषु प्रागुक्तद्रव्यादि[8]परिमाणेषु जीवपर्यायेषु औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेषूत्पद्यतेऽवधिज्ञानम् रूपिद्रव्यसबन्धात्, न क्षायिकपारिणामिकेषु[9] नापि धर्मास्तिकायादिषु तत्सबन्धाभावात्।

अथ मन पर्ययस्य[10] को विषयनिबन्ध इति ? अत आह–

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य[11] ॥२८॥

यद्रूपिद्रव्य सर्वावधिज्ञानस्य विषयत्वेन समर्थित तस्यानन्तभागीकृतस्यैकस्मिन् भागे मन पर्यय[12] प्रवर्तते।

[13]अथान्ते यन्निर्दिष्ट केवलज्ञान तस्य को विषयनिबन्ध इति ? अत आह–

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

अत्राह– किं द्रव्यम् ?

स्वपर्यायान् द्रवति द्रूयते वा तैरिति द्रव्यम् ।१। आत्मन पर्यायान् द्रवति गच्छतीति द्रव्यम्। बहुलापेक्षया कर्तरि साधुत्वम्। द्रूयते वा तैरिति द्रव्यम्।

कथञ्चिद्भेदसिद्धौ तत्कर्तृकर्मव्यपदेशसिद्धिः ।२। द्रव्यस्य पर्यायाणां च कथञ्चिद्भेदे सति उक्त कर्तृकर्मव्यपदेश सिद्धचति।

---

१ तर्हि। २ निर्देश्येत श्र०। ३ अवधेः। ४ चक्षुर्ग्रहणयोग्ये। ५ गम्यते। ६ आगमवचनात्। ७ –ष्वनन्त पर्यायेषु आ०, बा०, मु०,। ८ –परिणामेषु मू०। ९ अवान्तरविषयापेक्षया बहुवचननिर्देशः। १० मनःपर्यायस्य मू०, श्र०, ता०। ११ मन.पर्यायस्य मू०, ता०। १२ मनःपर्यायः ता०। १३ तथाऽन्ते श्र०।

इतरथा हि तदप्रसि[1]द्धिरत्यन्ताव्यतिरेकात् ।३। यद्येकान्तेन एकत्वमवधार्येत तस्य कर्तृ-कर्मव्यपदेशाप्रसिद्धिः स्यात् । कुतः ? अत्यन्ताव्यतिरेकात् । न हि तदेव निर्विशेषमेकं शक्त्यन्तरापेक्षया विना कर्तृ कर्म च भवितुमर्हति । अथ क. पर्याय ?

तस्य मिथोभवनं प्रति विरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मलाभनिमित्तत्वाद् अर्पितव्यवहारविषयोऽवस्थाविशेषः पर्यायः ।४। मिथोभवनं प्रति केचिद्धर्मा विरोधिन., केचिदविरोधिनः । तत्र जीवस्य तावदनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्यभव्याभव्योर्ध्वगतिस्वभावास्तित्वादिभिरौदयिकादयो भावा यथासभव युगपद्भावाद् अविरोधिन । विरोधिनश्च नारकतैर्यग्योनदेवमनुष्य-स्त्रीपुं[5]नपु सकैकद्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रिय-बाल्यकौमार-कोपप्रसादादयः सहानवस्थानात् । तथा पौद्गलिका अनादिपारिणामिकाः रूपरसगन्धस्पर्शशब्दसामान्यास्तित्वादय शुक्लादिपञ्चकतिक्तादिपञ्चकगन्धद्वयस्पर्शाष्टकशब्दपट्कपर्यायै. प्रत्येकमेकद्वित्रिचतु पञ्चादिसख्येयासख्येयानन्तगुणपरिणामिभिर्यथासभव युगपद्भावाद् अविरोधिन. । विरोधिनश्च शुक्लकृष्णनीलतिक्तकटुकसुरभीतरगन्धादय. प्रायोगिका वैश्रसिकाश्च[6] परमाणुषु स्कन्धेषु च, सहानवस्थानात् । एव धर्मास्तिकायादिष्वपि अमूर्तत्वाऽचेतनत्वाऽसख्येयप्रदेशत्वगतिकारणस्वभावाऽस्तित्वादयोऽनन्तभेदागुरुलघुगुणहानिवृद्धिविकारै स्वप्रत्ययै परप्रत्ययैश्च गतिकारणत्वविशेषादिभि[3] अविरोधिन परस्परविरोधिनश्च विज्ञेया[4] । तेपु केचिदुपात्तहेतुका द्रव्यक्षेत्रकालभावनिमित्ता औदयिकादय । अनुपात्तहेतुकाश्च त्रिषु कालेष्वविकारिण पारिणामिकाश्चैतन्यादय । तेषा विरोध्यविरोधिना धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मलाभस्य निमित्तत्वात् 'चेतनो नारको [5]'बाल' इति अर्पितव्यवहारविषय. इति [6]'व्यवहार-ऋजुसूत्र[7]'त्रिविधशब्दनयात्मक, द्रव्यार्थिकानर्पणात् पर्यायार्थिकेनार्पित. तस्य[8] विषय, तस्य द्रव्यस्य अवस्थाविशेष पर्याय इत्युच्यते ।

तयोरितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः ।५। तयोरितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वो वेदितव्य । द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्याया इति ।

द्वन्द्वेऽन्यत्वं प्लक्षन्यग्रोधवदिति चेत्; न; तस्य कथञ्चिद्धेदेऽपि दर्शनाद् गोत्वगोपिण्डवत् ।६। स्यान्मतम्-यदि द्वन्द्व. प्लक्षन्यग्रोधवदन्यत्व द्रव्यपर्यायाणा प्राप्नोतीति, तन्न; कारणम् ? तस्य कथञ्चिद्धेदेऽपि दर्शनात् गोत्वगोपिण्डवत् । यथा 'गोत्व च गोपिण्डश्च गोत्वगोपिण्डौ' इत्यनन्यत्वेऽपि द्वन्द्वो भवति तथा द्रव्यपर्यायेष्विति । ननु सामान्यविशेषयोरन्यत्वात् साध्यसममेतदिति; नैष दोष; उक्तमेतत्--अनन्यत्व सामान्यविशेषयो ।

द्रव्यग्रहणं पर्यायविशेषणं चेत्; न; आनर्थक्यात् ।७। स्यादेतत्-'द्रव्याणां पर्याया द्रव्यपर्यायाः' इति द्रव्यग्रहण पर्यायविशेषणमिति; तन्न; कि कारणम् ? आनर्थक्यात् । एव सति द्रव्यग्रहणमनर्थक स्यात् । न हचद्रव्यस्य पर्याया. सन्तीति ।

द्रव्याज्ञानप्रसङ्गाच्च ।८। केवलेन पर्याया एव ज्ञायन्ते न द्रव्याणीति द्रव्याज्ञानं प्राप्नोति, उत्तरपदार्थप्रधानत्वात् । अथ मतमेतत्-सर्वेषु पर्यायेषु ज्ञातेषु न किञ्चदज्ञातमस्ति ततो व्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्याभावात्; यद्येवं 'द्रव्यग्रहणमनर्थकम्' इत्युक्तं पुरस्तात् । तस्मात्

---

१ -त्रप्रसिद्धेर- आ०, ब०, द०, मु० । २ स्वाभाविकाः । ३ ऊर्ध्वाधस्तिर्यगादि । ४ -श्च ज्ञेयाः आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ५ बालक इति आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ कोऽर्थः व्यवहरणं । ७ शब्दसममिरूढैवम्भूतशब्दनयस्वरूपः । ८ व्यवहारस्य ।

साधूक्तम्–'द्वन्द्वोऽयम्' इति। ननु च द्वन्द्वेऽपि द्रव्यग्रहणमनर्थकं पर्यायव्यतिरेकेणाऽनुपलब्धेरिति; नैष दोष, संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदाद्भेदोपपत्ते ।

अथ सर्वग्रहण किमर्थं ननु बहुवचननिर्देशादेव बहुत्वसप्रत्ययसिद्धे ?

सर्वग्रहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।९। ये लोकालोकभेदभिन्नास्त्रिकालविषया द्रव्यपर्याया अनन्ता, तेषु निरवशेषेषु केवलज्ञानस्य[1] विषयनिबन्ध इति प्रतिपत्त्यर्थं सर्वग्रहणम्। यावाल्लोकालोकस्वभावोऽनन्त तावन्तोऽनन्तानन्ता[2] यद्यपि स्यु, तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्यपरिमितमाहात्म्य[3] तत् केवलज्ञान वेदितव्यम् ।

आह–विषयनिबन्धोऽवधृतो मत्यादीनाम्, इद तु न निर्ज्ञातमेकस्मिन्नात्मनि स्वनिमित्तसन्निधानोपजनितवृत्तीनि ज्ञानानि यौगपद्येन कति भवन्तीति ? अत[4] उच्यते–

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

एक इति कोऽय शब्द ?

अनेकार्थसंभवे विवक्षातः प्राथम्यवचन एकशब्दः ।१। अयमेकशब्दोऽनेकस्मिन्नर्थे दृष्टप्रयोग । क्वचित्सख्याया वर्तते, 'एको द्वौ बहव' इति । क्वचिदन्यत्वे, 'एके आचार्या–अन्ये आचार्या' इति । क्वचिदसहाये, 'एकाकिनस्ते विचरन्ति वीरा' इति । क्वचित्प्राथम्ये, 'एकमागमनम्–प्रथममागमनम्' इति। क्वचित्प्राधान्ये, 'एकहता सेना करोमि–प्रधानहता सेना करोमि' इत्यर्थ । तत्रेह विवक्षात प्राथम्यवचन एकशब्दो वेदितव्य ।

आदिशब्दश्चावयववचनः ।२। आदिशब्दश्च[5]। किम् ? अनेकार्थसभवे विवक्षात इहावयववचनो वेदितव्य । क्वचिद्वचवस्थाया वर्तते, 'ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णा'[6]–ब्राह्मणव्यवस्था ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा' इत्यर्थ । क्वचित्प्रकारे, 'भुजङ्गादय परिहर्तव्याः–भुजङ्गप्रकारा विषवन्त' इत्यर्थ । क्वचित्सामीप्ये, 'नद्यादीनि क्षेत्राणि–नदीसमीपानि' इत्यर्थ । क्वचिदवयवे, '[7]ऋगादिमधीते–ऋगवयवमधीते' इत्यर्थ । तेनैतदुक्त भवति–एकस्यादिरेकादि प्रथमावयव इति । कस्य ? प्रथमस्य परोक्षस्य । क पुनरवयव ? मतिज्ञानम् ।

सामीप्यवचनो वा ।३। अथवा, अयमादिशब्द सामीप्यवचनो द्रष्टव्य । तेन प्रथमस्य मतिज्ञानस्य श्रुत समीपमित्युक्त भवति ।

मतेर्बहिर्भावप्रसङ्ग इति चेत्; न; अनयोः सदाऽव्यभिचारात् ।४। स्यादेतत्–एव सति मतेर्बहिर्भाव प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् ? अनयो सदाऽव्यभिचारात् । एते हि मतिश्रुते सर्वकालमव्यभिचारिणी नारदपर्वतवत् । तस्मादनयोरन्यतरग्रहणे इतरस्य ग्रहण सन्निहित भवति ।

ततोऽन्यपदार्थे[8] वृत्तावेकस्यादिशब्दस्य निवृत्तिरुष्ट्रमुखवत् ।५। यथा, 'उष्ट्रस्य मुखमुष्ट्रमुखम्, उष्ट्रमुखवन्मुखमस्य' इति 'वृत्तौ एकस्य मुखशब्दस्य निवृत्ति, एवमिहापि 'एकादिरादिर्येषा तानीमान्येकादीनि' इत्येकस्यादिशब्दस्य निवृत्ति ।

---

१ –ज्ञानविषय– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ –न्तोऽनन्ता य– श्र०, ता०, मू०, ज० । ३ –त्म्यं के– आ०, ब०, मु० । ४ अत आह मु० । ५ –श्चायमनेका– आ०, ब०, द०, मु० । ६ वर्णाः स्युः ब्राह्मणादय इत्यमरः । ७ ऋच् आदिरवयवः ऋगादिः । ८ अन्यपदार्थप्रधानसमासे –बहुव्रीहिसमासे इत्यर्थः । ९ समासे –सम्पा० ।

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः ।६। अवयवेन विग्रह क्रियते, वृत्त्यर्थ समुदायो भवति । तेनैका[1]दीन्यभ्यन्तरीकृत्य भाज्यानि अर्पयितव्यानीत्यर्थ । किं सर्वाणि ? न, इत्याह 'आ चतुर्भ्यः' । कुत एतत् ?

केवलस्याऽसहायत्वादितरेषां च क्षयोपशमनिमित्तत्वाद्युगपद्याभावः[2] ।७। यत. केवलज्ञान क्षायिक तदसहायम्, इतराणि च ज्ञानानि क्षयोपशमनिमित्तानि, अतो विरोधाद्युगपदसभव, तस्मादुच्यते 'आ चतुर्भ्यः' इति ।

नाभावोऽभिभूतत्वादहनि नक्षत्रवदिति चेत्, न; क्षायिकत्वात् ।८। स्यादेतत्–नाभाव क्षायोपशमिकाना ज्ञानाना केवलिनि, किन्तु केवलज्ञानेन महताऽभिभूतानि स्वप्रयोजने न व्याप्रियन्ते भास्कर[3]प्रभाभिभूतनक्षत्रवदिति, तन्न, कि कारणम् ? क्षायिकत्वात् । सक्षीणसकलज्ञानावरणे भगवत्यर्हति कथ क्षायोपशमिकाना ज्ञानाना सभव । न हि परिप्राप्तसर्वशुद्धौ पदे प्रदेशाऽशुद्धिरस्ति ।

इन्द्रियवत्त्वादिति चेत्, न; आर्षार्थानवबोधात् ।९। स्यादेतत्–एवमागम[4] प्रवृत्त. ***"पञ्चेन्द्रिया असंज्ञिपञ्चेन्द्रियादारभ्य आ अयोगिकेवलिनः"** [षट्ख०] इति । अत इन्द्रियवत्त्वात्तत्कार्येणापि ज्ञानेन भवितव्यमिति; तन्न; कि कारणम् ? आर्षार्थानवबोधात् । आर्षे हि सयोग्ययोगिकेवलिनो पञ्चेन्द्रियत्व द्रव्येन्द्रिय प्रति उक्त न भावेन्द्रिय प्रति । यदि हि भावेन्द्रियमभविष्यत्, [5]अपि तु तर्हि असक्षीणसकलावरणत्वात् सर्वज्ञतैवास्य न्यवर्तिष्यत । तस्मादेतदुक्त भवति–एकस्मिन्नात्मनि द्वे मतिश्रुते, क्वचित् त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुतमन पर्ययज्ञानानि वा, क्वचिच्चत्वारि मतिश्रुतावधिमन पर्ययज्ञानानि, न पञ्चैकस्मिन् युगपत् संभवन्ति ।

संख्यावचनो वैकशब्दः ।१०। अथवा, सख्यावचनोऽयमेकशब्दः । एकमादिर्येषा तानीमान्येकादीनि । कथम् ? मतिज्ञानमेकस्मिन्नात्मनि एकम्, यदक्षरश्रुत द्व्यनेकद्वादशभेदमुपदेशपूर्वक तद्भजनीयम्–स्याद्वा न वेति । इतरत् पूर्ववत् ।

अपर आह[6]–सख्याऽसहायप्राधान्यवचने एकशब्दे सति एकादीनि केवलादीनीत्यर्थ । एकस्मिन्नात्मन्येक केवलज्ञान क्षायिकत्वात् । द्वे मतिश्रुते इत्यादि पूर्ववत् ।

अथोक्तानि मत्यादीनि ज्ञानव्यपदेशमेव लभन्त उताऽन्यथापीति ? अत आह–

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

विपर्ययो[7] मिथ्येत्यर्थ । कुत ? सम्यगधिकारात् । चशब्द समुच्चयार्थ । विपर्ययश्च सम्यक् चेति । कुत पुनरेषा विपर्यय ?

मिथ्यादर्शनपरिग्रहान्मत्यादिविपर्ययः ।१। योऽसौ दर्शनमोहनीयोदये सति मिथ्यादर्शनपरिणाम· तेन सहैकार्थसमवायात् मत्यादीना विपर्ययो भवति । ननु च मणिकनकादीना वर्चोगृहगतानामपि स्वभावविनाशो न भवति तद्वन्मत्यादीनामपि स्यात्; नैष दोष ;

---

१ मतिज्ञानम् । २ केवलेन सहेतरेषां युगपदसंभवः । ३ –प्रकाशाभिभू– श्र०, मू० । ४ इन्द्रियत्वा– आ०, ब०, मु० । ५ "पंचिंदिया असण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति" –षट्खं० सं० सू० ३७ । ६ अपिरत्र संभावनायाम् । ७ –ह असंख्या– आ०, ब०, द०, मु० । ८ –योऽन्यथाकृतः आ०, ब०, मु० ।

सरजसकटुकालाबूगतदुग्धवत् स्वगुणविनाशः ।२। यथा सरजसंकटुकालाबूभाजने निहितं दुग्धं स्वगुणं परित्यजति तथा मत्यादीन्यपि मिथ्यादृष्टिभाजनगतानि दुष्यन्तीति । आधारस्य दोषाद्धि [1]आधेयस्य दोषो जायते ।

ननु च नायमेकान्त , उक्तमेतत्–'मणिकनकादयो वर्चोगृहगता अपि स्वभावं न त्यजन्ति' इति; तत्र कथमेतदध्यवसीयते[2]–अलाबूदुग्धवद् दुष्यन्ति मत्यादीनि न पुनर्मण्यादिवन्न दुष्यन्तीति ?

[3]परिणामकशक्तिविशेषात् ।३। [4]परिणामकस्य हि वस्तुनः शक्तिविशेषादन्यथाभावो भवति । यथा अलाबूद्रव्यं दुग्ध विपरिणामयितुं शक्नोति तथा मिथ्यादर्शनमपि मत्यादीनामन्यथात्वं कर्तुं मलं तदुदये अन्यथानिरूपणदर्शनात् । वर्चोगृहं तु मण्यादीनां विकारं नोत्पादयितुमलम्, विपरिणामकद्रव्यसन्निधाने तेषामपि भवत्येवान्यथात्वम्, यदा तु सम्यग्दर्शन प्रादुर्भूत तदा मिथ्यापरिणामदर्शनाभावात् (मिथ्यादर्शनपरिणामाभावात्) तेषा मत्यादीना सम्यक्त्वम्, अत. सम्यग्दर्शनमिथ्यादर्शनोदयविशेषात्तेषां त्रयाणा द्विधा क्लृप्तिर्भवति–मतिज्ञान मत्यज्ञान श्रुतज्ञान श्रुताऽज्ञानम् अवधिज्ञान विभङ्गज्ञानमिति ।

अत्राह–रूपादिविषयोपलब्धिव्यभिचाराभावाद्विपर्ययाभाव । यथैव मतिज्ञानेन सम्यग्दृष्टयो रूपादीनुपलभन्ते तथा मिथ्यादृष्टयोऽपि मत्यज्ञानेन । यथैव घटादिषु रूपादीन् श्रुतेन निश्चन्वन्त्युपदिशन्ति च परेभ्य तथा श्रुताज्ञानेनापि । यथैवावधिना रूपिणोऽर्थानवयन्ति तथा विभङ्गेनापीति । तस्मान्नास्ति विपर्यय इति । अत आह–

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

सच्छब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातः प्रशंसार्थग्रहणम् ।१। 'अय सच्छदोऽनेकार्थ' इति व्याख्यात । तस्येह विवक्षात प्रशसार्थस्य ग्रहणं वेदितव्यम्–प्रशस्तं तत्त्वज्ञानमित्यर्थ. । असदज्ञानम् । तयो. सदसतो । अविशेषेण यदृच्छयोपलब्धेर्विपर्ययो भवति । कथम् ? उन्मत्तवत् । यथा उन्मत्तो दोषोदयादुपहतेन्द्रियमति विपरीतग्राही भवति, स· अश्व 'गौ' इत्यध्यवस्यति, गा वा 'अश्व' इति, लोष्ट '[5]सुवर्णम्' इति, सुवर्ण च लोष्टमिति, लोष्टं लोष्टमिति, सुवर्णं सुवर्णमिति, तस्यैवमविशेषेणाध्यवस्यतोऽज्ञानमेव भवति, तद्वत् मिथ्यादर्शनोपहतेन्द्रियमतेर्मतिश्रुतावधयोऽप्यज्ञानमेव भवन्तीति ।

भवत्यर्थग्रहणं वा ।२। अथवा, सच्छब्दोऽयं भवत्यर्थे वेदितव्यः । सद्विद्यमानमित्यर्थ·, असदविद्यमानम्, तयोरविशेषेण यदृच्छोपलब्धे विपर्ययो भवति–कदाचिद्रूपादि सदप्यसदिति प्रतिपद्यते असदपि सदिति । कदाचित्तु सत्सदेव असदप्यसदेवेति । कुत· ?

प्रवादिपरिकल्पनाभेदाद्विपर्ययग्रहः ।३। प्रवादिनां कल्पनाभेदात् विपर्ययग्रहो भवति । तद्यथा [6]केचित्तावदाहु.–'द्रव्यमेव न रूपादय.' इति । [7]अपर आहु –'रूपादय एव न द्रव्यम्' इति । [8]अपरेषा दर्शनम्–'अन्यद् द्रव्यमन्ये च रूपादय' इति । कथमेषां विपर्ययग्रहः ? उच्यते–यदि द्रव्यमेव न रूपादय; लक्षणाभावाल्लक्ष्यानवधारणप्रसङ्ग. । किञ्च, इन्द्रियेण सन्निकृष्यमाणं द्रव्यं रूपाद्यभावे [9]सर्वात्मना सन्निकृष्येत,[10] ततः सर्वात्मना ग्रहणप्रसङ्ग, करण-

---

१ आधेये भा० । २ –दवसीयते, आ०, ब०, द०, मु० । ३ पारिणामिक– आ०, ब०, मु० । ४ परिणामं करोतीति परिणामकः । ५ सुवर्णं सुवर्णं लोष्टमिति आ०, ब०, द०, मु० । ६ सांख्यादयः । ७ बौद्धाः –सम्पा० । ८ वैशेषिकाणाम् –सम्पा० । ९ रसाद्यात्मना स्वरूपेण । १० सक्षात्कियेत ।

भेदाभावप्रसङ्गश्च । न चासौ दृष्ट इष्टो वा । अथ रूपादय एव न द्रव्यम्; एवमपि निराधारत्वादभावप्रसङ्गः ।

किञ्च, परस्परविलक्षणानां रूपादीनां समुदयेऽपि सति एकानर्थान्तरभावात् समुदयस्य सर्वाभावः परस्परतोऽर्था(तोऽनर्था)न्तरभूतत्वात् । अथ ह्यन्यद् द्रव्य अन्ये रूपादय; एवमपि तेषां लक्ष्यलक्षणभावाभाव. परस्परतोऽर्थान्तरभूतत्वात्[१] । दण्डिदण्डवत् लक्ष्यलक्षणभाव इति चेत्; न; वैषम्यात् । पृथक्सतोर्लक्ष्यलक्षणभावो युक्तो नासतोरिति ।

किञ्च, रूपादिषु गुणेष्वमूर्तेषु द्रव्यादर्थान्तरभूतेषु नेन्द्रियसन्निकर्षो युक्त, ततश्च ज्ञानाभाव । [२]न चार्थान्तरभूत द्रव्य कारण भवितुमर्हति । किञ्च,

मूलकारणविप्रतिपत्तेः ।४। एषा घटरूपादीना मूलकारणे प्रवादिना विप्रतिपत्ति. । तद्यथा, [३]केचिदाहु –'[४]अव्यक्तान्महदहङ्कार[५]तन्मात्रेन्द्रियमहाभूतमूत्पिण्डादि[६]विवृत्तिक्रमेण घटादेर्विश्वरूपस्य जगत उत्पाद.' इति; तदयुक्तम्; न हि प्रधानस्य अमूर्तत्वनिरवयवत्वनिष्क्रियत्वाऽतीन्द्रियत्वानन्त्यनित्यत्वापरप्रयोज्यत्वादिविशेषोपेतस्य तद्विलक्षणो घटादि कार्यो भवितुमर्हति, अदृष्टत्वात् । न वा अपरप्रयोज्यस्य प्रधानस्य स्वयमभिप्राय[७]रहितस्य अभिप्रायपूर्वकप्रसवक्रमो युक्तः । पुरुषस्तावन्निष्क्रियत्वान्न महदादिसर्गार्थं प्रधान प्रयुङ्क्ते; स्वय निष्क्रियत्वात् प्रधान नात्मान महदादिसर्गार्थं प्रयोक्तुमर्हति । न हि स्वय गतिविकल. पङ्गुरात्मानमेवावष्टभ्योत्थाय गच्छन् दृष्ट । किञ्च, अप्रयोजनस्य प्रधानस्य महदादिसर्गो न युक्तिमान् । पुरुषभोगः प्रयोजनमिति चेत्; न; स्वार्थाभावात्[८], नित्यस्य विभोरात्मन. भोगपरिणामाभावाच्च । किञ्च, अचेतनत्वात् । इह लोके चेतनश्चैत्र ओदनार्थी क्रियाफलसाधनज्ञ तदर्थेष्वग्निसन्धुक्षणादिषु प्रवर्तमानो दृष्ट, न च तथा प्रधान चेतनम्, अतोऽस्य महदादिक्रियाप्रसवक्रमाभाव । न च पुरुषस्तस्य क्रमस्य प्रयोजक; निष्क्रियत्वात् ।

अपर[९] आहु –'परमाणुभ्य. प्रतिनियतपार्थिवादिजातिविशिष्टेभ्योऽदृष्टादि[१०]हेतुसन्निधाने सति सहतेभ्योऽर्थान्तरभूतघटादिकार्यात्मलाभ.' इति; तदप्ययुक्तम्; नित्यत्वादणूना कार्यारम्भशक्त्यभावात् । सति चारम्भे नित्यत्वहानेः[११] । नचार्थान्तरभूतस्य कार्यस्यारम्भो[१२] युक्त; व्यतिरेकानुपलब्धे, उपलब्धौ चाणुमहत्त्वाभाव[१३] । न च [१४]जातिप्रतिनियमोऽस्ति; भिन्न-[१५]जातीयानामप्यारम्भदर्शनात् । भिन्नजातीयेषु समुदायमात्रमिति चेत्; तुल्यजातीयेष्वपि [१६]तत्प्रसङ्ग । न चात्मनो घटाद्यारम्भे कर्तृत्वमुपपन्नम्; निष्क्रियत्वान्नित्यत्वाच्च । नाप्यात्मगुणस्यादृष्टादे; निष्क्रियत्वादेव । न च निष्क्रियोऽर्थान्तरे [१७]क्रियाहेतुर्दृष्ट. ।

अन्ये[१८] मन्यन्ते–'वर्णादिपरमाणुसमुदयात्मका रूपपरमाणवोऽतीन्द्रिया समुदिता. सन्त. इन्द्रियग्राह्यत्वमनुभूय [१९]'घटादिकार्यात्मलाभहेतुत्व प्रतिपद्यन्ते' इति; [२०]तदप्ययुक्तम्; प्रत्येक रूपपरमाणूनामतीन्द्रियत्वात्ततोऽनन्यस्य कार्यस्याप्यतीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्, ततश्च दृश्यविषय-

---

१ –र्थान्तरत्वात् आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ द्रव्यं गुणोत्पादकमिति चेत् । ३ सांख्याः । ४ प्रधानात् । ५ गन्धरसस्पर्शरूपशब्दाः पञ्च तन्मात्राः । ६ –निर्वृत्तिक्र– आ०, ब०, द०, मु० । विवर्तन । ७ अचेतनत्वात् । ८ स्वस्य प्रयोजनाभावात् । ९ यौगाः । १० –दिस– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ११ –हानिः आ०, ब०, मु० । १२ उत्पाद । १३ तत्त्वे अणुप्रमाणोऽयं महत्प्रमाणोऽयमिति ज्ञातुं न पार्यते । १४ मृत्पिण्डादेरेव घटादिरुत्पद्यते इति । १५ चन्द्रकान्तसूर्यकान्तशिलाद्वेरुत्पद्यमानजलाग्न्यादिदर्शनात् । १६ भिन्नानां तुल्यजातीयानां समुदयप्रसङ्गः । १७ वृक्षादिचलने वायुवत् प्रेरकहेतुः । १८ बौद्धाः । १९ जलाहरणादि । २० तदयु– आ०, ब०, द०, मु० ।

प्रमाणप्रमाणाभासविकल्पाभाव. । कार्याभावाच्च [1]तल्लिङ्गस्य कारणस्याप्यभाव· । किञ्च, क्षणिकत्वान्निष्क्रियत्वाच्च[2] कार्यारम्भाभाव, विविक्तशक्तीना परस्पराभिसबन्धाभावश्च । न चान्योऽर्थश्चेतनस्तेषां सबन्धस्य कर्तास्ति, तदभावात्संबन्धाभाव. । एवमन्येष्वपि प्रवादिषु सत्यसदिति असत्यपि सदिति विपर्ययो मिथ्यादर्शनोदयवशाद्वेदितव्य पित्तोदयाकुलितरसने-
५ न्द्रियविपर्ययवत् । ततो यदुक्तम्–'रूपादिविषयोपलब्धिव्यभिचाराभावान्न मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानत्रयमज्ञानम्' इति; तदसम्यक् ।

व्याख्यात ज्ञान लक्षणादिभि । इदानी चारित्रं निर्देष्टव्यं तदुल्लङ्घ्य नया उच्यन्ते । कस्मात् ? मोक्षविधाने तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । कुत· पुनस्तन्मोक्षविधौ वक्ष्यते इति चेत् ? मोक्ष प्रति प्रधानकारणत्वात् । किकृत प्राधान्यम् ? कृत्स्नकर्मेन्धननिर्दहनकृतम् । यत आत्मा
१० व्युपरतक्रियाध्यानाविर्भूतात्मबल कृत्स्नकर्मेन्धननिर्दहनसमर्थो भवति, नतु[3] क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानोपेनोऽपि । यदि स्यात्; क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमेव कृत्स्नकर्मक्षय स्यात्, व्युपरतक्रियाध्यानोत्पत्त्यनन्तरमेव भवति । तच्चोत्तम चारित्रम्, *"कर्मादानहेतुक्रियाव्युपरतिश्चारित्रम्" [ ] इति वचनात्[4] । यदीह [5]तदुच्येत मोक्षविधानेऽपि तद्वक्तव्यमिति गौरव स्यात् । एवमपि जीवादयो निर्देष्टव्या उच्यन्ते । प्रमाण
१५ व्याख्यातम् । प्रमाणैकदेशा नया *"प्रमाणनयैरधिगमः" [त० सू० १।६] इति वचनात्, तदनन्तरवचनार्हा नया । यद्येव के ते नया इति ? अत आह–

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः ॥३३॥

शब्दापेक्षयैकादिसख्येयविकल्पा नया [6] । तत्रातिसक्षेपादप्रतिपत्ति, अतिविस्तरे चाल्पप्रज्ञानामननुग्रह इति [7]मध्ययया प्रतिपत्त्या सप्त नया अत्रोच्यन्ते । तेषा सामान्यविशेषलक्षण
२० वक्तव्यम् । तत्र सामान्यलक्षणमुच्यते–

प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः ।१। प्रकर्षेण मानं प्रमाण सकलादेशि[8] इत्यर्थ, तेन प्रकाशितानाम न प्रमाणाभासपरिगृहीतानामित्यर्थ, तेषामर्थानाम् अस्तित्वनास्तित्व[9]नित्यत्वानित्यत्वाद्यनन्तात्मना जीवादीना ये विशेषा पर्यायास्तेषा प्रकर्षेण रूपक प्ररूपक निरुद्धदोषानुषङ्गद्वारेणेत्यर्थ । एवलक्षणो नय ।

२५ तस्य द्वौ मूलभेदौ द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक इति । द्रव्यमस्तीति मतिरस्य द्रव्यभवनमेव नातोऽन्ये [10]भावविकारा, नाप्यभाव तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति द्रव्यास्तिक. ।

---

१ तल्लिङ्गका– आ०, ब०, द०, मु० । २ तर्हि भवन्मते निष्क्रिय धर्मादि द्रव्यं जीवादीनां गत्यादेः कथं हेतुरिति चेत्? तेषां धर्मादिनिमित्तहेतुरित्यनुमननान्न दोषः । तथा चोक्तमार्षे– गतिस्थितिमतावेतौ गतिस्थित्योरुपग्रहे । धर्माधर्मौ प्रवर्तेते न स्वय प्रेरकौ मतौ । यथा मत्स्यस्य गमनं विना नैवाम्भसा भवेत् । न चाम्भः प्रेरयत्येन तथा धर्मोस्त्यनुग्रहः ॥ ३ ननु आ०, ब०, द० । ४ "ससारकारणविनिवृत्ति प्रत्यागुणस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः चारित्रम्" –स०, सि० १।१। ५ तदुच्यते आ०, ब०, द०, मु० । ६ सर्वे शब्दाः संख्येया इति वचनात् । कथम् ? त्रयस्त्रिंशत् व्यञ्जनानि सप्तविंशतिः स्वराः चतुर्योगवाहाः इति चतुःषष्टिः । (तानि पृथक् पृथक् स्थाप) यित्वा द्विकं दत्वा परस्परं संगुण्य तस्मिन् रूपोन कृते रूपोनएकट्ठिमात्र वस्तु(?)अपुनरुक्ताक्षराणि भवन्ति– १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ तत्स्वरूपं द्वादशाङ्ग श्रुतम् । ७ मध्यतया आ०, ब०, द०, मु० । मध्यमया मू० । ८ –देश इ– आ०, ब, द०, मु०, ता० । ९ –नित्यत्वाद्यान्तात्मनां आ०, ब०, द०, मु० । १० पर्यंत ।

पर्याय एवास्ति इति मतिरस्य [1]जन्मादिभावविकारमात्रमेव भवनं न ततोऽन्यद् द्रव्यमस्ति तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति पर्यायास्तिक । अथवा, द्रव्यमेवार्थोऽस्य न गुणकर्मणी तदवस्थारूपत्वादिति[2] द्रव्यार्थिक । पर्याय एवार्थोऽस्य रूपाद्युत्क्षेपणादिलक्षणो न ततोऽन्यद् द्रव्यमिति पर्यायार्थिक । अथवा अर्यते गम्यते निष्पाद्यत इत्यर्थ कार्यम् । द्रवति गच्छतीति द्रव्य कारणम् । द्रव्यमेवार्थोऽस्य कारणमेव कार्यं नार्थान्तरम्, न च कार्यकारणयो कश्चिद्रूपभेदः तदुभयमेकाकारमेव पर्वाऽगुलिद्रव्यवदिति द्रव्यार्थिक । परि समन्तादाय पर्याय । पर्याय एवार्थ कार्यमस्य न द्रव्यम् अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन[3] व्यवहाराभावात्, स एवैक कार्यकारणव्यपदेशभागिति पर्यायार्थिक । अथवा, अर्थनमर्थ प्रयोजनम्, द्रव्यमेवार्थोऽस्य प्रत्ययाभिधानानुप्रवृत्तिलिङ्गदर्शनस्य निह्नोतुमशक्यत्वादिति द्रव्यार्थिक । पर्यायोऽर्थ प्रयोजनमस्य [4]वाग्विज्ञानव्यावृत्तिनिबन्धनव्यवहारप्रसिद्धेरिति पर्यायार्थिक । तद्भेदा नैगमादय ।

एषा विशेषलक्षणमुच्यते–

अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः ।२। [5]निगच्छन्ति तस्मिन्निति निगमनमात्र[6] वा निगम, निगमे कुशलो भवो वा नैगम । तस्य लोके व्यापार अर्थसंकल्पमात्रग्रहण प्रस्थेन्द्रगृहगम्यादिषु । तद्यथा–कश्चित् प्रगृह्य परशु पुरुष गच्छन्तमभिसमीक्ष्याह 'किमर्थ गच्छसि भवान्' इति ? स तस्मै [7]आचष्टे प्रस्थार्थमिति । एवमिन्द्रगृहादावपि । तथा [8]कतरोऽत्र गमी' इत्युक्ते आचष्टे–'अह गमी' इति, सप्रत्यगच्छत्यपि गमीति व्यवहार । एव प्रकारोऽन्योऽपि नैगमनयस्य विषय ।

भाविसंज्ञाव्यवहार इति चेत्; न; भूतद्रव्यासन्निधानात् ।३। स्यादेतत्–नाय नैगमनयविषय भाविसज्ञाव्यवहार इति; तन्न; कि कारणम् ? भूतद्रव्यासन्निधानात् । भूत हि कुमारतण्डुलादिद्रव्यमाश्रित्य राजौदनादिका भाविनी सज्ञा प्रवर्तते, न च तथा नैगमनयविषये [9]किञ्चिद् भूत द्रव्यमस्ति यदाश्रया भाविनी सज्ञा विज्ञायेत ।

[10]उपकारानुपलम्भात् संव्यवहारानुपपत्तिरिति चेत्; न; अप्रतिज्ञानात् ।४। स्यादेतत्–नैगमनयवक्तव्ये उपकारो नोपलभ्यते, भाविसज्ञाविषये तु राजादावुपलभ्यते, ततो नाय युक्त इति, तन्न, कि कारणम् ? अप्रतिज्ञानात् । नैतदस्माभि प्रतिज्ञातम्–'उपकारे सति भवितव्यम्' इति । कि तर्हि ? अस्य नयस्य विषय प्रदर्श्यते । अपि च, उपकार प्रत्यभिमुखत्वादुपकारवानेव ।

स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात् समस्तग्रहणं संग्रहः ।५। बुद्ध्यभिधानानुप्रवृत्तिलिङ्ग सादृश्य स्वरूपानुगमो वा जाति, सा चेतनाचेतनाद्यात्मिका शब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रतिनियमात् स्वार्थव्यपदेशभाक् । स्वा जाति स्वजातिः, अप्रच्यवनमविरोध, स्वजातेरविरोध स्वजात्यविरोधस्तेन स्वजात्यविरोधेन एकत्वोपनयात् । केषाम् ? भेदानाम् । समस्तग्रहण सग्रहो यथा सद् द्रव्य घट इत्यादि । 'सत्' इत्युक्ते सत्तासबन्धार्हणा द्रव्यपर्यायतद्भेदप्रभेदाना तदव्यतिरेकात् तेनैकत्वेन सग्रह । 'द्रव्यम्' इति चोक्ते जीवाजीवतद्भेदप्रभेदाना द्रव्यत्वाविरोधात्तेनैकत्वेन सग्रह । 'घट' इति चोक्ते नामादिभदात् मृत्सुवर्णादिकारणविशेषाद् वर्णसस्थानादिवि-

---

१ आदिशब्देन अस्तिविकारवृद्धिहानिक्षयाः गृह्यन्ते । २ –रूपादिति आ०, ब०, द०, मु०, श०, ता० । श० प्रतौ रूपात् इत्यस्य टिप्पणे 'रूपत्वात्' इति लिखितमस्ति । ३ –त्वे व्य– ता०, श०, द०, मू०, ज०, भा० १,२ । ४ शब्दबुद्धि । ५ निगच्छन्त्यस्मि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ संकल्पमात्रं वा । ७ व्याचष्टे मु० । ८ 'गमेरिन्' इत्ययं त्यो भवति गमिष्यति यास्यतीति गमिन्यर्थ एव । ९ किञ्चित्तद्भूतं मु०, आ०, ब० । १० उपकारानुपपत्ति– भा० २ ।

काराच्च भिन्नानां घटशब्दवाच्यानां तदव्यतिरेकादेकत्वेन संग्रह. । एवमितरेष्वपीति । [1]तत्राभिधानप्रत्ययौ सामान्य निराकृतविशेषभावात् ।

[2]आह–सत्ताद्यर्थान्तरभूतमस्ति, तदभिसंबन्धात् सदादिव्यपदेश[3] इति; तन्न; उभयथाऽनुपपत्ते । इदमिह संप्रधार्यम्–सत्तासबन्धात्प्राग् द्रव्यादिषु सदित्यभिधानं प्रत्ययश्च स्याद्वा, न वेति ? यदि स्यात्; सत्तासबन्धवैयर्थ्यं प्रकाशितप्रकाशनवैयर्थ्यवत्[4], सत्ताद्वयप्रसङ्गश्च–एका आभ्यन्तरी अपरा बाह्येति । अतश्च समयविरोध.–*"**सल्लिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः**" [वै० सू० १।२।१७] इति । अथ नास्ति; खरविषाणादिष्वतिप्रसङ्ग. । समवायकृतोऽय विशेष इति चेत्; न; तस्य प्रतिषिद्धत्वात् ।

किञ्च, सत्ताया सदिति व्यपदेशस्य सत्तान्तरहेतुकत्वाहेतुकत्वयोः अनवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषप्रसङ्ग । अथ पदार्थशक्तिप्रतिनियमाद् द्रव्यादिषु सदिति व्यपदेशो [5]निमित्तान्तरहेतुकः, सत्ताया स्वत एवेति चेत्; ससर्गवादत्याग, इच्छामात्रकल्पनाप्रसङ्गश्च ।

किञ्च, सत्तादे पदार्थान्तरस्य द्रव्यादिषु वृत्तिः सोऽस्येति वा स्यात्, सोऽयमिति वा ? यदि सोऽस्येति वृत्ति ;[6] मत्वर्थीयेन भवितव्यम् 'सत्तावद्द्रव्यम्' इति, यथा गोमान् यवमानिति, अतो मत्वर्थस्य[7] (वतोर्मत्त्वर्थस्य) भावार्थस्य च निवृत्तिर्वक्तव्या[8]। अथ सोऽयमित्यभिसंबन्धेन वृत्ति; 'सत्ता द्रव्यम्' इति प्राप्नोति यथा 'यष्टि. पुरुष' इति, न 'सद्द्रव्यम्' इति, तत्र भावार्थस्य निवृत्तिर्वक्तव्या ।

किञ्च, दृष्टान्ताभावात् । न ह्येकं किञ्चिदनेकसबन्धि दृष्टं यदभिसमीक्ष्य सत्तैका अनेकसंबन्धिनी गम्येत । नीलीद्रव्यवदिति चेत्; न; न तस्यानेकत्वात् । [9]नीलीत्ववदिति चेत्; न; तस्यासिद्धत्वात् ।

अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः ।६। एतस्माद् अत. । [10]कुत. । संग्रहात् संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थाना विधिपूर्वकमवहरण व्यवहार । को विधिः ? सग्रहगृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवहार[11] प्रवर्तते इत्ययं [12]विधि. । तद्यथा–सर्वसंग्रहेण सत् संगृहीतम्, तच्चानपेक्षितविशेषं नालं संव्यवहारायेति व्यवहारनय आश्रीयते–यत्सत्तद् 'द्रव्यं गुणो वा' इति । द्रव्येणापि च संग्रहाक्षिप्तेन जीवाजीवाविशेषानपेक्षेण न शक्य संव्यवहार इति 'जीवद्रव्यमजीवद्रव्यम्' इति वा व्यवहार आश्रीयते । जीवाजीवावपि च सग्रहाक्षिप्तौ नालं संव्यवहारायेति प्रत्येकं देवनारकादिर्घटादिश्च व्यवहारेणाश्रीयते । 'कषायो भैषज्यम्' इत्युक्ते च सामान्यस्य विशेषात्मकत्वात् नैयग्रोधादिविशेषसामर्थ्यम्[13] (विशेषस्य सामर्थ्येन ग्रहणम्) । नहि शक्य प्रभुणापि चक्रभृता सर्व कषायसमाहार कर्तुम् । नामस्थापनाद्रव्याणि च संग्रहोपात्तानि नालं संव्यवहारायेति भाव एव गृह्यते । एवमय नयस्तावद्वर्तते यावत्पुनर्नास्ति विभाग. ।

[14]**सूत्रपातवदृजुत्वात् ऋजुसूत्रः ।७।** यथा ऋजु सूत्रपातस्तथा ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयति ऋजुसूत्र. । [15]पूर्वा स्त्रिकाल[16]विषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयमादत्ते । अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात् । [17]समयमात्रमस्य निर्दिधिक्षितम् ।

---

१ सत्तायाम्, संग्रह इत्यर्थः । २ नैयायिकः –सम्पा० । ३ वस्तुनः । ४ वैवरक्ता हि किंशुकाः केन रज्यन्ते नाम । ५ सत्तासम्बन्ध इति । ६ परार्थाभिधानम् । ७ तलः । तल्प्रत्ययस्येत्यर्थः । ८ सद्द्रव्यमित्याद्युदाहरणे । ९ नीलित्व– आ०, ब०, द०, मु० । १० भेदकल्पना । ११ नियमः । १२ नैयग्रोधादिविशेषस्य सामर्थ्येन ग्रहणमित्यर्थः –सम्पा० । १३ सूत्रपातवदृजुसूत्रः आ०, ब०, द०, मु० । १४ सर्वा –आ०, ब०, द०, मु० । १५ नयान् । १६ समवायमा–आ०, ब०, द०, मु० ।

'कषायो भैषज्यम्' इत्यत्र च संजातरस कषायो भैषज्यं न प्राथमिककषायोऽल्पोऽनभिव्यक्तरसत्वादस्य विषय ।

पच्यमानः पक्वः । [1]पक्वस्तु स्यात्पच्यमान स्यादुपरतपाक इति । असदेतत्; विरोधात् । 'पच्यमानः' इति वर्तमान 'पक्व.' इत्यतीत तयोरेकस्मिन्नवरोधो विरोधीति; नैष दोष; पचनस्यादावविभागसमये[2] कश्चिदशो निर्वृत्तो वा, न वा ? यदि न निर्वृत्त; तद्द्वितीयादिष्वप्यनिर्वृत्ते. पाकाभावः स्यात् । ततोऽभिनिर्वृत्तः[3] तदपेक्षया 'पच्यमानः पक्वः,' इतरथा हि समयस्य त्रैविध्यप्रसङ्गः । स एवौदन. पच्यमानः पक्वः, स्यात्पच्यमान इत्युच्यते पक्तुरभिप्रायस्यानिर्वृत्तेः, पक्तुर्हि सुविशदसुस्विन्नौदने पक्वाभिप्राय, स्यादुपरतपाक इति चोच्यते [4]कस्यचित् पक्तुस्तावतैव कृतार्थत्वात् ।

एवं क्रियमाणकृत-भुज्यमानभुक्त-बध्यमानबद्ध-सिध्यत्सिद्धादयो योज्या ।

तथा प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थ, यदैव मिमीते, अतीतानागतधान्यमानासंभवात् ।

कुम्भकाराभाव शिविकादिपर्यायकरणे तदभिधानाभावात् । कुम्भपर्यायसमये च स्वावयवेभ्य एव निर्वृत्ते ।

स्थितप्रश्ने च 'कुतोऽद्यागच्छसि' इति ? न 'कुतश्चित्' इत्ययं[5] मन्यते, तत्कालक्रियापरिणामाभावात् ।

यमेवाकाशदेशमवगाढुं समर्थं आत्मपरिणाम वा तत्रैवास्य वसतिः ।

न कृष्ण काक, उभयोरपि स्वात्मकत्वात्—कृष्णः कृष्णात्मको न काकात्मकः । यदि काकात्मक स्यात्, भ्रमरादीनामपि काकत्वप्रसङ्ग । काकश्च काकात्मको न कृष्णात्मक । यदि कृष्णात्मक ; शुक्लकाकाभाव स्यात् । पञ्चवर्णत्वाच्च, पित्तास्थिरुधिरादीना पीतशुक्लरक्तादिवर्णत्वात्, तद्व्यतिरेकेण काकाभावाच्च । न सामानाधिकरण्यम्—एकस्य[6] पर्यायेभ्योऽनन्यत्वात्पर्याया एव विविक्तशक्तयो द्रव्य नाम न किञ्चिदस्तीति । कृष्णगुणप्राधान्यादिति चेत्; न, [7]आस्तरकादिष्वतिप्रसङ्गात्, कषायमधुरे च मधुनि विरोधात् । अप्रत्यक्षे[8] चाख्यायमाने सशयदर्शनात् । कृष्णकाकविशेषज्ञेन केनचिद् द्वीपान्तरनिवासिन्यनुपलब्धकृष्णकाकविशेषे पुरुषे प्रतिपाद्यमाने सशयो जायते 'किमयं काकस्य कार्ष्ण्य गुणप्राधान्यादाचष्टे, द्रव्यस्यैव वा तथा परिणामात्' इति ?

अत पलालादिदाहाभाव प्रतिविशिष्टकालपरिग्रहात् । अस्य हि नयस्याविभागो वर्तमानसमयो विषय. । अग्निसंबन्धनदीपनज्वलन[9]दहनानि[10]असख्येयसमयान्तरालानि [11]यतोऽस्य दहनाभाव । किञ्च, यस्मिन् समये दाह[12] न तस्मिन् [13]पलालम्, भस्मताभिनिर्वृत्तेः, यस्मिश्च पलाल न तस्मिन् दाह इति । यत्पलाल तद्दहतीति चेत्; न; सावशेषात्[14] । समुदायाभिधायिनां शब्दानामवयवेषु वृत्तिदर्शनाददोष इति चेत्; न; तदवस्थत्वात्,[15] एकदेशदाहाभावस्योक्तत्वात् ।

---

१ पक्षस्तु आ०, ब०, द०, मु० । २ प्रथमसमये इत्यर्थ. । ३ –भिनिर्वृत्तेस्त –आ०, ब०, द०, मु० । ४ आदावेवं पच्यमान इत्यत्र पक्वताबुद्धेः सुस्विन्नेऽन्ने पक्वताबुद्धया किं फलमित्याशङ्कायाम् यस्य कस्यचिदत्यन्तपक्वतायामेव बुद्धिर्भवेदित्याह कस्यचिदिति । ५ ऋजुसूत्रः । ६ काकस्य । ७ कम्बलादिषु –ता० टि० । कम्बलादौ –अ० टि० । –न्नास्थिरक्तादि– आ०, ब०, मु० । –न्नास्ति रक्ता– द० । ८ कृष्णकाके । ९ अङ्गार । १० भस्म । ११ ततः । १२ भस्मीभावः । १३ पलालस्तृणसञ्चयः । पलालोऽस्त्री निष्फलव्रीह्यादितृणः । १४ अवशेषसद्भावात् । १५ अवयवेऽपि सावशेषसद्भावात् ।

निरवशेषदाहासभवादिति चेत्; न; वचनविरोधात्[1] तदवस्थत्वाच्च । वचनविरोधस्तावत्–यदि निरवशेषस्य पलालस्य दाहस्यासभव इत्येकदेशदाहात् पलालदाहो नादाहः; ननु भवद्वचनस्य निरवशेषपरपक्षदूषकत्वाभावात् परपक्षैकदेशस्य दूषकत्वम्, अतः एकदेशदूषकत्वात् कृत्स्नमपीद[2] दूषकमेवेत्यस्य[3] साधकत्वसामर्थ्याभाव इति । तदवस्थत्वमपि 'एकसमये दाहाभाव.' इत्युक्तत्वात् । अवयवानेकत्वे यद्यवयवदाहात् सर्वत्र दाहोऽवयवान्तराऽदाहात् ननु सर्वदाहाभाव । अथ दाह सर्वत्र; कस्मान्नाऽदाह ? अतो न दाहः । एव पानभोजनादिव्यवहाराभाव ।

न शुक्ल. कृष्णीभवति; उभयोर्भिन्नकालावस्थत्वात्, प्रत्युत्पन्नविषये [4]निवृत्तपर्यायानभिसंबन्धात् । सर्वसव्यवहारलोप इति चेत्, न; विषयमात्रप्रदर्शनात्, पूर्वनयवक्तव्यात् सव्यवहारसिद्धिर्भवति ।

शपत्यर्थमाह् वयति प्रत्याययतीति शब्दः ।८। उच्चरित. शब्द [5]कृतसगीतेः पुरुषस्य स्वाभिधेये [6]प्रत्ययमादधाति इति शब्द इत्युच्यते ।

स च लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः ।९। लिङ्ग स्त्रीत्वपुंस्त्वनपु सकत्वानि । संख्या एकत्वद्वित्वबहुत्वानि । साधनमस्मदादि । एवमादीना व्यभिचारो न न्याय्य इति तन्निवृत्तिपरोऽय नयः । तद्यथा, लिङ्गव्यभिचारस्तावत्–स्त्रीलिङ्गे पुल्लिङ्गाभिधान तारका स्वातिरिति । पुल्लिङ्गे स्त्र्यभिधानम् अवगमो विद्येति । स्त्रीत्वे नपु सकाभिधानम् वीणा आतोद्यमिति । नपु सके स्त्र्यभिधानम् आयुध शक्तिरिति । पुल्लिङ्गे नपु सकाभिधान पटो वस्त्रमिति । नपुंसके पुल्लिङ्गाभिधान द्रव्य परशुरिति । सख्याव्यभिचार –एकत्वे द्वित्वम्, नक्षत्र पुनर्वसू इति । एकत्वे बहुत्वम्–नक्षत्रं शतभिषज इति । द्वित्वे एकत्वम्–गोदौ[7] ग्राम इति । द्वित्वे बहुत्वम्–पुनर्वसू पञ्चतारका इति । बहुत्वे एकत्वम्–आम्राः वनमिति । बहुत्वे द्वित्वम्–देवमनुष्या उभौ राशी इति । साधनव्यभिचारः–एहि, 'मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पितेति । आदिशब्देन कालादिव्यभिचारो गृह्यते । विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता, भावि कृत्यमासीदिति कालव्यभिचार' । सतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमत्युपरमतीति[8] [9]उपग्रहव्यभिचार । एवमादयो व्यभिचारा अयुक्ता । कुत ? अन्यार्थस्याऽन्यार्थेन संबन्धाभावात् । यदि स्यात्; घट पटो भवतु पटो वा प्रासाद इति । तस्माद्यथालिङ्ग यथासंख्य यथासाधनादि च न्याय्यमभिधानम् । लोकसमयविरोध इति चेत्; विरुध्यताम्, तत्त्व मीमास्यते,[10] सुहृत्सूपचार[11] ।

नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः ।१०। यतो नानार्थान् समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढस्तत. समभिरूढ' । कुत' ? वस्त्वन्तरासक्रमेण तन्निष्ठत्वात् । कथम् ? अवितर्कध्यानवत् । यथा तृतीय शुक्ल सूक्ष्मक्रियमवितर्कमवीचार[12] ध्यानम् [13]"अर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्त्यभावात् सूक्ष्मकाययोगनिष्ठत्वात्, तथा गौरित्ययं शब्दो वागादिषु वर्तमानो गव्यधिरूढः । एवं शेषेष्वपि रूढिशब्दोऽस्य विषय । अथवा, 'अर्थगत्यर्थ शब्दप्रयोग.' इति तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतत्वात् पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थक । शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यमिति नानार्थ-

---

१ अत्र वचनविरोधस्तु निरवशेषेत्यादिवचनस्यैवेति न मन्तव्यम्, किन्तु भवदुक्तनीति भवदुक्तवचनान्तरे योजयितुं शक्यत्वेन प्रकृतवचनस्य विरोध इति मन्तव्यम् । २ वचनम् । ३ वचनस्य । ४ वर्तमाने । ५ कृतसंगतेः आ०, ब०, द०, मु० । ६ ज्ञानम् । ७ उत्तरदेशे गोद इति कश्चिद् ग्रामविशेषः तस्य द्विवचनमिति । ८ रथेन यास्यसीति गमनाभिधानात् प्रहासगतिः, अनेकस्मिन्नपि प्रत्येकमेव परिहास इत्यभिधानवशात् मन्ये इत्येकवचनमेव । ९–रमत्युपग्रह –आ०, ब०, द०, मु०, ता० । १० उपसर्ग –ता० टि० । ११ विचार्यते । १२ उपचारः सुहृत्सु भवतीत्यर्थः– सम्पा० । १३ वितर्कः श्रुतम् । १४ शब्दमनोवाक्काय ।

समभिरोहणात् समभिरूढ –इन्दनादिन्द्र शकनाच्छक्र. पूर्दारणात्पुरन्दर इति । एवं सर्वत्र । अथवा, यो [1]यत्राधिरूढ स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात् समभिरूढ । यथा क्व भवानास्ते ? स्वात्मनीति । कुत. ? वस्त्वन्तरे वृत्त्यभावात् । यद्यन्यस्यान्यत्र वृत्ति[2] स्यात्; ज्ञानादीना रूपादीना चाकाशे वृत्ति स्यात् ।

येनात्मना भूतस्तेनैवाऽध्यवसाययतीत्येवंभूतः ।११। येनात्मना येनाभिधेयेन भूत शब्द- ५
स्तेनैवाऽध्यवसाययति । यथा इन्द्रशब्द परमेश्वरत्वाभिधेयः, स परिणामो यत्र यदा वर्तते तत्र तदैव युक्तो न नामस्थापनाद्रव्येषु तत्परिणामाभावात् इति । एवमितरेष्वपि शब्देषु स्वाभिधेयक्रियापरिणतिक्षण एव युक्तिर्नान्यदेति । अथवा, येनात्मना येन स्वरूपेण भूतोऽर्थस्तेनैवाध्यवसाययति, यथा गच्छतीति गौरिति–यदैव गच्छति तदैव गौरिति न स्थितो न शयित इति, पूर्वोत्तरकालयोस्तदर्थाभावाद्दण्डिवत् । एवमितरेष्वपि । अथवा, येनात्मना येन ज्ञानेन भूत. १०
परिणतस्तेनैवाध्यवसाययति यथा इन्द्राग्निज्ञानपरिणत आत्मैवेन्द्रोऽग्निश्चेति एवंभूतार्थप्रत्यायनाच्छब्द एवंभूत तत्कार्यात्ताच्छब्द्यसिद्धे. ।

दाहकत्वाद्यतिप्रसङ्ग इति चेत्; तदव्यतिरेकादप्रसङ्ग इति ।१२। स्यादेतत्–अग्न्यादिव्यपदेशो[3] यद्यात्मनि क्रियते दाहकत्वाद्यतिप्रसज्यते इति; उच्यते–तदव्यतिरेकादप्रसङ्ग. । तानि नामादीनि येन रूपेण व्यपदिश्यन्ते ततस्तेषामव्यतिरेक प्रतिनियतार्थवृत्तित्वाद्धर्माणाम् । ततो १५
नो आगमभावाग्नौ वर्तमान दाहकत्वं कथमागमभावाग्नौ वर्तेत ? उक्ता नैगमादयो नया. ।

उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेषा क्रम पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च । एवमेते नया. पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया द्रव्यस्यानन्तशक्ते प्रतिशक्ति भिद्यमाना बहुविकल्पा जायन्ते[4] । त एते गुणप्रधानतया परस्परतन्त्रा सम्यग्दर्शनहेतव पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात्, तन्त्वादय इव यथोपाय विनिवेश्यमाना पटादिसंज्ञा स्वतन्त्राश्चाऽसमर्था । तन्त्वादिवदेव विषम २०
उपन्यास, तन्त्वादयो निरपेक्षा अपि काञ्चिदर्थमात्रा जनयन्ति । भवति हि कश्चित् प्रत्येक तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थ एकश्च वल्कलो[5] बन्धने समर्थ । इमे पुनर्नया निरपेक्षा. सन्त. न काञ्चिदपि सम्यग्दर्शनमात्रा प्रादुर्भावियन्तीति । नैष दोष ; अभिहितानवबोधात् । अभिहितमर्थमनवबुध्य परेणेदमुपालभ्यते । एतदुक्त "निरपेक्षेषु तन्त्वादिषु पटादिकार्यं नास्तीति । यत्तु तेनोपदर्शित न तत् पटादिकार्यम् । कि तर्हि ? तन्त्वादिकार्यम् । तन्त्वादिकार्यमपि तन्त्वाद्यवयवषु २५
निरपेक्षेषु नास्त्येवेत्यस्मत्पक्षसिद्धिरेव । अथ "तन्त्वादिषु पटादिकार्यं शक्त्यपेक्षया अस्तीत्युच्यते नयेष्वपि निरपेक्षेषु बुद्ध्यभिधानरूपेषु कारणवशात् सम्यग्दर्शनहेतुत्वविपरिणतिसद्भावात् शक्त्यात्मनाऽस्तित्वमिति साम्यमेवोपन्यासस्य ।

ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्व नयाना चैव लक्षणम् ।
ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितम् ।। इति । ३०

इति तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालङ्कारे प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्व[6]नृपतिवरतनय ।
अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्य प्रशस्तजनहृद्य[7] ।।

---

१ यत्राभिरू– मु० । २ –न्ते ए –आ०, ब०, द०, मु० । ३ वल्कजो मु०, श्र०, ता०, मू० । वल्कं वल्कलमस्त्रियाम् श्र० टि० । ४ निरपेक्षेषु आ०, ब०, द०, मु० । ५ तन्त्वादिकार्यं आ०, ब०, द०, मु० । ६ –केव्या –आ०, ब०, द०, मु०, ता०, श्र० । ७ –हृब– ता० । ८ श्लोकोऽयं नास्ति म०, श्र० ।

द्वितीयोऽध्यायः

अत्राह–मोक्षमार्गव्याख्याप्रसङ्गेन सम्यग्दर्शनादीन्युपदिश्यन्ते । तेषां च लक्षणोत्पत्ति-विषयनिबन्धादीनि व्याख्यातानि । तत्र तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन[1]मुपदिष्टम् । तत्त्वार्थाश्च जीवादय । तत्रादावु[2]पदिष्टस्य जीवस्य कि श्रद्धातव्यं यदवधारणप्रतिपत्त्युपासनादिभ्यस्तन्नि-ष्पद्यत इति ? उच्यते–तत्त्वमात्मन स्वभाव श्रद्धेय ।

यद्येवमुच्यतां तदीय कि तत्त्वमिति ? अत उत्तरं पठति–

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

अथवा, प्रमाणनया अनन्तरं[3] विनिर्दिष्टाः । ते च प्रमेयाधिगमरूपा । प्रमेयाश्च जीवादय. पदार्था इदानी निर्देष्टव्या । यद्येवमस्यैव तावदादावुपदिष्टजीवस्य किं तत्त्वमिति ? अत आह–औपशमिकादीति[4] ।

कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽधःप्रापितपङ्कवत्[5] ।१। यथा सकलुषस्याम्भस. कत-कादिद्रव्यसंपर्कात् अध प्रापितमलद्रव्यस्य तत्कृतकालुष्याभावात् प्रसाद उपलभ्यते, तथा कर्मण. कारणवशादनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तिता आत्मनो विशुद्धिरुपशम ।

क्षयो निवृत्तिरात्यन्तिकी ।२। यथा तस्यैवाम्भसोऽध [6]प्रापितपङ्कस्य शुचिभाजनान्तर-संक्रान्तस्य प्रसाद आत्यन्तिक, तथा आत्मनोऽपि कर्मणोऽत्यन्तविनिवृत्तौ विशुद्धिरात्यन्तिकी क्षय इत्युच्यते ।

उभयात्मको मिश्रः क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत् ।३। यथा प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकस्य [7]कोद्रवस्य द्विधा वृत्ति, तथा यथोक्तक्षयहेतुसन्निधाने सति कर्मण एकदेशस्य क्षयादेकदेशस्य च वीर्योपशमादात्मनो भाव उभयात्मको मिश्र इति व्यपदिश्यते ।

द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणः फलप्राप्तिरुदयः ।४। द्रव्यादिनिमित्त प्रतीत्य कर्मणो विपच्यमानस्य फलोपनिपात उदय इतीमामाख्या लभते ।

द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः ।५। यस्य भावस्य द्रव्यात्मलाभमात्रमेव हेतुर्भवति नान्यन्निमित्तमस्ति स परिणाम इति परिभाष्यते[8] ।

तत्प्रयोजनत्वाद्वृत्तिवचनम् ।६। ते उपशमादय प्रयोजनमस्येति वृत्तिः क्रियते । स उप-शम प्रयोजनमस्येत्यौपशमिक, क्षय प्रयोजनमस्येति क्षायिक, उदय. प्रयोजनमस्येत्यौदयिक, परिणाम प्रयोजनमस्येति पारिणामिक । ते भावा जीवस्य स्वतत्त्वम्–स्व तत्त्व स्वतत्त्वम्, स्वो भावोऽसाधारणो धर्म ।

व्याप्तेरौदयिकपारिणामिकग्रहणमादाविति चेत्; न; भव्यजीवधर्मविशेषख्यापनार्थत्वात् आदावौपशमिकादिभाववचनम् ।७। स्यादेतत्–सर्वजीवसाधारणत्वाद् व्याप्ते औदयिकपारिणा-मिकग्रहणमादौ न्याय्यमिति; तन्न, कि कारणम् ? भव्यजीवधर्मविशेषख्यापनार्थत्वात् । भव्यस्य मोक्षप्रतिपादनार्थो ह्यय प्रयास । अतोऽस्य धर्मविशेष औपशमिकादिभाव आदावुच्यते ।

[9]अत्र चादावौपशमिकवचनं तदादित्वात् सम्यग्दर्शनस्य ।८। सम्यग्दर्शनस्य हि आदिरौप-

---

१ –नमुद्दिष्ट – आ०, ब०, द०, मु० । २ –वुद्दिष्ट –आ०, ब०, द०, मु० । ३ ‌गता-धिकारे । ४ –दीनि आ०, ब०, मु०, द० । ५ बसः । ६ –धः शमित –आ०, ब०, मु० । ७ –द्रवद्रव्यस्य आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू० । ८ न तु पूर्वोत्तराकारहानोपादानरूपः – सम्पा० । ९ तत्र आ० ब०, द०, मु०, मू० ।

शमिको भावस्तत क्षायोपशमिकस्तत क्षायिक इति, अत औपशमिकस्यादौ ग्रहण क्रियते ।

अल्पत्वाच्च ।९। अल्पश्चौपशमिको भाव क्षायिकात् क्षायोपशमिकाच्च । कुतोऽल्पत्वम् ? सचयकालस्याल्पत्वात् । तद्यथा—उपशमसम्यग्दर्शनस्य कालोऽन्तर्मुहूर्त, सोऽन्तर्मुहूर्तोऽसख्येया समया. । तत्र समये समये नैरन्तर्येण सचीयमाना उपशमसम्यग्दृष्टय आ अन्तर्मुहूर्तसमाप्ते. पल्योपमाऽसख्येयभागप्रमाणा इति सर्वेभ्योऽल्पे । ५

ततो विशुद्धिप्रकर्षयुक्तत्वात् क्षायिकः ।१०। औपशमिकाद्धि क्षायिक प्रकृष्टशुद्धयुपेतो मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वाना साकल्येन संक्षयात्, तत औपशमिकात् पर क्षायिकवचनम् ।

बहुत्वाच्च ।११। बहवो हि क्षायिकसम्यग्दृष्टय औपशमिकसम्यक्त्वेभ्य[1] । कुत ? गुणकारविशेषात् । को गुणकार ? आवलिकाया असख्येयभाग, सोऽसख्येया समया । १० कुत ? असख्येयस्य राशेरसख्येया एव भेदा इति । तत आवलिकाया असख्येयभागेन गुणिता उपशमसम्यग्दृष्टय क्षायिकसम्यग्दृष्टीन् प्राप्नुवन्ति । कुत ? सचयकालस्य महत्त्वात् । इह क्षायिकसम्यग्दृष्टेस्त्रयस्त्रिशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि काल, तस्य प्राथमिकसमयादारभ्य समये समये सचीयमाना आ तत्कालपरिसमाप्तेर्बहवो भवन्ति ।

तदसंख्येयगुणत्वात्तदनन्तरं मिश्रवचनम् ।१२। क्षायिकादसख्येयगुण क्षायोपशमिक, १५ द्रव्यतो न भावत । क्षायोपशमिकाद्धि क्षायिको भावतोऽनन्तगुण, विशुद्धिप्रकर्षयोगात्, तस्माद् द्रव्यतोऽसख्येयगुण क्षायिकात् क्षायोपशमिक । कुत ? गुणकारविशेषात् । को गुणकार ? आवलिकाया असख्येयभाग । कुत ? संचयकालस्य महत्त्वात् । इह क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टे [2]षट्षष्टिसागरोपमाणि पूर्णानि काल, तस्य प्रथमसमयादारभ्य समये समये सचीयमाना क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टय आ तत्कालपरिसमाप्तेर्भूयासो भवन्ति । २०

तदनन्तगुणत्वादन्ते द्वयवचनम् ।१३। तेषा सर्वेषामेवानन्तगुणा औदयिका पारिणामिकाश्च, ततोऽन्ते तेषा वचन क्रियते ।

तैरेव चात्मनः समधिगमात् ।१४। अतीन्द्रियत्वादात्मनो मनुष्यतैर्यग्योनादिभिरौदयिकै पारिणामिकैश्च चैतन्यजीवत्वादिभि. समधिगमो भवति ।

सर्वजीवतुल्यत्वाच्च ।१५। सर्वेषां हि जीवानां तुल्या औदयिका पारिणामिकाश्च २५ ततस्तेषामन्ते वचन न्याय्यम् ।

तत्त्वमिति बहुवचनप्रसङ्ग इति चेत्; न; भावस्यैकत्वात् ।१६। स्यादेतत्—औपशमिकादिपञ्चतयभावसामानाधिकरण्यात्तत्त्वस्य बहुवचन [3]प्राप्नोतीति; तन्न; कि कारणम् ? भावस्यैकत्वात्, 'तत्त्वम्' इत्येष एको भाव. ।

---

१ बसः । बहुव्रीहिसमास. । २ तथाहि—पूर्वकोट्यायुर्मनुष्यो गर्भाद्यष्टवर्षादुपरि प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा अन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा पश्चाद् वेदकसम्यग्दृष्टिः सन् मनुष्यायुष्यमनुभूय लान्तवकल्पे उपरिममनुष्यायुष्यपूर्वकोटिहीनत्रयोदशसागराण्यनुभूय पूर्वकोटचायुर्मनुष्यो भूत्वा गर्भाद्यष्टमवर्षादुपरि संयमं स्वीकृत्य पूर्वकोटयन्ते अच्युतकल्पे उपरिमपूर्वकोटचायुष्यहीनद्वाविंशतिसागरोपमाण्यनुभूय पूर्वकोटचायुर्मनुष्यो भूत्वा अष्टवर्षादुपरि संयमं गृहीत्वा मनुष्यायुष्यमनुभूय उपरिमग्रैवेयके उपरिमपूर्वकोटचायुर्हीन-एकत्रिंशत्सागरोपमाण्यनुभूय पूर्वकोटचायुर्मनुष्यो भूत्वा अष्टवर्षादुपरि दर्शनमोहनीयक्षपणे चरमसमये । एतदुक्तं सर्वं षट्षष्टिसागरोपमाणि स्युः । उक्तञ्च—लांतवकप्पे तेरस अच्चुदकप्पे य होंति बावीसा । उपरिमएक्कतीसं एवं सव्वाणि छावट्ठी ।। इति —श्र० टि० । ३ प्राप्नोति तन्न श्र० ।

फलभेदान्नानात्वमिति चेत्; न; स्वात्मभावभेदस्याऽविवक्षितत्वात् 'गावो धनम्' इति यथा ।१७। स्यादेतत्–औपशमिकादिपञ्चतयतत्त्वफलभेदाद्भावनानात्वमिति; तन्न; किं कारणम् ? स्वात्मभावभेदस्याऽविवक्षितत्वात्, यथा गावो धनमिति । धिनोतेर्धनम्, तच्चैकत्वेन विवक्षित तथा तत्त्वमिति ।

प्रत्येकमभिसंबन्धाच्च ।१८। एकत्वमुपपद्यते । औपशमिको भाव स्वतत्त्वमित्यादि ।

द्वन्द्वनिर्देशो युक्त इति चेत्; न; उभयधर्मव्यतिरेकेणाऽन्यभावप्रसङ्गात् ।१९। स्यान्मतम्–द्वन्द्वनिर्देशोऽत्र युक्त –'औपशमिकक्षायिकमिश्रौदयिकपारिणामिका.' इति । तत्रायमप्यर्थो द्विश्चशब्दो न कर्तव्यो भवतीति; तन्न; किं कारणम् ? उभयधर्मव्यतिरेकेणान्यभावप्रसङ्गात् । [२]उभाभ्या व्यतिरेकेणान्यो भाव प्राप्नोति, चशब्दे पुन सति पूर्वोक्तानुकर्षणार्थो (र्थे) युक्तो भवति ।

क्षायोपशमिकग्रहणमिति चेत्; न; गौरवात् ।२०। यद्येवं क्षायोपशमिकग्रहणमेव कर्तव्यमन्यभावनिवृत्त्यर्थम्; तन्न; किं कारणम् ? गौरवात्[३] । तथा सति सूत्रस्य गौरव स्यादिति ।

मध्ये मिश्रवचनं[४] पूर्वोत्तरापेक्षार्थम् ।२१। मध्ये मिश्रवचन क्रियते पूर्वोत्तरापेक्षार्थम् । किमपेक्षाया प्रयोजनम् ? भव्यानामौपशमिकक्षायिकौ भावौ सम्यक्त्वचारित्राख्यौ क्षायोपशमिकाश्च ज्ञानदर्शनचारित्रभावा । औदयिकपारिणामिका अभव्यानामपि क्षायोपशमिकाश्चेति । तत्र चाभव्याना भव्याना च मिथ्यादृष्टीना चारित्रादृते क्षायोपशमिका ज्ञानदर्शनविकल्पा ।

'जीवस्य' इति वचनम् अन्यद्रव्यनिवृत्त्यर्थम् ।२२। जीवस्येदं स्वतत्त्व नान्यस्येति ।

स्वभावपरित्यागापरित्यागयोः शून्यताऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इति चेत्; न, आदेशवचनात् ।२३। इदमिह सप्रधार्यम्–आत्मा औपशमिकादिभावपरित्यागी वा स्यात्, अपरित्यागी वा ? किञ्च, अतो यदि तावत् परित्यजति; शून्यता प्राप्नोति आत्मन, स्वभावाभावाद् अग्नेरौष्ण्यस्वभावपरित्यागेऽभाववत् । अथाऽपरित्यागी; क्रोधादिस्वभावापरित्यागादात्मनोऽनिर्मोक्ष प्राप्नोतीति । तन्न; किं कारणम् ? आदेशवचनात् । अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात् स्यात् स्वभावाऽपरित्यागी, आदिमदौदयिकादिपर्यायार्थादेशात् स्यात् स्वभावपरित्यागी इत्यादि सप्तभङ्गी पूर्ववत् । यस्यैकान्तेन स्वभावपरित्याग स्यादपरित्यागो वा; तस्य यथोक्तदोष स्यात्, नानेकान्तवादिन ।

अप्रतिज्ञानात् ।२४। नैतत्प्रतिजानीमहे–'स्वभावपरित्यागादपरित्यागाद्वा मोक्ष' इति । किं तर्हि ? अष्टतयकर्मपरिणामवशीकृतस्यात्मन द्रव्यादिबाह्यनिमित्तसन्निधाने सत्याभ्यन्तरसम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्गप्रकर्षावाप्तौ कृत्स्नकर्मसक्षयात् मोक्षो विवक्षितस्ततो न दोष । न चाग्नेरुष्णस्वभावपरित्यागेऽप्यभाव । कस्मात् ? द्रव्यार्थावस्थानात् । पुद्गलद्रव्यस्य हि पर्याय उष्णभाव, तस्याभावेऽपि सदचेतनत्वादिभिरवस्थानम् । किञ्च,

कर्मसन्निधाने तदभावे चोभयभावविशेषोपलब्धेर्नेत्रवत् ।२५। यथा नेत्रं रूपोपलब्धिस्वभावक[५] यदा रूप नोपलभते तदा रूपोपलब्धिस्वभावपरित्यागात्[६] न नास्ति, यथा वा क्षायोप-

---

१ –तयत्वफ– आ०, ब०, द०, मु० । २ औपशमिकक्षायिकाभ्याम् –सम्पा० । ३ –त् गौ– आ०, ब०, द०, मु० । ४ –नं क्रियते पू–आ०, ब०, द०, मु० । ५–रवभावं य –आ०, ब०, द०, मु० । ६ –गान्नास्त्यभावो यथा आ०, ब०, मु० ।

शमिकत्वे रूपोपलब्धिस्वभावस्य नेत्रस्य सक्षीणसकलावरणे केवलिनि मतिज्ञानाभावान्नेत्रात्मकस्य रूपोपलब्धिस्वभावस्य परित्यागेऽपि द्रव्यनेत्रावस्थानान्न नेत्राभाव. तथा कर्मनिमित्तानामौदयिकादीनामभावेऽपि क्षायिकभावसन्निधानादात्मनो नाऽभावो विशेषोपलब्धेरिति ।

अत्राह–तस्यात्मनो ये भावा औपशमिकादयस्ते किं भेदवन्त उताऽभेदा इति ? अत्रोच्यते–भेदवन्त । यद्येवं ते उच्यतां कति भेदा इति ? अत उत्तर पठति– ५

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

कोऽयं निर्देश. ?

द्व्यादीनां कृतद्वन्द्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ।१। द्वौ च नव चाष्टादश चैकविंशतिश्च त्रयश्च द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय इति द्वन्द्वे कृते पश्चाद्भेदशब्देन वृत्तिरिय वेदितव्या । ननु चेतरेतरयोगे द्वन्द्व. । स च तुल्ययोगे भवति । न चात्र तुल्ययोगोऽस्ति । कथम् ? द्व्यादय शब्दा १० सख्येयप्रधाना एकविंशतिशब्द सख्यानप्रधान इति । नैष दोष ; सख्याशब्दानाममीषा सख्येयप्रधानत्वेऽपि निमित्तानुविधानात् सख्यानेऽपि वृत्तिर्भवति । प्रधान हि किञ्चिन्निमित्तमपेक्ष्य [1]गुणमनुविधत्ते । यथा प्रधानभूतोऽपि राजा मन्त्रिण गुणमाश्रयते, तत्प्रयुक्तक्रियाफलार्थित्वात् तस्य प्राधान्यमप्यनुजानातीति । अस्त्यय तर्काश्रय. समाधि [2] लक्षणशास्त्रेण तु विरुध्यते, एव तत्रोक्तम्–*"**एकादयः प्राग्विंशतेः संख्येयप्रधानाः, विंशत्यादयस्तु कदाचित् संख्यानप्रधानाः कदाचित्संख्येयप्रधानाः**" [ ] इति । यदि च द्व्यादय सख्यानेऽपि वर्तेरन् विंशत्यादिभिस्तुल्या. स्यु । तत्र को दोष.? सबन्धिनि[3] व्यतिरेकनिमित्तविभक्तिश्रवण स्यात्[4] [5]स्वतश्च सख्यानस्यैकत्वादेकवचन श्रूयेत 'विंशतिर्गवाम्' इति यथा । ननु च [6]तत्रैव सख्याने वृत्तिरुपलभ्यते *"**द्व्येकयो**" [पा० सू० १।४।२२] इति; नासौ सख्याने प्रयोग, कि तर्हि उपसर्जनावयवे समुदाये[7] प्रयोग यथा 'बहुशक्तिकिटकम्'[8] इति । सख्याप्रधानत्वेऽपि [9]तद्विषयत्वमेव *"**अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः ।**" [पात० महा० १।४।२१] इति । एव तर्हि द्व्यादय शब्दा सख्येयप्रधाना एव, एकविंशतिशब्दोऽपि सख्येयवृत्ति परिगृह्यत इति तुल्ययोगोपपत्तेर्युक्तो द्वन्द्व । १५ २०

भेदशब्देन किं स्वपदार्था वृत्ति , आहोस्विदन्यपदार्था ? स्वपदार्थप्रधाना । कथम् ? *"**विशेषणं विशेष्येण**" [पा० सू० २।१।५७] इति । द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय एव भेदा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा इति । ननु च 'द्वियमुनम्' इत्येवमादिषु पूर्वपदार्थप्रधाना वृत्तिरिति द्व्यादीना विशेष्यत्वमुक्त तेन भेदशब्दस्य विशेषणत्वे सति पूर्वनिपात प्राप्नोति ? नैष दोष ; सामान्योपक्रमे विशेषाभिधाने तदुक्तम् । के? 'द्वे यमुने' इति । 'यमुने' इति हचुक्ते द्विशब्दप्रयोग एवानर्थक इति । इह तु बहुत्वात् सन्देह –'भेदा.' इत्युक्ते 'कति' इति । द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय ' इति चोक्ते 'के ते' इति । अत उभयव्यभिचाराद्विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वात् द्व्यादीनां गुणशब्दत्वाच्च विशेषणत्व विवक्षितम् । [10]अथवा, पुनरस्त्वन्यपदार्था वृत्ति –द्विन- २५ ३०

---

१ अप्रधानम् । २ परिहारः । ३ सम्बन्धिनां व्य– आ०, ब०, द०, मु० । ४ कुतः ? ५ स्वभावतः । ६ संख्येयप्रधानद्वयादिष्वेव । लक्षणशास्त्रे एव –सम्पा० । ७ समुदये श्र०, ता० । ८ किटि वृन्दम्, बहुशक्तयः किटयो वराहा यस्मिन् वने तत्तथोक्तम्, दंष्ट्रीः घोणी स्तब्धरोमा क्रोडो भूदार इत्यपि । वराहः शूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः ॥ इत्यमरः । –क्तितः कीट– आ०, ब०, द० म० । ९ संख्येय । १० अथ पुन –आ०, ब०, द० मु० ।

वाष्टादशैकविंशतित्रयो भेदा येषां त इमे द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा इति। अत्र हि संख्याशब्दस्य विशेष्यत्वेऽपि *"सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्" [पा० सू० वा० २।२।३५] इति संख्याया पूर्वनिपात। पूर्वस्मिन् अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इत्यौपशमिकादीनामित्यभिसबन्धः, उत्तरत्र पठितक्रमेणैव।

५ **भेदशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत्।२।** यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति प्रत्येक भुजि परिसमाप्यते, एव भेदशब्दस्यापि प्रत्येक परिसमाप्तिर्वेदितव्या द्विभेद नवभेद इत्यादि।

यथानिर्दिष्टौपशमिकादिभावाभिसंबन्धार्थं द्व्यादिक्रमवचनम्।३। क्रम आनुपूर्व्यम्, यो य क्रमो यथाक्रमम्। यथा औपशमिकादयो भावा निर्दिष्टास्तथैव द्व्यादिभिरभिसबन्धः
१० कथ स्यादिति 'यथाक्रमम्' इत्युच्यते।

तत्रानिर्धारितसंख्येयाना द्व्यादीना संख्याशब्दाना प्रतिविशिष्टाभिधेयनिर्देशे प्राप्तकाले सति यौगपद्यासभवात् योऽसावादावुपदिष्ट औपशमिको भावस्तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह–

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

व्याख्यातलक्षणे सम्यक्त्वचारित्रे। औपशमिकत्व कथमिति चेत्? उच्यते–

१५ **सप्तप्रकृत्युपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम्।१।** अनन्तानुबन्धिन कषाया क्रोधमानमायालोभाश्चत्वार चारित्रमोहस्य, मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्वानि त्रीणि दर्शनमोहनीयस्य[1]। आसा सप्ताना प्रकृतीनामुपशमादौपशमिक सम्यक्त्वमिति।

अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादिते कालुष्ये सति कुतस्तदुपशम?

काललब्ध्याद्यपेक्षया तदुपशमः।२। काललब्ध्यादीन् प्रत्ययानपेक्ष्य तासा प्रकृतीनामुप-
२० शमो भवति। तत्र काललब्धिस्तावत्–कर्माविष्ट आत्मा भव्य कालेऽर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिक इतीय काललब्धिरेका। अपरा कर्मस्थितिका काललब्धि –उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति? [2]अन्त कोटिकोटिसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु, [3]विशुद्धिपरिणामवशात् [4]सत्कर्मसु च तत सख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्त.कोटिकोटिसाग-
२५ रोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। तथाऽपरा काललब्धि[5]र्भवापेक्षा, सा वक्ष्यते। आदिशब्देन जातिस्मरणादय परिगृह्यन्ते। स पुनर्भव्य पञ्चेन्द्रिय. सज्ञी[6] मिथ्यादृष्टि. पर्याप्तक[7] सर्वविशुद्ध [8]प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति[9]। उत्पादयन्नसौ अन्तर्मुहूर्तमप-
[10]वर्तयति, अपवर्त्य च मिथ्यात्वकर्म त्रिधा विभजते–सम्यक्त्व मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्व चेति।

---

१ –मोहस्य आ०, ब०, द०, मु०। २ किञ्चिन्न्यून। ३ विशुद्ध– मु०। ४ विद्यमानेषु, प्राग्बद्धकर्मस्थितिरिति यावत्। ५ भावा –आ०, ब०, द०, मु०, मू०। ६ शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राही। ७ सम्पूर्णाहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनःपर्याप्तिः। ८ प्रथमं स –आ०, ब०, द०, मु०, मू०। ९ अत्रोपयोग्यार्योक्ता– मिथ्यादृष्टिर्भव्यो द्विविधः संज्ञी समाप्तपर्याप्तः। लब्धिचतुष्टययुक्तोऽयन्तविशुद्धश्चतुर्गतिजः॥ जाग्रदवस्थावस्थः साकारात्मोपयोगसंयुक्तः। योग्यस्थित्यनुभवभाक् सल्लेश्यावृद्धियुक्तश्च॥ त्रिकरणशुद्धि कृत्वाप्यन्तरमुत्पादितत्रिवृङ्मोहः। ···त्पाद्यं दर्शनमनन्तसंसारविच्छेदी॥ १० –मेव वर्तयति आ०, ब०, द०, मु०। –मववर्तयति अववर्त्य च मू०।

दर्शनमोहनीयं कर्मोपशमयन् क्वोपशमयति ? चतसृषु गतिषु । तत्र नारका प्रथमसम्यक्त्व-मुत्पादयन्त पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तका । पर्याप्तकाश्चान्तर्मुहूर्तस्योपरि उत्पादयन्ति नाधस्तात् । एवं सप्तसु पृथिवीषु[1] । तत्रोपरि तिसृषु पृथिवीषु नारकास्त्रिभि कारणै. सम्यक्त्वमुपजनयन्ति–केचिज्जाति स्मृत्वा केचिद्धर्म श्रुत्वा केचिद्वेदनाभिभूता । अधस्तात् चतसृषु पृथिवीषु द्वाभ्या कारणाभ्याम्–केचिज्जाति स्मृत्वा अपरे वेदनाभिभूता । तिर्यञ्चश्चो- ५
त्पादयन्त पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तका । पर्याप्तकाश्च[2] दिवसपृथक्त्वस्योपरि नाध-स्तात् । एवं सर्वेषु द्वीपसमुद्रेषु । तिरश्चा त्रिभि कारणै सम्यक्त्वस्योत्पत्ति –केचिज्जाति स्मृत्वा अपरे धर्म श्रुत्वा अन्ये जिनबिम्ब दृष्ट्वा । मनुष्या उत्पादयन्त पर्याप्तका उत्पाद-यन्ति नापर्याप्तका । पर्याप्तकाश्चाऽष्टवर्षस्थितेरुपर्युत्पादयन्ति नाधस्तात् । एवमर्धतृतीयद्वीप-समुद्रेषु । तेषा त्रिभि कारणै [3]सम्यक्त्वस्योत्पत्ति –केषाञ्चिज्जातिस्मरणाद् अपरेषा धर्म- १०
श्रवणाद् अन्येषा जिनबिम्बदर्शनात् । देवा सम्यक्त्वमुत्पादयन्त पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तका । पर्याप्तकाश्चान्तर्मुहूर्तस्योपरि नाधस्तात् । एवमा [4]उपरिमग्रैवेयकेभ्य. । देवा भवनवास्यादय आसहस्रारकल्पाच्चतुर्भि कारणै प्रथमसम्यक्त्वं लभन्ते–केचिज्जातिस्मरणेन इतरे धर्मश्रवणेन अपरे जिनमहिमावेक्षणेन अन्ये देवर्धिनिरीक्षणेन । आनतप्राणतारणाच्यु-तेषु तैरेव देवर्धिविरहितै । नवसु ग्रैवेयकेषु द्वाभ्या कारणाभ्याम्–जातिस्मरणाद्धर्मश्रवणाच्च । १५
उपरि देवा नियमेन सम्यग्दृष्टय ।

अष्टाविंशतिमोहविकल्पोपशमादौपशमिकं चारित्रम् ।३। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्या-ख्यानसंज्वलनविकल्पा षोडश कषाया, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपु नपु सकवेदभेदा[5] नव नोकषाया इति, एवं चारित्रमोह पञ्चविंशतिविकल्प । मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्त्व-भेदात् त्रितयो दर्शनमोह । एषामष्टाविंशतिमोहविकल्पानामुपशमादौपशमिक चारित्रम् । २०

सम्यक्त्वस्यादौ वचनं तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ।४। पूर्वं हि सम्यक्त्वपर्यायेणाविर्भावि आत्मनस्तत क्रमाच्चारित्रपर्याय आविर्भवतीति सम्यक्त्वस्यादौ गृहण क्रियते ।

यः क्षायिको भावो नवविध उद्दिष्टः [6]तस्य भेदस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह–

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

चशब्देन सम्यक्त्वचारित्रे समुच्चीयेते । २५

ज्ञानदर्शनावरणक्षयात् केवले क्षायिके ।१। ज्ञानावरणस्य कर्मण दर्शनावरणस्य च कृत्स्नस्य[7] क्षयात् केवले ज्ञानदर्शने क्षायिके भवत[8] ।

अनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं सकलदानान्तराय[9]संक्षयादभयदानम् ।२। दानान्तरायस्य कर्मणो-ऽत्यन्तसक्षयादाविर्भूतं त्रिकालगोचरानन्तप्राणिगणानुग्रहकर क्षायिकमभयदानम् ।

अशेषलाभान्तरायनिरासात् परमशुभपुद्गलानामादानं लाभः ।३। लाभान्तरायस्याशेष- ३०
निरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणा केवलिना यत शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासा-धारणाः परमशुभा. सूक्ष्मा अनन्ता. प्रतिसमयं पुद्गला. संबन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभ ।

---

१ पृथ्वीषु ता०, श्र० । २ मुख्यवृत्त्या भोगभूमिजापेक्षया । ३ सम्यक्त्वोत्पत्तिः श्र० । ४ उपरिग्रै–श्र०, मू० । ५ –वेदा नव आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ तद्भेदस्व –आ०, ब०, मु० । ७ –स्य च क्ष–आ०, ब०, मु०, द०, ता० । ८ तथा चोक्तम्– केवलदर्शनबोधौ समस्तवस्तुप्रकाशिनौ युगपत् । विनकृत्प्रकाशतापवदावरणाभावतो नित्यम् ॥ इति । ९ –यक्षया– आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

तस्मात् *"औदारिकशरीरस्य किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिवर्षस्थितिः कवलाहारमन्तरेण कथं संभवति" [ ] इति यद्वचन तदशिक्षितकृत विज्ञायते ।

कृत्स्नभोगान्तरायतिरोभावात् परमप्रकृष्टो भोगः ।४। कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभावादाविर्भूतोऽतिशयवाननन्तो भोग क्षायिक । यत्कृता पञ्चवर्णसुरभिकुसुमवृष्टि-विविध-दिव्यगन्ध-चरणनिक्षेपस्थानसप्तपद्मपङ्क्ति-सुगन्धिधूप-सुखशीतमारुतादयो भावा ।

निरवशेषोपभोगान्तरायप्रलयादनन्तोपभोगः क्षायिकः ।५। निरवशेषस्योपभोगान्तराय-कर्मण. प्रलयात् प्रादुर्भूतोऽनन्त उपभोग क्षायिक । यत्कृता सिंहासन-वालव्यजनाशोकपादप-छत्रत्रय-प्रभामण्डल-गम्भीरस्निग्धस्वरपरिणाम-देवदुन्दुभिप्रभृतयो भावा ।

वीर्यान्तरायात्यन्तसक्षयादनन्तवीर्यम् ।६। आत्मन. सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धिनो वीर्यान्तराय-कर्मणोऽत्यन्तसक्षयादुद्भूतवृत्ति क्षायिकमनन्तवीर्यम् ।

पूर्वोक्तमोहप्रकृतिनिरवशेषक्षयात् सम्यक्त्वचारित्रे ।७। पूर्वोक्तस्य दर्शनमोहत्रिकस्य चारित्रमोहस्य च पञ्चविंशतिविकल्पस्य निरवशेषक्षयात् क्षायिके सम्यक्त्वचारित्रे भवतः ।

यद्यनन्तदानलब्ध्यादय उक्ता अभयदानादिहेतवो दानान्तरायादिसक्षयाद्भवन्ति[1] सिद्धेष्वपि तत्प्रसङ्गः; नैष दोष, शरीर[2]नामतीर्थकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषा तदभावे तदप्रसङ्ग, [3]परमानन्दाव्याबाधरूपेणैव [4]तेषा तत्र वृत्ति, केवलज्ञानरूपेण अनन्तवीर्यवृत्तिवत् ।

सिद्धत्वमपि क्षायिकमागमोपदिष्टमस्ति तस्योपसख्यानमिह कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम्; विशेषेषु निर्दिष्टेषु तद्विषय सामान्यमनुक्तसिद्धमेव पर्वादिनिर्देशे अङ्गुलिसिद्धिवत् । सिद्धत्व हि सर्वेषा क्षायिकाणा भावाना साधारणमिति ।

य उक्त क्षायोपशमिको भावोऽष्टादशविकल्पस्तद्भेदनिरूपणार्थमाह–

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।५।

चतुरादीनां कृतद्वन्द्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ।१। चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पञ्च च चतुस्त्रित्रिपञ्च, ते भेदा यासा ताश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदा इति द्वन्द्वगर्भा वृत्ति । त्रिशब्दस्य द्वन्द्वापवाद एकशेष कस्मान्न भवति ? [5]सख्यया अर्थासप्रत्ययाद् अन्यपदार्थत्वाच्चानेकशेष, पृथगभिधाने प्रयोजनसद्भावाच्च ।

यथाक्रमवचनं ज्ञानादिभिरानुपूर्व्यसंबन्धार्थम् ।२। इह यथाक्रममिति वक्तव्यम् । कि प्रयोजनम् ? चतुर्भेद ज्ञानमित्येवमाद्यभिसबन्धार्थ तत्तर्हि वक्तव्यम्; न वक्तव्यम्; यथाक्रम-मित्यनुवर्तते । क्व प्रकृतम् ? *"द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्" [त० सू० २।२] इति ।

कस्य क्षयात् कस्य चोपशमात् क्षायोपशमिको भावो भवतीति ? उच्यते—

सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव [6]सदुपशमाद्देशघाति[7]स्पर्धकानामुदये क्षायोपशमिको भाव ।३। द्विविध स्पर्धकम्–देशघातिस्पर्धक सर्वघातिस्पर्धक चेति । तत्र यदा सर्वघातिस्प-र्धकस्योदयो भवति तदेषदप्यात्मगुणस्याभिव्यक्तिर्नास्ति तस्मात्तदुदयस्याभाव क्षय

---

१ तर्हि । २ शरीरनामकर्मो– आ०, ब०, मु० । ३ परमानन्ताव्या– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ४ तेषां च तत्र आ०, ब०, द०, मु० । अभयदानादीनाम् । ५ संख्याया अर्थासप्रत्ययादस्याप– ता०, श्र०, मू०, ज० । ६ संश्चासौ उपशमश्च तस्मात् । ७ घातिकर्माणि सर्वघातीनि देशघातीनीति द्विविधानि भवन्ति, तत्र सर्वघातीनि– केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायवारसयं । मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधुदये ॥ णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मग च संजलणं । णव णोकसायविग्घं छव्वीसा देसघादीओ ॥

इच्युच्यते । तस्यैव सर्वघातिस्पर्धकस्यानुदयप्राप्तस्य सदवस्था उपशम इत्युच्यते अनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तित्वात्, आत्मसाद्भावितसर्वघातिस्पर्धकस्योदयक्षये देशघातिस्पर्धकस्य चोदये सति [1]सर्वघाताभावादुपलभ्यमानो भाव क्षायोपशमिक इत्युच्यते ।

किमिद स्पर्धक नाम ? उच्यते–

अविभागपरिच्छिन्नकर्मप्रदेशरस[2]भागप्रचय[3]पङ्क्तेः क्रमवृद्धिः क्रमहानिः स्पर्धकम् ।४। उदयप्राप्तस्य कर्मण प्रदेशा अभव्यानामनन्तगुणा. सिद्धानामनन्तभागप्रमाणा । तत्र सर्वजघन्यगुणः प्रदेश परिगृहीत, तस्यानुभागः[4] प्रज्ञाछेदेन [5]तावद्भा परिच्छिन्न यावत्पुनर्विभागो न भवति । ते अविभागपरिच्छेदा [6] सर्वजीवानामनन्तगुणा, एको राशि कृत । एव तत्प्रमाणा सर्वे तथैव परिच्छिन्ना पङ्क्तीकृता वर्गा [7] वर्गणा । अपर एकाविभागपरिच्छेदाधिक प्रदेश परिगृहीत, तथैव तस्याविभागपरिच्छेदा कृता । स एको [8]राशिर्वर्ग । तथैव समगुणा पङ्क्तीकृता. वर्गा वर्गणा । एव पङ्क्तय कृता यावदेकाविभागपरिच्छेदाधिकलाभम् । तदलाभे अन्तर भवति । एवमेतासा पङ्क्तीना[9] विशेषहीनाना क्रमवृद्धिक्रमहानियुक्ताना समुदय स्पर्धकमित्युच्यते । तत उपरि द्वित्रिचतुसख्येयासख्येयगुणरसा न लभ्यन्ते अनन्तगुणरसा एव । तत्रैकप्रदेशो जघन्यगुण परिगृहीत, तस्य चानुभागाविभागपरिच्छेदा पूर्ववत्कृता । एव समगुणा वर्गा समुदिता वर्गणा[10] भवति[11] । एकाविभागपरिच्छेदाधिका पूर्ववद्विरलीकृता वर्गा वर्गणाश्च भवन्ति यावदन्तर भवति तावदेक स्पर्धक भवति । एवमनेन क्रमेण विभागे क्रियमाणेऽभव्यानामनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागप्रमाणानि स्पर्धकानि भवन्ति । तदेतत्समुदितमेकमुदयस्थान भवति ।

तत्र ज्ञानं चतुर्विधं क्षायोपशमिकमाभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति ।५। वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणाना सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् सदुपशमाच्च देशघातिस्पर्धकानामुदये[12] मतिज्ञान श्रुतज्ञान च भवति । देशघातिस्पर्धकाना रसस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगाद् गुणघातस्यातिशयानतिशयवत्त्वात् तज्ज्ञानभेदो भवति । एवमवधिमन पर्ययज्ञानयोरपि स्वावरणक्षयोपशमभेदात् क्षायोपशमिकत्व वेदितव्यम् ।

अज्ञानं त्रिविधं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गं चेति ।६। तेषा क्षायोपशमिकत्वं पूर्ववत् । ज्ञानाज्ञानविभागस्तु मिथ्यात्वकर्मोदयानुदयापेक्ष ।

दर्शनं त्रिविधं क्षायोपशमिकं [13]चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं चेति ।७। एतत्त्रितयमपि पूर्ववत् स्वावरणक्षयोपशमापेक्ष द्रष्टव्यम् ।

लब्धयः पञ्च क्षायोपशमिक्यः[14] दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिश्चेति ।७। दानान्तरायादिसर्वघातिस्पर्धकक्षयोपशमे देशघातिस्पर्धकोदयसद्भावे ताः

---

१ सर्वघात्यभा– आ०, ब०, द०, मु० । २ वीर्य । ३ –पंक्तिक्रम– आ०, ब०, द०, मु०, म०, ता० । ४ वीर्यम् । ५ तावद्वारपरि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ ते किंप्रमाणा इत्याह । ७ –र्गाः अप– द० । ८ राशिः त– ता०, श्र० । ९ वर्गणानाम्– मू० टि०, श्र० टि० । १० अकर्मकर्मनोकर्मजातिभेदेषु वर्गणा । ११ भवन्ति ता० श्र०, मू० । १२ –ये सति मति– मु० । १३ उक्तञ्चाराधनासारे तल्लक्षणम्– चक्षुर्ज्ञानात्पूर्वं प्रकाशरूपेण विषयसन्दर्शि । यच्चैतन्यं प्रसरति तच्चक्षुर्दर्शनं नाम ॥ शेषेन्द्रियावबोधात् पूर्वं तद्विषयदर्शि यज्ज्योतिः । निर्गच्छति तदचक्षुर्दर्शनसज्ञं स्वचैतन्यम् ॥ अवधिज्ञानात्पूर्वं रूपिपदार्थावभासि यज्ज्योतिः । प्रविनिर्याति स्वस्मान्नामावधिदर्शनं तत्स्यात् ॥ इति । १४ –शमिकाः दा– आ०, ब०, द०, मु० ।

पञ्च लब्धयो भवन्ति । सम्यक्त्वग्रहणेन वेदकसम्यक्त्वमिह परिगृह्यते । अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात् सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्धकस्योदये सति तत्त्वार्थश्रद्धान क्षायोपशमिक सम्यक्त्वम् । अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात् सदुपशमाच्च सज्वलनकषायचतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्धकोदये सति नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मन. क्षायोपशमिक चारित्रम् । अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदयक्षयात् सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषायोदये [1]सज्वलनकषायस्य देशघातिस्पर्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासभवोदये च विरताविरतपरिणाम क्षायोपशमिक सयमासयमः।

संज्ञित्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोगोपसंख्यानमिति चेत्; न; ज्ञानसम्यक्त्वलब्धिग्रहणेन गृहीतत्वात् ।९। स्यादेतत्–सज्ञित्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोगोपसख्यान कर्तव्यम्, तेऽपि हि क्षायोपशमिका इति; तन्न; कि कारणम् ? ज्ञानसम्यक्त्वलब्धिग्रहणेन गृहीतत्वात् । सज्ञित्व हि मतिज्ञानेन गृहीतं सम्यङ्मिथ्यात्व सम्यक्त्वग्रहणेन, नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षत्वात्, उभयात्मकस्य एकात्मपरिग्रहाच्च उदकव्यति[2]मिश्रक्षीरव्यपदेशवत् । योगश्च वीर्यलब्धिग्रहणेन गृहीत इति । अथवा, चशब्देन समुच्चयो वेदितव्य । अथ पञ्चेन्द्रियत्वे समाने नोइन्द्रियावरणक्षयोपशम. [3]कस्यचिद्भवति कस्यचिन्नेति कुतोऽयं विकल्प ? उच्यते–सज्ञिजातिनामकर्मविशेषोदयबललाभे सति नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमो भवति, तदभावे न भवतीत्यय विशेष, एकेन्द्रियजातिनामा[4]द्युदयविशेषापेक्षया [5]एकेन्द्रियादिक्षयोपशमभेदवत् ।

य एकविंशतिविकल्प औदयिको भाव उद्दिष्ट तस्य भेदसंज्ञाकीर्तनार्थमिदमारभ्यते–

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

गत्यादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्व, चतुरादीनां च द्वन्द्वगर्भा अन्यपदार्थप्रधाना वृत्ति । पूर्ववदेकशेषाभाव ।

गतिनामकर्मोदयादात्मनस्तद्भावपरिणामाद् गतिरौदयिकी ।१। येन कर्मणा आत्मनो नारकादिभावावाप्तिर्भवति तद् गतिनाम चतुर्विधम्–नरकगतिनाम तिर्यग्गतिनाम मनुष्यगतिनाम देवगतिनाम चेति । तत्र नरकगतिनामकर्मोदयान्नारको भावो भवतीति औदयिक । एव तिर्यग्गतिनामकर्मोदयात्तिर्यग्भाव औदयिक । मनुष्यगतिनामकर्मोदयात् मनुष्यभाव औदयिक । देवगतिनामकर्मोदयाद् देवभाव औदयिक ।

[6]चारित्रमोहविशेषोदयात् कलुषभावः कषाय औदयिकः ।२। चारित्रमोहस्य कषायवेदनीयस्योदयादात्मन कालुष्य क्रोधादिरूपमुत्पद्यमान 'कषत्यात्मान हिनस्ति' इति कषाय इत्युच्यते । स औदयिकश्चतुर्विध –क्रोधो मानो माया लोभश्चेति । तद्भेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसज्वलनविकल्पा. ।

---

१ समुदायरूपस्यास्य अवयवरूपं स्पर्द्धकम् । २ –व्यामि– आ०, ब०, द०, मु० । ३ कस्यचिद्भवे भ– आ०, ब०, द०, मु० । ४ आदिशब्देन द्वीन्द्रियजातिनामादिकं गृह्यते । ५ स्पर्शनेन्द्रियावरणादि । ६ चारित्रमोहोदयात् आ०, ब०, द०, मु० ।

वेदोदयापादितोऽभिलाषविशेषो लिङ्गम् ।३। लिङ्ग द्विविधम्–द्रव्यलिङ्ग भावलिङ्ग च। तत्र यद् द्रव्यलिङ्ग नामकर्मोदयापादित तदिह नाधिकृतम् आत्मपरिणामप्रकरणात्। भावलिङ्गमात्मपरिणाम स्त्रीपुंनपुसकान्योन्याभिलाषलक्षण । स पुनश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेदपु वेदनपुंसकवेदस्योदयाद्भवतीत्यौदयिक ।

दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम् ।४। तत्त्वार्थरुचिस्वभावस्यात्मन ५
तत्प्रतिबन्धकारणस्य दर्शनमोहस्योदयात् तत्त्वार्थेषु निरूप्यमाणेष्वपि न श्रद्धानमुत्पद्यते तन्मिथ्यादर्शनमौदयिकमित्याख्यायते।

ज्ञानावरणोदयादज्ञानम् ।५। ज्ञस्वभावस्यात्मन. तदावरणकर्मोदये सति नावबोधो भवति तदज्ञानमौदयिकम्, घनसमूहस्थगितदिनकरतेजोऽनभिव्यक्तिवत्। तद्यथा–एकेन्द्रियस्य रसनघ्राणश्रोत्रचक्षुषामिन्द्रियाणा प्रतिनियताभिनिबोधिकज्ञानावरणस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयात् रसगन्धशब्दरूपाज्ञानं यत्तदौदयिकम्। एव द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु शेषेन्द्रियविषयाज्ञान वाच्यम्। पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु शुकसारिकादिवर्जितेषु मनुष्येषु च [1]केषुचिद् अक्षरश्रुतावरणस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयाद् अक्षरश्रुतनिर्वृत्त्यभावादक्षरश्रुताज्ञानमौदयिकम्। नोइन्द्रियावरणस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयाद्धिताहितपरीक्षा प्रत्यसामर्थ्यम् असज्ञित्वमौदयिकम्, तदप्यत्रैवान्तर्भवति। एवमवधिमन पर्ययकेवलज्ञानावरणोदयात् प्रत्येकमज्ञानमौदयिक वाच्यमिति। १०, १५

चारित्रमोहोदयादनिवृत्तिपरिणामोऽसंयतः ।६। चारित्रमोहस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयात् प्राण्युपघातेन्द्रियविषये द्वेषाभिलाषनिवृत्तिपरिणामरहितोऽसयत औदयिक ।

कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्धः ।७। अनादि[2]कर्मबन्धसन्तानपरतन्त्रस्यात्मन कर्मोदयसामान्ये सति असिद्धत्वपर्यायो भवतीत्यौदयिक । स पुनर्मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसाम्परायिकान्तेषु कर्माष्टकोदयापेक्ष, [3]शान्तक्षीणकषाययो सप्तकर्मोदयापेक्ष, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोरघातिकर्मोदयापेक्ष । २०

कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या ।८। द्विविधा लेश्या–द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति। तत्र द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकिकर्मोदयापादितेति सा नेह परिगृह्यत आत्मनो भावप्रकरणात्। भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते। ननु च योगप्रवृत्तिरात्मप्रदेशपरिस्पन्दक्रिया, सा वीर्यलब्धिरिति क्षायोपशमिकी व्याख्याता, कषायश्चौदयिको व्याख्यात, ततो लेश्याऽनर्थान्तरभूतेति: नैष दोष:; कषायोदयतीव्रमन्दावस्थापेक्षाभेदाद् अर्थान्तरत्वम्। सा षड्विधा–कृष्णलेश्या नीललेश्या कपोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति। तस्यात्मपरिणामस्याऽशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षापेक्षया कृष्णादिशब्दोपचार क्रियते । २५

ननु च 'उपशान्तकषाये क्षीणकषाये सयोगकेवलिनि च शुक्ला लेश्यास्ति' इत्यागम[4], तत्र कषायानुरञ्जनाभावादौदयिकीत्व[5] नोपपद्यते; नैष दोष; पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया यासौ [6]योगप्रवृत्तिः कषायानुरञ्जिता 'सैवेयम्' इत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते। [7]तदभावादयोगिकेवल्यलेश्य इति च निश्चीयते । ३०

अत्र [8]चोद्यते–यथा अज्ञानमौदयिकम् एवमदर्शनमपि दर्शनावरणोदयाद्भवतीत्यौदयिकम्, निद्रानिद्रादयश्चौदयिका, वेदनीयोदयात् सुखदु खमौदयिकम्, नोकषायाश्च हास्यरत्यादयः

---

१ मूकेषु । २ अज्ञाने । ३ –कर्मसंबन्धस– आ०, ब०, मु० । ४ मोहनीयकर्माभावात् । ५ "सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलित्ति" –षट्खं० सं० सू० १३९ । ६ –दयिकत्वं आ०, ब०, ड०, मु० । ७ योगवृत्तिः ता०, श्र०, मू०, द० । ८ योगाभावात् । ९ चोद्यं प्रश्ने च विस्मये ।

षडौदयिकाः, आयुरुदयाद्भवधारण भवत्यौदयिकम्, उच्चैर्नीचैर्गोत्रकर्मोदयादुच्चनीचगोत्रपरिणामो भवतीत्यौदयिकः, नामकर्मणि च जात्यादय औदयिका, एतेषामपरिग्रहान्न्यूनं लक्षणमिति। अथ मतम्–आत्मपरिणामस्याधिकृतत्वाच्छरीरादीनामौदयिकत्वेऽपि पुद्गलविपाकित्वात् तेषामसग्रह इतिः एवमपि ये जीवविपाकिनस्तेषा ग्रहण कर्तव्य जात्यादीनाम् ? अत उत्तर पठति–

मिथ्यादर्शनेऽदर्शनावरोधः।९। मिथ्यादर्शने अदर्शनस्यावरोधो भवति। निद्रानिद्रादीनामपि दर्शनसामान्यावरणत्वात्तत्रैवान्तर्भाव । ननु च तत्त्वार्थश्रद्धान मिथ्यादर्शनमित्युक्तम्; सत्यमुक्तम्, सामान्यनिर्देशे विशेषान्तर्भावात्, सोऽप्येको विशेष.। अयमपरो विशेष.–अदर्शनमप्रतिपत्तिर्मिथ्यादर्शनमिति ।

लिङ्गग्रहणे हास्यरत्याद्यन्तर्भावः सहचारित्वात्।१०। लिङ्गग्रहणे हास्यरत्यादीनामन्तर्भावो भवति। कुतः ? सहचारित्वात्, पर्वतग्रहणेन नारदग्रहणवत् ।

गतिग्रहणमद्यात्युपलक्षणम्।११। अघातिकर्मोदयापादिता ये भावाः तेषा गतिग्रहणमुपलक्षणं यथा 'काकेभ्यो रक्षता सर्पिः' इति काकग्रहणमुपघातकोपलक्षणम्। तेन जात्यादयो भावा नामकर्मविशेषोदयापादिता वेदनीयायुर्गोत्रोदयकृताश्च गृह्यन्ते ।

इह यथाक्रममिति वक्तव्य गतिश्चतुर्विधेत्येवमाद्यानुपूर्व्यसंप्रत्ययार्थम्; न वक्तव्यम्, 'यथाक्रमम्' इत्यनुवर्तते ।

य पारिणामिको भावस्त्रिभेद उक्त, तद्विकल्पस्वरूपप्रतिपानादर्थमाह–

जीवभव्याऽभव्यत्वानि च ॥७॥

अन्यद्रव्यासाधारणास्त्रयः पारिणामिकाः[1]।१। जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमित्येते पारिणामिका आत्मनस्त्रयो भावा अन्यद्रव्यासाधारणा वेदितव्या । कुत पुनरेषा पारिणामिकत्वम् ?

कर्मोदय[2]क्षयोपशमक्षयोपशमानपेक्षत्वात्।२। न ह्येवविधं कर्मास्ति यस्योदयात् [3]क्षयात् उपशमात् क्षयोपशमाद्वा जीवो भव्योऽभव्य[4] इति चोच्येत[5]। तदभावादनादिद्रव्यभवनसबन्धपरिणामनिमित्तत्वात् पारिणामिका इति व्यपदिश्यन्ते।

आयुर्द्रव्यापेक्षं जीवत्वं न पारिणामिकमिति चेत्; न; पुद्गलद्रव्यसंबन्धे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात्।३। स्यादेतत्–आयुर्द्रव्योदयाज्जीवतीति जीवो नानादिपारिणामिकत्वादिति; [6]तन्न; कि कारणम् ? पुद्गलद्रव्यसबन्धे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात्। आयुर्हि पौद्गलिक द्रव्यम्। यदि च तत्सबन्धाज्जीवस्य[7] जीवत्व स्यात्; नन्वेवमन्यद्रव्यस्यापि धर्मादेरायु सबन्धाज्जीवत्वं स्यात् । किञ्च,

सिद्धस्याजीवत्वप्रसङ्गात्।४। यद्यायु सबन्धापेक्षं जीवत्वं ननु सिद्धस्यायुरभावादजीवत्व प्रसज्येत। ततस्तदनपेक्षत्वाज्जीवत्व पारिणामिकमेव।

जीवे त्रिकालविषयविग्रहदर्शनादिति चेत्; न; रूढिशब्दस्य निष्पत्त्यर्थत्वात्।५। स्यान्मतम्–'जीवति अजीवीत् जीविष्यति' इति त्रिकालविषयो विग्रहो दृश्यते तत प्राणधारणार्थ-

---

१ परिणामः स्वभावः प्रयोजनमस्य । २ –यक्षयक्षयो– श्र०, ता०, मु०, ब० । ३ क्षयात् क्षयो– आ०, ब०, द०, श्र०, ता०, मु० । ४ –व्यो वेति चोच्यते आ०, ब०, मु० । ५ चोच्यते द० । ६ चेन्न मु० । ७ –न्धाज्जीवत्वं आ०, ब०, द०, मु० ।

त्वात् कर्मापेक्षत्वे न पारिणामिकत्वमिति; तच्च न; कस्मात् ? रूढिशब्दस्य निष्पत्त्यर्थत्वात्। रूढिशब्देषु हि क्रियोपात्तकाला व्युत्पत्त्यर्थैव न तन्त्रम्,[1] यथा गच्छतीति गौरिति ।

चैतन्यमेव वा जीवशब्दार्थः[2] ।६। अथवा, चैतन्यं जीवशब्देनाभिधीयते, तच्चानादिद्रव्यभवननिमित्तत्वात् पारिणामिकम् ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः।७। भव्यादीना प्रायेण भविष्यत्कालविषयत्वात् 'सम्यग्दर्शनादिपर्यायेण य आत्मा भविष्यति स भव्य' इतीम व्यपदेशमास्कन्दति । ५

तद्विपरीतोऽभव्यः ।८। यो न तथा भविष्यत्यसावभव्य इत्युच्यते । किं कृतोऽयं विशेष ? द्रव्यस्वभावकृत, अत पारिणामिकत्वमनयो ।

योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेत्; न; भव्यराश्यनन्तभावात् ।९। स्यादेतत्–अनन्तकालेनापि यो[4] न सेत्स्यत्यसौ अभव्यतुल्यत्वादभव्य एव । अथ सेत्स्यति सर्वो भव्य ; तत उत्तरकालं भव्यशून्यं जगत् स्यादिति ? तन्न; किं कारणम् ? भव्यराश्यनन्तभावात् । यथा [5]योऽनन्तकालेनापि कनकपाषाणो न कनकीभविष्यति न तस्यान्धपापाणत्व कनकपाषाणशक्तियोगात्, यथा वा आगामिकालो योऽनन्तेनापि कालेन नागमिष्यति न तस्यागामित्व हीयते, तथा भव्यस्यापि स्वशक्तियोगाद् असत्यामपि व्यक्तौ न भव्यत्वहानि । १०

भावस्यैकत्वनिर्देशो युक्त इति चेत्; न; द्रव्यभेदाद्भावभेदसिद्धेः ।१०। स्यादेतत्–'जीवश्च भव्यश्चाऽभव्यश्च जीवभव्याभव्या' इति द्वन्द्वे कृते तेषा भावे विवक्षिते एकत्वनिर्देशो युक्तो जीवभव्याभव्याना भावो जीवभव्याभव्यत्वमिति ? तन्न; किं कारणम्? द्रव्यभेदाद्भावभेदसिद्धे । नहि 'भाव एकत्वेन वक्तव्य' इति नियमोऽस्ति, ततो द्रव्यभेदाद्भेदे सति बहुत्वनिर्देशो युक्तो जीवभव्याभव्याना भावा जीवभव्याभव्यत्वानीति । पुन प्रत्येकमभिसबन्धो भवति–जीवत्व भव्यत्वमभव्यत्वमिति । १५ २०

द्वितीयगुणग्रहणमार्षोक्तत्वादिति चेत्; न; तस्य नयापेक्षत्वात् ।११। अथ मतम्–द्वितीयगुणग्रहणमिह कर्तव्यम् । कोऽसौ [6]'द्वितीयो गुण ? सासादनसम्यग्दृष्टि । सोऽपि जीवस्यासाधारण पारिणामिक । एव हृषार्षे [7]उक्तम्–*"**सासादनसम्यग्दृष्टिरिति को भावः ? पारिणामिको भावः**" [षट्ख०] इति । न कर्तव्यम् ; कुत ? तस्य नयापेक्षत्वात्। मिथ्यात्वकर्मण उदयं क्षयमुपशम[8] क्षयोपशम वा नापेक्षत इत्यार्षे पारिणामिक, इह पुनरसावौदयिक इत्येव गृह्यते अनन्तानुबन्धिकषायोदयात्तस्य निर्वृत्ते । २५

चशब्द किमर्थ ?

अस्तित्वान्यत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व-पर्यायवत्त्वाऽसर्वगतत्वाऽनादिसन्ततिबन्धनबद्धत्व-प्रदेशवत्त्वारूपत्व-नित्यत्वादिसमुच्चयार्थश्चशब्दः ।१२। अस्तित्वादयोऽपि पारिणामिका भावा सन्ति तेषा समुच्चयार्थश्चशब्द । यदि तेऽपि पारिणामिका. सूत्रे तेषा ग्रहण कस्मान्न कृतम् ? ३०

अन्यद्रव्यसाधारणत्वादसूत्रिताः ।१३। अस्तित्वादयो हि धर्मा अन्येषामपि द्रव्याणा साधारणास्ततस्ते न सूत्रिता. । तद्यथा–अस्तित्व तावत्साधारण षड्द्रव्यविषयत्वात् । तत् [8]कर्मोदयक्षयक्षयोपशमानपेक्षत्वात् पारिणामिकम् ।

---

१ प्रधानम् । २ –शब्दस्यार्थः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ भव्यः । ४ योऽनन्तेनापि कालेन क– आ०, ब०, मु० । ५ द्वितीयगुणः आ०, ब०, द०, मु० । ६ "सासणसम्मादिट्ठित्ति को भावो पारिणामिओ भावो।" –षट्खं० भा० ३ । ७ –मं वा ना– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ८ कर्मोदयक्षयोप– श्र०, ता०, मू० ।

अन्यत्वमपि साधारणं सर्वद्रव्याणां परस्परतोऽन्यत्वात् । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् तदपि पारिणामिकम् ।

कर्तृत्वमपि साधारण क्रियानिष्पत्तौ सर्वेषा स्वातन्त्र्यात् । ननु च जीवपुद्गलाना क्रियापरिणामयुक्ताना कर्तृत्व युक्तम्, धर्मादीना कथम् ? तेषामपि अस्त्यादिक्रियाविषयमस्ति कर्तृत्वम् । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् तदपि पारिणामिकम् । ननु चात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य योगसज्ञकस्य यत्कर्तृत्व न तत्साधारणमिति असाधारणेषूपसख्येयम्; न; तस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वात् । यदस्य पुण्यपापयो कर्तृत्व तदन्यद्रव्याणामसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम् । कस्मात् ? उदयक्षयोपशमनिमित्तत्वात् । मिथ्यादर्शनं हि दर्शनमोहोदयनिमित्तम्, अविरतिप्रमादकषाया चारित्रमोहोदयनिमित्ता, योगाश्च क्षायोपशमिका इति । अन्यद्रव्यासाधारणानादिपारिणामिकचैतन्यसन्निधाने पुण्यपापयो कर्तृत्वमिति पारिणामिकमिति चेत्; न; सार्वकालिककर्तृत्वप्रसङ्गात् । मुक्तानामपि चैतन्यमस्तीति पुण्यपापयो कर्तृत्व स्यात्, ससारिणा चाविशिष्ट स्यात् चैतन्यकारणस्याभेदात् ।

भोक्तृत्वमपि साधारणम् । कुत ? तल्लक्षणोपपत्ते । वीर्यप्रकर्षात् परद्रव्यवीर्यादानसामर्थ्यं भोक्तृत्वलक्षणम् । यथा आत्मा आहारादे परद्रव्यस्यापि वीर्यात्मसात्करणाद्भोक्ता, तथा विपस्याचेतनस्य वीर्यप्रकर्षात् कोद्रवद्रव्यादिसारसग्रहाद्भोक्तृत्वम् । लवणादीना च वीर्यप्रकर्षात् काष्ठादिद्रव्यलवणकरणाद्भोक्तृत्वम् । कर्मोदयापेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । यत्तु आत्मन शुभाशुभकर्मफलस्योपभोक्तृत्व न तत्साधारण न च पारिणामिकम्; तस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वात्, वीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाद् आत्मन शुभाशुभकर्मफलोपभोगे सामर्थ्यमाविर्भवति । आहारादिवीर्यात्मसात्करणलक्षणोपभोगश्च भोगान्तरायक्षयोपशमात्, उपात्तस्य च जरण वीर्यान्तरायक्षयोपशमात् । कर्म अन्तरेण विषादीना कथ भोक्तृत्वमिति चेत् ? प्रतिनियतशक्तित्वाद् द्रव्याणा भास्करप्रतापवत् ।

पर्यायवत्त्वमपि साधारण सर्वद्रव्याणा प्रतिनियतपर्यायोपपत्ते । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् ।

असर्वगतत्वमपि साधारण परमाण्वादीनामविभुत्वात्, धर्मादीना च परिमितासख्यातप्रदेशत्वात् । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । यदस्य कर्मोपात्तशरीरप्रमाणानुविधायित्व तदसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम्; कर्मनिमित्तत्वात् ।

अनादिसन्ततिबन्धनबद्धत्वमपि साधारणम् । कस्मात् ? सर्वद्रव्याणा स्वात्मीयसन्तानबन्धनबद्धत्व प्रत्यनादित्वात् । सर्वाणि हि द्रव्याणि जीवधर्माधर्माकाशकालपुद्गलाख्यानि प्रतिनियतानि पारिणामिकचैतन्योपयोग-गति-स्थित्यवकाशदान-वर्तनापरिणाम-वर्णगन्धरसस्पर्शादिपर्यायसन्तानबन्धनबद्धानि । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । यदस्यानादिकर्मसन्ततिबन्धनबद्धत्व तदसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम्; कर्मोदयनिमित्तत्वात् । वक्ष्यते हि *"अनादिसंबन्धे च । सर्वस्य" [त०सू० २।४१,४२] इति ।

---

१ –याविशेषविषयकम– आ०, ब०, मु० । २ जीवभव्याभव्यत्वेषु । ३ परस्परम् । ४ अयं पुण्यवानयं पाप इति, अथवा यत्पुण्यवान् स तद्वानेव यः पापी स तद्वानेवेति । ५ –नां वी– श्र० । ६ यथा भास्करप्रतापः पाषाणवालुकादीन् तपति न तथा तस्य तापकं द्रव्यमस्ति अपि तु स्वयमेव । ७ कर्मोदयापे– द०, मू०, ता०, श्र० । ८ –बद्धानिकर्मोदयत्वं भा० ।

प्रदेशवत्त्वमपि साधारणं संख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रदेशोपेतत्वात् सर्वद्रव्याणाम् । तदपि कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् ।

अरूपत्वमपि साधारण जीवधर्माधर्मकालाकाशाना रूपयोगाभावात् । तदपि कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् ।

नित्यत्वमपि साधारणं द्रव्यार्थादेशात् सर्वद्रव्याणां व्ययोदययोगाभावात् । तच्च कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् । ५

ऊर्ध्वगतित्वमपि साधारणम् अग्न्यादीनामूर्ध्वगतिपारिणामिकत्वात् । तच्च कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् । एवमन्ये चात्मन साधारणा पारिणामिका योज्या ।

अनन्तरसूत्रनिर्दिष्टोपसंग्रहार्थश्चशब्द इति चेत्; न; अनिष्टत्वात् ।१४। स्यान्मतम्–अनन्तरसूत्रे निर्दिष्टाना गत्यादीनामुपसग्रहार्थश्चशब्दो न अस्तित्वादिसमुच्चयार्थ इति; तन्न; १०
कि कारणम् ? अनिष्टत्वात् । नहि गत्यादीना पारिणामिकत्वमिष्यते तल्लक्षणाभावात् ।

त्रिभेदपारिणामिकभावप्रतिज्ञानाच्च ।१५। यतश्चौपशमिकादिभावसख्याविधायिनि सूत्रे त्रिभेद पारिणामिक इति प्रतिज्ञातम्, अतो न गत्यादिसमुच्चयार्थश्चशब्द ।

गत्यादीनामुभयवत्त्वं क्षायोपशमिकभाववदिति चेत्; न; अन्वर्थसंज्ञाकरणात् ।१६। अथ मतमेतत्–यथा क्षायोपशमिकभावस्य क्षयोपशमात्मकत्वा[1]दुभयवत्त्वं तथा गत्यादीनामुभयवत्त्वा- १५
दौदयिकपारिणामिकत्वमिति 'औदयिक एकविंशतिभेद, पारिणामिकश्च त्रिभेद' इति सिद्धमिति; तन्न; कि कारणम् ? अन्वर्थसज्ञाकरणात् । 'परिणाम. स्वभाव प्रयोजनमस्येति पारिणामिक' इत्यन्वर्थसंज्ञा । न चासौ स्वभावो गत्यादिषु विद्यते कर्मोदयनिमित्तत्वात् । किञ्च,

तथानभिधानात् ।१७। यथा उभयवत्त्वाज्ज्ञानादयः 'क्षायोपशमिका' इत्यभिधीयन्ते तथा गत्यादय 'औदयिकपारिणामिका इत्यभिधीयेरन्, न चाभिधीयन्ते । तथानभिधानात् २०
क्षायोपशमिकवद् गत्यादयो नोभयवन्तः । किञ्च,

अनिर्मोक्षप्रसङ्गात् ।१८। गत्यादीनामुभयवत्त्वात् पारिणामिकत्वे सत्यनिर्मोक्षप्रसङ्ग सातत्यावस्थानात् । तस्मात्स्थितमेतत्–'अस्तित्वादिसमुच्चयार्थ एव चशब्दः' इति ।

आदिग्रहणमत्र न्याय्यमिति चेत्; न; त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहानेः ।१९। स्यादेतत्–'जीवभव्याभव्यत्वानि' इत्यत्र आदिग्रहण न्याय्यम्, अस्तित्वादीनामपीष्टत्वादिति; तन्न; २५
कि कारणम् ? त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहाने । आदिग्रहणे हि क्रियमाणे जीवभव्याभव्यत्वास्तित्वादीनां पारिणामिकभावत्वात् 'त्रिविधः' इति यत्पुरस्तात् प्रतिज्ञात तस्य हानि स्यात् ।

समुच्चयार्थेऽपि चशब्दे तुल्यमिति चेत्; न; प्रधानापेक्षत्वात् ।२०। स्यान्मतम्–समुच्चयार्थेऽपि चशब्दे अस्तित्वादीना पारिणामिकत्वेन समुच्चयात्त्रिभेदप्रतिज्ञाहानिस्तुल्येति; तन्न; कि कारणम् ? प्रधानापेक्षत्वात् । कण्ठोक्तानि त्रीणि प्रधानानि, तदपेक्षा त्रिभेदप्रतिज्ञेति ३०
नास्ति विरोध । अस्तित्वादीनि तु साधारणत्वात् चशब्देन द्योतितानीति तेषा गुणभाव । आदिशब्दे हि क्रियमाणे अस्तित्वादीनां प्राधान्य स्यात्,[2] जीवत्वादीनाम् उपलक्षणार्थत्वाद् अप्राधान्यम् । तद्गुणसविज्ञाने[3] चोभयेषां प्राधान्यं प्रसज्येत ।

---

१ –त्वात्तदुभ– ता०, श्र० । २ जीवभव्यत्वाभव्यत्वास्तित्वादीनामुपलक्षणार्थस्तत्तस्तेषां प्राधान्यं स्यादित्यर्थः । ३ बहुव्रीहेरन्यपदार्थत्वादस्तित्वादीनां प्राधान्यं स्यादित्यर्थः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीह्यङ्गीकारे जीवत्वादीनामप्राधान्यं न स्यादिति वदन्तं प्रत्याह । सर्वादीनि सर्वनामानीत्यादिकं तद्गुणसंविज्ञानस्योदाहरणम्, पर्वतादीनि क्षेत्रादीनीत्यादिकमतद्गुणसंविज्ञानस्योदाहरणम् ।

सान्निपातिकभावोपसंख्यानमिति चेत्; न; अभावात् ।२१। स्यादेतत्–'आर्षे सान्निपातिकभाव उक्त, स इहोपसंख्यातव्य इति; तन्न; कि कारणम् ? अभावात् । नहि षष्ठो भावोऽस्ति ।

मिश्रशब्देनाक्षिप्तत्वाच्च ।२२। यद्यप्यसौ विद्यते मिश्रशब्देनासावाक्षिप्तः । ननु च मिश्रशब्दः क्षायोपशमिकसग्रहार्थो न सान्निपातिकग्रहणार्थ इति ? उच्यते–चशब्दवचनात् । 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रो जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' इति सिद्धे यन्मिश्रशब्दसमीपे चशब्दकरण तेन ज्ञायते मिश्रशब्देनोभयमुच्यते इति । मिश्रश्च कः ? क्षायोपशमिको भावः सान्निपातिकश्चेति[1]। इदमयुक्त वर्तते । किमत्रायुक्तम् ? यद्यस्ति सान्निपातिको भाव 'अभावात्' इति विरुध्यते । अथ नास्ति; कथमार्षे सान्निपातिको भाव उक्त ? कस्य वा मिश्रशब्देनाक्षेप ? नैष दोषः; सान्निपातिक एको भावो नास्तीति 'अभावात्' इत्युच्यते, सयोगभङ्गापेक्षया अस्तीत्यार्ष वचनम् । तत्राभावपक्षे आदिसूत्रे पूर्वोक्तानुकर्षणार्थश्चशब्द उक्तः, भावपक्षे सान्निपातिकप्रतिपादनार्थश्चशब्द । पूर्वोक्तानुकर्षस्तु[2] अपेक्षया वेदितव्य ।

अथार्षोक्तः सान्निपातिकभावः कतिविध इति ? अत्रोच्यते–षड्विशतिविध षड्त्रिशद्विध एकचत्वारिशद्विध इत्येवमादिरागमे उक्तः । तत्र–

*"**दुग तिग चदु पंचेव य संयोगा होंति सन्निवादेसु ।**
दस दस पंच य एक्क य भावा छव्वीस पिंडेण[4] ॥" [ ]

द्विभावसयोगेन दश–औदयिक परिगृह्यौपशमिकादिचतुष्टयस्य चैकैकत्यागेन प्रथमे "द्विभेदभावसयोगे चत्वारो भङ्गा.। तत्रैक औदयिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तक्रोधः । द्वितीय औदयिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणकषाय । तृतीय औदयिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः पञ्चेन्द्रिय । चतुर्थ औदयिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम[5] लोभी जीव । द्वितीयद्विभावसयोगे औदयिक परित्यज्यौपशमिकपरिग्रहात् क्षायिकादिभावत्रयस्यैकैकत्यागेन त्रयो भङ्गा । तत्रैक औपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तलोभः क्षीणदर्शनमोहत्वात् क्षायिकसम्यग्दृष्टिः । द्वितीय औपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमान आभिनिबोधिकज्ञानी । तृतीय औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमायो भव्यः । तृतीयद्विभावसयोगे औपशमिक परित्यज्य क्षायिकपरिग्रहात् क्षायोपशमिकपारिणामिकयोरेकैकत्यागाद् द्वौ भङ्गौ । तत्रैक क्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षायिकसम्यग्दृष्टिः श्रुतज्ञानी । द्वितीय क्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणकषायो भव्य । चतुर्थद्विभावसयोगे क्षायिकपरित्यागादेक क्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम अवधिज्ञानी जीव । त एते द्विभावसयोगभङ्गा समुदिता· दश ।

प्रथमत्रिभावसयोगे औदयिकौपशमिकौ परिगृह्य क्षायिकादिभावत्रयस्यैकैकभावपरिग्रहात् त्रयो भङ्गा । तत्रैक औदयिकौपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उप-

---

१ "अथवा सण्णिवादियं पडुच्च छत्तीसभंगा । सण्णिवादिएत्ति का सण्णा ? एक्कम्हि गुणट्ठाणे जीवसमासे वा बहवो भावा जम्हि सण्णिवदंति तेसिं भावाण सण्णिवादएत्ति सण्णा ।" –ध० टी० भावा० पृ० १९३। २ चशब्देन। ३ –र्षणापेक्ष– आ०, ब०, द०, मु०। ४ द्वित्रिचतुःपञ्चैव च संयोगा भवन्ति सन्निपातेषु। दश दश पञ्च च एकश्च भावाः षट्त्रिंशत् पिण्डेन ॥ ५ द्विभेदसं– आ०, ब०, द०, मु०, मू०। ६ –म मनुष्यो जीवः आ०, ब०, द०, मु०।

शान्तमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि[1] । द्वितीय औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तक्रोधो वाग्योगी । तृतीय औदयिकौपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तमानो जीवः । द्वितीयत्रिभावसयोगे औपशमिक परित्यज्यौदयिकक्षायिकौ परिगृह्य क्षायोपशमिकपारिणामिकयोरेकैकस्य परिग्रहाद् द्वौ भङ्गौ । तत्रैक औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य क्षीणकषाय श्रुतज्ञानी । द्वितीय औदयिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणदर्शनमोहो[2] जीवः । तृतीयत्रिभावसयोगे औदयिकपरिग्रहादौपशमिकक्षायिकत्यागादेक औदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः मनोयोगी जीवः । चतुर्थत्रिभावसयोगे औदयिक परित्यज्यौपशमिकादिभावचतुष्टयस्यैकैक[3]त्यागाच्चत्वारो भङ्गा । तत्रैक औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमानः क्षीणदर्शनमोह काययोगी । द्वितीय औपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तवेद क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भव्य । तृतीय औपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तमानो मतिज्ञानी जीव । चतुर्थ क्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणमोह पञ्चेन्द्रिय भव्य । त एते त्रिभावसयोगभङ्गा समुदिता दश ।

चतुर्भावसंयोगेन पञ्च भङ्गा औदयिकादीनामेकैकत्यागात । तत्रैक औपशमिक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तलोभ क्षीणदर्शनमोह पञ्चेन्द्रियो जीव । द्वितीय औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य. क्षीणकषायो मतिज्ञानी भव्य । तृतीय औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तवेद श्रुतज्ञानी जीव । चतुर्थ औदयिकौपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तराग क्षीणदर्शनमोहो जीव । पञ्चम औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टिरवधिज्ञानी ।

पञ्चभावसयोगेनैक. औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि पञ्चेन्द्रियो जीव ।

एव षड्विंशतिविध सान्निपातिकभाव ।

षड्त्रिंशद्विध उच्यते–द्वयोरौदयिकयो सन्निपातादौदयिकस्यौ[3]पशमिकादिभिः चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गाः । तत्र प्रथम औदयिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनष्य क्रोधी । द्वितीय औदयिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य उपशान्तक्रोध । तृतीय औदयिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्य क्षीणकषाय । चतुर्थ औदयिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्रोधी मतिज्ञानी । पञ्चम औदयिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यो भव्य । द्वयोरौपशमिकयोः सन्निपातादौपशमिकस्यौदयिकादिभिश्चतुर्भिरेकशः सन्निपातात् पञ्च भङ्गा । तत्रैक औपशमिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशमसम्यग्दृष्टिरुपशान्तकषाय । द्वितीय औपशमिकौदयिकसान्निपाति-

---

१ क्षायिकसम्यग्दृष्टिरिति यावत् । २ –त्यागे च– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ –पशमादिभि– ता०, अ०, मू० ।

कजीवभावो नाम उपशान्तकषायो मनुष्य । तृतीय औपशामिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तक्रोधः क्षायिकसम्यग्दृष्टि । चतुर्थ औपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तकषाय. अवधिज्ञानी। पञ्चम औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम उपशान्तदर्शनमोहो जीव । द्वयोः क्षायिकयो. सन्निपातात् क्षायिकस्य चौदयिकादिभि चतुर्भिरेकश सन्निपातात् पञ्च भङ्गा. । तत्रैक. क्षायिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षायिकसम्यग्दृष्टि क्षीणकषायः । द्वितीयः क्षायिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणकषायो मनुष्यः । तृतीय क्षायिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुपशान्तवेद । चतुर्थ क्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणकषायो मतिज्ञानी । पञ्चम क्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम क्षीणमोहो भव्य । द्वयो क्षायोपशमिकयो सन्निपातात् क्षायोपशमिकस्य चौदयिकादिभिश्चतुर्भिरेकश सन्निपातात् पञ्च भङ्गा· । तत्रैक· क्षायोपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम संयतः अवधिज्ञानी । द्वितीय क्षायोपशमिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम सयतो मनुष्य । तृतीय. क्षायोपशमिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम सयत उपशान्तकषायः । चतुर्थ क्षायोपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम सयतासयत· क्षायिकसम्यग्दृष्टि । पञ्चम क्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम अप्रमत्तसंयतो जीव. । द्वयो पारिणामिकयो सन्निपातात् पारिणामिकस्य चौदयिकादिभि चतुर्भिरेकश. सन्निपातात् पञ्च भङ्गा। तत्रैक पारिणामिकपारिणामिकसान्निपातिक जीवभावो नाम जीवो भव्य. । द्वितीय. पारिणामिकौदयिकसान्निपातिकजीवभावो नाम जीव क्रोधी । तृतीय. पारिणामिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम भव्य उपशान्तकषाय. । चतुर्थ. पारिणामिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभावो नाम भव्य क्षीणकषाय । पञ्चमः पारिणामिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावो नाम सयतो भव्य (भव्य. सयत) । [1]एते द्विभावसयोगाः पञ्चविशतिस्त्रिभावसयोगभङ्गा दश पूर्वोक्ता पञ्चभावसयोगेन चैकः । एते सपिण्डिताः षट्त्रिशत् ।

[2]पूर्वोक्तचतुर्भविसंयोगोत्पन्न[3]पञ्चभङ्गक्षेपाद् एत एव षड्त्रिशदेकचत्वारिशद्भङ्गा भवन्ति । एवमादयोऽन्ये च विकल्पा नेतव्या आगमाविरोधेन ।

औपशमिकाद्यात्मतत्त्वानुपपत्तिः, अतद्भावादिति चेत्; नः तत्परिणामात् ।२३। स्यान्मतम्–य एत औपशमिकादयो भावा एतेषामात्मतत्त्वव्यपदेशो नोपपद्यते । कुत. ? अतद्भावात् । सर्वे हि ते पौद्गलिका कर्मबन्धोदयनिर्जरापेक्षत्वादिति; तन्न; कि कारणम् ? तत्परिणामात् । पुद्गलद्रव्यशक्तिविशेषवशीकृत आत्मा तद्रञ्जन सस्तन्निमित्त य य परिणाममास्कन्दति यदा तदा तन्मयत्वात्तल्लक्षण एव भवति । उक्त च–

*"**परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयंति पण्णत्तं ।**
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो [4]मुणेयव्वो ।।" [प्रवचनसा० १।८] इति ।

स परिणामोऽन्यद्रव्यासाधारणत्वाद् आत्मतत्त्वमित्याख्यायते ।

---

१ ततस्त एते आ०, ब०, द०, मु० । २ पूर्वोत्पन्न च– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ३ –गात्पञ्चपञ्चभङ्गसक्षेपा– आ०, ब०, द०, मु० । ४ परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तम् । तस्मात् धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्यः ।।

[1]**अमूर्तित्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेत्; न; तद्वद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत्** ।२४। अथ मतमेतत्-अमूर्तिरात्मा कर्मपुद्गलैर्नाभिभूयते ततस्तत्परिणामाभाव इति ? तन्न; कि कारणम् ? तद्वद्विशेषसामर्थ्योपलब्धे[2]। सोऽस्य अनादिकर्मबन्धसन्तानोऽस्तीति तद्वान्, तद्वतो विशेषसामर्थ्यं तद्वद्विशेषसामर्थ्यम् । कथम् ? चैतन्यवत् । यथा अनादिपारिणामिकचैतन्यवशीकृत आत्मा तद्वान्, तस्य तद्वतश्चैतन्यवत नारकादिमत्यादिपर्यायविशेषवृत्तिरपि चेतना, तथा अनादिकार्मणशरीराक्तत्वात्[3] कर्मवत् आत्मनो मूर्तिमत्त्वात् गत्यादि[4]मत्यादिपर्यायविशेषसामर्थ्योपलब्धिरपि मूर्तिमतीति । एव सति नामूर्तिरात्मा । किञ्च, ५

अनेकान्तात् ।२५। अनादिकर्मबन्धसन्तानपरतन्त्रस्यात्मन. [5]अमूर्तत्व प्रत्यनेकान्त.–बन्धपर्याय प्रत्येकत्वात् स्यान्मूर्त्ति, तथापि ज्ञानादिस्वलक्षणापरित्यागात् स्यादमूर्त्ति, इत्यादि पूर्ववत् । यस्यैकान्तेनाऽमूर्त्तिरेवात्मा भवेत्; तस्याय दोषो नार्हतस्य । किञ्च, १०

सुराभिभवदर्शनात् ।२६। मदमोहविभ्रमकरी सुरा पीत्वा नष्टस्मृतिर्जन काष्ठवदपरिस्पन्द उपलभ्यते, तथा [6]कर्मोदयाभिभवादात्मा अनाविर्भूतस्वलक्षणो मूर्त इति निश्चीयते ।

करणमोहकरं मद्यमिति चेत्; न; तद्द्विविधकल्पनाया[7] दोषोपपत्तेः ।२७। स्यादाकूतम्–चक्षुरादीना करणाना व्यामोहकारण मद्य पृथिव्यादिभूतप्रसादात्मकत्वात् इन्द्रियाणा नात्मगुणस्य [8]अमर्तित्वादिति; तन्न; कि कारणम् ? तद् द्विविधकल्पनाया दोषोपपत्ते । इदमिह सप्रधार्यम्–तानि करणानि चेतनानि वा स्यु, अचेतनानि वा ? यद्यचेतनानि; अचेतनत्वात्तेषां न मदकरं मद्यम् । यदि स्यात्; प्रागेव स्वभाजनाना मदकर स्यात् । अथ चेतनानि; पृथगनुपलब्धचैतन्यस्वभावाना पृथिव्यादीनां चेतनाद्रव्यसबन्धत्वादेव चैतन्यव्यपदेश इत्यात्मगुणस्यैव मोहकरत्व सिद्धम् । १५

अथ मतमेतत्–पृथिव्यादीनामेव सयोगविशेषे सति पिष्टकिण्वोदकादि[9]समाहारे मदशक्तिव्यक्तिवत् सुखदु खाद्यभिव्यक्तिरिति; नैतद्युक्तम्; रूपादिवैधर्म्यात् । रूपादयो हि पृथिव्यादिगुणा. सन्तो विभक्तेष्वविभक्तेषु[10] च क्रमेणैव हानिमास्कन्दन्ति । न च तथा शरीरावयवेषु विभक्तेष्वविभक्तेषु च सुखादीना क्रमेणैव हानि, युगपच्चोपलभ्यते, तस्मान्न पृथिव्यादिगुणा । २०

किञ्च, यदि पृथिव्यादिगुणा सुखादयो [11]ननु शवशरीरावस्थायामप्युपलभ्यरेन् रूपादिवत् । सूक्ष्मभूतापगमान्नोपलब्धिरिति चेत्; भूयसा[12] स्थूलाना सभवात् तदुपलब्धि स्यात् । २५

किञ्च, तदपाये तदनुपलब्धेस्तेषामेव[13] ते[14] गुणा इति[15], समुदायधर्मत्वाभावात् मद्यदृष्टान्तायुक्तिः ।

किञ्च, भूतसूक्ष्मास्तित्व (सूक्ष्मभूतास्तित्व) सिद्धिवद् आत्मसिद्धिरपि स्यात् ।

अथवा, तान्यन्त करणानि वा स्यु, वहि करणानि वा ? यदि वहि करणानि; तेषामचेतनत्वात् व्यामोहाभाव । अथान्त करणानि; तेषामपि चेतनत्वम्, अचेतनत्व वा स्यात्? ३०

---

१ अमूर्तत्वा– आ०, ब०, द०, मु०, श्र०, ता० । २ –रात्मकत्वात् श्र० । –रात्मत्वात् ता० । –राशक्तत्वात् मु०, ब० । –प्रशक्तत्वात् आ० । ३ –दिप– आ०, ब०, द०, मु० । ४ अमूर्ति प्रति मु० । अमूर्तित्वं प्रति आ०, ब०, द०, मू० । ५ कर्मेन्द्रियाभि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ कुतः । ७ सुराबीजगुडादि । ८ लतादार्वादिषु । ९ नवशव– आ०, ब०, द०, मु०, मू०, । १० शरीरावयवानाम् । ११ सूक्ष्मभूतानाम् । १२ सुखादयः । १३ चेत्; ।

अचेतनत्वे पूर्ववन्मोहाभाव । चेतनत्वे विज्ञानरूपत्वाद् व्यामोहो युक्त, न युक्तम्–'अमूर्तत्वादभिभवाभाव' इति ।

यद्येव कर्मोदयमद्यावेशवशीकृतस्य तस्यास्तित्व दुरुपलक्ष्यम् ? नैष दोष, [1]तदावेशेऽपि [2]स्वलक्षणत्वेनोपलब्धिर्भवति । उक्तञ्च––

५ *"बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स[3] ॥" [ ]

यद्येवं तदेव तावदुच्यता लक्षण यत्सन्निधानाद् बन्धपरिणामं प्रत्यविवेकेऽपि सति विभागोऽवगृह्यते जीवस्येति ? अत आह––

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

१० उपयोग इत्युच्यते । क उपयोगो नाम ?

बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ।१। द्विविधो हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च । द्वावेवयवौ यस्य स द्वय[4] । ननु च स्वरूपनिर्देशादेव द्वित्वप्रतीतेर्द्वयवचनमनर्थकम्; नानर्थकम्; प्रत्येकं द्वैविध्यसप्रत्ययार्थम्–बाह्यो हेतुर्द्वय आभ्यन्तरश्चेति । तत्र बाह्यो हेतुर्द्विविध –आत्मभूतोऽनात्मभूतश्चेति । तत्रात्मना[5] सबन्ध१५ मापन्नविशिष्टनामकर्मोपात्तपरिच्छिन्नस्थानपरिमाणनिर्माणश्चक्षुरादिकरणग्राम आत्मभूत । प्रदीपादिरनात्मभूत । आभ्यन्तरश्च द्विविध –अनात्मभूत आत्मभूतश्चेति । तत्र मनोवाक्कायवर्गणालक्षणो[6] द्रव्ययोग चिन्ताद्यालम्बनभूत अन्तरभिनिविष्टत्वादाभ्यन्तर इति व्यपदिश्यमान आत्मनोऽन्यत्वादनात्मभूत इत्यभिधीयते । तन्निमित्तो भावयोगो वीर्यान्तरायज्ञान[7]दर्शनावरणक्षयक्षयोपशमनिमित्त आत्मन प्रसादश्चात्मभूत इत्याख्यामर्हति । तस्यैतस्य हेतु२१ विकल्पस्य यथासभवमुपलब्धु सन्निधान भवति । तद्यथा–प्रदीपादेस्तावत् केषाञ्चित् सन्निधानं तेन विना चक्षुरादिविज्ञानाप्रवृत्ते, केषाञ्चित्तु द्वीपिमार्जारादीना तमन्तरेणाप्युपलब्धेरनियम । चक्षुरादीनामपि पञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रियैकेन्द्रियविषयत्वेन [8]सन्निधानाऽसन्निधान प्रत्यनियम । अन्त करणमपि[9] असज्ञिना मनोवर्जितम्, सज्ञिना त्रितयम्, एकेन्द्रियाणा विग्रहगतिमुपगताना[10] समुद्घातगताना च सयोगकेवलिनामेक एव काययोग, भावयोगश्च तत्कृत, २५ तत्र तत्र नियत. क्षयोपशमश्च आक्षीणकषायात् । अत ऊर्ध्वं क्षय इति । एव यथासभव सन्निधाने सति । चैतन्यमात्मन स्वभावोऽनादि. तमनुविदधातीत्यवशीलश्चैतन्यानुविधायी [11]सुवर्णस्वभावानुविधायी (यि) कटकाङ्गदकुण्डलादिविकारवत् । स एव प्रकार आत्मन. परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते ।

अत्र [12]कश्चिदाह–चैतन्य सुखदु खमोहरूपं तदनुविधायिना परिणामेन सुखदु खक्रोधादिना ३० भवितव्यम्, उत्तरत्र च उपयोगप्रकारा ज्ञानदर्शनविकारा वक्ष्यन्ते, तदिदं पूर्वापरविरुद्धमाल-

---

१ कर्मोदयावेशेऽपि । २ स्वलक्षणे चोप– श्र०, ता०, मू०, द० । स्वलक्षणेनोप– आ०, ब० । ३ बन्धं प्रत्येकत्वं लक्षणतो भवति तस्य नानात्वम् । तस्मादमूर्तिभावो नैकान्तो भवति जीवस्य ।। उद्धृतेयं स० सि० २।७ । ४ द्वित्रिभ्यां तयोवेति युटो लुक् । ५ सह । ६ अकर्मकर्मनोकर्मजातिभेदेषु वर्गणा । ७ श्रुतज्ञान । ८ सन्निधानं प्रत्य– आ०, ब०, द०, मु० । ९ अपिशब्देन बाह्यकरणं चक्षुरादिकं यथायोग्यं योज्यम् । १० जीवानाम् । ११ सुवर्णभावानु–आ० ब०, द०, मु० । १२ सांख्यः –सम्पा० ।

क्ष्यत इति, नैष दोष; चैतन्य नामात्मधर्म सामान्यभूत, यस्याऽसन्निधानादितरेषु द्रव्येषु जीवव्यपदेशो नास्ति, यद्भेदाश्चैते ज्ञानदर्शनादय, तेषा समुदाये वर्तमानश्चैतन्यशब्द· क्वचिदवयवेऽपि सुखादौ वर्तते–*"समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा[1] अवयवेष्वपि वर्तन्ते" [पात० महा० पस्पशा०] इति। इह पुन समुदाय एव वर्तमान परिगृहीत, उत्तरत्र च तद्भेदा ज्ञानदर्शनविकारा वक्ष्यन्ते इति नास्ति विरोध। अथ कि लक्षणम्? ५

परस्परध्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।२। बन्धपरिणामानुविधानात् [2]परस्परप्रदेशानुप्रवेशाद् व्यतिकीर्णस्वभावत्वेऽपि सत्यन्यत्वप्रतिपत्तिकारण लक्षणमिति समाख्यायते। यथा सुवर्णरजतयो सत्यपि बन्ध प्रत्येकत्वे वर्णप्रमाणादिरसाधारणो धर्म[3] अजहदुपलभ्यते उत्तरकाल सति विवेके तद्दर्शनात्, तथा पुद्गलद्रव्येण बन्ध प्रत्यविभागेऽपि विभागहेतु ज्ञानादिरुपयोगो लक्षण भवति। १०

तल्लक्षणं द्विविधम्–आत्मभूताऽनात्मभूतभेदात् उष्णदण्डवत्।३। तदेतल्लक्षण द्विविधम्–आत्मभूतमनात्मभूतञ्चेति। तत्र आत्मभूतमग्नेरौष्ण्यम्, अनात्मभूत देवदत्तस्य दण्ड। इह आत्मभूत लक्षणमुपयोग।

गुणगुणिनोरन्यत्वमिति चेत्; न; उक्तत्वात्।४। स्यादेतत्–औष्ण्य गुणोऽग्निर्गुणी तथा च आत्मा गुणी ज्ञानादिर्गुण इति। तयोश्च लक्षणभेदादन्यत्वमिति; तन्न; कि कारणम्? १५ उक्तत्वात्। उक्तेमतत्[4]–'अतत्स्वाभाव्येऽनवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत्' इत्यादि।

लक्ष्यलक्षणभेदादिति चेत्; न; अनवस्थानात्।५। अथ मतमेतत्–लक्ष्यो गुणी गुणो लक्षणम्, लक्ष्याच्च लक्षणेनार्थान्तिरभूतेन भवितव्यमित्यतोऽनयोरन्यत्वमिति; तन्न; कि कारणम्? अनवस्थानात्। येन लक्षणेन लक्ष्य लक्ष्यते [5]तत् सलक्षणम्, अलक्षण वा? यदि तदलक्षणम्; मण्डूकशिखण्डवदभावमापद्येत। असति च तस्मिन् लक्ष्यानवधारणम्। अथ सल- २० क्षणम्; तदपि ततोऽन्यत्, तदपि ततोऽन्यदित्यनवस्था स्यात्। किञ्च,

आदेशवचनात्।६। [6]'लक्ष्यलक्षणयोरव्यतिरेकात् स्यादेकत्वम्, सज्ञादिभेदत्वाच्च स्यान्नानात्वम्' इत्यादेशवचनात् एकान्तदोषानुषङ्गाभाव। कश्चिदाह––

न उपयोगलक्षणो जीवस्तदात्मकत्वात्।७। इह लोके यद्यदात्मक न तत्तेनोपयुज्यते यथा क्षीर क्षीरात्मक न तत्तेनैवात्मनोपयुज्यते। एवमात्मनोऽपि ज्ञानाद्यात्मकत्वान्न तेनैवोपयोग[7] २५ इति जीवस्योपयोगाभाव। कुतश्च (इतश्च),

विपर्ययप्रसङ्गात्।८। सति चानन्यत्वे उपयोगमिच्छ[8]तोऽनिच्छतश्च[9] कस्यचिद्विपर्यय प्राप्नोति। कथम्? अविपर्ययवत्[10]। तद्यथा–'जीव एव ज्ञानादनन्यत्वे सति ज्ञानात्मनोपयुज्यते' इति मन्यसे न क्षीरादयः क्षीराद्यात्मभि; एव क्षीरादय एव क्षीराद्यात्मभि परिणमेयु, [11]न तु जीवो ज्ञानात्मनोपयुज्यते। अनिष्टं चैतत्। ३०

न; अतस्तत्सिद्धेः।९। नैतद्युक्तम्। कुत? अतस्तत्सिद्धे। यत एवानन्यत्वमत एवोपयोगः सिद्ध.। नह्यत्यन्तमन्यत्वे उपयोग· सिद्धयति आकाशस्य रूपाद्युपयोगाभाववत्[12]। ननु चोक्तम्–

---

१ अङ्गं प्रति कोऽवयव इत्यादयः। २ परस्परप्रवेशा– आ०, ब०, द०, मु०। ३ –धर्मः अलक्षणमुपयोगो गुण– आ०, ब०, द०, मु०। ४ पृ० ५। ५ तत्सल्लक्ष– मु०। ६ लक्ष्यप्तेलक्षणानुपपत्तिलक्ष्याभावात् भा० १। ७ परिणमनम्। ८ आत्मनः। ९ क्षीरस्य। १० विपर्ययाभाववत्। ११ ननु जीवो ज्ञानात्मना नोप– आ०, ब०, द०, मु०। १२ –भावात् ननु आ०, ब०, द०, मु०।

'यथा क्षीरं क्षीरात्मकं न तत्तेनात्मनोपयुज्यते' इति; न; अतस्तत्सिद्धेरित्येव[1]। यथा तृण-जलादिकारणवशात् क्षीरभावावाप्ति प्रत्यभिमुख[2] क्षीर[3] क्षीरव्यपदेशभाक् तच्छक्त्यव्यतिरेकात् 'क्षीरात्मना परिणमति' इत्युच्यते, तथा आत्मापि ज्ञानादिस्वभावशक्तिप्रत्ययवशात् घटपटाद्याकारावग्रहरूपेण परिणमतीत्युपयोग सिद्ध। इतरथा हचतद्भावे तद्भावाऽभावादुपयोगाभाव[5] स्यात्। किञ्च,

उभयथापि त्वद्वचनासिद्धेः।१०। अनेकान्तवादप्रवणमार्हन्त्यन्यायमविज्ञाय यदुपादिक्षत् भवान्—'यद्यदात्मक न तस्य तेनैव परिणाम' इति; नन्वेवमुभयथापि त्वदीयस्य वचसोऽसिद्धि। तद्यथा—तदात्मकानुपयोगवादिन स्ववचस स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मकस्य स्वपक्षपरपक्षयो[6] साधकत्वदूषकत्वापरिणामात् यत्रोपदिष्ट तत्रासाधकस्ते[7]ऽय हेतु। यथा क्षीरस्य दधित्वेन परिणाम इष्यते न क्षीरत्वेनैव, तथैव त्वद्वचस[8] स्वपक्षसाधनात्मकस्य तेनैवापरिणामाद् दूषकत्वेन परिणाम एषितव्यो न साधकत्वेन। अस्यैव च परपक्षदूषकात्मकस्य तेनैवापरिणामात् साधकत्वेन परिणाम एषितव्यो न दूषकत्वेन। अत 'तदात्मकत्वेऽनुपयोगात्' इति त्वद्वचनासिद्धि। अथ त्वद्वचन स्वपरपक्षसाधकदूषकात्मकमपि सत् स्वपरपक्षयो साधकदूषकपर्यायाभ्यां परिणमति; नन्वेवमपि यदवोचद्भवान्—'तदात्मकत्वेऽनुपयोगान्न तस्य तेनैव परिणाम.' इति; तदसत्। किञ्च,

स्वसमयविरोधात्।११। यदि 'यद्यदात्मक न तत्तेनैव परिणमति' इतीष्ट व; ननु पृथिव्यप्तेजोवायुमहाभूताना रूपाद्यात्मकत्वात् रूपाद्यात्मना अविपरिणाम स्यात्। इष्यते च शुक्लादिरूपादिविशेषपरिणाम। अत स्वसमयविरोध। किञ्च,

केनचिद्विज्ञानात्मकत्वात्।१२। यस्यैकान्तेन ज्ञानात्मक आत्मा स्यात्, तस्य ज्ञानात्मना परिणामाभाव परिणतत्वात्। आर्हतस्य तु केनचिद्विज्ञानात्मक तत्पर्यायादेशात्, केनचिदन्यात्मक इतरपर्यायादेशादिति कथञ्चित्तदात्मकत्वात् केनचिदतदात्मकत्वात् परिणामसिद्धि। यदि चैकान्तेन ज्ञानात्मक एव स्यादितरात्मक एव वा; तद्भावाविराम[9] स्यात्। विरामे चात्मनोऽपि विराम प्रसक्त। किञ्च,

तदात्मकस्य तेनैव परिणामदर्शनात् क्षीरवत्।१३। यथा क्षीर द्रवमधुरादिक्षीरस्वभावमजहद् गुडादिद्रव्यसबन्धाद् गुडक्षीरादिपरिणामान्तरमास्कन्दति, गवादे स्तनान्तरनिर्गतमात्र चोष्ण पुन शीत भवति, पुनश्चाग्निद्रव्यसबन्धादुष्ण घन च भवति, तदभावे च शीतमिति क्षीरजातिमजहदुष्णक्षीरादिव्यपदेशभागिति क्षीर क्षीरात्मनैव परिणतम्। यदि क्षीर क्षीरात्मना न परिणमेत्; तत्र तत्र क्षीरव्यपदेशाभाव स्यात्। तथोपयोगात्मक आत्मा उपयोगस्वभावमजहज्ज्ञानाद्यात्मना[10] परिणाममियर्तीति नास्ति विरोध। अतश्चैतदेव[11] यदि हि न स्यात्;

निःपरिणामत्वप्रसङ्गोऽर्थस्वभावसंकरो वा।१४। यदि यद्यदात्मकं तस्य तेनापरिणामः स्यात्; भावाना निष्परिणामत्वप्रसङ्ग। ततश्च सर्वथा नित्यत्वे क्रियाकारकव्यवहारलोप स्यात्। 'परिणामवत्त्वे च 'परात्मना परिणामात् सर्वपदार्थस्वभावसकरप्रसङ्ग. स्यात्। [10]अथैतदुभयं नेष्यते; सिद्ध स्वेनात्मना परिणामः। कश्चिदाह—

---

१ उत्तरम्। २ द्रव्यम्। ३ द्रव्यक्षीरमित्यर्थः। ४ तव। ५ अपर्यवसानः। ६ ज्ञानात्मना आ०, ब,० मु०। आदिशब्देन सुखादि। ७ जीवादिद्रव्यं ज्ञानादिपरिणामरूपम्। ८ परिणामत्वे ता०। ९ घटादिपटादिस्वरूपेण। १० अपरिणामः पररूपपरिणामश्चेति द्वयम।

[1]उपयोगस्य लक्षणत्वानुपपत्तिर्लक्ष्याभावात् ।१५। इह लोके सतो लक्ष्यस्य लक्षणं भवति यथा सतो देवदत्तस्य दण्डादि । न चासत शशविषाणादे किञ्चिल्लक्षणमस्ति । तथा स एवात्मा लक्ष्यो दुरुपपाद [2]। तदभावात् कुत उपयोगस्य लक्षणत्वमिति ? तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–

तदभावश्चाकारणत्वादिभिः ।१६। तस्य लक्ष्यस्यात्मनोऽभाव । कुत. ? अकारणत्वादेः मण्डूकशिखण्डवत् ।

सत्यपि लक्षणत्वानुपपत्तिरनवस्थानात् ।।१७। सत्यप्यात्मनि लक्ष्ये उपयोगस्य लक्षणत्वं नोपपद्यते । कुत ? अनवस्थानात् । उपयोगो हि ज्ञानदर्शनस्वभाव , स चानवस्थित क्षणिकत्वात् । न चानवस्थित लक्षण भवति । तदपाये तदनुपलब्धेः, यथा 'कतरद्देवदत्तस्य गृहम् ? अधो यत्रासौ काक ' इत्युत्पतिते काके [3]नष्टे तद्गृह भवति तथा ज्ञानादिलक्षणस्यात्मनस्तदभावे अभाव प्राप्नोति इति ।

अत्रोच्यते––

आत्मनिह्नवो न युक्तः साधनदोषदर्शनात् ।१८। इहात्मनो निह्नवो न युक्त । कुत ? साधनदोषदर्शनात् ।

यत्तावदुक्तम्––'नास्त्यात्मा अकारणत्वात् मण्डूकशिखण्डवत्' इति; हेतुरयमसिद्धो विरुद्धोऽनैकान्तिकश्च । कारणवानेवात्मा इति निश्चयो न [4], नरकादिभवव्यतिरिक्तद्रव्यार्थाभावात्, तस्य च मिथ्यादर्शनादिकारणत्वादसिद्धता । अत एव द्रव्यार्थाभावात्[5] पर्यायस्य च पर्यायान्तरानाश्रयत्वाद् आश्रयाभावादप्यसिद्धता[6] । अकारणमेव हचस्ति सर्वं घटादि, तेनाय[7] द्रव्यार्थिकस्य विरुद्ध एव । सतोऽकारणत्वात्[8], यदस्ति तन्नियमेनैवाकारणम्, न हि किञ्चिदस्ति[9] च कारणवच्च । यदि तदस्त्येव किमस्य कारणेन नित्यनिर्वृत्तत्वात् ? कारणवत्त्व चासत एव कार्यार्थत्वात् कारणस्येति विरुद्धार्थता । मण्डूकशिखण्डकादीनाम् [10]असत्प्रत्ययहेतुत्वेन परिच्छिन्नसत्त्वानामभ्युपगमात्तेषा च कारणाभावात् [11]उभयपक्षवृत्तेरनैकान्तिकत्वम् ।

दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनोभयधर्मविकल । [12]कर्मविशेषवशात् नानाजातिसबन्धमापन्नवतो जीवतो जीवस्य मण्डूकभवावाप्तौ तद्व्यपदेशभाज पुनर्युवतिजन्मन्यवाप्ते 'य शिखण्डक [13] स एवायम्' इत्येकजीवसबन्धित्वात्[14] मण्डूकशिखण्ड इत्यस्ति । पुद्गलद्रव्यस्याप्यनाद्यनन्तपरिणामस्य युवतिभुक्ताहारादिकेशभावपरिणामाच्छिखण्डनिष्पत्ते कारणत्वमिति नास्तित्वाकारणत्वधर्माभावात् । एव वन्ध्यापुत्र-शशविषाणादिष्वपि योज्यम् ।

आकाशकुसुमे कथम् ? तत्रापि यथा वनस्पतिनामकर्मोदयापादितविशेषस्य वृक्षस्य जीवपुद्गलसमुदायस्य [15]पुष्पमिति व्यपदिश्यते, अन्यदपि पुद्गलद्रव्य पुष्पभावेन परिणत तेन व्याप्तत्वात्, एवमाकाशेनापि व्याप्तत्व समानमिति तत्तस्यापीति व्यपदेशो युक्त । अथ तत्कृतोपकारापेक्षया तस्येत्युच्यते; आकाशकृतावगाहनोपकारापेक्षया कथ तस्य न स्यात् ? वृक्षात् प्रच्युतमप्याकाशान्न प्रच्यवते इति नित्य तत्सबन्धि । [16]अथ अर्थान्तरभावात्तस्य न

---

१ उपयोगलक्षणानुप– आ०, ब०, द०, मु० । २ अशक्यसमर्थनः । ३ न दृष्टम् । ४ स्याद्वादिनाम् । ५ आत्माभावादित्यर्थः । ६ आश्रयासिद्धतेति यावत् । ७ हेतुः । ८ निष्पन्नावस्थायां कुलालाद्यभावात् । ९ अनुत्पन्नस्यैव कारणवत्त्वम् । १० नास्तीति ज्ञानस्य ।११ अस्तित्वनास्तित्वेति । १२ कर्मोद्रेक । १३ वसः । १४ –सम्बन्धत्वात् आ०, ब०, द०, मु० । १५ स्वस्वामिसम्बन्धे । १६ अर्थ– आ०,ब०, द०, मु० ।

स्यादिति मतम्; वृक्षस्यापि न स्यात्। सर्वत्रैवात्र नामाद्यपेक्षया संबन्धो योजयितव्यः। बहिरङ्गार्थाकारपरिणतविज्ञानविषयत्वापेक्षया वा दोषोद्भावनमूहितव्यम्।

यदप्युच्यते—नास्त्यात्मा अप्रत्यक्षत्वाच्छशशृङ्गवदिति; अयमपि न हेतु असिद्धविरुद्धानैकान्तिक[1]त्वाऽप्रच्युते[2]। सकलविषयकेवलज्ञानप्रत्यक्षत्वाच्छुद्धात्मा प्रत्यक्षः, कर्मनोकर्मबन्धपरतन्त्रपिण्डात्मा च अवधिमनःपर्ययज्ञानयोरपि प्रत्यक्ष इति 'अप्रत्यक्षत्वात्' इत्यसिद्धो हेतु। इन्द्रियप्रत्यक्षत्वाभावादप्रत्यक्ष इति चेत्; न; तस्य परोक्षत्वाभ्युपगमात्। अप्रत्यक्षा घटादयोऽग्राहकनिमित्तग्राह्यत्वाद् धूमाद्यनुमिताग्निवत्। अग्राहकमिन्द्रियं तद्विगमेऽपि गृहीतस्मरणात् गवाक्षवत्। किञ्च, प्रत्यक्षादन्योऽप्रत्यक्ष इति पर्युदासो वा स्यात्, प्रत्यक्षो न भवतीत्यप्रत्यक्ष इति प्रसज्यप्रतिषेधो वा? यदि पर्युदास; अन्यत्वस्य द्विष्ठत्वाद्वस्तुत्वसिद्धे नास्तित्वविरोधस्तित्वसाधनाद्विरुद्ध। अथ प्रसज्यप्रतिषेध; सति प्रतिषेध्ये[3] प्रतिषेधसिद्धे विधिविषयसिद्धिरिति कथञ्चित् प्रत्यक्षत्वोपपत्ते पुनरप्यसिद्धता। असति च शशशृङ्गादौ सति च विज्ञानादौ अप्रत्यक्षत्वस्य वृत्तेरनैकान्तिकता। अथ विज्ञानादे स्वसवेद्यत्वात् योगिप्रत्यक्षत्वाच्च हेतोरभाव इति चेत्; आत्मनि कोऽपरितोष? दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनोभयधर्मविकल पूर्वोक्तेन विधिना अप्रत्यक्षत्वस्य नास्तित्वस्य चासिद्धे।

किञ्च, सर्वस्य वागर्थस्य विधिप्रतिषेधात्मकत्वात्, न हि किञ्चिद्वस्तु सर्वनिषेधगम्यमस्ति। अस्ति त्वेतत्[4] उभयात्मकम्, यथा कुरवका रक्तश्वेतव्युदासेऽपि नाऽवर्णा भवन्ति नापि रक्ता एव श्वेता एव वा प्रतिषिद्धत्वात्। एवं वस्त्वपि परात्मना नास्तीति प्रतिषेधेऽपि स्वात्मना अस्तीति सिद्धम्। तथा चोक्तम्—

"**अस्तित्वमुपलब्धिश्च कथञ्चिदसतः स्मृतेः[5]।**
नास्तितानुपलब्धिश्च कथञ्चित्सत एव ते ॥१॥
सर्वथैव सतो नेमौ धर्मौ[6] सर्वात्मदोषत।
सर्वथैवाऽसतो नेमौ वाचां गोचरताऽत्ययात् ॥२॥" [ ] इति।

नास्तित्वाप्रत्यक्षत्वाभ्यामपि[7] रहितं तदवस्त्विति[8] धर्म्यसिद्धिश्च। एवमन्येऽपि हेतव एकान्तवादिभिरुपनीता दोषवत्तयोत्प्रेक्ष्या। तदस्तित्वं च साध्यते—

ग्रहणविज्ञानासंभविफलदर्शनाद् गृहीतृसिद्धिः।१९। यान्यमूनि ग्रहणानि पूर्वकृतकर्मनिर्वर्तितानि[9]हिरुक्कृतस्वभावसामर्थ्यजनितभेदानि रूपरसगन्धस्पर्शशब्दग्राहकाणि चक्षूरसनघ्राणत्वक्श्रोत्राणि। [10]यानि च ज्ञानानि तत्सन्निकर्षजानि तानि[10], तेष्वसंभविफलमुपलभ्यते। किं पुनस्तत्? आत्मस्वभावस्थानज्ञानविषयसम्प्रतिपत्ति। तदेतद् ग्रहणानां[11] तावन्न संभवति; अचेतनत्वात्, क्षणिकत्वाच्च। विज्ञानाना च न संभवति, एकार्थग्राहित्वादुत्पत्त्यनन्तरनिरोधाच्च। दृश्यते चेदम्। अकस्मात्च न भवतीति तत्प्रत्तिपत्तिपतिना[12] ततो व्यतिरिक्तेन केनचिद्भवितव्यमिति गृहीतृसिद्धि। किञ्च,

---

१ —कताप्र— आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ अनियतकारण। ३ वस्तुनि। ४ वस्तु। ५ अनुभवात्। ६ धर्माभ्याम्। ७ अथ परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षं साधयति तदित्यादिना। ८ पृथक्कृत। हिरुक् नाना च वर्जने इत्यभिधानात्। हिरुक्कृतपृथक्कृतस्वभाव— ब०, ता०, मू०, द०। नानास्वभाव— ता०, टि०। हिरुकसहकृतपृथक्कृतस्व— आ०। ९ एतानि च आ०, ब०, द०, मु०। १० —र्षजनितानि आ०, ब०, द०, मु०। ११ इन्द्रियाणाम्। १२ —त्तिपटुना आ०, ब०, द०, मु, मू०। पटुना इति वा पाठः —श्र०।

अस्मदात्मास्तित्वप्रत्ययस्य सर्वविकल्पेष्विष्टसिद्धेः ।२०। योऽयमस्माकम् 'आत्माऽस्ति' इति प्रत्ययः स संशयानध्यवसायविपर्ययसम्यक्प्रत्ययेषु यः कश्चित् स्यात्, सर्वेषु च विकल्पेष्विष्टं सिध्यति । न तावत्संशय; निर्णयात्मकत्वात् । सत्यपि संशये तदालम्बनात्मसिद्धि[1]। न हि अवस्तुविषय. संशयो भवति। नाप्यनध्यवसायो जात्यन्धबधिररूपशब्दवत्; अनादिसंप्रतिपत्तेः । स्याद्विपर्यय; एवमप्यात्मास्तित्वसिद्धि पुरुषे स्थाणप्रतिपत्तौ स्थाणुसिद्धिवत् । स्यात्सम्यक्प्रत्यय; अविवादमेतत्–आत्मास्तित्वमिति सिद्धो न पक्ष ।

सन्तानादिति चेत्; न; तस्य संवृतिसत्त्वात्, द्रव्यसत्त्वे वा संज्ञाभेदमात्रम् ।२१। स्यान्मतम्–सन्तानो नाम कश्चिदर्थोऽस्ति एकोऽनेकक्षणवृत्ति, तदाश्रय ग्रहणविज्ञानात्मस्वभावस्थानादिसंप्रतिपादनमिति[2]; तन्न; कि कारणम् ? तस्य संवृतिसत्त्वात् । स हि सन्तानः [3]सवृतिसन्, तस्मिन्नसति कल्पितात्मनि[4] कथं [5]स्यात्तद्विशेषप्रत्यय. ? अथ द्रव्यसत्त्वमस्यावसीयते; सज्ञाभेदमात्रम्–आत्मा सन्तान इति नार्थविप्रतिपत्तिः ।

[6]यदप्युक्तम्–'सत्यपि लक्षणत्वानुपपत्तिरनवस्थानात्' इति, कथञ्चिदवस्थानादुपयोगस्य लक्षणत्वोपपत्ति । न हि सर्वथा विनाशोऽवस्थानं वोपयोगस्याभ्युपगम्यते । कि तर्हि ? कथञ्चिद्विनाश. कथञ्चिदवस्थानं च । पर्यायार्थादेशात् सतोऽर्थस्यानुपलब्धेर्विनाशो द्रव्यार्थादेशादवस्थानमिति असकृत्परीक्षितमेतत्[7]। तस्मादुपयोगस्य लक्षणत्वमुपपद्यते ।

तदुपरमाभावाच्च ।२२। कस्यचिदुपयोगस्योत्पाद. कस्यचिद्विनाश इत्युपयोगपरम्परा नोपरमतीति तस्य लक्षणत्वमवसेयम् ।

सर्वथा विनाशे पुनरनुस्मरणाभावः ।२३। यदि सर्वथोपयोगस्य विनाश. स्यात्; अनुस्मरणं न स्यात् । अनुस्मरणं हीद स्वयमनुभूतस्यार्थस्य दृष्टं नाननुभूतस्य नान्येनानुभूतस्य । तदभावात्तन्मूल. सर्वलोकसंव्यवहारो विनाशमुपगच्छेत् ।

उपयोगसंबन्धो लक्षणमिति चेत्; न; अन्यत्वे संबन्धाभावात् ।२३। स्यान्मतम्–उपयोगो लक्षणमात्मनो नोपपद्यते । कुत. ?अन्यत्वात् । कि तर्हि ?तत्संबन्धो लक्षणम् । यथा देवदत्तस्य न दण्डो लक्षणम्. कि तर्हि?सबन्धः । यदि हि दण्डो लक्षणम् [8]असंसक्तोऽपि लक्षणं स्यात्, एवं च कृत्वोक्तम्–#"**क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यलक्षणम्**" [वैशे० १।१।१५] इति; तन्न; कि कारणम् ? अन्यत्वे संबन्धाभावात्। द्रव्याद् गुणोऽर्थान्तरभूतो यदि स्यात्; तस्य सबन्धाभाव इत्युक्तं पुरस्तात् । तस्मादात्मभूत उपयोगो लक्षणमिति न कश्चिद्दोष. ।

य उक्त उपयोगस्तद्भेददर्शनार्थमाह–

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

कथं द्विविधः ?

साकारानाकारभेदाद् द्विविधः ।१। साकार उपयोगोऽनाकार उपयोगश्चेति द्विविध । साकारं ज्ञानम्, अनाकारं दर्शनम् ।

---

१ –सिद्धेः आ०, ब०, द०, मु० । २ ज्ञानविषयसम्प्रतिपत्तिः । ३ सं उपचारः वृतिसन् आ० । मिथ्यारूपेण सन् विद्यमानः । ४ स्वरूपे । ५ स्याद्विशे– आ०, ब०, द०, मु० । ६ यदुक्तं आ० ब०, द०, मु०, ता० । ७ –तं त– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ असक्तोऽपि आ०, ब०, द०, मु० ।

अभ्यर्हितत्वाज्ज्ञानग्रहणमादौ ।२। ज्ञानं हृद्यभ्यर्हितम् अर्थानां [1]विभावकत्वात्, दर्शनमालोचनमात्रम्, अतस्तस्मात् पूर्वकालभाविनोऽपि दर्शनाज्ज्ञानं प्राग्गृह्यते ।

कथ पुनर्ज्ञायते ज्ञानग्रहणमादौ क्रियत इति ?

संख्याविशेषनिर्देशात्तन्निश्चयः ।३। यत सख्याविशेषनिर्देश क्रियते–'अष्टभेदश्चतुर्भेद' इति, ततस्तस्य निश्चयो वेदितव्य । ननु च चतु शब्दस्य पूर्वनिपातेन भवितव्यम् *"**संख्याया अल्पीयस्याः**" [पा० वा० २।२।३४] इति वचनात्, यथा चतुर्दशेति; नैष दोष; उक्तमेतत्–'अभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपात' इति ।

तत्र ज्ञानोपयोगोऽष्टविध –मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मन पर्ययज्ञानं केवलज्ञानं मत्यज्ञान श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञान चेति । दर्शनोपयोगश्चतुर्विध –चक्षुर्दर्शनम् अचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शन केवलदर्शन[2]चेति । एषा च लक्षणादीनि व्याख्यातानि । अवग्रहान्नान्यत् दर्शनमिति चेत्; व्याख्यातमन्यत्वम् । छद्मस्थेषु तयो क्रमेण वृत्ति , निरावरणेषु युगपत् ।

यथोक्तेनानेनाहितपरिणामेन[3] सर्वात्मसाधारणेनोपयोगेन[4] ये उपलक्षिता उपयोगिन ते द्विविधा –

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः ।१। [5]आत्मनोपचित कर्माष्टविधं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धभेदभिन्नम्, तद्वशादात्मनो भवान्तरावाप्ति ससार इति ।

उच्यते– द्विरात्मग्रहणं[6] किमर्थम् ? 'आत्मैव कर्मण कर्ता, तत्फलस्य च आत्मैव भोक्ता' इत्येतस्य प्रदर्शनार्थम् ।

'अन्ये तु 'त्रैगुण्य[7]' कर्तृ, परम् आत्मा भोक्ता' इति मन्यन्ते; तदयुक्तम्; अचेतनस्य पुण्यपापविषयकर्तृतानुपपत्तेर्घटादिवत् । परकृतफलभोगे [8]चानिर्मोक्षप्रसङ्ग स्यात् [9]कृतप्रणाशश्चेति । तस्माद्यः कर्ता स एव भोक्तेति युक्तम् ।

ससार पञ्चविध द्रव्यत क्षेत्रत कालतो भावतो भवतश्चेति, स येषामस्ति ते ससारिण. ।

निरस्तद्रव्यभावबन्धा मुक्ताः ।२। बन्धो द्विविधो द्रव्यबन्धो भावबन्धश्चेति । तत्र द्रव्यबन्ध कर्मनोकर्मपरिणत पुद्गलद्रव्यविषय । [10]तत्कृत क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्ध । स उभयोऽपि निरस्तो यै ते मुक्ता ।

द्वन्द्वनिर्देशो लघुत्वादिति चेत्; न; अर्थान्तरप्रतीतेः ।३। स्यान्मतम्–द्वन्द्वनिर्देशोऽत्र युक्त । कुत ? लघुत्वात्, द्वन्द्वे हि सति उक्तार्थत्वाच्चशब्दाप्रयोगे लाघव भवति इति; तन्न; किं कारणम् ? अर्थान्तरप्रतीते । ससारिणश्च मुक्ताश्चेति द्वन्द्वे सति [11]अल्पाच्तरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च मुक्तशब्दस्य पूर्वनिपाते सति मुक्तससारिण इति प्राप्नोति, तथा च सत्यर्थान्तर प्रतीयेत– मुक्त ससारो येन भावेन स मुक्तसंसारस्तद्वन्त. मुक्तससारिण इति। तथा सति मुक्तानामेवोपयोगित्वमुक्त[12] स्यान्न ससारिणाम्, अतो वाक्यमेव क्रियते ।

---

१ निश्चायकत्वात् । २ –यसः श्र०, मू० । ३ –नमिति श्र०, मू० । ४ भेदेन । ५ –नैनोपलक्षिता उप– आ०, ब०, द०, मु० । ६ आत्मोपचि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ वार्तिके । ८ सांख्याः –स स्पा० । ९ प्रधानम् । १० वानिर्मो– आ०, ब०, द०, मु० । ११ प्रकृतेः । १२ तःकृतक्रो– मू० । १३ अल्पाक्षर– मु० । १४ –योगत्वमुक्तं– आ०, ब०, द०, मु० ।

समुच्चयाभिव्यक्त्यर्थं चशब्दोऽनर्थक इति चेत्; न; उपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थत्वात् ।।४। स्यान्मतम्–चशब्दोऽनर्थक । कुत ? अर्थभेदात् समुच्चयसिद्धे । भिन्ना हि ससारिणो मुक्ताश्च ततो विशेषणविशेष्यत्वानुपपत्ते समुच्चय सिद्ध यथा * [१]"**पृथिव्यापस्तेजोवायुः**" [ ] इति; तन्न; कि कारणम् ? उपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थत्वात् । नाय चशब्दः समुच्चये, क्व तर्हि[२] ? अन्वाचये[३] । तत्र ह्येक प्रधानभूत [४]इतरो गुणभूतः यथा 'भैक्ष चर देवदत्त चानय' इति प्रधानशिष्ट भैक्षचरण देवदत्तानयनमप्रधानशिष्टम् । तथा ससारिण प्राधान्येनोपयोगिनो मुक्ता गुणभावेनेत्येतस्यै प्रदर्शनार्थ [५] । कथ ससारिषु मुख्य उपयोग कथ वा मुक्तेषु गौणः ? ५

परिणामान्तरसंक्रमाभावाद् ध्यानवत् ।५। यथा एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति छद्मस्थे ध्यानशब्दार्थो मुख्यश्चिन्ताविक्षेपवतः तन्निरोधोपपत्तेः, तदभावात् केवलिन्युपचरित फलदर्शनात्, तथा उपयोगशब्दार्थोऽपि ससारिषु मुख्य परिणामान्तरसक्रमात्, मुक्तेषु तदभावाद् गौणः कल्प्यते [६]उपलब्धिसामान्यात् । १०

संसारिग्रहणमादौ बहुविकल्पत्वात्[७] तत्पूर्वकत्वात् स्वसंवेद्यत्वाच्च ।६। ससारिग्रहणमादौ क्रियते बहुविकल्पत्वात्, बहवो हि ससारिणा विकल्पा गत्यादयः । किञ्च, तत्पूर्वकत्वात् । ससारिपूर्वका हि मुक्ताः, न मुक्तपूर्वा ससारिण इति । स्वसवेद्यत्वाच्च । स्वसवेद्या हि ससारिणो गत्यादिपरिणामानामनुभूतत्वात्, मुक्ता पुनरत्यन्तपरोक्षा, तदनुभवस्याप्राप्तत्वात् । १५

तत्र य एते शुभाशुभकर्मफलानुभवनसबन्धवशीकृतस्वभावा अप्रच्युतसंसरणाः पूर्वकृतनामकर्मनिमित्तजनित[८]करणविशेषाः प्राणिन ते खलु–

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

मनःसन्निधानासन्निधानापेक्षया द्विविधाः संसारिणः ।१। मनो द्विविधम्–द्रव्यमनो भावमनश्चेति । तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्ष द्रव्यमनः । वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा आत्मनो विशुद्धिर्भावमन । तेन मनसा सह वर्तन्त इति समनस्का । न विद्यते मनो येषा ते अमनस्का इति द्विविधा ससारिणो भवन्ति । अत्राह– २०

द्विविधजीवप्रकरणाद्यथासंख्यप्रसङ्गः ।२। द्विविधा हि जीवा प्रकृता ससारिणो मुक्ताश्च । तत्र ससारिण समनस्का मुक्ताश्चाऽमनस्का इति यथासख्य प्राप्नोति ।

इष्टमिति चेत्, न; सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसङ्गात् ।३। स्यादेतत्–इष्टमेवेद ससारिण समनस्का मुक्ताश्चामनस्का इति; तन्न; कि कारणम् ? सर्वससारिणां समनस्कत्वप्रसङ्गात् । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणा पञ्चेन्द्रियेषु च केषाञ्चित् मनोविषयविशेषव्यवहाराभावात् अमनस्कतेष्टा तद्व्याघातोऽतः स्यात् । अत्रोच्यते– २५

पृथग्योगप्रक्लृप्तेः संसारिसंप्रत्ययः ।४। यदिद पृथग्योगकरण तेन ज्ञायते ससारिणोऽत्र सबन्ध्यन्त इति । इतरथा हि एक एव योगः क्रियते–'ससारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्का.' इति । ३०

---

१ पृथिव्यप्तेजो– आ०, ब०, द०, मु० । "पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसञ्ज्ञाः ।" –तत्त्वोप० पृ० १ । २ किं तर्हि आ०, ब०, द०, द०, मु० । ३ प्रधानाप्रधानविवक्षायामन्वाचयः । ४ इतरे गुणभूताः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ५ –नार्थम् श्र० । ६ केवलज्ञान । ७ –त्वाच्च स्व– आ०, ब०, द०, मु० । ८ –जनितवि– आ०, ब०, द०, मु० ।

औपरिष्टसंसारिवचनप्रत्यासत्तेश्च ।५। औपरिष्टमस्ति संसारिवचनम्, तस्य प्रत्यासत्तेरभिसबन्धाच्च ससारिसप्रत्ययो भवति। अत्राह–

तदभिसंबन्धे यथासंख्यप्रसङ्गः ।६। यदि तदभिसबन्धः क्रियते 'तत्तत्र त्रसस्थावरग्रहणमस्ति तेन यथासंख्य प्राप्नोति 'समनस्कास्त्रसा अमनस्का. स्थावरा' इति।

इष्टमेवेति चेत्; न; सर्वत्रसानां समनस्कत्वप्रसङ्गात् ।७। स्यादेतत्–इष्टमेवेदं त्रसाः समनस्का स्थावरा अमनस्का इति; तन्न, कि कारणम् ? सर्वत्रसाना समनस्कत्वप्रसङ्गात्, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामसज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि समनस्कत्व प्रसज्येत। अनिष्टं चैतत्। अत्रोच्यते–

नानभिसंबन्धात् ।८। संसारिग्रहणमात्रमत्राभिसंबध्यते न त्रसस्थावरग्रहणम्। इच्छावशेन हि सबन्धो भवति।

एकयोगाकरणात् ।९। यदि त्रसस्थावरग्रहणेनापि संबन्ध इष्टः स्यात् एक एव योगः क्रियेत–'समनस्कामनस्काः ससारिणस्त्रसस्थावराः' इति। नत्वेव कृत। तेन ज्ञायते त्रसस्थावरग्रहणं न संबध्यत इति। अथवा, एकयोगाकरणात् मन्यामहे–अतीतस्य ससारिमुक्तग्रहणस्य वक्ष्यमाणस्य च त्रसस्थावरग्रहणस्य समनस्कामनस्कग्रहणेनाभिसबन्धो न भवतीति।

इतरथा अन्यतरत्र संसारिग्रहणे सतीष्टार्थत्वादुपरि संसारिग्रहणमनर्थकम् ।१०। इतरेण प्रकारेणेतरथा। कथम् ? यदि ससारिमुक्तग्रहणेन त्रसस्थावरग्रहणेन चास्याभिसबन्ध स्यात् एक एव योगः क्रियेत'–'ससारिमुक्ता· समनस्कामनस्कास्त्रसस्थावराश्च' इति। तथा सत्यन्यतरत्र संसारिग्रहण कर्तव्यं स्यात्। क्वान्यतरत्र ? समनस्कामनस्कसूत्रस्यादावन्ते वा। एव सतीष्टार्थस्य सिद्धत्वात् 'ससारिण त्रसस्थावराः' इत्यत्र संसारिग्रहणमनर्थक स्यात्।

आदौ समनस्कग्रहणमभ्यर्हितत्वात् ।११। आदौ समनस्कग्रहण क्रियते। कुतः ? अभ्यर्हितत्वात्। कथमभ्यर्हितत्वम् ? तत्र हि समग्राणि करणानीति।

य एते स्वकृतकर्मफलापेक्षपरिपूर्णापरिपूर्णकरणग्रामाहितद्वैविध्यविशिष्टाः कार्मणशरीरप्रणालिकापादितनियतावस्थाविशेषा, ते खलु–

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

अत्राह–के त्रसाः, के स्थावरा इति ? उच्यन्ते–

त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः ।१। त्रसनामकर्मणो जीवविपाकिन उदयापादितवृत्तिविशेषाः त्रसा इति व्यपदिश्यन्ते।

त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रसा इति चेत्; न; गर्भादिषु तदभावाद् अत्रसत्वप्रसङ्गात् ।२। स्यान्मतम्–त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति ? तन्न; कि कारणम् ? गर्भादिषु तदभावाद् अत्रसत्वप्रसङ्गात्। गर्भाण्डजमूर्च्छितसुषुप्तादीना त्रसाना [3]बाह्यचभयनिमित्तोपनिपाते सति चलनाभावादत्रसत्व स्यात्। कथ तर्हचस्य निष्पत्तिः 'त्रस्यन्तीति त्रसाः' इति ? व्युत्पत्तिमात्रमेव नार्थः प्राधान्येनाश्रियते गोशब्द[4]प्रवृत्तिवत्।

स्थावरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः स्थावराः ।३। स्थावरनामकर्मणो जीवविपाकिन उदयेनोपजनितविशेषाः स्थावरा इत्याख्यायन्ते।

---

१ –तत्र श्र०, मू०, ता०। २ क्रियते श्र०, मू०। ३ बाह्योभय– मु०, शु०। ४ –शब्दवृत्ति– श्र०, मू०।

स्थानशीलाः स्थावरा इति चेत्; न; वाय्वादीनामस्थावरत्वप्रसङ्गात् ।४। स्यादेतत्–तिष्ठन्तीत्येवं शीलाः स्थावरा इति ? तन्न; किं कारणम् ? वाय्वादीनामस्थावरत्वप्रसङ्गात् । वायुतेजोऽम्भसां हि देशान्तरप्राप्तिदर्शनादस्थावरत्वं स्यात् । कथं तर्ह्यस्य निष्पत्तिः–'स्थानशीला. स्थावरा' इति ? एवं रूढिविशेषबललाभात्[1] क्वचिदेव वर्तते[2] ।

इष्टमेवेति चेत्; न; समयार्थानवबोधात् ।५। अथ मतमेतत्–इष्टमेव वाय्वादीनामस्थावरत्वमिति, तन्न; किं कारणम् ? समयार्थानवबोधात् । एवं हि [3]समयोऽवस्थित सत्प्ररूपणाया कायानुवादे *"**त्रसा नाम द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगिकेवलिन** " [षट्ख०] इति । तस्मान्न चलनाचलनापेक्ष त्रसस्थावरत्व कर्मोदयापेक्षमेवेति स्थितम् । ५

त्रसग्रहणमादौ अल्पाच्तरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च ।६। त्रसग्रहणमादौ क्रियते । कुत ? अल्पाच्तरत्वाद् अभ्यर्हितत्वाच्च । सर्वोपयोगसभवादभ्यर्हितत्वम् । १०

सामान्यविशेषसज्ञाहितभेदमात्रविज्ञाने सति विशेषेणाऽनिर्ज्ञाताना त्रसस्थावराणा निर्ज्ञानि कर्तव्ये एकेन्द्रियाणामतिबहुवक्तव्याभावाद् विभज्यानुपूर्वी स्थावरभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह–

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

नामकर्मोदयानिमित्ताः पृथिव्यादयः संज्ञाः ।१। स्थावरनामकर्मभेदा पृथिवीकायादय सन्ति, [4]तदुभयनिमित्ता जीवेषु पृथिव्यादय सज्ञा वेदितव्या । [5]प्रथनादिप्रकृतिनिष्पन्ना अपि रूढिवशात् प्रथनाद्यनपेक्षा वर्तन्ते । २०

एषा [6]पृथिव्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्त प्रत्येकम् । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते–पृथिवी पृथिवीकाय. पृथिवीकायिक पृथिवीजीव इत्यादि[7] । तत्र अचेतना[8]वैश्रसिकपरिणामनिर्वृत्ता काठिन्यादिगुणात्मिका पृथिवी । अचेतनत्वादसत्यपि पृथिवीकायिकनामकर्मोदये प्रथनक्रियोपलक्षितैवेयम् । अथवा, पृथिवी सामान्यम्, उत्तरत्रये संभवात् । कायः शरीरम्, पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्त पृथिवीकाय, मृतमनुष्यादिकायवत् । पृथिवी कायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः तत्कायसबन्धवशीकृत आत्मा । समवाप्तपृथिवीकायिकनामकर्मोदयः[10] कार्मणकाययोगस्थः, यो न तावत् पृथिवी कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीव [11] । एवमापः, अप्कायः, अप्कायिकः, अप्जीवः । तेजः, तेजस्काय, तेजस्कायिकः, तेजो जीवः । वायुर्वायुकायो वायुकायिको वायुजीवः । वनस्पतिर्वनस्पतिकायो वनस्पतिकायिको वनस्पतिजीव इति योज्यम् । २५ ३०

सुखग्रहणहेतुत्वात् स्थूलमूर्तित्वादुपकारभूयस्त्वाच्चादौ पृथिवीग्रहणम् ।२। पृथिव्या हि सत्यामपा कुम्भादिभि. अग्नेश्च शरावादिभिः वायोश्च चर्मघटादिभिः सुखेन ग्रहण क्रियते ।

---

१ –लाभात्तु क्व– श्र०, मू० । २ वर्तन्ते ता०, श्र०, मु०, द०, आ०, ब०, मु० । ३ "तसकाइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।" –षट् खं०सं०सू० ४४ । ४ त्रसनाम श्र० । त्रसानां द्वी– आ०, ब०, द०, मु० । ५ बाह्याभ्यन्तर । ६ पृथुत्व धारणादि । ७ "उक्तञ्च-पुढवी पुढवीकायो पुढवीकाइय पुढविजीवो य । साहारणोपमुक्को सरीरगहिदो भवंतरिदो ।।" –स० सि० २।१३ । ८ आदिशब्देन अबादीनां चातुर्विध्यं योज्यम् । ९ स्वभावजात । १० –नामोदयः आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । ११ चतुर्णामपि पृथिवीशब्दवाच्यत्वेऽपि शुद्धपुद्गलपृथिव्या जीवपरित्यक्तपृथवीकायस्य च नेह ग्रहणम्, तयोरचेतनत्वेन तत्कर्मोदयासंभवात् तत्कृतपृथिवीव्यपदेशासिद्धेः । तस्माज्जीवाधिकारात् पृथिवीं कायत्वेन गृहीतवतः पृथिवीकायिकस्य विग्रहगत्यापन्नस्य च पृथिवीजीवस्य च ग्रहणम्, तयोरेव पृथिवीस्थावरनामकर्मोदयसंभवात् ।

स्थूलमूर्तिश्च पृथिवी विमानभवनप्रस्तारादिभावपरिणामात् । [१]स्नानपानाद्युपकारादपां पाकशोषप्रकाशनाद्युपकाराच्चाग्ने: स्वेदखेदापनोदाद्युपकाराच्च वायोर्भूयानुपकार: पृथिव्या अशनाच्छादनवसनादिभावो वनस्पतेः । अबादीना यश्चोक्त उपकार प्रतिनियत इति स सत्यां पृथिव्यां सभवति, इतरथा हि क्वावस्थितानां स उपकार स्यात्, अत पृथिव्या ग्रहणमादौ क्रियते ।

तदनन्तरमपां वचनं भूमितेजसोर्विरोधादाधेयत्वाच्च ।३। तदनन्तरमपां वचनं क्रियते । कुत. ? भूमितेजसोर्विरोधादाधेयत्वाच्च । भूमेर्हि तेजो विरोधि विनाशकत्वात्, अतोऽद्भिर्व्यवधान क्रियते । भूरपामाधार आधेया आप इति च ।

ततस्तेजोग्रहणं [२]तत्परिपाकहेतुत्वात् ।४। पृथिव्या अपा च परिपाकहेतुस्तेज, तदनन्तरं तस्य ग्रहण क्रियते ।

तेजोऽनन्तरं वायुग्रहणं तदुपकारकत्वात् ।५। वायुर्हि [३]तिर्यक्प्लवनकर्मा तेजस प्रेरणेन उपकरोतीति तदनन्तर गृह्यते ।

अन्ते वनस्पतिग्रहणं सर्वेषां तत्प्रादुर्भावे निमित्तत्वादनन्तगुणत्वाच्च ।६। वनस्पतिप्रादुर्भावे हि पृथिव्यादय. सर्वे निमित्ततामुपव्रजन्ति । सर्वेषा तेषा वनस्पतिकायिका अनन्तगुणास्ततोऽन्ते वनस्पतिग्रहण क्रियते । एते पञ्चविधा प्राणिन स्थावरा ।

कति पुनरेषा प्राणा ? चत्वार –स्पर्शनेन्द्रियप्राण कायबलप्राण उच्छ्वासनिश्वासप्राण आयुःप्राणश्चेति ।

अथ के त्रसा इति ? अत्रोच्यते[४]–

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

आदिशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्था[५]संप्रत्ययः ।१। अयमादिशब्दोऽनेकार्थ – व्यवस्थाप्रकारसामीप्यादिवचनत्वात्, तत्र विवक्षात इह व्यवस्थाया गृह्यते । आगमे हि ते व्यवस्थिताद्वीन्द्रियस्त्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियश्चेति । कोऽस्य विग्रह ? द्वे इन्द्रिये यस्य सोऽय द्वीन्द्रिय स आदिर्येषा ते द्वीन्द्रियादय इति । यद्येवम्–

अन्यपदार्थनिर्देशाद् द्वीन्द्रियाग्रहणम् ।२। अन्यपदार्थोऽत्र प्राधान्येनाश्रित । द्वीन्द्रियग्रहणमुपलक्षणम्, अतस्त्रसग्रहणे द्वीन्द्रियस्य[६] ग्रहण न प्राप्नोति यथा 'पर्वतादीनि क्षेत्राणि' इति न पर्वत क्षेत्रग्रहणेन गृह्यते ।

न वा तद्गुणसंविज्ञानात् ।३। न वैष दोष ; कि कारणम् ? तद्गुणसविज्ञानात् । यथा शुक्लवाससमानयेति तद्गुण आनीयते तथेहापि द्वीन्द्रियस्याप्यन्तर्भावो भवति ।

अवयवेन विग्रहे सति समुदायस्य वृत्त्यर्थत्वाद्वा ।४। अथवा *"[७]**अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः**" [पात० महा० २।२।२४] इति द्वीन्द्रियस्योपलक्षणस्यापि त्रसत्वेऽन्तर्भाव, यथा *"**सर्वादि सर्वनाम**" [जैनेन्द्र० १।१।३५] इति । कथ तर्हि पर्वतादीनि क्षेत्राणीति पर्वतस्य बहिर्भावि ? पर्वतस्य क्षेत्रत्वसभवाभावाद् व्युदास । ते एते चतुर्विधा प्राणिनस्त्रसा. ।

---

१ स्नपनाद्यु– ता०, आ०, ब० । स्नापनाद्यु– मू० । स्थापनाद्यु– द० । २ तत्पाक– श्र०, मू० । ३ तिर्यक्पचन– आ०, द०, मु० । तिर्यक्पतन– ब० । तिर्यक्प्रचलन– सा० । ४ इत्युच्यते श्र० । ५–स्थार्थगतिः भा० १। ६ द्वीन्द्रियग्र– श्र० । ७ अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः । –पात० महाभा० ।

कति पुनरेषां प्राणा.[1] द्वीन्द्रियस्य तावत् षट्प्राणाः—स्पर्शनरसनेन्द्रियप्राणौ वाक्कायबलप्राणौ उच्छ्वासनिश्वासप्राण आयु प्राणश्चेति। त्रीन्द्रियस्य सप्त—त एव प्राणाः घ्राणाधिका[2]। चतुरिन्द्रियस्याष्टौ—त एव चक्षुरधिका.। पञ्चेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसज्ञिनो नव प्राणा. त एव श्रोत्राधिका। सज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवनारकाणा दश प्राणा मनोबलाधिकास्त एव।

आदिशब्देन निर्दिष्टानामिन्द्रियाणामनिर्ज्ञातसख्यानामियत्तावधारणार्थमाह— ५

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

अथवा स्वां प्रक्रियाम् आचिख्यासव केचित् पञ्च षडेकादश[3] चेन्द्रियाणि इत्यध्यवस्यन्ति तत्रानिष्टनिवृत्त्यर्थं नियमयन्नाह—पञ्चेन्द्रियाणि नाधिकानीति।

इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गमिन्द्रियम्।१। उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मबन्धस्यापि परमेश्वरत्वशक्तियोगाद् इन्द्र[4]व्यपदेशमर्हत स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरण लिङ्गमिन्द्रियमित्युच्यते। १०

इन्द्रेण कर्मणा सृष्टमिति वा।२। अथवा स्वकृतकर्मविपाकवशादात्मा देवेन्द्रादिषु तिर्यगादिषु चेष्टानिष्टमनुभवतीति कर्मैव तत्रेन्द्र, तेन सृष्टमिन्द्रियमित्याख्यायते।

तद्भेदाः स्पर्शनादय पञ्च वक्ष्यमाणाः। १५

मनोऽपीन्द्रियमिति चेत्; न; अनवस्थानात्।३। स्यान्मतम्—मनोऽपीन्द्रियमित्युपसख्येयम्, कर्ममलीमसस्यात्मनोऽमहायस्य स्वयमेवार्थचिन्तन प्रत्यसहिष्णोर्बलाधान भवति मन कर्मकृतं चेति? तन्न; किं कारणम्? [5]अनवस्थानात्। यथा चक्षुरादीनि प्रतिनियतदेशावस्थानानि न तथा मन इत्यनिन्द्रिय तत्।

इन्द्रियपरिणामाच्च प्राक् तद्व्यापारात्।४। चक्षुरादीना रूपादिविषयोपयोगपरिणामात् प्राक् मनसो व्यापार। कथम्? शुक्लादिरूप दिदृक्षु प्रथमं मनसोपयोग करोति 'एवविध रूपं पश्यामि रसमास्वादयामि' इति, ततस्तद्बलाधानीकृत्य चक्षुरादीनि विषयेषु व्याप्रियन्ते। ततश्चास्याऽनिन्द्रियत्वम्। २०

कर्मेन्द्रियोपसंख्यानमिति चेत्; न; उपयोगप्रकरणात्।५। स्यादेतत्—कर्मेन्द्रियाणि [6]वागादीनि वचनादिक्रियानिमित्तानि सन्ति तेषामिहोपसख्यान कर्तव्यमिति? तन्न; किं कारणम्? उपयोगप्रकरणात्। उपयोगोऽत्र प्रकृत, तदुपकरणानि इह इन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेन कर्मेन्द्रियाणामप्रसङ्ग। २५

अनिन्द्रियत्वं वा तेषामनवस्थानात्।६। न वागादीनामिन्द्रियत्वमस्ति, उपयोगसाधनेषु हीन्द्रियव्यपदेशो युक्तो न क्रियासाधनेषु। यदि च क्रियासाधनेष्वपि स्याद् अनवस्था प्रसज्येत, सर्वाणि हि चङ्क्रोपाङ्गादीनि मूर्धादीनि क्रियासाधनानीति। ३०

[7]इष्टानिष्टविषयोपलब्धार्थानि भोक्तुरात्मनो यान्यमूनीन्द्रियाणि तेषामुक्तसामर्थ्यविशेषादुप[8]निपतितभेदानां प्रत्येकं भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

---

१ सांख्याः। २ इदु परमैश्वर्ये इति धातोरर्थः शक्त्या संभवतीत्यर्थः। ३ अनियतवृत्तित्वात्। ४ वाक्पाणिपादपायपस्थानि कर्मेन्द्रियं पाय्वादि इत्यभिधानात्। पायुर्नाम मलद्वारम् गुदं त्वपान पायुर्नाम, भगमेहनादिकम् उपस्थः। ५ इष्टानिष्टविषयेषु लब्धोऽर्थो यैस्तानि। ६ —पनियतभे— मु०।

द्विविधानि ॥१६॥

विधशब्दस्य प्रकारवाचिनो ग्रहणम् ।१। अयं विधशब्द प्रकारवाची गृह्यते, विधयुक्तगतप्रकारा समानार्था इति । द्वौ विधौ येषा तानि द्विविधानि द्विप्रकाराणीत्यर्थ. । कौ च द्वौ प्रकारौ ? द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रियमिति ।

तत्र द्रव्येन्द्रियस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमाह–

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

निर्वर्त्त्यत इति निर्वृत्तिः ।१। कर्मणा या निर्वर्त्त्यत निष्पाद्यते सा निर्वृत्तिरित्युपदिश्यते ।

सा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदात्[1] ।२। सा निर्वृत्तिर्द्वेधा । कुत ? बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्र–

विशुद्धात्मप्रदेशवृत्तिराभ्यन्तरा ।३। उत्सेधाङ्गुलस्याऽसख्येयभागप्रमिताना विशुद्धानामात्मप्रदेशाना प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसस्थानमानावमानावस्थितिताना वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्ति ।

तत्र नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयो बाह्या ।४। तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक् य प्रतिनियतसस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेष पुद्गलप्रचय स बाह्या निर्वृत्ति ।

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम् ।५। येन निवृत्तेरुपकार क्रियते तदुपकरणम् ।

तद् द्विविधं पूर्ववत् ।६। तदुपकरण द्विविध पूर्ववत् बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्राभ्यन्तरं शुक्लकृष्णमण्डलम्, बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि । एव शेषेष्वपीन्द्रियेषु ज्ञेयम् ।

भावेन्द्रियमुच्यते–

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

लब्धिरिति कोऽय शब्द[2] ? लाभो लब्धि । यद्येव [3]षित्वादङ प्राप्नोति, *"अनुबन्धकृतमनित्यम्" [ ] इति न भवति यथा *"वर्णानुपलब्धौ[3] चातदर्थगते" [पात० महा० प्रत्याहा० ५] इत्येवमादिषु । अथवा *"स्त्रियां क्तिः, [4]लभादिभ्यश्च" [श० च० २।३।८०, ८१] इति क्तिर्भवति, इष्टाचावादय इति । अथ कोऽस्यार्थ. ?

इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः ।१। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते ।

तन्निमित्तः परिणामविशेष उपयोगः ।२। [5]तदुक्त निमित्त प्रतीत्य उत्पद्यमान आत्मनः परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते । तदेतदुभय [6]भावेन्द्रियमिति ।

उपयोगस्य फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेत्; न; कारणधर्मस्य [7]कार्येऽनुवृत्तेः ।३। स्यान्मतम्–इन्द्रियफलमुपयोग स [8]कथमिव इन्द्रियव्यपदेशमापद्यत इति ? तन्न, कि कारणम्?

---

१ –त् तत्र वि– आ०, ब०, द०, मु० । २ षिच्चिन्ति पूजि कथिकुम्बि चर्च्यन्तधेंऽङ(शा० ४।४।८२) इति। डुलभष् लाभे इति षकारान्तत्वात् –सम्पा० । ३ वा तद– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ लभादिभ्यश्चेति शाकटायनम् । रवादिभ्यश्च ता०, श्र०, मू० । ५ कोऽर्थः । ६ चेतनात्मकत्वात् । तत्र भावेन्द्रियमेव मुख्य प्रमाण स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वात् द्रव्येन्द्रियस्य उपचारत एव प्रामाण्योपगमात् । ७ कार्ये च वृत्तेः मू० । कार्यानुवृत्तेः आ०, ब०, द०, मु० । ८ कथमिहेन्द्रिय– आ०, ब०, द०, मु० ।

कारणधर्मस्य कार्येऽनुवृत्ते । कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमान दृष्ट यथा घटाकारपरिणत विज्ञान घट इति, तथेन्द्रियनिमित्त उपयोगोऽपि इन्द्रियमिति व्यपदिश्यते ।

शब्दार्थसंभवाच्च ।४। य शब्दार्थ 'इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण[1] सृष्टम्' इति वा स उपयोगे प्राधान्येन विद्यत इतीन्द्रियव्यपदेशो युक्त. ।

उक्तानां पञ्चानामिन्द्रियाणा संज्ञानुपूर्व्यविशेष प्रतिपादनार्थमाह— ५

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

[2]स्पर्शनादीनां करणसाधनत्वं पारतन्त्र्यात् कर्तृसाधनत्वं च स्वातन्त्र्याद् बहुलवचनात् ।१। इमानि [3]स्पर्शनादीनि करणसाधनानि । कुत ? पारतन्त्र्यात् । इन्द्रियाणा हि लोके पारतन्त्र्येण विवक्षा विद्यते, आत्मन स्वातन्त्र्यविवक्षाया यथा 'अनेनाऽक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमि' इति । ततो वीर्यान्तरायप्रतिनियतेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गना- १०
मलाभाभावष्टम्भात् स्पर्शत्यनेनात्मेति स्पर्शनम्, रसयत्यनेनात्मेति रसनम्, जिघ्रत्यनेनात्मेति घ्राणम्, चष्टेरनेकार्थत्वा[4]द्दर्शनार्थविवक्षाया चष्टेऽर्थान् पश्यत्यनेनात्मेति[5] चक्षु, शृणोत्यनेनात्मेति श्रोत्रम् । कर्तृसाधनत्वं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । इन्द्रियाणा हि लोके स्वातन्त्र्येण विवक्षा, यथा 'इद मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्ण सुष्ठु शृणोति' इति । तत.[6] पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति स्पृशत्यात्मैवेति स्पर्शनम् । कथम् ? कर्तरि युट् बहुलवचनात् । १५
रसयतीति रसनम्, जिघ्रतीति घ्राणम्, चष्टे इति चक्षु, शृणोतीति श्रोत्रमिति ।

अत्र 'इन्द्रियाणि' इति केषाञ्चित् पाठ । नासौ युक्त । कुत. ?

अधिकृतत्वात् 'इन्द्रियाणि' इत्यवचनम् ।२। 'पञ्चेन्द्रियाणि' इत्यत इन्द्रियग्रहणमनुवर्तते तेनेह 'इन्द्रियाणि' इति वचनमनर्थकम् ।

स्पर्शनग्रहणमादौ शरीरव्यापित्वात् ।३। यतो वितत्य[7] शरीरमवतिष्ठते स्पर्शनमतोऽस्य २०
ग्रहणमादौ क्रियते ।

वनस्पत्यन्तानामेकमिति च स्पर्शनस्य तत्र व्यापारात् ।४। वक्ष्यते *"**वनस्पत्यन्तानामेकम्**" [त० सू० २।२१] इति तत्र, स्पर्शनस्य ग्रहणार्थञ्चादौ वचनम् ।

सर्वसंसारिषूपलब्धेश्च ।५। सर्वेषु संसारिषु स्पर्शनमस्त्यतो नानाजीवापेक्षया व्यापित्वाच्चादौ ग्रहण क्रियते । २५

ततो रसनघ्राणचक्षुषां क्रमवचनम् उत्तरोत्तराल्पत्वात् ।६। तत पश्चाद्रसनादीनां त्रयाणां क्रमवचन क्रियते । कुत. ? उत्तरोत्तराल्पत्वात् । तद्यथा—सर्वत स्तोकाश्चक्षु प्रदेशा, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशा[8] सख्येयगुणा, घ्राणेन्द्रिये विशेषाधिका, जिह्वायामसख्येयगुणा, स्पर्शनेऽनन्तगुणा इति ।

यद्येव चक्षुषोऽन्ते ग्रहणं कर्तव्यं सर्वेभ्योऽल्पीयस्त्वात् ? सत्यम्, एवमेतत्; तथापि—

श्रोत्रस्यान्ते वचनं बहूपकारित्वात् ।७। यत श्रोत्रबलाधानादुपदेशं श्रुत्वा हिताहितप्राप्ति- ३०
परिहारार्थमाद्रियन्ते । अत श्रोत्र बहूपकारीति अन्ते गृह्यते ।

रसनमपि वक्तृत्वनेति चेत्; न; अभ्युपगमात् ।७। स्यादेतत्—रसनमपि बहूपकारि । कथम्? वक्तृत्वेन । यतो रसनमभ्युदयनि[9]श्रेयसार्थोच्चारणाऽध्ययनादिषु 'प्रवणमतो रसनमेवान्ते

---

१ कर्मणा । २ स्पर्शादी— ता०, श्र०, मू० । ३ स्पर्शादा— मू०, श्र० । ४ —त्वात्तद्— आ०, ब०, द०, मू० । ५—त्यनेनेति श्र,० ता०, मू० । ६ तेन पू— आ०, ब०, मु० । ७ व्याप्य । ८ प्रमाण— आ०, ब०, द०, मु० ।

वाच्यमिति ? तन्न; कि कारणम् ? अभ्युपगमात् । 'अभ्युपगम्य श्रोत्रस्य बहूपकारित्वं रसनस्यापि बहूपकारित्वं वर्णयता भवता तदभ्युपगतमिति अवसितोऽभिमतवाद. । अनभ्युपगमे वा प्रसङ्गनिवृत्ति 'रसनमपि बहूपकारि' इति । किञ्च,

श्रोत्रप्रणालिकापादितोपदेशात् ।९। श्रोत्रप्रणालिकयोपदेशमुपश्रुत्य रसन वक्तृत्वं प्रति व्याप्रियते अतः श्रोत्रमेव बहूपकारि ।

सर्वज्ञे तदभाव इति चेत्; न; इन्द्रियाधिकारात् ।१०। स्यान्मतम्—न हि सर्वज्ञ श्रोत्रेन्द्रियबलाधानात् परत उपश्रुत्य वक्तृत्वमास्कन्दतीति किन्तु सकलज्ञानावरणसक्षयाविर्भूतातीन्द्रियकेवलज्ञानः रसनोपष्टम्भमात्रादेव वक्तृत्वेन परिणत सकलान् [1]श्रुतविषयानर्थानुपदिशति, अतो रसनमेव बहूपकारीति ? तन्न; कि कारणम् ? इन्द्रियाधिकारात् । इन्द्रियाधिकारोऽयम्, अतो [2]येष्विन्द्रियकृतो हिताहितोपदेश. साकल्येनास्ति तान् प्रत्येतदुक्तं न सर्वज्ञ प्रतीति नास्ति दोष· ।

एकैकवृद्धिक्रमज्ञापनार्थं च स्पर्शनादिवचनम् ।११।*"कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि" [त० सू० २।२३] इति वक्ष्यते, तत्र वृद्धिक्रमज्ञापनार्थ च स्पर्शनादीनामानुपूर्व्यं वेदितव्यम् ।

एषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथक्त्वं प्रत्यनेकान्तः ।१२। एषा च स्पर्शनादीनामिन्द्रियाणां स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथक्त्व प्रत्यनेकान्तो वेदितव्य —स्यादेकत्वं स्यात् पृथक्त्वमित्यादि । तद्यथा स्वतस्तावत्—ज्ञानावरणक्षयोपशमशक्तेरभेदविवक्षाया स्पर्शनादीनां स्यादेकत्वम्, समुदायव्यतिरेकाभावात् समुदायिना समुदायस्यैकत्वादवयवानामप्येकत्वमिति वा स्यादेकत्वम् । प्रतिनियतक्षयोपशमलब्धिविशेषापेक्षया स्यान्नानात्वम्, अवयवभेदविवक्षाया वा स्यान्नानात्वम् । इन्द्रियबुद्धयभिधानानुवृत्तिव्यावर्तनार्पणाभेदाद्वा स्यादेकत्व स्यात् पृथक्त्व च । [3]तद्वतोऽपि चैतन्यापरित्यागेनोभयपरिणामकारणापेक्षस्य इन्द्रियपर्यायात्मलाभे सति [4]निष्टप्ताय पिण्डवत् तथापरिणामात् तद्व्यतिरेकेणेन्द्रियस्यानुपलिब्धरिति स्यादिन्द्रियेन्द्रियवतोरेकत्वम् । इतरथा एकान्तान्यत्वे[5] अनिन्द्रिय आत्मा स्यात् घटवत् । तथा अन्यतमेन्द्रियनिवृत्तौ तद्वतोऽवस्थानात् स्यान्नानात्वम्, पर्यायिपर्यायभेदाच्च स्यान्नानात्वम् । [6]सज्ञादिभेदाभेदविवक्षोपपत्तेश्च स्यादेकत्व स्यान्नानात्व वाऽवसेयम् । पूर्ववदुत्तरे च भङ्गा नेतव्याः ।

तेषामिन्द्रियाणा विषयप्रदर्शनार्थमाह—

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

स्पर्शादीनां कर्मभावसाधनत्वं द्रव्यपर्यायविवक्षोपपत्तेः ।१। स्पर्शादीना कर्मसाधनत्वं भावसाधनत्व च भवति । कुत ? द्रव्यपर्यायविवक्षोपपत्ते । यदा द्रव्य प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते ततो न व्यतिरिक्ता· स्पर्शादय. केचन सन्तीति, एतस्यां विवक्षाया कर्मसाधनत्व स्पर्शादीनामवसीयते—स्पृश्यत इति स्पर्श , रस्यत इति रस., गन्ध्यत इति गन्ध·, वर्ण्यत इति वर्ण , शब्द्यत इति शब्द । यदा तु पर्याय: प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः[7] औदासीन्यावस्थितभावकथनाद् भावसाधनत्व स्पर्शादीना युज्यते । ततः स्पर्शनं

---

१ रसनेनोच्चरितं शब्दम् । २ अवसितो वादः आ०, श०, ता०, मू० । अवसितोऽभिमतो वा— आ०, ब, द०, मु० । ३ श्रुतवि— आ०, ब०, द०, मु० । ४ जीवेषु । ५ आत्मनः । ६ निसो ना सेवायां तपैः इति अवसानक्रियायां ष्टुत्वम् । ७— त्वेन इन्द्रि— श० । ८ संज्ञाभेदाभेदा— आ०, ब०, द०, मु० । ९ पर्यायाणाम् ।

स्पर्श', रसन रसः, गन्धन गन्ध, वर्णनं वर्ण, शब्दन शब्द इति। यद्येवं सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु स्पर्शादिव्यवहारो न प्राप्नोति ? नैष दोष'; सूक्ष्मेष्वपि ते स्पर्शादय सन्ति तत्कार्येषु स्थूलेषु दर्शनादनुमीयमाना, न ह्यत्यन्तमसता प्रादुर्भावोऽस्तीति, किन्त्वव्रिन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति, अयोग्यत्वेऽपि तेषु स्पर्शादिव्यवहारो रूढिवशाद्भवति।

तदर्था इति कोऽय शब्द ? तेषामर्थास्तदर्था इति। तेषा केषाम् ? इन्द्रियाणाम्। यद्येव ५

तदर्था इति वृत्त्यनुपपत्तिरसमर्थत्वात्।२। तदर्था इति वृत्तिर्नोपपद्यते। कुत. ? असमर्थत्वात्। समर्थायवयवाना हि वृत्त्या भवितव्यम्। न चात्र सामर्थ्यमस्ति। कुत ? *"**सापेक्षमसमर्थं भवति**" [पात० महाभा० २।१।१] इति। इन्द्रियाणि ह्यत्रापेक्ष्यन्ते।

न वा; गमकत्वान्नित्यसापेक्षेषु संबन्धिशब्दवत्।३। न वैष दोष, कि कारणम् ? गमकत्वादत्र वृत्तिर्भवति। गमकत्व च नित्यसापेक्षेषु। कथम् ? सबन्धिशब्दवत्। यथा सबन्धि- १०
शब्देषु 'देवदत्तस्य गुरुकुल देवदत्तस्य गुरुपुत्र' इत्येवमादिषु वृत्तिर्भवति, गुरुशब्दो हि नित्य शिष्यमपेक्षत इति, एवमिहापि तच्छब्द. सामान्यवच'नोऽवश्य विशेषाकाङ्क्षी सन् प्रकृतानीन्द्रियाण्यपेक्षमाणोऽपि वृत्ति लभते।

स्पर्शादीनामानुपूर्व्येण निर्देश इन्द्रियक्रमाभिसंबन्धार्थः।४। 'स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च शब्दश्च स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दा' इत्यानुपूर्व्येण निर्देश स्पर्शनादिभिरिन्द्रियै क्रमेणाभि- १५
सबन्धो यथा स्यात् इति। एते पुद्गलद्रव्यस्य गुणा अविशेषेण वेदितव्या।

अत्र केचिद्वि'शेषेण एतान् कल्पयन्ति-*"**रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी। रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाश्च। तेजो रूपस्पर्शवत्। वायुः स्पर्शवान्**" [वैशे० सू० २।१।१-४] इति; तदयुक्तम्; रूपादिमान् वायु स्पर्शवत्त्वाद् घटवत्। तेजोऽपि रसगन्धवत्, रूपवत्त्वाद् गुडवत्। आपोऽपि गन्धवत्य रसवत्त्वात् आम्रफलवत्। २०

किञ्च, अबादिषु गन्धादीना साक्षादुपलब्धेश्च। पार्थिवपरमाणुसयोगात्तदुपलब्धिरिति चेत्; न; विशेषहेत्वभावात्। नात्र विशेषहेतुरस्ति-पार्थिवपरमाणूनामेते गुणा ससर्गात्त्वन्यत्रो'पलभ्यन्ते नत्वबादीनामिति। वय तु ब्रूमहे-तद्'गुणत्वात् तत्रोपलब्धिरिति। यदि हि संयोगादुपलब्धि 'कल्प्यते रसाद्युपलब्धिरपि सयोगादेव कल्प्यताम्।

नच पृथिव्यादीना जातिभेदोऽस्ति, पुद्गलजातिमजहत परमाणुस्कन्धविशेषा निमित्त- २५
वशाद्विश्वरूपतामापद्यन्त इति दर्शनात्। दृश्यते हि पृथिव्या कारणवशाद् द्रवता, द्रवाणा चापां करकाश्मभावेन घनभावो दृष्ट, 'पुनश्च द्रवभाव। तेजसोऽपि मषीभाव।

'वायोरपि अदृष्टा रूपादय कथ गम्यन्त इति चेत् ? परमाणुषु तेषा रूपादीना कथ गति ? तत्कार्येषु दर्शनादनुमानमिति चेत्; इहापि तत एव वेदितव्यम्।

तेषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वं पृथक्त्वं प्रत्यनेकान्तः।५। तेषा च स्पर्शादीना स्वतस्तद्वत- ३०
श्चैकत्वपृथक्त्व प्रत्यनेकान्तो वेदितव्य.-स्यादेकत्व' स्यात् 'पृथक्त्वमित्यादि।

---

१ -नो विशेषा- आ०, ब०, द०, मु०। २ -द्विशिष्य तान् आ०, ब०, द०, मु०। वैशे का: -स०। ३ जलादिषु। ४ वयं ब्रूमहे तद्गुणः तत्रोपलब्धेरिति आ०, ब०, द०, मु०। तद्गुणत्वं तत्रोपलब्धेरिति मू०, ता०। तद्गुणस्तत्रोपलब्धेरिति वा पाठः -श्र० टि०। ५ कल्प्यते आ०, ब०, द०, मु०। ६ घनश्चद्र- आ०, मु०, द०। घनस्यचद्र- ब०। ७ वायावदृष्टाः मू०, ता०। वायोरपि-दृष्टाः आ०, ब०, द०, मु०। ८ द्रव्यतः। ९ चक्षुरिन्द्रियमेकमपि यतः शुक्लकृष्णाद्यनेकरूपाणि जानात्यतो नानात्वोपलब्धिः।

अत्रान्ये [1]एकत्वं पृथक्त्व[2] चैकान्तेनाध्यवस्यन्ति; तदयुक्तम्; कथम् ? यद्येकान्तेनैकत्वं स्यात्; स्पर्शनेन स्पर्शोपलब्धौ रसादीनामप्युपलब्धि· स्यात्। तद्वतोऽपि तेषामपृथक्त्वे तदेव वा स्यात्, त एव वेति ? [3]तदेव चेत्; लक्षणाभावाल्लक्ष्याभाव । अथ [4]त एव; निराधारत्वात्तेषामप्यभावः। अथैकान्तेन पृथक्त्वम्; घटरूपोपलब्धौ [5]पटादिरूपानुपलब्धिवत् स्पर्शोपलब्धौ रूपादीनामनुपलब्धे· 'स्पृष्टो घटोऽयम्' इति न ज्ञायेत स्पर्शाद्यनात्मकत्वात्। तस्य तद्वतोऽप्यत्यन्तपृथक्त्वे उभयेषामभाव· स्यात्। [6]ग्रहणभेदात् स्पर्शादीनामन्यत्वमिति चेत्, न; ग्रहणाभेदेपि नानात्वोपलब्धे.। शुक्लकृष्णादिषु सख्यापरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागपरत्वापरत्वकर्मसत्तागुणत्वाना [7]रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणा नानात्वोपलब्धेश्च। सज्ञा [8]स्वतत्त्वमिति लक्षणभेदान्नानात्वमिति चेत्; न; तदभेदेऽपि [9]द्रव्यगुणकर्मणा नानात्वोपलब्धे । स्पर्शादीना व्यतिरेकेणानुपलब्धेरनानात्वमिति चेत्; न; प्रतिज्ञातविरोधात्। यदि हचेव स्यात्, महदादिपरिणतानां सत्त्वरजस्तमसा व्यतिरेकेणानुपलभ्यमानानामपि प्रतिज्ञातमन्यत्वं हीयते। यदि हि तत्राप्यनन्यत्वमेव स्यात्; [10]व्यक्ताव्यक्तलक्षणभेदकल्पनाऽनर्थिका स्यात्। तस्मात् स्यादेकत्व स्यात्पृथक्त्व चाभ्युपगन्तव्यम्—द्रव्यार्पणादेकत्व पर्यायार्पणान्नानात्वमिति ।

अत्राह—यन्मनोऽनवस्थानादिन्द्रिय न भवतीति प्रत्याख्यात तत्किमुपयोगस्योपकारकम्, उत नेति ? तदप्युपकार्येव; तेन विनेन्द्रियाणां विषयेषु स्वप्रयोजनवृत्त्यभावात्। किमस्यैषा सहकारित्वमात्रमेव प्रयोजनम्, उतान्यदपीति ? अत आह—

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

श्रुतज्ञानविषयोऽर्थ श्रुतम्, स विषयोऽनिन्द्रियस्य । परिप्राप्तश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमस्यात्मन श्रुतार्थेऽनिन्द्रियालम्बनज्ञानप्रवृत्ते । अथवा श्रुतज्ञान श्रुत तदनिन्द्रियस्यार्थ प्रयोजनमिति यावत्, तत्पूर्वकत्वात्तस्य इति । अयमनिन्द्रियस्येन्द्रियव्यापारनिर्मुक्तोऽर्थ· ।

श्रुतं श्रोत्रेन्द्रियस्य विषय इति चेत्; न; श्रोत्रेन्द्रियग्रहणे श्रुतस्य मतिज्ञानव्यपदेशात् ।१। स्यान्मतम्—न श्रुतमनिन्द्रियस्य विषय । कस्य तर्हि ? श्रोत्रेन्द्रियस्येति, तन्न; कि कारणम् ? श्रोत्रेन्द्रियग्रहणे[11] श्रुतस्य मतिज्ञानमिति व्यपदेशात्। यदा हि श्रोत्रेण गृह्यते तदा तन्मतिज्ञानमवग्रहादि व्याख्यातम्, तत उत्तरकाल यत्तत्पूर्वकं जीवादिपदार्थस्वरूपविषय तत् श्रुतमनिन्द्रियस्येत्यवसेयम् ।

उक्तानामिन्द्रियाणा प्रतिनियतविषयाणा स्वामित्वनिर्देशे कर्तव्ये यत्प्रथमं गृहीतं स्पर्शन तस्य तावत्स्वामित्वावधारणार्थमाह—

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

अन्तशब्दस्याऽनेकार्थत्वे विवक्षातोऽवसानगतिः ।१। अयमन्तशब्दोऽनेकार्थ· । क्वचिदवयवे, यथा वस्त्रान्त वसनान्त । क्वचित्सामीप्ये, ययोदकान्त गत —उदकसमीपे गत इति ।

---

१ अथ सांख्यमतमाशङ्क्य आचार्यः प्राह। २ वैशिषिकाः—सम्पा०। ३ द्रव्यमेव। ४ रूपादयः। ५ घटानुरूपानुप— आ०, ब०, द०, मु०। ६ इन्द्रियभेदात्। ७ रूपसम— आ०, ब०, द०, मु०। ८ स्वरूपम्। ९ प्रत्येकम्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसीति नव द्रव्याणि तत्रेदमपि द्रव्यम् इदमपि द्रव्यमिति लक्षणाभेदेऽपि पृथिव्यादि द्रव्यं प्रति नानात्वोपलब्धिः, एवं गुणादिष्वपि योज्यम्। १० महदादि व्यक्तं कार्यमित्यर्थः, प्रधानञ्च अव्यक्तं कारणमिति—सम्पा०। ११ —णात् श्रुतस्य मतिज्ञानमिति व्य— आ०, ब०, द०, मु०, ता०।

क्वचिदवसाने वर्तते, यथा संसारान्तं गत.–संसारावसानं गत इति । तत्रेह विवक्षातोऽवसान-गतिर्वेदितव्या । वनस्पत्यन्तानां वनस्पत्यवसानानामिति ।

सामीप्यवचने हि वायुत्रससंप्रत्ययप्रसङ्गः ।२। वनस्पत्यन्ताना वनस्पतिसमीपानामित्यर्थे गृह्यमाणे वायुकायिकाना त्रसाना च सप्रत्यय प्रसज्येत ।

अन्तशब्दस्य संबन्धिशब्दत्वादादिसंप्रत्ययः ।३। अयमन्तशब्द. सबन्धिशब्दत्वात्[1] काश्चित् पूर्वानपेक्ष्य वर्तते, ततोऽर्थादादिसप्रत्ययो भवति । तस्मादयमर्थो गम्यते–पृथिव्यादीना वनस्पत्यन्तानामेकमिन्द्रियमिति । अत्राह––

अविशिष्टैकेन्द्रियप्रसङ्गोऽविशेषात् ।४। पृथिव्यादीना वनस्पत्यन्ताना स्पर्शनादिपु[2] अविशिष्टेमकमिन्द्रिय प्राप्नोति । कुत ? अविशेषात् । न हि कश्चिद्विशेषोऽस्ति 'अनेनैवैकेन भवितव्यम्' इति । सख्यावाची ह्ययमेकशब्द ।

न वा; प्राथम्यवचने स्पर्शनसंप्रत्ययात् ।५। न वैष दोष । कि कारणम् ? प्राथम्य-वचने स्पर्शनसप्रत्ययात् । अयमेकशब्दः प्राथम्यवचन, सूत्रपाठे च प्राथम्यमाश्रितम्, तत स्पर्शनस्य सप्रत्ययो भवति । अस्ति च लोके प्राथम्यवचन, एको गोत्रे–प्रथमो गोत्र इति ।

तस्योत्पत्तिकारणमुच्यते–वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सेपेन्द्रियसर्वघाति-स्पर्धकोदये च शरीराङ्गोपाङ्गलाभोपष्टम्भे एकेन्द्रियजातिनामोदयवशवर्तितायां च सत्या स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति ।

इतरेषामिन्द्रियाणा स्वामित्वप्रदर्शनार्थमाह–

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

एकैकमिति वीप्सानिर्देशः ।१। एकैकमितिशब्दो वीप्साया द्रष्टव्य ।

बहुत्वनिर्देशः सर्वेन्द्रियापेक्षः ।२। सर्वाणीन्द्रियाण्यपेक्ष्य बहुत्वनिर्देश कृत । एकैक वृद्धमेषा [3]तानीमान्येकैकवृद्धानीति । 'तत्र कि पूर्वमुत्तरम्' इति सन्देहः ?

असन्दिग्धं [4]स्पर्शनमेकैकेन वृद्धमित्यादिविशेषणात् ।३। 'स्पर्शनम्' इत्यनुवर्तते, तदारभ्यै-कैकेन[5] वृद्धिमित्यादि विशेषणात् नास्ति सन्देह । तत्कथम् ?

वाक्यान्तरोपप्लवात् ।४। अस्मान्निबन्धनस्थानाद्वाक्यात् वाक्यान्तराण्युपप्लवन्ते । यथा–'अक्ष'[6] इत्येतस्मात् 'अक्षो भक्ष्यताम्, अक्षो भज्यताम्, [7]अक्षो दीव्यताम्' इति वाक्यान्तरोपप्लव क्रियते, एवमिहापि 'स्पर्शन रसनवृद्ध कृम्यादीनाम्, स्पर्शनरसने घ्राणवृद्धे पिपीलिकादीनाम्, स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुर्वृद्धानि भ्रमरादीनाम्, तानि श्रोत्रवृद्धानि मनुष्या-दीनाम्' इति वाक्यान्तराण्युपप्लवन्ते ।

आदिशब्दः प्रकारे व्यवस्थायां वा[8] ।५। अयमादिशब्द प्रकारे व्यवस्थाया वा वेदितव्य । यदागमो नापेक्षितस्तदा प्रकारे कृमिप्रकारा कृम्यादय इति । यदा त्वागमोऽपेक्ष्यते तदा व्यवस्थायाम्, आगमे हि ते [9]व्यवस्थिता इति ।

तेषा निष्पत्ति. स्पर्शनोत्पत्त्या व्याख्याता उत्तरोत्तरसर्वघातिस्पर्धकोदयेन ।

---

१ –शब्दः का– श्र०, मू०, भा० । २ –षु चावि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ तान्येकै– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ स्पर्शनमेकेन श्र०, मू० । ५– रभ्यैकेन श्र०, म्०, ता० । ६ विभीतकः । ७ अत्र द्यूते । ८ वा वेदितव्यः आ०, ब०, द०, मु० । ९ कृमिपिपीलिकादीना क्रमेण वृद्धानि इत्यर्थः ।

एवमेतेषु संसारिषु द्वि भेदेषु इन्द्रियभेदात् पञ्चविधेषु ये पञ्चेन्द्रियास्तद्भेदस्यानुक्तस्य प्रतिपत्त्यर्थमाह–

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

मनो व्याख्यातम्, सह तेन ये वर्तन्ते ते सज्ञिन । अत्र चोद्यते–

समनस्कविशेषणमनर्थकं संज्ञिशब्देन गतत्वात् ।१। सज्ञिन इत्यनेनैव विशेषणेन गतत्वात् 'समनस्का.' इति विशेषणमनर्थकम् । कथमिति चेत् ? उच्यते––

हिताहितप्राप्तिपरिहारयोर्गुणदोषविचारणात्मिका संज्ञा ।२। 'इदं हितमिदमहितम्, अस्य प्राप्तौ परिहारे चाय गुणोऽय दोष' इति च विचारणात्मिका सज्ञेत्युच्यते ।

ब्रीह्यादिपाठादिनि सिद्धेः[1] ।३। तस्मात् सज्ञाशब्दाद् ब्रीह्यादिपाठादिनि सति 'स ज्ञिन' इति सिध्यति ।

न वा शब्दार्थव्यभिचारात्[2]।४। न वैष दोष । कि कारणम् ? शब्दार्थव्यभिचारात् । सज्ञा[3]शब्दोऽर्थं हि व्यभिचरति । तत्र[4] को दोष ?

संज्ञा नाम इति चेत्; निवर्त्याभाव ।५। यदि सज्ञा[5] रूढिर्नामेत्युच्यते, सा सर्वेषा प्राणिना प्रतिनियता अस्तीत्यसज्ञिनामभावात् निवर्त्याभाव स्यात् ।

संज्ञानं संज्ञा ज्ञानमिति चेत्; तुल्यः ।६। क ? निवर्त्याभाव ? सर्वेषा प्राणिना ज्ञानात्मकत्वात् ।

आहारादिसंज्ञेति चत्; न; अनिष्टत्वात् ।७। स्यादेतत्–आहार-भय-मैथुन-परिग्रहविषया सज्ञेति ? तन्न; कि कारणम् ? अनिष्टत्वात् । सर्वे हि ससारिण आहार-भय-मैथुन-परिग्रहसज्ञासन्निधानात् सज्ञिन स्यु । अनिष्ट चैतत् । तस्मात् समनस्का इति विशेषणमर्थवत् । [6]एव च कृत्वा गर्भाण्ड-मूर्च्छित-सुषुप्ताद्यवस्थासु हिताहितपरीक्षाभावेऽपि मन सन्निधानात् सज्ञित्वमुपपन्न भवति ।

यद्यस्य ससारिणो हिताहितप्राप्तिनिवृत्तिहेतु परिस्पन्दो [7]मनस्करणसन्निधाने सति भवति, अथाभिनवशरीर प्रत्यागूर्णस्य विशीर्णपूर्वमूर्तेरात्मनो निर्मनस्कस्य यत्कर्म[8] तत्कुत इति ? अत्रोच्यते––

विग्रहतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अथवा, यदि [9]सप्रधार्य समनस्का प्राणिन. क्रिया प्रारभन्ते [10]भिन्नदेहस्याऽसति मनसि उपपादक्षेत्र[11] प्रत्याभिमुख्येन या प्रवृत्तिर्विग्रहार्था सा कुतो भवति ? अत आह **'विग्रहगतौ कर्मयोगः'** इति ।

विग्रहो देहस्तदर्था गतिर्विग्रहगतिः ।१। औदारिकादिशरीरनामोदयात् तन्निर्वृत्तिसमर्थान् विविधान्[12] पुद्गलान् गृह्णाति, विगृह्यते वासौ संसारिणेति विग्रहो देहः, विग्रहाय

---

१ –सिद्धिः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ –रात् संज्ञा– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –शब्दार्थो हि मु०, मू० । ४ तथा सति । ५ –रूढित्वमि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ प्रयोजनान्तरमप्याह एवमित्यादिना । ७ मनःकारण मु० । ८ व्यापारः । ९ विचार्य । १० शरीररहितस्य । ११ उत्पत्तिक्षेत्रम् । १२ –न् गृ– आ०, ब०, द०, मु० ।

गतिर्विग्रहगति । ननु विकृतिप्रकृत्यभिसंबन्धे सति 'तादर्थ्ये वृत्ति', इह विकृतिप्रकृत्यभिसंबन्धाभावाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति; नैष दोषः, अश्वघासादिवद् वृत्तिर्वेदितव्या, तादर्थ्य [२] तु चतुर्थ्या वाक्ये प्रदर्श्यते ।

विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघात इति वा ।२। अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघात [३] नोकर्मपुद्गलादाननिरोध इत्यर्थ । विग्रहेण गतिर्विग्रहगति । आदाननिरोधेन गतिरित्यर्थः । ५

कर्मेति सर्वशरीरप्ररोहणसमर्थं कार्मणम् ।३। सर्वाणि शरीराणि यत [४]प्ररोहन्ति तत् बीजभूत कार्मण शरीर कर्मेत्युच्यते ।

योग आत्मप्रदेशपरिस्पन्द ।४। कायादिवर्गणा [५]निमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग इत्याख्यायते ।

कर्मनिमित्तो योग कर्मयोग । तस्या विग्रहगतौ कार्मणशरीरकृतो योगो भवति [६]यत्कृत १०
कर्मादानम्, [७]यदुपपादिता चाऽमनस्कस्यापि विग्रहार्था गति ।

अथाकाशप्रदेशेषु परमाणुप्रतिष्ठासबन्धेनोपचरितेष्वाधेया जीवपुद्गला देशान्तरप्राप्ति प्रत्यभिमुखा कि निराकृतप्रदेशक्रमा [८]व्रज्यामभिनिर्वर्तयन्ति, उताक्रान्तप्रदेशक्रमामिति विचारे सति तन्निर्धारणार्थमाह—

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥ १५

आकाशप्रदेशपङ्क्तिः श्रेणिः ।१। लोकमध्यादारभ्योर्ध्वमधस्तिर्यक्क्रमाकाशप्रदेशाना क्रमसन्निविष्टाना पङ्क्ति श्रेणिरित्युच्यते ।

अनोरानुपूर्व्ये वृत्तिः ।२। अनुशब्दस्यानुपूर्व्ये वृत्तिर्भवति, श्रेणेरानुपूर्व्येण अनुश्रेणि इति ।

जीवाधिकारात् पुद्गलासंप्रत्यय इति चेत्, न; गतिग्रहणात् ।३। स्यादेतत्—जीवाधिकारात् पुद्गलानामनुश्रेणिगतिसंप्रत्ययो न भवतीति, तन्न, कि कारणम् ? गतिग्रहणात् । यदि हि २०
जीवस्यैव गतिरिहेष्टा स्याद् [९]गत्यधिकारे पुनर्गतिग्रहणमनर्थक स्यात्, ततो ज्ञायते सर्वेषा गतिमता गतिर्गृह्यते [१०] इति ।

क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं गतिग्रहणमिति चेत्; न; अवस्थानाद्यसंभवात् ।४। स्यान्मतम्—गतिग्रहण क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थ गतिरेव नान्या क्रियेति ? तन्न, कि कारणम् ? अवस्थानाद्यसभवात् । न विग्रहगतिमापन्नस्य जन्तोरवस्थानशयनासनादय [११] क्रिया सभवन्ति । २५

उत्तरसूत्रे जीवग्रहणाच्च ।५। 'अविग्रहा जीवस्य' इत्युत्तरत्र जीवग्रहणाच्च मन्यामहे इहोभयगतिराश्रितेति ।

विश्रेणिगतिदर्शनान्नियमायुक्तिरिति चेत्, न; कालदेशनियमात् ।६। स्यादेतत्—विश्रेणिगतिरपि दृश्यते चक्रादीना ज्योतिषा च मेरुप्रदक्षिणगतीना माण्डलिकवायूना विद्याधराणा च मेर्वादिप्रदक्षिणकाले, ततोऽनुश्रेणि गतिरिति नियमो नोपपद्यते; तन्न, कि कारणम् ? कालदेश- ३०

---

१ कुण्डलाय हिरण्यमित्यादिवत् प्रकृति. परिणामि द्रव्यम् । चतुर्थी प्रकृतिः स्वार्थादिभिरिति समासः— ता० टि० । २ अश्वार्थो घासः इति । —र्थं च— आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ —तः पु— आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ४ प्रारोह— श्व० । ५ अकर्मकर्मनोकर्मजातिभेदेषु वर्गणा । ६ पूर्वपातनिकापेक्षया अयमभिप्रायः । ७ उत्तरपातनिकापेक्षया । ८ गमनम् । ९ विग्रहगतावित्यत्र । १० —ते क्रि— आ०, ब०, द०, मु० । ११ —स्थानशयनादयः आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

नियमात् । कालनियमस्तावज्जीवानां मरणकाले भवान्तरसंक्रमे, मुक्तानां चोर्ध्वगमनकाले अनुश्रेण्येव गति. । देशनियमोऽपि[1] या ऊर्ध्वलोकादधोगतिरधोलोकाच्चोर्ध्वगतिस्तिर्यग्लोका[2]-द्वा अधोगतिरूर्ध्वा वा [सा] अत्रानुश्रेण्येव । पुद्गलानामपि च या लोकान्तप्रापणी सा नियमादनुश्रेणिगति । या त्वन्या सा भजनीया । ततो भ्रमणरेचनादिगति सिद्धा ।

पूर्वभावप्रज्ञापकनयावभासित व्यवहारमन्तर्नीय रूढिवशाद्वा विनिर्मुक्तकर्मबन्धनस्यापि जीवत्वमवधृत्येदमुपादिक्षत्—

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

विग्रहो व्याघात कौटिल्यमित्यनर्थान्तरम्, स यस्यां न विद्यते असाविग्रहा[3] गति । कस्य ? जीवस्य । कीदृशस्य ? मुक्तस्य । कथ गम्यते[4] मुक्तस्येति ?

उत्तरत्र संसारिग्रहणादिह मुक्तगतिः ।१। उत्तरसूत्रे ससारिग्रहणादिह मुक्तगतिर्विज्ञायते । किमर्थमिदमुच्यते ? ननु श्रेण्यन्तर[5]सक्रमो विग्रह तस्याभाव अनुश्रेणि[6] इत्यनेनैव सिद्ध [7]नार्थोऽनेन[8]? इद प्रयोजनम्— पूर्वसूत्रे जीवपुद्गलाना क्वचिद्विश्रेणिरपि गतिर्भवतीत्येतस्य ज्ञापनार्थम् । ननु तत्रैवोक्त कालदेशनियमादनुश्रेणिर्भवति न सर्वत्रेति; न; [9]अतस्तत्सिद्धेः ।

यद्यसङ्गस्यात्मनोऽप्रतिबन्धेन गतिरालोकान्तादवधृतकाला प्रतिज्ञायते 'सदेहस्य पुनर्गति कि प्रतिबन्धिन्युत मुक्तात्मवत्' इति परिप्रश्ने सतीदमुच्यते—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

कालपरिच्छेदार्थं प्राक् चतुर्भ्य इति वचनम् ।१। समयो वक्ष्यते । चतुर्भ्य समयेभ्य प्राक् [10]विग्रहवती गतिर्भवतीति कालपरिच्छेदार्थ प्राक् चतुर्भ्य इत्युच्यते । ऊर्ध्वं कस्मान्नेति चेत् ? विग्रहनिमित्ताभावात् । सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कुटक्षेत्रे[11] उत्पित्सु प्राणी निष्कुटक्षेत्रानुपूर्व्यर्जुश्रेण्यभावात् इषुगत्यभावे निष्कुटक्षेत्रप्रापणनिमित्ता [12]त्रिविग्रहा गतिमारभते नोर्ध्वं तथाविधोपपादक्षेत्राभावात्, तेनैव च कालेनोपपादक्षेत्रप्राप्ते. षष्टिकाद्यात्मलाभवत् । यथा षष्टिकादीना व्रीहीणा परिच्छिन्नकालावधि परिपाको न न्यूनेन नाभ्यधिकेन, इह तथाऽन्तर-[13]भवेऽपि कालनियमो वेदितव्य ।

चशब्दः समुच्चयार्थः[14] ।२। विग्रहवती च अविग्रहा चेति समुच्चयार्थ. चशब्दः । उपपादक्षेत्रं प्रति ऋज्वी गतिरविग्रहा, कुटिला विग्रहवती ।

आङ्ग्रहणं लघ्वर्थमिति चेत्, न, अभिविधिप्रसङ्गात् ।३। स्यादेतत्—आङ्ग्रहण कर्तव्यं लघ्वर्थमिति, तन्न; कि कारणम् ? अभिविधिप्रसङ्गात् । तेन चतुर्थसमयमभिव्याप्य विग्रहः [15]प्रवर्तत, स चानिष्ट ।

---

१ –पि चोर्ध्व– आ०, ब०, द०, मु० । २ –काच्चोधोगतिरूर्ध्ववानु– आ०, ब०, द०, मु० । ३ ऋजुगतिरिति यावत् । ४ –ते उ– आ०, ब०, द०, मु० । ५ –न्तरसंग्रहो वि– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –णिगतिरित्य– आ०, ब०, द०, मु० । ७ प्रयोजनम् । ८ सूत्रेण । ९ इति चेत्, अस्मात् सूत्रात् । १० कुटिला । ११ लोकान्तकोणप्रदेशे इत्यर्थः । १२ गोमूत्रिकामित्यर्थः । १३ –भवेका– आ०, ब०, द०, मु० । –न्तरभावेऽपिका– मू०, ता० । देहाद् देहान्तरस्वीकारमध्यसमये । १४ –र्थः च– आ०, ब०, द०, मु० । १५ प्रवर्तते आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

उभयसंभवे व्याख्यानात् मर्यादासंप्रत्यय इति चेत्, न, प्रतिपत्तेर्गौरवात् ।४। स्यान्मतम्–मर्यादाभिविध्योराङ्, तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति मर्यादासप्रत्यय इत्याङ्यपि सति न दोष इति; तन्न; कि कारणम् ? प्रतिपत्तेर्गौरवात् । एव सति प्रतिपत्तेर्गौरव स्यात्, तस्माद्विस्पष्टार्थं प्राग्ग्रहण क्रियते ।

आसा चतसृणा गतीनामार्षोक्ता. सज्ञा –इषुगति, पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका, गोमूत्रिका चेति । तत्राविग्रहा[1] प्राथमिकी, शेषा विग्रहवत्य. । इषुगतिरिवेषुगति । क उपमार्थ. ? यथेषोर्गतिरालक्ष्यदेशाद् ऋज्वी तथा ससारिणा सिद्धचता च जीवाना ऋज्वी गतिरैकसमयिकी । पाणिमुक्तेव पाणिमुक्ता । क उपमार्थ· ? यथा पाणिना तिर्यक् प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा तथा ससारिणामेकविग्रहा गति पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी । लाङ्गलमिव लाङ्गलिका । क उपमार्थ ? यथा लाङ्गल द्विवक्रित तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका[2] त्रैसमयिकी । गोमूत्रिकेव गोमूत्रिका । क उपमार्थ. ? यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातु समयिकी ।

यद्यमुष्या विग्रहवत्या क्रियायाश्चातु समयिक्यवस्था [3]निश्चीयते परित्यक्तव्याबाधा पुनर्गति कियत्काला भवतीति ? अत आह–

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

अधिकृतगतिसामानाधिकरण्यात् स्त्रीलिङ्गनिर्देशः ।१। गतिरधिकृता, तत्सामानाधिकरण्यादत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशो द्रष्टव्य. । एक समयोऽस्या एकसमया, न विद्यते विग्रहोऽस्या अविग्रहेति । गतिमतां हि जीवपुद्गलानामव्याघातेनैकसमयिकी गतिरालोकान्तादपीति ।

आत्मनोऽक्रियावत्त्वसिद्धेरयुक्तमिति चेत्; न; क्रियापरिणामहेतुसद्भावाल्लोष्टवत् ।२। स्यादेतत्–सर्वगतत्वान्निष्क्रियस्यात्मन क्रियावत्त्व नास्ति, ततो गतिकल्पनमयुक्तमिति ? तन्न; कि कारणम् ? क्रियापरिणामहेतुसद्भावात् । कथम् ? लोष्टवत् । यथा लोष्ट स्वय क्रियापरिणामित्वाद् बाह्याभ्यन्तरकारणापेक्षो देशान्तरप्राप्तिसमर्था क्रियामारभमाणो दृष्टः, तथा आत्मा कर्मवशाच्छरीरपरिणामानुविधायी तद्विधेया क्रियामास्कन्दति, तदभावे च प्रदीपशिखावत् स्वाभाविकीमिति नास्ति दोष ।

सर्वगतत्वे तु ससाराभावः ।३। यदि च सर्वगत आत्मा स्यात् क्रियाभावात् संसाराभावः स्यात् ।

बन्धसन्तति प्रत्यनादौ कर्मोपचयवृत्तिसंबन्धेन चादिमति पञ्चविधेऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभवभावे[4] संसारे मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययसन्निधाने च सत्युपयोगात्मकोऽयमात्मा सातत्येन कर्मण्यादधानो विग्रहगतावप्याहारकः प्रसक्तस्ततो नियमार्थमिदमुच्यते–

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

समयसंप्रत्ययः प्रत्यासत्तेः ।१। 'एकसमयाऽविग्रहा' इत्यत्र समयशब्द उक्तस्तेनेह प्रत्यासत्तेरभिसंबन्धो वेदितव्य –एकं समयं द्वौ समयौ त्रीन् समयान् इति । ननु च तत्र समयशब्द उपसर्जनीभूत.[5] कथमिहाभिसंबध्यते ? अन्यस्यासंभवात् सामर्थ्यात् संबन्धो द्रष्टव्य. ।

---

१ वक्ररहिता । २ –लिकी त्रै– ता०, श्र०, मू०, द० । ३ निर्भ्रियते श्र०, मू० । ४ –भावे मि– आ०, ब०, द०, मु० । ५ अन्यपदार्थत्वात् ।

वा शब्दो विकल्पार्थ[१] ।२। वाशब्दोऽत्र विकल्पार्थो ज्ञेय । विकल्पश्च यथेच्छातिसर्ग, एकं वा द्वौ वा त्रीन्वेति ।

सप्तमीप्रसङ्ग इति चेत्; नः अत्यन्तसंयोगस्य विवक्षितत्वात् ।३। स्यादेतत्—आहरणक्रियाया अधिकरण काल इति सप्तमी प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम्? अत्यन्तसयोगस्य विवक्षितत्वात्। अत्यन्तसयोगे हि तदपवादात्[२] द्वितीया विधीयते ।

त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः ।४। तैजसकार्मणशरीरे हि आससारान्तान्नित्यमुपचीयमानस्वयोग्यपुद्गले[३] अत[४] शेषाणा त्रयाणा शरीराणामौदारिकवैक्रियिकाहारकाणामाहाराद्यभिलाषकारणाना षण्णा[५]पर्याप्तीना योग्यपुद्गलग्रहणमाहार इत्युच्यते ।

विग्रहगतावसंभवादाहारकशरीरनिवृत्तिः ।५। ऋद्धिप्राप्तानामृषीणामाहारकशरीरमाविर्भवति इति विग्रहगतौ तस्यासभवान्निवृत्ति. ।

शेषाहाराभावो व्याघातात् ।६। विग्रहगतौ[६]शेषस्याहारस्याभाव । कुत? व्याघातात् । अष्टविधकर्मपुद्गलसूक्ष्मपरिणतोपचितमूर्ति[७]कार्मणशरीरवशात् प्रावृट्कालपरिणतजलधरनिर्गतसलिलग्रहणसमर्थनिक्षिप्ततप्तायससायकवत् पूर्वदेहनिवृत्तिसमुद्घात[८]दु खोष्णत्वाद् व्रजन्प्याहारक, वक्रगतिवशादेक द्वौ त्रीन्वा समयाननाहारको भवति । तत्रैकसमयिक्यामिषुगतौ उक्तमाहारमनुभवन्नेव गच्छति । पाणिमुक्तायामेकविग्रहाया द्विसमयाया प्रथमे समयेऽनाहारक । लाङ्गलिकाया द्विविग्रहाया त्रिसमयाया प्रथमद्वितीययो समययोरनाहारकस्तृतीये आहारक । गोमूत्रिकाया त्रिविग्रहाया चतुःसमयाया चतुर्थसमये आहारक इतरेष्वनाहारक ।

तस्य खलु ससारिण शुभाशुभफलप्रदकार्मणशरीरानुगृहीतक्रियाविशेषस्य अनुश्रेण्यास्कन्दत पूर्वोपात्तानुभवन प्रति कर्मभिरापूर्यमाणस्य अविग्रहविग्रहवद्गमनद्वयाक्षिप्त[९]देशान्तरस्य अभिनवमूर्त्यन्तरनिर्वृत्तिप्रकारप्रतिपादनार्थमिदमाह—

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

समन्ततो मूर्च्छनं सम्मूर्च्छनम् ।१। त्रिषु लोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छन सम्मूर्च्छनम्-अवयवप्रकल्पनम् ।

शुक्रशोणितगरणाद् गर्भः ।२। यत्र शुक्रशोणितयो[१०]स्त्रिया उदरमुपगतयोर्गरण मिश्रणं भवति स गर्भ ।

[११]मात्रोपयुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा ।३। अथवा, [११]मात्रोपयुक्तस्याहारस्यात्मसात्करणाद् गरणाद् गर्भः ।

उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्नित्युपपादः ।४। *"हलः" [जैनेन्द्र० २।३।१०२] इत्यधिकरणसाधनो घञ् । [१२]देवनारकोत्पत्तिस्थानविशेषस्य सज्ञेति । एते त्रयः संसारिणा जीवाना जन्मप्रकाराः ।

१ –र्थो ज्ञेयः वि– आ०, ब०, द०, मु० । २ –दा द्वि– आ०, ब०, मु०, मू० । कालादनोर्व्याप्तावितिं सूत्रेण अधिकरणं बाधित्वा द्वितीया । कर्मादानस्य नैरन्तर्यसद्भावात्, मासमधीते क्रोशं स्वपिति इत्यादिवत् । ३ बसः । द्वितीयाद्विवचनान्तम्– सम्पा० । ४ अतः कारणात् ते वर्जयित्वा । ५ आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनसाम् । ६ कवलाद्याहारस्य । ७ –त्तिः का– श्र० । ८ दुःखोष्णत्वा– मु० । ९ स्वीकृत । १० –तयोर्गर– आ०, ब०, द०, मु० । ११ मात्रोपभुक्ता– आ०, ब०, मु० । १२ सर्वेषां जीवानामुपपादप्रसङ्गे रूढिशब्दोऽयं न तु व्युत्पत्तिक्रियापेक्षः इत्याह देवेत्यादि···।

सम्मूर्च्छनग्रहणमादौ अतिस्थूलत्वात् ।५। सम्मूर्च्छनज हि [1]शरीरमतिस्थूलम्, अतोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते । ननु गर्भजशरीरमपि वैक्रियिकशरीरादतिस्थूल तयो कस्यादौ वचन न्याय्यमिति ? उच्यते—

अल्पकालजीवित्वात् [2]सम्मूर्च्छनम् ।६। [3]गर्भजौपपादिकजीवेभ्य समूर्च्छनजा प्राणिनोऽल्पकालजीविनस्तत सम्मूर्च्छनस्यादौ न्याय्यम् । किञ्च, ५

[4]तत्कार्यकारणप्रत्यक्षत्वात् ।७। गर्भोपपादजन्मनो कार्यकारणे अप्रत्यक्षे, यत्पुन सम्मूर्च्छनजन्मन कारण मासादि तत्कार्य च शरीर तदुभय लोके प्रत्यक्षम्, ततश्चास्यादौ ग्रहण क्रियते ।

तदनन्तरं गर्भग्रहणं कालप्रकर्षनिष्पत्तेः ।८। गर्भजन्म हि [5]सम्मूर्च्छनजन्मनः कालप्रकर्षेण निष्पद्यते, ततस्तदनन्तर तस्य ग्रहण न्याय्यम् ।

उपपादग्रहणमन्ते दीर्घजीवित्वात् ।९। सम्मूर्च्छनजेभ्यो गर्भजेभ्यश्चौपपादिका दीर्घजीविन इत्यन्ते ग्रहण क्रियते । १०

आह— कि कृतोऽस्य जन्मविकल्प[6] इति ? उच्यते—

अध्यवसायविशेषात् कर्मभेदे तत्कृतो जन्मविकल्पः ।१०। अध्यवसायः परिणामः सोऽसख्येयलोकविकल्प, तद्भेदात्तत्कार्यकर्मबन्धविकल्पस्ततस्तत्फल जन्मविकारो वेदितव्य । कारणानुरूप हि लोके दृश्यते कार्यम् । शुभाशुभलक्षण च कर्म तद्रूपमेव जन्म प्रादुर्भावयति ।

प्रकारभेदाज्जन्मभेद इति चेत्; न, तद्विषयसामान्योपादानात् ।११। स्यादेतत्—प्रकारा १५
बहव तत्सामानाधिकरण्याज्जन्मनोऽपि बहुत्व प्राप्नोति, यथा 'जीवादय पदार्था' इति; तन्न, कि कारणम् ? तद्विषयसामान्योपादानात् । तत्प्रकारविषयमिह सामान्य [7]जन्मशब्देनोपादीयते, तत एकत्वनिर्देश, यथा जीवादयस्तत्त्वमिति ।

अथाधिकृतस्य ससारिविषयोप[8]भोगोपलब्ध्यधिष्ठानप्रवणस्य जन्मनो योनिविकल्पो वक्तव्य इति ? अत आह— २०

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तम् ।१। आत्मनश्चैतन्य[9]परिणामविशेषश्चित्त तेन सह वर्तन्त इति सचित्ताः ।

शीत इति स्पर्शविशेषः ।२। शीत इत्यनेन स्पर्शविशेषो गृह्यते । शुक्लादिवदुभय[10]वचनत्वात्तद्युक्त द्रव्यमप्याह । २५

संवृतो दुरुपलक्षः ।३। सम्यग्वृतः सवृत इति दुरुपलक्ष प्रदेश उच्यते ।

सेतराः सप्रतिपक्षाः ।४। सह इतरै सेतराः सप्रतिपक्षा इत्यर्थ । के पुनरितरे ? अचित्तोष्णविवृता ।

मिश्रग्रहणमुभयात्मकसंग्रहार्थम् ।५। मिश्रग्रहण क्रियते उभयात्मकसग्रहार्थं सचित्ताचित्तशीतोष्णसवृतविवृता इति । ३०

चशब्द प्रत्येकसमुच्चयार्थः[11] ।६। मिश्राश्चेति च शब्द क्रियते प्रत्येकसमुच्चयार्थ । [12]इतरथा हि पूर्वोक्तानामेव विशेषण स्यात् । तेन सचित्त-शीत-सवृताः सेतरा यदा मिश्रास्तदा

---

१ महामत्स्यादेः । २ सम्मूर्च्छनमिति नास्ति भा० १। ३ गर्भोपपादि— आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ तत्कारणकार्यप्र— श्र० । ५ सकाशात् । ६ भेदः । ७ सम्मूर्च्छनजन्मेत्यादि । ८ —भोगल— आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ९ चैतन्यस्यपरि— आ०, ब०, द०, मु० । १० गुणगुणि। ११ अत्राचार्याभिप्रायानभिज्ञः कश्चित्तटस्थ आह । १२ चशब्दाभावे ।

योनयो भवन्तीत्ययमर्थो [1]लभ्यते। चशब्दे पुन. सचित्तादयः प्रत्येकं च योनयो भवन्ति मिश्राश्चेत्ययमर्थो लब्ध·।

[2]न वा अन्तरेणापि तत्प्रतीतेः ।७। [3]न वैतत् प्रयोजनमस्ति। कुत ? अन्तरेणापि तत्प्रतीतेः। अन्तरेणापि हि चशब्द समुच्चयार्थः प्रतीयते यथा *"**पृथिव्यापस्तेजो वायुः**" [तत्त्वोप० पृ० १] इति। ननु चोक्तम्–इतरथा हि पूर्वोक्तानामेव विशेषण स्यादिति; नैष दोष; विशेषणस्य समुच्चयस्य च सभवे समुच्चय[4] इति व्याख्यायते।

इतरयोनिभेदसमुच्चयार्थस्तु[5] ।८। सूत्रेऽनुक्तानां योनिभेदाना समुच्चयार्थस्तर्हि चशब्दः। के पुनस्ते ? उत्तरत्र वक्ष्यन्ते।

एकशो ग्रहणं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थम् ।९। एकैक एकश इति वीप्सायां शस्, तस्य ग्रहणं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थम्। यथैवं विज्ञायेत सचित्तश्चाऽचित्तश्च शीतश्चोष्णश्च सवृतश्च विवृतश्चेति। मैवं विज्ञायि सचित्तशीतश्चेत्यादि।

तद्ग्रहणं प्रकृतापेक्षम् ।१०। तद्ग्रहण क्रियते प्रकृतापेक्षार्थम्। तेषा योनयस्तद्योनयः। केषाम् ? सम्मूर्च्छनादीनामिति। यूयत इति योनि।

[6]सचित्तादिद्वन्द्वे पुंवद्भावाभावो भिन्नार्थत्वात् ।११। योनिशब्दोऽय स्त्रीलिङ्गस्तदपेक्षा. सचित्तादय शब्दा स्त्रीलिङ्गा, तेषा द्वन्द्वे पुवद्भावो न प्राप्नोति-सचित्ताश्च शीताश्च सवृताश्च सचित्तशीतसवृता इति। कुत ? भिन्नार्थत्वात्। एकाश्रये हि पुवद्भाव उक्तः[7]।

न वा, योनिशब्दस्योभयलिङ्गत्वात् ।१२। न वैष दोष। किं कारणम् ? उभयलिङ्गत्वाद्योनिशब्दस्य। इह पुल्लिङ्गो वेदितव्य।

योनिजन्मनोरविशेष इति चेत्; न; आधाराधेयभेदाद्विशेषोपपत्तेः।१३। स्यान्मतम्–योनिजन्मनोरविशेष, यत आत्मैव देवादिजन्मपर्यायादौपपादिक इत्युच्यते, सैव च योनिरिति, तन्न; किं कारणम् ? आधाराधेयविशेषोपपत्ते। आधारो हि योनिराधेय जन्म, यत सचित्तादियोन्यधिष्ठान आत्मा सम्मूर्च्छनादिजन्मना शरीराहारेन्द्रियादियोग्यान् पुद्गलानादत्ते।

सचित्तग्रहणमादौ चेतनात्मकत्वात् ।१४। सचित्तग्रहणमादौ क्रियते। कुत ? चेतनात्मकत्वात्। चेतनात्मको लोके हृद्यर्थ प्रधानम्।

तदनन्तरं शीताभिधानं तदाप्यायनहेतुत्वात् ।१५। तदनन्तर शीताभिधान क्रियते। कुत ? तदाप्यायनहेतुत्वात्। सचेतनस्य हृद्यर्थस्य शीतमाप्यायनकारण भवति।

अन्ते संवृतग्रहणं गुप्तरूपत्वात् ।१६। अन्ते सवृतग्रहण क्रियते। कुत ? गुप्तरूपत्वात्। गुप्तरूप हि लोके कर्माग्राह्य भवति।

एक एव योनिरिति चेत्; न; प्रत्यात्मं सुखदुःखानुभवनहेतुसद्भावात् ।१७। स्यान्मतम्–एक एव योनिरस्तु सर्वेषा जीवानामिति ? तन्न; किं कारणम् ? प्रत्यात्म सुखदुःखानुभवनहेतुसद्भावात्। शुभाशुभपरिणामा हि प्रत्यात्म भिन्नास्तज्जनितश्च कर्मबन्धो विचित्रः, अतस्तेन सुखदु खानुभवनकारणं बहुविधमारभ्यते।

---

१ लभ्येत आ०, ब०, द०, मु०, ता०। २ न चान्तरेणा– आ०, ब०, द०, मु०। ३ नैतत्प्र– आ०, ब०, द०, मु०। ४ विशेषणसमुच्चययोः समुच्चय एव बलीयानिति न्यायेन। ५ तर्हि भवतामभिप्रायः कोऽयमिति पृष्टः सन्नाह। ६ अत्राह तटस्थः। ७ मानिस्त्र्येकार्थयोः स्त्र्यन्यतोऽनूः (शाकटा० २।२।४१) इति।

तत्राऽचित्तयोनिका देवनारकाः ।१८। देवाश्च नारकाश्चाऽचित्तयोनिकाः । तेषा हि योनिरुपपादप्रदेशपुद्गलप्रचयोऽचित्तः ।

गर्भजा मिश्रयोनयः ।१९। गर्भजा ये जीवास्ते मिश्रयोनयो वेदितव्या । तेषा हि मातुरुदरे शुक्रशोणितमचित्त तदात्मना चित्तवता मिश्र[1] योनि ।

शेषास्त्रिविकल्पाः ।२०। शेषा सम्मूर्च्छनजास्त्रिविकल्पा भवन्ति—केचित् सचित्तयोनय, अन्ये अचित्तयोनय, अपरे मिश्रयोनय इति। तत्र सचित्तयोनय साधारणशरीरा । कुत ? परस्पराश्रयत्वात् । इतरे अचित्तयोनयो मिश्रयोनयश्च ।

शीतोष्णयोनयो देवनारकाः ।२१। देवा नारकाश्च शीतयोनयो भवन्ति उष्णयोनयश्च । तेषां हि उपपादस्थानानि[2] कानिचिच्छीतानि कानिचिदुष्णानि इति ।

उष्णयोनिस्तेजस्कायिकः ।२२। अग्निकायिको जीव उष्णयोनिर्द्रष्टव्य ।

इतरे त्रिप्रकाराः ।२३। इतरे जीवास्त्रिप्रकारयोनयो भवन्ति—केचिच्छीतयोनय, अन्ये उष्णयोनयः, अपरे मिश्रयोनय इति।

देवनारकैकेन्द्रियाः संवृतयोनयः ।२४। देवनारका एकेन्द्रियाश्च सवृतयोनयो भवन्ति ।

विकलेन्द्रिया[3] विवृतयोनय ।२५। विकलेन्द्रिया जीवा विवृतयोनयो वेदितव्या ।

मिश्रयोनयो गर्भजाः ।२६। गर्भजा जीवा मिश्रयोनयोऽवगन्तव्या ।

तद्भेदाश्चशब्दसमुच्चिताः प्रत्यक्षज्ञानिदृष्टा इतरेषामागमगम्याश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्याः ।२७। तेषा नवाना योनीना भेदाः कर्मभेदजनितविविक्तवृत्तय प्रत्यक्षज्ञानिभिर्दिव्येन चक्षुषा दृष्टा, इतरेषा छद्मस्थानामागमेन श्रुताख्येन गम्याश्चतुरशीतिशतसहस्रसख्या आख्यायन्ते । तद्यथा—नित्यनिगोताना सप्त शतसहस्राणि, अनित्यनिगोताना च सप्त शतसहस्राणि । के पुनर्नित्यनिगोता, के चाऽनित्यनिगोता[4] ? त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोता । त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये ते अनित्यनिगोता । पृथिव्यप्तेजोवायूना सप्त सप्त शतसहस्राणि, वनस्पतिकायिकाना दश शतसहस्राणि, विकलेन्द्रियाणा षट् शतसहस्राणि, देवनारकपञ्चेन्द्रियतिरश्चा प्रत्येक चत्वारि शतसहस्राणि, मनुष्याणा चतुर्दश शतसहस्राणि । तान्येतानि समुदितानि चतुरशीतिशतसहस्राणि आख्यायन्ते । उक्त च—

*"**णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदिएसु छच्चेव ।**
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुएसु सदसहस्सा ॥" [बारसअणु० ३५] इति ।

एवमेतस्मिन्नवयोनिभेदसकटे [5]त्रिविधे जन्मनि सर्वप्राणिभूतामनियमेन प्रसक्ते अवधारणार्थमाह—

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

जालवत्प्राणिपरिवरणं जरायुः ।१। यज्जालवत् प्राणिपरिवरण विततमासशोणित तज्जरायुरित्युच्यते ।

शुक्रशोणितपरिवरणमुपात्तकाठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमण्डलमण्डम् ।२। यत्र खलु नखत्वक्सदृशमुपात्तकाठिन्य शुक्रशोणितपरिवरण[6]परिमण्डल तदण्डमित्याख्यायते ।

---

१ मिश्रं । शे– आ०, ब०, द०, मु० । २ –नि कानिचिदुष्णानि कानि– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –या जीवा विवृतयोनयो वेदि– आ०, ब०, द०, मु० । ४ नित्येतरधातु सप्त च तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव । सुरनारकतिर्यञ्चः चत्वारः चतुर्दश मनुष्येषु शतसहस्राणि ॥ ५ सम्मूर्च्छनादिभेदेन । ६ –ण म– आ०, ब०, मु० ।

संपूर्णावयवः परिस्पन्दादिसामर्थ्योपलक्षितः पोतः ।३। किञ्चित् परिवरणमन्तरेण परिपूर्णावयवो योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेत पोत इत्युच्यते। जरायौ जाता जरायुजा, अण्डे जाता अण्डजा, जरायुजाश्चाऽण्डजाश्च पोताश्च जरायुजाण्डजपोता ।

पोतजा इत्ययुक्तम्; अर्थभेदाभावात् ।४। [1]केचित् पोतजा इति पठन्ति; तदयुक्तम्; कुत ? अर्थभेदाभावात् । न हि पोते कश्चिदन्यो जातोऽस्ति ।

आत्मा पोतज इति चेत्; न; तत्परिणामात् ।५। स्यान्मतम्–आत्मा पोते जात पोतज इत्यर्थभेदोऽस्तीति ? तन्न; कि कारणम् ? तत्परिणामात् । आत्मैव पोतपरिणामेन परिणतः पोत इत्युच्यते, न पृथगात्मन पोतो नाम कश्चिदस्ति जरायुवत् । [2]पोतोऽजनिष्ट पोतज इति चेत्; अर्थविशेषो नास्ति ।

जरायुजग्रहणमादावभ्यर्हितत्वात् ।६। जरायुजग्रहणमादौ क्रियते । कुत [3]अभ्यर्हितत्वात् । कथमभ्यर्हितत्वम् ?

क्रियारम्भशक्तियोगात् ।७। अण्डजपोतासाधारण्यो हि भाषाध्ययनादय क्रिया जरायुजेषु दृश्यन्ते ।

केषाञ्चिन्महाप्रभावत्वात् ।८। तत्र हि जाता केचन चक्रधरवासुदेवादयो महाप्रभावा भवन्ति । किञ्च,

मार्गफलाभिसंबन्धात् ।९। सम्यग्दर्शनादिमार्गफलेन[4] मोक्षसुखेन[5] चाभिसंबन्धो नान्येषामित्यभ्यर्हितत्वम् ।

तदनन्तरमण्डजग्रहणं पोतेभ्योऽभ्यर्हितत्वात् ।१०। तदनन्तरमण्डजग्रहण क्रियते । कुत ? पोतेभ्योऽभ्यर्हितत्वात् । अण्डजेषु हि केषुचित् शुकसारिकादयोऽक्षरोच्चारणादिषु क्रियासु कुशला भवन्तीत्यभ्यर्हिता पोतेभ्य ।

[6]उद्देशवन्निर्देश इति चेत्; न, गौरवप्रसङ्गात् ।११। स्यान्मतम्–उद्देशवन्निर्देशेन भवितव्यमिति समूर्च्छनजाना प्राग्ग्रहण कर्तव्यमिति, तन्न; कि कारणम् ? गौरवप्रसङ्गात् । यदि हि समूर्च्छनजनिर्देश आदौ क्रियते [7]शास्त्रस्य गौरव स्यात्–[8]एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणा पञ्चेन्द्रियाणा तिरश्चा मनुष्याणा च केषाञ्चित्समूर्च्छनमिति, अतो गर्भजौपपादिकानुक्त्वा 'शेषाणा समूर्च्छनम्' इति लघुनोपायेन निर्देक्ष्यामीत्युद्देशक्रमोऽतिक्रान्त[9] ।

[10]सिद्धे विधिरवधारणार्थः ।१२। जरायुजादीना सामान्येन सिद्धे गर्भजन्मसबन्धे पुनर्विधिरारभ्यमाणो नियमार्थ, जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भ इति । अथ नियमार्थे[11] आरम्भे सति जरायुजाण्डजपोताना गर्भ एवेति नियम कस्मान्न भवति ? उत्तरत्र शेषाणामिति वचनात् ।

यद्यमीषा जरायुजाण्डजपोताना गर्भोऽवध्रियते, अथोपपाद खलु केषा भवतीति ? [12]अत आह––

---

१ "जरायवण्डपोतजानां गर्भः (सू०)···'पोतजानां शल्लकहस्तिश्वाविल्लापकशशशारिकानकुलमूषिकाना पक्षिणा च चर्मपक्षाणा जलूकावल्गुलीभारण्डपक्षिविरालादीनां गर्भो गर्भाज्जन्मेति' –त० भा० २।३४। २ पोतेऽजनि– भा० १। ३ अभ्युदयेन। ४ –नाभिस– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ५ सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्मेति सूत्रोक्तोद्देशवत्। नाममात्रकथनमुद्देशः। ६ शास्त्रगौ– आ०, ब० द०, मु०। ७ तदेव विवृणोति सूत्रेणानेन भवितव्यमिति। ८ सूत्रकृता। ९ "सिद्धे विधिरारभ्यमाणोऽन्तरेणाप्येवकार नियमार्थः।" –पात० महा० २।२।२०, ८।३।६१। १० सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्मेत्यत्र शुक्रशोणितगरणाद् गर्भ इति व्युत्पत्तिमुखेनैव गर्भजन्मसम्बन्धलक्षण सिद्धं किमनेन सूत्रेणेत्याशङ्क्याया नियमसूत्रमिदमित्याह। ११ इत्यस्मिन् सूत्रे।

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

देवादिगत्युदय एवास्य जन्मेति चेत्; न; शरीरनिर्वर्तकपुद्गलाभावात् ।१। [1]स्यादेतत्—मनुष्यस्तैर्यग्योनो वा छिन्नायु कार्मणकाययोगस्थो देवादिगत्युदयाद् देवादिव्यपदेशभागिति कृत्वा तदेवास्य जन्मेति मतमिति; तन्न; कि कारणम् ? शरीरनिर्वर्तकपुद्गलाभावात् । देवादिशरीरनिर्वृत्तौ हि देवादिजन्मेष्टम्, तस्या चावस्थायामनाहारकत्वान्न देवादिशरीरनिर्वृत्तिरस्ति तत [2]उपपादो जन्म युक्तम्, तच्च देवनारकाणामिति ।

निर्दिष्टजन्मभेदेभ्यो जरायुजादिभ्योऽन्येषा कि जन्म इति ? अत आह—

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

उभयत्र नियमः पूर्ववत् ।१। उभयोरपि योगयो पूर्ववन्नियमो वेदितव्य, देवनारकाणामेवोपपाद, शेषाणामेव समूर्च्छन नोक्तानामिति ।

कथ पुनर्ज्ञायते पूर्वत्र जन्मनियमो न जन्मवन्नियम इति ?

शेषग्रहणात् पूर्वत्र जन्मनियमः ।२। इह शेषग्रहणाज्ज्ञायते पूर्वत्र जन्मनियम इति । जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भो देवनारकाणामेवोपपाद इत्यवधारणे गर्भोपपादजन्मनी नियते, [3]जरायुजादयो न नियतास्तेषा सम्मूर्च्छनमपि प्राप्तमत शेषग्रहण क्रियते '[4]शेषाणामेव समूर्च्छन नोक्तानाम्' इत्यवधारणार्थं । यदि हि जन्मवता नियम स्यात् जरायुजाण्डजपोताना गर्भ एव देवनारकाणामुपपाद एवेति गर्भोपपादयोरनवधारणात् यत्र सम्मूर्च्छन चान्यच्चास्ति तत्र सम्मूर्च्छनमेवेति नियमाच्छेषग्रहणमनर्थक स्यात् ।

आह—इद सूत्रमनर्थकम् । कथम् ? पूर्वयोर्योगयोरुभयतो नियमे सति जरायुजादीनां गर्भोपपादयोश्चाऽसति व्यभिचारे, शेषाणामेव सम्मूर्च्छनमुत्सर्गोऽवतिष्ठते इति । उच्यते—स एवोभयतो नियमो [5]दुर्लभ, यत्तस्यैकत्वात्, अतोऽन्यतरनियम एवाश्रयितव्य, तस्मिंश्च सति सूत्रमिदमारब्धव्यम् ।

तेषा पुन ससारिणा त्रिविधजन्मनामाहितबहुविकल्प[6]नवयोनिभेदाना शुभाशुभनामकर्मनिर्वर्तितानि बन्धफलानुभवनाधिष्ठानानि शरीराणि कानीति ? अत आह—

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

शीर्यन्त इति शरीराणि ।१।

घटादेरतिप्रसङ्ग इति चेत्; न; नामकर्मनिमित्तत्वाभावात् ।२। यदि शीर्यन्त इति शरीराणि घटादीनामपि विशरणमस्तीति शरीरत्वमतिप्रसज्येत; तन्न; कि कारणम् ? नामकर्मनिमित्तत्वाभावात् । शरीरनामकर्मोदयाच्छरीरम्, न च घटादिषु सोऽस्तीति नास्त्यतिप्रसङ्ग ।

विग्रहाभाव इति चेत्, न, रूढिशब्देष्वपि व्युत्पत्तौ क्रियाश्रयात् ।३। स्यान्मतम्—यदि शरीरनामकर्मोदयाच्छरीरव्यपदेश. 'शीर्यन्त इति शरीराणि' इति विग्रहो नोपपद्यत इति; तन्न; कि कारणम् ? रूढिशब्देष्वपि व्युत्पत्तौ क्रियाश्रयात् । यथा 'गच्छतीति गौ.' इति विगृह्यते, एवं 'शीर्यन्त इति शरीराणि' इति विग्रहो भवति ।

---

१ स्यान्मतम् आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ उपेत्य पद्यते उत्पद्यतेऽस्मिन् उपपाद इति । ३ जीवाः । ४ अनुक्तानाम् । ५ दुर्लक्ष्यः । ६ चतुरशीतिशतसहस्र ।

शरीरत्वादिति चेत्; न; तदभावात् ।४। स्यान्मतम्–शरीरत्व नाम 'सामान्यविशेषोऽस्ति, तद्योगाच्छरीर न नामकर्मोदयादिति; तन्न; कि कारणम् ? तदभावात् । 'अतत्स्वभावेऽनवधारणप्रसङ्गोऽग्निवत्' इत्येवमादिना[1] अर्थान्तरभूतजातिसबन्धकल्पना प्रतिविहितेति नास्ति शरीरत्वम् ।

उदारात् स्थूलवाचिनो भवे प्रयोजने वा ठञ् ।५। उदार स्थूलमिति यावत्, ततो भवे प्रयोजने वा ठञि औदारिकमिति भवति ।

विक्रियाप्रयोजनं वैक्रियिकम् ।६। अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीरविविधकरण विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम् ।

आहियते तदित्याहारकम् ।७। सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसयमपरिजिहीर्षया च प्रमत्तसयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम् ।

तेजोनिमित्तत्वात्तैजसम् ।७। यत्तेजोनिमित्त तत्तैजसमिदम्, तेजसि भव वा तैजसमित्याख्यायते ।

कर्मणामिदं कर्मणां समूह इति वा कार्मणम् ।९। कर्मणामिद कार्य कर्मणा समूह इति वा कथञ्चिद्भेदविवक्षोपपत्ते कार्मणमिति व्यपदिश्यते ।

सर्वेषां कार्मणत्वप्रसङ्ग इति चेत्; न; प्रतिनियतौदारिकादिनिमित्तत्वात् ।१०। स्यान्मतम्-यदि कर्मणामिद कर्मणा समूह इति वा कार्मणमित्युच्यते सर्वेषामपि तत्तुल्यमित्यौदारिकादीनामपि कार्मणत्वप्रसङ्ग इति, तन्न, कि कारणम् ? प्रतिनियतौदारिकादिनिमित्तत्वात् । औदारिकशरीरनामादीनि हि प्रतिनियतानि कर्माणि सन्ति तदुदयभेदाद्भेदो भवति ।

तत्कृतत्वेऽप्यन्यत्वदर्शनात् घटादिवत् ।११। यथा मृत्पिण्डकारणाविशेषेऽपि घटशरावादीना सज्ञास्वालक्षण्यादिभेदाद्भेद तथा कर्मकृतत्वाविशेषेऽपि औदारिकादीना सज्ञादिभेदाद्भेदोऽवसेय ।

तत्प्रणालिकया चाभिनिष्पत्तेः ।१२। कार्मणशरीरप्रणालिकया चौदारिकादीनामभिनिष्पत्ति, अत कार्यकारणभेदान्न सर्वेषा कार्मणत्वम् । किञ्च,

[2]विस्रसोपचयेन व्यवस्थानात् क्लिन्नगुडरेणुश्लेषवत् ।१३। यथा वैस्रसिकपरिणामात्[3] क्लिन्ने गुडे रेणूनामुपश्लिष्टानामवस्थान तथा [4]कार्मणेऽप्यौदारिकादीना वैस्रसिकोपचयेनावस्थानमिति नानात्व सिद्धम्[5] ।

कामणमसत् निमित्ताभावादिति चेत्; न; निमित्तनिमित्तिभावात्तस्यैव प्रदीपवत् ।१४। स्यादेतत्–न कार्मण नाम शरीरमस्ति । कुत. ? निमित्ताभावात् । यस्य च निमित्त नास्ति तदसत् यथा खरविषाणमिति, तत्र; कि कारणम् ? तस्यैव निमित्तनिमित्तिभावात् प्रदीपवत् । यथा प्रदीपात्तैवात्मप्रकाशनात् प्रकाश्य प्रकाशकश्च तथा कार्मणमेवात्मनो निमित्त निमित्ति चेति सिद्धम् ।

मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच्च ।१५। न कार्मणस्य निमित्तं नास्ति । कि तर्हि निमित्तम् ? मिथ्यादर्शनादि । ततोऽसिद्धमेतत्–'निमित्ताभावात्' इति ।

---

१ सामान्यं सद्विशेषः परसामान्यमित्यर्थः । २ पृ०५। ३ जीवादो णंतगुणा पडिपरिमाणुम्हि विस्ससोवचया । जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पडि समाणा हु ॥ विस्रसा स्वभावेनैव आत्मपरिणामनिरपेक्षतयैव उपचीयन्ते तत्कर्मनोकर्मपरमाणुस्निग्धरूक्षत्वगुणेन स्कन्धतां प्रतिपद्यन्ते । ४ क्लिन्नगु– आ०, ब०, मु० । ५ कर्मण्यप्यौ– आ०, ब०, द०, मु० । ६ अत एव कर्मणां समूहः कार्मणम्, सर्वेषां तत्तुल्यमिति चोद्यं युक्तम् ।

इतरथा हचनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।१६। यदि कार्मणमनिमित्तमिति गृह्यचेत; अनिर्मोक्ष स्यात्, अहेतुकस्य विनाशहेतुत्वाभावात्[1]।

अशरीरं विशरणाभावादिति चेत्; न; उपचयापचयधर्मत्वात् ।१७। स्यादेतत्–यथौदारिकादि शीर्यत इति शरीर न तथा कार्मण शीर्यत इत्यशरीरत्वमस्येति; तन्न; कि कारणम् ? उपचयापचयधर्मत्वात् । निमित्तवशाद्धि कर्मायव्ययौ सतत स्त इति विशरणमस्येव । ५

तद्ग्रहणमादाविति चेत्; न; तदनुमेयत्वात् ।१८। स्यादेतत्–कार्मणग्रहणमादौ कर्तव्यम् । कुत ? तदधिष्ठानत्वादितरेषामिति ? तन्न; कि कारणम्, तदनुमेयत्वात् । यथा घटादिकार्योपलब्धे. [2]परमाण्वनुमान तथौदारिकादिकार्योपलब्धे कार्मणानुमानम् *"**कार्यलिङ्गं हि कारणम्**" [आप्तमी० श्लो० ६८] इति ।

तत एव कर्मणो मूर्तिमत्त्वं सिद्धम् ।१९। यस्मात् मूर्तिमदस्य कार्यं तत एव कर्मण कारणस्य मूर्तिमत्त्व सिद्धम् । न हचमूर्तेनात्मगुणेन निष्क्रियेणाऽदृष्टेन मूर्तिमत. क्रियावतो द्रव्यस्यारम्भो युक्त इति । १०

औदारिकग्रहणमादावतिस्थूलत्वात् ।२०। अतिस्थूलमिदमौदारिकमिन्द्रियग्राह्यत्वात्, ततोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते ।

उत्तरेषां क्रमः सूक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थः ।२१। उत्तरेषा वैक्रियिकादीनां पाठक्रमः सूक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थो वेदितव्य । वक्ष्यते हि **'परं परं सूक्ष्मम्'** इति । १५

यथौदारिकस्येन्द्रियैरुपलब्धिस्तथेतरेषा कस्मान्न भवतीति ? अत आह–

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

परशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः ।१। परशब्दोऽयमनेकार्थवचन । क्वचिद्व्यवस्थाया[3] वर्तते–यथा पूर्व पर इति । क्वचिदन्यार्थे वर्तते–यथा परपुत्र परभार्येति अन्यपुत्रोऽन्यभार्येति गम्यते । क्वचित्प्राधान्ये वर्तते–यथा परमिय कन्या अस्मिन् कुटुम्बे प्रधानमिति गम्यते । क्वचिदिष्टार्थे वर्तते–यथा पर धाम गत इष्ट धाम गत इत्यर्थ । तत्रेह विवक्षातो व्यवस्थार्थो गृह्यते । २०

पृथग्भूतानां शरीराणां सूक्ष्मगुणेन वीप्सा[4]निर्देशः ।२। संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनादिभि पृथग्भूताना शरीराणा सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देश क्रियते 'पर परम्' इति । २५

यदि परं पर सूक्ष्म प्रदेशतोऽपि नून परं पर हीनमिति विपरीतप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाह–

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

प्रदेशाः परमाणवः ।१। प्रदिश्यन्ते इति प्रदेशा परमाणव., ते हि घटादिष्ववयवत्वेन प्रदिश्यन्ते[5]। [6]'प्रदिश्यन्ते एभिरिति वा प्रदेशा', तैर्हि आकाशादीना क्षेत्रादिविभाग· प्रदिश्यते । प्रदेशेभ्य प्रदेशत *"**अपादानेऽहीयरुहोः**" [जैनेन्द्र० ४।२।५०] इति तसि. । प्रदेशैर्वा प्रदेशत. तसि प्रकरणे *"**आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्**" [जैनेद्र० वा० ४।२।४९] इति तसिः । ३०

संख्यानातीतोऽसंख्येयः ।२। सख्यान गणनमतीतो य सोऽसख्येय, असख्येयो गुणोऽस्य तदिदमसंख्येयगुणम् ।

---

१ आकाशवित् । २ परमाण्वाद्यनु –आ०, ब०, द०, मु० । ३ अवधिनियमो व्यवस्था । ४ आप्तुमिच्छा । व्याप्तुमिच्छा वीप्सा इत्यर्थः –सम्पा० । ५ निरूप्यन्ते । ६ प्रदिश्यते श्र०, मू० ।

परं परमित्यनुवृत्तेः प्राक् तैजसादिति वचनम् ।३। 'परं परम्' इत्यनुवर्तते, तेन आकार्मणादसंख्येयगुणत्वे प्राप्ते मर्यादानिर्णयार्थं प्राक् तैजसादित्युच्यते ।

प्रदेशत इति विशेषणमवगाह[1]क्षेत्रनिवृत्त्यर्थम् ।४। प्रदेशत परं परमसख्येयगुण नावगाहक्षेत्रत इत्येतस्य प्रतिपत्त्यर्थं 'प्रदेशत.' इति विशेषणमुपादीयते । तेनैतदुक्त भवति—औदारिकाद्वैक्रियिकमसंख्येयगुणप्रदेशं वैक्रियिकादाहारकमसंख्येयगुणप्रदेशमिति । को गुणकार. ? पल्योपमस्यासख्येयभाग· ।

उत्तरोत्तरस्य महत्त्वप्रसङ्ग इति चेत्; न, प्रचयविशेषादयःपिण्डतूलनिचयवत् ।५। स्यान्मतम्—यद्युत्तरोत्तरमसख्येयगुणप्रदेश परिमाणमहत्त्वेनापि भवितव्यमिति ? तन्न; कि कारणम् ? प्रचयविशेषादय पिण्डतूलनिचयवत् । यथा अय पिण्डस्य बहुप्रदेशत्वेऽपि अल्पपरिमाणत्व[2] तूलनिचयस्य चाल्पप्रदेशत्वेऽपि महापरिमाणत्व प्रचयविशेषात्, तथा उत्तरस्य शरीरस्यासख्येयगुणप्रदेशत्वेऽपि अल्पपरिमाणत्व बन्धविशेषाद्वेदितव्यम् ।

उक्त प्राक् तैजसात् पर परमसख्येयगुणमिति, अथोत्तरयो कि समप्रदेशत्वमुतास्ति कश्चिद्विशेषः ? अस्तीत्याह—

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

प्रदेशत इत्यनुवर्तते । तेनैवमभिसम्बन्ध क्रियते आहारकात्तैजस प्रदेशतोऽनन्तगुण तैजसात् कार्मण प्रदेशतोऽनन्तगुणमिति । को गुणकार ? अभव्यानामनन्तगुण सिद्धानामनन्तभाग ।

अनन्तगुणत्वादुभयोस्तुल्यत्वमिति चेत्, न, अनन्तस्यानन्तविकल्पत्वात्[3] ।१। स्यादेतत्-अनन्तगुणत्वादुभयोस्तैजसकार्मणयोस्तुल्यत्वमिति, तन्न, कि कारणम् ? अनन्तस्यानन्त[3]विकल्पत्वात् । अनन्तो ह्यनन्तविकल्प सख्येयस्य सख्येयविकल्पवत् ।

आहारकादुभयोरनन्तगुणत्वमिति चेत्, न, परं परमित्यभिसंबन्धात् ।२। स्यान्मतम्—आहारकादुभयोरनन्तगुणत्वमेव गम्यते न तैजसात् कार्मणस्यानन्तगुणत्वम्, अतस्तयोस्तुल्यप्रदेशत्व प्राप्नोतीति, तन्न, कि कारणम् ? परं परमित्यभिसबन्धात्[4] पर परमनन्तगुणमिति गम्यते ।

परस्मिन् सत्यारातीयस्यापरत्वात् परापर इति निर्देशः ।३। पर कार्मण तस्मिन् सति तैजसमपर भवत्यत परापरे इति निर्देशो न्याय्य ।

न वा, बुद्धिविषयव्यापारात् ।४। न वैष दोष । कि कारणम् ? बुद्धिविषयव्यापारात् । न शब्दोच्चारणक्रमेण तैजसकार्मणयो परव्यपदेश । कि तर्हि ? बुद्धचा तैजसकार्मणे तिर्यग्व्यवस्थाप्य आहारकात् [5]परे इति व्यपदेश ।

व्यवहिते वा परशब्दप्रयोगात् ।५। अथवा व्यवहिते परशब्दप्रयोगो दृश्यते यथा परा पाटलिपुत्रात् मथुरेति, तथा आहारकात्तैजसस्य परत्वम् , तैजसेन व्यवहितस्यापि कार्मणस्य परत्वमिति ।

बहुद्रव्योपचितत्वात्तदुपलब्धिप्रसङ्ग इति चेत्; न; उक्तत्वात् ।६। स्यादेतत्—बहुद्रव्योपचितत्वात् तैजसकार्मणयोरुपलब्धि[6] प्राप्नोतीति ? तन्न; कि [7]कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्—प्रचयविशेषात् सूक्ष्मपरिणाम इति ।

---

१ तस्समयबद्धवग्गणओगाहो सूइअगुलासंख । भागहिदविंदअंगुलमुवरुवरिं तेण भजिदकमा । २ अवगाहक्षेत्रस्य । ३ –विकल्पात् आ०, ब०, द०, मु० । ४ सबन्धत्वात् आ०, ब०, द०, मु० । ५ समानपङक्त्या । ६ समुच्चयेन । ७ दर्शनमित्यर्थः । ८ कारणमुक्तमेतत् आ०, ब, द०, मु० ॥

तत्रैतत् स्यात्–शल्यकवन्मूर्तिमद्द्रव्योपचितत्वात् ससारिणो जीवस्याभिप्रेतगति-निरोधप्रसङ्ग इति; तन्न, किं कारणम् ? यस्मादुभे अप्येते–

अप्रतीघाते ॥४०॥

[1]**प्रतीघातो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः** ।१। मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघात प्रतीघात इत्युच्यते । ५

[2]**तदभावः सूक्ष्मपरिणामादयःपिण्डे तेजोऽनुप्रवेशवत्** ।२। यथा अय पिण्डस्यान्त सूक्ष्मपरिणामात्तेजोऽनुप्रवेशो दृष्टस्तथा तैजसकार्मणयोरपि नास्ति वज्रपटलादिषु व्याघात इत्यप्रतीघाते इत्युच्यते ।

वैक्रियिकाहारकयोरप्यप्रतीघात इति चेत्; न; सर्वत्र विवक्षितत्वात् ।३। स्यान्मतम्–वैक्रियिकाहारकयोरपि प्रतीघातो नास्ति- सूक्ष्मपरिणामादेव, तत्र किमुच्यते तैजसकार्मणे १० एवाप्रतीघाते इति ? तन्न; कि कारणम् ? सर्वत्र विवक्षितत्वात्। आलोकान्तात् सर्वत्र तैजसकार्मणयोर्नास्ति प्रतीघात इत्यय विशेषो [3]विवक्षित, वैक्रियिकाहारकयोस्तु न [4]तथा, अस्ति प्रतीघात [5] ।

आह किमेतावानेव विशेष आहोस्वित् कश्चिदन्योऽप्यस्ति इति ? अत आह–

अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥ १५

अथवा, अनादित्वादात्मन शरीरस्यादिमत्वाद्विकरणस्य[6] आदिशरीरसम्बन्ध कि कृत इति ? अत आह–अनादिसम्बन्धे चेति । चशब्द किमर्थ ?

चशब्दो विकल्पार्थः ।१। चशब्दो विकल्पार्थो वेदितव्य, अनादिसबन्धे सादिसबन्धे चेति। कथमिति चेत् ? उच्यते–

बन्धसन्तत्यपेक्षया अनादिः सम्बन्धः सादिश्च विशेषतो बीजवृक्षवत् ।२। यथा वृक्षो २० बीजादुत्पन्न, तच्च बीजमपरस्माद् वृक्षात्, स चापरस्माद्बीजादिति कार्यकारणसबन्धसामान्यापेक्षया अनादिसंबन्धः, अस्माद बीजादय वृक्षोऽस्माच्च[7] वृक्षादिद बीजमिति विशेषापेक्षया सादिः। एव तैजसकार्मणयोरपि पौनर्भविकनिमित्तनैमित्तिकसन्तत्यपेक्षया अनादिसबन्ध, विशेषापेक्षया सादिरिति ।

एकान्तेनादिमत्त्वे अभिनवशरीरसंबन्धाभावो निर्निमित्तत्वात् ।३। यस्यैकान्तेनादिमान् २५ शरीरसबन्ध तस्य प्रागात्यन्तिकी शुद्धिमादधतो जीवस्याभिनवशरीरसबन्धो न स्यात् । कुत ? निर्निमित्तत्वात् ।

मुक्तात्माभावप्रसङ्गश्च ।४। यद्येकान्तेन सादिसबन्ध, [8]यथा आदिशरीरमकस्मात् सबध्यते एव मुक्तात्मनोऽप्याकस्मिकशरीरसबन्ध स्यादिति मुक्तात्माभावप्रसङ्ग स्यात् ।

एकान्तेनानादित्वे चानिर्मोक्षप्रसङ्गः ।५। अथैकान्तेनानादित्व कल्प्यते, एवमपि यस्या- ३० नादित्व तस्यान्तोऽपि नास्तीत्याकाशवत् कार्यकारणसबन्धाभावात्, ततश्चानिर्मोक्ष प्रसजति ।

---

१ प्रतिघा– आ०, ब०, द० । २ श्व० प्रतौ नास्त्येतत् वार्तिकचिह्नाङ्कितम् –सम्पा० । ३ ततः सर्वत्राप्रतीघाते इति व्याख्येयम्, सोपस्काराणि सूत्राणीत्यभिधानात् । ४ तथानास्ति आ०, ब०, द०, श्व० । ५ त्रसनाल एवावस्थानात् । ६ अतीन्द्रियस्यात्मनः । ७ –स्माद् –श्व० । ८ यथा सादिश– आ०, ब, द०, मु० । यथा शरीर– आ०, मू०, ता० ।

ननु चानादेरपि बीजवृक्षसन्तानस्याग्निसम्बन्धे सत्यन्तो दृष्ट , न; तस्यैकान्तेनाऽनादित्वाभावात् । बीजवृक्षौ हि विशेषापेक्षया आदिमन्ताविति । तस्मात् साधूक्त केनचित्प्रकारेण अनादि सबन्ध , केनचित्प्रकारेणादिमानिति ।

त एते तैजसकार्मणे कि कस्यचिदेव भवत उताऽविशेषेणेति ? अत आह—

सर्वस्य ॥४२॥

सर्वशब्दो निरवशेषवाची ।१। निरवशेषस्य ससारिणो जीवस्य ते द्वे अपि शरीरे भवत इत्यर्थ. ।

संसरणधर्मसामान्यादेकवचननिर्देशः ।२। ससरणधर्मसामान्ययोगादेकवचननिर्देश क्रियते । यदि हि कस्यचित् ससारिणस्ते न स्याता संसारित्वमेवास्य न स्यात् ।

अविशेषाभिधानात्तैरौदारिकादिभि. सर्वस्य संसारिणो यौगपद्येन संबन्धप्रसङ्गे संभविशरीरप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

तद्ग्रहणं प्रकृतशरीरद्वयप्रतिनिर्देशार्थम् ।१। प्रकृते द्वे शरीरे तैजसकार्मणे, तत्प्रतिनिर्देशार्थं तदित्युच्यते ।

आदिशब्देन [1]व्यवस्थावाचिना शरीरविशेषणम् ।२। पूर्वसूत्रे व्यवस्थिताना शरीराणामानुपूर्व्यप्रतिपादनेन आदिशब्देन विशेषण क्रियते, ते आदिर्येषा तानीमानि तदादीनीति ।

[2]पृथक्त्वादेव तेषां भाज्यग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; एकस्य द्वित्रिचतुःशरीरसंबन्धविभागोपपत्तेः ।३। स्यान्मतम्—भाज्यानि पृथक् कर्तव्यानीत्यर्थ , तान्यौदारिकादीनि परस्परत आत्मनश्च पृथग्भूतान्येव लक्षणभेदादतो भाज्यग्रहणमनर्थकमिति, तन्न, कि कारणम् ? एकस्य द्वित्रिचतु शरीरसबन्धविभागोपपत्ते । कस्यचिदात्मनो द्वे तैजसकार्मणे, अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियिकतैजसकार्मणानि वा, अन्यस्य चत्वारि औदारिकाऽऽहारकतैजसकार्मणानीति विभाग क्रियते ।

युगपदिति कालैकत्वे ।४। 'युगपत्' इत्यय निपात कालैकत्वे द्रष्टव्य', एकस्मिन् काले। कालभेदे तु पञ्चापि भवन्त्येव[3] ।

आङभिविध्यर्थः ।५। आङ्यमभिविध्यर्थो द्रष्टव्य , तेन चत्वार्यपि कस्यचिद्भवन्ति । मर्यादाया सत्या चत्वारि न स्यु । अथ पञ्च युगपत् कस्मान्न भवन्तीति ?

वैक्रियिकाहारकयोर्युगपदसंभवात् पञ्चाभावः ।६। यस्य संयतस्याहारकं न तस्य वैक्रियिकम्, यस्य देवस्य नारकस्य वा वैक्रियिकं न तस्याहारकमिति युगपत् पञ्चानामसभव ।

पुनरपि तेषा शरीराणां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

---

१ क्रम । २ औदारिकं वैक्रियिकमित्यादि, अथवा आत्मनः सकाशात् । ३ कश्चिद् देवो मनुष्यगतिमवाप्य दीक्षामुपादाय प्रमत्तसंयतः सन् आहारकशरीरं निर्वर्त्तयति । तस्य देवचरस्य संयतस्य अपेक्षया पञ्चापि भवन्ति घृतघटवत् । प्रमत्तसयतस्य आहारकवैक्रियिकशरीरोदयत्वेऽपि तयोरेककाले प्रवृत्त्यभावात् एकतरत्यागेन युगपदौदारिकतैजसकार्मणाहारकाणि चत्वारि, वैक्रियिकं वा अस्तित्वमाश्रित्य पञ्चापि भवन्ति । तदुक्तम्—आहारयवेगुव्वियकिरिया ण समं पमत्तविरदम्मि । जोगोवि एककाले एक्केव य होदि णियमेण ॥ इति । लब्धिप्रत्ययवैक्रियिकापेक्षया योज्यम् ।

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

सूत्रक्रमापेक्षया अन्ते भवमन्त्य कार्मणम्, निरुपभोगमिति वचनात् अर्थादापन्नमेतदितराणि सोपभोगानीति ।

कर्मादाननिर्जरासुखदुःखानुभवनहेतुत्वात् सोपभोगमिति चेत्; न; विवक्षितापरिज्ञानात् ।१। स्यान्मतम्–कार्मणकाययोगेन कर्मादत्ते निर्जरयति च, सुखदुःख चानुभवति, तत सोपभोगमेव न निरुपभोगमिति ? तन्न, कि कारणम् ? विवक्षितापरिज्ञानात् । विवक्षितमुपभोगमपरिज्ञाय परेणेद [1]चोदितम् । कोऽसौ विवक्षित उपभोग ?

इन्द्रियनिमित्तशब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः ।२। इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोग इत्युच्यते । विग्रहगतौ सत्यामपीन्द्रियोपलब्धौ द्रव्येन्द्रियनि[2]र्वृत्त्यर्थाभावात् शब्दादिविष[3]यानुभवाभावान्निरुपभोग कार्मणमिति कथ्यते ।

ननु तैजसमपि निरुपभोग तत्र किमुच्यते निरुपभोगमन्त्यमिति ? अत आह––

तैजसस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारः ।३। तैजस शरीर योगनिमित्तमपि न भवति ततोऽस्योपभोगविचारेऽनधिकार । ततो योगनिमित्तेषु शरीरेष्वन्त्य निरुपभोग सोपभोगानीतराणीत्ययमर्थोऽत्र विवक्षित ।

तत्राम्नातलक्षणेषु जन्मस्वमूनि शरीराणि प्रादुर्भावमापद्यमानानि किमविशेषेण भवन्ति उत कश्चिदस्ति प्रतिविशेष ? अस्तीत्याह––

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥

सूत्रक्रमापेक्षया आदौ भवमाद्यमौदारिकमित्यर्थ । यद् गर्भज यच्च समूर्च्छनज तत्सर्वमौदारिक द्रष्टव्यम् ।

तदनन्तर यन्निर्दिष्ट तत्कस्मिन् जन्मनीति ? अत आह––

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

उपपादे भवमौपपादिकम्, [4]'अध्यात्मादित्वात् इकः । यदौपपादिक तत्सर्व वैक्रियिक वेदितव्यम् ।

यद्यौपपादिक वैक्रियिकमनौपपादिकस्य वैक्रियिकत्वाभाव इति ? अत आह––

लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

वैक्रियिकमित्यभिसबध्यते ।

प्रत्ययशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातः कारणगतिः ।१। अय प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थ । क्वचिज्ज्ञाने वर्तते, यथा अर्थाभिधानप्रत्यया इति । क्वचित्सत्यताया वर्तते, प्रत्यय कुरु सत्य कुर्वित्यर्थ । क्वचित्कारणे वर्तते मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा प्रत्यया इति । तत्रेह विवक्षातः कारणपर्यायवाची वेदितव्य ।

तपोविशेषाद्धिप्राप्तिर्लब्धिः ।२। तपोविशेषाद् ऋद्धिप्राप्तिर्लब्धिरित्युच्यते । लब्धिः प्रत्ययो यस्य तल्लब्धिप्रत्ययम् । अथ लब्ध्युपपादयोः को विशेषः ?

---

१ चोद्यते श्व० मू० । २ निर्वृत्त्यभा– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ –यानुभवनाभा– आ०, ब०, मु० । ४ "अध्यात्मादेः ठञ्ञिष्यते" –पा०, सू०, वा०, ४।३।६०।

निश्चयकादाचित्ककृतो[1] विशेषो लब्ध्युपपाद्ययोः ।३। उपपादो हि निश्चयेन भवति जन्मनिमित्तत्वात्, लब्धिस्तु कादाचित्की[2] जातस्य सत उत्तरकाल तपोविशेषाद्यपेक्षत्वादिति, अयमनयोर्विशेष.।

सर्वशरीराणां विनाशित्वाद्वैक्रियिकविशेषानुपप[3]त्तिरिति चेत्; न; विवक्षितापरिज्ञानात्।४। स्यान्मतम्–विक्रिया विनाश, सा च सर्वशरीराणां साधारणी मुहुर्मुहुरुपचयापचयधर्मत्वादुच्छेदाच्च[4], ततो न वैक्रियिके कश्चिद्विशेषोऽस्तीति ? तन्न; कि कारणम् ? विवक्षितापरिज्ञानात्। नात्र विक्रियेति विनाशो विवक्षित । कि तर्हि ? विविधकरण विक्रिया। सा द्वेधा–एकत्वविक्रिया पृथक्त्वविक्रिया चेति। तत्रैकत्वविक्रिया स्वशरीरादपृथग्भावेन सिहव्याघ्रहंसकुररादिभावेन विक्रिया। पृथक्त्वविक्रिया स्वशरीरादन्यत्वेन प्रासादमण्डपादिविक्रिया। सा उभयी च विद्यते भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनाम्। वैमानिकानाम्[5] आसर्वार्थसिद्धे प्रशस्तरूपैकत्वविक्रियैव। नारकाणा त्रिशूलचक्रासिमुद्गरपरशु[6]भिण्डिवालाद्यनेकायुधैकत्वविक्रिया न पृथक्त्वविक्रिया आ षष्ठ्या। सप्तम्यां महागोकीटकप्रमाणलोहितकुन्थुरूपैकत्वविक्रिया, नानेकप्रहरणविक्रिया, न च पृथक्त्वविक्रिया। तिरश्चां मयूरादीनां कुमारादिभाव[7] प्रतिविशिष्टैकत्वविक्रिया न पृथक्त्वविक्रिया। मनुष्याणा तपोविद्यादिप्राधान्यात् 'प्रतिविशिष्टैकत्वपृथक्त्वविक्रिया।

किमेतदेव लब्ध्यपेक्षमुतान्यदप्यस्ति इति ? अत आह––

तैजसमपि ॥४८॥

ननु च वैक्रियिकानन्तरमाहारक वक्तव्यम्, अकालप्राप्त तैजस किमर्थमिहोच्यते ?

लब्धिप्रत्ययापेक्षार्थं तैजसग्रहणम् ।१। लब्धिप्रत्ययमित्यनुवर्तते, तदभिसमीक्ष्येह तैजसग्रहणं क्रियते।

वैक्रियिकानन्तरं यदुपदिष्ट तस्य स्वरूपनिर्धारणार्थं स्वामिनिदर्शनार्थं चाह––

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

शुभकारणत्वाच्छुभव्यपदेशोऽन्नप्राणवत् ॥१॥ यथा 'प्राणकारणेषु अन्नेषु प्राणव्यपदेश 'अन्नं वै प्राणा' इति, तथा [10]शुभकर्मण आहारककाययोगस्य कारणत्वादाहारकं शरीर शुभमित्युच्यते।

विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धाभिधानं कार्पासतन्तुवत् ।२। यथा कार्पासकार्येषु तन्तुषु कार्पासव्यपदेश कार्पासास्तन्तव इति। तथा विशुद्धस्य पुण्यकर्मणोऽशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद्विशुद्धमित्याख्यायते।

उभयतो व्याघाताभावादव्याघाति ।३। न ह्याहारकशरीरेणान्यस्य व्याघातो नाप्यन्येनाहारकस्येत्युभयतो व्याघाताभावादव्याघातीति व्यपदिश्यते।

चशब्दस्तत्प्रयोजनसमुच्चयार्थः ।४। तस्य प्रयोजनसमुच्चयार्थश्चशब्द क्रियते। तद्यथा

---

१ –कादाचित्कीकृतो आ०, ब०, मु०। २ –चित्कीतिजा– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ३ –पपत्तेरिति श्र०। ४ मरणकाले। ५ कल्पातीतानाम्। ६ –भिण्डिपाला– मू०। ७ यो वृद्धो मयूरः स कुमारत्वेन विकरोतीत्यादि योज्यम्। ८ प्रतिविशेषैक– श्र०। ९ बसः। अन्नकारणेषु प्राणेषु अन्नव्यप– आ०, ब०, द०, ज०, ता०, श्र०, मू०। १० शुभव्यापारस्य।

कदाचिल्लब्धिविशेषसद्भावज्ञानार्थं कदाचित्सूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थं संयमपरिपालनार्थं च भरतैरावतेषु केवलिविरहे जातसंशयस्तन्निर्णयार्थं महाविदेहेषु केवलिसकाशं जिगमिषुरौदारिकेण मे महानसंयमो भवतीति [1]विद्वानाहारकं निर्वर्तयति ।

आहारकमिति प्रागुक्तस्य प्रत्याम्नायः ।५। एवं प्रकारमाहारकमित्येतस्य प्रतिपादनार्थं पुनस्तस्य प्रत्याम्नाय क्रियते । ५

प्रमत्तसंयतग्रहणं स्वामिविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।६। यदा आहारकशरीर निर्वर्तयितुमारभते तदा प्रमत्तो भवतीति प्रमत्तसयतस्येत्युच्यते ।

इष्टतोऽवधारणार्थमेवकारोपादानम् ।७। यथैव विज्ञायते (येत) 'प्रमत्तसयतस्यैवाहारकं नान्यस्य' इति, मैव विज्ञायि 'प्रमत्तसंयतस्याहारकमेव' इति, माभूदौदारिकादिनिवृत्तिरिति ।

एषां शरीराणां परस्परतः संज्ञा-स्वालक्षण्य-स्वकारण-स्वामित्व-सामर्थ्य-प्रमाण-क्षेत्र-स्पर्शन-काला-ऽन्तर-संख्या-प्रदेश-भावा-ऽल्पबहुत्वादिभिर्विशेषोऽवसेयः ।८। उक्तानुक्तार्थ-संग्रहार्थमिदं वाक्यम् । तत्र सज्ञातोऽन्यत्वमौदारिकादीनां घटपटादिवत् । १०

स्वालक्षण्यान्नानात्वम्–स्थौल्यलक्षणमौदारिकम् । विविधर्द्धिगुणयुक्त[2]विकरणलक्षणं वैक्रियिकम् । दुरधिगमसूक्ष्मपदार्थतत्त्वनिर्णयलक्षणमाहारकम् । शङ्खधवलप्रभालक्षण तैजसम् । तद्द्विविधम्–नि सरणात्मकमितरच्च । औदारिकवैक्रियिकाहारकदेहाभ्यन्तरस्थ देहस्य दीप्ति-हेतुरनि सरणात्मकम् । यतेरुग्रचारित्रस्यातिक्रुद्धस्य जीवप्रदेशसयुक्त[3] बहिर्निष्क्रम्य दाह्य परिवृत्यावतिष्ठमान [4]निष्पावहरितफलपरिपूर्णा स्थालीमग्निरिव पचति, पक्त्वा च निवर्तते, अथ चिरमवतिष्ठते [5]अग्निसाद् दाह्योऽर्थो भवति, तदेतन्नि सरणात्मकम् । सर्वकर्मशरीरप्ररो[6]-हणलक्षण कार्मणम् । १५

स्वकारणतोऽन्यत्वम्–औदारिकशरीरनामकारणमौदारिकम्, वैक्रियिकशरीरनामकारणं वैक्रियिकम् । आहारकशरीरनामकारणमाहारकम्, तैजसशरीरनामकारण तैजसम्, कार्मण-शरीरनामकारण कार्मणम् । २०

स्वामिभेदादन्यत्वम्–औदारिक तिर्यङ्मनुष्याणाम्, वैक्रियिक देवनारकाणाम्, तेजो-वायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च केषाञ्चित् ।

आह चोदक–जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणायाम् * **"औदारिककाययोगः औदारिकमिश्रकाययोगश्च तिर्यङ्मनुष्याणाम्, वैक्रियिककाययोगो वैक्रियिकमिश्रकाययोगश्च देवनारकाणाम्"** [षट् ख०] [7]उक्त, इह तिर्यङ्मनुष्याणामपीत्युच्यते, तदिदमार्षविरुद्धमिति, अत्रोच्यते–न, अन्यत्रोपदेशात् । व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डके[8]पु शरीरभङ्गे- २५

---

१ जानन् । २ पुरुषैः । –युक्तविकरणं वै– आ०, ब०, द, मु० । ३ –संपृक्तं आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ निष्पावहरितपरिपूर्णा आ०, ब०, द० । निष्पावकहरितपरिपूर्णं मु० । निष्पावः अवरे– (कर्नाटकप्रान्ते धान्यविशेषे रूढोऽयम्) । ५ भस्मीकृतदाह्यार्थः । ६ –हल– आ०, ब०, द०, मु० । ७ "ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्खमणुस्साणं । वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेरइयाणं ।" –षट्खं० सं० सू० ५७, ५८ । ८ तुलना– "वेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते, कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा, दुविहे पन्नते, तं जहा– एगिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे य पंचिंदिय–वेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे य । (सू० ३४८) तत्र एगिंदियवेउव्विए त्यादि वायुकायिकापेक्षमुक्तं पंचिंदिए–त्यादि तु पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवनारकापेक्षमिति···वैक्रियकरणलब्धिं वा प्रतीत्य, एतच्च वायुपञ्चेन्द्रिय–तिर्यङ्मनुष्यानपेक्ष्योक्तम्·····" –व्याख्याप्रज्ञ० अभ० पृ० ७७३–।

वायोरौदारिकवैक्रियिकतैजसकार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि मनुष्याणां पञ्च । एवमप्यार्षयोस्तयोर्विरोध., न विरोध , आभिप्रायकत्वात् । जीवस्थाने सर्वदेवनारकाणा सर्वकालं वैक्रियिकदर्शनात् तद्योगविधिरित्यभिप्राय, नैव तिर्यङ्मनुष्याणा लब्धिप्रत्यय वैक्रियिक सर्वेषा सर्वकालमस्ति ; कादाचित्कत्वात् । व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु त्वस्तित्वमात्रमभिप्रेत्योक्तम् ।

आहारकं प्रमत्तसयतस्य । तैजसकार्मणे सर्वससारिणाम् ।

सामर्थ्यतोऽन्यत्वम्—औदारिकस्य सामर्थ्यं द्वेधा भवगुणप्रत्ययत्वात् । तिर्यङ्मनुष्याणा सिंहाष्टापदचक्रधरवासुदेवादीनाप्रकृष्टावकृष्टवीर्यदर्शनाद्भवप्रत्ययम् । प्रकृष्टतपोबलानामृषीणा यच्छरीरविकरणसामर्थ्यं तद् गुणप्रत्ययम् । तप सामर्थ्यं तदिति चेत्, न, औदारिकशरीरादृते तपसः केवलस्य शरीरविकरणसामर्थ्याभावात् । वैक्रियिकस्य सामर्थ्यं मेरुप्रचलनसकलमहीमण्डलोद्वर्तनादि । आहारकस्य सामर्थ्यमप्रतिहतवीर्यता । वैक्रियिकस्याप्यप्रतिहतसामर्थ्यं वज्रपटलादिष्वप्रतिघातदर्शनादिति चेत्, न, इन्द्रसामानिकादीना प्रकर्षाप्रकर्षदर्शनात्, अनन्तवीर्ययतिना चेन्द्रवीर्यस्य प्रतिघातश्रुते. सप्रतिघातसामर्थ्यं वैक्रियिकम् । सर्वाणि चाहारकशरीराणि तुल्यवीर्यत्वादप्रतिहतत्वाच्च अप्रतिघातवीर्याणि । तैजसस्य सामर्थ्यं कोपप्रसादापेक्षं दाहानुग्रहरूपम् । कार्मणस्य सामर्थ्यं सर्वकर्माविकाशदानम् ।

प्रमाणतोऽन्यत्वम्—सर्वजघन्येनाङ्गुलासख्येयभागप्रमाण सूक्ष्मनिगोतौदारिकम्, उत्कर्षेण साधिकयोजनसहस्रप्रमाण नन्दीश्वरवापीपद्मौदारिकम् । वैक्रियिकं मूलशरीरतो जघन्येनारत्निप्रमाण सर्वार्थसिद्धिदेवस्य, उत्कर्षेण पञ्चधनु शतप्रमाण तमस्तम.प्रभाया नारकस्य । विक्रियोत्कर्षेण जम्बूद्वीपप्रमाण वैक्रियिकं शरीर विकरोति देव । आहारकमरत्निप्रमाणम् । तैजसकार्मणे जघन्येन यथोपात्तौदारिकशरीरप्रमाणे, उत्कर्षेण केवलिसमुद्घाते सर्वलोकप्रमाणे ।

क्षेत्रतोऽन्यत्वम्—औदारिकवैक्रियिकाहारकाणि लोकस्यासख्येयभागक्षेत्रे । तैजसकार्मणे लोकस्यासख्येयभागे असख्येयेषु वा भागेषु सर्वलोके वा प्रतरलोकपूरणयो ।

स्पर्शनतोऽन्यत्वम्—औदारिकादानीम् एकजीव प्रति वक्ष्याम. । औदारिकेण तिर्यग्भि.[२] सर्वलोक स्पृष्ट । मनुष्यै लोकस्यासख्येयभाग । मूलवैक्रियिकशरीरेण लोकस्यासख्येयभागा उत्तरवैक्रियिकेणाऽष्टौ चतुर्दशभागा देशोना. । कथम् ? सौधर्मदेवः स्वपरप्राधान्यादारणाच्युतविहारात् षड्रज्जूर्गच्छति । स्वप्राधान्यात् अध आवालुकपृथिव्या द्वे रज्जू इति । आहारकेण लोकस्यासख्येयभाग स्पृशति । तैजसकार्मणाभ्या सर्वलोकम् ।

कालतोऽन्यत्वम्—एक जीव प्रति वक्ष्याम । मिश्रक वर्जयित्वौदारिकस्य तिर्यङ्मनुष्याणां जघन्येनान्तर्मुहूर्त, उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमान्यन्तर्मुहूर्तोनानि । स चान्तर्मुहूर्तोऽपर्याप्तकाल । वैक्रियिकस्य देवान् प्रति मूलवैक्रियिकदेहस्य जघन्येन दशवर्षसहस्राणि अपर्याप्तकालान्तर्मुहूर्तोनानि, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अपर्याप्तकालान्तर्मुहूर्तोनानि । उत्तरवैक्रियिकस्य जघन्य उत्कृष्टश्चाऽन्तर्मुहूर्त । तीर्थकरजन्मनन्दीश्वराहंदायतनादिपूजासु कथमिति चेत् ? पुनः पुनर्विकरणात् सन्ततयविच्छेद । आहारकस्य कालो जघन्य उत्कृष्टश्चाऽन्तर्मुहूर्त । तैजसकार्मणयो. सन्ततयादेशाद् अभव्यान् प्रत्यनादिरपर्यवसानः काल, भव्याश्च काश्चित् प्रति ये अनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यन्ति । ये सेत्स्यन्ति तान् प्रत्यनादि. सपर्यवसान. । एकसमयिकः निषेकं प्रति । तैजसस्य षट्षष्टिसागरोपमाणि । कार्मणस्य कर्मस्थिति. सप्ततिसागरोपमकोटिकोट्य. ।

१—णां च एव आ०, ब०, द०, मु० । २ जीवैः ।

[1]अन्तरतोऽन्यत्वम्–औदारिकादीनामेकजीव प्रति वक्ष्यामि । मिश्रकं वर्जयित्वौदारिकस्यान्तर्मुहूर्तोऽन्तरं जघन्यम् । कतरोऽन्तर्मुहूर्त ? औदारिकमिश्रकालोऽन्तर्मुहूर्त । कथम् ? इह चातुर्गतिक तिर्यङ्मनुष्येषूत्पन्नोऽन्तर्मुहूर्तमपर्याप्तको भूत्वा पर्याप्तकत्व प्राप्याऽन्तर्मुहूर्त जीवित्वा मृत, पुनस्तिर्यङ्मनुष्ययोरन्यतरत्रोत्पन्न अपर्याप्तिमान्तर्मुहूर्तिकीमनुभूय पर्याप्तको जात, लब्धमौदारिकान्तरम् । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । कथम् ? यो मनुष्यस्त्रयस्त्रिशत्सागरोपमायुष्केषु देवेषूत्पद्य स्थितिक्षये प्रच्युत पुनर्मनुष्येषूत्पद्यते तस्य योऽपर्याप्तिकालस्तेनाधिकानि त्रयस्त्रिशत्सागरोपमाणि ।

वैक्रियिकस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त[2] । कथम् ? मनुष्यस्तिर्यग्वा मृत दशवर्षसहस्रायुष्कदेवेषूत्पद्य च्युत मनुष्येषु तिर्यक्षु चोत्पद्य अपर्याप्तकालमनुभूय पुनर्देवायुर्बद्ध्वा उत्पद्यते, लब्धमन्तरम् । वैक्रियिकस्योत्कर्षेणान्तरमनन्तकाल । कथम् ? देवत्वाच्च्युतोऽनन्तकाल तिर्यङ्मनुष्येष्वटित्वा देवो जात, अपर्याप्तकालमनुभूय वैक्रियिकशरीरो[4] दृष्ट, लब्धमन्तरम् ।

आहारकस्यान्तर जघन्यमन्तर्मुहूर्त । प्रमत्तसंयत आहारक निर्वर्त्यान्तर्मुहूर्तमाहारकेण स्थित [5]कृताहारकशरीरकार्य उपसहृत्य पुनर्लब्धिसन्निधानादन्तर्मुहूर्तमवस्थाय निर्वर्तयतीति लब्धमन्तरम् । उत्कर्षेणार्धपुद्गलपरिवर्त अन्तर्मुहूर्तोन । कथम् ? योऽनादि[6]मिथ्यादृष्टि दर्शनमोहमुपशम्योपशमसम्यक्त्व सयम च युगपत्प्रतिपन्न उपशमसम्यक्त्वाच्च्युतो वेदकसम्यक्त्वेनोत्पद्य अन्तर्मुहूर्त स्थित सन्नप्रमत्तसयतस्थाने आहारक वद्ध्वा तत प्रमत्तसयतो निर्वर्त्य [7]मूलशरीर प्रविश्य मिथ्यात्वं गत, सोऽर्धपुद्गलपरिवर्त देशोनमटित्वा मनुष्येषूत्पद्य पूर्वविधिना सम्यक्त्वमुत्पाद्याऽसयतसम्यग्दृष्टिसयतासयतयोरन्यतरत्र दर्शनमोह क्षपयित्वा संयम प्रतिपद्याप्रमत्त आहारकस्य बन्धक प्रमत्तो निर्वर्तयतीति लब्धमन्तरम् । अत्र[8] ये प्राथमिकाश्चत्वारोऽन्तर्मुहूर्तास्ते[9] कतरे ? प्रथमो दर्शनमोहोपशमसम्यक्त्वसमानकालसयमान्तर्मुहूर्त । द्वितीयो वेदकसम्यक्त्वान्तर्मुहूर्त । तृतीय आहारकबन्धान्तर्मुहूर्त । चतुर्थ आहारकनिर्वृत्त्यन्तर्मुहूर्त । एते चत्वार आद्या अन्तर्मुहूर्ता, उत्तरकालमाहारकशरीरनिर्वृत्त्यन्तर्मुहूर्त पञ्चम मूलशरीर प्रविश्य प्रमत्ताप्रमत्ताभ्यां बहून् वाराननुभवतो बहवोऽन्तर्मुहूर्ता अतोऽधप्रवृत्तकरणविशुद्ध्या विशुद्धो विश्रान्त । अपूर्वकरणानिवृत्तिसूक्ष्मसाम्परायक्षीणकषायसयोग्ययोगिनामेकैकोऽन्तर्मुहूर्त । इयता कालेन हीनोऽर्धपुद्गलपरिवर्त ।

तैजसकार्मणयोर्नास्त्यन्तर सर्वससारिषु सर्वकालं सन्निधानात् ।

सख्यातोऽन्यत्वम्–औदारिकाण्यसख्येया लोका । वैक्रियिकाण्यसंख्याता श्रेणयो [10]लोकप्रतरस्यासंख्येयभाग । आहारकाणि सख्येयानि चतुपञ्चाशत् । तैजसकार्मणान्यनन्तानि[11] अनन्तानन्तलोका ।

प्रदेशतोऽन्यत्वम्–औदारिकस्यानन्ता[12] प्रदेशा अभव्यानामनन्तगुणा. सिद्धानामनन्तभागा । एवं शेषाणां चतुर्णामपि शरीराणाम्, अनन्तस्यानन्तविकल्पत्वात्[13]उदुत्तरोत्तराण्य-

---

१ अन्तरेऽन्य– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । २ बसः । ३ प्रकृता– आ०, ब०, द०, मु० । ४ मिथ्यादर्शन– आ०, ब०, द०, मु० । ५ आहारकशरीरम् । ६ अन्तरकाले । ७ –हूर्ता· क– श्र०, मू० । ८ श्रणिरपि कतरेत्यत आह । ९ कोऽर्थः । १० परमाणवः । ११ प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक तैजसात् अनन्तगुणे परे इत्युक्तम् । कथमेषां समानत्वमित्याशङ्कायामाह ।

धिकानि,[1] आधिक्यपरिमाणं प्रागुक्तम्।

भावतोऽन्यत्वम्—औदारिकादिस्वशरीरनामोदयात् सर्वाण्यौदयिकभावानि[2]।

अल्पबहुत्वतोऽन्यत्वम्—सर्वत. स्तोकान्याहारकाणि, वैक्रियिकाण्यसंख्येयगुणानि। को गुणाकार ? असंख्याताः श्रेणय, लोकप्रतरस्यासंख्येयभागा। तत औदारिकाणि असंख्येय-
५ गुणानि। को गुणकार. ? असंख्येया[3] लोका.। तैजसकार्मणान्यनन्तगुणानि। को गुणकारः ? सिद्धानामनन्तगुणा।

आत्माधिश्रितकार्मणनिमित्तविजृम्भितानि शरीराणि बिभ्रतां संसारिणां चातुर्विध्यवतामिन्द्रियसबन्ध प्रति विकल्पभाजा प्रति प्राणिन किं त्रिलिङ्गसन्निधानम् उत लिङ्गनियमः कश्चिदस्तीति ? अत उत्तर पठति—

१० ## नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

धर्मार्थकाममोक्षकार्यनरणान्नराः ।१। धर्मार्थकाममोक्षलक्षणानि कार्याणि नृणन्ति[4] नयन्तीति नराः।

नरान् कायन्तीति नरकाणि ।२। शीतोष्णासद्वेद्योदयापादितवेदनया नरान् [5]कायन्ति शब्दायन्त इति नरकाणि।

१५ **नृणन्तीति वा** ।३। अथवा पापकृत. प्राणिन आत्यन्तिक दुःख नृणन्ति नयन्तीति नरकाणि। औणादिक. कर्तरक.।

नरकेषु भवा नारका। संमूर्च्छन संमूर्च्छः, स एषामस्तीति समूर्च्छिन.। नारकाश्च संमूर्च्छिनश्च नारकसमूर्च्छिन।

नपुंसकवेदाशुभनामोदयान्नपुंसकानि ।४। चारित्रमोहविकल्पनोकषायभेदस्य नपुसक-
२० वेदस्याशुभनाम्नश्चोदयान्न स्त्रियो न पुमांस इति नपुंसकानि भवन्ति। नारकसमूर्च्छिनो नपुंसकान्येवेति नियम। तत्र हि स्त्रीपुंसविषया मनोज्ञशब्दगन्धरूपरसस्पर्शसंबन्धनिमित्ता [6]स्वल्पापि सुखमात्रा नास्ति।

यद्येवमवधीयते अर्थादापन्नमेतदुक्तेभ्योऽन्ये ये संसारिण तेषां त्रिलिङ्गत्वमिति, यत्रात्यन्तनपुंसकलिङ्गस्याभावस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—

२५ ## न देवाः ॥५१॥

स्त्रीपुंसविषयनिरतिशयसुखानुभवनाद् देवेषु नपुंसकाभावः ।१। स्त्रैणं पौंस्न च यन्निरतिशय सुख शुभगतिनामोदयापेक्षं तदेवानुभवन्तीति न तेषु नपुंसकानि सन्ति। तच्चोपरि वक्ष्यते।

अथेतरे कियल्लिङ्गा इति ? अत आह—

३० ## शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

त्रयो वेदा येषां ते त्रिवेदा.। के पुनस्ते ? स्त्रीत्वं पुस्त्वं नपुंसकत्वमिति। कथ तेषां सिद्धिः ?

---

१ एवमप्यनधिकानीति नाशङ्कनीयम्, गुणकारभागहारायोः प्रकर्षाप्रकर्षभावयोगादेवमुक्तम्। २ —भावाः आ०, ब०, द०, मु०। ३ —ख्येयलो— ता०, अ०। ४ नृ नये ऋधादिः, तस्य ष्वादित्वात् ष्वांह्रस्व इति ह्रस्वः। ५ कै गै रै शब्दे ऐधादिकः। शब्दादेः कुङ् वा इति क्यङ्। ६ —अल्पापि आ०, ब०, द०, मु०।

नामकर्मचारित्रमोहनोकषायोदयाद्वेदत्रयसिद्धिः ।१। नामकर्मणश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य चोदयाद्वेदत्रयस्य सिद्धिर्भवति। वेद्यत[1] इति वेदो लिङ्गमित्यर्थ.। तल्लिङ्गं द्विविधम्–द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति। नामकर्मोदयाद् योनिमेहनादि द्रव्यलिङ्गं भवति। नोकषायोदयाद्भावलिङ्गम्। तत्र स्त्रीवेदोदयात् 'स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री। पुवेदोदयात् सूते जनयत्यपत्यमिति पुमान्। नपुंसकवेदोदयात् तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकम्। रूढिशब्दाश्चैते। रुढिषु च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थैव, यथा गच्छतीति गौरिति। इतरथा हि गर्भधारणादिक्रियाप्राधान्ये बालवृद्धानां तिर्यङमनुष्याणां देवानां कार्मणकाययोगस्थानां च तदभावात् स्त्रीत्वादिव्यपदेशो न स्यात्। तत्र हि स्त्रीवेदो[3] दारुवह्निवत्, पुंवेदस्तृणाग्निवत्, इष्टकाग्निवन्नपुंसकवेद.। ते एते त्रयोऽपि वेदा शेषाणां गर्भजानां भवन्ति। ५

य इमे जन्मयोनिशरीरलिङ्गसंबन्धाहितविशेषा प्राणिनो 'निर्दिश्यन्ते देवादयो विचित्रधर्माधर्मवशीकृताश्चतसृषु गतिषु शरीराणि धारयन्त. किं यथाकालमुपभुक्तायुषो मूर्त्यन्तराण्यास्कन्दन्ति उत अयथाकालमपीति ? अत उत्तरं पठति– १०

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

औपपादिका उक्ताः ।१। उक्ता व्याख्याता औपपादिका देवनारका इति

चरमशब्दस्यान्तवाचित्वात्तज्जन्मनि निर्वाणार्हग्रहणम् ।२। चरमशब्दोऽन्तपर्यायवाची। चरमो देहो येषा त इमे चरमदेहा इति परीतससारास्तज्जन्मनि निर्वाणार्हा गृह्यन्ते। १५

उत्तमशब्दस्योत्कृष्टवाचित्वाच्चक्रधरादिग्रहणम् ।३। अयमुत्तमशब्द उत्कृष्टवाची, उत्तमो देहो येषा त इमे उत्तमदेहा इति चक्रधरादिग्रहण वेदितव्यम्।

उपमाप्रमाणगम्यायुषोऽसंख्येयवर्षायुषः ।४। अतीतसख्यानमुपमाप्रमाणेन पल्यादिना गम्यमायुर्येषा त इमेऽसख्येयवर्षायुषस्तिर्यङमनुष्या[5] उत्तरकुर्वादिषु प्रसूता। २०

बाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्रासोऽपवर्तः ।५। बाह्यस्योपघातनिमित्तस्य 'विषशस्त्रादे सति सन्निधाने ह्रासोऽपवर्त इत्युच्यते। अपवर्त्यमायुये षा त इमे अपवर्त्यायुष, नापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुष। एते औपपादिकादय उक्ता अनपवर्त्यायुषा, न हि तेषामायुषो बाह्यनिमित्तवशादपवर्तोऽस्ति।

अन्त्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोऽपवर्तदर्शनादव्याप्तिः ।६। उत्तमदेहाश्चक्रधरादयोऽनपवर्त्यायुष. इत्येतल्लक्षणमव्यापि। कुत ? अन्तस्य चक्रधरस्य ब्रह्मदत्तस्य वासुदेवस्य च कृष्णस्य अन्येषा च तादृशानां बाह्यनिमित्तावशादायुरपवर्तदर्शनात्। २५

न वा; चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात् ।७। न वैष दोष'। किं कारणम् ? चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात्। चरम उत्तमो देहो येषा ते चरमोत्तमदेहा इति।

---

१ अनुभूयते। २ धनीभवति, स्त्यं संघाते। ३ –दो दारुअङ्गारवत् ता०। –दोऽङ्गारवत् आ०, ब०, द०, मु०, मू०। अङ्गारवदिति वा पाठः –श्र० टि०। ४ निरदिसन्त इति वा पाठः –श्र० टि०। निरदिश्यन्त आ०, ब०, द०, मु०। ५ –ष्याणामु– आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ६ उक्तञ्च– विषास्त्रघातभीरक्तक्षयसङ्क्लेशवेदनाः। आहारोच्छ्वासरोधाः स्युः आयुष्यच्छेदकारिण इति। विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं। आहारुस्सासाणं णिरोहदो छिद्ददे आऊ॥

उत्तमग्रहणमेवेति चेत्; न; तदनिवृत्तेः ।८। स्यादेतत्–उत्तमग्रहणमेवास्तु उत्तमदेहा इति ? तन्न, किं कारणम् ? तदनिवृत्ते, यो दोष उक्तोऽव्याप्तिरिति स तदवस्थ एव तेषामप्युत्तमदेहत्वात् ।

चरमग्रहणमेवेति चेत्, न, तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात् ।९। स्यान्मतम्–चरमग्रहणमेवास्तु चरमदेहा इति, नार्थं उत्तमग्रहणेनेति, तन्न, किं कारणम् ? तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात्। स हि चरमो देह सर्वेषामुत्तम इत्यर्थं प्रतिपाद्यते । चरमदेहा इति वा केषाञ्चित् पाठ[१]। एतेषा नियमेनायुरनपवर्त्यमितरेषामनियम ।

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेत्, न, दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ।१०। यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीना दृष्ट पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय[२] आयुषो भवत्यपवर्त ।

आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ।११। यथा अष्टाङ्गायुर्वदविद्भिषक् प्रयोगे अतिनिपुणो यथाकालवाताद्युदयात् प्राक् वमनविरेचनादिना अनुदीर्णमेव श्लेष्मादि निराकरोति, अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायन चोपदिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम्। न[३]चादोऽस्ति ? अत आयुर्वेदसामर्थ्यादस्त्यकालमृत्यु ।

दुखःप्रतीकारार्थ इति चेत्, न, उभयथा दर्शनात् ।१२। स्यान्मतम्–दु खप्रतीकारोऽर्थ आयुर्वेदस्येति ? तन्न, किं कारणम् ? उभयथा दर्शनात्। उत्पन्नानुत्पन्नवेदनयोर्हि[४] चिकित्सादर्शनात् ।

कृतप्रणाशप्रसङ्ग इति चेत्, न, दत्वैव फलं निवृत्तेः ।१३। स्यान्मतम्–यद्यकालमृत्युरस्ति कृतप्रणाश [५]प्रसज्येत इति, तन्न, किं कारणम् ? दत्वैव फल निवृत्ते ,नाकृतस्य कर्मण फलमुपभुज्यते, न च कृतकर्मफलविनाश, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्, दानादिक्रियारम्भाभावप्रसङ्गाच्च। किन्तु कृत कर्म कर्त्रे फल दत्वैव निवर्तते विततार्द्रपटशोषवत् अयथाकालनिर्वृत्त[६] पाक इत्यय विशेष ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे द्वितीयोऽध्याय[७]ः समाप्तः ।

---

१ "चरमदेहा इति वा पाठः" –स०, सि०,२।५३। तुलना– 'औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः । (सू०) औपपातिकाः चरमदेहा उत्तमपुरुषाः···" –त० भा०, २।५२ । २ अनुदयप्राप्तानां कर्मणामभिघातेनोदय उदीरणम् । ३ न वादो–आ०, ब०, द०, मु० । ४ पुरुषयोः । ५ प्रसज्यते आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ –निवृत्तः श्र०, मू० । ७ –यः । आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

*

तृतीयोऽध्यायः

मोक्षमार्गे त्रिविधेऽधिकृते आदावुपदिष्टस्य सम्यग्दर्शनस्य विषयप्रदर्शनार्थं जीवादिपदार्थोपदेशे कर्तव्ये जीवा निर्दिष्टा । इदानीं तदधिष्ठानव्याख्यानप्रसङ्गेन लोकविभागो वक्तव्य । स पुनस्त्रिविध.–अधोलोकस्तिर्यग्लोक ऊर्ध्वलोक । तत्र क्रमप्राप्तस्याऽधोलोकस्य वर्णनार्थमुच्यते । अथवा सवेगहेतुत्वात् ता.[1] नारकी. शीतोष्णनिमित्ता सुतीव्रवेदनाः श्रुत्वाऽय कथ सविग्न स्यादिति प्रथममधोलोक उच्यते । अथवा, *"**भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्**"[त० सू० १।२१] इत्येवमादिषु नारका श्रुता, तत पृच्छति के ते नारका इति ? तत्प्रतिपादनार्थं तदधिकरणनिर्देश. क्रियते– ५

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

रत्नादीनामितरेतरयोगे[2] द्वन्द्वः ।१। रत्नं च शर्करा च बालुका च पङ्कश्च धूमश्च तमश्च महातमश्च रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमासीति इतरेतरयोगे द्वन्द्वो द्रष्टव्य । १०

प्रभाशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुंजिवत् ।२। यथा देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यन्तामिति प्रत्येकं भुजि परिसमाप्यते, एव प्रभाशब्दस्यापि प्रत्येक परिसमाप्तिर्वेदितव्या–रत्नप्रभा शर्कराप्रभा बालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तम प्रभा महातम प्रभा चेति ।

साहचर्यात्तच्छब्दसिद्धिर्यष्टिवत् ।३। यथा यष्टिसहचरितो देवदत्तो यष्टिरित्युच्यते तथा चित्र-वज्र-वैडूर्य-लोहिताक्षमसार-गल्व-गोमेद-प्रवाल-ज्योती-रसाञ्जनमूलकाङ्क-[3]स्फटिक-चन्दन-बर्बक-बकुल-[4]शिलामयाख्यषोडशधापरिक्लृप्तरत्नप्रभासहचरितत्वात् रत्नप्रभा भूमि । शर्कराप्रभासहचरिता शर्कराप्रभा । बालुकाप्रभासहचरिता बालुकाप्रभा । पङ्कप्रभासहचरिता पङ्कप्रभा । धूमप्रभासहचरिता धूमप्रभा । तम प्रभासहचरिता तम प्रभा । महातम प्रभासहचरिता महातम प्रभेति । १५ २०

तमःप्रभेति विरुद्धमिति चेत्, न, स्वात्मप्रभोपपत्ते ।४। स्यान्मतम्–तमोऽन्धकार प्रभा प्रकाश इति विरुद्धावेतावर्थौ–यदि तमो न प्रभा, अथ प्रभा न तम, तम प्रभेत्यभिधानमनुपपन्नमिति, तन्न, कि कारणम् ? स्वात्मप्रभोपपत्ते । न दीप्तिरूपैव प्रभा । कि तर्हि ? द्रव्याणा स्वात्मैव [5]भुजा प्रभा [6]यत्सन्निधानात् मनुष्यादीनामय सव्यवहारो भवति * स्निग्धकृष्णप्रभमिदं [7]रूक्षकृष्णप्रभमिदमिति,[8] ततस्तमसोऽपि [9]स्वात्मैव कृष्णा प्रभा अस्तीति नास्ति विरोधः । [10]बाह्यप्रकाशापेक्षा सेति चेत्, अविशेषप्रसङ्ग स्यात् । २५

---

१ स नार– आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । २ आविर्भूतावयवभेद इतरेतरः । ३ लोहितक्षेत्र– भा० १ । ३ –स्फाटिक आ०, ता०, श्र०, मू० । ४ –शिलोमया– ता०, श्र०, मू० । ५ शुद्धा, ता० टि० । ६ ता० प्रतौ यत्सन्निधानात् इत्यादि भवतीत्यन्तो भागः वार्तिकचिह्नेन चिह्नितो वर्तते । ७ अलकादि । ८ अञ्जनादि । ९ –भमिति ततस्तम.प्रभेति भेदे रुढि– आ०, ब०, द०, मु० । १० सा कृष्णप्रभा बाह्यभूतसूर्यप्रकाशादिसन्निधानाद् दृश्यते । भवतु नाम का नो हानिः । तर्हि नारकाणां कथम् ? व्योध्रोलूकादिवद् द्रष्टव्यम् ।

अनादिपारिणामिकसंज्ञानिर्देशाद्वा इन्द्रगोपवत् ।५। यथा इन्द्रगोप इति कस्यचिज्जन्तो संज्ञा अनादि स्वाभाविकी । न ह्यसौ इन्द्र गोपायतीति इन्द्रगोप । एव तम.प्रभादिसज्ञा अपि अनादिपारिणामिक्यो वेदितव्या[1] ।

भेदे रूढिशब्दानामगमकत्वमवयवार्थाभावादिति चेत्; न, सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात् ।६। स्यादेतत्–यद्येते अनैमित्तिका रूढिशब्दा भेदे गमकत्वमेषा नास्ति। कुत. ? अवयवार्थाभावादिति, तन्न, कि कारणम् ? सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात् । तेषा सज्ञाशब्दानां प्रतिपादनोपायभूतमिदम्[2] । अस्मान्निबन्धन[3]स्थानाच्छब्दान्तराण्युपप्लवन्ते[4] यैरर्था[5] सज्ञायन्ते ।

भूमिग्रहणमधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।७। यथा स्वर्गपटलानि भूमिमनाश्रित्या अवस्थितानि न तथा नारकावासा । कि तर्हि ? भूमीराश्रित्य व्यवस्थिता इत्यधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थ भूमिग्रहणम् ।

घनाम्ब्वादिग्रहणं तदालम्बननिर्ज्ञानार्थम् ।८। तासा भूमीनामालम्बननिर्ज्ञानार्थं घनाम्ब्वादिग्रहणं क्रियते । [6]घनमेवाम्बु घनाम्बु । घनाम्बु च वातश्चाकाश च [7]घनाम्बुवाताकाशानि, तानि प्रतिष्ठा आश्रयो यासा ता घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा । सर्वा एता भूमय घनोदधिवलयप्रतिष्ठा, घनोदधिवलय घनवातवलयप्रतिष्ठम्, घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठम्, तनुवातवलयमाकाशप्रतिष्ठम्, आकाशमात्मप्रतिष्ठ तस्यैवाधाराधेयत्वात् । त्रीण्यप्येतानि वलयान्यन्वर्थसज्ञानि प्रत्येक विशतियोजनसहस्रबा[8]हल्यानि । तत्र घनोदधयो मुद्गसन्निभा, घनवाता गोमूत्रवर्णा, अव्यक्तवर्णास्तनुवाता ।

तत्र रत्नप्रभाया बाहल्यमेक योजनशतसहस्रमशीतिश्च योजनसहस्राणि । तस्यास्त्रयो भागा[9]–खरपृथिवीभाग, पङ्कबहुल, अब्बहुलश्चेति । तत्र चित्रादिषोडशधाप्रक्लृप्तरत्नाञ्चित. खरपृथिवीभाग, षोडशयोजनसहस्र[10]बहल । पङ्कबहुल चतुरशीतियोजनसहस्रबहल[11] । अब्बहुलोऽशीतियोजनसहस्रबहल । तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधश्चैकैक[12] योजनसहस्रं परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्दशसु योजनसहस्रेषु किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षभूतपिशाचानां सप्ताना व्यन्तराणा नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां नवाना भवनवासिना चावासा । पङ्कबहुलभागे असुरराक्षसानामावासा । अब्बहुलभागे नरकाणि । शर्कराप्रभाया[13] बाहल्य द्वात्रिशद्योजनसहस्राणि । ततोऽधोऽधस्तनानि चतुर्भिश्च चतुर्भिर्योजनसहस्रोनानि बाहल्यानि वेदितव्यानि आषष्ठ्याः । [14]सप्तम्याम् अष्टौ योजनसहस्राणि । सर्वासा तासामन्तराणि तिर्यक् चासख्येया योजनकोटिकोटच ।

सप्तग्रहणमियत्तावधारणार्थम् ।९। यथा गम्येत सप्तैव नरकाधारा भूमयो नाष्टौ न[15] षट् चेति सख्यान्तरनिवृत्त्यर्थम् । [15]सन्ति हि केचित्तन्त्रान्तरीया –*"**अनन्तेषु लोकधातुष्वनन्ताः**

---

१ सूत्रम् । २ नियामकसूत्रात् । ३ उद्गच्छन्ति । ४ सान्द्रम् । ५ सर्वार्थसिद्धावेवं व्याख्यातम्–घनश्च घनो मन्दो महान् आयत इत्यर्थः । अम्बु च जलमुदकमित्यर्थः । वातशब्दोऽन्त्यदीपकः तत एवं सम्बन्धनीयः । घनो घनवातः । अम्बु अम्बुवातः । वातस्तनुवातः । महदपेक्षया तनुरिति सामर्थ्यगम्यः । अन्यः पाठः । सिद्धान्तपाठस्तु घनाम्बु च वातौ चेति वातशब्दः सोपस्क्रियते वातस्तनुवात इति वेति । ६ –बाहुल्या– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ –बहुलः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ८ –कयोज– श्र० । ९ –भाया बाहुल्यं आ०, ब०, द०, मु० । १० सप्तम्या अ– आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ११ न नव चेति श्र०, मू० ।

पृथिवीप्रस्तारा:" [ ] इत्यध्यवसिता । कथ तेषा निवृत्ति. ? स्याद्वादनीतिनिरूपितकर्मफलसबन्धादिषु [1]युक्तिसद्भावात् आर्हतस्यागमस्य प्रामाण्य न शेषाणा तदभावादिति ।

अधोऽधोवचनं तिर्यक्प्रचयनिवृत्त्यर्थम् ।१०। यथा गम्येत अधोऽध एव सप्तापि भूमयो न तिर्यक्प्रचयेनावस्थिता इति प्रतिपत्त्यर्थमधोऽधोग्रहणम् ।

सामीप्याभावाद् द्वित्वानुपपत्तिरिति चेत्, न, अन्तरस्याविवक्षितत्वात् ।११। स्यान्मतम्– प्रत्येक भूमीनामन्तराण्यसख्यातयोजनकोटीकोटिपरिमाणानि तत सामीप्याभावाद् द्वित्वाभाव इति; तन्न; कि कारणम् ? अन्तरस्याविवक्षितत्वात् । कथमविवक्षा सत. ? सतोऽप्यविवक्षा भवति यथा अलोमिका एडका [2] अनुदरा कन्येति ।

तुल्यजातीयेनाव्यवधानं सामीप्यमिति वा ।१२। अथवा यदन्तर तत्पूर्वोत्तरभागान्तःपातित्वात् सामीप्यमिति तद्द्योतनार्थं द्वित्वम् ।

'पृथुतराः' इति केषाञ्चित् पाठः ।१३। [3]केचिदत्र 'पृथुतरा' इति पठन्ति ।

अत्र तरनिर्देशः कुतः ? प्रकर्षाभावात्' ।१४। द्वयोर्द्वयो[4]र्वाऽभिसंबन्धे सति महत्त्वविशेषप्रख्यापनार्थस्तर[5]शब्द· । एवमपि रत्नप्रभाया पृथुतराव्यपदेशो नास्ति [6]प्रतियोग्यभावात् । अपि च शर्कराप्रभादीना प्रकर्षाभाव· अधोऽधो हीनपरिमाणत्वात्[7] । तस्मादधोऽध पृथुतरा इति व्यपदेशो नोपपद्यते ।

स्यादेतत्–अधोलोकस्य वेत्रासनसस्थानस्याधोध पृथुत्वप्रकर्षात् पृथुतरा इति व्यपदेश इति, तच्च न; भूमिभ्यो बहिस्तत्पृथुत्वम् । एव ह्युक्तम्–*"**स्वयम्भूरमणसमुद्रान्तादवलम्बिता रज्जुः सप्तम्याः भूमेरवसानं पूर्वादिदिग्विभागावगाहिकालमहाकालरौरवमहारौरवान्ते पतति**" [ ] इति । अथापि कथञ्चित् स्यात् प्रकर्ष , तिर्यक् पृथुतरा इति वक्तव्य स्यान्नाधोऽध इति । अथापि कथञ्चिदनेन विशेषणेनार्थ, एव ग्राह्य[8] अधोऽधो वेदनाप्रकर्षाप्रकर्षयोगादायुषोऽतिशयाद्वा तन्निमित्तस्य तद्व्यपदेशदर्शनात्, तत्सबन्धाद्वा भूमय पृथुतरा इति व्यपदिश्यन्ते । एवमपि रत्नप्रभाया पृथुतराव्यपदेशो नोपपद्यत एव ।

अत्राह–कि ता भूमयो नारकाणा सर्वत्रावासा आहोस्वित् क्वचित् क्वचिदिति ? तन्निर्धारणार्थमाह–

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

तासु रत्नप्रभादिषु भूमिषु नरकाण्यनेन सख्यायन्ते ।

त्रिशदादीनां परस्पराभिसंबन्धे वृत्तिः ।१। त्रिशदादीना पदाना परस्पराभिसंबन्धे सति वृत्तिर्वेदितव्या । पञ्चभिरून पञ्चोन पञ्चोन च तदेकं च तत्पञ्चोनैकम् । त्रिंशच्च पञ्चविंशतिश्च पञ्चदश च दश च त्रीणि च पञ्चोनैक च त्रिशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रि-

---

१–वियुक्ति द०, आ०, ब०, मु० । २ मेषाः –सम्पा० । ३ " ··सप्ताधोऽधः पृथुतराः (सू०) ···सर्वाश्चैताः अधोऽधः पृथुतराश्छत्रातिछत्रसस्थिताः···" –त० भा० ३।१। ४ रत्नप्रभायाः शर्कराप्रभा प्रकर्षेत्यादि । ५ –र्वा सम्ब– श्र० । ६ द्वयोर्विभज्ये च तरबिति । ७ रत्नप्रभायाः पूर्वं प्रतिनिधेरभावात् । ८ बाहल्यानाम् । ९ ग्राह्यमधो– आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

पञ्चोनैकानि। शताना सहस्राणि शतशहस्राणि नरकाणा शतसहस्राणि नरकशतसहस्राणि, त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकानि च तानि नरकशतसहस्राणि च तानि त्रिंशत्-पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि।

यथाक्रमवचनं यथासंख्याभिसंबन्धार्थम् ।२। यो य क्रमो यथाक्रमम्, तस्य वचन रत्नप्रभादिभिः, त्रिंशता(दा)दीना यथासख्याभिसबन्धो यथा स्यादिति। तद्यथा–रत्नप्रभाया त्रिंशन्नरकशतसहस्राणि। शर्कराप्रभाया पञ्चविंशतिनरकशतसहस्राणि। वालुकाप्रभाया पञ्चदशनरकशतसहस्राणि। पङ्कप्रभाया दशनरकशतसहस्राणि। धूमप्रभाया त्रीणि नरकशतसहस्राणि। तम प्रभाया पञ्चोनमेक नरकशतसहस्रम्। महातम प्रभाया पञ्च नरकाणि।

तत्र रत्नप्रभाया अब्बहुलभागे उपर्यधश्चैकै[1]क योजनसहस्रं वर्जयित्वा मध्ये नरकाणि भवन्ति। तानि त्रिधा वर्ण्यन्ते, इन्द्रक-श्रेणि-पुष्पप्रकीर्णकविभागेन। [2]तत्र त्रयोदशनरक-प्रस्तारा, त्रयोदशैव इन्द्रकनरकाणि सीमन्तक-निरय-रौरुक्-भ्रान्त-उद्भ्रान्त–सम्भ्रान्त-अस-भ्रान्त-विभ्रान्त-तप्त-त्रस्त-व्युत्क्रान्त-अवक्रान्त-विक्रान्तनामानि। शर्कराप्रभायामेकादश नरक-प्रस्तारा एकादशैवेन्द्रकनरकाणि–स्तनक-सस्तनक-वनक-मनक-घाट-सघाट-जिह्व-उज्जिह्व-कालोल-लोलुक-स्तनलोलुकाख्यानि। वालुकाप्रभाया नव नरकप्रस्तारा नवैवेन्द्रकनरकाणि-तप्त-त्रस्त-तपन-आतपन-निदाघ-प्रज्वलित-उज्ज्वलित-सज्वलित-सप्रज्वलितसज्ञकानि। पङ्क-प्रभाया सप्तनरकप्रस्तारा सप्तैवेन्द्रकनरकाणि–आर-मार-तार-वर्चस्क-वैमनस्क[3]-खड-अख-डाख्यानि। धूमप्रभाया पञ्च नरकप्रस्तारा–पञ्चैवेन्द्रकनरकाणि–तमो-भ्रम-झष-अन्ध-तमिस्राभिधानानि। तम प्रभाया त्रयो नरकप्रस्तारा–त्रीण्येवेन्द्रकनरकाणि हिम-वर्दल-ललकनामधेयानि। महातम प्रभायामेको नरकप्रस्तार, एकमेवेन्द्रकनरकमप्रतिष्ठानाख्यम्।

तत्र [4]सीमन्तकस्य चतसृषु दिक्षु चतस्रो नरकश्रेण्यो निर्गतास्तथा विदिक्ष्वपि। तदन्तरेषु पुष्पप्रकीर्णकनरकाणि। तत्रैकैकस्या दिङ्नरकश्रेण्यामेकान्नपञ्चाशदेकान्नपञ्चाशन्नरकाणि। तथैकैकस्या विदिङ्नरकश्रेण्याम् अष्टचत्वारिंशदष्टचत्वारिंशन्नरकाणि। एव निरयादिष्व-प्येकैक परिहाप्य नेतव्यानि।

तत्र प्रथमाया पृथिव्या श्रेणीन्द्रकनरकाणा सख्या चतुश्चत्वारिंशच्छतानि त्रयस्त्रिंशानि। पुष्पप्रकीर्णकानामेकान्नत्रिंशच्छतसहस्राणि पञ्चनवतिश्च सहस्राणि पञ्चशतानि सप्तषष्टच-धिकानि। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ त्रिंशन्नरकशतसहस्राणि। द्वितीयाया श्रेणीन्द्रक-नरकसख्या षड्विंशतिशतानि पञ्चनवत्युत्तराणि। पुष्पप्रकीर्णकाना सख्या चतुर्विंशति-शतसहस्राणि सप्तनवतिसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्च च। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ पञ्चविंशतिनरकशतसहस्राणि। तृतीयाया श्रेणीन्द्रकनरकसख्या चतुर्दशशतानि पञ्चा-शीत्यधिकानि। पुष्पप्रकीर्णकसख्या चतुर्दशशतसहस्राणि अष्टानवतिसहस्राणि पञ्चशतानि पञ्चदशाधिकानि। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ पञ्चदशनरकशतसहस्राणि। चतुर्थ्या श्रेणीन्द्रकनरकसंख्या सप्ताधिकानि सप्तशतानि। पुष्पप्रकीर्णकसंख्या नवनरकशतसहस्राणि नवनवतिश्च सहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्युत्तरे। एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ दशनरकशत-

---

१ –कं हि यो– श्र०। २ तत्र रत्नप्रभाया त्रयो –आ०, ब०, मु०। ३ – खाटाखाटाख्या– ता०, आ०, ब०, द०। –खटाखटाख्या– मू०। ४ सीमन्तनरकस्य आ०, ब०, द०, मु०, ता०।

सहस्राणि । पञ्चम्या श्रेणीन्द्रकनरकसख्या द्वे नरकशते पञ्चषष्ट्यधिके । पुष्पप्रकीर्णकसख्या द्वे शतसहस्रे नवनवतिश्च सहस्राणि सप्तशतानि पञ्चत्रिशानि च । एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ त्रीणि नरकशतसहस्राणि । षष्ठ्या श्रेणीन्द्रकनरकसंख्या त्रिपष्टिनरकाणि । पुष्पप्रकीर्णकसख्या नवनवतिनरकसहस्राणि नवशतानि द्वात्रिशानि । एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ नवनवतिसहस्राणि नवशतानि पञ्चनवत्युत्तराणि । सप्तम्यामिन्द्रकनरकमेक- ५
मप्रतिष्ठानं नाम । श्रेणीनरकाणि चत्वारि । प्राच्या दिशि काल प्रतीच्या महाकालम् अपाच्या रौरवम् उदीच्या महारौरवम् । विदिक्श्रेणीनरकाणि न सन्ति । तान्येतानि पञ्च ।

सर्वश्रेणीन्द्रकनरकसख्या षण्णवतिर्नरकशतानि त्रिपञ्चाशानि । सर्वपुष्पप्रकीर्णकसख्या त्र्यशीतिर्नरकशतसहस्राणि नवतिसहस्राधिकानि त्रीणि च शतानि सप्तचत्वारिशानि । एतावुभावपि राशी सपिण्डितौ चतुरशीति· नरकशतसहस्राणि । १०

तासु सप्तस्वपि पृथिवीषु कानिचिन्नरकाणि सख्येयविस्ताराणि कानिचिदसख्येय-विस्ताराणि । यानि सख्येयविस्ताराणि तानि सख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि, यान्यसख्येयविस्ताराणि तान्यसख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि । सर्वत्र च नरकाणा पञ्चमो[१] भाग सख्येयविस्ताराणा चत्वारो भागा असख्येयविस्ताराणाम् । बाहल्यमुच्यते–

क्रोश प्रथमपृथिव्याम्, इतरास्वर्धाधिका क्रमेणैव । १५
चत्वार सप्तम्या सर्वेन्द्रकनरकबाहल्यम् ॥
स्वेन्द्रकबाहल्य [२]स्वत्रिभागपरिवर्धित तच्छ्रेण्या ।
श्रेणीन्द्रकबाहल्यसहित ज्ञेय प्रकीर्णकस्य ॥

तान्येतानि नरकाणि उष्ट्रकाद्यशुभसस्थानानि शोचनरोदनाक्रन्दनाद्यशुभनामानि वेदि-तव्यानि । २०

अथ तेषु सीमन्तकादिषु नरकेषु पापकर्मवशात् प्रादुर्भवन्त प्राणिन किलक्षणा इति ? अत आह–

नारका नित्याऽशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥३॥

लेश्यादिशब्दा उक्तार्था ।१। लेश्यादय शब्दा उक्तार्था वेदितव्या । लेश्या च परि-णामश्च देहश्च वेदना च विक्रिया च लेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया । लोके प्रतियोग्यन्तरा- २५
पेक्षया प्रकर्षो दृष्ट, इह अशुभतरा इति किमपेक्ष्य प्रकर्षनिर्देश ? उच्यते–

तिर्यग्व्यपेक्षोऽतिशयनिर्देशः ।२। तिरश्चामप्यशुभा लेश्यादयो नारकाणा च । तत प्रकर्षेण नारकाणामित्यशुभतरा ।

ऊर्ध्वापेक्षो वाऽधोगतानाम् ।३। अथवा ऊर्ध्वनरकाशुभतरलेश्याद्यपेक्षया अधोगताना प्रकर्षो द्रष्टव्य ।

नित्यग्रहणाल्लेश्याद्यनिवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्, न, आभीक्ष्ण्यवचनत्वात् नित्यप्रहसित- ३०
वत् ।४। स्यादेतत्–नित्यशब्दोऽय कूटस्थेष्वविचलेषु भावेषु दृष्ट, यथा नित्या द्यौ नित्या पृथिवी नित्यमाकाशमिति, तथा लेश्यादीनामपि व्ययोदयाभावान्नित्यत्वे सति नरकादप्रच्यव

---

१ पंचमभागपमाणा निरयाणं हुति संखवित्थारा । सेसचउपंचभागा असंखवित्थारायाा णिरया ॥ इंदयसेढीबद्धं पइण्णयाणं कमेण वित्थारा । संखेज्जमसंखेज्जं उभय च य जोइणाण हवे ॥ इति । रूवहिय-पुढविसंखं तियचउसत्तेहि गुणिय छठभजिदे । कोसाणं बेहुलियं इदियसेढीपइण्णाणं ॥ २ सत्रिभा– मू० ।

स्यादिति ? तन्न, किं कारणम् ? आभीक्ष्ण्यवचनान्नित्यप्रहसितवत् । यथा नित्यप्रहसितो देवदत्त इत्युच्यते योऽभीक्ष्णं प्रहसति, न च तस्य प्रहसनानिवृत्ति, कारणे सति भावात् । तथा अशुभकर्मोदयनिमित्तवशात् लेश्यादयोऽनारत प्रादुर्भवन्तीति आभीक्ष्ण्यवचनो नित्यशब्द· प्रयुक्त· । नित्यमशुभतरा नित्याशुभतरा सुप्सुपेति वृत्तिर्मयूरव्यसकादित्वाद्वा । नित्याशुभतरा लेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया येषा त इमे नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया ।

तत्राशुभतरलेश्या इति–प्रथमाद्वितीययो· कापोतलेश्या । तृतीयायामुपरिष्टात् कापोती अधो नीला । चतुर्थ्यां नीला । पञ्चम्यामुपरि नीला अध कृष्णा । षष्ठ्या कृष्णा । सप्तम्यां परमकृष्णा । एतेषां नारकाणा स्वायु प्रमाणावधृता द्रव्यलेश्या उक्ता, भावलेश्यास्तु षडपि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तपरिवर्तिन्य ।

अशुभतरपरिणामा इति-स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिणामा क्षेत्रविशेषनिमित्तवशादतिदु ख-हेतवोऽशुभतरा· ।

अशुभतरदेहा इति–तेषा शरीराण्यशुभनामप्रत्ययादशुभाङ्गोपाङ्गस्पर्शरसगन्धवर्ण-स्वराणि हुण्डसंस्थानानि[1] निर्लू नाण्डजशरीराकृतीनि क्रूरकरणबीभत्सप्रतिभयदर्शनानि । यथेह श्लेष्ममूत्रपुरीषमलरुधिरवसामेद पूयवमनपूतिमासकेशास्थिचर्मद्यशुभमौदारिकगत ततोऽप्य-तीवाशुभत्व नारकाणा वैक्रियिकशरीरत्वेऽपि । तत्र रत्नप्रभाया नारकशरीरोत्सेध सप्त धनूषि त्रयो हस्ता षट् चाङ्गुलय । अधोऽधो द्विगुणद्विगुण उत्सेध ।

अशुभतरवेदना इति–अभ्यन्तरासद्वेद्योदये सत्यनादिपारिणामिकशीतोष्णबाह्यनिमित्तज-निता· सुतीव्रवेदना भवन्ति नारकाणाम् । तद्यथा–निदाघे मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि पटुतपन-किरणसन्तप्तदिगन्तराले दूरीकृतशीतवाते दवाग्निदाहो[2]द्वाहिपश्चसमीरणे रूक्षदेशे सर्वतो दीप्ताग्निशिखापरीतस्य तृष्णार्तस्य पित्तज्वरसतापितशरीरस्य निष्प्रतीकारस्य यादृगुणज दु ख ततोऽप्यनन्तगुणमुष्णनरकेषु दु ख भवति । माघमासे हिमानीपतनव्याप्तशीतदिगन्तराले नभसि प्रस्पन्दजलाप्लुतकर्दममहीतले रात्रौ शीतवातपातप्रस्फुरितगात्रकृतदन्तवीणस्य शीत-ज्वराभिभूततनोर्निरग्न्याश्रयप्रावरणस्य यादृक् शीतसमुद्भव दु खं ततोऽप्यनन्तगुण कष्टं शीत-नरकेषु दु ख भवति । अथवा हिमवन्मात्रस्ताम्रगिरिरुष्णनरकेषु यदि निक्षिप्येत क्षिप्रमेव हि द्रवीभवेत् । स एव द्रवीभूत शीतनरकेषु यदि निक्षिप्येत अक्षिनिमेषमात्र एव घन· स्या-दित्येवमनुमीयमान शीतोष्ण तत्र वेदितव्यम् ।

प्रथमाद्वितीयातृतीयाचतुर्थीषूष्णवेदनान्येव नरकाणि । पञ्चम्यामुपरि उष्णवेदने द्वे नरकशतसहस्रे, अध शीतवेदनानामेक शतसहस्रम् षष्ठीसप्तम्यो शीतवेदनान्येव । सर्व-समुदायेन द्वयशीतिनरकशतसहस्राणि उष्णवेदनानि, द्वे [3]नरकशतसहस्रे शीतवेदने ।

अशुभतरविक्रिया इति–शुभ करिष्याम इत्यशुभतरमेव विकुर्वन्ति । दु खाभिभूतमनसश्च दु खप्रतीकारचिकीर्षया गरीयस एव दु खहेतून् विकुर्वन्ति । त एते भावा अधोऽधोऽशुभतरा वेदितव्या ।

किमेषा नारकाणा शीतोष्णजनितमेव दु खमुतान्यथापि भवतीति ? अत आह–

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

कथं परस्परोदीरितदु खत्वम् ?

---

१ –निलूना– आ०, ब०, मु० । २ –द्वाहे प– श्र०, ता० । ३ नरके शत– मू०, श्र० ।

निर्दयत्वात् परस्परदर्शने सति कोपोत्पत्तेः श्ववत् ।१। यथा श्वान शाश्वतिकाकारणानादिकालप्रवृत्तजातिकृतवैरापादितनिर्दयत्वात् परस्परभक्षणभेदनछेदना[1]द्युदीरितदु खा भवन्ति, तथा नारका अपि भवप्रत्ययेनावधिज्ञानेन मिथ्यादर्शनोदयाद्विभङ्गव्यपदेशभाजा च दूरादेव दु खहेतूनवगम्योत्पन्नदु खा प्रत्यासत्तौ परस्परालोकनाच्च प्रज्वलितकोपाग्नय स्वविकृतासिवासीपरशुभिण्डिवालादिभि परस्परदेहतक्षणभेदनछेदनपीडनादिभिरुदीरितदु खा भवन्ति । ५

किमेतावानेव दु खोत्पत्तिकारणप्रकार उतान्योऽपि कश्चिदस्तीति ? अत आह–

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

पूर्वभवसंक्लेशपरिणामोपात्ताशुभकर्मोदयात् सततं क्लिष्टाः संक्लिष्टाः ।१। पूर्वजन्मनि भावितेनाति[2]तीव्रेण सक्लेशपरिणामेन यदुपार्जित पापकर्म तस्योदयात् सततमविरत क्लिष्टा सक्लिष्टा. । १०

असुरनामकर्मोदयादसुराः ।२। देवगतिनामकर्मविकल्पस्यासुरत्वमवर्तनस्य कर्मण उदयादस्यन्ति परानित्यसुरा ।

संक्लिष्टविशेषणमन्यासुरनिवृत्त्यर्थम् ।३। न सर्वेऽसुरा नारकाणा दु खमुत्पादयन्ति । कि तर्हि ? अम्बाम्बरीषादय एव केचनेति प्रदर्शनार्थं सक्लिष्टविशेषणम् ।

असुराणा गतिविषयनियमप्रदर्शनार्थं प्राक्चतुर्थ्या इति वचनम् ।४। तेषा सक्लिष्टा- १५
नामसुराणा वेदनोदीरणकारणाना तिसृषु पृथिवीषु गतिर्नात परमिति प्रदर्शनार्थं प्राक्चतुर्थ्या इत्युच्यते ।

आङो ग्रहणं लघ्वर्थमिति चेत्, न, संदेहात् ।५। स्यान्मतम्–आङत्र प्रयोक्तव्य लघ्वर्थम् । स एव मर्यादा गमयतीति, तन्न, कि, कारणम् ? सदेहात् । अभिविधावपि आङ् वर्तते मर्यादायामपि, तत सदेह स्यात्–'कि सह चतुर्थ्या उत तत प्राग्' इति अतोऽसदेहार्थं २०
प्राग्वचनमेव युक्तम् ।

चशब्दः पूर्वहेतुसमुच्चयार्थः ।६। सक्लिष्टासुरोदीरितदु खाश्च पूर्वोक्तहेतूदीरितदु खाश्चेति समुच्चयार्थश्चशब्द, इतरथा हि तिसृषु भूमिषु पूर्वोक्तहेत्वभाव प्रतीयेत[3] ।

अनन्तरत्वादुदीरितग्रहणानर्थक्यमिति चेत्, न, तस्य वृत्तौ परार्थत्वात् ।७। स्यान्मतम्–अनन्तरमुदीरितग्रहणमस्ति तेनैवात्राभिसबन्ध कर्तव्य, अनर्थक पुनरुदीरितग्रहणमिति, तन्न, २५
कि कारणम् ? तस्य वृत्तौ परार्थत्वात् । स ह्युदीरितशब्द वृत्तौ परार्थे [4]सन्नवस्थित इह सबद्धुमशक्य ।

वाक्यवचनमिति चेत्, न, उदीरणहेतुप्रकार[5]प्रदर्शनार्थत्वात् ।८। स्यादेतत्–वाक्यमेव वक्तव्य परस्परेणोदीरितदु खा सक्लिष्टासुरैश्च प्राक् चतुर्थ्या इति ? तन्न, कि कारणम् ? उदीरणहेतुप्रकार[6]प्रदर्शनार्थत्वात् । पुनरुदीरितग्रहणेनोदीरणकारणप्रकारा प्रदर्श्यन्ते । ३०
तद्यथा-तप्तायोरसपायन-निष्टप्तायस्तम्भालिङ्गन-कूटशाल्मल्यारोहणावतरणा-ऽयोघनाभिघात-

---

१ –नाद्याहितदु– ब०, मु० । –नाद्युदितदु– द०, ता०, आ० । २ –नातिसं– आ०, ब०, द०, मु० । –नातितीव्रसं– ता० । ३ प्रतीयते आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ सव्यव– आ०, ब०, द०, मु० । सत् व्यव– ता० । ५ –रद– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –रदर्श– आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

वासीक्षुरतक्षण[1]-क्षरण-तप्ततैलावसेचना-ऽम्बरीषभर्जन-यन्त्रपीलनै शूलशला-काव्यधन-क्रकचपाटना-ऽङ्गार[2]धाम्निवाहन-सूचीशाड्वलावकर्षणै व्याघ्रर्क्षद्वीपिश्वभृगालवृक कोकमार्जारनकुलाखुसर्पवायसगृध्रक ङ्कोलूकश्येनादिखादनै तप्तवालुकाविचरणा-ऽसिपत्रवन-[3]प्रवेशन-वैतरण्यवतारण-परस्पर[4]योधनादिभिश्च ते सक्लिष्टासुरा दु खमुदीरयन्ति नार-
५ काणाम् । किमर्थं त एवं कुर्वन्तीति चेत् ? पापकर्माभिरतत्वात्, यथा गोमहिषमेषवराहकुक्कुट-वर्तिकालावकान्[5] मल्लाश्च युद्धयमानान् परस्पर घ्नतश्च दृष्ट्वा रागद्वेषमोहाभिभूतानाम् अकुशलानुबन्धिपुण्याना नराणा प्रीतिरुत्पद्यते,तथा तेषामसुराणा नारकास्तथा कारयतामन्योन्य च घ्नत पश्यता परा प्रीतिरुत्पद्यते । तेषा सत्यपि देवत्वे मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यतीव्र-कषायोपहतस्य अनालोचितभावदोषस्य अप्रत्यवमर्शस्य अकुशलानुबन्धस्य पुण्यस्य [6]कर्मणस्तप-
१० सश्च [7]सावद्यदोषानुकर्षिणस्तत्फल यत् सत्स्वपि अनेकेषु प्रीतिहेतुषु अशुभा एव प्रीतिहेतव इति । एव छेदभेदादिभि शकलीकृतमूर्तीनामपि तेषा न मरणमकाले विद्यते । कुत ? *"औपपादिका अनपवर्त्यायुष:" [ ] इति वचनात् । तेषा हि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेद-भिन्नं यावदायुरवबद्ध तावद्यथाकालमेव विपच्यते नोदीरण[8]प्रत्ययवशादपवर्त्यते ।

यद्येव तदेव तावदुच्यता नारकाणां कियदायुरिति ? अत आह—

१५ **तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥**

सागरोपमेति कोऽय शब्द ? सागर उपमा यस्या सेय सागरोपमा । क उपमार्थ ?

सागरस्योपमात्वं द्रव्यभूयस्त्वात् ।१। यथा सागरो जलसमूहेन भूयसा युक्तस्तथा आयु-कर्मापि भवधारणकारणपुद्गलद्रव्यसमूहेन महता योगात् सागरेणोपमीयते ।

२० **एकादीनां कृतद्वन्द्वानां सागरोपमाविशेषणत्वम् ।२।** एकादय शब्दा कृतद्वन्द्वा सागरोपमाशब्दस्य विशेषणत्वेन[10] नियुज्यन्ते । एका च तिस्रश्च सप्त च दश च सप्तदश च द्वाविंशतिश्च त्रयस्त्रिशच्च एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशतस्ता एव सागरोपमा एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा । कथमेकशब्दस्य पु वद्भाव. ? ननु भिन्नाधिकरणत्वान्न प्राप्नोति, नाय पुंवद्भाव, [11]औत्तरपदिक ह्रस्वत्वम्, यथा [12]एकक्षीरमिति ।
२५ अथवा सागर उपमा यस्य तत्सागरोपममायु, एक च त्रीणि च सप्त च सप्तदश च द्वाविंशतिश्च त्रयस्त्रिंशच्च एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपममायुर्यस्या सैकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमेति स्थित्यपेक्ष स्त्रीलिङ्गनिर्देश ।

रत्नप्रभादिभिरानुपूर्व्येण संबन्धो यथाक्रमानुवृत्तेः ।३। 'यथाक्रमम्' इत्यनुवर्तते । ततो रत्नप्रभादिभिरेकादीनामानुपूर्व्येण सबन्धो वेदितव्य । रत्नप्रभायामेकसागरोपमा स्थिति,

---

१ –क्षारतप्त– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । २ –रधानी वा– ब०, मु० । –रदाग्नीवा– मू० । –रदानीवा– श्र०, द० । –रधानीगारादीनीवा– आ० । –रादीनीवा– भा० । "अङ्गारदहनवाहन" त० भा० । ३ –प्रवेशवैतरण्यवतरण– श्र० । ४ –रचोदना– आ०, ब०, द०, मु० । –रघोवना– मू० । ५ –लापकान् आ०, ब०, द०, मु० । –लापाकान् मू० । ६ व्यापारस्य । ७ भावदोषा– आ०, ब०, द०, मु०, मु० । ८ "औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः" –त०, सू० २।५३ । ९ –रणाप्रत्य– आ०, ब०, मु० । १० नियुञ्जन्ते श्र० । ११ उत्तरपदि– आ०, ब०, द०, श्र०, मु०, मू० । 'मृगक्षीरादिषु' इति सूत्रेण । १२ एकस्याः क्षीरम्– ता० टि० ।

शर्कराप्रभायां त्रिसागरोपमा स्थिति, वालुकाप्रभाया सप्तसागरोपमा स्थिति, पङ्कप्रभाया दशसागरोपमा स्थिति, धूमप्रभाया सप्तदशसागरोपमा स्थिति, तमःप्रभाया द्वाविंशतिसागरोपमा स्थिति, महातम प्रभाया त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा स्थितिरिति ।

नरकप्रसङ्गः 'तेषु' इति वचनादिति चेत्, न, रत्नप्रभाद्युपलक्षितत्वात् ।४। स्यान्मतम्–[1]'तेषु'इतिवचनान्नरकाभिसबन्ध प्राप्नोति । तत किम् ? रत्नप्रभाया त्रयोदशेन्द्रकनरकसंज्ञानि तत्रारादेव सीमन्तकादिष्विन्द्रकनरकेषु स्थितिरिय परिसमाप्येत, नेष्यते च, तस्मात्तेष्विति वचनमयुक्तमिति, तन्न, कि कारणम् ? रत्नप्रभाद्युपलक्षितत्वात्[1] । यानि रत्नप्रभाद्यधिकरणत्वेनोपलक्षितानि त्रिंशच्छतसहस्राद्यवधृतपरिमाणानि [2]तेष्वेकसागरोपमादिका स्थितिरिति नास्ति दोष ।

साहचर्याद्वा ताच्छब्द्यसिद्धिः ।५। अथवा नरकसहचरिता भूमयोऽपि नरकाणीत्युच्यन्ते । अतस्तेषु रत्नप्रभादिषु नरकेषु प्रादुर्भवता सत्त्वानामेकसागरोपमादिका स्थितिरित्यभिसबन्ध, एव च कृत्वा तेष्विति वचनमर्थवत्, इतरथा हि व्यवधानाद् भूमिभिरनभिसबन्ध स्यात् ।

नरकस्थितिप्रसङ्ग इति चेत्, न, सत्त्वानामिति वचनात् ।६। स्यादेतत्–यदि पृथिव्युपलक्षितनरकाभिसबन्ध इष्ट, ननु नरकाणामेवैकसागरोपमादिस्थितिसबन्ध प्राप्नोति न नारकाणामिति, तन्न, कि कारणम् ? सत्त्वानामिति वचनात् तेषु नरकेषु सत्त्वानामिय स्थितिर्न नरकाणामिति ।

परोत्कृष्टेति पर्यायौ ।७। परा उत्कृष्टेति पर्यायशब्दाविमौ तेन नारकाणामुक्ता स्थितिरुत्कृष्टा । रत्नप्रभादिषु प्रतिप्रस्तार जघन्यापि स्थितिरुच्यते–सीमन्तकेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि उत्कृष्टा नवतिवर्षसहस्राणि, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । निरयेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या नवतिर्वर्षसहस्राणि, **'दशवर्षशतसहस्राणि** 'इति क्वापि पाठ'। उत्कृष्टा नवतिर्वर्षशतसहस्राणि, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । रोरुकेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या एका पूर्वकोटी, उत्कृष्टेनासङ्ख्याता पूर्वकोट्य, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । भ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या असङ्ख्याता पूर्वकोट्य, उत्कर्षेण सागरोपमस्यैको दशभाग, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । उद्भ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या सागरोपमस्यैको दशभाग, उत्कृष्टा सागरोपमस्य द्वौ दश भागौ, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । सभ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या सागरोपमस्य द्वौ दशभागौ उत्कर्षेण सागरोपमस्य त्रयो दशभागा, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा असभ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या सागरोपमस्य त्रयो दशभागा, उत्कृष्टा सागरोपमस्य चत्वारो दशभागा, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । विभ्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या सागरोपमस्य चत्वारो दशभागा उत्कृष्टा सागरोपमस्य पञ्च दशभागा, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । तप्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या सागरोपमस्य पञ्च दशभागा, उत्कृष्टा सागरोपमस्य षड् दशभागा, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा । त्रस्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या सागरोपमस्य षड् दशभागा., उत्कृष्टा सागरोपमस्य सप्त दशभागा., अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा ।

१ बिलानाम् । २ तेष्वेकत्रिसाग– ब०, द०, मु० ।

व्युत्क्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणां जघन्या सागरोपमस्य सप्त दशभागा उत्कृष्टा सागरोपमस्याष्टौ दशभागा अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा। अवक्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या सागरोपमस्याष्टौ दशभागा, उत्कृष्टा सागरोपमस्य नव दशभागा अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा। विक्रान्तेन्द्रके तच्छ्रेणिषु चाष्टास्वपि नारकाणा जघन्या सागरोपमस्य नव दशभागा, उत्कृष्टा सागरोपमा, अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा।

शर्कराप्रभादिषु प्रतिप्रस्तारमुत्कृष्टा स्थिति करणक्रमेण वेदितव्या। कथमिति चेत्? उच्यते—

"उपरिस्थितेर्विशेषः स्वप्रतरविभाजितेष्टसंगुणितः।
उपरिपृथिवीस्थितियुतः स्वेष्ट-प्रतरस्थितिर्महती ॥१॥" [ ]

उपर्युत्कृष्टाऽधो जघन्या सर्वत्र समयाधिका अजघन्योत्कृष्टा मध्ये समयोत्तरा।

अथैतेषा नारकाणामुत्पादविरहकाल कियानिति? अत्रोच्यते—सर्वासु पृथिवीषु जघन्य एकसमय, उत्कृष्टाश्चतुर्विंशतिमुहूर्ता, सप्तरात्रिदिवानि, पक्ष, मास, द्वौ मासौ, चत्वारो मासा, षण्मासा इति रत्नप्रभादिषु क्रमेण ज्ञेया।

अथोत्पाद क्व केषामिति? अत्रोच्यते—प्रथमायामसज्ञिन उत्पद्यन्ते। प्रथमाद्वितीययो. सरीसृपा। तिसृषु पक्षिण। चतसृषूरगा। पञ्चसु सिहा। षट्सु स्त्रिय। सप्तसु मत्स्य-मनुष्या[1]। न च देवा नारका वा नरकेषु उत्पद्यन्ते।

प्रथमायामुत्पद्यमाना नारका मिथ्यात्वेनाधिगता केचिन्मिथ्यात्वेन निर्यान्ति, मिथ्यात्वेनाधिगता केचित् सासादनसम्यक्त्वेन निर्यान्ति। मिथ्यात्वेनाधिगता केचित्सम्यक्त्वेन निर्यान्ति। केचित्सम्यक्त्वेनाधिगता सम्यक्त्वेनैव निर्यान्ति क्षायिकसम्यग्दृष्टचपेक्षया। द्वितीयादिषु पञ्चसु नारका मिथ्यात्वेनाधिगता केचिन्मिथ्यात्वेन निर्यान्ति, मिथ्यात्वेनाधिगता केचित् सासादनसम्यक्त्वेन निर्यान्ति, मिथ्यात्वे प्रविष्टा केचित् सम्यक्त्वेन निर्यान्ति। सप्तम्या नारका मिथ्यात्वेनाधिगता मिथ्यात्वेनैव निर्यान्ति। षड्भ्य उपरिपृथिवीभ्यो नारका मिथ्यात्वसासादनसम्यक्त्वाभ्यामुद्वर्तिता[2] द्वे तिर्यङ्मनुष्यगती आयान्ति। तिर्यक्ष्वायाता पञ्चेन्द्रियगर्भजसंज्ञिपर्याप्तकसख्येयवर्षायु षूत्पद्यन्ते नेतरेष। मनुष्येष्वायाता गर्भजपर्याप्तकेषु सख्येयवर्षायु षूत्पद्यन्ते नेतरेषु। नारका सम्यङ्मिथ्यादृष्टयस्तेन गुणेन [3]नोद्वर्तन्ते। नारका सम्यग्दृष्टय सम्यक्त्वेनोद्वर्तिता एकामेव मनुष्यगतिमायान्ति, मनुष्येष्वायाता गर्भजपर्याप्तक-सख्येयवर्षायु षूत्पद्यन्ते नेतरेषु। सप्तम्या नारका मिथ्यादृष्टयो नरकेभ्य उद्वर्तिता एकामेव तिर्यग्गतिमायान्ति, तिर्यक्ष्वायाता पञ्चेन्द्रियगर्भजपर्याप्तकसख्येयवर्षायु षूत्पद्यन्ते नेतरेषु।

तत्र चोत्पन्ना सर्वे मतिश्रुतावधिसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वसयमासयमान् नोत्पादयन्ति। षष्ठ्याः उद्वर्तिता नारकास्तिर्यङ्मनुष्येषु जाता केचिन्मतिश्रुतावधिसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्व संयमासयमान् षडुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत्। पञ्चम्या उद्वर्तितास्तिर्यक्षूत्पन्ना केचित् षडुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत्, मनुष्येषूत्पन्ना केचिन्मतिश्रुतावधिमन पर्ययसम्यक्त्वसम्यङ्-मिथ्यात्वसयमासयमसंयमानुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत्। चतुर्थ्या उद्वर्तितास्तिर्यक्षूत्पन्ना केचिन्मत्यादीन् ष डुत्पादयन्ति न सर्वे नाप्यतोऽन्यत्, मनुष्येषूत्पन्ना केचिन्मतिश्रुतावधिमनःपर्यय-

१ तथा चोक्तम्— अमणसरिसवविहंगमफणिसिहत्थीणमच्छमणुआणं। पढमादिसु उप्पत्ती अडवारावो दु वोण्णिवारो त्ति॥ २—ताः केचित्तिर्यङ्मनष्यगतिमाया- आ०, ब०, द०, मु० ता०। ३ न निर्यान्ति।

केवलसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वसयमासयमसंयमानुत्पादयन्ति, न च बलदेववासुदेवचक्रधरतीर्थकरत्वान्युत्पादयन्ति, केचित् कर्माष्टकान्तकरा सिद्धयन्ति। उपरि तिसृभ्य उद्वर्तितास्तिर्यक्षु जाता. केचित् षडुत्पादयन्ति, मनुष्येषूत्पन्ना: केचित् मतिश्रुतावधिमन.पर्ययकेवलसम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वसयमासयमसंयमानुत्पादयन्ति न च बलदेववासुदेवचक्रधरत्वान्युत्पादयन्ति केचित्तीर्थकरत्वमुत्पादयन्ति, अपरे कर्माष्टकान्तकरा सिध्यन्ति। ५

उक्त सप्तावनिविस्तीर्णोऽधोलोक ।

इदानी तिर्यग्लोकोऽवसरप्राप्तो व्याख्येय । तत्रैतत्स्यात्–किमत्र व्याख्येयम् ? द्वीपसमुद्राधिष्ठातृधरणीधरवनक्षेत्रान्तरपरिमाणादि । यद्येव तदवतिष्ठताम्, इदमेव तावद्वचाक्रियता कुत पुनरिय तिर्यग्लोकसज्ञा प्रवृत्तेति ? उच्यते–यतोऽसख्येया स्वयभूरमणपर्यन्तास्तिर्यक्प्रचयविशेषेणावस्थिता द्वीपसमुद्रास्तत. तिर्यग्लोक इति । यद्येव के पुनस्तिर्यगवस्थिता इति ? १० अत आह–

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

आह–कुत. पुनरियं जम्बूद्वीपसंज्ञेति ? उच्यते–

प्रतिविशिष्टजम्बूवृक्षासाधारणाधिकरणत्वाज्जम्बूद्वीपः ।१। अय हि द्वीप प्रतिविशिष्टस्य जम्बूवृक्षस्य सपरिवारस्यासाधारणाधिकरणत्व बिभर्त्ति नान्ये धातकीखण्डादयो द्वीपास्ततोऽस्य तत्साहचर्यात् जम्बूद्वीप इति सज्ञा अनादिकालप्रवृत्ता। तद्यथा–उत्तरकुरुमध्ये जगती पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा तत्त्रिगुणसातिरेकपरिक्षेपा तत. प्रदेशहान्या बहि परिहीयमाणा मध्ये द्वादशयोजनबाहल्या,[1] अन्ते क्रोशद्वयबाहल्या सा चैकया पद्मवरवेदिकया [2]जाम्बूनदमय्या परिक्षिप्ता । तस्या बहुदेशमध्यभागे नानारत्नमयमेक पीठमष्टयोजनायाम [3]चतुर्योजनविष्कम्भ तावदुच्छ्राय द्वादशभि [4]पद्मवरवेदिकाभि परिक्षिप्तम् । तासा च पद्मवरवेदिकाना प्रत्येक चत्वारि तोरणानि श्वेतानि वरकनकस्तूपिकानि, तस्योपरि मणि[5]मयमुपपीठ योजनायामविष्कम्भ क्रोशद्वयोच्छ्रायम्। तन्मध्ये जम्बूवृक्ष सुदर्शनाख्यो योजनद्वयोच्छ्रितस्कन्ध. षड्योजनोत्सेधविटप , मध्ये षड्योजनविष्कम्भपरिमण्डल अष्टयोजनायाम. तदर्धमुच्छ्रिताना जम्बूनामष्टशतेन परिवृत [6]सुरवरवनिताक्रान्त , तद्योगाज्जम्बूद्वीप ।

लवणरसाम्बुयोगाल्लवणोदः ।२। लवणरसेनाम्बुना योगात् समुद्रो लवणोद इति सज्ञायते । उदक्शब्दस्य पूर्वपद[7]भूतस्य उत्तरपदभूतस्य च सज्ञायामुदभावोऽन्वाख्यात ।

जम्बूद्वीपश्च लवणोदश्च जम्बूद्वीपलवणोदौ तावादी येषा ते जम्बूद्वीपलवणोदादय । द्वीपाश्च समुद्राश्च द्वीपसमुद्रा यथासख्यमभिसबन्ध । जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादय समुद्रा इति । कि नामानस्ते ? शुभनामान । यानि लोके शुभानि नामानि तान्येषा नामानि तद्यथा–जम्बूद्वीपो लवणोद , धातकीखण्ड. कालोद, पुष्करवर. पुष्करोद, वारुणीवर वारुणोद , क्षीरवर: क्षीरोद, घृतवर: घृतोद:, इक्षुवर: इक्षूद:, नन्दीश्वरवर. नन्दीश्वरोद इत्येवमादयोऽसंख्येया

---

१ –बाहुल्या आ०, ब०, द०, मु० । २ रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम् –ता० टि० । ३ मुखे । ४ पद्मवेदि– आ०, ब०, द०, मु० । ५ –मयमपरं पीठं ता०, श्र०, मू० । ६ सुरवनि– आ०, ब०, द०, मु० । ७ उदधिरिति ।

द्वीपसमुद्रा. स्वयम्भूरमणद्वीपस्वयम्भूरमणोदपर्यन्ताः । कियदसंख्येया· ? अर्धतृतीयसागरोपमसमय[1]संख्याः ।

अमीषां विष्कम्भसन्निवेशसंस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

द्विर्द्विरिति वीप्साभ्या[2]वृत्तिवचनं विष्कम्भद्विगुणत्वव्याप्त्यर्थम् ।१। आद्यस्य द्वीपस्य यो विष्कम्भस्तद्द्विगुणो जलधिस्तद्द्विगुणविष्कम्भो द्वितीयो द्वीप. तद्द्विगुणविष्कम्भो द्वितीयो जलधिरिति द्वैगुण्यव्याप्त्यर्थं द्विर्द्विरुच्यते । द्विर्द्विर्विष्कम्भो येषां ते द्विर्द्विर्विष्कम्भा· ।

ननु च वृत्त्या अभ्यावृत्तिरुच्यते द्विर्दश द्विदशा इति, वीप्सा च क्वचिदुच्यते सप्तपर्ण इति, तद्वदिह वीप्साऽभ्यावृत्त्योर्वृत्त्योक्तवात् द्वित्वस्य सुचश्चाप्रयोग· प्राप्नोति ? नैष दोष·; यत्र [1]गम्यते न तत्र प्रयुज्यते, इह तु द्विर्विष्कम्भा इत्युक्ते तदर्थागतेर्द्विर्द्विरित्युच्यते ।

अनिष्टविनिवेशव्यावृत्त्यर्थं पूर्वपूर्वपरिक्षेपिवचनम् ।२। ग्रामनगरादिवदनिष्टविनिवेशो मा विज्ञायीति 'पूर्वपूर्वपरिक्षेपिण.' इत्युच्यते । तेनोत्तरोत्तरानन्तर्यसिद्धिर्भवति । पूर्वं पूर्वं परिक्षिपन्तीत्येवंशीलाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिण , अत्राप्यगमकत्वाद् द्वित्वम् ।

चतुरस्रादिनिवृत्त्यर्थं वलयाकृतिवचनम् ।३। आकृतिस्संस्थानम्, वलयस्येवाकृतिर्येषां ते वलयाकृतय । एतेन चतुरस्रादिसस्थानान्तरनिवृत्ति· कृता भवति । ततो मिथ्यावादिप्रणीतसस्थानान्तरप्रतिकल्पना न तत्त्वम् ।

अत्राह जम्बूद्वीपस्य प्रदेशसंस्थानविष्कम्भा वक्तव्याः, तन्मूलत्वादितरविष्कम्भादिविज्ञानस्येति ? अत आह–

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

तच्छब्दः पूर्वद्वीपसमुद्रनिर्देशार्थः ।१। पूर्वोक्तानामसंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां निर्देशार्थस्तच्छब्दो द्रष्टव्य. । तेषा मध्ये तन्मध्ये नाभिरिव नाभि· । मेरुर्नाभिर्यस्य स भवति मेरुनाभि·, वृत्त आदित्यमण्डलोपमान । शताना सहस्र शतसहस्रं योजनाना शतसहस्रं योजनशतसहस्रम् [योजनशतसहस्र] विष्कम्भो यस्य सोऽय योजनशतसहस्रविष्कम्भ. ।

तस्य परिक्षेप त्रीणि शतसहस्राणि षोडशसहस्राणि द्वे शते सप्तविंशतिश्च योजनानाम्, त्रीणि गव्यूतानि, शत धनुषामष्टाविंशत्युत्तरम्, त्रयोदशाङ्गुलयः अर्धाङ्गुलं सातिरेकम् ।

तस्य समन्तात् परिक्षेप्त्री जगत्येका अर्धयोजनावगाहा अष्टयोजनोत्सेधा मूलमध्यान्तेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनविष्कम्भा वज्रमयमूला वैडूर्यमयान्ता सर्वरत्ननिर्मितमध्या गवाक्षघण्टामुक्ताहेममणिकिंकिणीकपद्मरत्नकनकरत्नसर्वरत्नजालैर्नवभिरुपर्यु परिस्थितै· प्रत्येकमर्धयोजनोच्छ्रायैः पञ्चधनुश्शतविष्कम्भजगतीसमायामैरलङ्कृता । तस्या. पूर्वदक्षिणापरोत्तरासु चतसृषु दिक्षु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसंज्ञानि चत्वारि महाद्वाराणि । यथाक्रमं तानि चतुर्योजनविष्कम्भाण्यष्टयोजनोत्सेधानि विष्कम्भसमप्रवेशानि । तत्र विजयवैजयन्तयोरन्तरमेकान्नाशीतिसहस्राणि द्विपञ्चाशद्योजनान्यर्धयोजनं योजनचतुर्भाग. अर्धगव्यूतं गव्यूतचतुर्भागः द्वात्रिंशच्च

---

१ –समयसंख्येयाः श्र० । २ वारार्थ । ३ सुजादेरप्रयोगेऽपि ज्ञायते ।

धनूंषि तिस्रोऽङ्गुलयः अङ्गुलचतुर्भागोऽर्धाङ्गुलचतुर्भागश्च सातिरेकः । एवमितरेषामप्यन्तराणां प्रमाणं वेदितव्यम् ।

तत्र जम्बूद्वीपे षड्भिः कुलपर्वतैर्विभक्तानि सप्त क्षेत्राणि । कानि तानीति ? अत आह–

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

भरत इति संज्ञा कुत. ? ५

भरतक्षत्रिययोगाद्वर्षो भरतः ।१। विजयार्धस्य दक्षिणतो जलधेरुत्तरत. गङ्गासिन्ध्वो[1]र्बहुमध्यदेशभागे विनीता नाम नगरी द्वादशयोजनायामा, नवयोजनविस्तारा । तस्यामुत्पन्नः सर्वराजलक्षणसपन्नो भरतो नामाद्यश्चक्रधर· षट्खण्डाधिपति. । अवसर्पिण्या[2] राज्यविभागकाले तेनादौ भुक्तत्वात्, तद्योगाद्भरत इत्याख्यायते वर्ष. । १०

अनादिसंज्ञासंबन्धाद्वा ।२। अथवा, जगतोऽनादित्वादहेतुका अनादिसंबन्धपारिणामिकी भरतसज्ञा । अथ क्व भरत इति ? अत्रोच्यते–

हिमवत्समुद्रत्रयमध्ये भरतः ।३। हिमवतोऽद्रेस्त्रयाणा समुद्राणां पूर्वदक्षिणाऽपराणां मध्ये भरतो वेदितव्य । स पुनर्गङ्गासिन्धूभ्या विजयार्धेन च षड्भागसविभक्त. ।

कोऽसौ विजयार्धो नाम ?

पञ्चाशद्योजनविस्तारस्तदर्धोत्सेधः सक्रोशषड्योजनावगाहो रजताद्रिर्विजयार्धोऽन्वर्थः ।४। चक्रभृद्विजयार्धकरत्वाद्विजयार्ध इति गुणत कृताभिधानो रजताद्रि. तस्य पञ्चाशद्योजनानि विस्तार पञ्चविंशतियोजनान्युत्सेध सक्रोशानि षड्योजनान्यवगाह. पूर्वापरकोटिभ्यामसौ पूर्वापरजलधी[3] स्पृशति । तस्य पूर्वापरपार्श्ववाहू चत्वारि योजनशतानि अष्टाशीत्यधिकानि षोडश चैकान्नविंशतिर्भागा योजनस्यार्धभागश्च सातिरेक. । विजयार्धोत्तरपार्श्वज्या दशयोजनसहस्राणि सप्त च शतानि विंशतिर्योजनाना द्वादश चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य किञ्चिद्विशेषोना. । अस्याः ज्याया. धनुष पृष्ठं दशयोजनाना सहस्राणि [4]सप्त च शतानि त्रिचत्वारिंशानि पञ्चदश चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य सविशेषा. । विजयार्धदक्षिणपार्श्वज्या नवसहस्राणि सप्तशतान्यष्टचत्वारिंशानि योजनाना द्वादशभागा किञ्चिद्विशेषाधिका । अस्या. ज्याया धनुष· पृष्ठ नवसहस्राणि सप्तशतानि षट्षष्टयुत्तराणि योजनानामेकश्च भाग सविशेष । तस्योभयो पार्श्वयोर्धयोजनविष्कम्भौ [5]पर्वतसमानायामावर्धयोजनोच्छ्रायपञ्चधनु शतविष्कम्भवनसमायामाभ्यां क्वचित्क्वचित्कनकस्तूपिकाभ्यामलङ्कृतबहुतोरणोपेतपद्मवरवेदिकाभ्या प्रत्येकं परिक्षिप्तौ सर्वर्तुजफलकुसुमतरुवरमण्डितौ वनषण्डौ । तस्य द्वे गुहे तमिस्रखण्डप्रपातसज्ञे पञ्चाशद्योजनोदग्दक्षि[6]णायामे प्राक्प्रत्यक्द्वादशयोजनविष्कम्भे, अष्टयोजनोत्सेधोत्तरदक्षिणद्वारद्वये, सक्रोशषड्योजनविष्कम्भक्रोशबाहुल्याष्टयोजनोच्छ्रायवज्रमयकपाटे[7] । यकाभ्यां चक्रवर्ती उत्तरभरतविजयार्धं याति । यतश्च गङ्गासिन्धू निर्गते । तत्र चाभ्यन्तरे विजयार्धप्रभवे प्रत्येकं द्विनद्यौ गङ्गासिन्धू अनुप्रविष्टे, उन्मग्नजला निमग्नजला चान्वर्थसंज्ञे । तृणादे पतितस्य द्रव्यस्याहत्योपरितलप्रक्षेपणात् उन्मग्नजला । तथा तृणादेः पतितस्याधस्तलप्रक्षेपणात् निमग्नजला । १५ २० २५ ३०

---

१ –न्ध्वोर्मध्य– श्र० । २ –ण्यां रा– श्र० । ३ –र्धि स्पृ– आ०, ब०, द०, मु० । –नधी स्पृ– ता० । ४ सप्तश– आ०, ब०, द०, मु० । ५ –विष्कम्भपर्व– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –णायते प्रा– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ४ –टे याभ्यां आ०, ब०, द०, मु० । –पाटाभ्यां च– ता० ।

तस्यैवाद्रेर्भूमितलाद्दशयोजनान्युत्प्लुत्योभयो. पार्श्वयो. दशयोजनविस्तारे पर्वतसमायामे द्वे विद्याधरश्रेण्यौ भवत.। तत्र दक्षिणश्रेण्या रथनूपुरचक्रवालादीनि पञ्चाशद्विद्याधरनगराणि। उत्तरश्रेण्यां गगनवल्लभादीनि षष्टिर्विद्याधरनगराणि। तन्निवासिनो विद्याधरा भरतवत् षट्कर्मजीविन केवलं प्रज्ञप्त्यादिविद्याधरणमात्रादेव विशिष्टा। ततो दशयोजनान्युत्प्लुत्योभयो पार्श्वयोर्दशयोजनविस्तारे पर्वतसमायामे द्वे व्यन्तरश्रेण्यौ भवत.। तत्र शक्रलोकपालानां सोमयमवरुणवैश्रवणानाम् आभियोग्यव्यन्तरदेवाना निवासा भवन्ति। तत पञ्चयोजनान्युत्प्लुत्य शिखरतल भवति दशयोजनविष्कम्भं पर्वतसमायामम्। तत्र प्राच्यां दिशि षड्योजनक्रोशाधिकोच्छ्रायविष्कम्भं सिद्धायतनकूटं पद्मवरवेदिकापरिवृतम्। तस्योपर्युदग्दक्षिणायामं प्राक्प्रत्यग्विस्तार क्रोशायाम-क्रोशार्धविष्कम्भ-देशोनक्रोशोच्छ्राय पद्मवरवेदिकापरिवृतम् [1]अर्हदायतनं पूर्वोत्तरदक्षिणद्वारम् अर्हदायतनवर्णनोपेतम्। तस्य पश्चाद्दक्षिणार्धभरतकूट-खण्डकप्रपातकूट-माणिकभद्रकूट-विजयार्धकूट-पूर्णभद्रकूट-तमिस्रगुहाकूट-उत्तरार्धभरतकूट-वैश्रवणकूटनामान्यष्टौ कूटानि सिद्धायतनकूटसमोच्छ्रायविष्कम्भायामानि। तेषामुपरि दक्षिणार्धभरतदेव-वृत्तमाल्यदेव-माणिभद्रदेव-विजयार्धगिरिकुमारदेव-पूर्णभद्रदेव-कृतमालदेव-उत्तरार्धभरतदेव-वैश्रवणदेवाना यथाक्रम प्रासादा सिद्धायतनसमायामविष्कम्भोच्छ्राया। सोऽयं विजयार्धपर्वतो नवभि कूटैर्मुकुटैरिवोद्गतैर्गिरिराजत्व प्राप्त इवाभाति। अथ हैमवत इति कथं संज्ञा ?

हिमवतोऽदूरभवः सोऽस्मिन्नस्तीति वा हैमवतः ।५। हिमवान्नाम पर्वत तस्यादूरभव सोऽस्मिन्नस्तीति वाऽणि सति हैमवतो वर्ष.। क्व पुनरसौ ?

क्षुद्रहिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये ।६। क्षुद्रहिम[2]वन्तमुत्तरेण दक्षिणेन महाहिमवन्तं पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये हैमवत।

तन्मध्ये शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यः ।७। तस्य हैमवतस्य मध्ये शब्दवान्नाम पटहाकार. वृत्तत्वाद् वृत्तवेदाढ्य इत्यन्वर्थसज्ञ योजनसहस्रोच्छ्राय अर्धतृतीययोजनशतावगाह उपरि मूले च योजनसहस्रायामविष्कम्भस्तत्त्रिगुणसातिरेकपरिक्षेप पर्वत, अर्धयोजनविष्कम्भाद्रिपरिक्षेपायामयुक्तया पूर्वादिदिग्विभागविनिवेशिचतुस्तोरणविभक्तया पद्मवरवेदिकयाऽलङ्कृत। तत्तलमध्ये सक्रोशद्वयद्विपष्टियोजनोत्सेध सक्रोशैकत्रिशद्योजनविष्कम्भ. स्वातिदेवविहार.[3]। अथ कथं हरिवर्षसज्ञा ?

हरिवर्णमनुष्ययोगाद्धरिवर्षः ।८। हरि सिहस्तस्य शुक्लरूपपरिणामित्वात् तद्वर्णमनुष्याद्युषितत्वाद्धरिवर्ष इत्याख्यायते। क्व पुनरसौ ?

निषधमहाहिमवतोरन्तराले ।९। निषधस्य दक्षिणतो महाहिमवत उत्तरत पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले हरिवर्ष।

तन्मध्ये विकृतवान् वृत्तवेदाढ्यः ।१०। तस्य हरिवर्षस्य मध्ये विकृतवान्नाम[4] वृत्तवेदाढ्य शब्दवद्वृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णन। तस्योपर्यरुणदेवविहारः। अथ कथं विदेहसज्ञा ?

विदेहयोगाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः ।११। विगतदेहा विदेहा। के पुनस्ते ? येषा देहो नास्ति, कर्मबन्धसन्तानोच्छेदात्[5]। ये वा सत्यपि देहे विगतशरीरसंस्कारास्ते विदेहा। तद्यो-

---

१ वक्ष्यमाणम्। २ हिमवतो द्वितीया चैनेनान चेरिति द्वितीया ? ३ निवासः। ४ –म वेदा– द०, श०, मू०। ५ –नोच्छित्तये वा आ०, ब०, द०, मु०।

गाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः। तत्र हि मुनयो देहोच्छेदार्थं यतमाना विदेहत्वमास्कन्दन्ति। ननु च भरतैरावतयोरपि विदेहा सन्ति ? सत्यम्, सन्ति कदाचिन्न तु सर्वकालम्, तत्र तु सतत धर्मोच्छेदाभावाद्विदेहा. सन्तीति प्रकर्षापेक्षो विदेहव्यपदेश । क्व पुनरसौ ?

निषधनीलवतोरन्तराले तत्सन्निवेशः।१२। निषधस्योत्तरात् [1]नीलवतो दक्षिणात् पूर्वापरसमुद्रयोरन्तरे तस्य विदेहस्य सन्निवेशो द्रष्टव्य । ५

स चतुर्विधः पूर्वविदेहादिभेदात्।१३। स विदेहश्चतुर्विध । कुत ? पूर्वविदेहादिभेदात्। पूर्वविदेह, अपरविदेह, उत्तरकुरव, देवकुरवश्चेति । कुत पुन पूर्वविदेहादिव्यपदेश ? मेरो. प्राक् क्षेत्र पूर्वविदेह, [2]उत्तरक्षेत्रमुदक्कुरव, अपरक्षेत्रमपरविदेह दक्षिणक्षेत्र देवकुरव इति ।

नैष युक्तो व्यपदेश –पूर्वविदेहे हि सविता नीलादुदेति, निषधेऽस्तमुपैति । तत्र प्राङ् १०
नील प्रत्यङ् निषध अपाक् समुद्र, मेरुरुदक् । अपरविदेहे तु निषधे उदय नीलेऽस्तमय इति । तत्र प्राङ् निषध, प्रत्यङ् नील, अपाक् समुद्र, उदङ् मेरु । उदक्कुरुषु गन्धमादनादुदयो माल्यवतोऽस्तमय. । तत्र गन्धमादन प्राक्, माल्यवान् प्रत्यक्, नील अपाक्, मेरु उदक् । देवकुरुषु सौमनसादुदय विद्युत्प्रभेऽस्तमय तत्र सौमनस प्राक्, विद्युत्प्रभ प्रत्यक्, निषधोऽपाक् मेरुरुदगिति ? सत्यमेवमेतत्, यदि तत्रत्यो दिग्विभाग आश्रियेत । इह भरत- १५
क्षेत्रदिग्विभागमाश्रित्य मेरो पूर्वादिव्यपदेशो युक्त । तत्र विदेहमध्यभागे मेरु । तस्मादपरोत्तरदिशि गन्ध[3]मालिविजयसमीपदेवारण्यात्प्राक् गन्धमादनाख्यो वक्षारपर्वत उदक्दक्षिणा[4]यत प्राक्प्रत्यक्विस्तीर्ण. दक्षिणोत्तरकोटिभ्या मेरुनीलाद्रिस्पर्शी द्वाभ्यामर्धयोजनविष्कम्भपर्वतसमायामाभ्या वनषण्डाभ्यामलङ्कृत मूलमध्याग्रेषु सुवर्णमय नीलाद्रि[5]पर्यन्ते चतुर्योजनशतोच्छ्रित, योजनशतावगाह प्रदेशवृद्धया वर्धमान मेरुपर्यन्ते पञ्चयोजनशतोत्सेध २०
पञ्चविंशतियोजनशतावगाह, पञ्चयोजनशतविष्कम्भ, तत प्रदेशहान्या हीयमान नीलान्तेऽर्धतृतीययोजनशतविष्कम्भ । त्रिंशत्सहस्राणि द्वे च नवोत्तरे शते योजनाना षट्चैकोनविंशतिभागा सातिरेका आयाम । तस्योपरि मेरुपर्यन्ते [6]पञ्चविंशतियोजनशतोच्छ्रायमूलविष्कम्भसिद्धायतनकूटम्। तस्योत्तरत क्रमेण व्यवस्थितानि षट् कूटानि–गन्धमादन-उदक्कुरु-गन्धमालि-स्फटिक-लोहिताक्ष-आनन्दकूटनामानि । तत्र सिद्धायतनकूटे जिनायतनम्। स्फटिक- २५
कूटस्योपरि प्रासादे भोगधरी देवी पल्योपमस्थितिका। लोहिताक्षकूटस्योपरि प्रासादे पल्योपमस्थितिका दिक्कुमारी भोगवती[7] वसति । शेषेषु चतुर्षु कूटेषु [8]कूटसमनामानो देवा वसन्ति । मेरोरुदक् प्राच्या दिशि नीलादपाच्या कच्छविजयात्[9] प्रतीच्या माल्यवान् वक्षारपर्वत । मूलमध्याग्रेषु वैडूर्यमय विष्कम्भायामोच्छ्रायावगाहसस्थानैर्गन्धमादनेन सम । तस्योपरि मेरुपर्यन्ते सिद्धायतनकूट यथोक्तपरिमाणम् । तस्योपर्यर्हदायतनम् । तस्योत्तरतो ३०
यथाक्रम माल्यवत्-उदक्कुरु-कच्छ-विजय-सागर-रजत-पूर्णभद्र-सीता-हरिमहाकूटानि नव भवन्ति । सागरकूटे सुभागा[10] दिक्कुमारी, रजतकूटे भोगमालिनी दिक्कुमारी वसति । शेषेषु

---

१ नीलस्य द– श्र० । २ –रं क्षे– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –न्धमालिनीविषयसमी– आ०, ब०, द०, मु० । ४ –णायामः आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ५ समीपे । ६ अधिक । ७ भोगावती– आ०, ब०, मु० । भोगावसति द० । ८ स्वकूटता– मु० । ९ विषयात् आ०, ब०, द०, मु० । १० सुभगा आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

सप्तसु कूटेषु कूटसमनामानो देवा वसन्ति । मेरोरुदक् गन्धमादनात्प्राक्, नीलादपाक्, माल्यवत· प्रत्यक्, उदक्कुरव· प्राक् प्रत्यगायताः, उदगपाग्विस्तीर्णा यमकाद्रिद्वयपञ्चसरोवरकाञ्चनगिरिशतोपशोभिता. । एकादश सहस्राणि अष्टौ शतानि द्वाचत्वारिंशानि योजनानां द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ उदक्कुरुविष्कम्भ. । नीलसमीपे त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि ज्याषष्टिसहस्राणि चत्वारि शतानि अष्टादशानि योजनाना द्वादश चैकान्नविंशतिभागाः साधिका धनुः ।

तत्र सीताया प्राग्दिग्भागे जम्बूवृक्षो वर्णित. । तस्योत्तरस्यां दिशि शाखायामर्हदायतनं क्रोशायामार्धक्रोशविष्कम्भदेशोनक्रोशोनक्रोशोत्सेधम् । प्राच्या दिशि शाखाया तत्तुल्यप्रासाद, तत्र जम्बूद्वीपाधिपतिव्यन्तरेश्वरोऽना[1]वृतनामा वसति । दक्षिणस्या दिशि शाखायां प्रतीच्या च प्रासादयो शयनीयानि रमणीयानि । तत [2]पूर्वोत्तरोत्तरापरोत्तरासु दिक्ष्वना[3]वृतदेवसामानिकाना चत्वारि जम्बूसहस्राणि। दक्षिणपूर्वस्या दिशि अभ्यन्तरपरिषद्देवानां द्वात्रिंशत्सहस्राणि । दक्षिणस्या मध्यमपरिषद्देवाना चत्वारिंशत्सहस्राणि । दक्षिणापरस्या दिशि बाह्यपरिषद्देवानामष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि। प्रतीच्यामनीकमहत्तराणा सप्ताना सप्तजम्ब, चतसृणामग्रमहिषीणा सपरिवाराणा जम्ब चतस्र. । पूर्वदक्षिणापरोत्तरासु षोडशसहस्रात्मरक्षदेवाना च षोडशसहस्राणि । एते सुदर्शनजम्बूवृक्षस्य परिवारभूता पूर्वोक्ताष्टशतेन सह समुदिता. एक शतसहस्र चत्वारिंशत्सहस्राणि शत चैकान्नविंशम् । त एते सर्व एव जम्बूवृक्षा पद्मवरवेदिकापरिवृता सर्वरत्नकाञ्चनपरिणामा मुक्तामणिहेमघण्टाजालमाल्यदामध्वजपताकाछ[4]त्राधिच्छत्रविभूषिता. । सुदर्शनाख्योऽसौ जम्बूवृक्ष पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्तैस्त्रिभिर्वनषण्डै. परिक्षिप्त । प्राथमिकवनषण्डे चतसृषु दिक्षु क्रोशायामक्रोशार्धविष्कम्भदेशोनक्रोशोत्सेधानि चत्वारि भवनानि । विदिक्षु चतस्रः पुष्करिण्यो [5]दशयोजनावगाहा. पञ्चाशद्योजनायामाः तदर्धविष्कम्भाः चतुष्कोणा आयतचतुरस्रा· शुचिसुरभिसलिलपूर्णा. । तेषा भवनाना पुष्करिणीना चाष्टासु दिक्षु श्वेतान्यर्जुनसुवर्णनिर्वृत्तानि प्रत्येकमष्टौ कूटानि । तेषामुपरि प्रत्येकं क्रोशायामक्रोशार्धविष्कम्भदेशोनक्रोशोच्छ्राया. चत्वार प्रासादा ।

नीलाद् दक्षिणस्यां दिश्येकं योजनसहस्रं तिर्यगतीत्य सीतामहानद्या उभयो. पार्श्वयो पञ्चयोजनशतान्तरौ सप्रणिधी द्वौ यमकाद्री योजनसहस्रोच्छ्रायौ अर्धतृतीययोजनशतावगाहौ मूलमध्याग्रेषु योजनैकसहस्रार्धाष्ट[6]मयोजनशतपञ्चयोजनशतविष्कम्भौ । तयोरुपरि योजनद्विपष्ट्यर्धयोजनोच्छ्रायौ सक्रोशैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भौ तावत्प्रवेशौ प्रासादौ। तत्र यमकनामानौ देवौ वसत । प्राच्या दिशि द्वे अर्हदायतने यमकाभ्यामवाक्पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्य सीतामहानद्या[7] योजनसहस्रोदगपागायत. पञ्चयोजनशतप्राक्प्रत्यग्विष्कम्भ. दशयोजनावगाह नीलो नाम महाह्रदो भवति। ह्रदमध्ये जलस्योपर्यर्धयोजनोच्छ्रायाणि दशयोजनावगाहनालानि मध्ये योजनविष्कम्भाणि क्रोशायतपत्राणि द्विक्रोशकर्णिकान्याग्रमूलयोर्द्विक्रोशविस्तराणि पद्मानि पद्महृदजपद्मवर्णनोपेतानि। तत्र नीलसंज्ञो नागेन्द्रकुमारो वसति । तस्य पद्मानि जम्बूवृक्षसमसंख्यानि ।

---

१ –नादृतना– ता०, श्र० । –नादृतो ना– मू० । २ ऐशानोत्तरवायव्येषु मिलित्वा। ३ –नादृतदेव– श्र० । ४ –त्रादि त्रयभू– आ०, ब०, द०, मु० । ५ दशदशयो– आ०, ब०, द०, मु० ता० । ६ ७५० । ७ –नद्याः यो– आ०, ब०, द०, मु० ।

नीलह्रदात्प्रागदूरे दश काञ्चनाद्रय [1]सप्रणिधयो योजनशतोत्सेधा. पञ्चविंशति-योजनावगाहाः मूलमध्याग्रेषु शतपञ्चसप्ततिपञ्चाशद्योजनविष्कम्भा. काञ्चनपरिणामाः । तेषामुपरि सक्रोशैकत्रिंशद्योजनोत्सेधा [2]सद्विक्रोशपञ्चदशयोजनविष्कम्भा प्रासादा· काञ्चन-संज्ञदेवानामावासाः । तादृशा एव प्रत्यक्-दशकाञ्चनाद्रय । नीलह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्योत्तरकुरुह्रदो भवति उत्तरकुरुसंज्ञनागेन्द्रकुमारावास । नीलह्रदतुल्यवर्णन·, प्राक्- ५
प्रत्यक् च दशदशकाञ्चनाद्रय । उदक्कुरुह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतान्यतीत्य चन्द्रह्रद·, चन्द्रनागेन्द्रकुमारावास. । पूर्ववत्काञ्चनाद्रयश्च । चन्द्रह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्यैरावतह्रदो भवति ऐरावतनागेन्द्रकुमारावास । पूर्ववत्काञ्चनाद्रयश्च । ऐरावत-ह्रदादपाक् पञ्चयोजनशतानि तिर्यगतीत्य माल्यवान्नाम ह्रदो भवति माल्यवान्नामनागेन्द्र-कुमारावास.[3] । पूर्ववत् काञ्चनाद्रयश्च । काञ्चनाद्रिशते पूर्वदिग्विनिवेशि जिनायतनशतम् । १०

मेरोरपाक् प्राच्या दिशि मगलावद्विजयात् प्रत्यक् निषधादुदक् सौमनसो नाम वक्षारगिरि सर्वस्फटिकपरिणाम·, गन्धमादनेन विष्कम्भायामोच्छ्रायावगाहसंस्थानैस्तुल्य । तस्योपरि मेरुपर्यन्ते सिद्धायतनकूटमर्हदायतनालङ्कृतं पूर्वोक्तपरिमाणम् । तस्य दक्षिणतो यथाक्रम सौमनस-देवकुरु-मङ्गलावत्-पूर्वविदेह-कनक-[4]काञ्चनकवशिष्ठ-उज्ज्वलकूटान्यष्टौ गन्धमादनकूटसमानानि तत्र कनककूटस्योपरि प्रासादे सुवत्सा दिक्कुमारी, काञ्चनकूट- १५
स्योपरि प्रासादे वत्समित्रा दिक्कुमारी, शेषेषु स्वकूटनामानो देवा मेरोरपाक् प्रतीच्यां दिशि निषधादुदक् पद्मवद्विजयात् प्राक् विद्युत्प्रभो नाम वक्षारगिरिस्तपनीयपरिणामो गन्ध-मादनसमवर्णन । तस्योपरि मेरुपर्यन्ते सिद्धायतनकूटमर्हदायतनालङ्कृतम् । तस्य दक्षिणतो यथाक्रमं विद्युत्प्रभ-देवकुरु-पद्मवद्विजय-अपरविदेह-स्वस्तिक-शतज्वाल-सीतोदा-हरिनामान्यष्टौ कूटानि गन्धमादनकूटसमानि[5]। तत्र पद्मवद्विजयकूटस्योपरि प्रासादे वारिषेणा नाम दिक्कुमारी, २०
स्वस्तिककूटस्योपरि प्रासादे बला नाम दिक्कुमारी, शेषेषु स्वकूटनामानो देवा ।

मेरोरपाक् सौमनसात्प्रत्यक् निषधादुदक् विद्युत्प्रभात्प्राक् देवकुरव· । तेषा ज्याधनु-रिषुगणना उत्तरकुरुगणनया व्याख्याता । मेरोर्दक्षिणापरस्या दिशि निषधादुदक् सीतोदाया प्रत्यक् विद्युत्प्रभात्प्राक् मध्ये सुप्रभा नाम शाल्मलि सुदर्शनया जम्ब्वा व्याख्यातवर्णना । तस्या उत्तरशाखायामर्हदायतनम् । पूर्वदक्षिणापरासु शाखासु प्रासादेषु गरुत्मान् वेणुदेवो वसति । २५
तस्य परिवार सर्वोऽनावृत[6]देवपरिवारेण तुल्य । निषधादुदगेकयोजनसहस्र तिर्यगतीत्य सीतोदाया महानद्या उभयो. पार्श्वयोश्चित्रकूटविचित्रकूटौ गिरी यमकपर्वताभ्यां तुल्यवर्णनौ । निषध-देवकुरु-सूर्य-[7]सुरेश-विद्युत्प्रभह्रदाख्या पञ्चह्रदा उत्तरकुरुषु ह्रदैर्व्याख्यातवर्णना । काञ्चनगिरिशत च तद्वदेव ज्ञेयम् ।

सीतया महानद्या पूर्वविदेहो द्विधा विभक्त उत्तरो दक्षिणश्चेति । तत्रोत्तरो भाग- ३०
श्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्विभङ्गनदीभिश्च विभक्तोऽष्टधा भिन्न अष्टाभिश्च[8]क्रधरैरुप-भोग्य । तत्र चित्रकूट. पद्मकूटो नलिनकूट. एकशिलश्चेति वक्षारा, तेषामन्तरेषु ग्राहावती-ह्रदावती-पङ्कावती चेति विभङ्गनद्य· । तत्र चत्वारोऽपि वक्षारका दक्षिणोत्तरकोटिभ्या

---

१ समानपङ्क्तयः । २ सक्रोश– आ०, ब०, द०, मु० । ३ पूर्ववत् कांचनाद्रिशते पूर्वदिङ्नि– आ०, ब०, द०, मु० । ४ कांचनविशिष्टो– आ०, ब०, द०, मु० । ५ –समानानि आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ६ –नावृतदेव– आ०, ता० । ७ –सुलस वि– आ०, ब०, द०, मु० । ८ –भिश्च चक्र– मू०, आ० ब० ।

सीतानीलस्पृशो नीलान्ते चतुर्योजनशतोत्सेधा. योजनशतावगाहा प्रदेशवृद्धया वर्धमाना शीतानद्यन्ते पञ्चयोजनश[1]तोत्सेधा· पञ्चविंशतियोजनशतावगाहा अश्वस्कन्धाकारा. सर्वत्र पञ्चयोजनशतविष्कम्भा । षोडशसहस्राणि पञ्चशतानि द्वानवत्यधिकानि योजनाना द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ तेषामायाम । तत्र चित्रकूटस्योपरि चत्वारि कूटानि–सिद्धायतन-
५ चित्र-कच्छविजय-सुकच्छविजयकूटाख्यानि । पद्मकूटस्योपरि चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-पद्म-महाकच्छकच्छावद्विजयकूटाभिधानानि । नलिनकूटस्योपरि चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-नलिन-नलिनावर्त·लाङ्गलावर्तकूटसज्ञानि । एकशिलस्योपरि चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-एकशिल-पुष्कल-पुष्कला[2]वत्कूटनामानि । सर्वाण्येवैतानि हिमवदद्रिकूटतुल्यपरिमाणानि, तद्गतार्हदायतनप्रासादतुल्यवर्णनजिनायतनप्रासादानि, सर्वत्र [3]सीतान्ते सिद्धायतनकूटानि[4]
१० इतरेषु कूटसमनामानो देवा· । तिस्रोऽपि विभङ्गनद्य स्वतुल्यनामकुण्डेभ्यो विंशतियोजन-शतविष्कम्भायामेभ्यो वरवज्रतलेभ्य सुवृत्तेभ्य स्वतुल्यनामदेवीनिवासालङ्कृतदशयोजन-द्विगव्यूतोच्छ्रायषोडशयोजनविष्कम्भायामद्वीपोपेतेभ्य नीलाद्रिनितम्बनिवेशिभ्यो निर्गताः । प्रभवे द्विक्रोशाधिकद्वादशयोजनविष्कम्भा गव्यूतावगाहा, मुखे पञ्चविंशतियोजनशतविष्कम्भा दशगव्यूतावगाहा, प्रत्येकमष्टाविंशतिनदीसहस्रपरिवृता सीता प्रविशन्ति ।

१५ एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदा कच्छ-सुकच्छ-महाकच्छ-कच्छकावत्-आवर्तलाङ्गलावर्त-पुष्कल-पुष्कलावर्ताख्या । तेषा मध्ये राजधान्य –क्षेमा क्षेमपुरी अरिष्टा अरिष्टपुरी खड्गा मञ्जूषा औषधि पौण्डरीकिणी चेति नगर्य । तत्र सीताया उदक् नीलादपाक् चित्रकूटात्प्रत्यक् माल्यवत्समीपदेवारण्यात्प्राक् कच्छविषय, चित्रकूटसमायाम द्वे सहस्रे द्वे च शते त्रयोदशयोजनाना केनचिद्विशेषेणोने, प्राक्प्रत्यग्विस्तीर्ण । तस्य बहुदेशमध्यभागे विजया-
२० र्धनामा रजतगिरि भरतविजयार्धतुल्योच्छ्रायावगाहविष्कम्भ कच्छविषयविस्तारसमायाम । तत्रोभयोर्विद्याधरश्रेण्यो, प्रत्येक पञ्चपञ्चाशन्नगराणि । व्यन्तरश्रेण्यो. ऐशानस्य देवराजस्य लोकपालाना सोमयमवरुणवैश्रवणानामाभियोग्यदेवनगराणि । प्राच्यसिद्धायतनादिकूटनवके च दक्षिणार्धकच्छोत्तरार्धकच्छकूटे वाच्ये । विजयार्धादुदक् नीलादपाक् [5]सिद्धकूटाद् वृषभाद्रेश्च प्राक् चित्रकूटात् प्रत्यक् त्रिषष्टियोजनविष्कम्भायाम तत्त्रिगुणसातिरेकपरिक्षेप दशयोजना-
२५ वगाह वरवज्रतल गङ्गाकुण्डम् । अस्य बहुमध्यदेश[6]भावी द्वीपोऽष्टयोजनविष्कम्भायामो दशयोजनद्विगव्यूतोच्छ्राय पद्मवरवेदिकाचतुस्तोरणालङ्कृत सुवृत्तो गङ्गादेवीनिवास । ततो दक्षिणतोरणाद्विनि सृता अपाङ्मुखी भरतक्षेत्रगङ्गातुल्यविष्कम्भावगाहा विषयसमायामा विजयार्धखण्डप्रपातगुहातोरणनिर्गता चतुर्दशनदीसहस्रपरिवारा गङ्गा महानदी सीतां प्रविशति । विजयार्धादुदङ् नीलादपाक् वृषभाद्रे प्रत्यङ् माल्यवत्समीपदेवारण्यात्प्राक्
३० सिन्धुकुण्ड गङ्गाकुण्डतुल्यवर्णन सिन्धूदेवीनिवासालङ्कृतम् । ततो विनि सृता गङ्गातुल्या विजयार्धतमिस्रगुहान्तरान्निर्गता चतुर्दशनदीसहस्रपरिवारा सिन्धूर्महानदी सीता प्रविशति । तत्र सीताया उदक् विजयार्धादपाक् गङ्गासिन्ध्वोर्बहुमध्यदेशभाविनी क्षेमा नाम राजधानी। एवमितरे सप्तापि जनपदा क्रमेण पूर्वदेशनिवेशिनो नेतव्याः ।

---

१ –शतविष्कम्भाः प०– भा० १ । २ –लावर्तक– आ०, ब०, मु० । ३ सीतावर्तसि– आ०, ब०, द०, मु० । सीतार्त्तसि– मू० । ४ – नि तेषु आ०, ब०, द०, द०, मु० । ५ सिन्धूकू– ता०, मु० । ६ –देशभवोद्वी– आ०, ब,० द०, मु० ।

लवणसमुद्रवेदिकाया. प्रत्यक् पुष्कलावत्या. प्राक् सीताया उदक् नीलादपाक् देवारण्यं नाम वनम्। तस्य द्वे सहस्रे नव च शतानि द्वाविंशतियोजनाना सीतामुखे विष्कम्भ । षोडशसहस्राणि पञ्चशतानि द्वानवत्यधिकानि योजनाना द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ आयाम । सीताया अपाक् निषधादुदक् वत्सविजयात् प्राक् लवणसमुद्रवेदिकाया प्रत्यक् पूर्ववद् देवारण्यम् ।

सीताया दक्षिणत पूर्वविदेहश्चतुर्भिवक्षारपर्वतैस्तिसृभिश्च विभङ्गनदीभिर्विभक्तोऽष्टधा ५
भिन्न अष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्य. । तत्र त्रिकूटो वैश्रवणकूट अञ्जन आत्माञ्जनश्चेति वक्षारा. । तेषामन्तरेषु तप्तजला मत्तजला उन्मत्तजला चेति तिस्रो विभङ्गनद्य । एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदा –वत्सा-सुवत्सा-महावत्सा-[1]वत्सवत्-रम्य-रम्यक - रमणीय - मङ्गलावत्याख्या । तेषा मध्ये राजधान्य – सुसीमा-कुण्डला-अपराजिता-[2]प्रभाकरी-अङ्कावती-पद्मावती-शुभा-रत्नसञ्चयावती नगर्य. । तेषु जनपदेषु द्वे द्वे नद्यौ रक्तारक्तोदासज्ञे । १०
एकैको विजयार्ध. । तेषां सर्वेषा विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या । वक्षारपर्वतेषु प्रत्येक चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-स्वनाम-पूर्वापरदेशनामानि । सीताया उत्तरतटे दक्षिणतटे च प्रतिजनपद त्रीणि त्रीणि तीर्थानि मागध-वरदान-प्रभाससज्ञानि। तानि समुदितानि अष्टचत्वारिंशत्तीर्थानि पूर्वविदेहे ।

सीतोदया महानद्या अपरविदेहो द्विधा विभक्तो दक्षिण उत्तरश्चेति । तत्र दक्षिणो १५
भागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिश्च विभङ्गनदीभिर्विभक्तोऽष्टधा भिन्न, अष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्य । तत्र [3]शब्दावत्-विकृतावत्-आशीविष-सुखावहसज्ञाश्चत्वारो वक्षाराद्रय । तेषामन्तरेषु [4]क्षीरोदा-सीतोदा-स्रोतोऽन्तर्वाहिनी चेति तिस्रो विभङ्गनद्य । एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदा –पद्म-सुपद्म-महापद्म-[5]पद्मवत्-शङ्ख-नलिन-कुमुद-सरिदाख्या । तेषा मध्ये राजधान्य –अश्वपुरी सिंहपुरी महापुरी विजयपुरी अरजा विरजा अशोका वीतशोका चेति २०
नगर्य । तेषु जनपदेषु द्वे द्वे नद्यौ रक्तारक्तोदासज्ञे । एकैको विजयार्धश्च । तेषा सर्वेषा विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या। वक्षारपर्वतेषु प्रत्येकं चत्वारि कूटानि सिद्धायतन-स्वनामपूर्वापरदेशनामानि । देवारण्ये द्वे अपि पूर्ववद्वेदितव्ये।

उत्तरो विभागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्विभङ्गनदीभिश्च विभक्तोऽष्टधा भिन्न, अष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्य । तत्र चन्द्र-सूर्य-नाग-देवसज्ञाश्चत्वारो वक्षारपर्वता । तेषा- २५
मन्तरेषु गम्भीरमालिनी फेनमालिनी ऊर्मिमालिनी चेति तिस्रो विभङ्गनद्य । एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदा –वप्र-सुवप्र-महावप्र-वप्रावत्-वल्गु-सुवल्गु-गन्धिल[6]-गन्धिमालिसज्ञा । तेषा मध्ये राजधान्य –विजया वैजयन्ती जयन्ती अपराजिता चक्रपुरी खड्गपुरी अयोध्या अवध्या चेति नगर्य. । तेषु जनपदेषु गङ्गासिन्धूसज्ञे द्वे नद्यौ । एकैको विजयार्धश्च । तेषा सर्वेषा विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या । वक्षारपर्वतेषु प्रत्येकं चत्वारि कूटानि सिद्धायतन- ३०
स्वनामपूर्वापरदेशनामानि । सीतोदाया अपि तीर्थानि सीताया इवाष्टचत्वारिंशत् ।

विदेहस्य मध्ये मेरुर्नवनवतियोजनसहस्रोत्सेध. । धरणीतले सहस्रावगाह । दशसहस्राणि नवतिश्च योजनाना दश चैकादशभागा अधस्तलेऽस्य विस्तार । एकत्रिंशत्सहस्राणि नवशतान्येकादश च योजनानि किञ्चिन्न्यूनानि अधस्तलेऽस्य परिधि । दशसहस्राणि योज-

---

१ –वत्सवतीर– आ०, मु० । २ प्रभङ्करी ता० । ३ शब्दवत्– आ०, ब०, मु० । ४ क्षारोदा म०, ता० । ५ पद्मावत् आ०, ब०, मु० । ६ –गन्धिगन्धि– ता० ।

नानां भूतलेऽस्य विष्कम्भः। एकत्रिंशत्सहस्राणि षट्शतानि त्रयोविंशानि योजनानि किञ्चिन्न्यूनानि तत्रास्य परिधि.। स चतुर्वन. त्रिकाण्ड. त्रिश्रेणि। चत्वारि वनानि भद्रसालवन नन्दन सौमनस पाण्डुकवनं चेति। भूमितले भद्रसालवन पूर्वापरदिशोर्द्वाविंशति-योजनसहस्राण्यायतम्, दक्षिणोत्तरदिशोरर्धतृतीययोजनशतान्यायतम्, एकया अर्धयोजनोच्छ्रा-
५ यपञ्चशतधनुर्विष्कम्भवनसमायामया बहुतोरणविभक्तया पद्मवरवेदिकया परिवृतम्।

मेरोश्चतसृषु दिक्षु भद्रसालवने पद्मोत्तर-नील-स्वस्तिक-अञ्जन-कुमुद-पलाश-अवतस-रोचन-सज्ञान्यष्टौ कूटानि। एकैकस्या दिशि द्वे द्वे कूटे भवत। तत्र मेरो प्रागुदक्कूले सीताया पद्मोत्तरकूटम्। मेरो प्राक् अपाक्कूले सीताया नीलकूटम्। मेरोरपाक् सीतोदाया प्राक्कूले स्वस्तिककूटम्। मेरोरपाक् सीतोदाया प्रत्यक्कूले अञ्जनकूटम्। मेरो.
१० प्रत्यक् सीतोदाया दक्षिणकूले कुमुदकूटम्। मेरो प्रत्यक् सीतोदाया उत्तरकूले पलाशकूटम्। मेरोरुदक् सीताया प्रत्यक्कूले अवतसकूटम्। मेरोरुदक् सीताया प्राक्कूले रोचनकूटम्। तान्येतानि सर्वाणि कूटानि पञ्चविंशतियोजनावगाहनानि योजनशतोच्छ्रायाणि योजन-शतमूलविस्ताराणि पञ्चसप्ततियोजनमध्यविष्कम्भाणि पञ्चाशद्योजनाग्रविस्ताराणि पद्म-वरवेदिकापरिवृतानि। तेषामुपरि मध्यदेशभाज. सक्रोशैकत्रिंशद्योजनोत्सेधा पञ्चदशयोजन-
१५ द्विगव्यूतायामविष्कम्भा अष्टौ प्रासादा। तेषु स्वकूटनामान सोमयमवरुणवैश्रवणाना लोकपालानामाभियोग्या अनेकैरावतरूपविकरणसमर्था दिग्गजेन्द्रा देवा वसन्ति। तत्र पद्मो-त्तरनीलस्वस्तिकाञ्जनकूटेषु शक्रलोकपालाना भौमविहारा। कुमुदपलाशावतसरोचन-कूटेषु ऐशानलोकपालाना भौमविहारा। मेरो प्राक् सीताया दक्षिणकूले भद्रसालवने अर्हदायतनम्। मेरोरपाक् सीतोदाया प्राक्कूले अर्हदायतनम्। मेरो प्रत्यक्
२० सीतोदाया उदक्कूले अर्हदायतनम्। मेरोरुदक् सीताया. प्रत्यक्कूले अर्हदायतनम्। चत्वा-र्यप्येतानि पञ्चसप्ततियोजनोच्छ्रायाणि योजनशतोदक्दक्षिणायामानि, प्राक् प्रत्यक् पञ्चाशद्योजनविष्कम्भाणि, षोडशयोजनोच्छ्रायतदर्धविष्कम्भतावत्प्रवेशप्रागुदग्दक्षिणद्वाराणि नानामणिकाञ्चनरजतपरिणामानि सहस्रजिह्वेनापि वर्णयितुमशक्यानि। यानि सहस्राक्षः सहस्रमक्ष्णा विस्तीर्य विलोकमानोऽपि सततं न तृप्तिमुपयाति। तेषा पुरस्ताद्योजन-
२५ शतायामतदर्धविष्कम्भसातिरेकषोडशयोजनोच्छ्राया मुखमण्डपा। तेषा पुरस्ताद्योजन-शतायामतदर्धविष्कम्भसातिरेकषोडशयोजनोच्छ्राया. प्रेक्षागृहा। तेषा पुरस्ताच्चतु षष्टि-योजनायामविष्कम्भास्तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधय. स्तूपा.। तेषा पुरस्ताच्चैत्यवृक्षपीठानि षोडशयोजनायामानि तदर्धविष्कम्भाणि तावदुत्सेधानि प्रत्येक चतुस्तोरणविभक्ताना पद्मवरवेदिकाना चतुर्विंशत्या परिवृतानि। तेषा मध्ये सिद्धार्थनामका. चैत्यवृक्षा सिद्धार्थ-
३० तीर्थंकरप्रतिकृतिपवित्रीकृता षोडशयोजनोच्छ्राय-चतुर्योजनोत्सेध-योजनविष्कम्भस्कन्धा द्वाद-शयोजनोच्छ्रायतावद्बाहल्यविटपा। तेभ्य. प्राक् नानामणिरत्नमयपीठनिवेशिन षोडश-योजनोच्छ्रायगव्यूतविष्कम्भायाममहेन्द्रध्वजा। तत. प्राङ् नन्दाख्या पुष्करिण्य. योजन-शतायामतदर्धविष्कम्भदशयोजनावगाहा। अर्हदायतनमध्यदेशनिवेशिनः षोडशयोजनाया-मतदर्धविष्कम्भोच्छ्राया रत्नमया देवच्छन्दा। तत्र पञ्चधनुःशतोत्सेधा कनकमयदेहास्त-
३५ पनीयहस्तपादतलतालुजिह्वा लोहिताक्षमणिपरिक्षिप्ताङ्कस्फटिकमणिनयना अरिष्टमणिमय-

---

१ –नि कि– ता०, अ०, मू०। २ –कं कू– अ०, मू०।

नयनतारका रजतमयदन्तपङ्क्तय. विद्रुमच्छायाधरपुटा अञ्जनमूलमणिमयाक्षपक्ष्मभ्रूलता नीलमणिविरचितासिताञ्चितकेशा प्रगृहीतसितविमलवरचामराग्रहस्तोभयपार्श्वस्थविविध-मणिकनकविधृताभरणालङ्कृतयक्षनागमिथुनाः सुश्लिष्टाष्टसहस्रलक्षणव्यञ्जनाङ्किता वैडूर्यदण्डमणिहेममुक्ताजालालङ्कृतरत्नशलाका शतकाञ्चनतुम्बबिम्बरजतच्छदछत्रा[1]धिच्छत्रा भव्यजनस्तवनवन्दनपूजनाद्यर्हा अर्हत्प्रतिमा अनाद्यनिधना अष्टशतसख्या विशिष्टगणवर्णितगुणा अष्टशतकलशभृङ्गाराद्युपकरणपरिवारा वर्णनातीतविभवा मूर्ता इव जिनधर्मा विराजन्ते ।

ततो भूमितलात् पञ्चयोजनशतान्युत्प्लुत्य पञ्चयोजनशतविष्कम्भ मेरुसमाया-ममण्डल पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्त वृत्तवलयपरिधि नन्दनवनम् । तत्र बाह्यगिरिविष्कम्भ नवसहस्राणि नव च शतानि चतुःपञ्चाशानि योजनाना षट् चैकादशभागा । तत्परिधिरेकत्रिशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि एकान्नाशीत्यधिकानि सातिरेकाणि योजनानाम् । [2]अभ्यन्तरगिरिविष्कम्भोऽष्टौ सहस्राणि नवशतानि चतुःपञ्चाशानि योजनाना षट्चैकादश भागा । तत्परिधिर[3]ष्टाविंशतिसहस्राणि त्रीणि शतानि षोडशानि योजनानामष्टौ चैकादशभागा । चतसृषु दिक्षु चतस्रो गुहा—प्राच्या दिशि मणिगुहा, अपाच्या गन्धर्वगुहा, प्रतीच्या चारणगुहा, उदीच्या चन्द्रगुहा । ता एतास्त्रिशद्योजनविष्कम्भायामा साधिकनवतियोजनपरिधय पञ्चाशद्योजनावगाहा । तासु यथासख्य सोमयमवरुण[4]कुबेराणा विहारा । मेरो पूर्वोत्तरदिशि नन्दनवने बलभद्रकूट योजनसहस्रोच्छ्राय मूलमध्याग्रेषु योजनसहस्रार्धाष्टम[5]योजनशतपञ्चयोजनशतविस्तारम् । तत्त्रिगुणसातिरेका[6] परिधि । तस्योपरि मन्दराधिपतेरावासा । मेरोश्चतसृषु दिक्षु द्वे द्वे कूटे—प्राच्या दिशि तावन्नन्दनमन्दिरे । अपाच्या निषधहैमवते । प्रतीच्या रजतरुचके । उदीच्या सागरचित्रवज्रे । अष्टावप्येतानि कूटानि पञ्चयोजनशतोच्छ्रायानि मूलमध्याग्रेषु पञ्चशतपञ्चसप्तत्यधिकशतत्रयार्धतृतीयशतयोजनविष्कम्भाणि । तेषामुपरि द्विषष्टियोजनद्विगव्यूतोच्छ्राया सक्रोशैकत्रिशद्योजनविष्कम्भास्तावत्प्रवेशा एवाष्टौ प्रासादा । तेषु मेघङ्करी-मेघवती-सुमेघा-मेघमालिनी-तोयन्धरा-विचित्रा-पुष्करमाला-अनिन्दितासज्ञा अष्टौ दिक्कुमार्य यथाक्रम परिवसन्ति । मेरोर्दक्षिणपूर्वस्या दिशि उत्पलगुल्मा-नलिना-उत्पला-उत्पलोज्वलाख्याश्चतस्रो वाप्य । दक्षिणापरस्या भृङ्गा-भृङ्गनिभा-कज्जला-कज्जलप्रभाश्चतस्र पुष्करिण्य । अपरोत्तरस्या दिशि श्रीकान्ता-श्रीचन्द्रा-श्रीनिलया-श्रीमहिताश्चतस्रो वाप्य । उत्तरपूर्वस्यां दिशि पद्मा-पद्मगुल्मा-कुमुदा-कुमुदप्रभाश्चतस्रो वाप्य । ता सर्वा पञ्चाशद्योजनायामतदर्धविष्कम्भदशयोजनावगाहाः चतुष्कोणा आयतचतुरस्रा । तासा मध्ये प्रत्येकमेकैक[7] प्रासादः द्विषष्टियोजनार्धयोजनोत्सेध सगव्यूतैकत्रिशद्योजनविष्कम्भस्तावत्प्रवेश । तत्र दक्षिणस्या दिशि विदिशो प्रासादा शक्रस्य भौमविहारा । उत्तरस्यां दिशि विदिशोरैशानस्य भौमविहाराः । मेरोश्चतसृषु दिक्षु नन्दनवने चत्वारि जिनायतनानि षट्त्रिशद्योजनोत्सेधानि पञ्चाशद्योजनायामतदर्धविष्कम्भाणि तावत्प्रवेशानि अष्टयोजनोच्छ्रायतदर्धविष्कम्भायाम[8]प्रागुदगपाग्द्वाराणि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि ।

---

१ —विकच्छत्रा आ०, ब०, मु० । २ उभयपार्श्वमिलितसहस्रत्रयोजनन्यून । ३ —रष्टावि— श्र० । ४ —णखेचराणां आ०,ब०,मु० । —णखेचराणां द० । ५ —ष्टयो— आ०, ब०, द०, मु० । ६ —रेकपरि— म०, श्र०, मू । —मप्राग्द्वार ब०, द०। ७ —मप्राग्द्वाराणि प्रागुदगपाग्द्वाराणीत्यपि पाठः अ— मु० ।

नन्दनात् समात्[1]भूमिभागाद् द्विषष्टियोजनसहस्राणि पञ्चशतान्युत्प्लुत्य वृत्तवलयपरिधि-पञ्चयोजनशतविष्कम्भ पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्त सौमनसवनम् । तत्र बाह्यगिरिविष्कम्भश्चत्वारि सहस्राणि द्वे शते द्वासप्ततिश्च योजनानामष्टौ चैकादशभागा । तत्परिधिस्त्रयोदशसहस्राणि पञ्चशतान्येकादशानि योजनाना षट्चैकादशभागा । [2]अभ्यन्तरगिरिविष्कम्भस्त्रीणि सहस्राणि द्वे शते द्वासप्ततिर्योजनानामष्टौ चैकादशभागा । तत्परिधिर्दशसहस्राणि त्रीणि शतान्येकान्नपञ्चाशानि योजनानां त्रयश्चैकादशभागा किञ्चिद्विशेषोना । बलभद्रकूटदिक्कुमारीकूटाष्टकहीनं सौमनसम् । षोडशात्र वाप्य —नन्दनवापीसदृशायामविष्कम्भावगाहा[3] । तन्मध्यदेशे भवनानि पञ्चाशद्योजनायामतदर्धविस्तारषट्त्रिंशद्योजनोच्छ्रायाणि। चतुर्दिशं चत्वार्यर्हदायतनानि अष्टयोजनोच्छ्रिततदर्धविस्तारतावत्प्रवेशप्रागुदगपाग्द्वाराणि जिनायतनवर्णनोपेतानि ।

सौमनसात्समाद् [4]भूभागात् षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य योजनानि वृत्तवलयपरिधि पाण्डुकवन चतुर्नवत्युत्तरचतु शतविष्कम्भ पद्मवरवेदिकापरिवृत चूलिका परीत्य स्थितम् । [5]शिखर मेरोरेकयोजनसहस्रविष्कम्भम् । तत्परिधिस्त्रीणि सहस्राणि द्विषष्टयधिक शत योजनाना साधिकम् ।

पाण्डुकवनबहुमध्यदेशभाविनी चत्वारिंशद्योजनोच्छ्राया मूलमध्याग्रेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनविष्कम्भा सुवृत्ता चूलिका । [6]तस्या प्राच्या दिशि पाण्डुकशिला उदक्दक्षिणायामा प्राक्प्रत्यग्विस्तारा । अपाच्यां पाण्डुकम्बलशिला प्राक्प्रत्यगायामा उदग्दक्षिणविस्तारा । प्रतीच्या रक्तकम्बलशिला उदगपागायता प्राक्प्रत्यक्विस्तीर्णा । उदीच्या [7]अतिरक्तकम्बलशिला प्राक्प्रत्यगायता उदगपाग्विस्तीर्णा । तत्रार्जुनसुवर्णमयी पाण्डुकशिला । रजतपरिणामा पाण्डुकम्बलशिला। विद्रुमवर्णा रक्तकम्बलशिला। जाम्बूनदसुवर्णमयी [7]अतिरक्तकम्बलशिला। ता एताश्चतस्रोऽपि पञ्चयोजनशतायामतदर्धविष्कम्भाश्चतुर्योजनबाहल्या अर्धचन्द्रसस्थाना अर्धयोजनोत्सेधपञ्चधनु शतविष्कम्भशिलासमायामैकपद्मवरवेदिकापरिवृता श्वेतवरकनकस्तूपिकालङ्कृतचतुस्तोरणद्वारविराजिता । तासामुपरि बहुमध्यदेशभावीनि पञ्चधनु[8]शतोत्सेधायामतदर्धविष्कम्भाणि प्राङ्मुखानि सिहासनानि । पौरस्त्ये सिहासने पूर्वविदेहजान् अपाच्ये भरतजान् प्रतीच्ये अपरविदेहजान् उदीच्ये ऐरावतजास्तीर्थकरान् चतुर्णिकायदेवाधिपा सपरिवारा महत्या विभूत्या क्षीरोदवारिपरिपूर्णाष्टसहस्रकनककलशैरभिषिञ्चन्ति । अत्रापि षोडशपुष्करिण्य पूर्ववद्वेदितव्या । चूलिकायाश्चतसृषु महादिक्षु सक्रोशत्रयस्त्रिंशद्योजनायामानि द्विगव्यूताधिकषोडशयोजनविष्कम्भाणि पञ्चविंशतियोजनोच्छ्रायाणि योजनोत्सेधतदर्धविष्कम्भतावत्प्रवेश [9]प्रागुदगपाग्द्वाराणि चत्वार्यर्हदायतनानि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि ।

भद्रसालवनभाविनि भूतले लोहिताक्षकल्प परिक्षेप[10] । तत ऊर्ध्वमर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य द्वितीय पद्मवर्ण । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य तृतीयस्तपनीयवर्ण: । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य चतुर्थो वैडूर्यवर्ण । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य

---

१ —समभू— आ०, ब०, द०, मु० । २ दण्डाकारस्य । ३ अत्रापि समरुन्द्रेणोच्छ्रितिः ११०००, पुनः क्रमहानिरुत्सेधः २५०००, मिलित्वा ३६००० । ४ शेखरं मेरोः आ०, ब०, द०, मु० । ५ तस्यां आ०, ब०, द०, मु० । ६ अतिरिक्त— आ०, ब, द०, मु० । ७ —प्रागपागुदग्द्वाराणि आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० ।

पञ्चमो[1] वज्रप्रभ । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य षष्ठो हरितालवर्ण । ततोऽप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य जाम्बूनदसुवर्णवर्णो भवति । अधोभूम्यवगाही योजनसहस्रायाम प्रदेश पृथिव्युपलवालुकाशर्कराचतुर्विधपरिणाम । उपरि वैडूर्यपरिणाम प्रथम काण्ड सर्वरत्नमय[2] । द्वितीय[2] काण्ड जाम्बूनदमय । तृतीय काण्डश्चूलिका वैडूर्यमयी । मेरुरय त्रयाणां लोकाना मानदण्ड । अस्याधस्तलादधोलोक । चूलिकामूलादूर्ध्वमूर्ध्वलोक । [3]मध्यप्रमाण तिर्यग्विस्तीर्णस्तिर्यग्लोक । एव च कृत्वा अन्वर्थनिर्वचन क्रियते 'लोकत्रय मिनातीति मेरु 'इति ।

तस्य भूमितलादारभ्य आशिखरादैकादशिकी प्रदेशहानि । एकादशसु प्रदेशेषु एकप्रदेशो हीयते । एकादशसु गव्यूतेषु एकगव्यूतं हीयते । एकादशसु योजनेषु एकयोजन हीयते । एव सर्वत्राशिखराद् भूमितलस्याध [4]ऐकादशिकी प्रदेशवृद्धि –एकादशसु प्रदेशेषु एक प्रदेशो वर्धते । एकादशसु गव्यूतेषु एक गव्यूत वर्धते । एकादशसु योजनेषु एक योजनं वर्धते । एवं सर्वत्र आअधस्तलात् । अथ कथ रम्यकसज्ञा ?

रमणीयदेशयोगाद्रम्यकाभिधानम् ।१४। यस्माद्रमणीयैर्देशै सरित्पर्वतकाननादिभियुक्त[5], तस्मादसौ रम्यक इत्यभिधीयते । अन्यत्रापि रम्यकदेशयोग समान इति चेत्, न, रूढिविशेषबललाभाद् गोशब्दवृत्तिवत्[6] । अत एव सज्ञाया को विहित । क्व पुनरसौ ?

नीलरुक्मिणोरन्तराले तत्सन्निवेशः ।१५। नीलादुदक् रुक्मिणोऽपाक् पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले तस्य रम्यकस्य सन्निवेशो द्रष्टव्य ।

तन्मध्ये गन्धवान्वृत्तवेदाढ्यः ।१६। तस्य रम्यकस्य मध्ये गन्धवान्नाम वृत्तवेदाढ्य शब्दवद्वृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णन । तस्योपरि प्रासादे पद्मदेवो वसति । अथ कथ हैरण्यवतसज्ञा ?

हिरण्यवतोऽदूरभवत्वाद्धैरण्यवतव्यपदेशः ।१७। हिरण्यवान् रुक्मिनामा पर्वतस्तस्याऽदूरभवत्वाद्धैरण्यवतव्यपदेश । क्व पुनरसौ ?

रुक्मिशिखरिणोरन्तराले तद्विस्तारः ।१८। रुक्मिण उदक् शिखरिणोऽपाक् पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले तस्य हैरण्यवतस्य विस्तारो वेदितव्य ।

तन्मध्ये माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यः ।१९। तस्य हैरण्यवतस्य मध्ये माल्यवान्नाम वृत्तवेदाढ्य शब्दवद्वृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णन । तस्योपरि प्रासादे प्रभासदेवो वसति ।

अथ कथमैरावतसज्ञा ?

ऐरावतक्षत्रिययोगादैरावताभिधानम् ।२०। रक्तारक्तोदयो बहुमध्यदेशभाविनी अयोध्या नाम नगरी । तस्यामुत्पन्न ऐरावतो नाम राजा तत्परिपालितत्वाज्जनपदस्यैरावताभिधानम् । क्व पुनरसौ ?

शिखरिसमुद्रत्रयान्तरे तदुपन्यासः ।२१। शिखरिणो गिरेस्त्रयाणा पूर्वापरोत्त[7]रसमुद्राणा मध्ये तस्यैरावतस्य उपन्यासो वेदितव्य. ।

तन्मध्ये पूर्ववद्विजयार्धः ।२२। तस्यैरावतस्य मध्ये विजयार्धो रजतगिरि पूर्ववद्वेदितव्य[2] । यैर्विभक्तानि सप्तक्षेत्राणि व्याख्यातानि ।

के पुनस्ते [8]कथं वा व्यवस्थिता इति ? अत आह—

---

१ –मो नीलवर्णः त– आ०, ब० द०, मु० । २ मध्यमप्र– आ०, ब०, द० मु० । ३ एकादशप्रदेशवृद्धिः भा० २ । ४ –शब्दवत् श०, मू० । ५ –त्तराणा समु– आ०, ब०, द० मु० । ६ कथं व्य– आ०, ब०, द०, मु० ।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

तानि विभजन्तीत्येवं शीला तद्विभाजिन· पूर्वापराभ्यामायता पूर्वापरायता पूर्वापरकोटिभ्या लवणजलधिस्पर्शिन इत्यर्थ । तद्विभाजित्वादेव तेषा वर्षधरव्यपदेशोऽसकरेण भरतादिवर्षाणा धारणात् । कथं हिमवानिति संज्ञा ?

हिमाभिसंबन्धाद्धिमवद्व्यपदेशः ।१। हिममस्यास्तीति हिमवानिति व्यपदेश· । अन्यत्रापि तत्सम्बन्ध इति चेत् ? रूढिविशेषबललाभात्तत्रैव वृत्ति । क्वासौ हिमवानिति ? उच्यते—

भरतहैमवतयोः सीमनि स्थितः ।२। भरतस्य हैमवतस्य च सीमनि व्यवस्थित क्षुद्रहिमवान् वेदितव्य । कथ पुनरस्य [1]क्षुद्रहिमवत्त्वम् ? महाहिमवदपेक्षया । सूत्रेऽनुक्तं कथं गम्यते इति चेत् ? महाहिमवत्प्रयोगादेव । सति हि क्षुद्रे महत्त्वमित्यर्थात् क्षुद्रत्व गम्यते । स पञ्चविंशतियोजनावगाह योजनशतोच्छ्राय योजनसहस्र द्विपञ्चाशद्योजनाना द्वादशैकान्नविंशतिभागा तस्य विष्कम्भ । तस्योत्तरपार्श्वे ज्या चतुर्विंशतिसहस्राणि नवशतानि द्वात्रिंशानि योजनानामेकश्चैकान्नविंशतिभागो देशोन । अस्या ज्याया धनु पञ्चविंशतिसहस्राणि द्वे[2] शते त्रिंशच्चत्वारश्चैकान्नविंशतिभागा. साधिका । तस्य पूर्वापरपार्श्वबाहू प्रत्येक पञ्चसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चाशद्योजनानि पञ्चदश चैकान्नविंशतिभागा. [3]साधिकोऽर्धभागश्च । तस्योपरि [4]प्राच्या दिशि सिद्धायतनकूटं पञ्चयोजनशतोच्छ्रायमूलविष्कम्भ पञ्चसप्तत्यधिकशतत्रयमध्यविष्कम्भम् अर्धतृतीयशताग्रविष्कम्भम् । तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधि । तस्योपरि षट्त्रिंशद्योजनोच्छ्राय पञ्चाशद्योजनोद्गदक्षिणायाम पञ्चविंशतियोजनप्राक्प्रत्यग्विस्तार तावत्प्रवेशमष्टयोजनोत्सेधतदर्धविष्कम्भ तावत्प्रवेशोदग्दक्षिणपूर्वद्वारमर्हदायतनम् । द्वारत्रये सातिरेकाष्टयोजनोच्छ्रायपञ्चाशद्योजनायामतदर्धविष्कम्भास्त्रयो मुखमण्डपा । सातिरेकाष्टयोजनोच्छ्रायपञ्चाशद्योजनायामविष्कम्भाणि त्रीणि प्रेक्षागृहाणि[5]। पौरस्त्यप्रेक्षागृहात् प्राक् स्तूपादय पूर्वोक्ता । चैत्यालयाभ्यन्तरवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या । तेषा सर्वेषामेव परिक्षेप्त्री चतुस्तोरणद्वारविभक्ता पद्मवरवेदिका । ततः प्रतीच्या दिशि दशकूटानि—हिमवद्धैरतेलागङ्गा-श्री-रोहितास्या-सिंधु-सुरा-हैमवत-वैश्रवणकूटाभिधानानि यथाक्रम वेदितव्यानि सिद्धायतनकूटतुल्यानि । तेषामुपरि प्रासादा दशैव सक्रोशद्वयद्विषष्टियोजनोत्सेधा· सक्रोशैकत्रिंशद्योजनविष्कम्भास्तावत्प्रवेशा । तेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति । हिमवद्धैरतहैमवतवैश्रवणकूटेषु देवा, इतरेषु देव्य. ।

अथ कथ महाहिमवत्सज्ञा ?

महाहिमवति चोक्तम् ।३। किमुक्तम् ? हिमाभिसबन्धाद्धिमवदभिधानम्, महाश्चासौ हिमवाश्च महाहिमवानिति, असत्यपि हिमे हिमवदाख्या इन्द्रगोपवत् । क्व पुनरसौ ?

हैमवतहरिवर्षयोर्विभागकरः ।४। हैमवतादुदक् हरिवर्षादपाक् तयोर्विभागकरो महाहिमवान् वेदितव्य. । स द्वियोजनशतोच्छ्राय. पञ्चाशद्योजनावगाह, चत्वारि योजनसहस्राणि द्वे च शते दशोत्तरे दश चैकान्नविंशतिभागा. तस्य विष्कम्भ. । पूर्वापरपार्श्वबाहू प्रत्येकं नव-

---

१ क्षुद्रत्वम् आ०, ब०, द०, मु० । २ द्विशतत्रि- अ० । ३ साधिकार्धभा- आ०, ब०, द०, मु० । ४ प्राचीदिशि आ०, ब०, द०, मु० । ५ -गृहकाणि आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० ।

योजनसहस्राणि द्वे च शते षट्सप्तत्यधिके योजनाना नव चैकान्नविंशतिभागा. अर्धभागश्च साधिक· । तस्योत्तरपार्श्वे ज्या त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि नव च शतानि एकत्रिंशानि षट्चैकान्नविंशतिभागा साधिका. । तस्या. ज्याया धनु सप्तपञ्चाशद्योजनसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्युत्तरे दश चैकान्नविंशतिभागा· साधिका· । तस्योपर्यष्टौ कूटानि सिद्धायतन-महाहिमवत्-हैमवत-रोहित्-हरि-हरिकान्ता-हरिवर्ष-वैडूर्यकूटाभिधानानि क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्य- ५
प्रमाणानि । तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्या एव । प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति । अथ कथ निषधसज्ञा ?

निषीधन्ति तस्मिन्निति निषधः ।५। यस्मिन् देवा देव्यश्च क्रीडार्थं निषीधन्ति स निषध, पृषोदरादिपाठात् सिद्ध । अन्यत्रापि तत्तुल्यकारणत्वात्तत्प्रसङ्ग. इति चेत् ? न; रूढिविशेषबललाभात् । क्व पुनरसौ ? १०

हरिविदेहयोर्मर्यादाहेतुः ।६। हरिवर्षादुदक् विदेहादपाक् तयोर्मर्यादाहेतुर्निपध इत्याख्यायते । स चतुर्योजनशतोत्सेध, योजनशतावगाह, षोडशयोजनसहस्राण्यष्टौ च शतानि[१] द्वाचत्वारिंशानि द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ तस्य विष्कम्भ । पूर्वापरपार्श्वबाहू प्रत्येक विंशति-योजनसहस्राणि पञ्चषष्ट्यधिकमेक च शत द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ अर्धभागश्च साधिक । उत्तरपार्श्वज्या चतुर्नवतिसहस्राणि षट्पञ्चाशमेक च योजनशत द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ १५
साधिकौ । तस्या धनुरेक योजनशतसहस्र चतुर्विंशतिसहस्राणि त्रीणि च शतानि षट्चत्वारिंशानि नव चैकान्नविंशतिभागा. साधिका । तस्योपरि नवकूटानि–सिद्धायतन-निषध-हरिवर्ष-पूर्वविदेह-हरिधृत-सीतोदा-अपरविदेह-रुचकनामानि, क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्यप्रमाणानि । तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्या. । प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति ।
अथ कथ नीलसज्ञा ? २०

नीलवर्णयोगान्नीलव्यपदेशः ।७। नीलेन वर्णेन योगात् पर्वतो[२] नील इति व्यपदिश्यते । सज्ञा [३]चाऽस्य वासुदेवस्य कृष्णव्यपदेशवत् । क्व पुनरसौ ?

विदेहरम्यकविनिवेश[४]विभागौ ।८। स नीलाख्य पर्वत विदेहस्य रम्यकस्य च विनिवेश विभजते । स निषधेन व्याख्यातप्रमाण । तस्योपरि नवकूटानि-सिद्धायतन-नील-पूर्वविदेह-सीता-कीर्ति-[५]नरकान्ता-अपरविदेह-रम्यक-आदर्शककूटसज्ञानि, क्षुल्लकहिमवत्कूटतुल्यप्रमा- २५
णानि । तेषामुपरि जिनायतनप्रासादा तत्तुल्या. । प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति । अथ कथ रुक्मिसज्ञा ?

रुक्मसद्भावाद्रुक्मीत्यभिधानम् ।९। रुक्ममस्यास्तीति रुक्मीत्यभिधानम् । अन्यत्रापि तत्सभवाद् रूढिवशाद्विशेषे वृत्ति, करिवत् । क्व पुनरसौ ?

रम्यकहैरण्यवतविवेककरः ।१०। रम्यकस्य हैरण्यवतस्य च विवेक करोत्यसौ । स ३०
महाहिमवता तुल्यप्रमाण । तस्योपरि अष्टौ कूटानि-सिद्धायतन-रुक्मि-रम्यक[५]-नारी-बुद्धि-रूप्यकूल-हैरण्यवत-मणि-काञ्चनकूटाख्यानि क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्यप्रमाणानि । तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्या. । प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति ।
अथ कथ शिखरिसज्ञा ?

---

१ –नि च– श्र० । २ –तोपि नी– श्र० । ३ वास्य आ०, ब०, द०, मु० । ४ –शभा श्र० । ५ नारीका– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –रम्यकनरकान्ताद्– आ०, ब०, द०, मु०, मू० ।

शिखरसद्भावाच्छिखरीति संज्ञा ।११। शिखराणि कूटान्यस्य सन्तीति शिखरीति सज्ञायते । अन्यत्रापि तत्सद्भावे रूढिवशाद्विशेषे वृत्ति. शिखण्डिवत् । क्व पुनरसौ ?

हैरण्यवतैरावतसेतुबन्धः स गिरिः ।१२। हैरण्यवतस्यैरावतस्य च सेतुबन्ध इव स गिरिरवस्थित क्षुद्रहिमवत्तुल्यप्रमाण. । तस्योपर्येकादश-कूटानि सिद्धायतन-शिखरि-हैरण्यवत-रसदेवी-रक्तावतीश्लक्ष्णकूला-लक्ष्मी-[1]गन्धदेवी-ऐरावत-मणि-काञ्चनकूटनामानि क्षुद्रहिमवत्तुल्यप्रमाणानि । तेषामुपरि जिनायतनप्रासादास्तत्तुल्या । प्रासादेषु स्वकूटनामानो देवा देव्यश्च वसन्ति ।

तेषा वर्णविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

त एते हिमवदादय पर्वता हेमादिमया वेदितव्या । [2]मयट् प्रत्येक परिसमाप्यते । यथाक्रम हिमवदादय सबध्यन्ते । हेममयो हिमवान् चीनपट्टवर्ण । अर्जुनमयो महाहिमवान् शुक्ल. । तपनीयमयो निषध तरुणादित्यवर्ण । वैडूर्यमयो नील. मयूरग्रीवाभ· । रजतमयो रुक्मी शुक्ल । हेममय शिखरी चीनपट्टवर्ण इति । षडपि चैते अद्रय प्रत्येक उभयपार्श्वगतार्धयोजनविष्कम्भाद्रिसमायामाभ्या बहुतोरणविभक्तैकपद्मवरवेदिकापरिवृतवनषण्डाभ्यामुपेता ।

पुनरपि तद्विशेषणार्थमेवाह–

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

नानावर्णप्रभावादिगुणोपेतैर्मणिभिर्विविधचित्राणि विचित्राणि, मणिविचित्राणि पार्श्वानि येषा त इमे मणिविचित्रपार्श्वा ।

अनिष्टसंस्थाननिवृत्त्यर्थमुपर्यादिवचनम् ।१। अनिष्टसस्थान[3]स्य निवृत्त्यर्थमुपर्यादिवचन क्रियते । चशब्दो मध्यसमुच्चयार्थ । [4]य एषां मूलविस्तार स उपरि मध्ये च तुल्य ।

तेषा मध्ये लब्धास्पदा ह्रदा उच्यन्ते–

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥१४॥

[5]पद्मादिभिः सहचरणाद्ध्रदेषु पद्मादिव्यपदेशः ।१। पद्म महापद्म तिगिञ्छ केसरि महापुण्डरीक पुण्डरीकमिति पद्मनामानि तै सहचरणात् ह्रदेषु पद्मादिसज्ञावृत्तिर्भवति । तेषा हिमवदादीनामुपरि यथाक्रम ते ह्रदा वेदितव्या ।

तत्राद्यस्य सस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

प्राक् प्रत्यक् योजनसहस्रायाम· उदगपाक् पञ्चयोजनशतविस्तार. वज्रमयतल विविधमणिकनकरजतविचित्रतट श्वेतवरकनकस्तूपिकालङ्कृतचतुस्तोरणविभक्तार्धयोजनो-

---

१–क्ष्मीसुवर्णग– भा० २ । २ मयः प्र– आ०, ब०, द०, मु० । २–ननि– आ०, ब०, द०, मु० । ३ –यो येषा आ०, ब०, मु० । ४ एतद्वार्तिकं नास्ति श्र० ।

त्सेधपञ्चधनुःशतविष्कम्भह्रदसमायामैकपद्मवरवेदिकापरिवृतः चतुर्दिग्गतचतुर्वनषण्डमण्डितः विमलस्फटिकमणिस्वच्छगम्भीराक्षयवारि विविधजलजकुसुमपरिभ्राजित. शरदि प्रसन्नचन्द्रतारा राजिविराजितपर्यन्तपरीतविचित्रपयोधरपटल, विपर्यस्तो नभोभाग इव विभाति पद्मनामा ह्रद. । तस्यैवावगाहप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते--

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

अवगाहोऽधःप्रवेशो निम्नता । दशयोजनान्यवगाहोऽस्य दशयोजनावगाह ।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

योजनप्रमाण [1]योजनम् [2]क्रोशायामपत्रत्वात्, क्रोशद्वयविष्कम्भकर्णिकत्वाच्च योजनायामविष्कम्भम् । जलतलात् क्रोशद्वयोच्छ्रायनाल तावद्बहलपत्रप्रचयं वज्रमयमूलमरिष्टमणिकन्द रजतमणिमृणाल वैडूर्यसुप्रतिष्ठनालम् । तस्य बाह्यपत्रं तपनीय[3]परिष्कृतम्, जाम्बूनदाभ्यन्तरदल तपनीयकेसर नानामणिविचित्रसुवर्णकर्णिक पुष्करमवगन्तव्य तदर्धोत्सेधैरष्टशतसख्यै पद्मै परिवृतम् । तस्मात् पूर्वोत्तरोत्तरापरोत्तरासु तिसृषु दिक्षु श्रिय सामानिकदेवाना चत्वारि पद्मसहस्राणि । दक्षिणपूर्वस्या दिश्यभ्यन्तरपरिषद्देवाना द्वात्रिंशत्पद्मसहस्राणि । दक्षिणस्या मध्यमपरिषद्देवाना चत्वारिंशत्पद्मसहस्राणि । दक्षिणापरस्या बाह्यपरिषद्देवानामष्टचत्वारिंशत्पद्मसहस्राणि । अपरस्या सप्तानामनीकमहत्तराणा सप्तपद्मानि । चतसृषु महादिक्षु आत्मरक्षदेवाना षोडशपद्मसहस्राणि । तान्येतानि सर्वाणि परिवारपद्मानि तदर्धोत्सेधानि एक शतसहस्र चत्वारिंशत्सहस्राणि शतं च [4]पञ्चदशम् ।

इतरेषा ह्रदाना पुष्कराणा चायामादिज्ञापनार्थमाह-

तद्द्विगुणद्विगुणा[5] ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

स च तच्च ते, तयोर्द्विगुणा द्विगुणास्तद्द्विगुणद्विगुणा.[5]।

द्वि[6]गुणद्विगुणा इति द्वित्वं व्याप्त्यर्थम् ।१। [1]द्विगुणद्विगुणा इति द्वित्वम् उच्यते । किमर्थम् ? व्याप्त्यर्थम् । द्विगुणत्वेनोत्तरेषां [2]व्याप्तिर्यथा स्यादिति । केन द्विगुणा ? आयामादिना । पद्मह्रदस्य द्विगुणायामविष्कम्भावगाहो महापद्मह्रद । महापद्मह्रदस्य द्विगुणायामविष्कम्भावगाहस्तिगिञ्छह्रद । पुष्कराणि च । किम् ? द्विगुणानि द्विगुणानि इत्यभिसम्बध्यते ।

द्वित्वात्तयोर्बहुवचनाभाव इति चेत्; न; विवक्षितापरिज्ञानात् ।२। स्यादेतत्-तयोर्ह्रदयो. पुष्करयोश्च द्वित्वाद् बहुवचन नोपपद्यते इति, तन्न, कि कारणम् ? विवक्षितापरिज्ञानात् । आद्यन्ताभ्या पद्मपुण्डरीकह्रदाभ्या तुल्यप्रमाणाभ्यामन्ये ह्रदा दक्षिणत उत्तरतश्च द्वैगुण्येन निर्दिष्टा इति विवक्षितोऽत्रायमर्थ. । अतो बहुवचनमपपद्यते । कथ पुनस्तच्छब्दे पूर्वनिर्दिष्टापेक्षे सत्यनिर्दिष्टार्थो गृह्यते ?

---

१ प्रमाणयोजनपरिमाणसम्बन्धात् अभेदेन पुष्करमपि योजनशब्देनोच्यते इत्यर्थः । २ कथं तत्पद्मयोजनपरिमाणं कथ्यते इत्याशङ्कायामुपपत्तिमाह । ३ -परिष्टप्त भा० २ । ४ पञ्चाशत् आ०, ब०, मु० । ५ -गुणाद्विगुणाः श्र०, मू० । ६ -प्ति, कथं स्या- ता०, श्र०, मू० ।

बहुवचननिर्देशात्तद्ग्रहणम् ।३। बहुवचननिर्देशात्तस्य ग्रहणं विज्ञायते । बहुवचननिर्देशात् केसर्यादय कथन्न गृह्यन्ते ?

व्याख्यानतो वक्ष्यमाणसंबन्धाच्चानिष्टनिवृत्तिः ।४। *"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" [पात० महा० प्रत्या० सू० ६] इत्यनिष्टस्य निवृत्तिर्भवति । अथवा वक्ष्यत एतत्–***"उत्तरा दक्षिणतुल्या."** [त० सू० ३।२६] इति तदभिसबन्धाच्चेष्टसप्रत्यय कर्तव्य । तद्यथा–महाहिमवत उपरि बहुमध्यदेशभावी महापद्महृद , द्वियोजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो विंशतियोजनावगाहः । तन्मध्ये जलतलाद् द्विक्रोशोच्छ्राय योजनबहलपत्रप्रचय द्विक्रोशायामपत्रत्वाद् योजनायामकर्णिकत्वाच्च द्वियोजनविष्कम्भ पुष्करम् । तत्परिवारपद्मसख्या पूर्वोक्तैव । निषधस्योपरि बहुमध्यदेशभाक् तिगिञ्छह्रद चतुर्योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भ , चत्वारिंशद्योजनावगाह । तन्मध्ये जलतलाद् द्विक्रोशोद्गम द्वियोजनबहलपत्रप्रचय योजनायामपत्रत्वाद् द्वियोजनायतकर्णिकत्वाच्चतुर्योजनायामविष्कम्भ पुष्करम् । तत्परिवारपद्मसख्या पूर्वोक्तैव । नीलस्योपरि बहुमध्यदेशभावी केसरिह्रद. तिगिञ्छह्रदतुल्यः पद्मानि च तत्तुल्यप्रमाणानि । रुक्मिण उपरि बहुमध्यदेशभाक् महापुण्डरीको ह्रद. महापद्मह्रदतुल्य , पद्मानि च तद्गतपद्मप्रमाणानि । शिखरिण उपरि बहुमध्यदेशभावी पुण्डरीको ह्रद पद्मह्रदतुल्य , पुष्कराणि च [१]तद्गतपद्मप्रमाणानि ।

अत्र चोद्यते–तच्छब्दस्य यदि द्विगुणशब्देन वृत्ति क्रियते द्वित्व सघातस्य प्राप्नोति[२] । अथ कृतद्वित्वेन तच्छब्दस्य वृत्ति क्रियते समुदायस्याऽसुबन्तत्वाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति । वीप्साया द्वित्वे सति [३]वाक्यमेवावतिष्ठत इति ? नैष दोष , तदित्यय निपात अपादानार्थे वर्तते । तद् द्विगुणा द्विगुणा ततो द्विगुणा द्विगुणा इत्यर्थ. ।

तन्निवासिनीना देवीना सज्ञाजीवितपरिवारप्रतिपादनार्थमाह–

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमास्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥

तेषु पुष्करे कर्णिकामध्यमैकदेशविनिवेशिन शरद्विमलपूर्णचन्द्रद्युतिहराः क्रोशायामक्रोशार्धविष्कम्भदेशोनक्रोशोत्सेधा प्रासादाः तेषु निवसन्तीत्येव शीला देव्यस्तन्निवासिन्य ।

ध्वादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्वः ।१। श्रीश्च ह्रीश्च धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिश्च लक्ष्मीश्च श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्य इतीतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्व । तेषु पद्मादिषु ह्रदेषु यथाक्रमं देव्य श्र्यादयो वसन्ति ।

स्थितिविशेषनिर्ज्ञानार्थं पल्योपमवचनम् ।२। देवीसामान्यस्थितौ विशेषनिर्ज्ञानार्थं पल्योपमस्थितय इत्युच्यते । पल्योपमा स्थितिरासा ता. पल्योपमस्थितय इति ।

परिवारनिर्ज्ञानार्थं सामानिकपरिषत्कवचनम् ।३। परिवारप्रतिपत्त्यर्थं सामानिकपरिषद्ग्रहण क्रियते । समाने स्थाने भवा सामानिका. ***"समानस्य तदादेश्च"** [जैनेन्द्रवा० ३।३।३५] इति ठञ् । सामानिकाश्च परिषदश्च सामानिकपरिषद । अभ्यर्हितत्वात् सामानिकपदस्य पूर्वनिपात· । सह सामानिकपरिषद्भिर्वर्तन्ते इति ससामानिकपरिषत्का· । तेषा पद्मानि

---

१ चततुल्यप्रमा– आ०, ब० द० मु० । २ तद्द्विगुणाः तद्द्विगुणा इति । ३ तयोर्द्विगुणा इति ।

[1]पूर्वनिर्दिष्टानि तन्मध्यवर्तिषु प्रासादेषु ते वसन्ति ।

यकाभि. सरिद्भिस्तानि क्षेत्राणि विभक्तानि ता उच्यन्ते—

गङ्गासिन्धूरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्ण-[2]कूलारूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

गङ्गादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्व. । उदकस्य उदभाव उक्त । सरितो न वाप्य । ता. [3]किमनन्तरा उत समीपा इति ? अत आह—तन्मध्यगा इति । तेषां क्षेत्राणा मध्ये मध्येन वा गच्छन्तीति तन्मध्यगा. ।

एकत्र सर्वासा प्रसङ्गनिवृत्त्यर्थं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं चाह—

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

द्वयोर्द्वयोरेकक्षेत्रं विषयः इत्यभिसंबन्धादेकत्र सर्वासां प्रसङ्गनिवृत्तिः ।१। विकल्प्यो हि वाक्यशेष । वाक्यं वक्तर्यधीनं (वक्त्रधीनम्) हीति इच्छातो वाक्यशेषप्रकल्पते , द्वयोर्द्वयोरेकक्षेत्र[4]विषय इत्यभिसबन्धात् सर्वासां सरिताम् एकस्मिन् क्षेत्रे प्रसङ्गो निवर्तितो भवति ।

पूर्वाः पूर्वगा इतिवचनं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।२। तत्र पूर्वा या सरितस्ता. पूर्वगा । पूर्वसमुद्र गच्छन्तीति पूर्वगा । किमपेक्षं पूर्वत्वम् ? सूत्रनिर्देशापेक्षम् । यद्येव गङ्गासिन्ध्वादय. सप्त पूर्वगा इति प्राप्तम् ? नैष दोष , द्वयोर्द्वयोरित्यभिसबन्धाद् द्वयोर्द्वयो पूर्वा पूर्वगा वेदितव्या । ननु च [6]द्वयोर्द्वयोरिति ग्रहणमन्यार्थमुक्तम् ? *"**अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति**" [पात० महा० १।१।२२] ।

इतरासा दिग्विभागप्रतिपत्त्यर्थमाह—

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

द्वयोर्द्वयोरवशिष्टा यास्ता अपरगा [7]प्रत्येतव्या अपर समुद्रं गच्छन्तीत्यपरगा ।

तत्र पद्महृदप्रभवा पूर्वतोरणद्वारनिर्गता गङ्गा ।१। क्षुल्लकहिमवत उपरि पद्महृदो वर्णितश्चतुस्तोरणद्वारमण्डित. । तत्र पूर्वतोरणद्वारेण निर्गता पञ्चयोजनशतानि प्राङ्मुखी गत्वा गङ्गाकूटं स्रोतसा आस्फाल्य पञ्चयोजनशतानि त्रयोविंशानि षट्चैकान्नविंशतिभागान् अपाङ्मुखी गत्वा स्थूलमुक्तावलीव साधिकयोजनशतप्रमाणधाराप्रपाता सक्रोशषड्योजनविस्तारा योजनार्धबाहुल्या षष्टियोजनायामविष्कम्भे दशयोजनावगाहे वज्रमयतले श्रीदेवीगृहप्रमाणप्रासादमण्डितमध्ये सद्विक्रोशदशयोजनोच्छ्रायाष्टयोजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे कुण्डे पतिता । दक्षिणतोरणद्वारेण विनि सृता अर्धगव्यूतावगाहा सक्रोशषड्योजनविस्तारा क्रमेण वर्धमाना भुजङ्गकुटिलगामिनी खण्डकप्रपातगुहामुखेन विजयार्धं व्यतीत्य दक्षिणमुखा दक्षिणार्धभरतमध्य प्राप्य प्राङ्मुखी सती मुखे सक्रोशयोजनावगाहा सार्धद्विषष्टियोजनविस्तारा लवणोदधिं मागधतीर्थेन प्राविशत् ।

अपरतोरणद्वाराद्विनिर्गता सिन्धूः ।२। पाश्चात्यतोरणद्वाराद्विनिर्गता पञ्चयोजनशतं गत्वा सिन्धूकूटं वीचीबाहू [8]पगूहेनास्फाल्य गङ्गावत्सिन्धूकुण्डे पतिता तमिस्रगुहामुखागतेन विज-

---

१ –नि निर्दि– आ०, ब०, द०, मु० । २ –वर्णरूप्यकूला आ, ब०, ब०, द०, मु०, मू० ता० । ३ किमन्तरा आ०, आ०, द०, मु०, ता० । ४ –रेकैकक्षेत्र आ०, ता० । ५ च यद्द्वयोर्द्वयो– आ०, ब०, द०, मु० । ६ वेदितव्याः आ०, ब०, द०, ता०, मु० । ७ आलिङ्गनेन ।

यार्धं व्यतीत्य प्रभासतीर्थेनापरसमुद्रं प्राविक्षत्। तत्र गङ्गाकुण्डद्वीपप्रासादे गङ्गादेवी वसति। सिन्धूकुण्डद्वीपप्रासादे सिन्धूदेवी वसति। हिमवत उपरि किञ्चित्प्राक् प्रत्यक् चातीत्य गङ्गासिन्ध्वोर्मध्ये द्वे पद्माकारे कूटे वैडूर्यपरिणामनाले जलस्योपरि क्रोशमुच्छ्रिते क्रोशद्वयायामविष्कम्भे लोहिताक्षमणिमयार्धगव्यूतायतपत्रे तपनीयकेसरे अर्कमणिनिर्वृत्तगव्यूतायतकर्णिके। तयो. कर्णिकयोर्मध्ये रत्नमयमेकैक कूटम्। तत्र चैकैक प्रासाद। प्राच्यकूटप्रासादे पल्योपमस्थितिका वला[1] नाम देवी वसति। प्रतीच्यप्रासादकूटे पल्योपमस्थितिका लवणा नाम देवी वसति।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहितास्या।३। पद्महृदस्यैव उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता द्वे योजनशते षट्सप्तत्युत्तरे षट्चैकान्नविंशतिभागान् हिमवत उपरि उदङ्मुखी गत्वा गङ्गातुल्यायामधाराप्रपाता अर्धत्रयोदशयोजनविस्तारा योजनबाहल्या विंशतियोजनशतायामविष्कम्भे विंशतियोजनावगाहे वज्रतले श्रीदेवीगृहप्रमाणप्रासादमण्डितमध्ये सद्विक्रोशदशयोजनोच्छ्रायषोडशयोजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे कुण्डे पतिता। तत कुण्डादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता उदङ्मुखी शब्दवद्वृत्तवेदाढ्य प्रदक्षिणीकृत्यार्धयोजनेनाप्राप्ता प्रत्यङ्मुखी सती प्रभवे क्रोशावगाहाऽर्धत्रयोदशयोजनविष्कम्भा मुखेऽर्धतृतीययोजनावगाहा पञ्चविंशतियोजनशतविष्कम्भा रोहितास्या अपरलवणोदधि प्राविशत्। रोहितास्याकुण्डप्रासादे रोहितास्या देवी वसति।

महापद्मह्रदप्रभवाऽपाच्यतोरण[2]द्वारनिर्गता रोहित्।४। महाहिमवत उपरि महापद्महृदादपाच्यतोरणद्वारेण निर्गता षोडशयोजनशतानि पञ्चोत्तराणि पञ्चैकान्नविंशतिभागान् अपागागम्य पतितेत्यादि रोहितास्यया तुल्यम्। अय तु विशेष –साधिकद्वियोजनशतायामधारा। रोहित्कुण्डप्रासादनिवासिनी रोहित् देवी। सा रोहिन्महानदी पूर्वार्णव प्राविशत्।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता हरिकान्ता।५। तत एव महापद्महृदादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता हरिकान्ता नाम महानदी रोहिदिवाद्रितले गत्वा उदङ्मुखी साधिकद्वियोजनशतधाराप्रपाता द्वियोजनबाहल्या पञ्चविंशतियोजनविस्तारा श्रीदेवीगृहतुल्यप्रासादमण्डितमध्ये[3] सद्विक्रोश[4]दशयोजनोच्छ्रायद्वात्रिंशद्योजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे चत्वारिंशद्योजनावगाहे चत्वारिंशद्द्विशतयोजनायामविष्कम्भे वज्रतले कुण्डे पतिता। तत कुण्डादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता [5]प्रभवेऽर्धयोजनावगाहा पञ्चविंशतियोजनविष्कम्भा विकृतवद्वृत्तवेदाढ्यमर्धयोजनेनाप्राप्य प्रदक्षिणीकृत्य प्रत्यङ्मुखी सती मुखे पञ्चयोजनावगाहा अर्धतृतीययोजनशतविष्कम्भा पाश्चात्यार्णव प्राविक्षत्। हरिकान्ताकुण्डप्रासादे हरिकान्तादेवी वसति।

तिगिञ्छह्रदप्रभवा दक्षिणद्वारनिर्गता हरित्।६। निषधस्योपरि तिगिञ्छह्रदाद् दक्षिणतोरणद्वारेण विनि सृता हरिन्महानदी सप्तसहस्राणि चत्वारि शतान्येकविंशानि योजनानामेकं चैकान्नविंशतिभागमद्रितले प्राङ्मुखी गत्वा पतितेत्यादि सर्वं हरिकान्तातुल्यम्। अय तु विशेष· साधिकचतुर्योजनशतायामधारा। हरिकुण्डप्रासादनिवासिनी हरिदेवी। सा प्राच्यमुदधि प्राविक्षत्।

उदीच्यतोरणद्वारविनिर्गता सीतोदा।७। तत एव तिगिञ्छह्रदादुदीच्यतोरणद्वारेण हरिदिवाद्रितले[6] गत्वोदङ्मुखी साधिकचतुर्योजनशतधाराप्रपाता चतुर्योजनबाहल्या पञ्चाशद्यो-

---

१ बला– श्र०। २ –द्वारेण नि– आ०, ब०, द०, मु०। ३ –मध्यसद्वि– ता०, श्र०, मू०। ४ –क्रोशयोज– मु०, मू ता०, श्र०, द०, ज०, ब० आ०। ५ प्रवाहे श्र०, ब०, द०, मु०। ६ –तलं ग– आ०, ब०, द०, मु०।

जनविस्तारा श्रीदेवीगृहप्रमाणप्रासादमण्डितमध्ये[1] सद्विक्रोशदशयोजनोच्छ्रायचतुष्षष्टियोजनायामविष्कम्भद्वीपालङ्कृतान्तरे साशीतिचतुर्योजनशतायामविष्कम्भे अशीतियोजनावगाहे वज्रतले कुण्डे पतिता। तत कुण्डादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता देवकुरुषु चित्रविचित्रकूटमध्येनोदङ्मुखी गत्वा अर्धयोजनेनाऽप्राप्ता मेरु प्रदक्षिणीकृत्य विद्युत्प्रभ विदार्य अपरविदेहमध्यगामिनी, प्रभवे योजनावगाहा पञ्चाशद्योजनविस्तारा मुखे दशयोजनावगाहा पञ्चयोजनशतविस्तारा सीतोदा नाम महानदी पाश्चात्यसमुद्र प्राविक्षत्। सीतोदाकुण्डप्रासादनिवासिनी सीतोदा देवी।

केसरिह्रदप्रभवाऽपाच्यद्वारनिर्गता सीता ।८। नीलस्योपरि केसरिह्रदादपाच्यतोरणद्वारेण निर्गता सीता महानदीत्यादि सर्वं सीतोदातुल्यम्। अय तु विशेष सीताकुण्डप्रासादे सीतादेवी वसति। सा माल्यवन्त विदार्य पूर्वविदेहमध्यगामिनी प्राच्यसमुद्र प्राविक्षदिति।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता नरकान्ता ।९। तत एव केसरिह्रदादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता नरकान्ता महानदीत्यादि सर्व हरिता व्याख्यातम्। अय तु विशेष नरकान्ताकुण्डप्रासादे नरकान्ता देवी वसति। गन्धवद्वृत्तवेदाढ्य प्रदक्षिणीकृत्य पाश्चात्यसमुद्र प्राविक्षदिति।

महापुण्डरीकह्रदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता नारी ।१०। रुक्मिण उपरि महापुण्डरीकह्रदाद् दक्षिणतोरणद्वारेण निर्गता नारी महानदीत्यादि सर्वं हरि(नर)कान्तया व्याख्यातम्। अय तु विशेष नारीकुण्डप्रासादे नारीदेवी वसति। गन्धवद्वृत्तवेदाढ्य प्रदक्षिणीकृत्य पूर्वोदधि प्राविशदिति[2][3]।

उदीच्यद्वारनिर्गता रूप्यकूला ।११। तस्मादेव महापुण्डरीकह्रदादुदीच्यतोरणद्वारेण निर्गता रूप्यकूला महानदीत्यादि सर्वं तु रोहिता व्याख्यातम्। अय तु विशेष रूप्यकूलाकुण्डप्रासादे रूप्यकूला देवी वसति। माल्यवद्वृत्तवेदाढ्य प्रदक्षिणीकृत्य प्रतीच्यसमुद्र प्राविक्षदिति।

पुण्डरीकह्रदप्रभवापाच्यतोरणद्वारनिर्गता सुवर्णकूला ।१२। शिखरिण उपरि पुण्डरीकह्रदाद् दक्षिणतोरणद्वारेण निर्गता सुवर्णकूला महानदीत्यादि सर्वं रोहितास्यया व्याख्यातम्। अय तु विशेष सुवर्णकूलाकुण्डप्रासादे सुवर्णकूला देवी वसति। माल्यवद्वृत्तवेदाढ्य प्रदक्षिणीकृत्य प्राच्यमर्णव प्राविक्षदिति।

पूर्वतोरणद्वारनिर्गता रक्ता ।१३। तस्मादेव पुण्डरीकह्रदात् पूर्वतोरणद्वारेण विनिर्गता रक्ता महानदीत्यादि सर्वं गङ्गया व्याख्यातम्। अयं तु विशेषः रक्ताकुण्डप्रासादे रक्तादेवी वसति।

प्रतीच्यद्वारनिर्गता रक्तोदा ।१४। तस्मादेव पुण्डरीकह्रदात् प्रतीच्यतोरणद्वारेण विनिर्गता रक्तोदा महानदीत्यादि सर्वं सिन्धवा वर्णितम्। अयं त् विशेष रक्तोदाकुण्डप्रासादे रक्तोदा देवी वसति।

गङ्गासिन्धूरक्तारक्तोदा. भुजङ्गकुटिलगतय अन्यत्र गिरितलधाराप्रपाताभ्याम्, शेषा ऋजुगतयः अन्यत्र मेरुनाभिगिरिप्रदेशेभ्य.। चतुर्दशाप्येता अर्धयोजनविष्कम्भनदीसमायामाभ्यामुभयपार्श्वगताभ्या प्रत्येकमर्धयोजनोत्सेधपञ्चधनु शतविष्कम्भवनसमायामपद्मवरवेदिकाद्वयपरिवृताभ्यां वनषण्डाभ्यामलङ्कृताः।

तासां परिवारप्रतिपादनार्थमाह–

---

१ –मध्यस– श्र०। २ –णद्वारतोरण– ता०, श्र०, आ०, द०। ३ प्राविक्षदि– आ० ब०, मु०।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

गङ्गासिन्ध्वाद्यग्रहणं प्रकरणादिति चेत्; न; अनन्तरग्रहणप्रसङ्गात् ।१। स्यान्मतम्–गङ्गासिन्ध्वादिग्रहणमनर्थकम्। कुत[1] ? प्रकरणात्। प्रकृता हि ता इति, तन्न, कि कारणम् ? अनन्तरग्रहणप्रसङ्गात्। "**अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो** वा" [पात० महा० १।२।४७] इति अपरगानामेव ग्रहण स्यात्।

गङ्गादिग्रहणमिति चेत्; न; पूर्वगाग्रहणप्रसङ्गात् ।२। अथ मतम्–गङ्गादिग्रहणमेवास्तु अनन्तरनिवृत्त्यर्थमिति, तच्च न; कस्मात् ? पूर्वगाग्रहणप्रसङ्गात्। गङ्गादयो हि पूर्वगा इति।

नदीग्रहणात् सिद्धिरिति चेत्; न; द्विगुणाभिसंबन्धार्थत्वात् ।३। स्यादेतत्–नद्य प्रकृतास्ततो नदीग्रहण मन्तरेणापि नदीस[2]प्रत्यये सिद्धे तद्ग्रहण सर्वनदी[3]सप्रत्ययार्थं भविष्यति नार्थो गङ्गासिन्ध्वादिग्रहणेनेति ? तन्न, कि कारणम् ? द्विगुणाभिसबन्धार्थत्वात्। द्विगुणा द्विगुणा इत्यस्याभिसबन्ध इह कथ स्यादिति गङ्गासिन्ध्वादिग्रहण क्रियते। कि [4]गतमेतदनेन आहोस्विच्छब्दाधिक्या[5]दर्थाधिक्य गतमिति ? आह। कथम् ? द्विगुणानुवृत्तौ गङ्गाचतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता तद्द्विगुणनदीसहस्रपरिवारा सिन्धूरिति [6]प्रसक्ते तन्निवृत्त्यर्थं गङ्गासिन्धूग्रहणमिति। [7]तत्र गङ्गासिन्ध्वौ प्रत्येक चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृते। ततो द्विगुणा द्विगुणा परिवारनद्यो वेदितव्या आसीतोदाया, तत परतोऽर्धहीना।

उक्तो जम्बूद्वीपविष्कम्भाम्भोनिधिह्रदसरित्पर्वतवर्षनिवेशक्रम। इदमिदानी प्रक्रियता किममूनि क्षेत्राणि तुल्यविस्ताराण्युत विस्तारविशेषोऽस्तीति ? अत आह–

भरतः [8]षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकान्नविंशति-भागा योजनस्य ॥२४॥

षडधिका विंशतिः षड्विंशति षड्विंशतिरधिका येषु तानि षड्विंशानि पञ्चयोजनशतानि विस्तारोऽस्य षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारो भरत। किमेतावानेव ? नेत्याह–षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य, विस्तारोऽस्येत्यभिसबध्यते।

इतरेषा विष्कम्भविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

तद्द्विगुणाद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

ततो द्विगुणो द्विगुणो विस्तारो येषा त इमे तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा.।

वर्षधरशब्दस्य पूर्वनिपात आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः ।१। वर्षधरशब्दस्य पूर्वनिपातः क्रियते आनुपूर्व्यप्रतिपत्तिर्यथा स्यादिति। इतरथा हि वर्षधराश्च वर्षाश्चेति द्वन्द्वे वर्षशब्दस्य पूर्वनिपात प्रसज्येत अल्पाच्तरत्वात्। न च लक्षणमस्ति आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थं पूर्वप्रयोगः कर्तव्य इति[9] ? सत्य नास्ति कण्ठोक्तम्, ज्ञापकात्तु भवति *"**लक्षणहेत्वोः क्रियायाः**" [जैनेन्द्र० २।२।१०४] इति[10]।

---

१ –प्रत्ययसिद्धेस्त– मु०। २ प्रतिपत्त्यर्थं आ०, ब०, मु०। ३ ज्ञातम्। ४ सूत्रमनर्थकमिति। ५ प्रसक्तिः त– आ०, ब०, ता०, मु०। ६ तथा सति। ७ षड्विंशतिप– आ०, ब०, ता०, मु०। ८ एवविधम्। ९ इत्यत्र हेतुशब्दस्य पूर्वनिपातो न्याय्यः त विहाय आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थं लक्षणशब्दस्य-कृतवान्। ततो ज्ञायते आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः पूर्वप्रयोगः कर्त्तव्य इति लक्षणमस्तीति।

विदेहान्तवचनं मर्यादार्थम् ।२। विदेह. अन्तो येषां त इमे विदेहान्ता इति मर्यादा क्रियते । इतरथा हि नीलादयोऽपि द्विगुणद्विगुणविस्ताराः प्रसज्येरन् । तथाहि–हिमवतो विष्कम्भो द्विपञ्चाशमेक योजनसहस्र द्वादश चैकान्नविंशतिभागा । हैमवतस्य द्वियोजनसहस्रे पञ्चोत्तरशत पञ्च चैकान्नविंशतिभागा । महाहिमवतश्चत्वारि योजनसहस्राणि दशाधिके द्वे शते दश चैकान्नविंशतिभागा । हरिवर्षस्याष्टौ योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि एकविंशानि एकश्चैकान्नविंशतिभाग । निषधस्य षोडशयोजनसहस्राणि अष्टौ शतानि द्विचत्वारिंशानि द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ । विदेहस्य त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि षट्शतानि चतुरशीत्यधिकानि चत्वारश्चैकान्नविंशतिभागा ।

यद्येव भरतादीना विदेहान्ताना विस्तारक्रम उक्त, अथोत्तरेषा कथमिति ? अत आह––

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

उत्तरा ऐरावतादय. नीलान्ता भरतादिभिर्दक्षिणैस्तुल्या. द्रष्टव्या, अतीतस्य सर्वस्याय विशेषो द्रष्टव्य ।

अत्राह–उक्तेषु भरतादिषु क्षेत्रेषु मनुष्याणा कि तुल्योऽनुभवादि आहोस्वित्कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इति ? अत आह–

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

इमौ वृद्धिह्रासौ कस्य ? भरतैरावतयो । ननु ते क्षेत्रे व्यवस्थितावधिके कथ तयोर्वृद्धिह्रासौ ? अत उत्तरं पठति–

तात्स्थ्यात्तच्छब्द्यसिद्धिर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः ।१। इह लोके तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्य भवति, यथा[1]गिरिस्थेषु वनस्पतिषु दह्यमानेषु गिरिदाह इत्युच्यते, तथा भरतैरावतस्थेषु मनुष्येषु वृद्धिह्रासावापद्यमानेषु भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासावुच्येते ।

अधिकरणनिर्देशो वा ।२। अथवा भरतैरावतयोरित्यधिकरणनिर्देशोऽयम्, स चाधेयमाकाङ्क्षतीति भरते ऐरावते च मनुष्याणा वृद्धिह्रासौ वेदितव्यौ । कि कृतौ पुनस्तौ ?

अनुभवायुःप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ ।३। अनुभव उपभोगपरिभोगसम्पत्, आयुर्जीवितपरिमाणम्, प्रमाण शरीरोत्सेध इत्येवमादिकृतौ मनुष्याणा वृद्धिह्रासौ प्रत्येतव्यौ । कि हेतुकौ पुनस्तौ ? [2]कालहेतुकौ । स च कालो द्विविध –उत्सर्पिणी अवसर्पिणी चेति । तद्भेदा. षट् प्रत्येकम् । अन्वर्थसज्ञे[3] चैते ।

अनुभवादिभिरवसर्पणशीला अवसर्पिणी ।४। अनुभवादिभि. पूर्वोक्तैरवसर्पणशीला हानिस्वाभाविका अवसर्पिणीसमा ।

तद्विपरीतोत्सर्पिणी ।५। तद्विपरीतैरेवोत्सर्पणशीला वृद्धिस्वाभाविकोत्सर्पिणीत्युच्यते । तत्रावसर्पिणी षड्विधा–सुषमसुषमा सुषमा सुषमदु षमा दु षमसुषमा दु षमा अतिदु षमा चेति । उत्सर्पिण्यपि अतिदु षमाद्या सुषमसुषमान्ता षड्विधैव भवति । अवसर्पिण्याः परिमाण दश सागरोपमकोटीकोट्य, उत्सर्पिण्यपि तावत्येव । सोभयी कल्प इत्याख्यायते ।

---

१ गिरिस्थितेषु आ०, ब०, द०, द०, मु०, ता० । २ कालकृतावित्यर्थः । ३ –सज्ञोच्यते आ०, ब०, द०, मु० ।

तत्र सुषमसुषमा चतस्र. सागरोपमकोटीकोट्य· । तदादौ मनुष्या उत्तरकुरुमनुष्यतुल्याः । तत क्रणेण हानौ सत्या सुषमा भवति तिस्र सागरोपमकोटीकोट्यः । तदादौ मनुष्या हरिवर्षमनुष्यसमा· । ततः क्रमेण हानौ[1] सुषमदु षमा भवति द्वे सागरोपमकोटीकोट्यौ तदादौ मनुष्या हैमवतमनुष्यसमाना भवन्ति । तत. क्रमेण हानौ सत्या दुःषमसुषमा भवति एकसागरोपमकोटीकोटी द्विचत्वारिशद्वर्षसहस्रोना । तदादौ मनुष्या विदेहजनतुल्या भवन्ति । तत क्रमेण हानौ सत्या दु षमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि । ततः क्रमेण हानौ सत्यां अतिदु षमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि । एवमुत्सर्पिण्यपि विपरीतक्रमा वेदितव्या ।

अथेतरासु भूमिषु काऽवस्थिति ? अत आह--

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

ताभ्यां भरतैरावताभ्यामपरा भूमय अवस्थिता भवन्ति[2] । न हि तत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ स्त ।

किं तासु मिभूषु मनुष्यास्तुल्यायुष आहोस्वित् कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इति ? अस्तीत्याह--

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥२९॥

हैमवतादिभ्यो भवार्थे वुञ् मनुष्यप्रतिपत्त्यर्थः ।१। हैमवते भवा इत्येवमादिना विग्रहेण वुञि कृते हैमवतकादिसिद्धिर्भवति । स किमर्थ ? मनुष्यप्रतिपत्त्यर्थ । तत्र भवा मनुष्या. प्रतिपद्येरन्निति ।

एकादीनां हैमवतकादिभिर्यथासंख्यं संबन्धः ।२। हैमवतकादयस्त्रय एकादयस्त्रय तत्र यथासख्य सबन्धो भवति । एकपल्योपमस्थितयो हैमवतका । द्विपल्योपमस्थितयो हारिवर्षकाः । त्रिपल्योपमस्थितयो दैवकुरवका इति । तत्र पञ्चसु हैमवतेषु सुषमदु षमा सदा अवस्थिता । तत्र मनुष्या एकपल्योपमायुषो द्विधनु सहस्रोच्छ्रिताश्चतुर्थभक्ताहारा नीलोत्पलवर्णा । पञ्चसु हरिवर्षेषु सुषमा सदा अवस्थिता, तत्र मनुष्या द्विपल्योपमस्थितयः चतुश्चापसहस्रोत्सेधा षष्ठभक्ताहारा शङ्खवर्णा । पञ्चसु देवकुरुषु सुषमसुषमा सदा अवस्थिता, तत्र मनुष्यास्त्रिपल्योपमायुष षड्धनु सहस्रोत्सेधा अष्टमभक्ताहारा कनकवर्णा. ।

अथोत्तरेषु काऽव[3]स्थेति ? अत आह--

तथोत्तराः ॥३०॥

यथा दक्षिणा तथोत्तरा वेदितव्या । हैरण्यवतका हैमवतकैस्तुल्या. । राम्यका हारिवर्षकैस्तुल्या । दैवकुरवकैरौत्तरकुरवका व्याख्याताः ।

अथ विदेहष्ववस्थितेषु का स्थितिक्रिया ? [4]अत उच्यते--

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

सर्वेषु विदेहेषु सख्येयकाला मनुष्या । तत्र काल सुषमदु षमान्तोपम· सदा अवस्थित । मनुष्याश्च पञ्चधनु शतोत्सेधा नित्याहारा. उत्कर्षेण[5] एक[6]पूर्वकोटिस्थितिका जघन्येनान्तर्मुहूर्तायुषः ।

---

१ -नौ सत्यां सु- मु० । २ कुतः । ३ -स्थितिरित्यत आ०, ब०, द०, मु० । ४ तदुच्य- श्र० । ५ -ण पूर्व- आ०, ब०, द०, मु० । ६ पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइ । छप्पण्णं च सहस्सा बोधव्वा वासकोडीण ॥ इति- ७०५६०००००००००० ।

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

किमर्थमिदमुच्यते नन् पुरस्ताद्भरतस्य विष्कम्भो व्याख्यात ?

पुनर्भरतविष्कम्भवचनं प्रकारान्तरप्रतिपत्त्यर्थम् ।१। पुनर्भरतविष्कम्भ उच्यते प्रकारान्तरेण प्रतिपत्ति कथ स्यादिति। भरतविष्कम्भप्रमाणै खण्डै छिद्यमानो जम्बूद्वीप नवत्युत्तरेण खण्डशतेन परिच्छिद्यत इत्यर्थ । ५

उत्तराभिसम्बन्धार्थं वा ।२। अथवा, उत्तरत्र वक्ष्यते–#"**द्विर्धात'की खण्डे। पुष्करार्धे च**" [त० सू० ३।३३-३४] इति, तदभिसबन्धार्थ पुनर्वचन क्रियते ।

तलमूलयोर्दशयोजनसहस्रविस्तारो लवणोदः ।३। समे भूमितले द्वियोजनशतसहस्रविष्कम्भ इत्युक्त पुरस्तात् । तस्य गोतीर्थवदुभयतोऽध[२] क्रमेण हान्या मूले दशयोजनसहस्रविस्तारः तावद्विष्कम्भजलतल[३] योजनसहस्रावगाह. समाद् भूमितलादूर्ध्व षोडशयोजनसहस्रजलोत्सेध यवराशिरिवोच्छ्रितजल मृदङ्गसस्थानो लवणोदो वेदितव्य । १०

तन्मध्ये दिक्षु महापातालानि योजनशतसहस्रावगाहानि ।४। तस्य लवणोदस्य मध्ये चतसृषु दिक्षु रत्नवेदिकाया पञ्चनवतियोजनसहस्राणि तिर्यगतीत्य क्षितिविवराणि वज्रमयतलपार्श्वानि, [४]अलिञ्जरसंस्थानानि प्रत्येकमेकयोजनशतसहस्रावगाहानि तावन्मध्यविष्कम्भाणि तलमूलयोर्दशयोजनसहस्रविस्ताराणि महापातालानि वेदितव्यानि चत्वारि–पाताल- १५
बडवामुख-यूपकेसर-कलम्बुकसज्ञानि । तत्र प्राच्या दिशि पातालम्, प्रतीच्या बडवामुखम्, उदीच्या यूपकेसरम्, अपाच्या कलम्बुकम् । [५]तेषामेकैकस्त्रिभागस्त्रयस्त्रिशत्सहस्राणि योजनाना त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिशानि योजनत्रिभागश्च साधिक । तेषामधस्त्रिभागे वातस्तिष्ठति । मध्यत्रिभागे वायुतोये । उपरित्रिभागे तोयम् । रत्नप्रभाखरपृथ्वीभागसन्निवेशिभवनालयवातकुमारतद्वनिताक्रीडाजनिताऽनिलसक्षोभकृतपातालोन्मीलननिमीलनहेतुकौ वायुतोयनिष्क्रम- २०
प्रवेशौ भवत । तत्कृता दशयोजनसहस्रविस्तारमुखजलस्योपरि पञ्चाशद्योजनावधृता जलवृद्धि । तत उभयत आरत्नवेदिकाया सर्वत्र द्विगव्यूतप्रमाणा जलवृद्धि । पातालोन्मीलनवेगोपशमेन हानिः । पातालाना चतुर्णामप्यन्तराणि प्रत्येक द्वे शतसहस्रे सप्तविंशतिसहस्राणि सप्ततिशत च योजनाना त्रीणि च गव्यूतानि साधिकानि ।

विदिक्षु क्षुद्रपातानि दशयोजनसहस्रावगाहानि ।५। तन्मध्ये चतसृषु विदिक्षु चत्वारि २५
क्षुद्रपातालानि दशयोजनसहस्रावगाहानि तावन्मध्यविष्कम्भाणि मुखमूलयोर्योजनसहस्रविस्ताराणि वेदितव्यानि । तेषामेकैकस्त्रिभागस्त्रीणि सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिशानि योजनाना योजनत्रिभागश्च साधिक । अधस्त्रिभागे वात, मध्यत्रिभागे वायुतोये, उपरि त्रिभागे तोयम् ।

तदन्तरेषु क्षुद्रपातालानां योजनसहस्रावगाहानां सहस्रम् ।६। तेषां दिग्विदिग्विभागानां ३०
पातालानाम् अन्तरेष्वष्टास्वपि योजनसहस्रावगाहाना तावन्मध्यविष्कम्भाणा मुखमूलयोस्तदर्धविस्ताराणा क्षुद्रपातालाना सहस्र प्रत्येतव्यम् । तेषा त्रिभागा पूर्ववद्वेदितव्याः। तत्रैकैकस्मिन्नन्तरे क्षुद्रपातालाना मुक्तावलीवदवस्थितानां शत पञ्चविंशमन्यान्यपि पातालानि सन्ति । अन्तरालेषु सप्तसहस्राण्यष्टौ शतान्यशीतिश्च पातालसमुदाय. ।

१–कीर्षण्डे ता०, श्र०, मू० । २ –दः क– द०, श्र०, ता० । ब. क– मू० । ३ उपरितलः । ४ अजनस–ग्रा०, ब०, द०, मु० । 'मणिकोऽलिञ्जर.' इति हैमः, मणिसस्थानानि इति यावत्– सम्पा० । ५ तेषामेकस्त्रि– ता०, श्र०, मू० ।

दिक्षु वेलन्धरनागाधिपतिनगराणि चत्वारि ।७। रत्नवेदिकायास्तिर्यग्द्वाचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि गत्वा चतसृषु दिक्षु द्वाचत्वारिंशद्योजनसहस्रायामविष्कम्भाणि चत्वारि वेलन्धरनागाधिपतिनगराणि भवन्ति । तेषु वेलन्धरनागाधिपतय. पल्योपमायुषो दशकार्मुकोत्सेधा प्रत्येक चतसृभिरग्रमहिषीभिः परिवृता वेलन्धरनागाश्च निवसन्ति । तत्र द्वाचत्वारिंशन्नागसहस्राणि लवणोदाभ्यन्तरवेला धारयन्ति । द्वासप्ततिर्नागसहस्राणि [1]बाह्यवेला धारयन्ति । अष्टाविंशतिर्नागसहस्राणि अग्रोदकं धारयन्ति। तान्येतानि समुदितान्येक शतसहस्र द्वाचत्वारिंशच्च सहस्राणि ।

द्वादशयोजनसहस्रायामविष्कम्भो गौतमद्वीपश्च ।८। रत्नवेदिकायास्तिर्यग्द्वादशयोजनसहस्राणि गत्वा द्वादशयोजनसहस्रायामविष्कम्भो गौतमस्य समुद्राधिपतेर्द्वीपश्च तत्र भवति ।

रत्नवेदिकायास्तिर्यक्पञ्चनवतिप्रदेशेषु गतेषु [2]एक प्रदेशावगाहः, पञ्चनवतिहस्तेषु गतेष्वेकहस्तावगाह, पञ्चनवतियोजनेषु गतेष्वेकयोजनावगाह, पञ्चनवतियोजनशतेषु गतेष्वेकयोजनशतावगाह, पञ्चनवतियोजनसहस्रेषु गतेष्वेकयोजनसहस्रावगाह । लवणोदस्यान्ते यथा वेला[3] तथा बहिरपि, विजयादीनि द्वाराणि चात्र । लवणोदस्यैव वेला नान्योदधीना तत्रैव च पातालानि नान्यत्र । सर्वे च लवणोदादय स्वयम्भूरमणपर्यन्ता एकयोजनसहस्रावगाहा । द्वीपोदधिपर्यन्ते चोभे वेदिके । या द्वीपान्ते ता द्वीपाना याः समुद्रान्ते ता समुद्राणाम् । लवणोद उच्छ्रितसलिल, शेषा [4]प्रस्तारजला । भिन्नरसाश्चत्वार, त्रय उदकरसा, शेषा इक्षुरसा सागरा । लवणोदो लवणरसजल ।[5] वारुण्युदो वारुणीरसजल । क्षीरोद क्षीररसजल । घृतोदो घृतरसजल । कालोदपुष्करोदस्वयम्भूरमणोदा उदकरसा । लवणोदकालोदस्वयम्भूरमणोदा मत्स्यकूर्मादिजलचरावासा नेतरे । लवणोदे नदीमुखे नवयोजनशरीरा मत्स्या, सागराभ्यन्तरेऽष्टादशयोजनशरीरा । कालोदे नदीमुखेऽष्टादशयोजनशरीरा मत्स्या, सागराभ्यन्तरे षट्त्रिंशद्योजनशरीरा । स्वयम्भूरमणोदे नदीमुखे पञ्चशतयोजनशरीरा मत्स्या, सागराभ्यन्तरे एकयोजनसहस्रशरीरा मत्स्या. ।

योऽय वर्षवर्षधरह्रदपुष्करादीना सख्याविष्कम्भादिविधिरुक्तो जम्बूद्वीपे, तद्द्विगुणो धातकीषण्ड इति प्रतिपादयितुमिच्छन्नाह–

द्विर्धातकीषण्डे[6] ॥३३॥

द्रव्याभ्या[7]वृत्तौ सुजभाव इति चेत्, न, क्रियाध्याहाराद् द्विस्तावानिति यथा ।१। स्यान्मतम्–भरतादीनि द्रव्याणि अत्राभ्यावर्तन्ते न तु क्रिया 'तस्मान्नास्ति सुजिति ? तन्न, कि कारणम् ? क्रियाध्याहारात्। यथा 'द्विस्तावानय प्रासाद इति 'मीयते' इत्येवमाद्यध्याह्रियमाणक्रियापेक्षया सुजुत्पत्ति, एवमिहापि धातकीषण्डे भरतादयो 'द्वि सख्यायन्ते' इत्येव सामर्थ्यप्रापितक्रियापेक्षया सुज्वेदितव्य । तच्च सख्यानं द्विधा–स्वरूपभेदेन विष्कम्भादिभेदेन च । तत्र स्वरूपसख्यान द्वौ भरतौ द्वौ हिमवन्तावित्येवमादि । विष्कम्भादिसख्यान जम्बूद्वीपे हिमवदादीना वर्षधराणा यो विष्कम्भ तद्द्विगुणो धातकीषण्डे हिमवदादीनामिति ।

---

१ बाह्या वेला आ०, ब०, द०, मु०, ता०, । २ एकप्रदेशा– आ०, ब० मु० । ३ वेला कालविशेषः स्यात वेला सिन्धुजलोच्छ्रितिः । ४ प्रसारजलाः आ०, ब०, द०, मु० । ५ वारुणोदः ता०, आ०, मु० । ६–खण्डे आ०, ब०, द०, मु० । ७ पौन.पुन्यम्– ता० टि० । ८ ततो न सु– ता०, आ०, ब०, द०, मु० । ९ द्वौ वारौ तावान् ।

अथ धातकीषण्डे भरतस्य को विष्कम्भ ? उच्यते–

षट्षष्टिशतानि चतुर्दशानि योजनानां धातकीषण्डभरताभ्यन्तरविष्कम्भ एकान्नत्रिंशच्च भागशतम् ।२। षट्सहस्राणि षट्शतानि चतुर्दशोत्तराणि योजनाना योजनस्य द्वादशद्विशतभागा एकान्नत्रिंशच्च भागशत धातकीषण्डभरताभ्यन्तरविष्कम्भ ।

सैकाशीतिपञ्चशताधिकद्वादशसहस्राणि मध्यविष्कम्भः षट्त्रिंशच्च भागाः ।३। द्वादशसहस्राणि योजनाना पञ्चशतान्येकाशीत्युत्तराणि षट्त्रिंशच्च भागा धातकीषण्डभरतमध्यविष्कम्भ. । ५

सप्तचत्वारिंशत्पञ्चशताष्टादशसहस्राणि बाह्यविष्कम्भः पञ्चपञ्चाशच्च भागशतम् ।४। अष्टादशसहस्राणि योजनाना पञ्चशतानि सप्तचत्वारिंशानि पञ्चपञ्चाशच्च भागशत बाह्यभरतविष्कम्भ । १०

वर्षाद्विर्षश्चतुर्गुणविस्तार आ विदेहात् ।५। वर्षाद्विर्षश्चतुर्गुणविस्तार आ विदेहाद् द्रष्टव्य । भरताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हैमवत[1] । हैमवताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हरिवर्ष । हरिवर्षाच्चतुर्गुणविष्कम्भो विदेह इति । तथा च भरततुल्यविस्तार ऐरावत । ऐरावताच्चतुर्गुणविस्तारो हैरण्यवत । हैरण्यवताच्चतुर्गुणविस्तारो रम्यक । धातकीषण्डवलयविष्कम्भश्चत्वारि योजनशतसहस्राणि । तत्परिधिरेकचत्वारिंशद्योजनशतसहस्राणि दशसहस्राणि नव योजनशतानि १५ विशेषोनैकषष्टयुत्तराणि एक शतसहस्र अष्टसप्ततिसहस्राणि अष्टौ शतानि च द्वाचत्वारिंशानि योजनानि धातकीषण्डे वर्षधररुद्धक्षेत्रम् । तत्परिधिमपनीयावशिष्ट द्वादशद्विशतभागहृत लब्धम्, भरतविष्कम्भ उक्त ।

वर्षाणा वर्षधराणा सरिता वृत्तवेदाढ्याना ह्रदानामन्येषा च [2]तान्येव नामानि । वर्षधरा हिमवदादय उक्तोत्सेधावगाहा द्विगुणविस्तारा । चत्वारोऽपि वृत्तवेदाढ्या उक्तोच्छ्रायावगाहसमा द्वियोजनसहस्रविस्तारा । यमकाद्री च व्याख्यातोत्सेधावगाहौ द्वियोजनसहस्रमूलविस्तारौ पञ्चदशयोजनशतमध्यविष्कम्भौ उपर्येकयोजनसहस्रविस्तारौ । काञ्चनाद्रयश्च व्याख्यातोच्छ्रायावगाहा द्विगुणविस्तारा । ह्रदाश्च पद्मादय. षडपि द्विगुणायामविष्कम्भावगाहा. । द्वीपा. पद्मानि च द्विगुणायामविष्कम्भावगाहानि । २०

भरतैरावतविभाजिनाविष्वाकारगिरी ।६। उदगपाक् भरतैरावतयोर्विभागहेतू कालोदलवणोदस्पर्शिनौ योजनशतावगाहौ चतुर्योजनशतोत्सेधौ अध उपरि चैकयोजनसहस्रविस्तारौ काञ्चनपरिणामौ इष्वाकारगिरी भवत । २५

तत्र धातकीषण्डे द्वौ मेरू पूर्वापरौ योजनसहस्रावगाहौ पञ्चनवतियोजनशतमूलविष्कम्भौ धरणीतले चतुर्नवतियोजनशतविस्तारौ चतुरशीतियोजनसहस्रोत्सेधौ योजनसहस्रविस्तारतलौ पूर्वोक्तप्रमाण[3]चूलिकौ । समाद् भूमितलात् पञ्चयोजनशतान्युत्प्लुत्य नन्दनवन भवति पञ्चयोजनशतविस्तारम् । पञ्चपञ्चाशद्योजनशताधिकपञ्चाशद्योजनसहस्राणि ३०

---

१ अष्टपञ्चाशदधिकचतुःशतोपेतानि षड्विंशतियोजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं द्वानवतिभागा योजनस्य हैमवतोऽभ्यन्तरविष्कम्भः । चतुर्विंशत्यधिकशतत्रयोपेतानि पञ्चाशद्योजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं चतुश्चत्वारिंशदधिकं भागशतं च योजनस्य मध्यविष्कम्भः । नवत्यधिकशतोपेतानि चतुःसप्ततियोजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं षण्णवत्यधिकं भागशतं च हैमवतो बाह्यविष्कम्भः ।

२ –वावगाहादीनि आ०, ब०, द०, मु० । ३ –भूतलिकौ आ०, ब०, द०, मु० ।

तत उत्प्लुत्य सौमनस नाम वन पञ्चशतयोजनविष्कम्भ भवति। ततोऽष्टाविंशतियोजनसहस्राण्युत्प्लुत्य[1] पाण्डुकवन भवति। तयोर्दशसु प्रदेशेष्वेकप्रदेशवृद्धि[2]।

जम्बूद्वीपे यत्र जम्बूवृक्ष तत्र धातकीषण्डे धातकीवृक्ष। परिवाराश्च पूर्वोक्तवर्णनाः। तन्निवासी द्वीपाधिपतिस्तत एव द्वीपस्य धातकीषण्ड इति नाम वेदितव्यम्। तत्र चक्रारान्तरसस्थाना वर्षा वर्षधराश्च चक्राराकारा उभयजलधिस्पर्शिन। तत्परिक्षेपिकालोदसमुद्र टङ्कच्छिन्नतीर्थ अष्टयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भ एकनवतिशतसहस्राणि सप्ततिश्च सहस्राणि साधिकपञ्चोत्तराणि षट्शतानि योजनाना तत्परिधि।

कालोदपरिक्षेपिपुष्करद्वीप षोडशयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भ। तत्र द्वीपाम्भोनिधिद्विगुणपरिक्षेपित्वत् धातकीषण्डवर्षादिद्विगुणविधि[3]प्रसङ्गे विशेषावधारणार्थमाह—

पुष्करार्धे च ॥३४॥

चशब्द किमर्थ ?

संख्याभ्यावृत्त्यनुवर्तनार्थश्चशब्दः।१। द्विरित्येतस्या सख्याभ्यावृत्तेरनुवर्त्तनार्थश्चशब्द क्रियते, पुष्करार्धे च द्विर्भरतादयः संख्यायन्त इति। किं जम्बूद्वीपभरतादिसख्या द्विरावर्त्यत इत्यभिसबध्यते आहोस्वित् धातकीषण्डभरतादि[4]सख्येति ? 'जम्बूद्वीपभरतादिसख्यैव सबध्यते। अनन्तरा कस्मान्नाभिसबध्यत [5]इति ? इच्छातो विशेषसम्बन्ध इति। अतश्चैतदेव [6]धातकीषण्डे हिमवदादीनामपि विष्कम्भ, पुष्करार्धे च हिमवदादीना द्विगुण इष्यत इति। नामानि च तान्येव वेदितव्यानि। अथ भरतस्य को विष्कम्भ ?

एकान्नाशीत्युत्तरपञ्चशताधिकैकचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि भरताभ्यन्तरविष्कम्भः सत्रिसप्ततिभागशतं च।२। एकचत्वारिंशत्सहस्राणि पञ्चशतान्येकान्नाशीत्युत्तराणि योजनाना त्रिसप्तत्युत्तरभागशत च भरताभ्यन्तरविष्कम्भो वेदितव्य।

द्वादशपञ्चशतोत्तरत्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि मध्यविष्कम्भो नवनवत्यधिकं च भागशतम्।३। त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि योजनाना पञ्चशतानि द्वादशानि नवनवत्यधिक च भागशत मध्यभरतविष्कम्भ।

द्वाचत्वारिंशच्चतुःशतोत्तरपञ्चषष्टिसहस्राणि बाह्यविष्कम्भस्त्रयोदश च भागाः।४। पञ्चषष्टिसहस्राणि योजनाना चत्वारि शतानि द्वाचत्वारिशानि त्रयोदशभागा बाह्यभरतविष्कम्भ।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आ विदेहात्।५। वर्षात् वर्ष चतुर्गुणविस्तार आविदेहात् द्रष्टव्य। भरताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हैमवत, हैमवताच्चतुर्गुणविष्कम्भो हरिवर्ष[7], हरिवर्षाच्चतुर्गुणविष्कम्भो विदेह इति। तथा भरततुल्यविस्तार ऐरावतः, ऐरावताच्चतुर्गुणविस्तारो हैरण्यवतः, हैरण्यवताच्चतुर्गुणविस्तारो रम्यक इति। एककोटिद्वाचत्वारिशच्छतसहस्राणि [8]त्रिशत्सहस्राणि[9] द्वे च शते योजनाना सविशे[10]षा चैकान्नपञ्चाशत् पुष्करार्धान्त परिधि। त्रीणि शतसहस्राणि

---

१ —त्पत्य श्र०, मू०। २ —विधिप्रमाणवि— आ०, ब०, द०, मु०। ३ —विकसं— आ०, ब०, द०, मु०। ४ चेत्। ५ यथा धातकीषण्डे जम्बूद्वीपभरतादयो द्विगुणसंख्या व्याख्याताः तथा पुष्करार्धे च जम्बूद्वीपस्यैव भरतादयो द्विगुणसख्या व्याख्यायन्ते न धातकीषण्डस्येत्यर्थः। ६ द्वे शते आ०, ब०, द०, मु०, ता०। ७ —षं चै— आ०, ब०, द०, मु०।

पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि षट्शतानि चतुरशीतिश्च योजनानि पुष्करार्धे पर्वतरुद्धक्षे[1]त्रम्, परिधेरपनीयाऽवशिष्ट द्वादशद्विशतभागहृतलब्ध भरतविष्कभ्भ उक्त[2]। वर्षधरविजयार्धवृत्त-वेदाढ्यादय जम्बूद्वीपवर्णनाया विहितोत्सेधावगाहा.[3] धातकीषण्डविहितद्विगुणविस्तारा[4] पुष्करार्धे च वेदितव्या। इष्वाकारौ मन्दरौ च तावत्परिमाणावेव। यत्र जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्कर सपरिवार वेदितव्यम्। तन्निवासी द्वीपाधिपति[5], तत [6]एव तस्य दीपस्य नाम रूढ पुष्करद्वीप इति। अथ कथ पुष्करार्धसज्ञा ? ५

मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंज्ञा।६। पुष्करद्वीपस्य बहुमध्यदेशभावी वलय-वृत्तो मानुषोत्तर[7]नामशैल, तेन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसज्ञा वेदितव्या। सप्तदशयोजनशता-न्येकविशान्यस्योच्छ्राय। चत्वारि योजनशतानि त्रिशानि सक्रोशान्यवगाह, द्वाविश योजनसहस्रं मूलविस्तार। सप्तयोजनशतानि त्रयोविशानि मध्यविस्तार। चतुर्विशानि चत्वारि योजनशता- १०
न्युपरि विस्तार। सोऽयमभ्यन्तरमुखनिषण्णसिहाकृतिरर्धयवराश्युपमान मानुषोत्तराद्रिः। तस्योपरि चतसृषु दिक्षु पञ्चाशद्योजनायामतदर्धविस्तारसार्धयोजनसप्तत्रिशद्योजनोत्से-धानि अष्टयोजनोत्सेधतदर्धविष्कम्भतावत्प्रवेशद्वाराणि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि चत्वार्यर्हदा-यतनानि प्रागादिषु दिक्षु प्रदक्षिणा[8]वृतानि। वैडूर्य-अश्मगर्भ-सौगन्धिक-रुचक-लोहिताक्ष-अञ्ज-नक[9]-अञ्जनमूल-कनक-रजत-स्फटिक-अङ्क-प्रवाल-वज्र-तपनीयकूटसज्ञानि चतुर्दशकूटानि १५
पञ्चयोजनशतोच्छ्रायाणि पञ्चयोजनशतमूलविष्कम्भाणि पञ्चसप्तत्युत्तरत्रियोजनशतमध्यवि-ष्कम्भाणि अर्धतृतीययोजनशतोपरिविष्कम्भाणि। तत्र चतसृषु दिक्षु त्रीणि त्रीणि कूटानि पूर्वोत्तरस्या दिश्येक कूट पूर्वदक्षिणस्या दिश्येकम्। तेषु यशस्वदादय पल्योपमस्थितय सुपर्णकु-माराणा राजानो निवसन्ति। प्राच्या दिशि वैडूर्ये यशस्वान्, अश्मगर्भे यशष्कान्त, सौगन्धिके यशोधर। अपाच्या रुचके नन्दन, लोहिताक्षे नन्दोत्तर, अञ्जनकेऽशनिघोष। प्रतीच्यामञ्ज- २०
नमूले सिद्धार्थ, कनके क्रमण, रजते मानुष। उदीच्या स्फटिके सुदर्शन, अङ्केऽमोघ, प्रवाले सुप्रबुद्ध। पूर्वोत्तरस्या वज्रे हनुमान्। पूर्वदक्षिणस्या तपनीये स्वाति। चतसृषु विदिक्षु पुनरिमानि चत्वारि कूटानि रत्न-सर्वरत्न-वैलम्ब-प्रभञ्जननामानि पूर्वकूटपरिमाणानि। निषधाद्रिस्पृष्टभागे पूर्वदक्षिणस्या रत्ने पन्नगेन्द्रो वेणुदेव। नीलाद्रिस्पृष्टभागे पूर्वोत्तरस्यां सर्वरत्ने सुपर्णेन्द्रो वेणुतालि। निषधाद्रिस्पृष्टभागेऽपरदक्षिणस्या वैलम्बकूटे वातेन्द्रो वैलम्ब। २५
नीलाद्रिस्पृष्टभागेऽपरोत्तरस्या प्रभञ्जनकूटे वातेन्द्र प्रभञ्जनो निवसति।

अत्राह—किमर्थ जम्बूद्वीपधराधरादिसख्या द्विरावृत्ता पुष्करार्धे कथ्यते, न पुन कृत्स्न एव पुष्करद्वीपे इति ? अत्रोच्यते—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

यस्मात् प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्या न बहि, ततो न बहि पूर्वोक्तक्षेत्रविभागोऽस्ति। ३०
अथवा, उक्तमिन्द्रियविकल्पाधिकारे *"**कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि**" [त० सू० २। २३] इति ; तत्र न ज्ञायते क्व मनुष्या इति ? अतस्तदधिकरणविशेष-

---

१—द्धक्षेत्रमपनी— आ०, ब०, द०, मु०। २—हाः विहि— आ०, ब०, द०, मु०। ३ एवास्य द्वी— आ०, ब०, द०, मु०। ४—रको नाम— मू०, श्र०। ५—णावृतानि मू०, श्र०। ६—नकाञ्चनमूल— ता०, श्र०, मू०।

प्रतिपत्त्यर्थमुच्यते—जम्बूद्वीपादारभ्य प्राङ् मानुषोत्तरात् मनुष्या न बहिरिति । व्याख्यातो मानुषोत्तरादि । नास्मादुत्तर कदाचिदपि विद्याधरा ऋद्धिप्राप्ता अपि मानुषा गच्छन्ति अन्यत्रोपपादसमुद्घाताभ्याम्, ततोऽस्याऽन्वर्थसज्ञा ।

एव द्विगुणद्विगुणवलयविष्कम्भेषु द्वीपसमुद्रेषु गतेष्वष्टमो नन्दीश्वरो द्वीप. । तस्य वलय-विष्कम्भ कोटिशत त्रिषष्टिकोटय. चतुरशीतिश्च योजनशतसहस्राणि । तत्परिधिः द्वे कोटि-सहस्रे द्विसप्ततिकोटय. त्रयस्त्रिशच्छतसहस्राणि चतु पञ्चाशत्सहस्राण्येकशत नवतियोजनानि गव्यूत च साधिकम् । तद्बहुमध्यदेशभाविनश्चतसृषु दिक्षु चत्वारोऽञ्जनगिरय योजन-सहस्रावगाहाश्चतुरशीतियोजनसहस्रोत्सेधा मूलमध्याग्रेषूत्सेधसमायामविष्कम्भा पटहा-कारा । तेषा चतसृषु दिक्षु तिर्यगेकं योजनशतसहस्रमतीत्य प्रत्येक चतस्रो वाप्यो भवन्ति । तत्र पौरस्त्याञ्जनगिरे नन्दा-नन्दवती-नन्दोत्तरा-नन्दिघोषासज्ञा योजन-सहस्रावगाहा[1] योजनशतसहस्रायामविष्कम्भाश्चतुष्कोणा मत्स्यकच्छपादिजलचरविरहिता. पद्मोत्पलादिजलरुहकुसुमसञ्छादितस्फटिकमणिस्वच्छगम्भीरनीरा । प्राच्या दिशि नन्दा शक्रस्य, अपाच्या नन्दावती ऐशानस्य, प्रतीच्या नन्दोत्तरा चमरस्य, उदीच्या नन्दिघोषा वैरोचनस्य । दाक्षिणात्याञ्जनगिरेर्विजया वैजयन्ती जयन्ती अपराजिता चेति चतस्रो वाप्य पूर्वोक्तप्रमाणवर्णनाः शक्रलोकपालानाम् । प्राच्या दिशि विजया वरुणस्य, अपाच्या वैजयन्ती यमस्य, प्रतीच्या जयन्ती सोमस्य, उदीच्यामपराजिता वैश्रवणस्य । पाश्चात्याञ्जन-गिरेरशोका सुप्रबुद्धा कुमुदा पुण्डरीकिणी चेति चतस्रो वाप्य पूर्वोक्तप्रमाणवर्णना. । पूर्वस्या दिशि अशोका वेणुदेवस्य, दक्षिणस्या [2]सुप्रबुद्धा वेणुता[3]ले, अपरस्या कुमुदा वरुणस्य, उत्तरस्या पुण्डरीकिणी भूतानन्दस्य । उदीच्याञ्जनगिरे प्रभङ्करा सुमना आनन्दा सुदर्शना चेति चतस्रो वाप्य पूर्वोक्तप्रमावर्णना ऐशानलोकपालानाम् । प्राच्या दिशि प्रभङ्करा वरुणस्य, अपाच्या सुमना यमस्य, प्रतीच्याम्[4] आनन्दा सोमस्य, उदीच्या सुदर्शना वैश्रवणस्य । षोडशानामप्यासामभ्यन्तरान्तराणि पञ्चषष्टिसहस्राणि योजनाना पञ्चशतानि पञ्चचत्वारिशानि । मध्यान्तराणि एक शतसहस्र योजनाना चत्वारिशत्सहस्राणि [5]षट् च शतानि द्वियोजनोत्तराणि । बाह्यान्तराणि द्वे शतसहस्रे योजनाना त्रयोविशतिसहस्राणि षट् च शतान्येकषष्टयुत्तराणि। षोडशानामपि तासा मध्येषु सहस्रावगाहा मूलमध्याग्रेषु दशयोजनसहस्रायामविष्कम्भा तावदुत्सेधाः पटहाकारा जाम्बूनदमया, अर्जुनसुवर्णशिखर-त्वाद् दधिमुखा इति [6]कृत्वा अन्वर्थसज्ञा. षोडश नगवरा । परितस्ता वापीः चत्वारि वनानि प्रत्येकमशोक-सप्तपर्ण-चम्पक-चूतनामानि वापीसमायामानि तदर्धविष्कम्भाणि ।

पूर्वेणाऽशोकवन दक्षिणतः सप्तपर्णवनमाहु ।
अपरेण चम्पकवनमुत्तरतश्चूतवृक्षवनम् ॥१॥

एतद्वापीकोणसमीपस्था प्रत्येकं चत्वारो नगा रतिकराख्या अर्धतृतीययोजनशता-वगाहा एकयोजनसहस्रोत्सेधा मूलमध्याग्रेषु तावदायामविष्कम्भा. पटहाकाराः काञ्चन-मणिपरिणामा. । सर्वे ते समुदिताश्चतु षष्टि. । तत्र ये अभ्यन्तरकोणस्था द्वात्रिशन्नगा देवानामाक्रीडनस्थानैरलङ्कृताः। ये बाह्यकोणस्था. द्वात्रिशद्रतिकरा अञ्जनाद्रयो दधिमुखाश्च

१—हाः चतुरशीतियोजनसहस्रावगाहाः भा० २ । २—सुप्रसिद्धा आ०, दि० । ३—तालस्य आ०, ब०, द०, मु० । ४—च्या नन्दा श्र० । ५ षट्शतानि आ०, ब०, द०, मु० । ६ कृत्वान्वर्थ—आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

तेषां द्विपञ्चाशदुपरि बहुमध्यदेशभावीनि प्राङ्मुखानि योजनशतायामतदर्धविष्कम्भाणि पञ्चसप्ततियोजनोत्सेधानि अष्टयोजनोत्सेधतदर्धविस्तारतावत्प्रवेशपूर्वोत्तरदक्षिणद्वाराणि द्विपञ्चाशदर्हदायतनानि अर्हदायतनवर्णनोपेतानि चातुर्मासिकमहामहिमार्हाणि। पूर्वोक्तचतुषष्टिवनषण्डबहुमध्यदेशभाविनो द्विषष्टियोजनोत्सेधा एकत्रिंशद्योजनायामविष्कम्भा अष्टयोजनोत्सेधतदर्धविस्तारद्वाराश्चतुषष्टिरेव प्रासादा। एतेष्वशोकवनावतसकादय[1] पल्यो- ५
पमायुष दशकार्मुकोत्सेधा. [2]स्वभवननामानो देवा [3]निवसन्ति।

एवं द्विगुणवलयविष्कम्भेषु द्वीपसमुद्रेषु गतेष्वेकादशम कुण्डलवरद्वीप। तद् बहुमध्यदेशभाविवलयाकार सपूर्णयवराश्युपमान कुण्डलनग योजनसहस्रावगाह द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रोत्सेध [4]द्वाविंशदशसहस्रयोजनमूलविस्तार त्रयोविंशसप्तसहस्रयोजनमध्यविस्तार चतुर्विंशचतुर्योजनसहस्राग्रविस्तार। तस्योपरि पूर्वादिदिग्विभावीनि वज्र-वज्रप्रभ-कनक- १०
कनकप्रभ - रजत-रजतप्रभ-सुप्रभ-महाप्रभ-अङ्क-अङ्कप्रभ-मणि - मणिप्रभ-स्फटिक-स्फटिकप्रभ-हिमवत्-महेन्द्रकूटसज्ञानि षोडश कूटानि मानुषोत्तरकूटतुल्यप्रमाणानि एकैकस्या दिशि चत्वारि चत्वार्यवसेयानि। पूर्वस्या दिशि वज्रे त्रिशिरा, वज्रप्रभे पञ्चशिरा, कनके महाशिरा, कनकप्रभे महाभुज। अपाच्या रजते पद्म, रजतप्रभे पद्मोत्तर, सुप्रभे महापद्म, महाप्रभे वासुकि। अपरस्यामङ्के स्थिरहृदय, अङ्कप्रभे महाहृदय, मणिकूटे १५
श्रीवृक्ष, मणिप्रभे स्वस्तिकः। उदीच्या स्फटिके सुन्दर, स्फटिकप्रभे विशालाक्ष, हिमवति पाण्डुर, महेन्द्रे पाण्डुक। एते त्रिशिर प्रभृतय पाण्डुकान्ता षोडशापि नागेन्द्रा पल्योपमायुष। पूर्वापरयोर्दिशो कुण्डलनगे एकयोजनसहस्रोत्सेधे तावन्मूलविष्कम्भे अर्धाष्टमशतमध्यविष्कम्भे पञ्चशताग्रविष्कम्भे कुण्डलवरद्वीपाधिपतेरावासौ द्वे कूटे। तस्यैवोपरि [5]पूर्वादिषु दिक्षु चत्वार्यर्हदायतनानि अञ्जनाद्रिजिनायतनतुल्यप्रमाणानि। २०

कुण्डलवरद्वीपद्विगुणवलयविष्कम्भ कुण्डलवरोद, तद्द्विगुणवलयविष्कम्भ शङ्खवरद्वीप, तद्द्विगुणवलयविष्कम्भ शङ्खवरोद तद्द्विगुणवलयविष्कम्भ रुचकवरद्वीप। तद्बहुमध्यदेशभावी वलयाकार रुचकवरनग एकयोजनसहस्रावगाहश्चतुरशीतियोजनसहस्रोत्सेध, मूलमध्याग्रेषु द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रविस्तार। तस्योपरि पूर्वादिषु दिक्षु चत्वारि कूटानि नन्द्यावर्त[6]-स्वस्तिक-श्रीवृक्ष-वर्धमानसज्ञानि पञ्चयोजनशतोत्सेधानि मूलमध्याग्रेषु २५
योजनसहस्रायामविष्कम्भाणि। प्राच्या दिशि नन्द्यावर्ते पद्मोत्तर, अपाच्या स्वस्तिके सुहस्ती, प्रतीच्या श्रीवृक्षे नील, उदीच्या वर्धमानेऽञ्जनगिरि। त एते पद्मोत्तरादय चत्वारो दिग्गजेन्द्रा पल्योपमायुष। तस्यैवोपरि पूर्वस्या दिशि वैडूर्य-काञ्चन-कनक-अरिष्ट-दिक्स्वस्तिक-नन्दन-अञ्जन-अञ्जनमूलकनामान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्यप्रमाणानि। वैडूर्ये विजया, काञ्चने वैजयन्ती, कनके जयन्ती, अरिष्टेऽपराजिता, दिक्स्वस्तिके ३०
नन्दा, नन्दने नन्दोत्तरा, अञ्जने आनन्दा, अञ्जनमूलके नान्दी[7]वर्धना। एता दिक्कुमार्य तीर्थकरजन्मकाले इहाऽऽगत्याऽर्हन्मातृसमीपे भृङ्गारान् गृहीत्वाऽवतिष्ठन्ते। दक्षिणस्याममोघ-सुप्रबुद्ध-मन्दिर-विमल-रुचक-रुचको[8]त्तर-चन्द्र-सुप्रतिष्ठसज्ञान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्य-

---

१ सप्तपर्णवनावतंसकेत्यादि योज्यम्। २ स्वस्ववना– आ०, ब०, द०, मु०। ३ वसन्ति श्र०। ४ द्वात्रिंशत् भा० २। ५ पूर्वादिदिक्षु आ०, ब० द०. मु०। ६ –र्तक स्व– आ०, द०, मु०, श्र०, मू०। ७ –वर्धमाना श्र०, ता०। ८ –त्तमच– श्र०, म०।

प्रमाणानि । अमोघे सुस्थिता, सुप्रबुद्धे सुप्रणिधि, मन्दिरे सुप्रबुद्धा, विमले यशोधरा, रुचके लक्ष्मीमती, रुचकोत्तरे कीर्तिमती. चन्द्रे वसुन्धरा, सुप्रतिष्ठे चित्रा । एता दिक्कुमार्यः इहाऽऽगत्याऽर्हन्मातृसमीपे आदर्शधारिण्योऽवतिष्ठन्ते । अपरस्या लोहिताक्ष-जगत्कुसुम-पद्म-नलिन-कुमुद-सौमनस-यशोभद्राख्यान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्यप्रमाणानि । लोहिताक्षे इलादेवी, जगत्कुसुमे सुरादेवी, पद्मे पृथिवी, नलिने पद्मावती, कुमुदे कानना, सौमनसे [1]नवमिका, यशसि यशस्विनी, भद्रकूटे भद्रा। एता दिक्कुमार्य इहाऽऽगत्याऽर्हन्मातृसमीपे छत्राणि धारयन्त्यो गायन्त्य आसते । उदीच्या स्फटिक-अङ्क-अञ्जन-काञ्चन-रजत-कुण्डल-रुचिर-सुदर्शनसंज्ञान्यष्टौ कूटानि पूर्वोक्तकूटतुल्यप्रमाणानि। स्फटिकेऽलभूषा, अङ्के मिश्रकेशी,[2] अञ्जने पुण्डरीकिणी, काञ्चने वारुणी, रजत आशा, कुण्डले ह्री, [3]रुचिरे श्री, सुदर्शने धृतिरिति । एता दिक्कुमार्य प्रगृहीतचामरा अर्हन्मातृ सेवन्ते । पूर्वादिषु दिक्षु पुनरपराणि चत्वारि कूटानि-विमल-नित्यालोक-स्वयप्रभ-नित्योद्योतसज्ञानि । पूर्वस्या दिशि विमले चित्रा, दक्षिणस्या नित्यालोके कनकचित्रा, अपरस्या स्वयप्रभे त्रिशिरा, उत्तरस्या नित्योद्योते सूत्रमणि । एता [4]विद्यत्कुमार्यः इहाऽऽगत्य जिनमातृसमीपे भास्करवदुद्योत कुर्वन्त्य आसते । विदिक्षु चत्वारि कूटानि वैडूर्य-रुचक-मणिप्रभ-रुचकोत्तमनामानि । पूर्वोत्तरस्या वैडूर्ये रुचका, पूर्वदक्षिणस्या रुचके रुचकाभा, अपरदक्षिणस्या मणिप्रभे रुचकान्ता, अपरोत्तरस्या रुचकोत्तमे रुचकप्रभा एता दिक्कुमारीमहत्तरिका । विदिक्षु पुनरपराणि चत्वारि कूटानि रत्न-रत्नप्रभ-सर्वरत्न-रत्नोच्चयाख्यानि । पूर्वोत्तरस्या रत्ने विजया, पूर्वदक्षिणस्यां रत्नप्रभे वैजयन्ती, अपरदक्षिणस्या सर्वरत्ने जयन्ती, अपरोत्तरस्या रत्नोच्चये अपराजिता । एता [5]विदिक्कुमारीमहत्तरिका । एता अष्टावपि महत्तरिका इह आगत्य तीर्थकराणा जातकर्माणि कुर्वन्ति । तान्येतानि [6]विदिक्कुमारीणा महत्तरिकाणा च कूटानि द्वादशाप्येकयोजनसहस्रोत्सेधानि मूलमध्याग्रेषु एकसहस्राऽर्धाऽष्टमशतपञ्चशतविस्ताराणि । रुचकनगस्योपरि चतसृषु दिक्षु चत्वार्यर्हदायतनानि प्राङ्मुखान्यञ्जनाद्रिजिनालयतुल्यप्रमाणानि। एव द्विगुणद्विगुण-वलयविष्कम्भा असख्येया दीपसमुद्रा वेदितव्या ।

यो मानुषोत्तराद्विरुक्त तस्मात्प्राग्भवन्त गतिनामापेक्षाभिधाना पूर्वोदिता द्विविधा. कथमिति चेत् ? उच्यते–

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

आर्या द्विविधा ऋद्धिप्राप्तेतरविकल्पात् ।१। गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते सेव्यन्ते इत्यार्या । ते द्विविधा ऋद्धिप्राप्तार्या, अनृद्धिप्राप्तार्याश्चेति ।

अनृद्धिप्राप्तार्याः पञ्चविधाः क्षेत्रजातिकर्मचारित्रदर्शनभेदात् ।२। ये अनृद्धिप्राप्तार्यास्ते पञ्चविधा भवन्ति–क्षेत्रार्या जात्यार्या कर्मार्या. चारित्रार्या दर्शनार्याश्चेति । तत्र क्षेत्रार्या काशीकोशलादिषु जाता । इक्ष्वाकुज्ञातिभोजादिषु कुलेषु जाता जात्यार्या । कर्मार्यास्त्रेधा–सावद्यकर्मार्या अल्पसावद्यकर्मार्या असावद्यकर्मार्याश्चेति । सावद्यकर्मार्या

---

१ –से वनिका– भा० २ । २ –केशा आ०, ब०, द०, मु० । ३ रुचके आ०, ब० द०, मू०, ता०, श्र० । ४ दिक्कुमार्यः श्र० । ५ विद्युत्कुमारिमह– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ६ विद्युत्कुमा– आ०, ब०, द,० मु० मू० ।

षोढा—असि-मषी-कृषि-विद्या-शिल्प-वणिक्कर्मभेदात् । असिधनुरादिप्रहरणप्रयोगकुशला असिकर्मार्या. । द्रव्यायव्ययादिलेखननिपुणा मषीकर्मार्या । [1]हलकुलिदन्तालकादिकृष्युपकरणविधानविद. कृषीबला· कृषिकर्मार्या. । आलेख्यगणितादिद्विसप्ततिकलावदाता[2] विद्याकर्मार्या. [3]चतु.षष्टिगुणसम्पन्नाश्च । रजकनापिताऽयस्कारकुलालसुवर्णकारादय. शिल्पकर्मार्या. । चन्दनादिगन्धवृतादिरसशाल्यादिधान्यकार्पासाद्याच्छादनमुक्तादिनानाद्रव्यसग्रहकारिणो बहुविधा वणिक्कर्मार्या. । पडप्येते अविरतिप्रवणत्वात् सावद्यकर्मार्या, अल्पसावद्य[4]कर्मार्या श्रावका श्राविकाश्च विरत्यविरतिपरिणतत्वात्, असावद्यकर्मार्याः सयता, कर्मक्षयार्थोद्यतविरतिपरिणतत्वात् । चारित्रार्या द्वेधा [5]अधिगतचारित्रार्या. [6]अनधिगमचारित्रार्याश्चेति । तद्भेद. अनुपदेशोपदेशापेक्ष[7]भेदकृत । चारित्रमोहस्योपशमात् क्षयाच्च बाह्योपदेशानपेक्षा आत्मप्रसादादेव चारित्रपरिणामास्कन्दिन उपशान्तकषाया क्षीणकषायाश्चा[8]ऽधिगतचारित्रार्या । अन्तश्चारित्रमोहक्षयोपशमसद्भावे सति बाह्योपदेशनिमित्तविरतिपरिणामा [9]अनधिगमचारित्रार्या. । दर्शनार्या दशधा—आज्ञामार्गोपदेशसूत्रबीजसंक्षेपविस्तारार्थावगाढपरमावगाढरुचिभेदात् । तत्र भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीताज्ञामात्रनिमित्तश्रद्धाना आज्ञारुचय । नि सङ्गमोक्षमार्गश्रवणमात्रजनितरुचयो मार्गरुचय । तीर्थकरबलदेवादिशुभचरितोपदेशहेतुकश्रद्धाना उपदेशरुचय । प्रव्रज्यामर्यादाप्ररूपणाचारसूत्रश्रवणमात्रसमुद्भूतसम्यग्दर्शना सूत्ररुचय. । बीजपदग्रहणपूर्वकसूक्ष्मार्थतत्त्वार्थश्रद्धाना बीजरुचय । जीवादिपदार्थ[10]समाससबोधनसमुद्भूतश्रद्धाना. सक्षेपरुचय । अङ्गपूर्वविषयजीवाद्यर्थविस्तारप्रमाणनयादिनिरूपणोपलब्धश्रद्धाना विस्ताररुचय । वचनविस्तारविरहितार्थग्रहणजनितप्रसादा अर्थरुचय । आचारादिद्वादशाङ्गाऽभिनिविष्टश्रद्धाना अवगाढरुचय । परमावधिकेवलज्ञानदर्शनप्रकाशितजीवाद्य[11]र्थविषयात्मप्रसादा. परमावगाढरुचयः ।

ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधाः—बुद्धि-क्रिया-विक्रिया-तपः-बल-औषध-रस-क्षेत्रभेदात् ।३। ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधा भवन्ति बुद्ध्यादिविकल्पात् । तत्र बुद्धिरवगमो ज्ञान तद्विषया अष्टादशविधा. ऋद्धय—केवलज्ञानमवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान बीजबुद्धि कोष्ठबुद्धि पदानुसारित्व संभिन्नश्रोतृत्व दूरादास्वादनदर्शनस्पर्शनघ्राणश्रवणसमर्थता दशपूर्वित्व चतुर्दशपूर्वित्व अष्टाङ्गमहानिमित्तज्ञता प्रज्ञाश्रवणत्व प्रत्येकबुद्धता वादित्वं चेति । तत्र केवलाऽवधिमन पर्यया व्याख्याता । सुकृष्टसुमथीकृते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्ष बीजमेकमुप्त यथा अनेकबीजकोटिप्रदं भवति तथा [12]नोइन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति एकबीजपदग्रहणादनेकपदार्थप्रतिपत्तिर्बीजबुद्धिः । कोष्ठागारिकस्थापितानामसकीर्णानामविनष्टाना भूयसां धान्यबीजाना यथा कोष्ठेऽवस्थान तथा परोपदेशादवधारितानाम् अर्थग्रन्थबीजाना भूयसामव्यतिकीर्णाना बुद्धावस्थान कोष्ठबुद्धि । पदानुसारित्व त्रेधा—अनुस्रोत प्रतिस्रोत· उभयथा चेति । एकपदस्यार्थं परत उपश्रुत्यादौ अन्ते च मध्ये वा शेषग्रन्थार्थावधारण

---

१ हलकुलीदन्ताल— मू० । हलकुलिशदन्ता— आ०, ब०, द०, मु० । २ कुशलाः । ३ चतुर्णाश्च द० । चतुर्वर्णाश्च आ०, ब०, मु०, । ४ कर्मार्याश्च श्रावका रतिविरतिप— मु०, आ०, ब० । ५ अभिगत— चा— आ०, ब०, द०, मु०, ता०, म० । ६ अनभिगतचा— आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ —पेक्षाभे— श्र० । ८ —इचाभिगत— आ०, ब०, द०, मु० ता० । ९ अनभिगतचा— आ०, ब, द०, मु०, ता० । १० —समानस— द० । —सामान्यसं— आ०, ब०, मु० । ११ —विषयप्रसा— आ०, ब, द०, मु० । —विषयार्थप्र— ता० । १२ नोइन्द्रियावरणश्रुतावरण— आ०, ब०, मु० ।

पदानुसारित्वम् । द्वादशयोजनायामे नवयोजनविस्तारे चक्रधरस्कन्धावारे गजवाजिखरोष्ट्र-मनुष्यादीनाम् अक्षरानक्षररूपाणा नानाविधशब्दाना युगपदुत्पन्नाना तपोविशेषबललाभापादितसर्वजीवप्रदेशश्रोत्रेन्द्रियपरिणामात् सर्वेषामेककालग्रहण सभिन्नश्रोतृत्वम् । तप.शक्तिविशेषाविर्भावितासाधारणरसनेन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षस्य अवधृतनवयोजनक्षेत्राद् बहिर्बहुयोजनविप्रकृष्टक्षेत्रादायातस्य रसस्याऽऽस्वादनसामर्थ्यम्। एवं शेषेष्वपि इन्द्रियविषयेषु अवधृतक्षेत्राद् बहिर्बहुयोजनप्रकृष्टदेशादायातेषु ग्रहणसामर्थ्यं योज्यम् । महारोहिण्यादिभिस्त्रिराग[1]ताभि प्रत्येकमात्मीयरूपसामर्थ्यविष्करणकथनकुशलाभिर्वेगवतीभिर्विद्यादेवताभिरविचलितचारित्रस्य दशपूर्वदुस्तरसमुद्रोत्तरण दशपूर्वित्वम्। सपूर्णश्रुतकेवलिता चतुर्दशपूर्वित्वम् ।

अष्टौ महानिमित्तानि अन्तरिक्ष-भौम-अङ्ग-स्वर-व्यञ्जन-लक्षण-छिन्न-स्वप्ननामानि । तत्र रविशशिग्रहनक्षत्रभगणोदयास्तमयादिभिरतीतानागतफलप्रविभागप्रदर्शनमन्तरिक्षम् । भुवो घनशुषिरस्निग्धरूक्षादिविभावनेन पूर्वादिदिक्सूत्रनिवासेन वा वृद्धिहानिजयपराजयादिविज्ञान भूमेरन्तर्निहितसुवर्णरजतादिसूचन च भौमम्। अङ्गप्रत्यङ्गदर्शनस्पर्शनादिभिस्त्रिकालभाविसुखदु खादिविभावन[2]मङ्गम्। अक्षरानक्षरशुभाशुभशब्दश्रवणेनेष्टानिष्टफलाविर्भावन महानिमित्त स्वरम्। शिरोमुखग्रीवादिषु तिलकमशकलक्ष्म[3]व्रणादिवीक्षणेन त्रिकालहिताहितवेदन व्यञ्जनम्। श्रीवृक्षस्वस्तिकभृङ्गारकलशादिलक्षणवीक्षणात् त्रैकालिकस्थानमानैश्वर्यादिविशेषज्ञान लक्षणम्। वस्त्रशस्त्रछत्रोपानदासनशयनादिषु देवमानुषराक्षसादिविभागै शस्त्रकण्टकमूषिकादिकृतछेदनदर्शनात् कालत्रयविषयलाभालाभसुखदु खादिसूचन छिन्नम्। वातपित्तश्लेष्मदोषोदयरहितस्य पश्चिमरात्रिभागे चन्द्रसूर्यधराद्रिसमुद्रमुखप्रवेशनसकलमहीमण्डलोपगूहनादिशुभघृततैलाक्तात्मीयदेहखरकरभारूढापागृदिग्गमनाद्यशुभस्वप्नदर्शनात् आगामिजीवितमरणसुखदु खाद्याविर्भावक[4] स्वप्न । एतेषु महानिमित्तेषु कौशलमष्टाङ्गमहानिमित्तज्ञता । अतिसूक्ष्मार्थतत्त्वविचारगहने चतुर्दशपूर्विण एव विषयेऽनुयुक्ते[5] अनधीतद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वस्य प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूताऽसाधारणप्रज्ञाशक्तिलाभान्नि सशय निरूपण [6]प्रज्ञाश्रवणत्वम्। परोपदेशमन्तरेण स्वशक्तिविशेषादेव[7] ज्ञानसयमविधाननिपुणत्वं प्रत्येकबुद्धता । शक्रादिष्वपि प्रतिबन्धिषु सत्स्वप्रतिहततया निरुत्तराभिधान पररन्ध्रापेक्षण च वादित्वम् ।

क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विविधा—चारणत्वमाकाशगामित्व चेति । तत्र चारणा अनेकविधा जलजङ्घातन्तुपुष्पपत्रश्रेण्यग्निशिखाद्यालम्बनगमना । जलमुपादाय वाप्यादिष्वप्कायान् जीवान[8]विराधयन्त· भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशला जलचारणा । भुव उपर्याकाशे चतुरङ्गुलप्रमाणे जङ्घोत्क्षेपनिक्षेपशीघ्रकरणपटवो बहुयोजनशताशुगमनप्रवणा जङ्घाचारणा । एवमितरे च वेदितव्या. । पर्यङ्कावस्थानिषण्णा वा कायोत्सर्गशरीरा वा पादोद्धारनिक्षेपणविधिमन्तरेण आकाशगमनकुशला आकाशगामिन ।

विक्रियागोचरा ऋद्धिरनेकविधा—अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वमप्रतिघातोऽन्तर्धानं कामरूपित्वमित्येवमादिः । तत्राणुशरीरविकरणमणिमा,

१ –विभिस्त्रिभिराग– आ०, ब०, मु०, श्र० । २ –नाङ्गम् श्र०, मू० । ३ –क्ष्मब्रह्मणादि– आ०, ब०, द०, मु० । सामुद्रिकलक्षण । ४ पृष्टे । ५ प्रज्ञाश्रमण– आ०, ब०, द०, मु०, श्र० । ६ –ज्ञानसयमविधानानि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ –नविरोध– ता०, श्र० ।

विसछिद्रमपि प्रविश्याऽऽसित्वा तत्र च चक्रवर्तिपरिवारविभूति सृजेत् । मेरोरपि महत्तर-शरीरविकरणं महिमा । वायोरपि लघुतरशरीरता लघिमा । वज्रादपि गुरु[1]तरदेहता गरिमा । भूमौ स्थित्वाऽङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखरदिवाकरादिस्पर्शनसामर्थ्यं प्राप्ति· । अप्सु भूमाविव गमन भूमौ जल इवोन्मज्जननिमज्जनकरण प्राकाम्यम् । त्रैलोक्यस्य प्रभुता ईशित्वम् । सर्वजीव-वशीकरणलब्धिर्वशित्वम् । अद्रिमध्ये वियतीव [2]गमनागमनमप्रतीघात । अदृश्यरूपशक्ति- ५
ताऽन्तर्धानम् । युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्ति. कामरूपित्वमिति ।

तपोऽतिशयर्द्धि सप्तविधा–उग्र-दीप्त-तप्त-महा-घोर-तपो-वीरपराक्रम-घोरब्रह्मचर्यभेदात् । चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वाद[3]शपक्षमासाद्यनशनयोगेष्वन्यतमयोगमारभ्य आमरणादनिवर्तका उग्र-तपस· । महोपवासकरणेऽपि प्रवर्धमानकायवाङ्मानसबलाः विगन्धरहितवदना. पद्मोत्पलादि-मुरभिनिश्वासा अप्रच्युतमहादीप्तिशरीरा दीप्ततपस । तप्तायसकटाहपतितजलकणवदाशु- १०
शुष्काल्पाहारतया मलरुधिरादिभावपरिणामविरहिताभ्यवहारा तप्ततपस । सिहनिष्क्रीडिता-दिमहोपवासानुष्ठानपरायणायतयो महातपस । वातपित्तश्लेष्मसन्निपातसमुद्भूतज्वरकासश्वा-सासाक्षिशूलकुष्ठप्रमेहादिविविधरोगसन्तापितदेहा अपि अप्रच्युताऽनशनकायक्लेशादितपसो भीम-श्मशानाद्रिमस्तकगुहादरीकन्दरशून्यग्रामादिषु प्रदुष्टयक्षराक्षसपिशाच[4]प्रनृत्तवेतालरूपविकारेषु
परुषशिवारुतानुपरतसिहव्याघ्रादिव्यालमृगभीषणस्वनघोरचौरादिप्रचरितेष्वभिरुचितावासाश्च १५
घोरतपस । त एव गृहीततपोयोगवर्धनपरा घोरपराक्रमा. । चिरोषिताऽस्खलितब्रह्मचर्यवासा· प्रकृष्टचारित्रमोहनीयक्षयोपशमात् प्रणष्टदु स्वप्ना घोरब्रह्मचारिणः ।

बलालम्बना ऋद्धिस्त्रिविधा–[5]मनोवाक्कायभेदात् । तत्र मन.श्रुतावरणवीर्यान्तराय-क्षयोपशमप्रकर्षे सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतार्थचिन्तनेऽवदाता मनोबलिन. । मनोजिह्वाश्रुतावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशये सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतोच्चारणसमर्था सततमुच्चैरुच्चारणे २०
सत्यपि श्रमविरहिता अहीनकण्ठाश्च वाग्बलिन । वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूताऽसाधारण-कायबलत्वात् मासिकचातुर्मासिकसावत्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि श्रमक्लमविरहिता. कायबलिन ।

औषधर्द्धिरष्टविधा–असाध्यानामप्यामयाना सर्वेषा विनिवृत्तिहेतुरामर्शक्ष्वेलजल्लमल-विट्सवौ षधिप्राप्तास्याविषदृष्टचविषविकल्पात् । आमर्श सस्पर्श, यदीयहस्तपादाद्यामर्श २५
औषधिप्राप्तो यैस्ते आमर्शौ षधिप्राप्ता । क्ष्वेलो निष्ठीवनमौषधिर्येषा ते क्ष्वेलौषधिप्राप्ता । स्वेदालम्बनो रजोनिचयो जल्ल, स औषधिप्राप्तो येषा ते जल्लौषधिप्राप्ता । कर्णदन्त-नासाक्षिसमुद्भव मल औषधिप्राप्त येषा ते मलौषधिप्राप्ता । विड्डुच्चार औषधिर्येषा ते विडौषधिप्राप्ता । अङ्गप्रत्यङ्गनखदन्तकेशादिरवयव तत्सस्पर्शी वाय्वादिस्सर्व औषधि-प्राप्तो येषा ते सर्वौ षधिप्राप्ता । उग्रविषसपृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषीभवति ३०
यदीयास्यनिर्गतवच श्रवणाद्वा महाविषपरीता अपि निर्विषीभवन्ति ते आस्याविषा । येषामालोकनमात्रादेवातितीव्रविषदूषिता अपि सन्त विगतविषा भवन्ति ते दृष्टचविषा ।

रसर्द्धिप्राप्तार्या षड्विधा –आस्यविषा दृष्टिविषा क्षीरास्रविण मध्वास्रविण सर्पिरास्र-विण· अमृतास्रविणश्चेति । प्रकृष्टतपोबला यतयो य ब्रुवते म्रियस्वेति स तत्क्षण एव महाविष-

---

१ –तरशरीरता आ०, ब०, द०, मु० । २ –गमनमप्र– श०, मू० । ३ –दशमय– श० ।
४ –चप्रवृत्तवे– आ०, ब०, द०, मू०, ता० । ५ –स्त्रिधा आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

परीतो म्रियते, ते आस्यविषा । उत्कृष्टतपसो यतय. क्रद्धा यमीक्षन्ते स तदैवोग्रविषपरीतो म्रियते ते दृष्टिविषाः । विरसमप्यशनं येषां पाणिपुटनिक्षिप्तं क्षीररसगुणपरिणामि जायते, येषां वा वचनानि क्षीरवत्क्षीणाना सन्तर्पकाणि भवन्ति ते क्षीरास्रविण । येषां पाणिपुटपतित आहारो नीरसोऽपि मधुरसवीर्यपरिणामो भवति, येषां वचांसि श्रोतृणां दुखार्दितानामपि मधुगुण पुष्णन्ति ते मध्वास्रविण । येषा पाणिपात्रगतमन्न रूक्षमपि सर्पीरसवीर्यविपाकानाप्नोति, सर्पिरिव वा येषा भाषितानि प्राणिनां संतर्पकाणि भवन्ति ते सर्पिरास्रविणः । येषां पाणिपुटप्राप्तं भोजनं यत्किञ्चिदमृततामास्कन्दति, येषा वा व्याहृतानि प्राणिनाम् अमृतवदनुग्राहकाणि भवन्ति तेऽमृतास्रविण ।

क्षेत्रर्द्धिप्राप्तार्या द्वेधा—अक्षीणमहानसा अक्षीणमहालयाश्चेति । लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षप्राप्तेभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते ततो भाजनाच्चक्रधरस्कन्धावारोऽपि यदि भुञ्जीत तद्दिवसे नान्नं क्षीयते ते अक्षीणमहानसा. । अक्षीणमहालयलब्धिप्राप्ता यतयो यत्र वसन्ति देवमनुष्यतैर्यग्योना यदि सर्वेऽपि तत्र निवसेयु परस्परमबाधमाना. सुखमासते । त एते सर्वे ऋद्धिप्राप्तार्या. ।

म्लेच्छा द्विविधा अन्तरद्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति ।४। म्लेच्छा द्विविधा वेदितव्याः—अन्तरद्वीपजा कर्मभूमिजाश्चेति । तत्रान्तरद्वीपा. लवणोदधेरष्टासु दिक्ष्वष्टौ, [1]तदन्तरेषु चाष्टौ । हिमवच्छिखरिणोरुभयोश्च विजयार्धयोरन्तेष्वष्टौ । तत्र दिक्षु द्वीपा वेदिकायास्तिर्यक्पञ्चयोजनशतानि प्रविश्य भवन्ति । विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपाः पञ्चाशेषु पञ्चयोजनशतेषु गतेषु भवन्ति । शैलान्तेषु द्वीपा. षट्षु योजनशतेषु गतेषु भवन्ति । दिक्षु द्वीपाः शतयोजनविस्तीर्णा, विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपा. तदर्धविष्कम्भा । शैलान्तेषु पञ्चविंशतियोजनविस्तारा. । तत्र पूर्वस्या दिशि एकोरुका । अपरस्या लाङ्गूलिन. । उत्तरस्यामभाषका । दक्षिणस्या विषाणिन । शशकर्णशष्कुलीकर्णकर्णप्रावरणलम्बकर्णा. विदिक्षु । अश्व-सिंह-श्व-महिष-वराह-व्याघ्र-उलूक-कपिमुखा अन्तरेषु । मेघविद्युन्मुखाः शिखरिण उभयोरन्तयो । मत्स्यमुखा कालमुखा हिमवत उभयोरन्तयो । हस्तिमुखादर्शमुखा उत्तरविजयार्धस्योभयोरन्तयो. । गोमुखमेषमुखा दक्षिणविजयार्धस्योभयोरन्तयो. । एकोरुका मृदाहारा गुहावासिन शेषा. पुष्पफलाहारा वृक्षवासिनः । सर्वे ते पल्योपमायुष. । ते चतुर्विंशतिरपि द्वीपा जलतलादेकयोजनोत्सेधा. । तथा कालोदेऽपि वेदितव्या । त एते अन्तरद्वीपजा म्लेच्छा । कर्मभूमिजाश्च शक-यवन-शबर-पुलिन्दादयः ।

का पुन कर्मभूमय इति ? अत आह—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

अथवा, मोक्षमार्गस्त्रितय प्रकृत । स किं सर्वेषु क्षेत्रेषु भवति ? न इत्याह कर्मभूमिष्वेव । कुत एतत् ? भोगभूमिषु हि यद्यपि मनुष्याणा ज्ञानदर्शने स्त. चारित्र तु नास्ति अविरतभोगपरिणामित्वात् । यद्येव कास्ता कर्मभूमय. इति ? अतस्तत्प्रतिपादनार्थमिदमुच्यते।

कर्मभूमय इति विशेषणानुपपत्तिः सर्वत्र कर्मणो व्यापारात् ।१। अष्टविधस्य कर्मणो बन्धस्तत्फलानुभवन च सर्वेष्वेव मनुष्यक्षेत्रेषु साधारण । अत कर्मभूमय इति विशेषणं नोपपद्यते ?

---

१ तदन्तरे चाष्टौ आ०, ब०, द०, मु० ।

न वा; प्रकृष्टशुभाशुभकर्मोपार्जननिर्जराधिष्ठानोपपत्तेः ।२। न वा एष दोष । किं कारणम् ? यतः प्रकृष्टं शुभकर्म सर्वार्थसिद्धिसौख्यप्रापकं तीर्थकरत्वमार्हद्धिनिर्वर्तक [2]वा असाधारणम् । अशुभकर्म च प्रकृष्टं कलङ्कलपृथिवीमहादुःखप्रापकम् अप्रतिष्ठाननरकगमनं च कर्मभूमिष्वेवोपार्ज्यते द्रव्य-भव-क्षेत्र-काल-भावापेक्षत्वात् कर्मबन्धस्य । [3]सकलसमारकारण-निर्जराकर्म चात्रैव प्रवर्तते । [4]ततो भरतादिष्वेव कर्मभूमय इति युक्तो व्यपदेश । ५

षट्कर्मदर्शनाच्च ।३। षण्णा कर्मणाम् असि-कृषि-मषी-विद्या-वणिक्-शिल्पानामत्रैव दर्शनाच्च कर्मभूमिव्यपदेशो युक्तिमान् ।

अन्यत्रशब्दः परिवर्जनार्थः ।४। यथा 'न क्वचित्सर्वदा सर्वविस्रम्भगमन नय अन्यत्र धर्मात्' तस्य अन्यो मार्ग एव न विद्यते इति धर्मं वर्जयित्वा अर्थकामयोरविस्रम्भगमन नय, धर्मे तु विस्रम्भ एव कार्य इति, एवमिहापि 'विदेहा कर्मभूमय' इत्युक्ते विदेहाभ्यन्तरत्वाद्देव-कुरूत्तरकुरूणामपि कर्मभूमित्वप्रसङ्गे अन्यत्रवचनाद् देवकुरूत्तरकुरुभ्योऽन्ये विदेहा कर्मभूमय, देवकुरूत्तरकुरवो हैमवतादयश्च भोगभूमय इति वेदितव्या [5] । १०

सर्वास्वेव भूमिषु मनुष्याणा स्थितिपरिच्छेदार्थमाह–

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

यथासंख्यमभिसंबन्धः ।१। त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्तयोर्यथासंख्यमभिसबन्धो वेदितव्य –परा नृस्थिति त्रिपल्योपमा, अपरा अन्तर्मुहूर्ता इति । त्रीणि पल्यानि उपमा यस्या स्थिते सा त्रिपल्योपमा । अन्तर्गतो मुहूर्तो यस्या सा अन्तर्मुहूर्ता । अत्राह-किमिदं पल्य नाम इति ? उच्यते–तत्परिच्छेदः प्रमाणविधिनिर्णयपुरस्सर इति प्रमाणविधिरेव तावदुच्यते । १५

प्रमाणं द्विविधं लौकिकलोकोत्तरभेदात् ।२। लौकिकं लोकोत्तरमिति प्रमाण द्वेधा विभज्यते । २०

लौकिकं षोढा मानोन्मानावमानगणनाप्रतिमानतत्प्रमाणभेदात् ।३। लौकिक मान षोढा विभज्यते-मानमुन्मानमवमानं गणना प्रतिमान तत्प्रमाण चेति । तत्र मानं द्वेधा–रसमान बीजमान चेति । घृतादिद्रव्यपरिच्छेदक षोडशिकादि रसमानम् । कुडवादि बीजमानम् । कुष्ठ-तगरादिभाण्डं येनोत्क्षिप्य मीयते तदुन्मानम् । निवर्तनादिविभागेन क्षेत्र येनावगाह्य मीयते तदवमान दण्डादि । एकद्वित्रिचतुरादिगणितमान गणनामानम् । [6]पूर्वमानापेक्ष मान प्रति-मानं[7] प्रतिमल्लवत् । चत्वारि [8]महिधिकातृणफलानि श्वेतसर्षप एक, षोडशसर्षपफलानि २५

---

१ –द्विकनि– श्र० । २ –चासा– आ०, ब०, मु० । ३ सकलं च सं– आ०, ब०, द०, मु० । ४ अतो आ०, ब०, मु० । ५ अत्र कश्चिदाह यदि प्रोक्तलक्षणविशेषसद्भावात् भरतादीनामेव कर्मभूमित्व प्रतिपाद्यते तर्हि स्वयम्भूरमणजमत्स्यविशेषाणां कथ सप्तमनरकगमनमिति ? उच्यते– स्वयम्भूरमणद्वीपमध्ये अन्तर्द्वीपार्धकारी मानुषोत्तराकृतिः स्वयम्प्रभनगवरो नाम नगो व्यवस्थितः तस्य अर्वाग्भागे आमानुषोत्तरात् भोगभूमिविभागः । तत्र चतुर्गुणस्थानवर्तिनः तिर्यञ्चः सन्ति । परभागे त्वालोकान्तात् कर्मभूमिविभागः । तत्र च पञ्चमगुणस्थानवर्तिनः तिर्यञ्चः सन्ति । ततस्तस्य कर्मभूमित्वात् नोक्तदोषप्रसङ्गः । कथ-मन्यथा 'तत्र पूर्वकोट्यायुष्कत्वमन्यत्रासंख्येयवर्षायुष्कत्वम्' इत्यागमो घटते । ६ अन्तर्गर्भो मु– आ०, ब०, द०, मु० । "अन्तर्गतोऽपरिपूर्णो मुहूर्त्तो यस्याः सा अन्तर्मुहूर्ता।" –त०, श्रु० ३।३८ । ७ प्रागुक्त-मानोन्मानापेक्षया प्रतिनिधिरूपमित्यर्थः । ८ तुलान्तयोरेकस्मिन् भाण्डरूपमेयं स्थापयित्वा अन्यतरस्मिन् स्थाप्यं यद् गुञ्जादि यच्च कुडवादिनिश्चायकं पिण्डादि तद्द्वय प्रतिमानम् । ९ महाधिकतृ– मु०, ब० । महाधिकात्– आ० । महीधिकात्– द० । महिविकातृ– मू० ।

धान्यमाषफलमेकम्, द्वे धान्यमाषफले गुञ्जाफलमेकम्, द्वे गुञ्जाफले रूप्यमाष एकः, षोडशरूप्यमाषकाः धरणमेकम्, अर्धतृतीयधरणानि सुवर्ण, स च कस, चत्वार कंसा. पलम्, पलशतं तुला, अर्धकस त्रीणि च पलानि [1]कुडव, चतु कुडव प्रस्थ, चतु प्रस्थमाढकम्, चतुराढकं द्रोण, षोडश द्रोणा खारी, विंशति खार्यो वाह इत्यादि [2]मागधकप्रमाणम्। मणिजात्यश्वादेर्द्रव्यस्य दीप्त्युच्छ्रायगुणविशेषादिमूल्यपरिमाणकरणे प्रमाणमस्येति तत्प्रमाणम्। तद्यथा—मणिरत्नस्य दीप्तिर्यावत्क्षेत्रमुपरि व्याप्नोति तावत्प्रमाणं सुवर्णकूट मूल्यमिति। अश्वस्य च यावानुच्छ्रायस्तावत्प्रमाणं सुवर्णकूट मूल्यम्। यावता रत्नस्वामिनः परितोष. तावद्रत्नमूल्यम् एवमन्येषामपि द्रव्याणाम्।

लोकोत्तरं चतुर्धा द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्।४। लोकोत्तर प्रमाणं चतुर्धा भिद्यते। कुत. ? द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्। तत्र द्रव्यप्रमाण जघन्यमध्यमोत्कृष्टम् एकपरमाणु द्वित्रिचतुरादिप्रदेशात्मकम् आमहास्कन्धात्। क्षेत्रप्रमाण जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकाकाशद्वित्रिचतुरादिप्रदेशनिष्पन्नमासर्वलोकात्। कालप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकद्वित्रिचतुरादिसमयनिष्पन्नम् आ अनन्तकालात्। भावप्रमाणमुपयोग साकाराऽनाकारभेद जघन्य सूक्ष्मनिगोतस्य, मध्यमोऽन्यजीवानाम्, उत्कृष्ट केवलिन.।

तत्र द्रव्यप्रमाणं द्वेधा संख्योपमाभेदात्।५। सख्याप्रमाणमुपमाप्रमाण चेति द्वेधा द्रव्यप्रमाण विभज्यते। तत्र सख्याप्रमाण त्रिधा सख्येयासख्येयानन्तभेदात्। तत्र संख्येयप्रमाण त्रेधा, इतरे द्वे [3]नवधा नवधा ज्ञेये। जघन्यमजघन्योत्कृष्टमुत्कृष्ट चेति सख्येय त्रिविधम्। सख्येयप्रमाणावगमार्थं जम्बूद्वीपतुल्यायामविष्कम्भा योजनसहस्रावगाह बुद्ध्या कुशूलाश्चत्वार. कर्तव्या—शलाका-प्रतिशलाका-महाशलाकाख्यास्त्रयोऽवस्थिता चतुर्थोऽनवस्थित। अत्र द्वौ सर्षपौ निक्षिप्तौ जघन्यमेतत्सख्येयप्रमाणम्, तमनवस्थितं सर्षपैः पूर्णं गृहीत्वा कश्चिद् देव एकैक सर्षपमेकैकस्मिन् द्वीपे समुद्रे च प्रक्षिपेत् तेन विधिना स रिक्त। रिक्त इति शलाकाकुशले एक सर्षप प्रक्षिपेत्। यत्र अन्त्यसर्षपो निक्षिप्तस्तमवधि कृत्वा अनवस्थित कुशूल परिकल्प्य सर्षपै. पूर्ण कृत्वा तत परेषु द्वीपसमुद्रेष्वेकैकसर्षपप्रदानेन स रिक्त कर्तव्य। रिक्त इति शलाकाकुशले पुनरेक प्रक्षिपेत्। अनेन विधिना अनवस्थितकुशूलपरिवर्धनेन शलाकाकुशले परिपूर्णे, पूर्ण इति प्रतिशलाकाकुशूले एक सर्षपो निक्षेप्तव्य। एव तावत्कर्तव्यो यावत्प्रतिशलाकाकुशूल परिपूर्णो भवति। परिपूर्ण इति महाशलाकाकुशूले एकः सर्षप. प्रक्षेप्तव्य। सोऽपि तथैव[4] परिपूर्ण। एवमेतेषु चतुर्ष्वपि पूर्णेषु उत्कृष्टसख्येयमतीत्य जघन्यपरीतासख्येय गत्वैक रूप पतितम्, तत एकस्मिन् रूपे अपनीते उत्कृष्टसख्येय भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टसख्येयम्। यत्र सख्येयेन प्रयोजन तत्राजघन्योत्कृष्टसख्येय ग्राह्यम्।

यदसख्येय तत्त्रिविध परीतासख्येय युक्तासख्येय असख्येयासख्येयं चेति। तत्र परीतासख्येय त्रिविध जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात्। एवमितरे चाऽसख्येये भिद्येते।

तथा अनन्तमपि त्रिविध परीतानन्त युक्तानन्त अनन्तानन्त चेति। तदपि प्रत्येक पूर्ववत्त्रिधा भेद्यम्। यज्जघन्यपरीतासख्येय तद्विरलीकृत्य मुक्तावलीकृता अत्रैकैकस्या मुक्ताया जघन्यपरीतासख्येयं देयम्। एवमेतद्वर्गितम्। प्राथमिकी मुक्तावलीमपनीय [5]यान्येकैकस्या मुक्ताया जघन्यपरीतासख्येयानि दत्तानि तानि सपिण्डय मुक्तावली कार्या। ततो यो जघन्य-

---

१ कुडुवः ता०, श्र०, मू०। २ नागरिकप्र— आ०, ब०, द०, मु०। मागधिकप्र— ता०। ३ नवधा ज्ञेये आ०, ब०, द०, मु०। ४ पूर्णः श्र०, म०। ५ यानेकैकस्याम् श्र०।

परीतासंख्येयसपिण्डनान्निष्पन्नो राशि स देय एकैकस्यां मुक्तायाम्। एवमेतत्सर्वगितम् उत्कृष्टपरीतासख्येयमतीत्य जघन्ययुक्तासख्येय गत्वा[1] पतितम्। अत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टपरीतासख्येयं भवति। मध्यमजघन्योत्कृष्टपरीतासख्येयम्। यत्रावलिकया कार्यं तत्र जघन्ययुक्तासंख्येयं ग्राह्यम्। यज्जघन्ययुक्तासख्येयं तद्विरलीकृत्य मुक्तावली रचिता। तत्रैकैकमुक्ताया जघन्ययुक्तासख्येयानि देयानि। एवमेतत् सकृद्वर्गितमुत्कृष्टयुक्तासख्येयमतीत्य जघन्याऽसख्येयाऽसंख्येय गत्वा[2] पतितम्, तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्ट युक्तासख्येय भवति मध्यममजघन्योत्कृष्टयुक्तासख्येयं भवति। यज्जघन्याऽसख्येयासख्येयं तद्विरलीकृत्य पूर्वविधिना त्रीन्वारान् वर्गितसर्वगित उत्कृष्टासंख्येयासख्येय प्राप्नोति। ततो धर्माधर्मै[3]कजीवलोकाकाशप्रत्येकशरीरजीवबादरनिगोतशरीराणि षडप्येतान्यसख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगाविभागपरिच्छेदरूपाणि चासख्येयलोकप्रदेशपरिमाणान्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयाश्च प्रक्षिप्य पूर्वोक्तराशौ त्रीन्वारान् वर्गितसर्वगित कृत्वा उत्कृष्टाऽसख्येयाऽसख्येयमतीत्य जघन्यपरीतानन्त गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टाऽसख्येयाऽसख्येय भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टाऽसख्येयाऽसंख्येयं भवति। यत्रासख्येयाऽसख्येयेन प्रयोजन तत्राऽजघन्योत्कृष्टाऽसख्येयाऽसख्येयं ग्राह्यम्। यज्जघन्यपरीतानन्त तत्पूर्ववद्वर्गितसर्वगितमुत्कृष्टपरीतानन्तमतीत्य जघन्ययुक्तानन्त गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टपरीतानन्त तद्भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टपरीतानन्तम्। अभव्यराशिप्रमाणमार्गणे जघन्ययुक्तानन्त ग्राह्यम्। यज्जघन्ययुक्तानन्त तद्विरलीकृत्यात्रैकैकरूपे जघन्ययुक्तानन्त दत्त्वा सकृद्वर्गितमुत्कृष्टयुक्तानन्तमतीत्य जघन्यमनन्तानन्त गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टयुक्तानन्त भवति। मध्यममजघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तम्। यज्जघन्याऽनन्ताऽनन्त तद्विरलीकृत्य पूर्ववत्त्रीन्वारान् वर्गितसर्वगितमुत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्त न प्राप्नोति, तत सिद्धनिगोतजीववनस्पतिकायातीताऽनागतकालसमयसर्वपुद्गलसर्वाऽऽकाशप्रदेशधर्माधर्मान्तिकायाऽगुरुलघुगुणानन्तान् प्रक्षिप्य प्रक्षिप्य त्रीन् वारान् वर्गितसर्वगिते कृते उत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्त न प्राप्नोति, ततोऽनन्ते केवलज्ञाने दर्शने च प्रक्षिप्ते उत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं भवति। तत एकरूपेऽपनीतेऽजघन्योत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्त भवति। यत्राऽनन्ताऽनन्तमार्गणा[4]तत्राजघन्योत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्त ग्राह्यम्।

उपमाप्रमाणमष्टविधं पल्यासागरसूचीप्रतरघनाङ्गुलजगच्छ्रेणीलोकप्रतरलोकभेदात्।६।

अन्तादिमध्यहीन अविभागोऽतीन्द्रिय एकरसवर्णगन्ध द्विस्पर्श परमाणु। अनन्तानन्तपरमाणुसघातपरिमाणादाविर्भूता उत्सज्ञासज्ञैका। अष्टावुत्सज्ञासज्ञासहता सज्ञासज्ञैका। अष्टौ सज्ञासज्ञा एकस्त्रुटिरेणु। अष्टौ त्रुटिरेणव सहता एकस्त्रसरेणु। अष्टौ त्रसरेणव सहता एको रथरेणु। अष्टौ रथरेणव सहता एका देवकुरूत्तरकुरुमनुजकेशाग्रकोटी भवति। ता अष्टौ समुदिता एका रम्यकहरिवर्षमनुजकेशाग्रकोटी भवति। अष्टौ ता सहता हैरण्यवतहैमवतमनुजकेशाग्रकोटी भवति। ता अष्टौ सपिण्डिता भरतैरावतविदेहमनुजकेशाग्रकोटी भवति। ता अष्टौ सहता एका लिक्षा भवति। अष्टौ लिक्षा सहता एका यूका भवति। अष्टौ यूका एकं यवमध्यम्। अष्टौ यवमध्यानि एकमङ्गुलमुत्सेधाख्यम्। एतेन नारकतैर्यग्योनानां देवमनुष्याणामकृत्रिमजिनालयप्रतिमाना च देहोत्सेधो मातव्य.। तदेव पञ्चशतगुणितं

१ –त्वा पतितमेकरूपं तत एकरूपे मु०, आ०, ब०। पतितं तत एकरूपे द०। –त्वा एकरूपपतितम् अतः भा० २। २ –त्वा एकरूपं पति– भा० २। ३ –मार्गणं आ०, ब०, मु०। ४ –गन्धवर्णः मु०, आ०, ब०।

प्रमाणाङ्गुलं भवति । एतदेव चावसर्पिण्यां प्रथमचक्रधरस्याऽऽत्माङ्गुलं भवति । तदानीं तेन ग्रामनगरादिप्रमाणपरिच्छेदो ज्ञेय । इतरेषु युगेषु मनुष्याणां यद्यदात्माङ्गुलं तेन तेन तदा ग्रामनगरादिप्रमाणपरिच्छेदो ज्ञेय । यत्तत्प्रमाणाङ्गुल तेन द्वीपसमुद्रजगतीवेदिकापर्वतविमाननरकप्रस्ताराद्यकृत्रिमद्रव्यायामविष्कम्भादिपरिच्छेदोऽवसेय । तत्र षडङ्गुल पाद । द्वादशाङ्गुलो वितस्ति । द्विवितस्ति हस्त. । द्विहस्त· किष्कु· । द्विकिष्कुर्दण्ड· । द्वे दण्डसहस्रे गव्यूतम् । चतुर्गव्यूत योजनम् ।

पल्यं त्रिविधं व्यवहारोद्धाराद्धाविकल्पादन्वर्थात् ।७। व्यवहारपल्यम् उद्धारपल्यम् अद्धापल्यमिति त्रिधा पल्य विभज्यते । अन्वर्थश्चाय विकल्प । आद्य व्यवहारपल्यमुत्तरपल्यव्यवहारबीजत्वान्नानेन किञ्चित्परिच्छेद्यमस्ति । द्वितीयमुद्धारपल्यतत उद्धृतैर्लोमच्छेदैर्द्वीपसमुद्रसंख्यानिर्णय इति । तृतीयमद्धापल्यं अद्धाकाल इत्यर्थ । अतो हि स्थिते. परिच्छेद. इति । तद्यथा—प्रमाणाङ्गुलपरिमितयोजनायामविष्कम्भावगाहानि त्रीणि पल्यानि कुशूला इत्यर्थ । एकादिसप्तान्ताहोरात्रिजाताविकलोमाग्राणि[1] तावच्छिन्नानि यावद् द्वितीय कर्तरीच्छेद नावाप्नुवन्ति । तादृशैर्लोमच्छेदै परिपूर्ण घनीकृत व्यवहारपल्यमित्युच्यते । ततो वर्षशते [2]वर्षशते अतीते एकैकलोमापकर्षणविधिना यावता कालेन तद्रिक्तं भवेत् तावत्कालो व्यवहारपल्योपमाख्य । तैरेव रोमच्छेदै प्रत्येकमसख्येयवर्षकोटिसमयमात्रच्छिन्नै· पूर्णमुद्धारपल्यम् । तत समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्त भवेत् तावत्काल. उद्धारपल्योपमाख्य । एषामुद्धारपल्यानां दशकोटीकोटच एकमुद्धारसागरोपमम् । अर्धतृतीयोद्धारसागरोपमाणा यावन्तो रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्रा । पुनरुद्धारपल्यरोमच्छेदैर्वर्षशतसमयमात्रच्छिन्नै पूर्णमद्धापल्यम् । तत समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्त भवति तावत्काल अद्धापल्योपमाख्यः । एषामद्धापल्यानां दशकोटीकोटच एकमद्धासागरोपमम् । दशाद्धासागरोपमकोटीकोटच एकाऽवसर्पिणी, तावत्येवोत्सर्पिणी । अनेन अद्धापल्येन नारकतैर्यग्योनानां देवमनुष्याणा च कर्मस्थितिर्भवस्थितिरायु स्थिति. कायस्थितिश्च परिच्छेत्तव्या । अद्धापल्यस्याऽर्द्धच्छेदेन शलाकाविरलीकृत्य प्रत्येकमद्धापल्यप्रदान कृत्वा अन्योऽन्यगुणिते कृते यावन्तश्छेदास्तावद्भिराकाशप्रदेशैर्मुक्तावली कृता सूच्यङ्गुलमित्युच्यते । तदेवाऽपरेण सूच्यङ्गुलेन गुणित प्रतराङ्गुलम् । तत्प्रतराङ्गुलमपरेण सूच्यङ्गुलेनाऽभ्यस्त[3] घनाङ्गुलम् । असख्येयाना वर्षाणां यावन्त समयास्तावत्खण्डमद्धापल्य कृतम्, ततोऽसख्येयान् खण्डानपनीयाऽसख्येयमेक भाग बुद्धचा विरलीकृत्य एकैकस्मिन् घनाङ्गुल दत्त्वा [4]परस्परेण गुणिता[5] जाता जगच्छ्रेणी । सा अपरया जगच्छ्रेण्या अभ्यस्ता प्रतरलोक । स एवाऽपरया जगच्छ्रेण्या सर्वगितो घनलोक ।

क्षेत्रप्रमाणं द्विविधम्—अवगाहक्षेत्र विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चेति । तत्रावगाहक्षेत्रमनेकविधम्—एकद्वित्रिचतु संख्येयाऽसख्येयाऽनन्तप्रदेशपुद्गलद्रव्यावगाह्येकाद्यसंख्येयाकाशप्रदेशभेदात् । विभागनिष्पन्नक्षेत्र चाऽनेकविधम्—असंख्येयाकाशश्रेणय.[6], क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलस्यैकोऽसंख्येयभाग., असंख्येयाः क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलाऽसंख्येयभागाः क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलमेकं भवति । पादवितस्त्यादि पूर्ववद्वेदितव्यम् ।

कालप्रमाणमुच्यते—सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाढावकाशप्रदेशव्यतिक्रमकालः परमनिरुद्धो निर्विभागः समयः । असंख्येयाः समया आवलिकैका[7] । संख्येयावलिका

---

१ —वि सप्ताहोरा— आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । मेषलोमानीत्यर्थः —मु०, टि० । २ वर्षशतेऽपनीतेऽतीते ता०, द० । वर्षशतेऽपनीते एकै— आ०, ब०, मु० । ३ गुणितम् । ४ परस्परगुणिता आ० । ५ —ता जग— आ०, ब०, द०, मु० । ६ ताश्च । ७ —काऽसंख्ये— मु०, ता० ।

एक उच्छ्वासस्तावानेव निश्वास. । तावुभावनुपहतस्य पुंस. प्राण एक । सप्तप्राणा. स्तोक. । सप्त स्तोका. लव । सप्तसप्ततिर्लवा मुहूर्त । त्रिंशन्मुहूर्ता अहोरात्रः । पञ्चदशाऽहोरात्रा. पक्षः । द्वौ पक्षौ मास· । द्वौ मासौ ऋतु· । ऋतवस्त्रयोऽयनम् । द्वेऽयने सवत्सर.[1] । चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि पूर्वाङ्गम् । चतुरशीतिपूर्वाङ्गशतसहस्राणि पूर्वम् । एवमनयैव वृद्धया पर्वाङ्ग-पर्व-नयुताङ्ग-नयुत-कुमुदाङ्ग-कुमुद-पद्माङ्ग-पद्म-नलिनाङ्ग-नलिन-कमलाङ्ग-कमल-तुटचाङ्ग-तुटच-अटटाङ्ग-अटट-अममाङ्ग-अमम-हूहूअङ्ग-हूहू-लताङ्ग-लता-महालताङ्ग-महालताप्रभृतिसज्ञा[2] । कालो वर्षगणनागम्य सख्येयो वेदितव्य । तत परोऽसख्येय. पल्योपमसागरोपम-प्रमित. । तत. परोऽनन्त कालोऽतीतोऽनागतश्च सर्वज्ञप्रत्यक्ष· ।

भावप्रमाण पञ्चविध ज्ञानम् पुरस्ताद्व्याख्यातम् ।
यथैवेते उत्कृष्टजघन्ये स्थिती नृणा तथैव–

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

तिरश्चां योनिस्तिर्यग्योनि । का पुनरसौ ?

तिर्यङ्नामकर्मोदयापादितं जन्म तिर्यग्योनिः ।१। तिर्यग्गतिनाम्न कर्मण· उदयेनापादित जन्म तिर्यग्योनिरिति व्यपदिश्यते । तिर्यग्योनौ जातास्तिर्यग्योनिजा । तेषां तिर्यग्योनिजानाम् उत्कृष्टा भवस्थिति त्रिपल्योपमा, जघन्याऽन्तर्मुहूर्ता । मध्ये विकल्प, तत्प्रतिपादनार्थमिदमुच्यते––

तिर्यञ्चः त्रिविधाः एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् ।२। एकेन्द्रिया विकलेन्द्रिया. पञ्चेन्द्रियाश्चेति त्रिविधा तिर्यञ्चो वेदितव्या ।

द्वादशद्वाविंशतिदशसप्तत्रिवर्षसहस्राणि एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टा स्थितिर्यथासंभवं त्रीणि रात्रिन्दिवानि च ।३। एकेन्द्रिया पञ्चविधा पृथिवीकायिका अप्कायिका तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिकाश्चेति । तत्र पृथिवीकायिका द्विविधा शुद्धपृथिवीकायिका खरपृथिवीकायिकाश्चेति । तत्र शुद्धपृथिवीकायिकानाम् उत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशवर्षसहस्राणि । खरपृथिवीकायिकाना द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि । वनस्पतिकायिकाना दशवर्षसहस्राणि । अप्कायिकाना सप्तवर्षसहस्राणि । वायुकायिकाना त्रीणि वर्षसहस्राणि । तेजस्कायिकाना त्रीणि रात्रिन्दिवानि ।

विकलेन्द्रियाणां द्वादशवर्षा एकान्नपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि षण्मासाश्च ।४। द्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशवर्षा । त्रीन्द्रियाणा एकान्नपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि । चतुरिन्द्रियाणा षण्मासा ।

पञ्चेन्द्रियाणां पूर्वकोटिनवपूर्वाङ्गानि द्वित्वारिंशद्द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि त्रिपल्योपमा च ।५। पञ्चेन्द्रिया तैर्यग्योना पञ्चविधा –जलचरा, परिसर्पा, उरगा, पक्षिण, चतुपादश्चेति । तत्र जलचराणामुत्कृष्टा स्थिति मत्स्यादीना पूर्वकोटी[3] । परिसर्पाणा गोधानकुलादीनां नव पूर्वाङ्गानि । उरगाणा द्विचत्वारिशद्वर्षसहस्राणि । पक्षिणा द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि । चतु.पदां त्रीणि पल्योपमानि । सर्वेषा तेषा जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्ता ।

किमर्थो योगविभाग: ?

---

१ –त्सरं चतु– आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू० । २ –संज्ञाः कालो आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू० । ३ पूर्वाङ्गं वर्षलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा । तद्गुणितं भवेत् पूर्वं तत्कोटिः पूर्वकोटयसौ ॥

पृथग्योगकरणं यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ।६। प्रत्येकं[१] यथा स्यातामिति यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो योगविभाग क्रियते ।

[२]अथैतेषा भवस्थिति· कायस्थिति· का ? क पुनरनयोर्विशेष ? एकभवविषया भवस्थिति. । कायस्थितिरेककायापरित्यागेन नानाभवग्रहणविषया । यद्येवमुच्यतां कस्य का कायस्थिति ? उच्यते–पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकाना कायस्थितिरुत्कृष्टा असंख्येया लोका.[३] । वनस्पतिकायिकस्याऽनन्त काल[४] असंख्येया पुद्गलपरिवर्ता.[५] आवलिकाया असंख्येयभागमात्रा । विकलेन्द्रियाणाम् असख्येयानि वर्षसहस्राणि । पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यङ्-मनुष्याणा[६] तिस्र[७] पल्योपमा पूर्वकोटीपृथक्त्वेनाऽभ्यधिका. । तेषा सर्वेषां जघन्या कायस्थितिरन्तर्मुहूर्ता । देवनारकाणा भवस्थितिरेव कायस्थितिरिति ।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः[८] ।

---

१ प्रत्येकमुभयथा आ०, ब०, द०, मु० । नृतिर्यग्योनिजस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते इत्येकयोगे कृते मनुष्याणां परा स्थितिः त्रिपल्योपमा तिर्यग्योनिजानामपरा स्थितिरन्तर्मुहूर्तेति प्राप्नोति, कुतः ? समवचने यथासङ्ख्यं शैलीयमाचार्यस्येति न्यायबलात्, तन्माभूदिति पृथग्योगकरणम् । २ अथैतेषां कायस्थितिः का मू० । ३ असंख्येयानां लोकानां यावन्तः प्रदेशाः तावन्तः समयास्तेषां कायस्थितिरित्यर्थः । ४ सा कियत्प्रमाणेत्यत आह । ५ असंख्येयं किम्प्रमाणम् । ६ तिर्यञ्चश्च मनुष्याश्च । ७ कश्चिज्जीवः सप्ताष्ट वारान् पूर्वकोट्यायुर्मनुष्यो भूत्वा विदेहेषूत्पन्नः पश्चाद् देवकुर्वादिषु त्रिपल्योपमायुष्यो भूत्वोत्पन्नः तं प्रति एवमुक्तम् । एवं तिरश्चामपि योज्यम् । ८ –प्तः । श्रीवीतरागाय नमः । भूबिललेश्याद्या-युर्द्वीपोदधिवाप्यगिरिसरःसरिताम् । मानं नणां च भेदः स्थितिस्तिरश्चामपि तृतीये । श्र० ।

*

चतुर्थोऽध्यायः

असकृद् देवशब्द उक्त *"**भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्**" [त० सू० १।२०] इत्येवमादिषु, तत्र न ज्ञायते के देवा· कियन्तो वा इति ? तन्निश्चयार्थमित उत्तरं प्रक्रम्यते। अथवा, सम्यग्दर्शनविषयजीवभेदत्रसस्थावरनिर्णयाय तदधिकरणभूताधस्तिर्यग्लोकनिवेशक्रमो व्याख्यात, इतस्तद्विशेषप्रतिपत्तये ऊर्ध्वलोकविभागो वक्तव्य । तत्र [१]बहुवक्तव्यसद्भावेऽप्यधिपतिप्रतिपादनपुरस्सरस्तदधिकरणविभागनिर्णय इतीदमुच्यते– ५

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

देवगतिनामकर्मोदये सति द्युत्याद्यर्थाविरोधाद् देवाः ।१। अन्तरङ्गहेतौ देवगतिनामकर्मोदये सति बाह्यद्युत्यादि[२]क्रियासबन्धमन्तर्नीय दीव्यन्तीति देवा इति व्यपदिश्यन्ते। एकत्वेन निर्देश कर्तव्य देवश्चतुर्णिकाय इति, स जात्यभिधानाद् बहूनामर्थाना प्रतिपादको भवति इति ?अत उत्तर पठति— १०

बहुत्वनिर्देशोऽन्तर्गतभेदप्रतिपत्त्यर्थः ।२। इन्द्रादिकृता· स्थित्यादिजनिताश्चाऽन्तर्गता बहवो देवभेदा सन्ति तेषा प्रतिपत्त्यर्थं बहुत्वनिर्देश क्रियते।

स्वधर्मविशेषापादितसामर्थ्यात् निचीयन्त इति निकायाः ।३। तस्य देवगतिनामकर्मोदयस्वधर्मविशे[३]षापादितभेदस्य सामर्थ्यान्निचीयन्त इति निकाया संघाता इत्यर्थ । चत्वारो निकाया येषा ते चतुर्णिकाया. । के पुनस्ते ? भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्चेति। १५

तेषा लेश्यावधारणार्थमुच्यते–

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

आदित इति वचनं विपर्यासनिवृत्त्यर्थम् ।१। अन्ते अन्यथा वा ग्रहणं मा विज्ञायीति आदित इत्युच्यते। आदौ आदित । २०

द्व्येकनिवृत्त्यर्थं त्रिग्रहणम् ।२। [४]द्वयोरेकस्य च निवृत्त्यर्थं त्रिग्रहण क्रियते। अथ चतुर्णां निवृत्त्यर्थं कस्मान्न भवति ? आदित इति वचनात्[५]।

लेश्यावधारणार्थं पीतान्तवचनम् ।३। षट्लेश्या उक्ता । तत्र चतसृणा लेश्यानामवधारणार्थं क्रियते पीतान्तग्रहणम्। पीत तेज इत्यर्थं । पीता अन्ते यासा ता पीतान्ता, पीतान्ता लेश्या येषा ते पीतान्तलेश्या । तेनैतदुक्त भवति–आदितस्त्रिषु निकायेषु भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कनामसु देवाना कृष्णा नीला कापोता पीतेति चतस्रो लेश्या भवन्तीति। २५

तेषा निकायानामन्तर्विकल्पप्रतिपादनार्थमाह–

---

१ प्रकीर्णकादि। २ आदिशब्देन क्रीडादिकं ग्राह्यम्। ३ स्वकृतपुण्यकर्मविशेषात्। ४ निकाययोः। ५ पञ्चमाद्यभावात् चतुर्थस्यादित्वाघटनात्।

दशाष्टपञ्च द्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥३॥

चतुर्णां दशादिभिर्यथासंख्यमभिसंबन्धः ।१। चतुर्णां देवनिकायाना दशादिभिः सख्याशब्दै यथासंख्यमभिसंबन्धो वेदितव्यः । दशविकल्पा भवनवासिन, अष्टविकल्पा व्यन्तरा, पञ्चविकल्पा ज्योतिष्का, द्वादशविकल्पा वैमानिका इति । सर्वेषा वैमानिकानां द्वादशविकल्पान्त पातित्वे प्रसक्ते तद्व्यपोहार्थमाह–

कल्पोपपन्नपर्यन्तवचनं ग्रैवेयकादिव्युदासार्थम् ।२। ग्रैवेयकादयो वक्ष्यन्ते तेषा द्वादशविकल्पेष्वन्तर्भावो मा विज्ञायीति विशेषणमुपादीयते । अथ कथ कल्पा ?

इन्द्रादिविकल्प[1]नाधिकरणत्वात्कल्पा रूढिवशात् ।३। इन्द्रादय. प्रकारा वक्ष्यमाणा दश एषु कल्प्यन्ते इति कल्पा । भवनवासिषु च दशविकल्पसद्भावात् कल्पप्रसङ्ग इति चेत्; न, रूढिवशादिति विशे[2]ष्योक्तत्वात् । कल्पेषूपपन्ना कल्पोपपन्ना. पर्यन्ता येषां ते इमे कल्पोपपन्नपर्यन्ता । कल्पोपपन्ना इति कथं वृत्ति ? *"**साधनं कृता**" [जैनेन्द्र० १।३।२९] इति वा मयूरव्यसकादित्वाद्वा[3] ।

पुनरपि तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थ[4]माह–

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्याकिल्विषिकाश्चैकशः ॥४॥

परमैश्वर्यादिन्द्रव्यपदेशः ।१। अन्यदेवाऽसाधारणाणिमादि[5]गुणयोगादिन्दन्तीतीन्द्रा ।

[6]तत्स्थानार्हत्वात् सामानिकाः ।२। तेषामिन्द्राणामाज्ञैश्वर्यवर्जित यत् स्थानायुर्वीर्यपरिवारभोगोपभोगादि तदेतेषा समानम्, समाने भवा [7]सामानिका. *"**समानस्य तदादेश्च**" [जैनेन्द्रवा० ३।३।३५] इति ठञ् । महत्तरपितृगुरूपाध्यायतुल्या. ।

मन्त्रिपुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिंशाः ।३। ययेह राज्ञा मन्त्रिपुरोहिता हितानुशासिनस्तथा तत्रेन्द्राणा त्रायस्त्रिंशा वेदितव्या । कथ त्रायस्त्रिंशा ? त्रयस्त्रिंशति जाता त्रायस्त्रिंशा *"**दृष्टे साम्नि च जाते च [8]अण् डिद्वा विधीयते**" [पात० महा० २।४।७] इत्यभिधानमस्तीति अण् डिद् भवति । ननु च भेदाभावाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति ? [9]सख्यानसख्येयभेदविवक्षायाम् आधाराधेयत्वोपपत्तेर्वृत्तिर्भवति । स्वार्थे को वा[10], वात्[11] अण्, त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशा इति । कुत ? *[12]"**हृत**" [जैनेन्द्र० ३।१।६१] इति बहुत्वनिर्देशाद् अन्तमादिवत् ।

[13]वयस्यपीठमर्दसदृशाः पारिषदाः ।४। परिषदि जाता भवा वा पारिषदा, ते वयस्यपीठमर्दसदृशा वेदितव्या ।

---

१ –ल्पाधीनक– आ०, ब०, मु० । –ल्पाधानक– द० । –ल्पाधिक– श्र० । २ –षोक्ततत्वात् आ०, ब०, द०, मु०, ता०, श्र० । वैमानिकेष्वेव वर्तते कल्पशब्दः । ३ "मयूरव्यंसकादयश्च" –जैनेन्द्र० १।३।६६। ४ –त्र्यर्थमिदमाह आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू० । ५ –दिग्रहणयो– आ०, ब०, द०, मु० । ६ तत्समानत्वात्सा– भा० १ । ७ अध्यात्मादित्वात् –समानादिलोकोत्तरपदाध्यात्मादिभ्यः ठण् इति ठण् । ८ "···अण् डिद् द्विर्वा विधीयते" –पात० महा० । ९ नैष दोषः । १० विषयव्याप्ति दर्शयति वेत्यनेन । वादण् ता०, मू० । ११ 'वात्' इति प्रथमाविभक्तिः इत्यर्थः । इदमेव ज्ञापकं प्रथमाविभक्तेः स्वार्थिकोऽणादिर्भवत्यन्यत्रेति । १२ तद्धितप्रत्ययः । १३ "वेश्याचार्यः पीठमर्दः– वेश्याचार्यो वेश्यानां नृत्तोपाध्यायः, पीठं नर्तनस्थानं पादैर्मृद्नाति पीठमर्दः ।" –अभिधानार्णव० २।२४४ ।

आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमाः ।५। आत्मानं रक्षन्तीति आत्मरक्षास्ते शिरोरक्षोपमा । आवृतावरणा[1] प्रहरणोद्यता रौद्राः पृष्ठतोऽवस्थायिन । अपायाभावात्तत्कल्पनावैयर्थ्यमिति चेत्; न, ऋद्धिविशेषख्यापनार्थत्वात् प्रीतिप्रकर्षहेतुत्वाच्च ।

आरक्षिकार्थचरसमा लोकपालाः ।६। लोक पालयन्तीति लोकपाला अर्थचरा रक्षिकसमा ते वेदितव्या । ५

दण्डस्थानीयान्यनीकानि ।७। पदात्यादीनि[2] सप्तानीकानि दण्डस्थानीयानि वेदितव्यानि ।

प्रकीर्णकाः पौरजनपदकल्पाः ।८। यथेह राज्ञा पौरा जानपदाश्च प्रीतिहेतव तथा तत्रेन्द्राणां प्रकीर्णका. प्रत्येतव्या ।

आभियोग्या दाससमानाः ।९। यथेह दासा वाहनादिव्यापार कुर्वन्ति तथा तत्राऽऽभियोग्या वाहनादिभावेनोपकुर्वन्ति । आभिमुख्येन योगोऽभियोग, अभियोगे भवा आभियोग्या तत· स्वार्थे चातुर्वर्ण्यादिवत् ट्यण् । अथवा अभियोगे साधव आभियोग्या, अभियोगमर्हन्तीति वा । १०

[3]अन्त्यवासिस्थानीयाः किल्विषिकाः।१०। किल्विष पापं तदेषामस्तीति किल्विषिका. ते अन्त्यवासिस्थानीया मता । १५

एकश इति वीप्सार्थे शस् ।११। एकैकस्य निकायस्य एकश इति वीप्सार्थे द्योत्ये शस् प्रयुज्यते । एत इन्द्रादयो दश विकल्पाश्चतुर्ष निकायेषु उत्सर्गेण प्रसक्तास्ततोऽपवादार्थमाह–

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च त्रायस्त्रिंशान् लोकपालाश्च वर्जयित्वा इतरेऽष्टौ विकल्पा द्रष्टव्या । २०

अथ तेषु निकायेषु किमेकैक इन्द्र· उताऽन्य प्रतिनियम कश्चिदस्तीति ? अत आह–

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

पूर्वयोरिति वचनं प्रथमद्वितीयनिकायप्रतिपत्त्यर्थम् ।१। प्रथमस्य द्वितीयस्य च निकायस्य प्रतिपत्त्यर्थ पूर्वयोरिति द्विवचन क्रियते । कथं पूर्वशब्दो द्वितीय गमयति ? तृतीयापेक्षया पूर्वोपपत्ते । चतुर्थापेक्षया तृतीयस्यापि पूर्वत्वप्रसङ्ग इति चेत्, नः प्रत्यासत्तेर्द्वितीयस्यैवोपादानात् । अथ कथमत्र भेद ? ननु व्यतिरेकाभावादभेदेन निर्देशो न्याय्य ? उच्यते– २५

समूहसमूहिनोः कथञ्चिदर्थान्तरत्वोपपत्तेर्भेदविवक्षा ।२। सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभि कथञ्चिदर्थान्तरत्व समूहसमूहिनोर्लोके दृष्टम् । यथा व्रीहीणा राशि, आम्राणा वनमिति । तथा देवाना निकाययोश्च भेदविवक्षायाम् अधिकरणत्वेन सम्बन्धित्वेन वा निर्देश क्रियते । ३०

द्वीन्द्रा इत्यन्तर्नीतवीप्सार्थो निर्देशः ।३। द्वौ द्वाविन्द्रौ येषा ते द्वीन्द्रा इति वीप्सार्थमन्तर्नीय निर्देश क्रियते यथा द्विपदिका त्रिपदिका इति । युज्यते तत्र वीप्सागतिर्वीप्साया

---

१ कवचः । २ तथा चोक्तम् – गजाश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्तकी. । सप्तानीकानि ज्ञेयानि प्रत्येकं च महत्तरा इति । ३ अन्तेवासिस्था– श्व० ।

वुनो विधानात्, इह तु न विधानमस्ति ? यथा तर्हि सप्तपर्णोऽष्टापदमिति न चोच्यते[1] वीप्सायामिति गम्यते च, तथेहापि वीप्सार्थसंप्रत्ययः ।

के पुनस्ते द्वित्ववीप्साविषयत्वेन विवक्षिताः इति ? अत्रोच्यते–भवनवासिषु तावत् द्वौ असुरकुमाराणामिन्द्रौ चमरो वैरोचनश्च । नागकुमाराणां धरणो भूतानन्दश्च । विद्युत्कुमाराणा[2] हरिसिंहो हरिकान्तश्च । [3]सुपर्णकुमाराणां वेणुदेवो वेणुधारी च । अग्निकुमाराणाम् अग्निशिखोऽग्निमाणवश्च । वातकुमाराणां वैलम्बः प्रभञ्जनश्च । स्तनितकुमाराणां सुघोषो महाघोषश्च । उदधिकुमाराणा जलकान्तो जलप्रभश्च । द्वीपकुमाराणा पूर्णो वशिष्टश्च । दिक्कुमाराणाम् अमितगतिरमितवाहनश्चेति ।

व्यन्तरेष्वपि द्वौ किन्नराणामिन्द्रौ किन्नरः किम्पुरुषश्च । किम्पुरुषाणां सत्पुरुषो महापुरुषश्च । महोरगाणाम् अतिकायो महाकायश्च । गन्धर्वाणां गीतरतिर्गीतयशाश्च । यक्षाणां पूर्णभद्रो माणिभद्रश्च । राक्षसाना भीमो महाभीमश्च । पिशाचाना कालो महाकालश्च । भूताना प्रतिरूपोऽप्रतिरूपश्च ।

अथ एषां देवानां सुखं कीदृशमित्युक्ते सुखावबोधार्थमुच्यते–

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

प्रवीचार इति कोऽय शब्द ?

मैथुनोपसेवनं प्रवीचारः ।१। प्रविपूर्वाच्चरे संज्ञायां घञ्। प्रविचरण प्रवीचार मैथुनव्यवहार इत्यर्थ । काये प्रवीचारो येषा ते इमे कायप्रवीचारा ।

आङ्ग्रहणमभिविध्यर्थम् ।२। आङ्यमभिविध्यर्थो वेदितव्य.–ईशानोऽधिपति *"**तस्येदम्**" [जैनेन्द्र० ३।३।८८] इत्यणि, ऐशान कल्प । आ एतस्मादधो ये देवास्ते कायप्रवीचारा सक्लिष्टकर्मत्वात् मनुष्यवत् स्त्रीविषयसुखमनुभवन्तीत्यर्थः । प्राग्ग्रहणे हि क्रियमाणे ऐशाने कल्पे देवान् वर्जयित्वेत्ययमर्थ. सप्रतीयेत ।

असंहितानिर्देशोऽसन्देहार्थः ।३। आ ऐशानादित्यसहितया[4] निर्देश. क्रियतेऽसन्देहार्थम् । ऐशानादित्युच्यमाने सन्देह स्यात्–'किमाङन्तर्भूत उत दिक्[5]शब्दोऽध्याहार्य' इति ? अथवा विमुच्य सशयम्, अनिष्टं कल्प्येत पूर्वयोरित्यधिकारात् ऐशानात् पूर्वयोरित्यवधिग्रहणात् ।

इतरेषां सुखविभागेऽनिर्ज्ञाते तत्प्रतिपादनार्थमाह–

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥८॥

शेषग्रहण किमर्थम् ?

उक्तावशिष्टसंग्रहार्थं शेषग्रहणम् ।१। उक्तानामवशिष्टानां सग्रहार्थं शेषग्रहणं क्रियते । के पुनस्ते ? सानत्कुमारादिकल्पनिवासिन, इतरथा हि ग्रैवेयकादिष्वपि संप्रत्यय स्यात् *"**परेऽप्रवीचाराः**" [४।९] इति वक्ष्यमाणमनवधारितविषय स्यात् । स्पर्शश्च रूपं च शब्दश्च मनश्च स्पर्शरूपशब्दमनासि, स्पर्शरूपशब्दमन.सु प्रवीचारो येषा त इमे स्पर्शरूपशब्दमन प्रवीचारा । अत्र चोद्यते––

---

१ न च वीप्सार्थप्रत्ययः श्रूयते इत्यर्थः –सम्पा० । २ हरिघोषहरि– ता० । हरिसहहरि– श्र० । ३ सुवर्णकु – श्र०, मू० । ४ –त्यसहितसन्धिरहितया आ० । ५ ऐशानात् दिशो यावत् इति दिगर्थप्रतिपत्त्यर्थं दिक्शब्दोऽध्याहार्य इत्यर्थः – सम्पा० ।

विषयविवेकापरिज्ञानादनिर्देशः ।२। इमे स्पर्शप्रवीचारा एते रूपप्रवीचारा इत्यादि-विषयविवेकापरिज्ञानादयमनिर्देश, अगमको निर्देश अनिर्देश ।

द्वयोर्द्वयोरिति वचनात्सिद्धिरिति चेत्; न; आर्षविरोधात् ।३। स्यान्मत द्वयोर्द्वयो-रिति वक्तव्यं[1] तेन विषयविवेकसिद्धिर्भवति इति ? तन्न, कि कारणम् ? आर्षविरोधात् । आर्षे ह्युक्तम्–***"सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवाः स्पर्शप्रवीचाराः, ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु रूपप्रवीचाराः । शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु शब्दप्रवीचाराः । आनतप्राणताऽऽरणाऽच्युत-कल्पेषु मनःप्रवीचारा ।"** [ ]

इन्द्रापेक्षयेति चेत्, न, आनतादिषु दोषात् ।४। स्यादेतत्–इन्द्रापेक्षया द्वयो द्वयोरिति वचनं नार्षविरोधि ? तद्यथा–सानत्कुमारमाहेन्द्रयो. कल्पयोर्द्वाविन्द्रौ तयोर्देवा. स्पर्शप्रवी-चारा, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोरेक इन्द्र, लान्तवकापिष्ठयोरप्येक, तयोर्देवा रूपप्रवीचारा । शुक्र-महाशुक्रयोरेक इन्द्र, सतारसहस्रारयोरप्येक, तयोर्देवा शब्दप्रवीचारा इति ? तन्न, कि कारणम् ? आनतादिषु दोषात् । आनतादिषु हि चत्वार इन्द्रा । कथ तर्हि निर्देश कर्तव्य. ? यथागममिति । स तर्हि [2]तथानिर्देश. कर्तव्यः ?

न वा पुनःप्रवीचारग्रहणादिष्टार्थगतेः ।५। न वैष दोष, कि कारणम् ? पुन प्रवीचार-ग्रहणादिष्टार्थगते । कथम् ? प्रवीचारग्रहणमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् ? 'कायप्रवीचारा.' इति । ननु च तद्[3]वृत्तावुपसर्जनीभूतमशक्यमनुवर्तयितुम् ? अर्थवशात् अनुवर्तत इति व्याख्यायते । तत एवं वक्तव्य शेषा स्पर्शरूपशब्दमन स्विति । एवमप्यनुवर्तमान प्रवीचारशब्द भावसा-धनो वृत्तिमन्तरेण 'शेषा' इत्यनेन सामानाधिकरण्यं न प्रतिपद्यते ? [4]शेषाणामिति तर्हि निर्देश. कर्तव्य, एव सिद्धे यत्पुन प्रवीचारग्रहण तस्यैतत्प्रयोजनम् इष्टप्रवीचारसिद्धि कथ स्यात् इति। क पुनरिष्ट. । आर्षाविरोधी–सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्हि देवान् मैथुनसुखप्रेप्सयोत्प-न्नेच्छान् विदित्वा देव्य उपतिष्ठन्ते, तदङ्गस्पर्शनमात्रादेव प्रीतिमुपलभन्ते विनिवृत्तेच्छाश्च भवन्ति तथा देव्योऽपि । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवा दिव्याङ्गनास्वभावसुभगशृगा-राकारविलासचतुरमनोज्ञवेषरूपालोकनमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति । शुक्रमहाशुक्रसतार-सहस्रारेषु देवा सुरवनिताना मधुरसङ्गीतमृदुहसितकथनभूषणरवोपदर्शनश्रवणरसायनं पीत्वैव परां प्रीतिमास्कन्दन्ति । आनतप्राणताऽऽरणाऽच्युतकल्पेषु देवा स्वाङ्गनामन सकल्प-मात्रादेव परं सुखमनुभवन्ति ।

अथोत्तरेषा कि प्रकार सुखमित्युक्ते तन्निश्चयार्थमाह–

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

पर इति किमर्थम्, अप्रवीचारा इत्येव सिद्धमुत्तरेषा ग्रहणम् ?

[5]परवचनं कल्पातीतसर्वदेवसंग्रहार्थम् ।१। कल्पातीताना सर्वेषा देवाना सग्रहार्थ पर-वचनं क्रियते, इतरथाऽनिष्टमपि कल्पयितु शक्येत ।

अप्रवीचारग्रहणं प्रकृष्टसुखप्रतिपत्त्यर्थम् ।२। प्रवीचारो हि वेदनाप्रतीकारस्तदभावे तेषा परमसुखमनवरतमित्येतस्य प्रतिपत्त्यर्थमप्रवीचारा इत्युच्यते[6]।

---

१ व्याख्येयम् । २ –णाच्युतेषु आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ शेषा.स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा यथागममिति । ४ समासे– सम्पा० । ५ शेषाणां स्पर्शरूपशब्दमनःसु । ६ परे वच– भा० १ । ६ इत्युच्यन्ते आ,० ब०, मु० ।

उक्तमादिनिकायदेवा दश विकल्पा इति तेषा सामान्यविशेषसंज्ञानिर्ज्ञानार्थमाह–

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥१०॥

भवनेषु वसनशीला भवनवासिनः ।१। भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिन इति प्रथमनिकायस्येय सामान्यसज्ञा ।

असुरादयस्तद्विकल्पाः ।२। तेषा भवनवासिनामसुरादयो दश विकल्पा द्रष्टव्या ।

सर्वे नामकर्महेतुकाः ।३। सर्वे ते नामकर्मोदयापादित[1]विशेषा वेदितव्या ।

अस्यन्ति देवैः सहासुरा इति चेत्, न, अवर्णवादात् ।४। स्यान्मतं युद्धे देवै. सहास्यन्ति[2] प्रहरणादीनित्यसुरा इति, तन्न; कि कारणम् ? अवर्णवादात् । अवर्णवाद एष देवानामुपरि मिथ्याज्ञाननिमित्त । कुत. ?

महाप्रभावत्वात् ।५। ते हि सौधर्मादयो देवा महाप्रभावा', न तेषामुपरि इतरेषां निकृष्टबलानां [3]मनागपि प्रातिलोम्येन वृत्तिरस्ति । अपि च,

वैरकारणाभावात् ।६। तेषा प्रतिविशिष्टशुभकर्मोदयापादितविभवानामर्हत्पूजाभोगानुभवनमात्रतन्त्राणां परदारहर[4]णादिनिमित्तं न वैरमस्ति ततो नासुरा· सुरैर्युध्यन्ते ।

अथ ते कथं कुमारा ?

कौमारवयोविशेषविक्रियादियोगात्कुमाराः ।७। सर्वेषां देवानामवस्थितवय स्वभावत्वेऽपि कौमारवयोविशेषस्वभावस्वरूप विक्रिया च कुमारवदुद्धतवेषभाषाऽऽभरणप्रहरणावरणयानवाहनत्व च उल्वणरागक्रीडनप्रियत्व चेत्येतैर्योगात् कुमारा इति व्यपदिश्यन्ते ।

प्रत्येकमभिसम्बन्धः ।८। तस्य कुमारशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्ध. क्रियते–असुरकुमारा नागकुमारा इति एवमादि ।

अत्राह क्व तेषा भवनानि इति ? अत्रोच्यते–

अस्या रत्नप्रभायाः पङ्कबहुलभागेऽसुरकुमाराणा भवनानि चतु षष्टिशतसहस्राणि । अस्माज्जम्बूद्वीपात् तिर्यगपागसख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अतीत्य पङ्कबहुलभागे चमरस्याऽसुरेन्द्रस्य चतुस्त्रिशद्भवनशतसहस्राणि, चतु षष्टिसामानिकसहस्राणि, त्रयस्त्रिशत्त्रायस्त्रिशा, तिस्र परिषद, सप्तानीकानि चत्वारो लोकपाला, पञ्चाग्रमहिष्य, चत्वारि चतु षष्टचुत्तराणि आत्मरक्षसहस्राणि, एव विभवपरिवार दक्षि[5]णार्धपति दिव्यान् भोगान् अनुभवति । तथोत्तरस्यां दिशि वैरोचनस्य त्रिशद्भवनशतसहस्राणि[6] षष्टिसामानिकसहस्राणि, त्रयस्त्रिशत्त्रायस्त्रिशा, तिस्र परिषद·, सप्तानीकानि, चत्वारो लोकपाला·, पञ्चाग्रमहिष्य, चत्वारि चतु षष्टचुत्तराणि आत्मरक्षसहस्राणि, एव विभवपरिवारः उत्त[7]रार्धपति· दिव्यान् भोगान् अनुभुङ्क्ते ।

खरपृथ्वीभागे उपर्यधश्चैकैकयोजनसहस्रं वर्जयित्वा शेषे नवाना कुमाराणा भवनानि भवन्ति । तद्यथा–अस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगपागसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानतीत्य धरणस्य नागराजस्य चतुश्चत्वारिंशत्भवनशतसहस्राणि, षष्टिसामानिकसहस्राणि, त्रयस्त्रिशत्त्रायस्त्रिशा, तिस्रः

---

१ –वितावेदि– आ०, ब०, द०, मु० । २ क्षिपन्ति । ३ मनसापि आ०, ब०, द०, मु०, श्र०, टि०, ता० । ४ –ग्रहणा– श्र० । ५ –णाधिप– आ०, ब०, मु० । ६ –णि चतुःषष्टि– आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ७ –त्तराधिप– आ०, ब०, मु० ।

परिषद, सप्तानीकानि, चत्वारो लोकपालाः, षडग्रमहिष्यः, षडात्मरक्षसहस्राण्याख्यायन्ते। तथा अस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगुदगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अतीत्य भूतानन्दस्य नागेन्द्रस्य चत्वारिंशद्भवनशतसहस्राणि, अवशिष्ट धरणेन्द्रवज्ज्ञेयम्। तान्येतानि नागकुमाराणा चतुरशीतिभवनशतसहस्राणि। तथा सुपर्णकुमाराणा द्विसप्ततिर्भवनशतसहस्राणि। तत्र वेणुदेवस्य दक्षिणाधिपते अष्टत्रिंशद्भवनशतसहस्राणि। इतरद्धरणेन्द्रवन्नेयम्। उत्तराधिपतेर्वेणुधारिण ५
चतुस्त्रिंशद्भवनशतसहस्राणि। अवशिष्टं धरणेन्द्रवन्नेयम्। विद्युदग्निस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणा षण्णामपि प्रत्येक षट्सप्ततिर्भवनशतसहस्राणि। तत्र दक्षिणेन्द्राणा [1]हरिसिंहाग्निशिखसुघोषजलकान्तपूर्णामितगतीना प्रत्येकं चत्वारिंशद्भवनशतसहस्राणि। हरिकान्ताग्निमाणवमहाघोषजलप्रभवशिष्टामितवाहनानाम् उत्तराधिपतीना प्रत्येक षट्त्रिंशद्भवनशतसहस्राणि। वातकुमाराणा षण्णवतिर्भवनशतसहस्राणि। तत्र वैलम्बस्य दक्षिणेन्द्रस्य पञ्चाशद्भवनशतस- १०
हस्राणि। उत्तराधिपतेः प्रभञ्जनस्य षट्चत्वारिंशद्भवनशतसहस्राणि। सर्वेषामेषा धरणेन्द्रवन्नेयम्। तान्येतानि भवनानि समुदितानि सप्तकोट्यो द्विसप्ततिश्च शतसहस्राणि।

द्वितीयनिकायस्य सामान्यविशेषसज्ञावधारणार्थमाह–

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥११॥

विविधदेशान्तरनिवासित्वाद् व्यन्तराः ।१। विविधदेशान्तराणि येषा निवासास्ते १५
व्यन्तरा इत्यन्वर्था। सामान्यसज्ञेयमष्टानामपि विकल्पानाम्।

किन्नरादयस्तद्विकल्पाः ।२। तेषा व्यन्तराणामष्टौ विकल्पा किन्नरादयो द्रष्टव्या।

नामकर्मोदयविशेषतस्तद्विशेषसंज्ञाः ।३। देवगतिनाम्नो मूलस्य उत्तरोत्तरप्रकृतिभेदस्योदयाद्विशेषसज्ञा भवन्ति। किन्नरनामकर्मोदयात् किन्नरा, किम्पुरुषनामकर्मोदयात् किम्पुरुषा इत्यादि। २०

क्रियानिमित्ता एवेति चेत्; न; उक्तत्वात् ।४। स्यादेतत्–क्रियानिमित्ता एवैता सज्ञा, किन्नरान् कामयन्त इति किन्नरा, किम्पुरुषान् कामयन्त इति किम्पुरुषा, पिशिताशनात् पिशाचा इत्यादि, तन्न, कि कारणम्? उक्तत्वात्। उक्तमेतत्–अवर्णवाद एष देवानामुपरीति। कथम्? न हि ते शुचिवैक्रियिकदेहा अशुच्यौदारिकशरीरान् नरान् कामयन्ते, नापि पिशितमश्नन्ति। [2]मासमदिरादिषु दृष्टा लोके प्रवृत्तिरिति चेत्, न, क्रीडासुख- २५
निमित्तत्वात्, मानसाहारा[3]हि ते।

क्व पुनस्तेषामावासा इति? अत्रोच्यते–अस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगपागसख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अतीत्य औपरिष्टे खरपृथिवीभागे किन्नरस्य किन्नरेन्द्रस्य असख्येयानि नगरशतसहस्राणि वर्ण्यन्ते। तस्य चत्वारि सामानिकसहस्राणि, तिस्र परिषद, सप्तानीकानि, चतस्रोऽग्रमहिष्य, षोडशात्मरक्षसहस्राणि। उदीच्या दिशि पूर्ववदेव किन्नरेन्द्र किम्पुरुषस्ता- ३०
दृग्विभवपरिवार। एव शेषाणां षण्णां दक्षिणेन्द्राणां सत्पुरुषातिकायगीतिरतिपूर्णभद्रस्वरूपकालाख्याना दक्षिणे भागे आवासा। तथा महापुरुषमहाकायगीतयशोमाणिभद्राऽप्रतिरूपमहाकालानां तु उत्तराधिपतीनाम् उत्तरभागे आवासास्तावन्त एव वेदितव्या.। राक्षसेन्द्रस्य

---

१ हरिसहाग्नि– श्र०, मू०। २ मत्स्यमदि– मू०, श्र० टि०। ३ –हारश्च भा० २।

भीमस्य दक्षिणस्या दिशि पङ्कबहुलभागेऽसख्येयानि नगरशतसहस्राणि आख्यायन्ते । उत्तरस्या दिशि महाभीमस्य राक्षसेन्द्रस्य पङ्कबहुलभागेऽसख्येयानि नगरशतसहस्राणि वर्ण्यन्ते । षोडशानामपि एषा व्यन्तरेन्द्राणां सामानिकादिपरिवारास्तुल्या । भूमितलेऽपि द्वीपाद्रिसमुद्रदेशग्रामनगरत्रिकचतुष्कचत्वरगृहाङ्गणरथ्याजलाशयोद्यान[1]देवकुलादीनि असख्येयानि आवास-
५ शतसहस्राणि तेषामाख्यायन्ते ।

तृतीयस्य निकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञासकीर्तनार्थमाह—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

द्योतनस्वभावत्वाज्ज्योतिष्काः ।१। द्योतन प्रकाशन तत्स्वभावत्वादेषा पञ्चानामपि विकल्पाना ज्योतिष्का इतीयमन्वर्था [2]सामान्यसज्ञा । काऽस्या सिद्धि ?

१० **ज्योतिःशब्दात्स्वार्थे के निष्पत्तिः ।२।** ज्योति शब्दात् स्वार्थे के[3] सति ज्योतिष्का इति निष्पद्यते । कथ स्वार्थे क ? यावादिषु[4] पाठात् ।

प्रकृतिलिङ्गानुवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; अतिवृत्तिदर्शनात् ।३। स्यान्मतम्—यदि स्वार्थिकोऽयं क, ज्योति शब्दस्य नपुसकलिङ्गत्वात् कान्तस्यापि नपु सकलिङ्गता प्राप्नोतीति ? तन्न, कि कारणम् ? अतिवृत्तिदर्शनात् । प्रकृतिलिङ्गातिवृत्तिरपि दृश्यते—यथा [5]कुटीर
१५ शमीर शुण्डार इति ।

तद्विशेषाः सूर्यादयः ।४। तेषा ज्योतिष्काणा सूर्यादय पञ्च विकल्पा द्रष्टव्या ।

पूर्ववत्तन्निवृत्तिः ।५। तेषा सज्ञाविशेषाणा पूर्ववन्निवृत्तिर्वेदितव्या—देवगतिनामकर्मविशेषोदयादिति ।

सूर्याचन्द्रमसावित्यानङ् देवताद्वन्द्वे ।६। सूर्यश्च चन्द्रमाश्च द्वन्द्वे कृते पूर्वपदस्य *"देवता-
२० द्वन्द्वे" [जैनेन्द्र० ४।३।१३९] इत्यानङ् भवति ।

सर्वत्र प्रसङ्ग इति चेत्; न; पुनर्द्वन्द्वग्रहणादिष्टे वृत्तिः ।७। स्यादेतत्—यदि *"देवताद्वन्द्वे" [जैनेन्द्र० ४।३।१३९] इत्यानङ् भवति, इहापि प्राप्नोति ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारा किन्नरकिम्पुरुषादय असुरनागादय इति, तन्न, कि कारणम् ? *"आनङ् द्वन्द्वे" [जैनेन्द्र० ४।३।१३८] इत्यत द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणात् इष्टे द्वन्द्वे वृत्तिर्जायते ।

२५ **पृथग्ग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् ।८।** सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहादिभ्य पृथक् ग्रहण क्रियते प्राधान्यख्यापनार्थम् । ज्योतिष्केषु हि सर्वेषु सूर्याणा चन्द्रमसा च प्राधान्यम् । कि कृत पुनस्तत्? प्रभावादिकृतम् ।

सूर्यस्यादौ ग्रहणम् अल्पाच्तरत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च ।९। सूर्यशब्द आदौ प्रयुज्यते । कुत ? [6]अल्पाच्तरत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च । सर्वाभिभवसमर्थत्वाद्धि अभ्यर्हितः सूर्य ।

३० **ग्रहादिषु च ।१०।** किम् ? 'अल्पाच्तरत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च पूर्वनिपात' इति वाक्यशेष । ग्रहशब्दस्तावत् अल्पाच्तरोऽभ्यर्हितश्च तारकाशब्दात्, नक्षत्रशब्दोऽभ्यर्हितः ।

---

१ देवालय । २ –र्यसा– भा०, ता० । ३ क प्रत्यये– स० । ४ "कोऽवियावादेः" –जैनेन्द्र० ४।२।३५ । ५ ह्रस्वा कुटी कुटीरः, ह्रस्वा शमी शमीरः, ह्रस्वा शुण्डा शुण्डारः –स० । ६ अल्पाक्षर– भा० २ । ६ चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ततः । मु० ।

क्व पुनस्तेषां निवास इति ? अत्रोच्यते–अस्मात् समात् भूमिभागादूर्ध्वं सप्त योजनशतानि नवत्युत्तराणि [1]उत्पत्य सर्वज्योतिषाम् अधोभाविन्यस्तारकाश्चरन्ति । ततो दशयोजनान्युत्पत्य सूर्याश्चरन्ति । ततोऽशीतियोजनान्युत्पत्य चन्द्रमसो भ्रमन्ति । ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य नक्षत्राणि । ततस्त्रीणि योजनानि उत्पत्य बुधा । ततस्त्रीणि योजनानि उत्पत्य शुक्रा । ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य[2] बृहस्पतय । ततश्चत्वारि योजनान्युत्पत्य अङ्गारका· । ततश्चत्वारि योजनान्युत्क्रम्य शनैश्चराश्चरन्ति। स एष ज्योतिर्गणगोचरो नभोऽवकाश दशाधिकयोजनशतबहुल तिर्यगसख्यातद्वीपसमुद्रप्रमाणो घनोदधिपर्यन्त. । उक्तं च– ५

#"णवदुत्तरसत्तसया दससीदिञ्चदुतिगं च दुगचदुक्कं ।
तारारविससिरिक्खा बुधभग्गवगुरुअंगिरारसणी ॥"[3] [ ] १०

तत्राभिजित् सर्वाभ्यन्तरचारी, मूल सर्वबहिश्चारी, भरण्य सर्वाधश्चारिण्य, स्वाति सर्वोपरिचारी । तप्ततपनीयसमप्रभाणि लोहिताक्षमणिमयानि अष्टचत्वारिशद्योजनैकषष्टिभागविष्कम्भायामानि तत्त्रिगुणाधिकपरिधीनि चतुर्विंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि अर्धगोलकाकृतीनि षोडशभिर्देवसहस्रैरूढानि सूर्यविमानानि । प्रत्येक पूर्वदक्षिणोत्तरापरान् भागान् क्रमेण सिहकुञ्जरवृषभतुरगरूपाणि विकृत्य चत्वारि चत्वारि देवसहस्राणि वहन्ति । एषामुपरि सूर्याख्या देवा । तेषा प्रत्येक चतस्रोऽग्रमहिष्य–सूर्यप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी प्रभङ्करा चेति, प्रत्येक देवीरूपचतु सहस्रविकरणसमर्था. । ताभि सह दिव्यं सुखमनुभवन्तोऽसख्येयशतसहस्राधिपतय सूर्या परिभ्रमन्ति । विमलमृणालवर्णान्यङ्कमयानि चन्द्रविमानानि । षट्पञ्चाशद्योजनैकषष्टिभागविष्कम्भायामानि अष्टाविंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि, प्रत्येक षोडशभिर्देवसहस्रै पूर्वादिषु दिक्षु क्रमेण सिहकुञ्जराश्ववृषभरूपविकारिभिरूढानि । तेषामुपरि चन्द्राख्या देवा । तेषा प्रत्येक चतस्रोऽग्रमहिष्य–चन्द्रप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी प्रभङ्करा चेति, प्रत्येक चतुर्देवीरूपसहस्रविकरणपटव । ताभि. सह सुखमुप[3]भुञ्जानाश्चन्द्रमसोऽसख्येयविमानशतसहस्राधिपतयो विहरन्ति । अञ्जनसमप्रभाणि अरिष्टमणिमयानि राहुविमानान्येकयोजनायामविष्कम्भाण्यर्धतृतीयधनु शतबाहल्यानि । नवमल्लिकाप्रभाणि रजतपरिणामानि शुक्रविमानानि गव्यूतायामविष्कम्भाणि । जात्यमुक्ताद्युतीनि अङ्कमणिमयानि बृहस्पतिविमानानि देशोनगव्यूतायामविष्कम्भाणि । कनकमयान्यर्जुनवर्णानि बुधविमानानि । तपनीयमयानि तप्ततपनीयाभानि शनैश्चरविमानानि । लोहिताक्षमयानि तप्तकनकप्रभाण्यङ्गारकविमानानि । बुधादिविमानान्यर्धगव्यूतायामविष्कम्भाणि । शुक्रादिविमानानि राहुविमानतुल्यबाहल्यानि । राह्वादिविमानानि प्रत्येक चतुर्भि देवसहस्रैरुह्यन्ते । नक्षत्रविमानाना प्रत्येक चत्वारि देवसहस्राणि वाहकानि । तारकाविमानाना प्रत्येकं द्वे देवसहस्रे वाहके । राह्वा[4]द्याभियोग्याना रूपविकाराश्चन्द्रवन्नेया । नक्षत्रविमानानाम् उत्कृष्टो विष्कम्भ क्रोश । तारकाविमानाना वैपुल्य जघन्य क्रोशचतुर्भाग· । मध्यम साधिक. क्रोशचतुर्भाग । उत्कृष्टम् अर्धगव्यूतम् । ज्योतिष्कविमानानां सर्वजघन्यवैपुल्य पञ्चधनु शतानि । ज्योतिषामिन्द्रा सूर्याचन्द्रमस, ते चाऽसंख्याता । १५ २० २५ ३०

१ उत्प्लुत्य आ०, ब०, द०, मु० । २ जम्बू० प० १२।९३ । उद्धृतेयम्– स० सि० १।१२ ।
३ –पभुञ्जन्तश्च– आ०, ब०, द०, मु० । ४ राह्वाद्याभियोगानाम् ता०, श्र०, द०, मू० ।

ज्योतिष्काणां गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

मेरुप्रदक्षिणवचनं गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थम् । १। मेरो· प्रदक्षिणा मेरुप्रदक्षिणा इत्यु[1]च्यन्ते । किमर्थम् ? गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थं विपरीता गतिर्माभूत् ।

गतेः क्षणे क्षणेऽन्यत्वात् नित्यत्वाभाव इति चेत्, न, आभीक्ष्ण्यस्य विवक्षितत्वात् ।२। अय नित्यशब्द कूटस्थेष्वविचलेषु भावेषु वर्तते, गतिश्च क्षणे क्षणेऽन्या, ततोऽस्या नित्येति विशेषण नोपपद्यत इति चेत्, न, किं कारणम् ?आभीक्ष्ण्यस्य विवक्षितत्वात् । यथा नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति आभीक्ष्ण्य गम्यत इति, एवमिहापि नित्यगतय अनुपरतगतय इत्यर्थ. ।

अनेकान्ताच्च ।३। यथा सर्वभावेषु द्रव्यार्थादेशात् स्यान्नित्यत्व पर्यायार्थादेशात् स्यादनित्यत्वं तथा गतावपीति नित्यत्वमविरुद्धमविच्छेदात् ।

नृलोकग्रहणं विषयार्थम् ।४। ये अर्धतृतीयेषु द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोर्ज्योतिष्कास्ते मेरुप्रदिक्षणा नित्यगतयो नान्ये इति विषयावधारणार्थं नृलोकग्रहण क्रियते ।

गतिकारणाभावादयुक्तिरिति चेत्, न, गतिरताभियोग्यदेववहनात् ।५। स्यान्मतम्–इह लोके भावाना गति कारणवती दृष्टा, न च ज्योतिष्कविमानाना गते· कारणमस्ति ततस्तदयुक्तिरिति, तन्न, कि कारणम् ? गतिरताभियोग्यदेववहनात् । गतिरता हि आभियोग्यदेवा वहन्तीत्युक्त पुरस्तात् ।

कर्मफलविचित्रभावाच्च ।६। कर्मणा हि फलं वैचित्र्येण पच्यते ततस्तेषा गतिपरिणतिमुखेनैव कर्मफलमवबोद्धव्यम् । एकादशभि योजनशतैरेकविंशैर्मेरुमप्राप्य ज्योतिष्का प्रदक्षिणाश्चरन्ति ।

तत्र जम्बूद्वीपे द्वौ सूर्यौ, द्वौ चन्द्रमसौ, षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि, षट्सप्तत्यधिकं ग्रहशतम्, एकं कोटीकोटिशतसहस्रं त्रयस्त्रिशत्कोटीकोटिसहस्राणि नवकोटीकोटिशतानि पञ्चाशच्च कोटीकोट्यस्तारकाणाम् । लवणोदे चत्वार सूर्या, चत्वारश्चन्द्रा, नक्षत्राणां शतम्, द्वादशम् ग्रहाणाम्, त्रीणि शतानि द्वापञ्चाशानि द्वे कोटीकोटिशतसहस्रे सप्तषष्टिकोटीकोटिसहस्राणि नव च कोटीकोटिशतानि तारकाणाम् । धातकीषण्डे द्वादश सूर्या, द्वादश चन्द्रा, नक्षत्राणा त्रीणि शतानि षट्त्रिशानि, ग्रहाणा सहस्र षट्पञ्चाशम्, अष्टौ कोटीकोटिशतसहस्राणि सप्तत्रिशच्च कोटीकोटिशतानि तारकाणाम् । कालोदे द्वाचत्वारिशदादित्याः, द्वाचत्वारिशच्चन्द्रा, एकादश नक्षत्रशतानि षट्सप्तत्यधिकानि, षट्त्रिशत् ग्रहशतानि षण्णवत्यधिकानि, अष्टाविंशतिकोटीकोटिशतसहस्राणि द्वादशकोटीकोटिसहस्राणि नवकोटीकोटिशतानि पञ्चाशच्च कोटीकोट्यस्तारकाणाम् । पुष्करार्धे द्वासप्तति सूर्या, द्वासप्ततिश्चन्द्रा, द्वे नक्षत्रसहस्रे षोडशे, त्रिषष्टि. ग्रहशतानि षट्त्रिशानि । अष्टचत्वारिंशत्कोटीकोटिशतसहस्राणि द्वाविंशति कोटीकोटिसहस्राणि द्वे कोटीकोटिशते तारकाणाम् । बाह्ये पुष्करार्धे च ज्योतिषामियमेव सख्या । ततश्चतुर्गुणा पुष्करवरोदे, तत परा द्विगुणा द्विगणा ज्योतिषा संख्या अवसेया ।

जघन्यं तारकान्तरं गव्यूतसप्तभाग, मध्य पञ्चाशत् गव्यूतानि, उत्कृष्टं योजनसहस्रम् । जघन्यं सूर्यान्तरं चन्द्रान्तरं च नवनवति. सहस्राणि योजनाना षट्शतानि चत्वा-

---

१ इत्युच्यते आ०, ब०, द०. मु० ।

रिशदधिकानि । उत्कृष्टमेक योजनशतसहस्रं षट्शतानि षष्टयुत्तराणि। जम्बूद्वीपादिषु एकैकस्य चन्द्रमस. षट्षष्टिकोटीकोटिसहस्राणि नवकोटीकोटिशतानि पञ्चसप्ततिश्च कोटीकोटय तारकाणाम् । अष्टाशीतिर्महाग्रहा, अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवार. । सूर्यस्य चतुरशीतिमण्डलशतम् अशीति· योजनशतं जम्बूद्वीपस्य अन्तरमवगाह्य प्रकाशयति। तत्र पञ्चषष्टिरभ्यन्तरमण्डलानि लवणोदस्यान्तस्त्रीणि त्रिंशानि योजनशतान्यवगाह्य ५
प्रकाशयति । तत्र मण्डलानि बाह्यान्येकान्नविंशतिशतम् । द्वियोजनमेकैकमण्डलान्तरम् । द्वे योजने अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाश्च एकैकमुदयान्तरम् । चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्रै. अष्टाभिश्च शतैर्विंशैरप्राप्य मेरु सर्वाभ्यन्तरमण्डले सूर्य· प्रकाशयति । तस्य विष्कम्भो नवनवति सहस्राणि षट्शतानि चत्वारिंशानि योजनानाम् । तदा अहनि मुहूर्ता· अष्टादश भवन्ति। पञ्चसहस्राणि द्वे शते एकपञ्चाश[1]योजनाना एकान्नत्रिंशद्योजनषष्टिभागाश्च मुहूर्त- १०
गतिक्षेत्रम् । सर्वबाह्यमण्डले चरन् सूर्य पञ्चचत्वारिंशत्सहस्रै त्रिभिश्च शतै: त्रिंशैर्योजनाना मेरुमप्राप्य भासयति। तस्य [2]विष्कम्भ एक शतसहस्र षट् च शतानि षष्टयधिकानि योजनानाम्। तदा दिवसस्य द्वादश मुहूर्ता । पञ्चसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि योजनानां पञ्चदशयोजनषष्टिभागाश्च मुहूर्तगतिक्षेत्रम् । तदा एकत्रिंशद्योजनसहस्रेषु अष्टासु च योजनशतेषु अर्धद्वात्रिंशेषु स्थितो दृश्यते । सर्वाभ्यन्तरमण्डले दर्शनविषयपरिमाण प्रागुक्तम्। १५
मध्ये हानिवृद्धिक्रमो यथागम वेदितव्य· । चन्द्रमण्डलानि पञ्चदश, द्वीपावगाह समुद्रावगाहश्च सूर्यवद्वेदितव्य । द्वीपाभ्यन्तरे पञ्च मण्डलानि। समुद्रमध्ये दश । सर्वबाह्याभ्यन्तरमण्डलविष्कम्भविधि , मेरुचन्द्रान्तरप्रमाण च सूर्यवत् प्रत्येतव्यम् । पञ्चदशाना मण्डलानामन्तराणि चतुर्दश । तत्रैकैकस्य [3]मण्डलान्तरस्य प्रमाण पञ्चत्रिंशद्योजनानि योजनैकषष्टिभागास्त्रिंशत् तद्भागस्य चत्वार सप्तभागा ३५-$\frac{३०}{६१}$-$\frac{४}{७}$। सर्वाभ्यन्तरमण्डले [4]पञ्चसहस्राणि २०
त्रिसप्तत्यधिकानि योजनाना सप्तसप्ततिर्भागशतानि चतुश्चत्वारिंशानि मण्डल[5] त्रयोदशभिर्भागसहस्रै सप्तभिश्च भागशतै. पञ्चविंश· छित्वा[6] अवशिष्टानि चन्द्र एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति । सर्वबाह्यमण्डले[7] पञ्चसहस्राणि शत च पञ्चविंश योजनानाम् एकान्नसप्ततिर्भागशतानि नवत्यधिकानि मण्डल[8] त्रयोदशभि भागसहस्रै सप्तभिश्च भागशतै पञ्चविंशै [9]छित्वाऽवशिष्टानि चन्द्र एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति । दर्शनविषयपरिमाण सूर्यवद्वेदितव्यम् । २५
हानिवृद्धिविधान च यथागममवसेयम् । पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि सूर्याचन्द्रमसोश्चारक्षेत्रविष्कम्भ ।

गतिमज्ज्योति सबन्धेन व्यवहारकालप्रतिपत्त्यर्थमाह–

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

तदिति किमर्थम् ? ३०

गतिमज्ज्योतिःप्रतिनिर्देशार्थं तद्वचनम्।१। गतिमता ज्योतिषां प्रतिनिर्देशार्थ तदित्युच्यते। न हि केवलया गत्या नापि केवलैर्ज्योतिर्भि काल. परिच्छिद्यते, अनुपलब्धेरपरिवर्तनाच्च ।

---

१ –पञ्चाशद्यो– आ०, ब०, द०, मु० । २ सूर्यसूर्यान्तर इत्यर्थः । ३ विष्यन्तरस्य । ४ चन्द्रस्य परिधिसमापनकालः ६२।२३ । समच्छेदेनानयोर्मेलने प्रमाणराशिः १३७२५ । फल– ३१५०८९ इच्छे मुहूर्त १ लब्ध ५०७३ शेष ७७४४ । ५ परिधिरित्यर्थः । ६ स्थित्वा आ०, ब०, द०, मु० । ७ परिधौ । ८ बाह्यपरिधिम् । ९ स्थित्वा आ०, ब०, द०, मु० ।

ज्योतिःपरिवर्तनलभ्यो हि कालपरिच्छेदः ।२। कालो द्विविधो व्यावहारिको मुख्यश्च । तत्र व्यावहारिक कालविभाग तत्कृत समयावलिकादिर्व्याख्यात, [1]क्रियाविशेषपरिच्छिन्न. [2]अन्यस्यापरिच्छिन्नस्य परिच्छेदहेतु । मुख्योऽन्यो वक्ष्यमाणलक्षण ।

आह–न मुख्य कालोऽस्ति सूर्यादिगतिव्यतिरिक्तो लिङ्गाभावात् । अपि च, कलाना समह काल[3], कलाश्च [4]क्रियावयवा । किञ्च, पञ्चास्तिकायोपदेशात् पञ्चैवास्तिकाया आगमे उपदिष्टा न षष्ठ, ततो न मुख्य. कालोऽस्ति, इत्यपरीक्षिताभिधानमेतत्; यत्तावदुक्तम्–लिङ्गाभावान्नास्ति मुख्य काल इति, अत्रोच्यते–

क्रियायां काल इति गौणव्यवहारदर्शनात् मुख्यसिद्धिः ।३। योऽयमादित्यगमनादौ क्रियेति रूढे काल इति व्यवहार कालनिर्वर्तनापूर्वक, मुख्यस्य कालस्यास्तित्व गमयति । नहि मुख्ये गव्यसति वाहीके गौणे गोशब्दस्य व्यवहारो युज्यते ।

अत एव न कलासमूह एव कालः ।४। अत एव । कुत एव ? मुख्यस्य कालस्यास्तित्वादेव, कलाना समूह एव काल इति व्यपदेशो नोपपद्यते । कल्यते क्षिप्यते प्रेर्यते येन क्रियावद्द्रव्य स काल, तस्य विस्तरेण निर्णय उत्तरत्र वक्ष्यते ।

प्रदेशप्रचयाभावादस्तिकायेष्वनुपदेशः ।५। प्रदेशप्रचयो हि काय स एषामस्ति ते अस्तिकाया इति जीवादय पञ्चैव उपदिष्टा । कालस्य [5]त्वेकप्रदेशत्वादस्तिकायत्वाभाव । यदि हि अस्तित्वमेव अस्य न स्यात् षट्द्रव्योपदेशो न युक्त स्यात् । कालस्य हि द्रव्यत्वमस्त्यागमे । परलक्षणाभाव स्वलक्षणोपदेशसद्भावात् ।

इतरत्र ज्योतिषामवस्थाप्रतिपादनार्थमाह–

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

बहिरित्युच्यते । कुतो बहि ? नृलोकात् । कथमवगम्यते ? अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति ।

नृलोके नित्यगतिवचनादन्यत्रावस्थानसिद्धिरिति चेत्, न, उभयासिद्धेः ।१। स्यान्मनम्–'नृलोके नित्यगतय.' इति वचनात् अन्यत्र अवस्थान ज्योतिषा सिद्धम्, अतो बहिरवस्थिता इति वचनमनर्थकमिति, तन्न, कि कारणम् ? उभयासिद्धे । नृलोकादन्यत्र बहिर्ज्योतिषामस्तित्वमवस्थान [6]चाऽप्रसिद्धं अतस्तदुभयसिद्धयर्थं 'बहिरवस्थिता.' इत्युच्यते । असति हि वचने, नृलोके एव सन्ति नित्यगतयश्च इत्यवगम्येत ।

तुरीयस्य निकायस्य सामान्यसज्ञाकीर्तनार्थमाह–

वैमानिकाः ॥१६॥

वैमानिकग्रहणमधिकारार्थम् ।१। इत ऊर्ध्वं ये वक्ष्यन्ते तेषु वैमानिकसंप्रत्यय कथ स्यात् इत्यधिकार क्रियते । विशेषेण आत्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि, विमानेषु भवा वैमानिका । तानि विमानानि त्रिविधानि–इन्द्रक-श्रेणि-पुष्पप्रकीर्णकभेदेन । तत्रेन्द्रकविमानानि इन्द्रवन्मध्येऽवस्थितानि । तेषां चतसृषु दिक्षु आकाशप्रदेशश्रेणिवदवस्थानात् श्रेणिविमानानि । विदिक्षु प्रकीर्णपुष्पवत् अवस्थानात् पुष्पप्रकीर्णकानि ।

तेषां वैमानिकाना भेदावबोधनार्थमाह–

---

१ सूर्यगमनादि, घटिकापात्रादि वा । २ ओदनपाकवाहदोहादेः । ३ अणोरप्यन्तरव्यतिक्रमणादि । ४ –त्वेकत्वप्र– श्र० । ५ वा श्र० ।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

कल्पेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः, कल्पानतीता कल्पातीता ।

ग्रैवेयकादिषु नवादिकल्पनासंभवात् कल्पत्वप्रसङ्ग इति चेत्, न, उक्तत्वात् ।१। स्यान्मतम्–नवग्रैवेयका नवानुदिशा पञ्चानुत्तरा इति च कल्पनासंभवात् तेषामपि कल्पत्वप्रसङ्ग इति; तन्न, किं कारणम् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत्–इन्द्रादिदशतयकल्पना-सद्भावात् कल्पा इति । नवग्रैवेयकादिषु इन्द्रादिकल्पना नास्ति तेषामहमिन्द्रत्वात् ।

तेषामवस्थानविशेषनिर्ज्ञानार्थमाह–

उपर्युपरि ॥१८॥

उपर्युपरिवचनमतिर्यगसमस्थितिप्रतिपत्त्यर्थम् ।१। न ज्योतिष्कवत्तिर्यगवस्थिता नापि व्यन्तरवदसमस्थितय इति प्रतिपत्त्यर्थमुपर्युपरीत्युच्यते । कथमत्र द्वित्वम् ? *"**सामीप्येऽधोऽध्युपरि**" [जैनेन्द्र० ५।३।५] इति । ननु च, नात्र सामीप्यमस्ति असंख्येययोजनान्तरत्वात्तेषाम्, नैष दोष, तुल्यजातीयेनाऽव्यवधानं सामीप्यम् । न च तेषां तुल्यजातीय व्यवधायक विवक्षितम् । इदं विचार्यते–किमत्राधेयत्वेन कल्प्यमाना देवा, उत विमानानि, आहोस्वित् कल्पा इति, किं[1] वा कामचार ?

देवा इति चेत्, न, अनिष्टत्वात् ।२। यदि देवा उपर्युपरीत्यनेनाभिसंबध्यन्ते, तन्न; किं कारणम् ? अनिष्टत्वात् । देवानां हि उपर्युपरि अवस्थानमनिष्टम् ।

विमानानि इति चेत्, न, श्रेणिप्रकीर्णकानां तिर्यगवस्थानात् ।३। अथ विमानान्युपर्युपरीति कल्प्यन्ते, तदपि नोपपद्यते, श्रेणिप्रकीर्णकाना तिर्यगवस्थानात् । श्रेणिविमानानि पुष्पप्रकीर्णकविमानानि च प्रतीन्द्रक तिर्यगवस्थितानि इति इहेष्यन्ते ।

कल्पा इति चेददोषः ।४। यदि कल्पा, न दोषो भवति । 'यथा न दोष तथास्तु' कल्पा हि उपर्युपरिस्थिता इति ।

उपसर्जनत्वादनभिसंबन्ध इति चेत्, न, दृष्टत्वात् ।५। स्यादेतत्–कल्पोपपन्ना इत्यत्र कल्पग्रहणमुपसर्जन तेनात्र सबन्धो नोपपद्यते इति, तन्न, किं कारणम् ? दृष्टत्वात् । दृष्टो हि उपसर्जनीभूतस्यापि[2] अर्थस्य बुद्धचाऽपेक्षितस्य विशेषणेनाभिसबन्ध । 'राजपुरुषोऽयम्। कस्य ? राज्ञ ' इति, एवमिहापि प्रत्यासत्ते बुद्धचा उपसर्जनमपि कल्पग्रहणमभिसबध्यते उपर्युपरि कल्पा इति[3] ।

अथ कल्पातीतेषु किमभिसबध्यते ? विमानानि । यद्येव कियत्सु कल्पविमानेषु[4] ते देवा भवन्ति इत्यत आह–

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्म[5]ब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र-शतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाऽच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्तजयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

कथमेषां सौधर्मादीना कल्पाभिधानम् ?

---

१ किञ्चातः श्र०, मू०, ता० । २ –सर्जनभू –आ०, ब०, द०, मु० । ३ इत्यर्थः आ०; ब०, मु० । ४ –षु दे– श्र० । ५ ब्रह्मलोक ब्र– श्र०, मु० । ६ –सतार– आ०, ब०, द०, मू० ।

[1]**चातुरर्थिकेनाऽणा स्वभावतो वा कल्पाभिधानम् ।१।** चातुरर्थिकेन अणा स्वभावतो वा कल्पस्याभिधानं भवति । अथ कथमिन्द्राभिधानम् ?

स्वभावतः साहचर्याद्वा इन्द्राभिधानम् ।२। स्वभावतो वा साहचर्याद्वा इन्द्राभिधान द्रष्टव्यम् । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते—सुधर्मा नाम सभा, सा अस्मिन्नस्तीत्यण् सौधर्म. कल्प, "**तदस्मिन्**" [जैनेन्द्र० ३।२।५८] इत्यण् तत्कल्पसाहचर्यादिन्द्रोऽपि सौधर्म. । ईशानो नाम इन्द्र स्वभावत, ईशानस्य निवास कल्प ऐशान, *"**तस्य निवासः**" [जैनेन्द्र० ३।२।६०] इत्यण्, तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि ऐशान । सनत्कुमारो नाम इन्द्र स्वभावत, तस्य निवास कल्प सानत्कुमार, तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि सानत्कुमार । महेन्द्रो नाम इन्द्र· स्वभावत, तस्य निवास कल्प माहेन्द्र, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि माहेन्द्र । ब्रह्मा इन्द्र तस्य लोको ब्रह्मलोक कल्प, एव ब्रह्मोत्तरश्च । ब्रह्मण इन्द्रस्य निवास ब्राह्म इति कल्पाभिधान भवति, तत्साहचर्याद् ब्राह्म इतीन्द्रस्याऽभिधानम् । लान्तवस्य इन्द्रस्य निवास लान्तव कल्प, तत्साहचर्याद्वा इन्द्रोऽपि लान्तव । शुक्रस्य इन्द्रस्य निवास शौक्र कल्प, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि शौक्र । अथवा शुक्र कल्प, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि शुक्र । शतारस्येन्द्रस्य निवास शातार इति कल्प, तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि शातार, । अथवा शतार कल्प. तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि शतार[2]। सहस्रारस्याप्येवम् । आनतस्येन्द्रस्य निवास आनत कल्प, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि आनत । अथवा आनत कल्प, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽप्यानत । प्राणतस्य इन्द्रस्य निवास प्राणत कल्प तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽपि प्राणत । अथवा प्राणत कल्प तत्सहचरित इन्द्रोऽपि प्राणत । आरणस्य इन्द्रस्य निवास आरण कल्प, तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽप्यारण । अथवा आरण कल्प, तत्सहचरित इन्द्रोऽप्यारण । अच्युतस्येन्द्रस्य निवास आच्युत कल्प ,तत्साहचर्यात् इन्द्रोऽप्याच्युत । अथवा अच्युत कल्प, तत्सहचरित इन्द्रोऽप्यच्युत । लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवा, ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि, [3]तत्साहचर्यात् इन्द्रा अपि ग्रैवेयका । विजयादयोऽन्वर्थसज्ञा अभ्युदयविघ्नहेतुविजयात् । सर्वार्थाना सिद्धेश्च, विजयादीनि विमानानि, तत्साहचर्यात् इन्द्रा अपि विजयादिनामान ।

अथ किमर्थं सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं न तै सह द्वन्द्व कर्तव्य ?

सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं स्थित्यादिविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ।३। विजयादिषु चतुर्षु जघन्या स्थितिर्द्वात्रिंशत्सागरोपमा साधिका, उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा । सर्वार्थसिद्धे [4]जघन्योत्कृष्टा च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा[5]। य प्रभाव सर्वार्थसिद्धे [6]कदेवस्य नासौ सर्वविजयादिदेवानाम् इत्येवमादिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं विजयादिभ्य सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहण क्रियते ।

ग्रैवेयकादीनां पृथग्ग्रहणं कल्पातीतत्वनिर्ज्ञापनार्थम् ।४। "सौधर्मादय· अच्युतान्ता द्वादश कल्पा·, ततोऽन्ये कल्पातीता इत्येतस्य निर्ज्ञापनार्थं ग्रैवेयकादीना पृथक् ग्रहण क्रियते ।

नवशब्दस्य वृत्त्यकरणं अनुदिशसूचनार्थम् ।५। नवशब्दस्य ग्रैवेयकशब्देन वृत्ति कर्तव्या नवग्रैवेयकेष्विति, तदकरणम् अन्यान्यपि नव सन्ति इत्येतस्य सूचनार्थम्, तेन अनुदिशसग्रह·

---

१ तदस्मिन्नस्ति तेन निर्वृत्तः तस्य निवासोऽदूरभवो वेति । २ –तारः आन– श्र०, मू०, ता०, द० । ३ उपर्युपरि एकैकवृत्त्या व्यवस्थितानि सुदर्शनामोघसुबुद्धपयोधरसुभद्रसुविशालसुमनःसौमनसप्रियङ्करास्यानि नव भवन्ति । ४ –द्वेर्जघ्य– आ० । ५ –माः यः मू० । ६ –द्धपैकदे– ता०, ज०, मू० ।

कृतो भवति। इतरथा हि लघ्वर्था वृत्ति क्रियेत। किमिदमनुदिशमिति ? प्रतिदिशमित्यर्थः। दिक्शब्दस्य शरत्प्रभृतिषु[1] पाठात् [2]ड (ट) अनुदिशं विमानानि अनुदिशविमानानि। आकारान्तो वा दिशाशब्दो दिक्पर्यायवाची इति तेनानोर्वृत्ति[3]।

उपर्युपरीत्यनेन द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धः ।६। आगमाऽपेक्षया व्यवस्था भवति इति उपर्युपरीत्यनेन द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धो वेदितव्य[4]। प्रथमौ सौधर्मैशानकल्पौ, तयोरुपरि सानत्कुमार- ५
माहेन्द्रौ। तयोरुपरि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरौ। तयोरुपरि लान्तवकापिष्ठौ। तयोरुपरि शुक्रमहाशुक्रौ। तयोरुपरि शतारसहस्रारौ। तयोरुपरि आनतप्राणतौ। तयोरुपरि आरणाऽच्युतौ।

प्रत्येकमिन्द्रसंबन्धो मध्ये प्रतिद्वयम् ।७। प्रत्येकमिन्द्रसंबन्धो वेदितव्य., मध्ये प्रतिद्वयम्। सौधर्मैशानकल्पयोर्द्वाविन्द्रौ। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्द्वौ। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोरेकः [5]ब्रह्मा नाम। लान्तवकापिष्ठयोरेको लान्तवाऽऽख्य। शुक्रमहाशुक्रयोरेक शुक्रसज्ञ। १०
शतारसहस्रारयोरेक शतारनामा। आनतप्राणतयोर्द्वौ। आरणाऽच्युतयोर्द्वौ।

तथा चोत्तरयोः पृथग्वचनमर्थवत् ।८। एव कृत्वा उत्तरयो पृथग्वचनमर्थवत् भवति–आनतप्राणतयोरारणाऽच्युतयोरिति। इतरथा हि लघ्वर्थ एक एव द्वन्द्वः क्रियेत। तद्यथा–अस्माद् भूमितलान्नवनवतिर्योजनसहस्राणि चत्वारिंशच्च योजनान्युत्पत्य[6] सौधर्मैशानकल्पौ भवत। तयोरेकत्रिंशद् विमानप्रस्तारा –ऋतु-चन्द्र-विमल-वल्गु-वीर-अरुण-नन्दन-नलिन- १५
लोहित-काञ्चन-वञ्चन्-मारुत-ऋद्धीश-वैडूर्य-रुचेक-रुचिर-अङ्क-स्फटिक-तपनीय-मेघ[7]-हारिद्र-पद्म-लोहिताक्ष-वज्र-नन्द्यावर्त-प्रभङ्कर-पिष्टक-गज-मस्तक-चित्रप्रभासज्ञा। मन्दरचूलिकाया उपरि ऋतुविमानम्, तयोरन्तर वालाग्रमात्रम्। ऋतुविमानाच्चतसृषु दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गता, प्रत्येक द्विषष्टिविमानसख्या[8]। विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकविमानानि। एवम् एकैकश्रेणीविमानहानिराप्रभाविमानाद्वेदितव्या। एकैकप्रस्तारान्तरमसख्येयानि २०
योजनशतसहस्राणि। तत्र प्रभासज्ञादिन्द्रकविमानाद् दक्षिणस्या दिशि श्रेण्या द्वात्रिंशद्विमानसख्यायामष्टादश श्रेणीविमानं [9]तत्कल्पविमानम्। तस्य स्वस्तिक-वर्धमान-विश्रुताख्यास्त्रय प्राकारा। तत्र बाह्यप्राकारान्तरनिवासीनि अनीकानि पारिषदाश्च। मध्यप्राकारान्तरनिवासिन[9]स्त्रिदशसचिवा, अभ्यन्तरप्राकारनिवासी देवराज शक्र सौधर्म इति चोच्यते। तस्य विमानस्य चतसृषु दिक्षु चत्वारि नगराणि–काञ्चन-अशोकमन्दिर-मसार-गल्वसज्ञानि। २५
तस्य द्वात्रिंशद्विमानशतसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत् त्रायस्त्रिंशा, चतुरशीतिरात्मरक्षसहस्राणि, तिस्र परिषद, सप्तानीकानि, चतुरशीति[9] सामानिकसहस्राणि, चत्वारो लोकपाला, पद्मा शिवा सुजाता सुलसा अञ्जुका कालिन्दी श्यामा भानुरित्येता अष्टावग्रमहिष्य। अन्यानि चत्वारिंशद्वल्लभिकाना देवीना सहस्राणि। सर्वाश्चैता अग्रमहिष्यो वल्लभिकाश्च प्रत्येकं पञ्चपल्योपमस्थितिका षोडशदेवीसहस्रपरिवृता.। एकैका चाऽग्रमहिषी वल्लभिका च ३०
षोडशदेवीरूपसहस्रविकरणसमर्था। तत्र शक्रस्याभ्यन्तरपरिषत् समिता नाम, द्वादश-

---

१– षु उपादाना पाठात् – अ० ।– षु उपादानात् अ– आ०, ब०, द०, मु०। "हे शरदादेः" जैनेन्द्र० ४।२।१०६। २–ङः मू०। ३ अनुशब्दस्य समासः –स०। तानि लक्ष्मीलक्ष्मीमालिकवैरेवकरोचनकसोमसोमरूप्याङ्कपल्यङ्कादित्याख्यानि मध्यभूतेन्द्रकविमानस्य अष्टदिगानुगत्येन भवनादन्वर्थानि इति ज्ञातव्यम्। तत्साहचर्यादिन्द्रा अपि अनुदिशाख्याः प्रोच्यन्ते। ४ ब्रह्मनामा आ०, ब०, द०, मू०। ५– त्लुत्य आ०, ब०, द०, मू०। ६ –मेघाभ्रहा– अ०। ७ सौधर्म। ८ –सिनस्त्रायस्त्रिंशाः विमानाभ्य– आ०, ब०, द०, मू०। ९ –तिसा– अ०, मू०।

सहस्राणि देवाना पञ्चपल्योपमायुषाम् । चन्द्रा नाम मध्यपरिषत् चतुर्दशसहस्राणि देवाना चतुःपल्योपमायुषाम् । जातुर्नाम बाह्यपरिषत् षोडशसहस्राणि देवाना त्रिपल्योपमायुषाम् । आभ्यन्तरपरिषदि देवानामेकैकस्य देवस्य देव्य सप्तशतसख्या अर्धतृतीयपल्योपमस्थितय । मध्यमपरिषदि देवानामेकैकस्य देवस्य देव्य षट्शतसख्या द्विपल्योपमस्थितय । बाह्य-
५ परिषदि देवानामेकैकस्य देवस्य देव्य. पञ्चशतसख्या अध्यर्धपल्योपमस्थितय, तावद्देवी-रूपविकरणसमर्था. । अष्टानामपि अग्रमहिषीणामभ्यन्तरपरिषत् सप्तदेवीशतानि । मध्यम-परिषत् षड्देवीशतानि । बाह्यपरिषत् पञ्चदेवीशतानि । एतासु तिसृषु अपि परिषत्सु देव्य अर्धतृतीयपल्योपमस्थितय । पदात्यश्वगजवृषभरथनर्तकीगन्धर्वाख्यानि सप्तानी-कानि पल्योपमस्थितीनि । अनीकमहत्तराश्च पल्योपमायुष । तत्र वायुर्नाम पदात्यनीक-
१० महत्तर. सप्तभि. कक्षाभि. परिवृत. । प्रथमा कक्षा चतुरशीति पदातिशतसहस्राणि । द्वितीया तद्द्विगुणा । एव द्विगुणा[1] द्विगुणा पदातिसख्या आसप्तम्या । हरिरश्वानीक-महत्तर । ऐरावतो गजानीकमहत्तर । दामयष्टिर्वृषभानीकमहत्तर । मातली रथानीक-महत्तर । नीलाञ्जना नर्तकीगणमहत्तरिका । अरिष्टयशस्को नाम [2]गन्धर्वानीकमहत्तर । एषा षण्णामप्यनीकाना सख्या पदातिसख्यया तुल्या, सैषा विक्रियाकृता । प्राकृती तु
१५ एकैकस्यानीकस्य षट्छतसख्या । तेषा प्राकृताना देवाना प्रत्येकं षट्छतसख्यानामेकैकस्य देवस्य षट्देवीशतानि । एकैका चात्र देवी षड्देवीरूपविकरणसमर्था अर्धपल्योपमस्थितिका । सप्तानामप्यनीकमहत्तराणामेकैकस्य षट्देवीशतानि । एकैका चात्र देवी देवीषड्रूपविकरण-समर्था अर्धपल्योपमस्थितिका । आत्मरक्षाणा चतुरशीतिसहस्रसख्याना पल्योपमायुषामेकै-कस्य द्वे द्वे देवीशते । एकैका चात्र देवी षड्देवीरूपविकरणसमर्था अर्धपल्योपमस्थितिका ।
२० शक्रस्य बालको नामाऽऽभियोग्य· पल्योपमायु, जम्बूद्वीपप्रमाणायामयान[3]विमानविक्रिया-समर्थ । तस्य षड्देवीशतानि । एकैका चात्र षड्देवीरूपविकरणसमर्था अर्धपल्योपम-स्थितिका । प्राच्या दिशि स्वयप्रभे विमाने सोमो लोकपाल अर्धतृतीयपल्योपमायु । तस्य चत्वारि सामानिकसहस्राणि अर्धतृतीयपल्योपमायूपि । चत्वारि देवीसहस्राणि अर्धतृतीयपल्योपमायूँषि[4] । चतस्रोऽग्रमहिष्य अर्धतृतीयपल्योपमायुष । सोमस्याभ्यन्तर-
२५ परिषत् ईशा नाम पञ्चपञ्चाशद्देवा सपादपल्योपमायुष । दृढा नाम मध्यमपरिषत् चत्वारि देवशतानि सपादपल्योपमायूँषि । चतुरन्ता नाम बाह्यपरिषत् पञ्चदेवशतानि सपाद-पल्योपमायूँषि । अपाच्या दिशि वरज्येष्ठे विमाने यमो नाम लोकपाल । [5]शेष सोमवत् । प्रतीच्या दिशि अञ्जने विमाने वरुणो नाम लोकपाल पादोनत्रिपल्योपमायु । ईषा नाम तस्याऽभ्यन्तरपरिषत् षष्टिर्देवा अध्यर्धपल्योपमायुष । मध्या दृढा पञ्चदेवशतानि देशो-
३० नाध्यर्धपल्योपमायूपि । बाह्या चतुरन्ता षड्देवशतानि देशाधिकाध्यर्धपल्योपमायूँषि । तिसृष्वपि परिषत्सु स्वभर्तृस्थितयो देव्य । शेष सोमवत् । उदीच्या दिशि वल्गुविमाने वैश्रवणो नाम लोकपाल त्रिपल्योपमायु, तस्याऽभ्यन्तरपरिषत् ईषा, सप्ततिर्देवा अध्यर्ध-पल्योपमायुष । मध्या दृढा षड्देवशतानि देशोनाध्यर्धपल्योपमायूँषि । बाह्या चतुरन्ता सप्तदेवशतानि सपादपल्योपमायूँषि । तिसृष्वपि परिषत्सु [6]स्वभर्तृस्थितयो देव्य· ।

---

१ –णद्विगु– श्र० । २ गान्धर्वानी– श्र० । ३– णायामविमा– द० । –णयानवि– आ०, ब०, मु० । ४ –यूंषि चतुर्णामपि लोकपालानां चत– आ०, ब०, द०, मू० । ५ शेषः सो– ता०, श्र० । ६ स्वभर्तृस्थित्यर्धस्थितयो ता०, श्र०, मु०, द० ।

शेषं सोमवत् । चतुर्णामपि लोकपालानामेकैकस्याऽर्धचतुर्थकोटीसंख्या अप्सरसः । सौधर्मेन्द्रक-विमानानाम् एकत्रिंशच्छ्रेणीविमानानां चत्वारि सहस्राणि त्रीणि शतानि एकसप्तत्यधिकानि । पुष्पप्रकीर्णकविमानानाम् एकत्रिंशच्छतसहस्राणि पञ्चनवति सहस्राणि पञ्चशतान्यष्टनवत्यधिकानि । तान्येतानि समुदितानि द्वात्रिंशद्विमानशतसहस्राणि भवन्तीत्युक्तं सौधर्मकल्पं । ५

तथा तस्मात् प्रभाविमानात् उदक्छ्रेण्या द्वात्रिंशद्विमानविरचिताया यदष्टादशं तत्कल्पविमानम् । तस्य परिवारवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या । [1]तस्याधिपति—ऐशानो देवराजः । यस्याऽष्टाविंशतिविमानशतसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवा, अशीतिः सामानिक-सहस्राणि, तिस्रः परिषदः, सप्तानीकानि, अशीतिरात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपालाः । श्रीमती सुसीमा वसुमित्रा वसुन्धरा जया जयसेना अमला प्रभा चेत्यष्टावग्रमहिष्यः सप्त- १० पल्योपमस्थितयः । द्वात्रिंशद्वल्लभिकासहस्राणि सप्तपल्योपमायूंषि । अभ्यन्तरपरिषत्समिता दशदेवसहस्राणि सप्तपल्योपमायूंषि । चन्द्रा मध्यमा परिषत् द्वादशदेवसहस्राणि षट्पल्यो-पमायूंषि । [2]जातुर्बाह्यपरिषत् चतुर्दशदेवसहस्राणि पञ्चपल्योपमायूंषि । लघुपराक्रम-पदात्यनीकमहत्तरः, अमितगतिरश्वानीकमहत्तरः, द्रुमकान्तो वृषभानीकमहत्तरः, किन्नरो रथानीकमहत्तरः, पुष्पदन्तो गजानीकमहत्तरः, गीतयशा गन्धर्वानीकमहत्तरः, श्वेता नर्तकी- १५ गणमहत्तरिका । तत्र पदात्यनीकमहत्तरस्य प्रथमा कक्षा अशीतिर्देवसहस्राणि, द्वितीया तद्-द्विगुणा, एवं द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्याः । एवं शेषाणामप्यनीकानां विक्रियासंख्या । ते एते सर्वे अनीकदेवाः तन्महत्तराश्च साधिकपल्योपमायुषः । ऐशानस्य दक्षिणस्यां दिशि सप्ते विमाने सोमो नाम लोकपालः, अर्धपञ्चपल्योपमायुः । तस्याभ्यन्तरपरिषत् षष्टिर्देवाः । मध्यमपरिषत् पञ्चदेवशतानि । बाह्यपरिषत् षड्देवशतानि सप्त च देवाः । अपरस्यां २० दिशि सर्वतोभद्रे यमो लोकपालः [3]अर्धपञ्चमपल्योपमायुः । शेषं सोमवत् । उत्तरस्यां दिशि सुभद्रे वरुणो लोकपालः पञ्चपल्योपमायुः । तस्याभ्यन्तरपरिषदशीतिर्देवाः । मध्यमपरिषत् सप्तदेवशतानि । बाह्यपरिषदष्टौ देवशतानि । पूर्वस्यां दिशि अमिते विमाने वैश्रवणो लोकपालः पादोनपञ्चपल्योपमायुः । तस्याभ्यन्तरपरिषत् सप्ततिर्देवाः । मध्यमपरिषत् षड्देवशतानि । बाह्यपरिषत् सप्तदेवशतानि । ईशानस्य पुष्पको नाम आभियोग्यो देवः २५ बालकतुल्यः जम्बूद्वीपप्रमाणपुष्पकयानविमानविकरणसमर्थः । शेषः शक्रवन्नेयः । एवमुत्तर-श्रेणिविमानपुष्पकप्रकीर्णकाधिपतिरीशानो वर्णितः ।

प्रभाविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनसहस्राणि उत्पत्य सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पौ भवतः । तयोः सप्तविमानप्रस्तारः—अञ्जन-वनमाल-नाग-गरुड-लाङ्गल-बलभद्र-चक्राभिधानाः । तत्राऽञ्जनविमानाच्चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गताः । विदिक्षु ३० पुष्पप्रकीर्णकविमानानि । तत्रैकैकस्याः विमानश्रेण्याम् एकत्रिंशद्विमानानि[4] एकै-कहीनान्याचक्राद् । तेषामन्तराण्यपि बहूनि योजनशतसहस्राणि । चक्राख्यादन्त-विमानाद् दक्षिणश्रेण्यां पञ्चविंशतिविमानविराजितायां पञ्चदशं कल्पविमानं सौधर्म-कल्पविमानसदृशम् । तस्याधिपतिः सानत्कुमारो देवराजः । [5]तस्य द्वादशविमानशत-

---

१ ईशान । २ तस्य पतिः आ०, ब०, द०, मु० । ३ चातु—भा० २ । ४ अर्धपञ्च—आ०, ब०, द०, मू०, ता०, मू० । ५—नि एवंश्रेणीविमानानि एकैक— आ०, ब०, द०, मु०, ता०, मू० । ६ यस्य आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० ।

सहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवा, द्विसप्तति सामानिकसहस्राणि, तिस्र परिषद, सप्तानीकानि, द्विसप्तति आत्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपाला । अष्टावग्रमहिष्यः शक्राग्रमहिषीसमाना नवपल्योपमायुष । एकैका [1]चात्राऽष्टाभि देवीसहस्रै परिवृता द्वात्रिंशद्देवीसहस्रविकरणसमर्था । अष्टावन्यानि वल्लभिकानां सहस्राणि तावदायुर्विकरण-
५ समर्थानि । समिताऽभ्यन्तरपरिषदष्टौ देवसहस्राणि साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायूंषि । चन्द्रा मध्यमपरिषद् दशदेवसहस्राणि[2] साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायू षि । [3]जातुर्बाह्यपरिषत् द्वादश-देवसहस्राणि साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायू षि । अभ्यन्तरपरिषद्देवानाम् एकैकस्य सप्तदेवी-शतानि पञ्चपल्योपमायू षि । मध्यमपरिषद्देवानाम् एकैकस्य षड्देवीशतानि पञ्चपल्यो-पमायूंषि । बाह्यपरिषद्देवानाम् एकैकस्य पञ्चदेवीशतानि पञ्चपल्योपमायूंषि । सर्वाणि
१० च तानि तावद्विक्रियासमर्थानि । तस्यानीकमहत्तरा शक्रानीकमहत्तरसमाना[4] अर्धचतुर्थ-सागरोपमायुष । पदातीना प्रथमकक्षा द्विसप्ततिसहस्राणि । द्वितीया तद्द्विगुणा । एव द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्या । तथा शेषेष्वपि षट्सु अनीकेषु अनीकमहत्तराणामेकैकस्य त्रीणि देवीशतानि पञ्चपल्योपमायू षि । आत्मरक्षदेवानाम् एकैकस्य देवीशत पञ्चपल्यो-पमायु । [5]बालकनामाभियोग्यदेवस्याऽऽयु अर्धचतुर्थानि सागरोपमाणि । त्रीणि देवीशतानि
१५ पञ्चपल्योपमायू षि । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभ-वरज्येष्ठ-स्वयजन-वल्गुविमानवासिन सोमयम-वरुणवैश्रवणा चत्वारो लोकपाला । एषामेकैकस्य दश दश सामानिकशतानि, दशदशदेवी-शतानि, चतस्रोऽग्रमहिष्य, तिस्र परिषद । सागरोपमत्रयस्थिती सोमयमौ । पादाधिकता-वदायुर्वरुण. । अर्धाधिकतावदायुर्वैश्रवण. । सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषच्चत्वारिंशद् देवा. । मध्यमपरिषत् त्रीणि देवशतानि । बाह्यपरिषच्चत्वारि देवशतानि । वरुणस्याऽभ्यन्तर-
२० परिषत्पञ्चाशद् देवा. । मध्या चत्वारि देवशतानि । बाह्या पञ्चदेवशतानि । वैश्रवणस्य अभ्यन्तरपरिषत् पष्टिर्देवा । मध्या पञ्चदेवशतानि । बाह्या परिषत् षड्देवशतानि । चतसृष्वपि अभ्यन्तरपरिषत्सु देवानामायु. त्रीणि सागरोपमाणि । एकैकस्य देवीशतम् । चतसृष्वपि मध्यमपरिषत्सु देवानामायु देशोनानि त्रीणि सागरोपमाणि। एकैकस्य[6] पञ्चसप्त-तिर्देव्य । चतसृष्वपि बाह्यपरिषत्सु देवा अर्धतृतीयसागरोपमायुष., एकैकस्य पञ्चाशद् देव्य. ।
२५ तस्माच्चक्रविमानादुत्तरस्या दिशि श्रेण्या पञ्चविंशतिविमानमण्डितायां पञ्चदशं कल्पविमानं पूर्वोक्तवर्णनम् । तस्येश्वरो महेन्द्रो देवराज । यस्याऽष्टौ विमानशतसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवा, सप्तति सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषद', सप्ततिरात्मरक्ष-सहस्राणि, चत्वारो लोकपाला', ऐशानाग्रमहिषीतुल्यसज्ञा अष्टावग्रमहिष्य. एकादशपल्यो-पमायुष । अष्टौ चास्य वल्लभिकानां सहस्राणि तावदायूंषि । शेष सानत्कुमाराग्रमहिषी-
३० वल्लभिकावत् । समिताऽभ्यन्तरपरिषत् षड्देवसहस्राणि । चन्द्रा मध्यमपरिषत् अष्टौ देवसहस्राणि । जातुर्बाह्यपरिषत् दशदेवसहस्राणि । तिसृष्वपि परिषत्सु देवानां सानत्कुमार-परिषद्देवस्थितेरधिका स्थिति' । शेषो देवीगणपरिमाणायुर्विक्रियासामर्थ्यादिविधि सानत्कु-मारपरिषद्वत् । अनीकमहत्तराणामाख्या ऐशानवद्वेदितव्या । पदात्यनीकस्य प्रथमकक्षा सप्त-तिर्देवसहस्राणि, द्वितीया तद्द्विगुणा, एवं द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्या । तथा शेषेष्वपि षट्सु

---

१ –ष्टादशभिर्दे–आ०, ब०, द०, मु० । २ –णि अर्धचतु– ता०, श्र०, मू० । ३ चातुर्बा– भा० २ । ४ नाम्ना । ५ बालकविमानाभि– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ६ – स्य सप्तति– आ०, ब०, द०, मु० ।

अनीकेषु । अनीकमहत्तराणाम् एकैकस्य त्रीणि देवीशतानि । एकैका चाऽत्र सप्तपल्योपमस्थितिका । आत्मरक्षाणामायु· साधिकार्धचतुर्थानि सागरोपमाणि । एकैकस्य सप्तपल्योपमायुषा देवीना शतम् । दक्षिणादिषु दिक्षु सम-सर्वतोभद्र-सुभद्र-समितविमानवासिन. सोमयमवरुणवैश्रवणलोकपाला । एकैकस्य दश दश सामानिकशतानि, तावत्संख्या देव्य, चतस्रोऽग्रमहिष्य, तिस्र परिषद । तत्रार्धचतुर्थसागरोपमस्थितिर्वरुण·, तदूनस्थितिर्धनद, ततोऽप्यून- ५
स्थिती सोमयमौ,सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषत् पञ्चाशद् देवा । मध्या चत्वारि देवशतानि । बाह्या पञ्चदेवशतानि । वैश्रवणस्याऽभ्यन्तरपरिषत् षष्टिर्देवा. । मध्या पञ्चदेवशतानि । बाह्या षड्देवशतानि । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत्सप्ततिर्देवा. । मध्या षड्देवशतानि । बाह्या सप्तदेवशतानि । लोकपालचतुष्टयाभ्यन्तरपरिषद्देवानामेकैकस्य देवीशतम् । मध्यमपरिषद्देवाना एकैकस्य सप्ततिर्देव्य· । बाह्यपरिषद्देवानाम् एकैकस्य पञ्चाशद्देव्य· । आयुश्च तेषा यथा- १०
सख्य साधिकानि समानि देशोनानि च त्रीणि सागरोपमाणि । पुष्पकयानविमानाभियोग्यदेव. साधिकार्धचतुर्थसागरोपमायु· । तस्य देवाना साधिकद्विसागरायुषा शतम् ।

चक्रविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरकल्पौ स्त । तयोश्चत्वारो विमानप्रस्तारा.--अरिष्टो देवसमितो ब्रह्म ब्रह्मोत्तर इति । अरिष्टविमानाच्च चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गता चतुर्विंशतिविमानगणना । विदिक्षु पुष्प- १५
प्रकीर्णकानि । एवमेकैकश्रेणिविमानहान्यानेतव्या आ ब्रह्मोत्तरात् । तेषा प्रस्ताराणामन्तराण्यपि बहूनि योजनशतसहस्राणि । ब्रह्मोत्तरविमानाद् दक्षिणश्रेण्याम् एकविंशतिविमानविराजिताया द्वादश कल्पविमानं पूर्वोक्तवर्णनम् । तस्याधिपति ब्रह्मो (ह्म) देवराज । यस्य साधिके द्वे विमानशतसहस्रे, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवा, षट्त्रिंशत् सामानिकसहस्राणि, तिस्रः परिषद, सप्तानीकानि, षड्त्रिंशदात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपाला । पद्मादय २०
शक्राग्रमहिषीतुल्यसज्ञा अष्टावग्रमहिष्य त्रयोदशपल्योपमस्थितय चतुर्देवीसहस्रपरिवृता । द्वे च वल्लभिकासहस्रे त्रयोदशपल्योपमस्थितिके । एकैकाग्रमहिषी वल्लभिका चतुष्षष्टिदेवीरूपसहस्रविकरणसमर्था । समिताभ्यन्तरपरिषत् चत्वारि देवसहस्राणि अष्टसागरोपमायू षि । चन्द्रा मध्यमपरिषत् षड्देवसहस्राणि देशोनाष्टसागरोपमायू षि । जातुर्बाह्या अष्टौ देवसहस्राणि अष्टसागरोपमायू षि । अभ्यन्तरपरिषद्देवानामेकैकस्य पञ्चाशद् देव्य । मध्यम- २५
परिषद्देवानां चत्वारिंशद् देव्य· । बाह्यपरिषद्देवाना त्रिंशद् देव्य· । वाय्वादय· सप्तानीकमहत्तरा अर्धाष्टमसागरोपमायुष. । तत्र वायो पदात्यनीकमहत्तरस्य प्रथमकक्षा षट्त्रिंशत्सहस्राणि, द्वितीया तद्द्विगुणा, एवं द्विगुणा द्विगुणा आ सप्तम्या । सर्वेषामनीकमहत्तराणामेकैकस्य अर्धतृतीयानि देवीशतानि । चतस्रोऽग्रमहिष्य· । आत्मरक्षदेवानामायु अर्धाष्टमानि सागरोपमाणि । एकैकस्य पञ्चाशद् देव्य । बालकाभियोग्यदेवोऽपि तावदायुर्देवीक. । ३०
पूर्वादिषु दिक्षु स्वयंप्रभवरज्येष्ठस्वयजनवल्गुविमाननिवासिन सोमयमवरुणवैश्रवणा लोकपाला· । तेषामेकैकस्य पञ्च सामानिकशतानि, पञ्च देवीशतानि, चतस्रोऽग्रमहिष्य । अर्धाष्टमसागरोपमायुर्धनद. । तदूनायुर्वरुण. । ततोऽप्यूनस्थिती सोमयमौ । सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषत् त्रिंशद्देवा· । मध्या द्वे देवशते । बाह्या त्रीणि देवशतानि । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषच्चत्वारिंशद् देवाः । मध्या त्रीणि देवशतानि । बाह्या चत्वारि देवशतानि । वैश्रवणस्याभ्यन्तर- ३५
परिषत् पञ्चाशद् देवाः । मध्या चत्वारि देवशतानि । बाह्या पञ्च देवशतानि । चतसृषु अभ्यन्तरपरिषत्सु देवानामायुरष्टौ सागरोपमाणि । मध्यमपरिषद्देवानां देशोनान्यष्टौ

सागरोपमाणि । बाह्यपरिषद्देवाना तान्येवार्धाष्टमानि । तेषा देव्यो यथासख्य पञ्चाशच्चत्वारिशत् त्रिशच्च वेदितव्या ।

ब्रह्मोत्तरादुत्तरश्रेण्यामेकविंशतिविमानाया द्वादश कल्पविमान पूर्ववत् । तस्याधिपतिः ब्रह्मोत्तर. । यस्य न्यूने द्वे विमानशतसहस्रे, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, द्वात्रिंशत्सामानिक-
५ सहस्राणि, तिस्र परिषद, सप्तानीकानि, द्वात्रिंशदात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपाला, ऐशानेन्द्राग्रमहिषीतुल्यसज्ञा अष्टावग्रमहिष्य पञ्चदशपल्योपमायुष, द्वे च वल्लभिकासहस्रे तावदायुषी । अवशिष्ट ब्रह्मेन्द्रवत् । ब्रह्मोत्तरस्याभ्यन्तरपरिषत् समिता द्वे देवसहस्रे । चन्द्रा मध्या चत्वारि देवसहस्राणि । जातुर्बाह्या षड्देवसहस्राणि । अवशिष्टं ब्रह्मेन्द्रपरिषद्वत् । पुष्पकाभियोग्योऽपि तद्वदेव । पदात्यनीकस्य प्रथमकक्षा द्वात्रिंशद् देवसहस्राणि । इतरद्
१० ब्रह्मेन्द्रवत् । आत्मरक्षाश्च तद्वदेव । दक्षिणादिदिक्षु सोमादयो लोकपाला ब्रह्मेन्द्रवज्ज्ञेया ।

ब्रह्मोत्तरविमानादूर्ध्वं बहुयोजनशतसहस्राणि उत्पत्य[1] लान्तवकापिष्ठौ कल्पौ भवत । ययोर्द्वौ विमानप्रस्तारौ ब्रह्महृदयलान्तवाख्यौ । तत्र लातवविमानाद् दक्षिणश्रेण्याम् एकान्नविंशतिविमानविरचिताया नवम कल्पविमान पूर्वोक्तपरिवारम् । तस्याधिपतिर्लान्तवो नाम देवराज । यस्याधिकानि पञ्चविंशतिविमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत् त्रायस्त्रिंशा देवा,
१५ चतुर्विंशति सामानिकसहस्राणि, तिस्र परिषद, सप्तानीकानि, चतुर्विंशतिरात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपाला, शक्राग्रमहिषीसमानसज्ञा अष्टावग्रमहिष्य सप्तदशपल्योपमायुष, प्रत्येक द्वाभ्या देवीसहस्राभ्या परिवृता । अन्यानि च वल्लभिकानां तावदायुषा पञ्चशतानि । एकैका [2]चात्राग्रमहिषी वल्लभिका च एक देवीशतसहस्रमष्टाविंशति च देवीसहस्राणि विकरोति । समिताऽभ्यन्तरपरिषत् एक देवसहस्रम् । तत्रैकैकस्य साधिकानि दश-
२० सागरोपमाणि आयु, सप्ताशीतिश्च देव्य । मध्या चन्द्रा द्वे देवसहस्रे । अत्रैकैकस्य देशोनानि दशसागरोपमाण्यायु, पञ्चसप्ततिश्च देव्य । जातुर्बाह्या चत्वारि देवसहस्राणि । तत्रैकैकस्य मध्यपरिषद्देवायुष किञ्चिन्न्यूनमायु, त्रिषष्टिश्च देव्य । बालकाभियोग्यो बाह्यपरिषत्समायु, षष्टिश्चास्य देव्य । अनीकाना तन्महत्तराणां चायु मध्यमपरिषदायुषः किञ्चिन्न्यूनमायु. । सर्वेषा प्रथमकक्षा चतुर्विंशति सहस्राणि । ततो द्विगुणा द्विगुणा आ
२५ सप्तम्या । तत्रैकैकस्य देवस्य महत्तरस्य च षष्टिर्देव्य. । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयप्रभ-वरज्येष्ठ-स्वयजन-वल्गुविमाननिवासिन सोमादयश्चत्वारो लोकपाला । तत्रैकैकस्य चत्वारि सामानिकशतानि, अर्धतृतीयानि देवीशतानि, चतस्रोऽग्रमहिष्य, तिस्र परिषद । जातुपरिषत्सदृशायुर्वैश्रवण । ततो न्यूनायुर्वरुण । ततो न्यूनायुषौ सोमयमौ । सोमयमयोरभ्यन्तरपरिषद्विंशतिर्देवा, मध्या देवशतम्, बाह्या द्वे देवशते । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत्त्रिंशद् देवा, मध्या द्वे
३० देवशते, बाह्या त्रीणि देवशतानि । वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषच्चत्वारिंशद् देवा, मध्या त्रीणि देवशतानि, बाह्या चत्वारि देवशतानि । सर्वाभ्यन्तरपरिषद्देवानामायुरेकादशसागरोपमाणि । मध्यमपरिषद्देवाना तान्येव किञ्चिन्न्यूनानि । बाह्यपरिषद्देवानां ततोऽपि किञ्चिन्न्यूनानि । तेषा यथाक्रम पञ्चविंशति विंशति पञ्चदशदेव्य ।

[3]लान्तवविमानादुत्तरश्रेण्याम् एकान्नविंशतिविमानविराजितायां नवम कल्पविमान
३५ पूर्वोक्तवर्णनम् । तस्याधिपतिः कापिष्ठ । यस्योनानि पञ्चविंशति विमानसहस्राणि,

---

१ उत्प्लुत्य आ०, ब०, द०, मु० । २ चाग्रम- आ०, ब०, ०, मु० । ३ इन्द्रः ।

त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवा, द्वाविंशति सामानिकसहस्राणि, तिस्र परिषद. सप्तानीकानि, द्वाविंशतिरात्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपाला, श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्य· पञ्चशत-सख्याश्च वल्लभिका एकान्नविंशतिपल्योपमायुष । अवशिष्टं लान्तवेन्द्रवत्, परिषदश्च । सर्वेषामनीकाना प्रथमकक्षा द्वाविंशतिसहस्राणि, इतरल्लान्तवेन्द्रवत् । आत्मरक्षादिविधिश्च तथैव ज्ञेय· । अय तु विशेष लान्तवेन्द्रजातुपरिषत्सदृशायुर्वरुण. । तत ऊनायु वैश्रवण । ५
ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ ।

लान्तवविमानाद्बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य महाशुक्रो[1] नाम विमानप्रस्तारो भवति[2] । ततो महाशुक्रविमानात् दक्षिणश्रेण्याम् अष्टादशविमानपरिमण्डिताया द्वादश कल्प-विमान पूर्वोक्तपरिवारम् । तस्याधिपति शुक्रो नाम देवराज· । यस्याधिकानि विंशतिर्विमान-सहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा[3] देवा, चतुर्दश सामानिकसहस्राणि, तिस्र परिषद, १०
सप्तानीकानि, चतुर्दशाऽऽत्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपाला, पद्मादयोऽष्टावग्रमहिष्य,
एकैका चात्र दशभिर्देवीसहस्रै परिवृता । वल्लभिकाश्च अर्धतृतीयशतसख्या । एकैका यत्राग्र-महिषी वल्लभिका चैकविंशतिपल्योपमायु·, द्वे देवीरूपशतसहस्रे षट्पञ्चाशत च देवीरूपसह-स्राणि विकरोति । समिताऽभ्यन्तरपरिषत् पञ्चदेवशतानि चतुर्दशसागरोपमायू पि ।
तत्रैकैकस्य त्रिचत्वारिंशद् देव्य । चन्द्रा मध्या एकं देवसहस्र देशोनचतुर्दशसागरोपमायु । १५
तत्रैकैकस्याष्टत्रिंशद् देव्य । जातुर्बाह्या द्वे देवसहस्रे मध्यमपरिषदूनायुषी । अत्रैकैककस्य पञ्च-त्रिंशद् देव्य । अनीकाना महत्तराणा च जातुवदायु । सर्वेषा प्रथमकक्षा चतुर्दशदेवसहस्राणि,
एकैकस्य पञ्चाशद् देव्य । बालकाभियोग्योऽपि तावदायुर्देवीक, आत्मरक्षाश्च । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयप्रभ-वरज्येष्ठ-स्वयजन-वल्गुविमानवासिन सोमादयश्चत्वारो लोकपाला. । धनदस्य जातुवदायु, ततोऽप्यूनायुर्वरुण, ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ । तयोरभ्यन्तरपरिषदष्टदेवा । २०
मध्या पञ्चाशत् । बाह्या देवशतम् । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत् विंशतिर्देवा । मध्या देवशतम् ।
बाह्या द्वे देवशते । वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषद्विंशतिर्देवा । मध्या द्वे देवशते । बाह्या त्रीणि देवशतानि । सर्वाभ्यन्तरपरिषद्देवानामायु पञ्चदशसागरोपमाणि । मध्यमपरिषद्देवानामायु-स्तान्येव देशोनानि । बाह्यपरिषद्देवानामायु सार्धचतुर्दशसागरोपमाणि । तेषा यथाक्रम
विंशति पञ्चदश दश च देव्यो भवन्ति । २५

महाशुक्रविमानादुत्तरश्रेण्याम् अष्टादशविमानशोभिताया द्वादश कल्पविमानम् ।
तस्याधिपति महाशुक्र । यस्योनानि विंशतिर्विमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवा,
द्वादश सामानिकसहस्राणि, तिस्र परिषद, सप्तानीकानि, द्वादशात्मरक्षसहस्राणि,
चत्वारो लोकपाला, श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्यः अर्धतृतीयशतसख्याश्च वल्लभिका
त्रयोविंशतिपल्योपमायुष । शेष शुक्रवत् । तिस्रोऽपि परिषद शुक्रवदेव वेदितव्या । ३०
अनीकाना प्रथमकक्षा द्वादशदेवसहस्राणि । शेष शुक्रवत् । आत्मरक्षाणां पुष्पकाभियोग्यस्य
च तथैव विधिः । दक्षिणादिषु दिक्षु सम-सर्वतोभद्र-सुभद्र-समितविमाननिवासिन सोमाद-,
यश्चत्वारो लोकपाला । शुक्रजातुपरिषत्समस्थितिर्वरुण । तत ऊनायुर्वैश्रवण । ततोऽप्यू-
नायुषौ सोमयमौ । शेषं शुक्रवत् ।

महाशुक्रविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सहस्रार[4] एकविमानप्रस्तारो ३५
भवति । यत्र दक्षिणोत्तरौ शतारसहस्रारकल्पौ । तत्र सहस्रारविमानाद् दक्षिणश्रेण्यां सप्तदश-

१ इन्द्रक । २ –ति शुक्रमहाशुक्रौस्तःततो आ०, ब०, मु० । ३ –श देवाः श्र० । ४ इन्द्रक ।

विमानगणनायां नवमं कल्पविमानम् । तस्याधिपतिः शतारो नाम देवराजः । यस्याधिकानि त्रीणि विमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवा, चत्वारि सामानिकसहस्राणि, तिस्र परिषद, सप्तानीकानि, चत्वारि आत्मरक्षसहस्राणि, चत्वारो लोकपाला, पद्मादयोऽष्टावग्रमहिष्यः पञ्चविंशतिपल्योपमायुष । एकैका चात्र पञ्चभिर्देवीशतैः परिवृता पञ्चदेवीरूपशतसहस्राणि द्वादशदेवीरूपसहस्राणि विकरोति । द्विषष्टिर्वल्लभिकास्तावदायुर्विक्रिया । समिताऽभ्यन्तरपरिषदर्धतृतीयानि देवशतानि साधिकषोडशसागरोपमायू षि । तेषामेकैकस्यैकविंशतिर्देव्य । चन्द्रा मध्या पञ्चदेवशतानि देशोनषोडशसागरोपमायू षि । तेषाम् एकैकस्याऽष्टादश देव्यः । जातुर्बाह्या एक देवसहस्र चन्द्रायुरूनायु, तेषामेकैकस्य पञ्चदश देव्य । सर्वेषामप्यनीकाना महत्तराणा च जातुवदायु । प्रथमकक्षा चत्वारि देवसहस्राणि। एकैकस्य चत्वारिंशद् देव्य । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयप्रभादिविमाननिवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः । जातुपरिषत्समायुर्वैश्रवण । तत ऊनायुर्वरुण, ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ । तयोरभ्यन्तरपरिषत्पञ्चदेवा. । मध्या पञ्चविंशतिर्देवा । बाह्या पञ्चाशद् देवा । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषद् दशदेवा. । मध्या पञ्चाशद् देवाः । बाह्या देवशतम् । वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषत् पञ्चदशदेवा । मध्या देवशतम् । बाह्या द्वे देवशते । सर्वाभ्यन्तरपरिषद्देवानामायु सप्तदशसागरोपमाणि । मध्यमपरिषद्देवानामायु तान्येव देशोनानि । बाह्यपरिषद्देवानामायु सार्धानि षोडशसागरोपमाणि । तेषा यथाक्रम पञ्चदश दश पञ्चदेव्यो भवन्ति ।

सहस्रारविमानादुत्तरश्रेण्या सप्तदशविमानभूषितायां नवम कल्पविमानम् । तस्याधिपति सहस्रार । यस्योनानि त्रीणि विमानसहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवा, द्वे सामानिकसहस्रे, तिस्र परिषद, सप्तानीकानि, द्वे आत्मरक्षसहस्रे, चत्वारो लोकपालाः, श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्य सप्तविंशतिपल्योपमायुषः । शेष शतारेन्द्रवत् । परिषदात्मरक्षाऽनीकाभियोग्यवर्णना च शतारेन्द्रवत् । अय तु विशेष –अनीकाना प्रथम[1]कक्षा द्वे देवसहस्रे । दक्षिणादिषु दिक्षु सम-सर्वतोभद्र-सुभद्र-समितविमाननिवासिनः सोमादयश्चत्वारो लोकपालाः । तेषामेकैकस्य द्वे सामानिकदेवशते[2], त्रिषष्टिर्देव्यः, चतस्रोऽग्रमहिष्यः, तिस्र. परिषदः । शेष शतारेन्द्रवत् । शतारेन्द्रजातुपरिषत्सदृशायुर्वरुणः । ततो न्यूनायुर्धनदः । ततो न्यूनायुषौ सोमयमौ । शेष शतारेन्द्रवत् ।

सहस्रार[3]विमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य[4] आनतप्राणतारणाच्युतकल्पाः सन्ति । तत्र षड्विमानप्रस्तारा –आनत-प्राणत-पुष्पक-सातक-आरण-अच्युतसज्ञका. । तत्रानतविमानाच्चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गता. । विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकानि । तत्रैकैकस्या विमानश्रेण्या षोडशश्रेणिविमानानि । एवमौपरिष्टेषु पञ्चसु विमानप्रस्तारेषु एकैकश्रेणिविमानहानिर्वेदितव्या । तत्रारणाच्युतविमानाद् दक्षिणश्रेण्याम् एकादशविमानविरचितायां षष्ठं कल्पविमानम् । तस्याधिपतिरारणो नाम देवराज । यस्याधिकान्यर्धचतुर्थानि विमानशतानि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवाः, दश सामानिकशतानि, तिस्र. परिषदः, सप्तानीकानि, दशात्मरक्षशतानि, चत्वारो लोकपालाः, पद्मादयोऽष्टावग्रमहिष्यः अष्टचत्वारिंशत्पल्योपमायुषः। एकैका चात्राऽर्धतृतीयै.[5]

१ –कक्ष्या द्वे ता०, मू०, श्र०। २ –तेष– आ०, ब०, द०, मू०। ३ इन्द्रक। ४ –त्य सन्ति तत्र ता०, श्र०, मू०। ५ पञ्चाशदधिकद्विशतैः।

देवीशतै परिवृता दशदेवीरूपशत[1]सहस्राणि चतुर्विंशति च देवीरूपसहस्राणि विकरोति। वल्लभिकाश्च पञ्चदश तावदायुर्विक्रिया । समिताऽभ्यन्तरपरिषत् पञ्चविंशतिर्देवशतम् । तत्रैकैक साधिकविंशतिसागरोपमायुर्दशदेवीक । चन्द्रा मध्या, अर्धतृतीयानि देवशतानि । तत्रैकैक. देशोनविंशतिसागरोपमस्थितिरष्टदेवीक । जातुर्बाह्या पञ्चदेवशतानि । तत्रैकैक: अर्धविंशतिसागरोपमस्थिति. षड्देवीक । अनीकाना प्रथमकक्षा[2] एक देवसहस्रम् । सर्वेषा देवानां तन्महत्तराणां च एकैकस्य त्रिंशद् देव्य । आत्मरक्षाणा च त्रिंशत् । बालकाभियोग्यस्य चन्द्रायुप. ऊनमायु., त्रिंशद् देव्य । पूर्वादिषु दिक्षु स्वयप्रभादिविमाननिवासिन सोमादयश्चत्वारो लोकपाला । तेषामेकैकस्य सामानिकशतम् । द्वात्रिंशद् देव्य, चतस्रोऽग्रमहिष्य, तिस्र परिषद । जातुसमानायुर्वैश्रवण । ततो[3] न्यूनायुर्वरुण । ततो न्यूनायुषौ सोमयमौ । तयोरभ्यन्तरपरिषत्त्रयो देवा । मध्या द्वादश। बाह्या पञ्चविंशति । वरुणस्याभ्यन्तरपरिषत् पञ्चदेवा.। मध्या पञ्चविंशति:। बाह्या पञ्चाशत् । वैश्रवणस्याभ्यन्तरपरिषत् षड्देवा । मध्या पञ्चाशत् । बाह्या शतम् । तेषा यथाक्रमम् एकविंशतिसागरोपमाणि तान्येव देशोनानि तान्येव चार्धोनान्यायुरवगन्तव्यम्, सप्त पञ्च तिस्रश्च देव्यो ज्ञेया. ।

आरणाच्युतविमानादुत्तरश्रेण्याम् एकादशविमानविभूषिताया षष्ठ कल्पविमानम् । तस्याधिपतिरच्युतो नाम देवराजः । यस्योनान्यर्धचतुर्थानि विमानशतानि । त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिंशा देवा । दश सामानिकशतानि । तिस्र परिषद । सप्तानीकानि । दश आत्मरक्षशतानि । चत्वारो लोकपाला । श्रीमत्यादयोऽष्टावग्रमहिष्य पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमायुष, वल्लभिकाश्च पञ्चदश तावदायुप । अवशिष्टम् आरणेन्द्रवत् । परिषदादिविधिश्च तथैव नेय । अय तु विशेष वरुणोऽधिकायु । ततो न्यूनायुर्धनद । ततोऽप्यूनायुषौ सोमयमौ ।

त एते लोकानुयोगोपदेशेन चतुर्दशेन्द्रा उक्ता । इह द्वादश इष्यन्ते[4] [5]पूर्वोक्तेन क्रमेण ब्रह्मोत्तरकापिष्ठमहाशुक्रसहस्रारेन्द्राणा दक्षिणेन्द्रानुवर्तित्वात् आनतप्राणतकल्पयोश्च एकैकेन्द्रत्वात् ।

सौधर्मविमानसख्या प्रागुक्ता । ऐशानेऽष्टाविंशतिर्विमानशतसहस्राणि[6]। श्रेणिविमानानि चतुर्दशशतानि सप्तपञ्चाशानि । पुष्पप्रकीर्णकाना सप्तविंशति शतसहस्राणि अष्टनवति सहस्राणि पञ्चशतानि त्रिचत्वारिंशानि । सानत्कुमारे द्वादशविमानशतसहस्राणि । श्रेणिविमानाना पञ्चशतानि पञ्चनवत्यधिकानि । प्रकीर्णकानाम् एकादशशतसहस्राणि नवनवति. सहस्राणि चत्वारि शतानि पञ्चोत्तराणि । माहेन्द्रेऽष्टौ विमानशतसहस्राणि । श्रेणिविमानानाम् एक शतं षण्णवत्यधिकम् । प्रकीर्णकानां सप्तशतसहस्राणि नवनवतिसहस्राणि अष्टौ शतानि चतुरुत्तराणि । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरकल्पयो चत्वारि विमानशतसहस्राणि । श्रेणिविमानाना त्रीणि शतानि चतुषष्टयधिकानि। प्रकीर्णकाना त्रीणि शतसहस्राणि नवनवति सहस्राणि षट्शतानि षट्त्रिंशानि। लान्तवकापिष्ठयो पञ्चाशत्सहस्राणि । श्रेणिविमानाना शतम् अष्टपञ्चाशम् । प्रकीर्णकानामेकान्नपञ्चाशत्सहस्राणि

---

१ –शतसहस्राणि विकरोति आ०, ब०, द०, मु० । –२ कक्ष्या श्र०, मू०, ता० । ३ ततोऽप्यूनायु– श्र० । ४ "सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबम्हलतवया । महसुक्कसहस्सारा आणद पाणद य आरणच्चुदया। एवं बारसकप्पा·····" –त्रिलोकप्र० वैमानिक० । ५ तदेव विवृणोति । ६ तान्येव पृथग् पृथग् विवृणोति, एवमुत्तरत्रापि ।

अष्टौ शतानि द्विचत्वारिंशानि । शुक्रमहाशुक्रयो. चत्वारिंशत्सहस्राणि । श्रेणिविमानानां त्रिसप्तति । प्रकीर्णकानाम् एकान्नचत्वारिंशत्सहस्राणि नवशतानि सप्तविंशानि । शतारसहस्रारकल्पयो षड्विमानसहस्राणि । श्रेणिविमानानाम् एकान्नसप्तति । प्रकीर्णकानाम् एकान्नषष्टिशतानि एकत्रिंशानि । आरणाच्युतकल्पयो सप्तविमानशतानि । श्रेणिविमानानां त्रीणि शतानि त्रिंशानि । प्रकीर्णकानां त्रीणि शतानि सप्तत्यधिकानि । [1]चतुर्दशस्वपि कल्पविमानेषु विमानसंख्या चतुरशीति शतसहस्राणि षण्णवति सहस्राणि सप्त च विमानशतानि ।

आरणाच्युतविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राण्युत्पत्य सन्ति तत्राधोग्रैवेयकविमानानि । येषु त्रयो विमानप्रस्तारा सुदर्शनामोघसुप्रबुद्धा । तत्र सुदर्शनेन्द्रकाच्चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्य । तत्रैकैकस्या विमानश्रेण्या दश विमानानि । सुदर्शनादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्याऽस्ति अमोघो नाम विमानप्रस्तार । अत्रापि चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो निर्गता । अत्रैकस्या विमानश्रेण्या नवविमानानि । अमोघादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य अस्ति सुप्रबुद्धो नाम विमानप्रस्तार । अत्रापि चतसृष्वपि दिक्षु चतस्रो विमानश्रेण्यो[2] विनिर्गता । एकैकस्या विमानश्रेण्याम् अष्टौ विमानानि । त्रिष्वेष्येतेषु पुष्पप्रकीर्णकविमानानि न सन्ति । तान्येतान्येकादशोत्तरविमानशतम् । सुप्रबुद्धविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्र मध्यमग्रैवेयकविमानानि । येषु त्रय प्रस्तारा यशोधरसुभद्रविशाला । पूर्ववदत्रापि एकैकश्रेणिविमानहान्या पञ्चसप्तति[3]श्रेणिविमानानि । पुष्पप्रकीर्णकानि द्वात्रिंशत्[4] । तान्येतानि सप्तोत्तर शतम् । सुविशालविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्रोपरिमग्रैवेयकविमानानि । येषु त्रय प्रस्तारा सुमना सौमना प्रीतिङ्कर इति । पूर्ववदत्राप्येकैकविमानहान्या एकान्नचत्वारिंशत् श्रेणिविमानानि । द्वापञ्चाशत्पुष्पप्रकीर्णकानि । तान्येतानि समुदितानि एकनवतिर्विमानानाम् ।

प्रीतिङ्करविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्राऽनुदिशविमानानि । येष्वेक एवाऽऽदित्यो नाम विमानप्रस्तार । तत्र दिक्षु चत्वारि श्रेणिविमानानि । प्राच्या दिशि अर्चिर्विमानम्, अपाच्यामर्चिमाली, प्रतीच्या वैरोचनम्, उदीच्या प्रभासम्, मध्ये आदित्याख्यम् । विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकानि चत्वारि—पूर्वदक्षिणस्यामर्चिप्रभम्, दक्षिणापरस्याम् अर्चिर्मध्यम्, अपरोत्तरस्याम् अर्चिरावर्तम्, उत्तरपूर्वस्यामर्चिर्विशिष्टम् । तान्येतानि नव ।

आदित्यविमानादूर्ध्वं बहूनि योजनशतसहस्राणि उत्पत्य सन्ति तत्रानुत्तरविमानानि । यत्रैक एव सर्वार्थसिद्ध[5]संज्ञो विमानप्रस्तार । दिक्षु प्रदक्षिणानि विजयवैजयन्तजयन्तापराजितविमानानि चत्वारि, मध्ये सर्वार्थसिद्ध[5]संज्ञम् । पुष्पप्रकीर्णकानि न सन्ति ।

सौधर्मैशानयो कल्पयोर्विमानानि सप्तविंशैकयोजनशतबाहल्यानि पञ्चयोजनशतोच्छ्रायाणि । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु आनतप्राणताऽऽरणाऽच्युतेषु नवसु ग्रैवेयकेषु अनुदिशाऽनुत्तरेषु च विमानानां बाहल्यमेकैकयोजनविहीनम्, उच्छ्रायश्च एकैकयोजनशताधिको यथाक्रमं वेदितव्य । तान्ये-

---

१ आनतप्राणतयोरन्यतरस्यान्तर्भावात् । २ –ण्यो नि– श्र०, मू० । ३ –तिःश्रे– आ०, ब०, द०, मु०, मू० । ४ द्वात्रिंशान्येतानि आ०, भा० २ । ५ –द्धिसं –आ०, ब०, मु० ।

तानि श्रेणीन्द्रप्रकीर्णकविमानानि कानिचित् सख्येययोजनशतविस्ताराणि । कानिचिदसख्येययोजनशतविस्ताराणि । यानि सख्येयविस्ताराणि तानि संख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि, यान्यसख्येयविस्ताराणि तानि असख्येययोजनशतसहस्रविस्ताराणि । सौधर्मैशानयोर्विमानानि पञ्चवर्णानि कृष्णनीलरक्तहारिद्रशुक्लवर्णानि । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोश्चतुर्वर्णानि कृष्णहीनानि । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु त्रिवर्णानि विमानानि कृष्णनीलवर्जितानि । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्राराऽऽनतप्राणतारणाच्युतेषु द्विवर्णानि विमानानि हारिद्रशुक्लवर्णानि । ग्रैवेयकानुदिशानुत्तरविमानानि शुक्लवर्णान्येव । परमशुक्ल सर्वार्थसिद्ध[1]विमानम् । ५

एषामधिकृताना वैमानिकानां देवाना परस्परतो विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥ १०

स्वोपात्तायुष उदयात् स्थानं स्थितिः ।१। स्वेनोपात्तस्य देवायुष उदयात्तस्मिन् भवे तेन शरीरेण स्थान स्थितिरित्युच्यते ।

शापानुग्रहलक्षणः प्रभावः ।२। शापोऽनिष्टापादनम्, अनुग्रह इष्टप्रतिपादनम, तल्लक्षण प्रवृद्धो भाव प्रभाव इत्याख्यायते ।

सद्वेद्योदये सति इष्टविषयानुभवनं सुखम् ।३। सद्वेद्योदयमूलहेतौ सति बाह्यस्येष्टविषयस्य उपनिपाते तद्विषयमनुभवन सुखमिति कथ्यते । १५

शरीरवसनाभरणादिदीप्तिर्द्युतिः ।४। शरीरस्य वसनस्याऽऽभरणादीना च दीप्ति द्युतिरिति उपाख्यायते ।

लेश्याशब्द उक्तार्थः ।५। लेश्याशब्द उक्तार्थ एव वेदितव्य । लेश्याया विशुद्धि लेश्याविशुद्धि । २०

इन्द्रियावधिभ्यां विषयाभिसंबन्धः ।६। विषयशब्दस्य इन्द्रियावधिभ्यामभिसबन्धो भवति । इन्द्रिय चाऽवधिश्च इन्द्रियावधी, तयोर्विषय इन्द्रियावधिविषय[2] इति ।

इतरथा हि तदाधिक्यप्रसङ्गः ।७। अक्रियमाणे ह्येवमभिसबन्धे उपर्युपरि देवेषु इन्द्रियाणामाधिक्य प्रसज्येत ।

स्थितिग्रहणमादौ तत्पूर्वकत्वादितरेषाम् ।८। स्थितिग्रहणमादौ क्रियते तत्पूर्वकत्वादितरेषां प्रभावादीनाम् । स्थितिमता हि प्रभावादयो भवन्ति नाऽस्थितस्येति । २५

तेभ्यस्तैर्वाऽधिका इति तसिः ।९। तेभ्य स्थित्यादिभ्य अधिका इति *"**अपादानेऽहीयरुहो**" [जैनेन्द्र० ४।३।५०] इति तसि । तैर्वाधिका इति तसि प्रकरणे *"**आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्**" [जैनेन्द्र० ४।२।४९] इति तसि । उपर्यपरि वैमानिका इत्यनुवर्तन्ते, तेनैवमभिसबध्यते उपर्युपरि वैमानिका प्रतिकल्प प्रतिप्रस्तार च स्थित्यादिभिरेभिरधिका इति । तत्र स्थिति उत्कृष्टा जघन्या च, सा उपरिष्टाद्वक्ष्यते । इह तु वचनं येषा समा[3] भवति तेषामपि गुणतोऽधिकत्वज्ञापनार्थम् । य प्रभाव सौधर्मकल्पदेवाना निग्रहानुग्रहविक्रियापराभियोगादिषु, उपर्युपरि ततोऽनन्तगुण मन्दाभिमानतया अल्पसक्लिष्टत्वाच्च न प्रवर्तते । एव सुखादयोऽपि प्रत्येतव्याः । लेश्यानियम उपरि वक्ष्यते । इह तु वचन यत्र विधान[4] समान तत्रापि कर्मविशुद्धितोऽधिका भवन्ति इति प्रतिपादनार्थम् । ३५

---

१ —द्विवि— आ०, ब, द०, मु० । २ विषयो ज्ञेयपदार्थः । ३ स्थितिः । ४ स्थित्यादि ।

यथा स्थित्यादिभिरुपर्यधिका एव गत्यादिभिरपि इत्यतिप्रसङ्गे तन्निवृत्त्यर्थमाह—

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः ।१। उभयनिमित्तवशात् उत्पद्यमान कायपरिस्पन्दो गतिरित्युच्यते ।

शरीरमुक्तलक्षणम् ।२। *"औदारिकवैक्रियिकाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि" [त० सू० २।३६] इत्यत्र शरीरमुक्तलक्षणम् ।

लोभकषायोदयान्मूर्च्छा परिग्रहः ।३। लोभकषायवेदनीयस्य उदयान्मूर्च्छा संकल्पः परिग्रह इत्याख्यायते ।

मानकषायोदयापादितोऽभिमानः ।४। मानकषायवेदनीयस्य उदयापादितोऽहङ्कार अभिमान इति कथ्यते । गतिश्च शरीर च परिग्रहश्च अभिमानश्च गतिशरीरपरिग्रहाभिमाना तै गतिशरीरपरिग्रहाभिमानत । तसिप्रकरणे *"**आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्**" [जैनेन्द्रवा० ४।२।४९] इति तसिः । यदि हि अपादानविवक्षा स्यात् *"**अहीयरुहोः**" [जैनेन्द्र० ४।३।५०] इति प्रतिषेधः स्यात् ।

गतिग्रहणमादौ लक्षणद्वययोगात् ।५। गतिग्रहणमादौ क्रियते । कुतः ? लक्षणद्वययोगात् *"**द्वन्द्वेऽसु**" [जैनेन्द्र० १।३।९८] *"**अल्पाच्तरम्**" [जैनेन्द्र० १।३।१००] इति ।

ततः शरीरग्रहणं तस्मिन् सति परिग्रहोपपत्तेः ।६। तत पर शरीरग्रहण क्रियते । कुत ? तस्मिन् सति परिग्रहोपपत्ते, सति शरीरे परिग्रहो ममेदं बुद्धिरुपजायते ।

तद्वत्त्वेऽपि केवलिनः परिग्रहेच्छाभाव इति चेत्, न, देवाधिकारात् ।७। स्यादेतत्—शरीरवत्त्वेऽपि केवलिन ममेदमिति सकल्पो न विद्यते ततोऽय हेतुव्यभिचार इति, तन्न, कि कारणम् ? देवाधिकारात् । देवा हि रागादिमन्तोऽधिकृता., तेषामवश्यं सति शरीरे परिग्रहाभिलाषेण भवितव्यमिति नास्ति व्यभिचार ।

तन्मूलत्वात्तदनन्तरमभिमानग्रहणम् ।८। परिग्रहमूलो हि लोकेऽभिमानो दृष्टः, ततोऽस्य तदनन्तर ग्रहणं क्रियते । उपर्युपरीत्यनुवर्तते, तेनोपर्युपरि देवानाम् उक्ता गत्यादयो हीना वेदितव्या । तद्यथा—सौधर्मैशानयोर्देवा क्रीडादिनिमित्ता गति महाविषयत्वेन मुहुर्मुहुर्वृत्त्या चाधिकामास्कन्दन्ति न तथोपरि देवा. विषयाभिष्वङ्गोद्रेकाभावात् । ततस्तन्निमित्ता गतिरपि क्रमेण हीयते । शरीरमपि सौधर्मैशानयोर्देवाना सप्तारत्नि[1]-प्रमाणम् । सानत्कुमारमाहेन्द्रयो षडरत्निप्रमाणम् । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पञ्चारत्नि । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु च चतुररत्नि । आनतप्राणतयोरर्धचतुर्थारत्नि । आरणाच्युतयोररत्नित्रयप्रमाणम् । अधोग्रैवेयकेषु अर्धतृतीयारत्नि, मध्यमग्रैवेयकेषु अरत्निद्वयमात्रम्, उपरिमग्रैवेयकेषु अनुदिशविमानेषु च अध्यर्धारत्नि, अनुत्तरेष्वरत्निप्रमाणमात्रम् । परिग्रहोऽपि विमानपरिवारादिलक्षण उपर्युपरि हीन इत्युक्त पुरस्तात् । कुतः पुनरुपर्युपरि परिग्रहाभिमानहानिरिति ? उच्यते—

प्रतनुकषायत्वाल्पसंक्लेशावधिविशुद्धितत्त्वावलोकनसंवेगपरिणामानाम् उत्तरोत्तराधिक्याद् अभिमानहानिः ।९। प्रतनुकषायत्वादल्पसक्लेशो भवति, ततोऽवधिविशुद्धिर्जायते, संक्लेशवशादवधिर्हीयत इत्युक्तं पुरस्तात् । ततोऽवधिविशुद्धेः उपर्युपरि देवा शारीरमानसदुःखपरीतान्

---

१ कोऽर्थः ? मानसं कर्म । २ 'सु' इति स्वमते घिसंज्ञा । ३ हस्तो रत्निररत्निः स्यात् ।

नारकतैर्यग्योनमानुषान् प्रकर्षेणाऽवलोकयन्ति । ततस्तन्निमित्तसवेगपरिणामः ससाराद्भीरुता उपजायते । ततो दुःखहेतुषु दुरन्तेषु परिग्रहेषु अभिष्वानो हीयते । किञ्च,

विशुद्धपरिणामप्रकर्षनिमित्तत्वाच्च उपर्युपर्युपपत्तेः ।१०। [1]इह विशुद्धपरिणामभेदनिमित्तः पुण्यकर्मबन्धविकल्पः, तत्पूर्वको देवेषु उपपाद इति उपर्युपरि अभिमानहानिः । कारणसदृश हि कार्यं दृष्टमिति । तद्यथा—तैर्यग्योनेषु असज्ञिनः पर्याप्ताः पञ्चेन्द्रिया सख्येयवर्षायुष , अल्पशुभपरिणामवशेन पुण्यबन्धमनुभूय भवनवासिषु व्यन्तरेषु च उत्पद्यन्ते । त एव सज्ञिनो मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयश्च आसहस्रारादुत्पद्यन्ते । त एव सम्यग्दृष्टयः सौधर्मादिषु अच्युतान्तेषु जायन्ते । असख्येयवर्षायुषः तिर्यङ्मनुष्या मिथ्यादृष्टय सासादनसम्यग्दृष्टयश्च आ ज्योतिष्केभ्य उपजायन्ते, तापसाश्चोत्कृष्टा । त एव सम्यग्दृष्टयः सौधर्मैशानयोर्जन्मानुभवन्ति । मनुष्याः सख्येयवर्षायुष मिथ्यादर्शना सासादनसम्यग्दर्शनाश्च भवनवासिप्रभृतिषूपरिमग्रैवेयकान्तेषु उपपादमास्कन्दन्ति । परिव्राजकाना देवेषूपपादः आ ब्रह्मलोकात् । आजीवकानाम् आसहस्रारात् । तत ऊर्ध्वमन्यलिङ्गिना[2] नास्त्युपपादः । निर्ग्रन्थलिङ्गधराणामेव उत्कृष्टतपोऽनुष्ठानोपचितपुण्यबन्धानाम् असम्यग्दर्शनानामुपरिमग्रैवेयकान्तेषु उपपादः । तत ऊर्ध्वं सम्यग्दर्शनज्ञानचरणप्रकर्षोपेतानामेव जन्म नेतरेषाम् । श्रावकाणां सौधर्मादिष्वच्युतान्तेषु जन्म नाधो नोपरीति परिणामविशुद्धिप्रकर्षयोगादेव कल्पस्थानातिशययोगोऽवसेय ।

पुरस्तात्त्रिषु निकायेषु देवाना लेश्याविधिरुक्त इदानी वैमानिकेषु लेश्याविधिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

किमर्थं पृथग्लेश्याभिधान क्रियते, ननु यत्रैवान्यो लेश्याविधिः तत्रैवेद वक्तव्यम् ? अत उत्तर पठति[3]—

पृथग्लेश्याभिधानं लघ्वर्थम् ।१। पृथगिदं लेश्याभिधानं क्रियते लघ्वर्थम् । तत्र[4] हि पाठे क्रियमाणे वैमानिकानां स्वामिना भेदेन निर्देशः कर्तव्य स्यात् । अथ कोऽयं निर्देश ? पीतपद्मशुक्ललेश्या इति । पीता च पद्मा च शुक्ला च पीतपद्मशुक्ला, ता लेश्या येषा त इमे पीतपद्मशुक्ललेश्या इति । यद्येव द्वन्द्वे पुंवद्भावात् निर्देशो नोपपद्यते ? नैष दोषः, औत्तरपदिक ह्रस्वत्वम्, यथाकार्यविपरिणामाद्वा सिद्धम् । *[5]"**द्वितायां तपरकरणे [6]मध्यमबिलम्बितयोरुपसंख्यानम्**" [पात० महा० १।१।६९] इत्यत्रौत्तरपदिक[7] ह्रस्वत्वम्, एवमिहापि वेदितव्यम् ।

तत्र कस्य का लेश्या इत्यत्रोच्यते—

सौधर्मैशानीयाः पीतलेश्या ।२। सौधर्मैशानीया देवा [8]पीतलेश्या द्रष्टव्या ।

---

१ लोके कृत । २ —लिङ्गानां आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । ३ पठन्ति आ०, ब०, द०, मु० । ४ तथा सति सूत्रस्य गौरवं स्यात् । ५ सूत्रस्य लघुनोपायेन । ६ आदितस्त्रिषु इत्यादि प्रकरणे । ७ द्वितायां वृत्ति । ८ मध्यमा च बिलम्बिता च तयोः । इदमेव ज्ञापकं लक्षणाभावेऽपि शिष्टप्रयोगानुसारेण औत्तरपदिक ह्रस्वत्वमस्तीति । ९ ···सूत्रे तपरकरणं तत् ज्ञापयति क्वचिद् द्वन्द्वेऽप्यौत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं भवतीति तेन यथा मध्यमा च बिलम्बिता मध्यमबिलम्बिते इत्याद्यौत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं बहुलं दृश्यते तद्वदत्रापीत्यदोषः पाणिनीयमिदं सूत्रम् । १० मध्यम ।

सानत्कुमारमाहेन्द्रीया देवाः पीतपद्मलेश्याः ।३। सनत्कुमारे माहेन्द्रे च देवा पीत-पद्म[1]लेश्या प्रत्येतव्या ।

ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पद्मलेश्याः ।४। चतुर्ष्वेषु देवाः [2]पद्मलेश्या द्रष्टव्या ।

शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः ।५। चतुर्ष्वेषु देवा [3]पद्मशुक्ललेश्या विज्ञेया ।

आनतादिषु शुक्ललेश्याः ।६। आनतादिषु शेषेषु देवा [4]शुक्ललेश्या प्रत्येतव्या । तत्राप्यनुत्तरेषु परमशुक्ललेश्या ।

शुद्धमिश्रलेश्याविकल्पानुपपत्तिः सूत्रेऽनभिधानादिति चेत्; न; मिश्रयोरन्यतर[5]ग्रहणात् यथा लोके ।७। स्यान्मतम्–उक्तो लेश्याविकल्प शुद्धो मिश्रश्च नोपपद्यते, कुत ? सूत्रेऽनभिधानात् इति, तन्न, किं कारणम् ? मिश्रयोरन्यतर[6]ग्रहणात्, यथा लोके । तद्यथा–छत्रिणो गच्छन्तीत्यछत्रिष्वपि छत्रिव्यपदेश, एवमिहापि मिश्रयोरप्यन्यतरग्रहणेन ग्रहण भवति इति पीतपद्मलेश्या पूर्वग्रहणेन परग्रहणेन वा गृह्यन्ते, एव पद्मशुक्ललेश्या अपीति नास्ति दोष ।

द्वित्रिशेषग्रहणादग्रहणमिति चेत्; न; इच्छातः संबन्धोपपत्तेः ।८। स्यान्मतम्–एवमपि ग्रहण नोपपद्यते । कुत ? द्वित्रिशेषग्रहणात् । सूत्रे ह्येव पठ्यते–द्वयो पीतलेश्या, त्रिषु पद्मलेश्या, शेषेषु शुक्ललेश्या इति, तच्चानिष्टमिति; तन्न, किं कारणम् ? इच्छात सबन्धोपपत्ते. । एव हि सबन्ध क्रियते–द्वयो. कल्पयुगलयो पीतलेश्या, सानत्कुमारमाहेन्द्रयो. पद्मलेश्याया अविवक्षात । ब्रह्मलोकादिषु त्रिषु कल्पयुगलेषु पद्मलेश्या, शुक्रमहाशुक्रयो शुक्ललेश्याया अविवक्षात । शेषेषु शतारादिषु शुक्ललेश्या, पद्मलेश्याया अविवक्षात, इति नास्त्यार्ष[7]विरोध ।

पाठान्तराश्रयाद्वा ।९। अथवा पाठान्तरमाश्रियते । किं पुन. तत् ? 'पीतमिश्रपद्ममिश्र-शुक्ललेश्या द्वित्रिचतुश्चतु शेषेषु' इति, ततो न कश्चिदार्षविरोध ।

निर्देशवर्णपरिणामसंक्रमकर्मलक्षणगतिस्वामित्वसाधनसंख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्प-बहुत्वैश्च साध्या लेश्याः ।१०। एतैर्निर्देशादिभि षोडशभिरनुयोग[8]द्वारै लेश्या साधयि-तव्या ।

तत्र निर्देशस्तावत्–कृष्णलेश्या नीललेश्या कपोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति ।

वर्णो भ्रमरमयूरकण्ठकपोततपनीयपद्मशङ्खवर्णा यथाक्रम लेश्या । वर्णान्तरमासाम् अनन्तविकल्पम् । एकद्वित्रिचतुसख्येयाऽसख्येयाऽनन्तकृष्णगुणयोगात् कृष्णलेश्या अनन्त-विकल्पा । एवमितरा अपि ।

परिणाम [9]–'असंख्येयलोकप्रदेशप्रमाणेषु असख्येयगुणेषु कषायोदयस्थानेषु उत्कृष्ट-मध्यमजघन्यांशकेषु[10] सक्लेशहान्या परिणामात्मान अशुभास्तिस्र कृष्णनीलकापोतलेश्या

---

१ प्रकृष्टपीतजघन्यपद्मलेश्याः । २ मध्यम । ३ प्रकृष्टपद्मजघन्यशुक्ललेश्याः । ४ मध्यम । ५ –न्यतरग्र– आ०, ब०, द०, मु०, मू०, ता० । ६ सौधर्मैशानयोः पीता पीतापद्मे द्वयोस्ततः । कल्पेषुषट्स्वतः पद्मा पद्मशुक्ले ततो द्वयोः । आनतादिषु शुक्लातः त्रयोदशसु मध्यमा । चतुर्दशसु सोत्कृष्टाऽनुदिशानुत्तरेषु च । इति । ७ प्रश्न । ८ कथ्यते । ९ बसः । १० प्रागुक्तप्रदेशा एवांशाः ।

परिणमन्ते । तथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टाशकेषु विशुद्धिवृद्धया तिस्र शुभा तेज पद्मशुक्ललेश्या परिणमन्ते । तथोत्कृष्टमध्यमजघन्याशकेषु विशुद्धिहान्या तिस्र शुभा परिणमन्ते । तथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टांशेषु सक्लेशविवृद्धया तिस्र अशुभा परिणमन्ते । एकैका चात्र लेश्या असख्येयलोकप्रदेशप्रमाणपरिणामाऽध्यवसायस्थाना ।

सक्रम –कृष्णलेश्य संक्लिश्यमानो नान्यां लेश्या सक्रामति, कृष्णलेश्ययैव षट्स्थान- ५
पतितेन सक्रमेण वर्धते । तद्यथा–कृष्णलेश्याया यत्प्राथमिक सक्लेशस्थान तत स्थानादनन्त-भागाभ्यधिका वृद्धिरसख्येयभागाऽभ्यधिका वा सख्येयभागाभ्यधिका वा सख्येयगुणाभ्यधिका वा असख्येयगुणाभ्यधिका वा अनन्तगुणाभ्यधिका वा । तथा[1] हीयमानोऽपि लेश्यान्तरसक्रम न करोति कृष्णलेश्ययैव षट्स्थाननिपतितसमेक्रण हीयते । तद्यथा–कृष्णलेश्याया यदुत्कृष्ट सक्लेशस्थान तत. स्थानादनन्तभागहान्या वा असख्येयभागहान्या वा सख्येयभागहान्या वा १०
सख्येयगुणहान्या वा असख्येयगुणहान्या वा अनन्तगुणहान्या वा। यदा कृष्णलेश्या अनन्तगुण-हान्या हीयते तदा नीललेश्याया उत्कृष्ट स्थान संक्रामति, तदैव कृष्णलेश्यस्य सक्लिश्यमानस्य एको विकल्पो वृद्धौ स्वस्थानसक्रमो नाम । हानौ पुनर्द्वौ विकल्पौ स्वस्थानसक्रम. परस्थान-संक्रमश्चेति । एवमितरास्वपि लेश्यासु वृद्धिहान्योः सक्रमविकल्पविधिर्वेदितव्य । अय तु विशेष –शुक्ललेश्यस्य विशुद्धिवृद्धौ लेश्यान्तरसक्रमो नास्ति स्वस्थानसक्रमोऽस्ति । सक्लेश- १५
विवृद्धौ विशुद्धिहानौ तु स्वस्थानसक्रमोऽप्यस्ति परस्थानसक्रमोऽपि । मध्यलेश्याना हानौ वृद्धौ च उभावपि सक्रमौ स्तः । अनन्तभागपरिवृद्धि कया परिवृद्धया ? सर्वजीवैरनन्तभागपरि-वृद्धया । असख्येयभागपरिवृद्धि कया परिवृद्धया ? असख्येयलोकभागपरिवृद्धया । सख्येय-भागपरिवृद्धि कया परिवृद्धया ? उत्कृष्टसख्येयभागपरिवृद्धया । सख्येयगुणपरिवृद्धि कया परिवृद्धया ? उत्कृष्टसख्येयगुणपरिवृद्धया । असख्येयगुणपरिवृद्धि कया परिवृद्धया ? २०
असख्येयलोकगुणपरिवृद्धया । अनन्तगुणपरिवृद्धि कया परिवृद्धया ? सर्वजीवाऽनन्तगुण-परिवृद्धया ।

लेश्याकर्म उच्यते–जम्बूफलभक्षण निदर्शन कृत्वा, स्कन्धविटपशाखानुशाखा[2]पिण्डिका-[3]छेदनपूर्वक फलभक्षण स्वय पतितफलभक्षण चोद्दिश्य कृष्णलेश्यादय प्रवर्तन्ते[4]।

अथ लक्षणमुच्यते–अनुनयानभ्यु[5]पगमोपदेशाग्रहण-वैरामोचनाऽतिचण्डत्व[6]-दुर्मुखत्व- २५
निरनुकम्पता-क्लेशन-मारणापरितोषणादि कृष्णलेश्यालक्षणम् । आलस्य-विज्ञानहानि-कार्या-निष्ठापन-भीरुता-विषयातिगृद्धि-माया-तृष्णाऽतिमान-वञ्चनाऽनृत[7]भाषण-चापलातिलुब्धत्वादि नीललेश्यालक्षणम् । मात्सर्य-पैशुन्य-परपरि[8]भवाऽऽत्मप्रशसा-परपरिवाद[9]वृद्धिहान्यगणनाऽऽ-त्मीयजीवितनिराशता-प्रशस्यमानधनदान-युद्धमरणोद्यमादि कपोतलेश्यालक्षणम्। दृढमित्रता-सानुक्रोशत्व-सत्यवाद - दानशीलात्मीयकार्यसपादनपटुविज्ञानयोग - सर्वधर्मसमदर्शनादितेजोले- ३०
श्यालक्षणम् । सत्यवाक्य-क्षमोपेत-पण्डित-सात्त्विकदानविशारद-चतुरर्जु गुरुदेवतापूजाकरण-निरतत्वादि पद्मलेश्यालक्षणम् । वैररागमोहविरह-रिपुदोषाग्रहण-निदानवर्जन-सार्वसावद्यका-र्यारम्भौदासीन्य-श्रेयोमार्गानुष्ठानादि शुक्लेश्यालक्षणम् ।

---

१ हीयमानापि आ०, ब०, द०, मु० । २ स्तबकः । ३ छेदनशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । ४ –ते लक्ष– श्र०, मू०, ता० । ५ त्वप्रत्ययः प्रत्येक परिसमाप्यते एवमुत्तरत्रापि । ६ चण्डस्त्वत्यन्त-कोपनः । ७ –भाषिता चा– आ०, ब०, द०, मु० । ८ तिरस्कार । ९ अपवाद, दोषवाद इत्यर्थः ।

गतिरुच्यते—कपोतलेश्यापरिणत आत्मा का गति गच्छतीति ? षड्विशतिविकल्पेषु लेश्यांशकेषु आयुषो ग्रहणहेतव· अष्टावशका[१] मध्यमा । कुत पुनरेतदनुगम्यते इति चेत् ? •"अष्टाभिः[२] अपकर्षैः : मध्यमेन परिणामेनाऽऽयुर्बध्नाति" [ ] इत्यार्षोपदेशात् । शेषा अष्टादशलेश्यांशका गतिविशेषहेतव पुण्यपापविशेषोपचयहेतुत्वात्तेषा तदपेक्षो मध्यमपरिणाम तद्योग्यायुर्बन्धहेतुर्भवति, तत आयुर्नामकर्मोदयापादितो गतिविशेषो लेश्यावशादवसेय. । तद्यथा—उत्कृष्टशुक्ललेश्याशकपरिणामादात्मान कालं कृत्वा सर्वार्थसिद्ध यान्ति । जघन्यशुक्ललेश्याशकपरिणामात् शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारान् यान्ति । मध्यमशुक्ललेश्याशकपरिणामात् आनतादिषु प्राक् सर्वार्थसिद्धादुत्पद्यन्ते । उत्कृष्टपद्मलेश्यांशकपरिणामात् सहस्रारमुपगच्छन्ति । जघन्यपद्मशुक्ललेश्याशकपरिणामात् सानत्कुमारमाहेन्द्रौ यान्ति । मध्यमपद्मलेश्याशकपरिणामात् ब्रह्मलोकादिषु आ शतारादुपपद्यन्ते । उत्कृष्टतेजोलेश्याशकपरिणामात् सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पान्त्यचक्रेन्द्रकश्रेणिविमानान्यास्कन्दन्ति । जघन्यतेजोलेश्याशकपरिणामात् सौधर्मैशानप्रथमेन्द्रकश्रेणिविमानानि यान्ति । मध्यमतेजोलेश्याशकपरिणामात् चन्द्रादीन्द्रकश्रेणिविमाना[१]दिषु आवलभद्रेन्द्रकश्रेणिविमानेभ्य उपपद्यन्ते । उत्कृष्टकृष्णलेश्याशकपरिणामात् अप्रतिष्ठानमधितिष्ठन्ति । जघन्यकृष्णलेश्याशकपरिणामात् पञ्चम्यामध इन्द्रकनरक तमिस्रसज्ञक सश्रयन्ते । मध्यमकृष्णलेश्याशकपरिणामात् हिमेन्द्रकादिषु आ महारौरवादुपजायन्ते । उत्कृष्टनीललेश्याशकपरिणामात् पञ्चम्यामन्धेन्द्रकमवाप्नुवन्ति । जघन्यनीललेश्याशकपरिणामात् वालुकाया तप्तेन्द्रक यान्ति । मध्यमनीललेश्याशकपरिणामात् वालुकाया त्रस्तेन्द्रकादि झषेन्द्रकान्तेषु उत्पद्यन्ते । उत्कृष्टकपोतलेश्याशकपरिणामात् वालुकाप्रभाया सप्रज्वलितनरक यान्ति । जघन्यकपोतलेश्याशकपरिणामात् रत्नप्रभाया सीमन्तक यान्ति । मध्यमकपोतलेश्याशकपरिणामात् रौरुकादिषु आ सज्वलितेन्द्रकादुपपद्यन्ते । मध्यमकृष्णनीलकपोततेजोलेश्याशकपरिणामात् भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कपृथिव्यम्बुवनस्पतीन् व्रजन्ति । मध्यमकृष्णनीलकपोतलेश्याशकपरिणामात् तेजोवायु[४]कायिकेषु जायन्ते । देवनारका. स्वलेश्याभि तिर्यङ्मनुष्यान् योग्यानायान्ति ।

स्वामित्वमुच्यते—रत्नप्रभाशर्कराप्रभयो नारका कापोतलेश्या । वालुकाप्रभाया नीलकपोतलेश्या । पङ्कप्रभाया नीललेश्या· । धूमप्रभाया नीलकृष्णलेश्या । तम प्रभाया कृष्णलेश्या । महातम प्रभाया परमकृष्णलेश्या । भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्का कृष्णनीलकापोततेजोलेश्या । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रिया सक्लिष्टत्रिलेश्या । असज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च सक्लिष्टचतुर्लेश्या । सज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चा मनुष्याणा च मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टचसयतसम्यग्दृष्टीना षडपि लेश्या । सयतासयतप्रमत्तसयताऽप्रमत्तसयताना तिस्र शुभा । अपूर्वकरणादीना सयोगकेवल्यन्ताना शुक्ललेश्यैव । अयोगकेवलिनोऽलेश्या । सौधर्मैशानीया· तेजोलेश्या· । सानत्कुमारमाहेन्द्रीया तेज·पद्मलेश्या । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवा पद्मलेश्या. । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्या. । आनतादिष्वासर्वार्थसिद्धात् शुक्ललेश्या । सर्वार्थसिद्धाः परमशुक्ललेश्या· ।

---

१ तदुक्तम्— लेस्साणं खलु अंसा छब्बीसा होंति तत्थ मज्झिमया । आउगबंधणजोग्गा अट्ठट्ठवगरिसकालभवा । सेसट्ठारसअंसा चउगइगमणस्स कारणा होंति । सुक्कुक्कस्संसमुदा सव्वट्ठं जांति खलु जीवा । २ पूर्वायुरपकृष्य अपकृष्यैव परायुर्बध्यत इत्यपकर्षः स्वोपात्तायुषः । आकर्षैः श्र०, ता० । ३ —नाद् आब— आ०, ब०, द०, मु० । ४ —कायेषु ता०, श्र०, मू० ।

साधनमुच्यते–द्रव्यलेश्या नामकर्मोदयनिमित्ता, भावलेश्या. कषायोदयक्षयोपशमप्रशमप्रक्षयकृता.।

सख्या कथ्यते–कृष्णनीलकापोतलेश्या एकशो द्रव्यप्रमाणेनाऽनन्ता', अनन्तानन्ताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्नापहियन्ते कालेन। क्षेत्रेणाऽनन्तानन्तलोका.। तेजोलेश्या द्रव्यप्रमाणेन ज्योतिर्देवा साधिका'। पद्मलेश्या द्रव्यप्रमाणेन सज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनीना सख्येय- ५
भागा। शुक्ललेश्या पल्योपमस्याऽसंख्येयभागा।

क्षेत्रमुच्यते–कृष्णनीलकापोतलेश्या एकश. स्वस्थानसमुद्घातोपपादै. सर्वलोके वर्तन्ते। तेज पद्मलेश्या एकश स्वस्थानसमुद्घातोपपादैर्लोकस्याऽसंख्येयभागे। शुक्ललेश्या स्वस्थानोपपादाभ्या लोकस्यासख्येयभागे, समुद्घातेन लोकस्याऽसख्येयभागे, अ'सख्येयेषु भागेषु सर्वलोके[२] वा। १०

स्पर्शनमुच्यते–कृष्णनीलकापोतलेश्यै स्वस्थानसमुद्घातोपपादै सर्वलोक स्पष्ट। तेजोलेश्यै स्वस्थानेन लोकस्यासंख्येयभाग, अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोना, समुद्घातेन लोकस्याऽसख्येयभाग' अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोना', उपपादेन लोकस्यासख्येयभागा अध्यर्धचतुर्दशभागा वा देशोना। पद्मलेश्यै: स्वस्थानसमुद्घाताभ्या लोकस्यासख्येयभाग. अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोना, उपपादेन लोकस्यासख्येयभाग पञ्चचतुर्दशभागा वा देशोना.। १५
शुक्ललेश्यै स्वस्थानोपपादाभ्या लोकस्यासख्येयभाग स्पृष्ट. षट्चतुर्दशभागा वा देशोना, समुद्घातेन लोकस्याऽसख्येयभाग: षट् चतुर्दशभागा वा देशोना, असख्येया वा भागा सर्वलोको वा।

काल उच्यते–कृष्णनीलकपोतलेश्यानाम् एकश: जघन्येनान्तर्मुहूर्त, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिशत्सागरोपमाणि साधिकानि, सप्तदशसागरोपमाणि साधिकानि, सप्तसागरोपमाणि २०
साधिकानि। तेज.पद्मशुक्ललेश्यानामेकश कालो जघन्येन अन्तमुहूर्त, उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे साधिके, अष्टादश सागरोपमाणि साधिकानि, त्रयस्त्रिशत्सागरोपमाणि साधिकानि।

अन्तरमभिधीयते–कृष्णनीलकपोतलेश्यानाम्–एकश अन्तर जघन्येनान्तर्मुहूर्त, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिशत्सागरोपमाणि साधिकानि। तेज पद्मशुक्ललेश्यानामेकश अन्तर जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्त', उत्कर्षेणानन्त कालोऽसख्येया पुद्गलपरिवर्ता। २५

भावो व्याख्यायते–षडपि लेश्या औदयिकभावा शरीरनाममोहनीयकर्मोदयापादितत्वात्।

अल्पबहुत्व वक्ष्यते–सर्वत स्तोका शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या असंख्येयगुणा', तेजोलेश्या असख्येयगुणा', अलेश्या अनन्तगुणा, कपोतलेश्या अनन्तगुणा, [३]नीललेश्या विशेषाधिका:, कृष्णलेश्या विशेषाधिका.। ३०

आह–कल्पोपपन्ना इत्युक्तं तत्रेद न ज्ञायते के कल्पा इति? अत्रोच्यते–

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

इदं नं ज्ञायते कुत आरभ्य कल्पा भवन्ति इति? सौधर्मादिग्रहणमनुवर्तते, तेनायमर्थो लभ्यते सौधर्मादिय' कल्पा इति। यद्येवं तदनन्तरमेवेदं[४]सूत्रं वक्तव्यम्? अत उत्तरं पठति–

१ –स्य संख्ये–भा० २। २ केवल्यपेक्षया दण्डकवाटादिषु योज्यम्। ३ अयोगकेवलिनः सिद्धाश्च। ४ –वं व– आ०, ब०, द०, मु०।

सौधर्माद्यनन्तरं[2] कल्पाभिधाने व्यवधानप्रसङ्गः ।१। यदि सौधर्माद्यनन्तर कल्पाभिधान क्रियते व्यवधान प्रसज्येत । कस्य ? स्थितिप्रभावादिसूत्रत्रयस्य । सति च व्यवधाने तेन विधीयमानोऽर्थ कल्पेष्वेव स्यात् अनन्तरत्वाद्[1] , ग्रैवेयकादिषु न स्यात् व्यवहितत्वात् । इह पुन पाठे सति स्थित्यादि[3]विशेषविधिरविशेषेण सिद्धो भवति । अथ के कल्पातीता ?

५ **कल्पातीतसिद्धिः परिशेषात् ।२।** कल्पातीताना सिद्धिर्भवति । कुत ? परिशेषात् । परिशिष्टा[4] हि ग्रैवेयकादयोऽनुत्तरान्ता. ।

भवनवास्याद्यतिप्रसङ्ग इति चेत्, न, उपर्युपरीत्यभिसम्बन्धात् ।३। स्यादेतत्, परिशिष्टा यदि कल्पातीता भवनवास्यादीनामपि वैमानिकत्वमपि प्रसज्येत इति, तन्न, कि कारणम् ? उपर्युपरीत्यभिसबन्धात् । उपर्युपरि वैमानिका नाधस्तात् इति । तेन

१० कल्पातीता अहमिन्द्रा एव । कथ पुनस्तेषामहमिन्द्रत्वम् ? सामानिकादिविकल्पाभावात् ।

चतुर्णिकायोपदेशानुपपत्तिः षट्सप्तसम्भवादिति चेत्, न, तत्रैवान्तर्भावात् लौकान्तिकवत् ।४। स्यान्मतम्–चत्वारो देवनिकाया इत्युपदेशो नोपपद्यते इति । कुत ? षट्सप्तसभवात् । षण्णिकाया सम्भवन्ति भवनपातालव्यन्तरज्योतिष्क[5]कल्पोपपन्नविमानाधिष्ठानात् । भवनवासिनो दशविधा उक्ता:। पातालवासिनो लवणोदादिसमुद्रावासा सुस्थितप्रभासादय ।

१५ व्यन्तरा[6]अनादृतप्रियदर्शनादय जम्बूद्वीपाधिपतय । ज्योतिष्का: पञ्चविधा व्याख्याता । कल्पोपपन्ना द्वादश वर्णिता. । विमानानि ग्रैवेयकादीनि उपदिष्टानि । अथवा सप्तदेवनिकाया, त एवाऽऽकाशोपपन्नै सह । आकाशोपपन्नाश्च द्वादशविधा –पाशुतापि-लवणतापि-तपनतापि-भवनतापि-सोमकायिक-यमकायिक-वरुणकायिक-वैश्रवणकायिक-पितृकायिक-अनलकायिक रिष्टक-अरिष्ट-सम्भवा इति, तन्न, कि कारणम् ? तत्रैवान्तर्भावात्, लौकान्तिकवत् ।

२० यथा लौकान्तिकाना कल्पवासिष्वन्तर्भावात् न निकायान्तरत्व तथा पातालवासिनाम् आकाशोपपन्नाना व्यन्तरेष्वन्तर्भावात्, कल्पवासिना च वैमानिकत्वात् न निकायान्तरत्वम् । इति नास्ति चातुर्विध्यहानि ।

आह–य एते दृष्टान्तत्वेनोपात्ता लौकान्तिकास्ते कस्मिन् कल्पे भवन्तीति ? अत्रोच्यते––

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

२५ **एत्य तस्मिल्लीयन्त इत्यालयः ।१।** यत्र प्राणिन एत्य लीयन्ते स आलयो निवास इत्यर्थ । ब्रह्मलोक आलयो येषा ते ब्रह्मलोकालया ।

सर्वब्रह्मलोकदेवानां लौकान्तिकत्वप्रसङ्ग इति चेत्, न; लोकान्तोपश्लेषात् ।२। स्यादेतत् ब्रह्मलोकालया इत्यविशेषाभिधानात्तेषा सर्वेषा लौकान्तिकत्व प्रसज्येत इति, तन्न; कि कारणम् ? लोकान्तोपश्लेषात् । ब्रह्मलोकस्यान्तो लोकान्त, तस्मिन् भवा लौकान्तिका[7]।

३० अथवा, जातिजरामरणाकीर्णो लोक.[8] तस्यान्तो लोकान्त तत्प्रयोजना लौकान्तिका[9] । ते हि परीतससारा., ततश्च्युता एकं गर्भवासमवाप्य परिनिर्वान्ति ।

तेषां सामान्येनोपदिष्टाना भेदप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते––

---

१ –दनन्त– आ०, ब० द०, मु०, ता०, श० । २ –नन्तरे क– श०, मू० । ३ अव्यवहितत्वात् । ४ –दिविधि– श०, मू० । ५ –ष्टा अमी ग्रै– आ०, ब०, द०, मु० । ६ –कल्पवि– ब०, द०, मु०, ता०, श० । ७ अनावृतप्रियदर्शनादयः आ०, ब०, द० मु० । ८ संसार इत्यर्थः । ९ एवञ्चान्वर्थसंज्ञाकरणान्न सर्वेषां ब्रह्मलोकालयानां लौकान्तिकत्वं भवेत् ।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

क इमे सारस्वतादय· ?

पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु यथाक्रमं सारस्वतादयः ।१। पूर्वोत्तरादिषु[1] अष्टासु अपि दिक्षु यथाक्रममेते सारस्वतादयो देवगणा वेदितव्या । तद्यथा अरुणसमुद्रप्रभव·[2] मूले सख्येययोजनविस्तार. तमस्कन्ध समुद्रवद्वलयाकार अतितीव्रान्धकारपरिणाम, स ऊर्ध्वं क्रमवृद्धया गच्छन् मध्येऽन्ते च सख्येययोजनबाहल्य [3]अरिष्टविमानस्याधोभागे समेत कुक्कुटकुटीवदवस्थित । तस्योपरि तमोराजयोऽष्टावुत्पत्य अरिष्टेन्द्रकविमानसप्रणिधय । तत्र चतसृष्वपि दिक्षु द्वन्द्वं गता तिर्यगालोकान्तात्, तदन्तरेषु सारस्वतादयो ज्ञेया । तत्र पूर्वोत्तरकोणे सारस्वतविमानम्, पूर्वस्या दिशि आदित्यविमानम्, पूर्वदक्षिणस्या वह्निविमानम्, दक्षिणस्यामरुणविमानम्, दक्षिणापरकोणे गर्दतोयविमानम्, [4]अपरस्यां दिशि तुषितविमानम्, उत्तरापरस्यामव्याबाधविमानम्, उत्तरस्यामरिष्टविमानम् ।

चशब्दसमुच्चिताः तदन्तरालवर्तिन ।२। तेषामन्तरालेषु चशब्दसमुच्चिता द्वन्द्ववृत्त्या देवगणा प्रत्येतव्या । तद्यथा——

अग्न्याभसूर्याभचन्द्राभसत्याभश्रेयस्करक्षेमङ्कर[5]वृषभेष्टकामचरनिर्माणरजोदिगन्तरक्षितात्मरक्षितसर्वरक्षितमरुद्वस्वश्वविश्वाख्याः ।३। एते अग्न्याभादय षोडश देवगणा लौकान्तिकभेदा कथ्यन्ते । सारस्वतादित्यान्तर अग्न्याभसूर्याभा, आदित्यवह्न्यन्तरे चन्द्राभसत्याभा, वह्न्यरुणान्तराले श्रेयस्करक्षेमङ्करा·, अरुणगर्दतोयान्तराले वृषभेष्टकामचरा, गर्दतोयतुषितमध्ये निर्माणरजोदिगन्तरक्षिता, तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिता, अव्याबाधारिष्टान्तरे[6] मरुद्वस्व·, अरिष्टसारस्वतान्तरे अश्वविश्वा । तान्येतानि विमाननामानि तन्निवासिना च तद्योगात्[7]। तत्र सारस्वता सप्तशतसख्या । आदित्याश्च सप्तशतगणना । वह्नय सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि । अरुणाश्च तावन्त एव । गर्दतोया नवसहस्राणि नवोत्तराणि । तुषिताश्च तावन्त एव । अव्याबाधा एकादशसहस्राणि एकादशानि । अरिष्टा अपि तावन्त एव । चशब्दसमुच्चितानां सख्येत्युच्यते—अग्न्याभे देवा सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि । [8]सूर्याभेऽमरा नवसहस्राणि नवोत्तराणि । चन्द्राभे सुरा एकादशसहस्राणि एकादशानि । सत्याभे विबुधा त्रयोदशसहस्राणि त्रयोदशानि । श्रेयस्करे देवा· पञ्चदशसहस्राणि पञ्चदशानि[9] । क्षेमङ्करे अमराः सप्तदशसहस्राणि सप्तदशानि । [10]वृषभेष्टे सुराः एकान्नविशतिसहस्राणि एकान्नविशतिश्च । कामचरेऽमरा एकविशतिसहस्राणि एकविशतिश्च । निर्माणरजसि देवाः त्रयोविशतिसहस्राणि त्रयोविशतिश्च । दिगन्तरक्षिते देवाः पञ्चविशतिसहस्राणि पञ्चविंशतिश्च । आत्मरक्षिते सुरा सप्तविशतिसहस्राणि सप्तविशतिश्च । सर्वरक्षिते विबुधा एकान्नत्रिशत्सहस्राणि एकान्नत्रिशच्च । मरुति देवा

---

१ ईशानादिषु । २ –द्रभवः आ०, ब, द०, मु० । अरुणवरदीववाहिरजगदीदो जिणवरुत्तसखाणि। गंतूण जोयणाणि अरुणसमुद्दस्स पणिधीए ॥ ३ प्रथमेन्द्रक । ४ अपरस्यां तुषितविमानमपरोत्तरकोणेऽव्या– आ०, ब०, द०, मु० । ५ वृषभोष्टकाम– ता० । वृषभोऽष्टकाम– श्र०, मू० । वृषभकाम– द० । ′–कामकराः भा० २ । ६ –न्तराले मरु– आ०, ब०, द०, मु० । ७ कुतः । ८ सूर्याभे सुरा नवसहस्राणि नवाधिकानि आ०, ब०, द०, मु० । ९ –दशाधिकानि आ०, ब०, द०, मु० । १० वृषभोष्टे ता० । वृषभोऽश्वे मू०, श्र० । वृषभे द० ।

एकत्रिंशत्सहस्राणि एकत्रिंशच्च । वसुनि सुराः त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्च । अश्वे सुरा पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि पञ्चत्रिंशच्च । विश्वे देवा सप्तत्रिंशत्सहस्राणि सप्तत्रिंशच्च । त एते चतुर्विंशतिलौकान्तिकगणा समुदिता [1]चत्वारिंशत्सहस्राणि अष्टसप्ततिश्च शतानि षड्डुत्तराणि । सर्वे ते स्वतन्त्रा हीनाधिकत्वाभावात्, विषयरतिविरहाद् देवर्षय, तत इतरेषा देवानामर्चनीया, चतुर्दशपूर्वधरा, सततं ज्ञानभावनावहितमनस, संसारान्नित्यमुद्विग्ना. अनित्याशरणाद्यनुप्रेक्षासमाहितमानसा, अतिविशुद्धसम्यग्दर्शना, तीर्थकरनिष्क्रमणप्रतिबोधनपरा । नामकर्मणोऽसंख्योत्तरोत्तरप्रकृतित्वात् संसारिणा जीवाना सज्ञाः शुभाशुभनामकर्मोदयापादिता वेदितव्या ।

एवमय कार्मणशरीरप्रणालिकया आस्रवापेक्षयापादितसुखदु खाना भव्याभव्यभेदाहिताद्वैविध्याना प्राणिना ससारोऽनादि अपर्यवसान । अन्येषा मोहोपशमप्रध्वसनं प्रत्यादृताना अप्रतिपतितसम्यग्दर्शनानां परीतविषय, सप्ताष्टानि[2] भवग्रहणानि उत्कर्षेण वर्तन्ते, जघन्येन द्वित्राणि अनुबन्ध्योच्छिद्यन्ते । प्रतिपतितसम्यक्त्वानां तु भाज्यम् ।

आह–अप्रतिपतितसम्यक्त्वेषु किमविशेष एव आहोस्वित् कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते–

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

विजयादिषु इति आदिशब्दः प्रकारार्थः ।१। अयम् आदिशब्द प्रकारार्थो द्रष्टव्य । तेन विजयवैजयन्तजयन्तापराजिताऽनुदिशविमानानामिष्टाना ग्रहण सिद्ध भवति । क पुनरत्र प्रकारार्थ ? अहमिन्द्रत्वे सति सम्यग्दृष्टच्युपपाद. । सर्वार्थसिद्धग्रहणप्रसङ्ग इति चेत्, न, तेषा परमोत्कृष्टत्वात्, सर्वार्थसिद्ध इत्यन्वर्थनिर्देशात् एकचरमत्वसिद्धेश्च ।

द्विचरमत्वं मनुष्यदेहद्वयापेक्षम् ।२। चरमशब्द उक्तार्थ[3] । द्वौ चरमौ देहौ येषां ते द्विचरमा, तेषा भावो द्विचरमत्वम् । एतन्मनुष्यदेहद्वयापेक्षमवगन्तव्यम् । विजयादिभ्य. च्युता अप्रतिपतितसम्यक्त्वा मनुष्येषूत्पद्य सयममाराध्य पुनर्विजयादिषूत्पद्य च्युता मनुष्यभवमवाप्य सिध्यन्ति इति द्विचरमदेहत्वम्, इतरथा हि द्वौ मनुष्यभवौ एको देवभवश्चेति त्रिचरमत्व स्यात् न द्विचरमत्वम् । कुत पुन. मनुष्यदेहस्य चरमत्वमिति चेत् ? उच्यते–

मनुष्यदेहस्य चरमत्वं तेनैव मुक्तिपरिणामोपपत्तेः ।३। यतो मनुष्यभवमवाप्य देवनारकतैर्यग्योना. सिध्यन्ति न तेभ्य एवेति मनुष्यदेहस्य चरमत्वम् ।

एकस्य चरमत्वमिति चेत्; न; औपचारिकत्वात् ।४। स्यान्मतम्–एकस्य भवस्य चरमत्वम् अन्त्यत्वात्, न द्वयोस्ततो द्विचरमत्वमयुक्तमिति, तन्न, कि कारणम् ? औपचारिकत्वात् । येन देहेन साक्षान्मोक्षोऽवाप्यते स मुख्यश्चरम, तस्य प्रत्यासन्नो मनुष्यभव तत्प्रत्यासत्तेश्चरम इत्युपचर्यते । देवभवेन व्यवहितत्वात् प्रत्यासत्त्यभाव इति चेत्, न, *"**येन [4]नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि [4]वचनप्रामाण्यात्**" [ ] इति ।

आर्षविरोध इति चेत्; न; प्रश्नविशेषापेक्षत्वात् ।५। स्यान्मतम्–विजयादिषु द्विचरमत्वमार्षविरोधि । कुत ? त्रिचरमत्वात् । एवं ह्यार्षे उक्तमन्तरविधाने–*"**अनुदिशानुत्तरविजयवैजयन्तजयन्तापराजितविमानवासिनामन्तरं जघन्येन वर्षपृथक्त्वम् उत्कर्षेण द्वे सागर-**

---

१ चत्वारिंशत्सह– आ०, ब०, मु० । २ वेदकसम्यक्त्वापेक्षया । ३ वा व्य– मू० । अवश्यव्यवधानम् । ४ कुतः ? सूत्रकारस्य ।

रोपमे सातिरेके"[षट्ख०] इति। तस्यायमर्थ –तेभ्य. च्युता मनुष्येषूत्पद्य अष्टवर्षा.[२] संयममाराध्य अन्तर्मुहूर्तेन विजयादिषु भवमाप्नुवन्ति इति जघन्येन वर्षपृथक्त्वम्। केचित्तेभ्यश्च्युता मनुष्येषूत्पद्य सयममवाप्य सौधर्मैशानकल्पयोः जनित्वा पुनरपि मनुष्यभवमनुभूय विजयादिषु जायन्ते इति उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे साधिके इति, ततो मनुष्यभवत्रयोपपत्तेर्द्विचरमत्वमयुक्तमिति, तन्न, कि कारणम्? प्रश्नविशेषापेक्षत्वात्। एव हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषूक्तम्[३]– ५
विजयादिषु देवा मनुष्यभवमास्कन्दन्त कियतीर्गत्यागती विजयादिषु कुर्वन्ति इति गौतमप्रश्ने भगवत्तोक्त जघन्येनैको भवः आगत्या उत्कर्षेण गत्यागतिभ्या द्वौ भवौ। सर्वार्थसिद्धा[४] च्युता [५]मनुष्येषूत्पद्य तेनैव भवेन सिध्यन्तीति, न लौकान्तिकवदेकभविका एवेति विजयादिषु द्विचरमत्व नार्षविरोधि, कल्पान्तरोत्पत्त्यनपेक्षत्वात् प्रश्नस्येति।

आह–उक्तं भवता जीवस्य औदयिकेषु भावेषु तैर्यग्योनिगतिरौदयिकीति, स्थितौ- १०
चोक्तम् *"**तिर्यग्योनिजानां च**" [त० सू० ३।३९] इति। आस्रवविधाने च वक्ष्यते *"**माया तैर्यग्योनस्य**" [त० सू० ६।१६] इति। तद्वक्तव्य के तिर्यग्योनय इति? अत्रोच्यते–

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

अयुक्तोऽयं निर्देश. 'औपपादिकमनुष्येभ्य' इति। कुत? मनुष्यशब्दस्य अल्पाच्तरत्वात् पूर्वनिपात[६]प्राप्त्यर्हत्वात्, नैष दोष[७], अभ्यर्हितत्वात् औपपादिकशब्दस्य पूर्वनिपात। १५
कथमभ्यर्हितत्वम्? देवानामौपपादिकेष्वन्तर्भावात्, देवा हि स्थितिप्रभावादिभिरभ्यर्हिता इति व्याख्याता।

उक्तेभ्य औपपादिकमनुष्येभ्योऽन्ये शेषाः।१। औपपादिका उक्ता देवनारका., मनुष्याश्च व्याख्याताः *"**प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः**" [त० सू० ३।३५] इति। तेभ्योऽन्ये ये ते शेषा. तिर्यग्योनयः। २०

सिद्धप्रसङ्ग इति चेत्, न, सांसारिकप्रकरणात्।२। स्यान्मतम्–औपपादिकमनुष्येभ्योऽन्यत्व सिद्धानामप्यस्ति इति तिर्यग्योनित्वप्रसङ्ग इति, तन्न, किं कारणम्? सासारिकप्रकरणात्। ससारिण प्रकृता, तेन तेभ्योऽन्ये ससारिण एव तिर्यग्योनयो न सिद्धा[८]। अथ केय तिर्यग्योनि?

तिरोभावात् तैर्यग्योनिः।३। तिरोभावो न्यग्भाव उपबाह्यत्वमित्यर्थ, तत कर्मोदया- २५
पादितभावा तिर्यग्योनिरित्याख्यायते। तिरश्चि योनिर्येषा ते तिर्यग्योनय। ते च त्रसस्थावरादिविकल्पा व्याख्याता।

देवादिवत्तदाधारनिर्देश इति चेत्; न; सर्वलोकव्यापित्वात्।४। स्यान्मतम्–यथा देवानामूर्ध्वलोक, मनुष्याणा तिर्यग्लोक, नारकाणामधोलोक आधारविशेष उक्त तथा तिर-

---

१ "**अणुदिस जाव अवरा-इदविमाणवासियदेवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि? जहण्णेणं वासपुधत्तं। उक्कस्सेण बे सागरोवमाणि सादिरेयाणि।**" –**षट्ख०** खुद्दा० २।३।३०–३२। २ **वर्षान् सं० आ०, ब०, द०, मु०।** ३ "**विजयवेजयंतजयंतअवराजिय देवाण भंते, जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से ण भंते केवति० (उ०)....भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कस्सेणं चत्तारि भवग्गहणाइ''सव्वट्ठसिद्धदेवाणं भंते''भवादेसेण दो भवग्गहणाइ''**"–**भग० सू०** २४।२२।१६-१७। ४ **सर्वार्थसिद्धौ च्यु–आ०, ब०, मु०।** ५ **मनुष्यभवेषूत्प– श्र०।** ६ **–तः प्राप्नोति अभ्यर्हितत्वान्नैष दोषः औपपादिकस्य आ०, ब०, मु०।**

श्चामपि आधारो विशिष्टो निर्देष्टव्य इति, तन्न, किं कारणम् ? सर्वलोकव्यापित्वात्[1] ते हि तिर्यञ्च सर्वान् लोकान् व्याप्य वर्तन्ते इति। कुत पुन सर्वलोकव्यापित्वमेषामिति चेत् ? उच्यते–

सूक्ष्मबादरभेदात् ।५। तिर्यञ्चो द्विविधा–सूक्ष्मा बादराश्चेति सूक्ष्मबादरनामकर्मोदयापादितभावा । तत्र सूक्ष्मा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय सर्वलोकव्यापिन । बादरा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय विकलेन्द्रिया पचेन्द्रियाश्च क्वचिदेव वर्तन्ते न सर्वत्र ।

द्वितीयेऽध्याये तन्निर्देश इति चेत्, न, कृत्स्नलोकभावात् ।६। स्यादेतत्–द्वितीयेऽध्याये एषा तिरश्चा निर्देशः कर्तव्य नात्रेति, तन्न, कि कारणम् ? कृत्स्नलोकभावादयमेव तन्निर्देशो युक्त, सर्वा ल्लोकानुक्त्वा तदाधारनिर्देश सुगम इति ।

शेषसप्रतिपत्तेश्च ।७। नारकादीन् सर्वानुक्त्वा तेभ्योऽन्ये शेषास्तिर्यञ्च इति शेषसंप्रतिपत्तिश्च भवति इति इहैव तन्निर्देशो युक्त ।

स्थितिरिदानी वक्तव्या । सा नारकाणा मनुष्याणा तिरश्चा चोक्ता, देवानामुच्यते । तत्र [2]चादावुद्दिष्टानां भवनवासिना स्थितिप्रतिपादनार्थमाह–

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिता ॥२८॥

असुरादीनां सागरोपमादिभिरभिसंबंधो यथाक्रमम् ।१। असुरादीना सागरोपमादिभिर्यथाक्रममभिसबन्धो वेदितव्य । इय स्थितिरुत्कृष्टा । जघन्याप्युत्तरत्र वक्ष्यते । तद्यथा–असुराणा सागरोपमा स्थिति, नागाना त्रीणि पल्योपमानि, सुपर्णानाम् अर्धतृतीयानि[3], द्वीपाना द्वे, शेषाणा षण्णाम् अध्यर्धपल्योपमम् ।

आद्य[4]देवनिकायस्थित्यभिधानानन्तर व्यन्तरज्योतिष्कस्थितिवचने क्रमप्राप्ते सति तदुल्लङ्घ्य वैमानिकाना स्थितिरुच्यते । कुत ? तयोरुत्तरत्र लघुनोपायेन स्थितिवचनात् । तेषु च आदावुद्दिष्टयो कल्पयो स्थितिविधानार्थमाह–

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥

द्विवचननिर्देशाद् द्वित्वगतिः ।१। सागरोपमे इति द्विवचननिर्देशाद् द्वे सागरोपमे इति गम्यते ।

अधिके इत्यधिकार आ सहस्रारात् ।२। अधिके इत्यय अधिकारो द्रष्टव्य । आ कुत ? आ सहस्रारात् । तेन सौधर्मैशानयोर्देवानामुत्कृष्टा स्थिति द्वे सागरोपमे सातिरेके प्रत्येतव्ये ।

उत्तरयो स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

अधिकारात् सागराधिकसंप्रत्ययः ।१। सागरग्रहणम् अधिकग्रहण च अनुवर्तते । तेनायमर्थो लभ्यते–सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानामुत्कृष्टा स्थिति सप्तसागरोपमाणि साधिकानि इति ।

ब्रह्मलोकादिष्वच्युतावसानेषु[5] स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह–

---

१ –त् सर्वलोकव्यापित्वं कथमेषामि– आ०, ब० प० । २ चादौ निर्दिष्टा– आ०, ब०, मु० । ३ अर्धपल्यद्वयप्रमितेत्यर्थः । ४ आदिदे– आ०, ब०, मु० । ५ –च्युतान्तेषु आ०, ब०, द०, मु०, ता० ।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिराधिकानि तु ॥३१॥

सप्तग्रहणस्य त्र्यादिभिरभिसंबन्धः द्वयोर्द्वयो ।१। सप्तग्रहण प्रकृतम्, तस्येह निर्दिष्टै त्र्यादिभिरभिसबन्धो द्रष्टव्य । सप्त त्रिभिरधिकानि, सप्त सप्तभिरधिकानीत्यादि ।

तुशब्दो विशेषणार्थः ।२। तुशब्दो विशेषणार्थो द्रष्टव्य । किं विशिनष्टि ? अधिकशब्दोऽनुवर्त्तमान चतुर्भिरिह सबध्यते नोत्तराभ्यामित्ययमर्थो विशेष्यते । तेनायमर्थो भवति- ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयो दशसागरोपमाणि साधिकानि । लान्तवकापिष्टयोश्चतुर्दशसागरोपमाणि साधिकानि । शुक्रमहाशुक्रयो षोडशसागरोपमाणि साधिकानि । शतारसहस्रारयोरष्टादशसागरोपमाणि साधिकानि । आनतप्राणतयोर्विंशति सागरोपमाणि । आरणाच्युतयोर्द्वाविंशति. सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थितिरिति । ननु च तुशब्दोऽनर्थक 'अधिके' इत्यधिकारे आसहस्रारादित्युक्तत्वात् ? न, अतस्तत्सिद्धे ।

तत 'ऊर्ध्वं स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह-

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे[2] च ॥३२॥

अधिकारादधिकसंबन्धः ।१। अधिकग्रहणमनुवर्तते तेनेह सबन्धो वेदितव्य -एकैकेनाऽधिकानीति । किमर्थं नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिष्विति पृथग् ग्रहणम् ?

ग्रैवेयकेभ्यो विजयादीनां पृथग्ग्रहणमनुदिशसग्रहार्थम् ।२। ग्रैवेयकविजयादिष्वित्युच्यमाने अनुदिशविमानानामसग्रह स्यात्, ततस्तत्सग्रहार्थ पृथग्ग्रहण क्रियते ।

प्रत्येकमेकैकवृद्ध्यभिसंबन्धार्थं नवग्रहणम् ।३। ग्रैवेयकेष्वित्युच्यमाने यथा विजयादिषु सर्वेषु एकमेव सागरोपममधिक तथा सर्वेषु ग्रैवेयकेषु एकमेव सागरोपममधिकमिति प्रतीयेत तस्मान्नवग्रहण क्रियते । नवसु प्रत्येकमेकैकस्य सागरोपमस्य आधिक्य यथा स्यादिति । अथ सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहण किमर्थम् ?

सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थम् ।३। यथाऽधस्ताज्जघन्योत्कर्षस्थितिविकल्पतथा सर्वार्थसिद्धे माभूत् इत्येवमर्थं पृथग्ग्रहण क्रियते । तेनायमर्थो वेदितव्य -अधोग्रैवेयकेषु प्रथमे त्रयोविंशतिसागरोपमाणि । द्वितीये चतुर्विंशतिसागरोपमाणि । तृतीये पञ्चविंशतिसागरोपमाणि । मध्यमग्रैवेयकेषु प्रथमे षड्विंशतिसागरोपमाणि, द्वितीये सप्तविंशति[3], तृतीये अष्टाविंशति. । उपरिमग्रैवेयकेषु प्रथमे एकान्नत्रिंशत्, द्वितीये त्रिंशत्, तृतीये एकत्रिंशत् । अनुदिशविमानेषु द्वात्रिंशत् । विजयादिषु त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थिति । सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशदेवेति ।

अत्राह मनुष्यतिर्यग्योनिजाना परापरस्थिती व्याख्यायते, देवाना किं उत्कृष्टैव न वेति ? उच्यते--

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

अपरा जघन्येत्यर्थ. । स्थितिरित्यनुवर्तते । व्याख्यातपरिमाणपल्योपमम् । केषाम् ? देवानामिय जघन्या स्थिति. ? सौधर्मैशानयोर्देवानाम् । कथ गम्यते ?

---

१ ऊर्ध्वं श्र० । २ -सिद्धौ च आ०, ब०, द०, मु०, ता० । ३ -ति. सागरोपमाणि तु- आ०, ब०, द०, मु० ।

पारिशेष्यात्सौधर्मैशानयोरपरा स्थितिः ।१। भवनवास्यादीना जघन्या स्थितिर्वक्ष्यते । सानत्कुमारादीना च **परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा** इति । तत. परिशेषात् सौधर्मैशानयोर्देवानां साधिक पल्योपम जघन्या स्थितिर्वेदितव्या ।

तत ऊर्ध्वं जघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह–

परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ॥३४॥

परस्मिन् देशे परत, तस्य वीप्साया द्वित्वम् । पूर्वशब्दस्यापि । किमुक्त भवति–पूर्वा पूर्वा या स्थितिरुत्कृष्टोक्ता सा सा उपरि उपरि देवानां जघन्येत्येतदुक्त भवति। किम–विशेषेण ? नेत्याह ।

अधिकग्रहणानुवृत्तेः 'सातिरेकसंप्रत्ययः ।१। अधिकग्रहणमनुवर्तते ? क्व प्रकृतम् ? **'अपरा पल्योपममधिकम्'** इत्यत्र, सातिरेकसप्रत्ययो भवति । सौधर्मैशानयो परा स्थिति. द्वे सागरोपमे साधिके । ते सानत्कुमारमाहेन्द्रयो सातिरेके जघन्या स्थिति । सानत्कुमारमाहेन्द्रयो. परा स्थिति सप्तसागरोपमाणि साधिकानि । तानि सातिरेकाणि ब्रह्मलोक-ब्रह्मोत्तरयोर्जघन्या स्थितिरित्यादि । आ कुतोऽयमधिकार ?

आ विजयादिभ्योऽधिकारः ।२। आ विजयादिभ्योऽनुत्तरेभ्य अयमधिकारो वेदितव्य । कथं गम्यते ? 'सर्वार्थसिद्धस्य पृथग् ग्रहणात्' इत्युक्तं पुरस्तात् ।

अनन्तरेत्यवचनं पूर्वोक्तेरिति चेत् , न , व्यवहिते पूर्वशब्दप्रयोगात् ।३। स्यान्मतम्, पूर्वेति वचनात् आनन्तर्यप्रतीते अनन्तरेति वचनमनर्थकमिति, तन्न, कि कारणम् ? व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दप्रयोगात् । अय हि पूर्वशब्द व्यवहितेऽपि प्रयुज्यते । तद्यथा–पूर्व मथुराया. पाटलिपुत्रमिति । तत[१] सोधर्मैशानयो या परा स्थिति[२] सा ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलोकयोर्जघन्या स्थितिरित्येवमाद्यनिष्ट प्रतीयेत ततोऽनन्तरमुच्यते ।

नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिरुक्ता, जघन्या सूत्रेऽनुक्ता, तामप्रकृतामपि लघुनोपायेन प्रतिपादयितुमिच्छन्नाह–

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

चशब्द किमर्थ ?

चशब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः ।१। चशब्द. क्रियते प्रकृतसमुच्चयार्थ. । कि प्रकृतम् ? परत परत पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा अपरा स्थितिरिति । तेनायमर्थो लभ्यते–रत्नप्रभाया नारकाणां परा स्थितिरेक सागरोपम सा शर्कराप्रभाया जघन्या । शर्कराप्रभायामुत्कृष्टा स्थिति त्रीणि सागरोपमाणि, सा बालुकाप्रभाया जघन्येत्येवमादि । तद्व्यासो[३] व्याख्यात पुरस्तात् ।

अथ प्रथमाया पृथिव्या का जघन्या स्थितिरिति ? अत आह–

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते[४] ।

अथ भवनवासिनां का जघन्या स्थितिरिति ? अत आह–

---

१ सातिरेके सं– श्र० । २ अतः आ०, ब०, द०, मु० । ३ उत्कृष्टा स्थितिः । ४ रत्नप्रभायां दशवर्षसहस्राणि अपरा स्थितिर्वेदितव्या ।

भवनेषु च ॥३७॥

चशब्द किमर्थ. ? प्रकृतसमुच्चयार्थ इति । एव तेन भवनवासिनामपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि इत्यभिसबध्यते ।

व्यन्तराणा तर्हि का जघन्या स्थितिरिति ? अत आह–

व्यन्तराणां च ॥३८॥

चशब्द. प्रकृतसमुच्चयार्थ इति, एव तेन व्यन्तराणामपरा स्थिति दशवर्षसहस्राणि इत्यवगम्यते ।

परा व्यन्तराणां प्रागभिधातव्येति चेत्, न, लाघवार्थत्वात् ।१। स्यादेतत्–यथा अन्येषा देवनिकायाना परा स्थिति प्रागुक्ता तथा व्यन्तराणामपि परा प्रागभिधातव्या इति ? तन्न , कि कारणम् ? लाघवार्थत्वात् । यदि परा स्थिति प्रागुच्येत पुन दशवर्षसहस्रग्रहण क्रियेत, तथा सति गौरव स्यात् ।

यद्येवम्, अमीषा का परा स्थितिरिति ? अत आह–

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

स्थित्यभिसंबन्धात् स्त्रीलिङ्गनिर्देश ।१। स्थितिरित्यनुवर्तते । तेनाभिसबन्धात् परेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशो द्रष्टव्य ।

इदानी ज्योतिष्काणा परा स्थितिर्वक्तव्येति, अत आह–

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

चशब्द प्रकृतसमुच्चयार्थ इति, एवं[1] तेनैवमभिसबध्यते–ज्योतिष्काणा च परा स्थिति पल्योपममधिकमिति ।

अथापरा ज्योतिष्काणा कियती स्थितिरिति[2] ? अत आह–

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

तस्य पल्योपमस्याष्टभागो ज्योतिष्काणामपरा स्थितिरित्यर्थ । अत्राह–'ज्योतिष्काणा पल्योपममधिक परा स्थिति' इत्यविशेषाभिधाने न ज्ञायते चन्द्रादीना कि स्थितिविशेष इति ? अत्रोच्यते–

चन्द्राणां वर्षशतसहस्राधिकम् ।१। चन्द्राणा वर्षशतसहस्राधिक पल्योपम परा स्थिति ।
सूर्याणां वर्षसहस्राधिकम् ।२। वर्षसहस्राधिक पल्योपम सूर्याणा परा स्थिति ।
शुक्राणां शताधिकम् ।३। शुक्राणा वर्षशताधिक पल्योपम परा स्थिति· ।
बृहस्पतीनां पूर्णम् ।४। बृहस्पतीना पूर्णपल्योपम परा स्थिति·, [3]नाधिकम् ।
शेषाणामर्धम् ।५। शेषाणा ग्रहाणा बुधादीना पल्योपमस्यार्ध परा स्थिति ।
नक्षत्राणां च[4] ।६। किम् ? अर्धपल्योपमं परा स्थितिः ।
तारकाणां चतुर्भागः ।७। पल्योपमस्य चतुर्भागस्तारकाणा परा स्थिति. ।

---

१ एतेन मु० । २ –रित्याह श्व०, मू० । ३ साधिकम् आ०, ब०, द०, मु० । ४ च नक्षत्राणामर्ध– आ०, ब०, द०, मु० ।

तदष्टभागो जघन्योभयेषाम् ।८। तस्य पल्योपमस्याष्टभाग जघन्या स्थितिः उभयेषा तारकाणा नक्षत्राणा च भवति।

शेषाणां चतुर्भागः ।९। शेषाणां सूर्यादीना पल्योपमस्य चतुर्भागो जघन्या स्थितिर्वेदितव्या ।

अथ लौकान्तिकदेवाना का स्थितिरिति ? अत्रोच्यते–

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्[1] ॥४२॥

अष्टसागरोपमस्थितयो लौकान्तिकाः ।१। एकैव लोकान्तिकाना स्थिति । [2]काऽसौ ? अष्टौ सागरोपमाणि । सर्वे ते शुक्ललेश्या. पञ्चहस्तोत्सेधशरीरा ।

व्याख्यातो जीवः ।२। सम्यग्दर्शनस्य विषयप्रदर्शनमुखेनोपन्यस्तेषु जीवादिषु आद्यो जीवपदार्थो व्याख्यात ।

स च एकोऽनेकात्मकः ।३। स जीव एक अनेकात्मको भवति। कुत एकस्यानेकात्मकत्वमिति चेत् ? अत्रोच्यते–

अभावविलक्षणत्वात् ।४। अभूत नास्तीत्येकरूपोऽभाव । न हि अभाव अभावात्मना भिद्यते । तद्विसदृशस्तु नानारूपो भाव, इतरथा हि तयोरविशेष एव स्यात् । स तु पोढा भिद्यते–जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते [3]अपक्षीयते विनश्यतीति । तत्र उभयनिमित्तवशादात्मलाभमापद्यमानो भाव जायत इत्यस्य विषय । यथा [4]मनुष्यगत्यादिनामकर्मोदयापेक्षया आत्मा मनुष्यादित्वेन जायत इत्युच्यते । तस्यायुरादिनिमित्तवशादवस्थानमस्तित्वम् । [5]सत एवावस्थान्तरावाप्तिर्विपरिणाम । अनिवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावान्तरेण आधिक्य वृद्धि । क्रमेण पूर्वभावैकदेशनिवृत्तिरपक्षय । तत्पर्यायसामान्यविनिवृत्तिर्विनाश [6]। एव प्रतिक्षण वृत्तिभेदादनन्तरूपा जायन्ते इति नानात्मता भावस्य, अथवा सत्[7]ज्ञेयद्रव्यामूर्तातिसूक्ष्मावगाहनासख्येयप्रदेशाऽनादिनिधनचेतनत्वादिना । किञ्च,

अनेकवाग्विज्ञानविषयत्वात् ।५। इह लोके एकोऽर्थोऽनेकशब्दवाच्यो भवति तथाभि[8]धेयपरिणामे सति तेषा शब्दाना तत्र प्रयोगात् । प्रयोगो हि प्रतिपादनक्रिया, तस्या शब्दार्थाविभावपि साधकौ। शब्दस्तावद् व्यञ्जकत्वात् साधक । अर्थोऽपि व्यङ्ग्यत्वात् [9]कर्मभावमापद्यमान तत्समकालमेव [10]स्वातन्त्र्यमनुभवति, तस्मिन् सति क्रियाप्रवृत्ते । यथा पचौ तण्डुला कर्मरूपापन्ना एव कर्तृतामास्कन्दन्ति येनोच्यते कर्मकारकमिति, अत तस्मिन् सति अनेक शब्द प्रयुज्यते यथा घट पार्थिव मार्तिक [11]सन् ज्ञेयो नवो महान् इत्यादि, एवमात्मकाना च विज्ञानानामालम्बनं भवति[12] तैर्विना[13] तस्याभावात् । सर्वे ते घटस्य आत्मान[14]। तथा आत्मन्यपि अनेकवाग्विज्ञानालम्बनदर्शनादेकस्यानेकात्मकत्वमवसेयम् । अपि च,

---

१ इदं सूत्र नास्ति ता०, श्र०, मू०, द०, भा० १, २, ज० । वार्तिकमिदं न सूत्रम्– श्र० टि० । २ काष्टौ द० । ३ अपक्षयते ता०, द०, मु० । ३ मनुष्यगतिनाम– मु०, द०, मू० । मनुष्यादिनाम– श्र० । ४ सतोऽवस्था– मु० । ५ –शः एवं प्रतिक्षणवृत्तिभे– मु०, द० । –शः त एव प्रतिक्षणं वृत्तिभे– मू० श्र० । ६ स तु ज्ञे– श्र०, मू० । सन्ज्ञेय– मु०, द० । ७ अर्थस्य । ८ क्रियाव्याप्यं कर्म । ९ कर्तृत्वम् । १० स तु ज्ञे– श्र० । ११ भावः । १२ शब्दवाग्विज्ञानादिसन्निधानाज्जातकर्मरूपाताभिः । १३ स्वरूपाः ।

अनेकशक्तिप्रचितत्वात् ।६। यथा घृत स्नेहयति तर्पयति उपबृंहयतीति अनेकशक्ति, घटो वा जलधारणाहरणादिलक्षणयाऽनेकया शक्त्या प्रचित, तथा आत्मनोऽपि द्रव्यक्षेत्र-कालभावनिमित्तवशादनेकविकारप्राप्तियोग्यबहुशक्तियोगादनेकात्मकत्वम् । इतश्च,

बस्त्वन्तरसम्बन्धाविर्भूतानेकसम्बन्धिरूपत्वात् ।७। यथैको घट[1] पूर्वापरान्तरितानन्त-रित-दूरासन्न-नवपुराण-समर्थासमर्थ-देवदत्तकृतचैत्रस्वामिकत्व-सख्या-परिमाण-पृथक्त्व-सयोग- ५
विभागादिभेदादनेकव्यपदेशभाग्भवति, सम्बन्धानामानन्त्यात्, तत्तत्सम्बन्धिनमवेक्ष्य तस्य तस्य पर्यायस्य भावात् । अथवा, पुद्गलानामानन्त्यात्तत्तत्पुद्गलद्रव्यमपेक्ष्य एकपुद्गलस्थस्य तस्यैकस्यैव पर्यायस्याऽन्यत्वभावात् । यथा प्रदेशिन्या[3] मध्यमाभेदात् यदन्यत्व न तदेव अनामिकाभेदात् । मा भूत् मध्यमाऽनामिकयोरेकत्व मध्यमाप्रदेशिन्यन्यत्वहेतुत्वेनाऽविशेषा-दिति । न चैतत्परा[4]वधिकमेवार्थसत्त्वम् । यदि मध्यमासामर्थ्यात् प्रदेशिन्या ह्रस्वत्व [5]जायेत १०
शशविषाणेऽपि स्याच्छक्रयष्टौ[6] वा । नापि स्वत एव, परापेक्षाभावे तद्व्यक्त्यभावात् । तस्मा-त्तस्यानन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य तत्तत्सहकारिकारणं प्रतीत्य तत्तद्रूपं वक्ष्यते । न [7]तत् स्वत एव नापि परकृतमेव । एव जीवोऽपि कर्मनोकर्मविषयवस्तूपकरणसम्बन्धभेदादाविर्भूत-जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानविकल्पाऽनन्तपर्यायरूप प्रत्येतव्य[8] । इतश्च,

अन्यापेक्षाभिव्यङ्ग्याऽनेकरूपोत्कर्षापकर्षपरिणतगुणसम्बन्धित्वात् ।८। यथा एको घट १५
एकद्वित्रिचतु सख्येयाऽसंख्येयानन्तावस्थोत्कर्षापकर्षात्मकरूपादिपरिणतिप्रतियोगिद्रव्यापेक्षासह-कारिकारणाभिव्यञ्जनीया[9]त्मीयानन्तनीलनीलतरादिपरिणाम, तथा जीवोऽपि परद्रव्य-सबन्धापेक्षाभिव्यक्ततीव्राद्यवस्थाविशेषक्रोधाद्यविभागपरिच्छेदाऽनन्तरूपत्वादनेक । इतश्च,

अतीतानागतवर्तमानकालसंबन्धित्वात् ।९। इह[10] समुदायावयवप्रध्वसविषयेणातीतेन कालेन उत्पत्तिनि[11]र्ज्ञातिसभावन[12]विषयेण च अनागतेन कालेन, साधनप्रवृत्त्यविरामगोचरेण च २०
वर्तमानेन कालेन सबन्धात् मृदादिद्रव्य तस्मिन् तस्मिन् कालेऽनेकभेदमापद्यमान दृष्टम् । वर्तमानमात्रत्वेऽपूर्वत्वात् अपरत्वाच्च अवध्यभावे वर्तमानस्याप्यभावो बन्ध्यापुत्रयुवत्ववत् । तथा जीवस्यापि अनाद्यतीतकालसम्बन्धपरिणतै अनागतानन्तकालवशवर्तिभिः वर्तमान-कालोद्भूतवृत्तिभिश्च पर्यायैरर्थव्यञ्जनभेदाद् द्वैविध्यमास्कन्दद्भिरभिसम्बन्धादनन्तरूपता । इतश्च, २५

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात् ।१०। उत्पादादीनामानन्त्यम् अनन्तकाले एकस्मिंश्च काले । यथा घट एकस्मिन्नेव काले द्रव्यत पार्थिवत्वेन उत्पद्यते न जलत्वेन, देशत इहत्य-त्वेन न पाटलिपुत्रकत्वेन, कालतो वर्तमानकालतया नातीतानागताभ्याम्, भावतो महत्त्वेन नाल्पत्वेन, एतेषा च एकैक उत्पाद सजातीयान्यपार्थिवानेकघटान्तरगतेभ्य सौवर्णादीष-द्विजातीयघटान्तरगतेभ्यो वा अत्यन्तविजातीयपटाद्यनन्तमूर्तामूर्तद्रव्यान्तरापन्नेभ्यो वा ३०
उत्पादेभ्यो भिद्यमान तावद्धा [13]भेदमुपयाति अन्यथा [14]तैरविशिष्ट [15]स्यात् । तथा तदैवानुत्पद्य-मानद्रव्यसबन्धकृतोर्ध्वाधस्तिर्यगन्तरितानन्तरितैकान्तरादिदिग्भेद-महदल्पत्वादिगुणभेद-रूपाद्यु-त्कर्षापकर्षानन्तभेद-त्रैलोक्यत्रिकालविषयसंबन्धिवशभिद्यमानरूपो वा उत्पादोऽनेको भवति ।

---

१ पूर्वपरान्तरितदू– द०, मु०, ता० । २ सकाशाज्जात । ३ अन्यकारणकम् । परार्थायत्तमेव –ता० टि० । ४ स्वशक्तिमन्तरेण । ५ –क्रमुष्टौ वा मु० । इन्द्रधनुषि–स० ६ अनन्तपरिणामत्वम् । ७ –यानन्त–श्र० । ८ वस्तुनि । ९ निश्चयेन । १० मनुष्योऽयं देवोऽय भविष्यत्येवेति । ११ षड्डतिसंख्येति संख्यावत्त्वे प्रकारे धेति धाप्रत्ययः । १२ उत्पादादिभिः । १३ एकत्वं स्यादित्यर्थः ।

तथाऽनेकावयवात्मकस्कन्धप्रदेशभेददृष्टविषमोत्पादनानारूपतया वा अनेक उत्पाद· । उदकादिधारणाहरणप्रदानाधिकरणभयहर्षशोकपरितापभेदजननादिस्वकार्यप्रसाधनेन वा अनेक उत्पाद । तदैव तावन्त एव तत्प्रतिपक्षभूता विनाशा.[1], पूर्वेणाविनष्टस्य उत्तरेणानुत्पादात्[2]। [3]उभयविपक्षभूता· स्थितयोऽपि तदैव तावत्य तदाधारभूता·, अनवस्थितस्य वन्ध्यापुत्रवदुत्पादविनाशासभवात्, अभावप्रसङ्गाच्च । घट उत्पद्यत इति यदा वर्तमानकालता, तदा अनभिनिर्वृत्तत्वात् पूर्वापरीभूतसाध्यमानभावाभिधानाच्चासत्त्वम् । उत्पत्त्यनन्तरं तु विनाशेऽभ्युपगम्यमाने सत्त्वभूतावस्थाभिधायकोत्पन्नशब्दवाच्यत्वाभावात् उत्पादेऽप्यभावो विनाशेऽप्यभाव इति भावाभावात्तदाश्रयो व्यवहारो विरोधमुपगच्छेत्, [5]बीजशक्त्यभावाच्च उत्पादविनाशशब्दवाच्यताश्रेयश्च । तत उत्पद्यमानता उत्पन्नता विनाशश्चेति तिस्रोऽवस्था अभ्युपगन्तव्या । तथा जीवस्याप्येकस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयगोचरसामान्यविशेषानन्तशक्त्यपेक्षार्पितस्थित्युत्पत्ति[6]निरोधानन्तरूपत्वात् अनेकत्वं प्रत्येतव्यम् । इतश्च,

अन्वयव्यतिरेकात्मकत्वाच्च ।११। इह घट एकोऽप्यन्वयव्यतिरेकात्मकतया अनेको दृष्ट सदचेतननवपुराणत्वादिभि , तथा आत्मापि एकोऽन्वयव्यतिरेकात्मतया अनेक प्रत्येतव्य । के पुनरन्वया ? बुद्ध्यभिधानानुवृत्तिलिङ्गेन [7]अनुमीयमानाविच्छेदा स्वात्मभूताऽस्तित्वाऽऽत्मत्वज्ञातृत्वद्रष्टृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाऽमूर्तत्वाऽसख्यातप्रदेशत्वावगाहनातिसूक्ष्मत्वागुरुलघुत्वाहेतुकत्वाऽनादिसंबन्धित्वोर्ध्वगतिस्वभावादय. । अथ के व्यतिरेका: ? वाग्विज्ञानव्यावृत्तिलिङ्गसमधिगम्यपरस्परविलक्षणा उत्पत्तिस्थितिविपरिणामवृद्धि[8]क्षयविनाशधर्माण गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसयमदर्शनलेश्यासम्यक्त्वादय ।

तस्य शब्देनाभिधानं क्रमयौगपद्याभ्याम् ।१२। तस्यैकस्य जीवस्यानेकात्मकस्य प्रत्यायने शब्द प्रवर्तमानो द्वेधा व्यवतिष्ठते क्रमेण यौगपद्येन वा, न तृतीयो [9]वाक्पथोऽस्ति ।

ते च कालादिभिर्भेदाभेदार्पणात् ।।१३।। ते च क्रमयौगपद्ये कालादिभि भेदाभेदार्पणाद्भवत । यदा वक्ष्यमाणै· [9]कालादिभिरस्तित्वादीना धर्माणां भेदेन विवक्षा तदैकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्त्यभावात् क्रम । यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देन एकधर्मप्रत्यायनमुखेन [10]तदात्मकत्वमापन्नस्य अनेकाशेषरूपस्य प्रतिपादनसभवात् यौगपद्यम् । तत्र यदा यौगपद्य तदा सकलादेश , स एव प्रमाणमित्युच्यते । *"**सकलादेशः प्रमाणाधीनः**" [ ] इति वचनात्[11] । यदा तु क्रम तदा विकलादेश·, स एव नय इति व्यपदिश्यते । *"**विकलादेशो नयाधीनः**" [ ] इति वचनात् । कथ सकलादेश ?

एकगुणमुखेनाऽशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः ।१४। यदा अभिन्नमेक वस्तु एकगुणरूपेण उच्यते गुणिना गुणरूपमन्तरेण विशेषप्रतिपत्तेरसभवात् । एको हि जीवोऽस्तित्वादिष्वेकस्य[12] गुणस्य रूपेणाऽभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा निरश: समस्तो वक्तुमिष्यते, विभागनिमित्तस्य प्रतियोगिनो गुणान्तरस्य तत्रानाश्रयणात्, तदा सकलादेश । कथमभेदवृत्ति

---

१ कुतः ? २ उत्पादाभावात् । ३ ध्रौव्यस्वरूपमाह । ४ कारण । ५ निरोधो नाम नाशः । ६ अनुमीयमानतदेवेदमित्यात्मकतया अनुकूला वृत्तिः भा० २ टि० । ७ –द्धि ह्रास वि– मु० । ८ वाक्यार्थोऽस्ति मु०, द० । ९ काल आत्मरूप: अर्थः सम्बन्ध उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्द इति । १० तदेकत्वमाप– मु०, द० । ११ उद्धृतमिदम्– स० सि० १।६। १२ –स्य रूपेण मू० । –स्य गुणरूपेण मु०, द० ।

कथं वा अभेदोपचार. ? द्रव्यार्थत्वेनाश्रयणे तदव्यतिरेकादभेदवृत्ति । पर्यायार्थत्वेनाश्रयणे परस्परव्यतिरेकेऽपि एकत्वाध्यारोप[1], ततश्चाऽभेदोपचार ।

तत्राऽऽदेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदम् ।१५। तत्रैतस्मिन् सकलादेश आदेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपद वेदितव्या। तद्यथा–स्यादस्त्येव जीव., स्यान्नास्त्येव जीव., स्याद-वक्तव्य एव जीव , स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्त- ५
व्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च इत्यादि । उक्त च–

"#[2]पुच्छावसेण भंगा सत्तेव दु संभवंति जस्स जथा ।
[3]वत्थुत्ति तं पउच्चदि सामण्णविसेसदो [4]णियदं ॥१॥" [ ] इति ।

तत्र स्यादस्त्येव जीव इत्येतस्मिन् वाक्ये जीवशब्दो द्रव्यवचन विशेष्यत्वात्, अस्तीति गुणवचनो विशेषणत्वात् । [5]तयोस्सामान्यार्थाविच्छेदेन विशेषणविशेष्यसबन्धाद्योतनार्थ १०
एवकार. । तेनेतरनिवृत्तिप्रसङ्गे तत्सभवप्रदर्शनार्थ स्याच्छब्दप्रयोग, स च [6]लिङन्त-प्रतिरूपको निपात । तस्यानेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु सभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते । यद्ययमनेकान्तार्थ तेनैव सर्वस्योपादानात् इतरेषा पदानामानर्थक्य प्रसज्यते; नैष दोष ; सामान्येनोपादानेऽपि विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्य, वृक्ष-शब्दस्य सामान्यशब्दत्वात् धवादिविशेषप्रतिपादने धवाद्युपादानवत् । अथवा, स्याच्छब्दोऽय- १५
मनेकान्तार्थस्य द्योतक । द्योतकश्च[7] वाचकप्रयोगसन्निधिमन्तरेणाऽभिप्रेतार्थाविद्योतनाय नालमिति[8]तद्द्योत्यधर्माधारार्था[9]भिधानायेतरपदप्रयोग क्रियते । अथ केनोपात्तोऽनेकान्तार्थ अनेन द्योत्यते ? उक्तमेतत्–अभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा प्रयुक्तशब्दवाच्यतामेवास्कन्दन्ति इतरे धर्मा इति । एवमितरेष्वपि वाक्येषु[10] अर्थप्रकल्पन प्रत्येतव्यम् ।

यद्येव स्यादस्त्येव जीव इत्यनेनैव सकलादेशेन जीवद्रव्यगताना सर्वेषां धर्माणां सग्रहात् २०
इत्तरेषा भङ्गानामानर्थक्यमासजति, नैष दोष , गुणप्राधान्यव्यवस्थाविशेषप्रतिपादनार्थ-त्वात् सर्वेषा भङ्गानां प्रयोगोऽर्थवान् । तद्यथा, द्रव्यार्थिकस्य प्राधान्ये पर्यायगुणभावे च प्रथम. । पर्यायार्थिकस्य प्राधान्ये द्रव्यगुणभावे च द्वितीय । तत्र प्राधान्यं शब्देन विवक्षि-तत्वाच्छब्दाधीनम्, शब्देनानुपात्तस्यार्थतो गम्यमानस्याऽप्राधान्यम्। तृतीये तु युगपद्भावे उभयस्याप्राधान्य शब्देनाभिधेयतयाऽनुपात्तत्वात्। चतुर्थस्तूभयप्रधान. क्रमेण उभयस्या[11]- २५
स्त्यादिशब्देन उपात्तत्वात् । तथोत्तरे च भङ्गा वक्ष्यन्ते ।

तत्रास्तित्वैकान्तवादिन 'जीव एव अस्ति' इत्यवधारणे अजीवनास्तित्वप्रसङ्गभया-दिष्टतोऽवधारणविधि 'अस्त्येव जीव' इति नियच्छन्ति[12], तथा चावधारणसामर्थ्यात् शब्दप्रापितादभिप्रायवशवर्तिन. सर्वथा[13] जीवस्याऽस्तित्व प्राप्नोति । सर्वेणाऽस्तित्वेन[14] व्याप्त इति पुद्गलाद्यस्तित्वेनापि जीवस्यास्तित्वं [15]प्राप्तम्, शब्देन तथा प्रापितत्वात्, ३०
शब्दप्रमाणकाश्च वयमर्थाधिगमे। [16]स्यान्मतम्, अस्तित्वसामान्येन व्याप्तिर्न त्वस्तित्व-

---

१ –पात्तत–मु०, द । २ प्रश्नवशेन । ३ स्वरूपं भवतीति । ४ प्रश्नवशेन भङ्गा सप्तैव तु सभवन्ति यस्य यथा । वस्तु इति तत् प्रोच्यते सामान्यविशेषतो नियतम् । ५ सामान्यात्मनोः । ६ तिङन्तप्र– मु०, द० । ७ स्यात्कारचकारादि । ८ स्यात्कारेण । ९ –रत्वाभि– मु०, द० । १० षट्सु । ११–प्रस्यापि शब्देन ता०,श्र० । १२ नियमं करोति । १३ –थास्य जी– मु०, द० । १४ पुद्गला-दिप्रकारेण । १५ तन्माभूदिति स्याच्छब्दप्रयोगे इत्यभिप्रायः । १६ ग्राह परः –स्यात्कारमन्तरेण पुद्गलाद्यस्तित्वेन जीवस्यास्तित्वं न प्राप्नोति, किन्तु स्वत एवेति समर्थयितुं स्यादित्यादिना ।

विशेषे यथा अनित्यमेव कृतकमिति अनित्यत्वस्याभावे कृतकत्वस्याप्यभाव एवेत्यवधारणात्, यत्कृतक तत्सर्वमनित्यमिति, न हि सर्वप्रकारेण अनित्यत्वेन [1]सर्वप्रकारं कृतकत्व व्याप्यते किन्तु अनित्यत्वसामान्येन, [2]नाऽनित्यत्वव्यक्तया घटपटरथादिगतयेति । एव तर्हि त्वयैवाभ्युपगत अवधारणनिष्फलत्व सामान्याऽनित्यत्वेनाऽनित्यत्व न विशेषाऽनित्यत्वेनेति । स्वगतेनापि विशेषेणानित्य भवत्येवेति चेत्, न, स्वगतेनेति विशेषणात्, परगतेन विशेषेणाऽनित्यत्व न भवतीति आपद्यते, अनवधारणक वा वाक्य प्रयोक्तव्यम्—अनित्य कृतकमिति । तथा चाऽनित्यस्याऽनवधृतत्वात् नित्यत्वप्रसङ्गोऽपि । एव यद्यस्तित्वसामान्येनास्ति जीव न तु पुद्गलादिगतयाऽस्तित्वव्यक्तया, अतो न पुद्गलाद्यस्तित्वेन अस्तित्व जीवस्येति ब्रुवता त्वयैवाभ्युपगत सामान्यरूप विशेषरूपं चेति प्रकारवदस्तित्वमिति । तथा सति सामान्यास्तित्वेनास्ति विशेषास्तित्वेन नास्तीति स्यादस्ति स्यान्नास्तीति प्राप्तमवधारणनिष्फलत्वम् । सर्वेण हि प्रकारेणाऽस्तित्वाभ्युपगमे नास्तित्वनिरासेन अवधारणं फलवत् स्यात् । अनियमे तु अव्यावृत्तत्वात् पुद्गलाद्यस्तित्वेनापि प्राप्तिरित्यवश्यम् एकान्तवादिनाऽवधारणमभ्युपगमनीयम् । तथा च सति पूर्वोक्तो दोष[3] ।

स्यादेतत्—यदस्ति तत् स्वायत्तद्रव्यक्षेत्रकालभाव[4]रूपेण भवति नेतरेण तस्याऽप्रस्तुतत्वात् । यथा घटो द्रव्यत पार्थिवत्वेन, क्षेत्रत इहत्यतया, कालतो वर्तमानकालसबन्धितया, भावतो रक्तत्वादिना, न परायत्तैर्द्रव्यादिभिस्तेषामप्रसक्तत्वात्[5] इति । एव चेत् द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरसबन्धितया नास्तीत्यत स्यादस्ति स्यान्नास्तीति सिद्धम् । नियमानभ्युपगमे तु स घटो न स्यादेव[6] असामान्यत्वे सति नियतद्रव्यक्षेत्रकालभावसबन्धित्वेनाऽभूतत्वात् शशविषाणवत् । अनियतद्रव्यादिरूपत्वे वा सर्वथाभावात् सामान्यमेव स्यात् नासौ घट, अनियतद्रव्यादिरूपत्वात् महासामान्यवत् । कथम् ? यदि हि असौ द्रव्यत पार्थिवत्वेन तथोदकादित्वेनापि भवेत्, ततोऽसौ घट एव न स्यात् पृथिव्युदकदहनपवनादिषु वृत्तत्वात् द्रव्यत्ववत् । तथा, यथा इहत्यतया अस्ति तथाविरोधिदिगन्तानियतदेशस्थतयापि यदि स्यात्तथा चासौ घट एव न स्यात् विरोधिदिगन्ताऽनियतसर्वदेशस्थत्वात् आकाशवत् । तथा, यथा वर्तमानघटकालतया अस्ति तथाऽतीतशिवकाद्यनागतकपालादिकालतयापि स्यात् तथा चाऽसौ घट एव न स्यात् सर्वकालसबन्धित्वात् मृद्द्रव्यवत् । यथा चेहदेशकालविशेषसंबन्धितया अस्मत्प्रत्यक्षत्व तथा अतीतानागतकालान्यदेशसम्बन्धित्वेनाप्यस्मत्प्रत्यक्षत्व स्यात्, उदकाद्यानयनादिसव्यवहारपातित्व वा । तथा, यथा नवत्वेन तथा पुराणत्वेन, सर्वरूपरसगन्धस्पर्शसख्यासस्थानादित्वेन वा स्यात्, तथा चासौ घट एव न स्यात् सर्वथाभावित्वात् भवनवत्[7] । यथा हि भवन रूपं रसो गन्ध स्पर्शश्च भवति पृथु महान् ह्रस्व. पूर्ण रिक्तो वा भवतीति न कुतश्चित् वस्तुनो वस्तुधर्माद्वा व्यावर्तते तच्च न घट, एव घटोऽपि स्यात् । एव जीवस्यापि मनुष्यत्वेनाऽर्प्यमाणस्य स्वद्रव्यादिरूपतयैवाऽस्तित्व नेतरथा । यदीतरथापि स्यात्, मनुष्य एव न स्यात् नियतद्रव्यक्षेत्रकालभावसम्बन्धित्वेनाऽभूतत्वात् खरविषाणवत् । अनियतद्रव्यादिरूपत्वे वा सर्वथाभावात् सामान्यमेव स्यात् नासौ मनुष्य अनियतद्रव्यादिरूपत्वात् महासामान्यवत् । कथम् ? यदि हि असौ यथा जीवद्रव्यत्वेनाऽस्ति एव पुद्गलादित्वेनापि स्यात् ततोऽसौ

१ सर्वप्रकारः कृतकः व्या— मु०, द० । २ न त्वनि— मु०, द० । ३ —भावेन भ— मु०, द० । ४ —मप्रस्तुतत्वात् मु०, द० । ५ —नास्ति । ६ सत्तासामान्यवत् ।

मनुष्य एव न स्यात्, पुद्गलादिष्वपि दृष्टत्वात् द्रव्यत्ववत्। तथा, यथा इहत्यतया अस्ति तथा विरोधिदिगन्तानियतदेशस्थतयापि यदि स्यात्, तथा चासौ मनुष्य एव न स्यात् विरोधिदिगन्तानियतसर्वदेशस्थत्वात् आकाशवत्। तथा, यथा वर्तमानकालतया अस्ति तथा अतीतनारकाद्यनागतदेवादिकालतयापि स्यात्, तथा चासौ मनुष्य एव न स्यात् सर्वकालसबन्धित्वात् जीवत्ववत्। यथा च इह-देशकालविशेषसबन्धितया अस्मत्प्रत्यक्षत्व तथाऽतीतानागतकालान्यदेशसंबन्धित्वेनापि अस्मत्प्रत्यक्षत्व स्यात्, यथा यौवनेन तथा वृद्धत्वेन अन्यद्रव्यगतरूपरसादिभिर्वा यदि स्यात् तथा चासौ मनुष्य एव न स्यात् सर्वथाभावित्वात् भवनवत्। तस्मात् स्यादस्ति स्यान्नास्ति। ५

इतश्च स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्वपरसत्ताभावाभावोभयाधीनत्वात् जीवस्य। यदि [1]परसत्तया अभाव स जीव स्वात्मनि नापेक्षते, अत. स जीव एव न स्यात् सन्मात्र स्यात्, नासौ जीवः सत्त्वे सति विशेषरूपेण अनवस्थितत्वात् सामान्यवत्। तथा परसत्ताभावापेक्षायामपि जीवत्वे यदि स्वसत्तापरिणति नापेक्षते तथापि तस्य वस्तुत्वमेव न स्यात् जीवत्व वा, सद्भावापरिणतत्वे[2] पराभावमात्रत्वात् खपुष्पवत्। अत पराभावोऽपि स्वसत्तापरिणत्यपेक्ष एव अस्तित्वस्वात्मवत्[3]। यथा अस्तित्वस्वात्मा अस्तित्वस्वात्मना[4] अस्ति न नास्तित्वस्वात्मनेति स्यादस्ति, स्यान्नास्ति [5]इतरथा हि वस्त्वभाव स्यात्। कथम् अभावो हि भावनिरपेक्षोऽत्यन्तशून्य[6] वस्तु प्रतिपादयेत्[7] अन्वयाप्रतिलम्भात्[8]। भावोऽपि वा अभावनिरपेक्ष [9]सर्वरूपं वस्तु प्रतिपादयेत् व्यतिरेकाप्रतिलम्भात्। न च सर्वथा सता सर्वाभावरूपेण वा शक्य भवितुम्। कि हि वस्तु सर्वात्मक सर्वाभावरूप वा दृष्टमिति ? तद्धि वस्त्वेव न स्यात् सर्वाभावरूपत्वात् खपुष्पवत्। न च वस्तुत्व सर्वात्मकत्वात् शक्य प्रतिपत्तुम् असाधारणत्वात्, वस्तुत्वे चाऽवस्तुत्वे चाऽदर्शनात् [10]श्रावणत्ववत्। अभावता हि भावरूप[11]वैलक्षण्यात् [12]क्रियागुणव्यपदेशाभावात् अवतिष्ठते। भावतापि अभाववैलक्षण्यात् क्रियागुणव्यपदेशवत्त्वात् सिध्यतीति परस्परापेक्षे भावाभावरूपत्वे। अपि च, अभाव स्वसद्भाव भावाभावं च अपेक्षमाण. सिध्यति। भावोऽपि स्वसद्भाव अभावाभाव चाऽपेक्ष्य सिद्धिमुपयाति। यदि तु अभाव एकान्तेनाऽस्ति इत्यभ्युपगम्येत तत. सर्वात्मनाऽस्तित्वात् [13]स्वरूपवद्भावात्मनापि स्यात्, तथा च भावाभावरूपसङ्करादस्थितरूपत्वादुभयोरप्यभाव। अथ एकान्तेन नास्ति इत्यभ्युपगम्येत ततो [14]यथा भावात्मना नास्ति तथा तथाऽभावात्मनापि न स्यात्, ततश्च अभावस्याऽभावात् भावस्याऽप्रतिपक्षत्वात् भावमात्रमेव स्यात्। तथा खपुष्पादयोऽपि भावा एव अभावाभावरूपत्वात् घटवत् इति सर्वभावप्रसङ्ग। एव भावास्तित्वैकान्तेऽपि योज्यम्। तस्माद्भाव स्यादस्ति स्यान्नास्ति तथा अभावोऽपि। एव जीवोऽपि स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यवसेयम्। १० १५ २० २५ ३०

एवं [15]स्वात्मनि घटादिवस्तुसिद्धौ च भावाभावयो परस्परापेक्षत्वात् यदुच्यते–[15]

*"अर्थात् प्रकरणाद्वा घटे अप्रसक्तायाः पटादिसत्तायाः किमिति निषेधः क्रियते" ? [ ]

---

१ परसत्ताया मु०, द०। २ –त्वे वापरा– मु०, द०। ३ स्वरूपवत्। ४ –मनेति स्या– श्र०, मू०। –त्मनास्ति नास्ति च नास्तित्व– मु०, द०। ५ नास्तित्वस्वात्मना नास्ति। ६ –न्यं च वस्तु द०, मु०। ७ –येवन्यदन्वयाप्रति– मु०, द०। ८ सामा– भा० २। ९ घटपटादि। १० अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्, नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्। ११ –पत्ववै– द०, मु०। १२ वैलक्षण्यं कीदृशमित्युक्ते प्रतिपादयन्नाह–। १३ अभावस्वरूपवत्। १४ ततोऽय– मु०, द०। १५ अभावरूपे। १६ परेण।

इति , तदयुक्तम् । किञ्च घटे[1] अर्थत्वात् अर्थसामान्यात् पटादिसर्वार्थप्रसङ्ग· संभवत्येव । [2]तत्र विशिष्ट घटार्थत्वम् [3]अभ्युपगम्यमान पटादिसत्तारूपस्यार्थसामर्थ्य [4]प्रापितस्य अर्थतत्त्वस्य निरासेनैव आत्मानं शक्नोति लब्धुम्, इतरथा हि असौ घटार्थ एव न स्यात् पटाद्यर्थरूपेणाऽनिवृत्तत्वात् पटाद्यर्थस्वरूपवत्, विपरीतो वा । यश्चास्य[5] पटादिरूपेणाभावः सोऽपि घटधर्म एव तदधीनत्वात् भाववत्,[6] अतोऽसौ [7]स्वपर्याय एव, परेण तु विशेष्यमाणत्वात् परपर्याय इत्युपचर्यते । स्वपरविशेषणायत्तं हि वस्तुस्वरूपप्रकाशनमिति ।

अथ 'अस्त्येव जीव' इत्यत्राऽस्तिशब्दवाच्यादर्थात् भिन्नस्वभावो वा जीवशब्दवाच्योऽर्थ· स्यात्, अभिन्नस्वभावो वा ? यदि अभिन्नस्वभाव, ततो यत् सदर्थस्य रूपं जीवशब्दार्थस्यापि तदेव रूपमिति ततोऽन्यधर्मानवकाशत्वादविशिष्टार्थता स्यात् । ततश्च सामानाधिकरण्य[8]विशेषणविशेष्यत्वाभावो घटकुटशब्दवत् अन्यतराप्रयोगश्च स्यात् । किञ्च, सत्त्वस्य सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वात् तदभिन्नस्वभावस्य जीवस्यापि तादात्म्यमिति सर्वस्य तत्त्वस्याऽविशिष्टैकजीवत्वप्रसङ्ग· । सत्स्वभावत्वाच्च जीवस्वरूपचैतन्यतद्विकल्पज्ञानादिक्रोधादिनारकत्वादिसर्वविशेषणाभावत्वप्रसङ्गश्च स्यात् । जीवस्वभावत्वाद्वा अस्तित्वस्य [9]स्वात्मनि पुद्गलादिषु च सत्प्रत्ययाभिधानहेतुत्वाभावो जीवत्ववत् ।

अथाय दोषो माभूत् इति अस्तिशब्दवाच्यात् अर्थात् भिन्नस्वभावो जीवशब्दार्थ प्रतिज्ञायेत, एवमपि स्वतो जीवस्याऽसद्रूपत्वप्रसङ्ग । ततश्च नास्ति जीवोऽस्तिशब्दवाच्यार्थविविक्तत्वात् खरविषाणवत्, [10]विपर्ययो वा । ततश्च तदधीनबन्धमोक्षादिव्यवहाराभाव· । अस्तित्वस्य च जीवादर्थान्तरत्ववत्, इतरेभ्योपि भिन्नत्वात् निराश्रयत्वादभाव एवेति तदाश्रयव्यवहाराभाव· । किञ्च, अस्तित्वाद्भिन्नस्वभावस्य जीवस्य क स्वभाव इति वक्तव्यम् ? यश्चास्य स्वभाव इत्युच्यते स सर्वो न स्यात् असत्स्वभावत्वात् खपुष्पवत् । तस्मात् स्याद्भिन्नार्थत्वं स्यादभिन्नार्थत्व चाभ्युपगन्तव्यम् । पर्यायार्थादेशात्[11] [12]भवनजीवनभेदात् अस्तिजीवशब्दौ[13] स्याद्भिन्नार्थौ । द्रव्यार्थादेशात् तदव्यतिरेकात् तद्ग्रहणेन ग्रहणात् स्यादभिन्नार्थौ । तस्मात् स्यादस्ति स्यान्नास्तीति सिद्धम् ।

इतश्च, स्यादस्ति स्यान्नास्ति [14]अर्थाभिधानप्रत्ययाना [15]तथाप्रसिद्धे ।

कश्चिदाह–जीवार्थो जीवशब्दो जीवप्रत्यय इत्येतत्त्रितय लोके [16]अविचारसिद्धम्–तथाहि वर्णाश्रमिण अस्तित्वमेवाश्रित्य तासु तासु क्रियासु प्रवृत्ता तस्मादस्त्येवेति । [17]तमितर प्रत्याह–नास्त्येवैतत्त्रि तयम्–अर्थस्तावन्नास्त्यनुपलब्धे, [18]विज्ञानमेव [19]तथा परिणतं स्वप्नवत् कल्पयति । प्रत्ययजीवोऽपि नास्त्येव विज्ञानस्य ज्ञेयरूपेणाऽनाख्येयत्वात्[20] । [21]स्वतस्तु विज्ञान न जीवो नाप्यजीव प्रकाशमात्रं केनचिदपि रूपेण [22]अनिरूप्यत्वात्[23]यद्यपि

---

१ तावदर्थत्वात् घटे प्रसक्तं पटादिसत्त्वं प्रदर्शयति । २ तथा सति । ३ कर्तृ । ४ –र्थात्प्रापि– द०, मु० । ५ घटस्य । ६ घटास्तित्ववत् । ७ घटस्य । ८ –प्याभावाद् विशे– मु० । ९ जीवे । आत्मनि मु०, द० । १० अस्ति खरविषाणम् अस्तिशब्दवाच्यार्थविविक्तत्वात् जीववत् । ११ तदेव विवृणोति । १२ अस्ति अस्तित्व । १३ – शब्दौ तद्व्यतिरेकेण तद्ग्रहणेनाग्रहणात् स्याद्भि– मु० । १४ जीव इति । १५ अस्तित्वानास्तित्वरूपेण । १६ निर्विचारसिद्धम्, तत्सिद्धौ विचारः कोऽपि न कर्त्तव्य इत्यर्थः । विचारसि– मु०, द० । १७ आस्तिकं प्रति नास्तिकः । १८ उपलब्धौ । १९ वस्तुस्वरूपेण । २० अप्रतिपाद्यत्वात् । २१ स्वभावतः । २२ अदर्शनीयत्वात् ।

निरूप्येत स्वप्नज्ञानवत् असदाकारेणैव निरूप्येत–[1]नास्ति ज्ञानम् [2]असदाकारनिरूप्यत्वात् खरविषाणवत्। अभिधानमपि नास्ति। तद्धि पदरूप वा स्यात्, वाक्यरूपं वा ? [3]तन्नास्त्येव अयुगपत्कालावयवत्वात्[4]। यत्पुनरेत्–जीवशब्दग्रहण तत्परिकल्पितैर्वर्णभागैरनुक्रमेणाऽऽहित-शक्तिकासु बुद्धिषु शक्तिपरिपाकप्राप्तौ[5] प्रत्यस्तमितसकलवर्णभागविषयविज्ञानं जीवशब्दत्वेन अध्वसीयते[6] नत्वभिधानजीव· कश्चिदस्ति। तदपि विज्ञान क्षणिकत्वात् प्रत्यर्थवशवर्तित्वाच्च एकस्य [7]पूर्वापरीभूतार्थप्रत्यवभासनासंभवान्नास्त्येवेति। यद्येव वाच्यवाचकसबन्धो लोके रूढ. प्रत्याख्यात. स्यात् ततश्च लोकविरोध, तन्नास्तित्वे परीक्षाप्रयासश्च विफल. स्यात् इत्यभ्युपगन्तव्यम्–जीव· स्यादस्ति स्यान्नास्तीति। अत द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकमात्मसात्कुर्वन् [8]व्याह्रियते, पर्यायार्थिकोऽपि द्रव्यार्थिकमिति उभावपि इमौ सकलादेशौ।

तृतीयो विकल्पः उच्यते–द्वाभ्या गुणाभ्यामेकस्यैव अभिन्नस्या[9]भेदरूपेण युगपद्वक्तु-मिष्टत्वात्। तत्र यथा प्रथमद्वितीययोर्विकल्पयोरेकस्मिन् काले एकेन शब्देन एकस्यार्थस्य समस्तस्यैव एकेन गुणरूपेणाभिधान क्रमात्, एवं यदा द्वाभ्यां प्रतियोगिभ्यां गुणाभ्यामवधारणाक्ताभ्यां[10] युगपदेकस्मिन् काले एकेन शब्देन एकस्यार्थस्य कृत्स्नस्यैवाभेदरूपेणाभिधित्सा तदा अवाच्यः तद्विधार्थस्य शब्दस्य चाऽभावात्। तत्र युगप-द्भावो[11] गुणाना कालादिभिरभेदेन विवक्षिताना वृत्ति, न च तैरभेदोऽत्र[12] सम्भवति।

के पुनस्ते कालादयः ?

काल आत्मरूपमर्थ सम्बन्ध उपकारो गुणिदेश ससर्ग शब्द इति। तत्र येन कारणेन विरुद्धा भवन्ति गुणास्तेषामेकस्मिन् काले क्वचिदेकवस्तुनि वृत्तिर्न दृष्टा अतस्तयोर्नास्ति वाचकः शब्द. तथावृत्त्यभावात्। अत एकस्मिन्नात्मनि सदसत्त्वे प्रविभक्ते [13]असंसर्गात्मरूपे अनेकान्तरूपे न स्त। एककाले[14] येनात्मा तथोच्येत ताभ्या विविक्त च परस्परत आत्मरूपं गुणाना[15] [16]नान्योन्यात्मनि वर्तते, यत[17] उभाभ्या [18]युगपदभेदेनोच्येत। न च विरुद्धत्वात् सदसत्त्वा-दीनाम् एकान्तपक्षे गुणानामेकद्रव्याधारा वृत्तिरस्ति यत अभिन्नाधारत्वेनाऽभेदो युगपद्भावः स्यात्, [19]येन केनचित् शब्देन वा सदसत्त्व उच्येयाताम्। [20]न च सम्बन्धतोऽभिन्नता गुणाना सभवति भिन्नत्वात् सबन्धस्य। यथा छत्रदेवदत्तसम्बन्धोऽन्य दण्डदेवदत्तसंबन्धात्। कारणयो· [21]संबन्धिनोर्भिन्नत्वात् न तावेकेन सबन्धेनाभिन्नौ। एवं सदसत्त्वयोरात्मना सह संबन्धस्य भिन्नत्वात् न संबन्धेनापि युगपद्वृत्तिसंभव [22]यत शब्देनोच्यते। समवाय इति चेत्; न, तेनापि भिन्नेन भवितव्य भिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुत्वात् सयोगवत्। न च गुणा उपकारेणाऽ-भिन्नाः; यतो द्रव्यस्य गुणाधीन उपकारो नीलरक्ताद्युपरञ्जनम्, ते च स्वरूपतो भिन्नाः। यच्च तेषामात्मनि नीलरक्तत्वाद्यस्ति रूप यावच्च नीलनीलतरादि तावता द्रव्य रञ्जयति अतस्तेषामुपकारोऽपि भिद्यत एव। एव सदसत्त्वयोर्भिन्नत्वात् सत्त्वेनोपरक्तं सत् असत्त्वेनोप-

---

१ तथा सति। २ असदाकारत्वात् मु०, द०। ३ द्वयमपि। ४ कालाश्च अवयवाश्च कालावयवाः, न विद्यन्ते युगपत्ते ययोस्ते तथोक्ते तयोर्भावः तस्मात्। ५ अन्त्यवर्णे इत्यर्थः। ६ "नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह। आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते॥" –वाक्यप० १।८५। ७ वर्तमानार्थं। ८ व्याप्रियते मु०, द०। अभिधीयते। ९ अविकलस्य समस्तस्येत्यर्थः। १० –णात्मकाभ्यां मु०, ता०, द०, मू०। ११ नाम। १२ अवक्तव्ये। १३ कोऽर्थः। १४ कथम्। १५ मध्ये। १६ अन्यो गुणः अन्यतरगुणे। १७ कथम्। १८ अंशरहितेन। १९ कथम्। २० न सं– श्र०। २१ हस्तदण्डयोः। २२ कथम्।

रक्तं असन्नोपकारसारूप्यम्, यतः तदभेदेन[1] शब्दो वाचक स्यात्। न चैकदेशेन गुणिन उपकार सभवति[2] येनैक[3]देशोपकारेण सहभावो भवेत् नीलादेर्गुणस्य। कृत्स्नस्य हि गुणस्योपकारकत्व द्रव्यस्य च पटादे. समस्तस्योपकार्यत्वम्, गुण उपकारको गुणी उपकार्य इति। न चैकदेशो गुणगुणिनो। अत. कृत्स्नयो उपकार्योपकारकरूपसिद्धिर्न देशेन यतो देशत.[4] सहभावात् कश्चिच्छब्दो वाचक· कल्प्येत। न चैकान्तपक्षे गुणानां ससृष्टमनेकात्मकं रूपमस्ति अवधृतैकान्तरूपत्वात् सत्त्वासत्त्वादेर्गुणस्य। [5]यदा शवलरूपव्यतिरिक्तौ परस्पर-विविक्तौ शुक्लकृष्णौ गुणौ असंसृष्टौ नैकस्मिन्नर्थे सह वर्तितुं समर्थौ अवधृतरूपत्वात्, अत· ताभ्या ससर्गाभावात् एकान्तपक्षे न युगपदभिधानमस्ति अर्थस्य तथा वर्त्तितुं शक्त्यभावात्, तद्विधस्य च अर्थसबन्धस्याऽभावात्। न चैक शब्दो द्वयोर्गुणयो सहवाचकोऽस्ति। यदि स्यात् सच्छब्द. स्वार्थवदसदपि सत्कुर्यात् असच्छब्दोऽपि स्वार्थवत् सदपि असत्कुर्यात्, न च तथा लोके सप्रत्ययोऽस्ति [6]तयोर्विशेषशब्दत्वात्। एवमुक्तात् [7]कालादियुगपद्भावासभवात्। शब्दस्य च एकस्य उभयार्थवाचिनोऽनुपलब्धे अवक्तव्य आत्मा।

अथवा वस्तुनि मुख्यप्रवृत्त्या तुल्यबलयो परस्पराभिधानप्रतिबन्धे सति [8]इष्टविप-रीतनिर्गुणत्वापत्ते विवक्षितोभयगुणत्वेनाऽनभिधानात् अवक्तव्य। अयमपि सकलादेश परस्परावि[9]धारितविविधरूपैकात्मकाभ्या गुणाभ्या गुणविशेषणत्वेन युगपदुपक्षिप्ताभ्याम्[10] अविवक्षितांशभेदस्य वस्तुन समस्तस्य एकेन गुणरूपेणाभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वाऽभिधातुं प्रक्रान्तत्वात्। [11]स च अवक्तव्यशब्देन अन्यैश्च षड्भिर्वचनै[12] पर्यायान्तरविवक्षया च वक्त-व्यत्वात् स्यादवक्तव्य। यदि सर्वथा अवक्तव्य स्यात् अवक्तव्य इत्यपि चाऽवक्तव्य स्यात् कुतो बन्धमोक्षादिप्रक्रियाप्ररूपणविधि ?

ताभ्यामेव क्रमेणाभिधित्साया तथैव वस्तुसकलस्वरूपसंग्रहात् चतुर्थोऽपि विकल्प सकलादेश। अयमपि स्यादित्येवार्पयितव्य, सर्वथोभयात्मकत्वे परस्परविरोधात् उभयदोष-प्रसङ्गाच्च। कथमेते [13]निरूप्यन्ते ? सर्वसामान्येन तदभावेन च, विशिष्टसामान्येन तदभावेन च विशिष्टसामान्येन तदभावसामान्येन च, विशिष्टसामान्येन तद्विशेषेण च, सामान्येन विशि-ष्टसामान्येन च, द्रव्यसामान्येन गुणसामान्येन च, धर्मसमुदायेन तद्व्यतिरेकेण च, धर्मसामान्य-सम्बन्धेन तदभावेन च, धर्मविशेषसबन्धेन तदभावेन च।

तद्यथा सर्वसामान्येन तदभावेन च[14] इह द्विविधोऽर्थः श्रुतिगम्योऽर्थाधिगम्यश्च। तत्रानपेक्षितवृत्तिनिमित्त श्रुतिमात्रप्रापित श्रुतिगम्य। अर्थप्रकरणसंभवाभिप्रायादिशब्द-न्यायात् कल्पितोऽर्थाधिगम्य। तत्र आत्मा अस्तीति सर्वप्रकारानाश्रयणादिच्छावशात् कल्पितेन सर्वसामान्येन[15] वस्तुत्वेन अस्तीति प्रथम। तत्प्रतिपक्षेणाऽभावसामान्येनाऽवस्तुत्वेन नास्त्यात्मा इति द्वितीय·। आभ्यामेव युगपदभेदविवक्षायां वाचकाभावान्नाभिधीयत इति तृतीय। आभ्यामेव क्रमेणार्पिताभ्यामुभयरूपं वस्तु उच्यते इति चतुर्थ। विशिष्टसामान्येन तदभावेन च—यथाश्रुतत्वात् श्रुत्युपात्तेन आत्मनेवाभिसंबन्धः, ततश्चात्मत्वेनैव अस्त्यात्मा इति प्रथमः। यथाश्रुतप्रतियोगित्वात् अनात्मत्वेनैव नास्त्यात्मा इति द्वितीय.। युगपदुभाभ्यां

---

१ उपकाराभेदेन। २ किन्तु कृत्स्नेनैव। ३ कथम्। ४ एकदेशतः। ५ यथा मु०, द०, ता०। ६ अस्तित्वनास्तित्वयोः। ७ टा—तृतीयेत्यर्थः —स०। ८ वृष्टवि— द०, मु०। ९ नियत। १० अङ्गीकृताभ्याम्। ११ आत्मा। १२ भङ्गैः। १३ चत्वारो भङ्गाः। १४ निरूप्यन्ते। १५ कोऽर्थः।

आत्मानात्मत्वसदसत्त्वाभ्यामवक्तव्य । आभ्यामेव क्रमेणार्पिताभ्यामुभयरूपं वस्तूच्यते इति चतुर्थ. । विशिष्टसामान्येन तदभावसामान्येन च–यथाश्रुतत्वात् आत्मत्वेनैवास्तीति प्रथम । अभ्युपगमविरोधभयात् वस्त्वन्तरात्मना क्षित्युदकज्वलनघटपटगुणकर्मादिना सर्वेण प्रकारेण सामान्यतो नास्तीति द्वितीय । आभ्यामेव युगपदात्मघटादिसदसत्त्वाभ्यामवक्तव्य: । क्रमेण तु वाच्यत्वात् चतुर्थ । विशिष्टसामान्येन तद्विशेषेण च–आत्मसामान्येनास्त्यात्मा । आत्म- ५
विशेषेण मनुष्यत्वेन [1]नास्ति । आत्मत्वमनुष्यत्वापेक्षाभ्या सदसत्त्वाभ्याम् एकत्वे युगपद-
वक्तव्य । पर्यायेणाभिधेयत्वाच्चतुर्थ । सामान्येन विशिष्टसामान्येन च–अविशेषरूपेण
द्रव्यत्वेन अस्त्यात्मा । विशिष्टेन सामान्येन प्रतियोगिनाऽनात्मत्वेन नास्त्यात्मा । ताभ्या तु
द्रव्यत्वानात्मत्वसदसत्त्वाभ्या युगपदवक्तव्य । क्रमेण ताभ्या वक्तव्यत्वात् चतुर्थ । द्रव्य-
सामान्येन गुणसामान्येन [2]च वस्तुनस्तथा तथा सभवात् ता ता विवक्षामाश्रित्याविशेषरूपेण १०
द्रव्यत्वेनास्त्यात्मा, तत्प्रतियोगिना विशेषरूपेण गुणत्वेन नास्त्यात्मा । ताभ्या तु द्रव्यत्व-
गुणत्वसदसत्त्वाभ्या युगपदवक्तव्य । क्रमेण तदुभयवाग्गोचरत्वाच्चतुर्थ । धर्मसमुदायेन
तद्व्यतिरेकेण च–त्रिकालगोचरानेकशक्तिज्ञानादिधर्मसमुदायरूपेणाऽऽत्मास्ति । तद्व्यतिरेकेण
नास्त्यनुपलब्धे· । ताभ्यां युगपदवक्तव्य· । क्रमेण अभिधेयतामनुभवति इति चतुर्थ । धर्म-
सामान्यसबन्धेन तदभावेन च–गुणरूपगतसामान्यसबन्धविवक्षाया यस्य कस्यचित् धर्मस्य १५
आश्रयत्वेन अस्त्यात्मा । न तु कस्यचिदपि धर्मस्याश्रयो न भवतीति धर्मसामान्यानाश्रयत्वेन
नास्त्यात्मा । आभ्या युगपदवक्तव्य । पर्यायेण तु तदुभयविशेष्यत्वात् चतुर्थ । धर्मविशेष-
सबन्धेन तदभावेन च–[3]अनेकधर्मणोऽन्यतमधर्मसबन्धेन तद्विपक्षेण वा विवक्षायाम्, यथा
अस्त्यात्मा नित्यत्वेन निरवयवत्वेन चेतनत्वेन वा, तेषामेवान्यतमधर्मप्रतिपक्षेण नास्त्यात्मा ।
युगपत्ताभ्यामवक्तव्य । क्रमेण तदभिधानविषयत्वाच्चतुर्थ । २०

पञ्चमो भङ्ग उच्यते–त्रिभि आत्मभिर्द्वयंश । जीवस्यानेकद्रव्यात्मकस्याऽनेक-
पर्यायात्मकस्य च किञ्चिद् द्रव्यार्थविशेष पर्यायार्थविशेष वा आश्रित्यास्तीत्युच्यते एक आत्मा[4],
तस्यैवाऽन्य[5] आत्मा द्रव्यसामान्य पर्यायसामान्य तद्विशेषद्वय वाऽऽगीकृत्य युगपदविभाग-
विवक्षाया वचनगोचरातीत । यथा स्यादस्त्यात्मा द्रव्यत्वेन, द्रव्यविशेषेण वा जीवत्वेन,
मनुष्यत्वादिना वा । द्रव्यपर्यायसामान्यमुररीकृत्य वस्तुत्वसत्त्वमवस्तुत्वासत्त्व च युगपद- २५
भेदविवक्षायामवाच्य । विशेषद्वयं वा मनुष्यत्वामनुष्यत्वादि, यत सर्वेऽपि तस्यैकस्यैव ते
आत्मानो[6] विद्यन्ते तदैवेति । तत स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च जीव । अयमपि सकलादेश·,
अशाभेदविवक्षायाम् एकाशमुखेन सकलसग्रहात् ।

तथा षष्ठ त्रिभि· आत्मभिर्द्वयश· । यतो वस्तुगत नास्तित्वमवक्तव्यरूपानुविद्ध
नान्तरेणात्मभेदं शक्यं कल्पयितुं वस्तुनस्तथापि भावात् । तत्र नास्तित्व पर्यायाश्रयम् । स ३०
च पर्यायो युगपद्वृत्त क्रमवृत्तो वा । सहवृत्तो जीवस्य पर्याय अविरोधात् सहावस्थायी
सहवृत्ते गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसयमादि । क्रमवर्ती तु क्रोधादिदेवादिबाल्याद्यवस्था-
लक्षण: । तत्र गत्यादिव्यतिरिक्त क्रोधादिक्रमवृत्तधर्मरूपनैरन्तर्यमात्रादर्थान्तरभूत एकोऽ-
वस्थितो द्रव्यार्थो जीवो नाम नास्ति, किन्तु त एव धर्मास्तथा सन्निविष्टा जीवव्यपदेशभाज

---

१ नास्त्यात्मा मु० । २ निरूप्यन्ते । ३ नेकधर्मिणो मु०, द० । ४ अंशः । ५ अवक्तव्य ।
६ आत्मनो मु०, ता०, द० । ७ सत्याम् ।

इति अस्यां कल्पनायां नास्तित्वम्। यश्च वस्तुत्वेन सन्निति द्रव्यार्थांशः यश्च तत्प्रतियोगिनाऽवस्तुत्वेनाऽसन्निति पर्यायाश, ताभ्या युगपदभेदविवक्षायाम् अवक्तव्य इति द्वितीयोऽश'। तस्मान्नास्ति चावक्तव्यश्चाऽऽत्मा। अयमपि सकलादेश. शेषवाग्गोचरस्वरूपसमूहस्याऽविनाभावात् तत्रैवान्तर्भूतस्य स्याच्छब्देन द्योतितत्वात्।

तथा सप्तमो विकल्प. चतुर्भिरात्मभि त्रयंश.। द्रव्यार्थविशेष कञ्चिदाश्रित्याऽस्तित्वं पर्यायविशेषं च कञ्चिदाश्रित्य नास्तित्वमिति समुच्चितरूप भवति, द्वयोरपि प्राधान्येन विवक्षितत्वात्। द्रव्यपर्यायविशेषेण च केनचित् द्रव्यपर्यायसामान्येन च केनचित् युगपदवक्तव्य. इति तृतीयोंऽश.। तत. स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यश्च आत्मा। अयमपि सकलादेश, यत' सर्वान् द्रव्यार्थान् द्रव्यमित्यभेदादेक द्रव्यार्थ मन्यते। सर्वान् पर्यायार्थाश्च पर्यायजात्यभेदादेक पर्यायार्थम्। अतो विवक्षितवस्तुजात्यभेदात् कृत्स्न वस्तु एकद्रव्यार्थाभिन्नम् एकपर्यायाभेदोपचरित वा एकमिति सकलसग्रहात्। अथ कथं विकलादेशः ?

निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः।१६। स्वेन तत्त्वे[1]नाप्रविभागस्यापि वस्तुनो विविक्त गुणरूप स्वरूपोपरञ्जकमपेक्ष्य प्रकल्पितमशभेद कृत्वा अनेकात्मकैकत्वव्यवस्थायां [2]नरसिंहसिहत्ववत् समुदायात्मकमात्मरूपमभ्युपगम्य [3]कालादिभिरन्योन्यविषयानुप्रवेशरहितांशकल्पन विकलादेश, नतु केवलसिहे सिहत्ववत् एकात्मकैकत्वपरिग्रहात्। यथा वा पानकमनेकखण्डदाडिमकर्पूरादिरसानुविद्धमास्वाद्य अनेकरसात्मकत्वमस्यावसाय पुनः स्वशक्तिविशेषादिदमप्यस्तीदमप्यस्तीति विशेषनिरूपण क्रियते, तथा अनेकात्मकैकवस्त्वभ्युपगमपूर्वक हेतुविशेषसामर्थ्यात् अर्पितसाध्यविशेषावधारण विकलादेश। कथ पुनरर्थस्याऽभिन्नस्य गुणो भेदकः ? दृष्टो हि अभिन्नस्याप्यर्थस्य गुणस्तत्त्वभेद[4] कल्पयन् यथा [5]परुत् भवान् पटुरासीत् पटुतर एवम[6] इति [7]गुणविविक्तरूपस्य द्रव्यस्याऽसंभवात् गुणभेदेन गुणिनोऽपि भेद।

तत्रापि तथा सप्तभङ्गी।१७। तत्रापि विकलादेशे तथा आदेशवशेन सप्तभङ्गी वेदितव्या। कथम् ? गुणिभेदकेष्वंशेषु क्रमेण यौगपद्येन क्रमयौगपद्याभ्यां वा विवक्षावशात् विकलादेशा भवन्ति। तत्र प्रथमद्वितीययोरप्रचित' क्रम', तृतीये यौगपद्यम्, चतुर्थे प्रचितः क्रम', पञ्चमे षष्ठे वा अप्रचितक्रमयौगपद्ये, सप्तमे प्रचितक्रमयौगपद्ये। तद्यथा सर्व[8]सामान्यादिषु द्रव्यार्थादेशेषु केनचिदुपलभ्यमानत्वात् स्यादस्त्येवात्मेति प्रथमो विकलादेश। अत्रेतरेषा वस्तुनि सतामपि कालादिभिर्भेदविवक्षात' शब्दवाच्यत्वेनान्तर्भावाभावान्निरासाभावाच्च न विधिर्न प्रतिषेध। एवं शेषभङ्गेष्वपि विवक्षिताशमात्रप्ररूपणाया इतरेष्वौदासीन्येन विकलादेशकल्पना योज्या। ननु च सामान्यार्थाविच्छेदेन विशेषणविशेष्यसबन्धाद्योतनार्थे एवकारे सति तदवधारणादितरेषा निवृत्ति प्राप्नोति ? नैष दोष', अत्राप्यत एव स्याच्छब्दप्रयोग कर्तव्य 'स्यादस्त्येव जीव' इत्यादि। कोऽर्थः ? एवकारेणेतरनिवृत्तिप्रसङ्गे 'स्वात्मलोपात् सकलो लोपो मा विज्ञायीति वस्तुनि यथावस्थितं विवक्षितधर्मस्वरूपं तथैव द्योतयति स्याच्छब्दः। *"विवक्षितार्थवागङ्गम्" [ ] इति[9] वचनात्। एवमा-

---

१ – नाप्रविष्टभा– मु०, द०। २ नरसिंहत्ववत् द०। ३ प्रागुक्त। ४ अर्थभेदम्। ५ गतवर्षे स०। पटुर्भवानपटुरासीत् पटुतर श्र०। पटुर्भवान् परुदासीत् पटुतर मू०। पतत् भवान पटुरासीत् पटुतर मु०, मू० द०। ६ इह संवत्सरे। ७ नैयायिकमतमाशङ्क्य निराकरोति। ८ प्रागुक्तसर्वसामान्येन तदभावेन चेत्यादिवाक्येषु। ९ नास्तित्वस्य। १० स्याच्छब्दः।

देशवशात् सप्तवचनप्रकारा भवन्तीति विकल्पान्तरप्रवृत्तिनिमित्ताभावात् ।

अय च मार्ग· द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयाश्रय ।। तौ च सग्रहाद्यात्मकौ । ते चार्थनयरूपेण शब्दनयरूपेण च प्रवृत्ता: । तत्र सग्रहव्यवहारर्जुसूत्रा अर्थनया: । शेषा· शब्दनया । तत्र संग्रह सत्त्वविषय, सकल वस्तुतत्त्वं [1]सत्त्वे अन्तर्भाव्य सग्रहात् । व्यवहारोऽसत्त्वविषय. विविक्तसत्त्व[2]परिग्रहादन्यापेक्षासत्त्वप्रतिपत्ते· । ऋजुसूत्रो वर्तमानविषय अतीतानागतयो· ५
विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात् । एते त्रयोऽर्थनया एकैकात्मका सयुक्ताश्च सप्त वाक्प्रकारान् जनयन्ति । तत्राद्य सग्रह एक, द्वितीयो व्यवहार एक, तृतीय सग्रहव्यवहारावविभक्तौ, चतुर्थ: संग्रहव्यवहारौ समुच्चितौ, पञ्चम· सग्रह सग्रहव्यवहारौ चाविभक्तौ । षष्ठो व्यवहार सग्रहव्यवहारौ चाविभक्तौ । सप्तम सग्रहव्यवहारौ प्रचितौ तौ चाविभक्तौ । एष[3] ऋजुसूत्रेऽपि योज्य. । १०

[4]व्यञ्जनपर्यायास्तु शब्दनया द्विविध वचन प्रकल्पयन्ति–अभेदेनाभिधान भेदेन च। यथा शब्दे[5] पर्यायशब्दान्तरप्रयोगेऽपि तस्यैवार्थ[6]स्याभिधानादभेद । समभिरुढे वा [7]प्रवृत्तिनिमित्तस्य अप्रवृत्तिनिमित्तस्य च घटस्याभिन्नस्य सामान्येनाभिधानात् । एवभूतेषु प्रवृत्तिनिमित्तस्य [8]भिन्नस्यैकस्यैवार्थस्याभिधानात् भेदेनाभिधानम् ।

अथवा, अन्यथा द्वैविध्यम्–एकस्मिन्नर्थेऽनेकशब्दप्रवृत्ति, प्रत्यर्थं वा शब्दविनिवेश १५
इति । यथा शब्दे अनेकपर्यायशब्द वाच्य एक[9] । समभिरूढे वा नैमित्तिकत्वात् शब्दस्यैकशब्दवाच्य एक । एवभूते वर्तमाननिमित्तशब्द एकवाच्य एक । अत्र [10]चोद्यते कथमेते अस्तित्वनास्तित्वादयो धर्मा: विरुद्धरूपा एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधमुपयान्तीति ? उच्यते—

विरोधाभावस्तल्लक्षणाभावात् ।१८। नास्त्येषामादेशवशादर्प्यमाणाना विरोध. । कुत: ? तल्लक्षणाभावात् । इह विरोध कल्प्यमान. त्रिधा व्यवतिष्ठते–वध्यघातकभावेन वा २०
सहानवस्थात्मना वा प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकरूपेण वा । तत्र वध्यघातकभाव: अहिनकुलाग्न्युदकादिविषय: । स त्वेकस्मिन् काले विद्यमानयो. सति सयोगे भवति, संयोगस्यानेकाश्रयत्वात् द्वित्ववत् । नासंयुक्तमुकदमग्नि विध्यापयति [11]सर्वत्राग्न्यभावप्रसङ्गात् । तत सति सयोगे बलीयसोत्तरकालमितरद्[12]बाध्यते । न चैवमस्तित्वनास्तित्वयो. क्षणमात्रमपि एकस्मिन् वृत्तिरस्ति, इति भवताऽभ्युपगम्यते, यतो[13] वध्यघातकभावरूपो विरोध. तयो. कल्प्येत । [14]अथैक- २५
स्मिन् [15]वृत्तिरभ्युपगम्येत तत्तुल्यबलहेतुसाध्यत्वात् तयोरन्यतरस्य बलीयस्त्वाभावात् वध्यघातकत्वाभाव: । अतस्तल्लक्षणाभावात् नासौ विरोध सभवति ।

---

१ सति अ– मु० द० । २ सत्त्वापरि–मु०, द० । ३ एवं मु० । ४ स्थूलो व्यञ्जनपर्याय: । ५ शब्दनये ५ इन्द्रशक्रपुरन्दरादि । ६ इन्द्रस्य । ७ जलाहरणादिप्रवृत्ति, शचीपतेर्वा इन्दनादिक्रियानिमित्तस्य । ८ यदैव इन्दनक्रियया प्रवृत्तः तदैव शकनादेर्भिन्नः । ९ शचीपतिः । १० बौद्धादिभिः । "तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुनः सभवः क्वचित् । अनित्यं नित्यमथवाऽस्तु एकान्तेन युक्तिमत् ।।" –प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० २३५ । "ध्रौव्येण उत्पादव्ययथोर्विरोधात् एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात् ।" –हेतुबि० टी० लि० वृ० लि० पृ० २१६ । "विधानप्रतिषेधौ हि परस्परविरोधिनौ । शक्यावेकत्र नो कर्तुं केनचित् स्वस्थचेतसा ।। १७३० ।।"–तत्त्वसं० । "नैकस्मिन्नसभवात्– नह्येकस्मिन्– धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत्···–ब्रह्मसू०, शां० भा० २।२।२३। ११ यदि विध्यापयेत्तर्हि परमतमुल्लिख्येदमाह–। १२ कर्मतापन्नम् । १३ कथम् । १४ स्वमतापेक्षया आह । १५ अस्तित्वनास्तित्वयोः ।

नापि सहानवस्थानलक्षणो विरोध तल्लक्षणाभावात्। स ह्ययुगपत्कालयोर्भवति यथा आम्रफले श्यामतापीततयो[1]। पीततोत्पद्यमाना पूर्वकालभाविनी श्यामता निरुणद्धि। न च तथा जीवस्यास्तित्वनास्तित्वे पूर्वोत्तरकालभाविनी। यदि स्याताम्, अस्तित्वकाले नास्तित्वाभावात् जीवसत्तामात्रं सर्वं प्राप्नुवीत। नास्तित्वकाले च अस्तित्वाभावात्तदाश्रयो बन्धमोक्षादिव्यवहारो विरोधमुपगच्छेत्। सर्वथैवासत पुन आत्मलाभाभावात्, सर्वथा च सतः पुनरभावप्राप्त्यनुपपत्ते नैतयो सहानवस्थान युज्यते।

तथा जीवादिषु प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावोऽपि न विरोध सभवति। यथा सति फलवृन्तसयोगे प्रतिबन्धके गौरव पतनकर्म[2] नारभते प्रतिबन्धात्, तदभावे तु पतनकर्म दृश्यते *"संयोगाभावे[3] गुरुत्वात् पतनम्" [वैशे० सू० ५।१।७] इति वचनात्। न च तथा अस्तित्व नास्तित्वस्य प्रयोजन प्रतिबध्नाति तस्मिन्नेव काले परद्रव्यादिरूपेणानुपलब्धिबुद्धयुत्पत्तिदर्शनात्। नास्तित्वं वा [4]सदस्तित्वप्रयोजन प्रतिबध्नाति तदैव[4] स्वरूपाद्यपेक्षयोपलब्धिबुद्धिदर्शनात्। तस्मात् वाङमात्रमेव विरोध। एवमर्पणाभेदादविरुद्धोऽनेकात्मको जीव इति स्थितमेतत्।

इति तत्त्वार्थवार्तिके व्याख्यानालङ्कारे चतुर्थोऽध्याय[5]।

---

१ कर्मतापन्नम्। २ फलवृन्तयोः। ३ विद्यमानं सत्। ४ नास्तित्वकाले। ५ –यः समाप्तः अ०।

तत्त्वार्थवार्तिक

हिन्दी-सार

*

तत्त्वार्थवार्तिक

[हिन्दी सार]

प्रथम अध्याय

सर्वविज्ञानमय, बाह्य-आभ्यन्तर लक्ष्मीके स्वामी और परमवीतराग श्रीमहावीर को प्रणाम करके तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थको कहता हूँ ।

§ १–२ उपयोगस्वरूप तथा श्रेयोमार्गकी प्राप्तिके पात्रभूत आत्मद्रव्यको ही मोक्ष-मार्गके जाननेकी इच्छा होती है । जैसे आरोग्यलाभ करनेवाले चिकित्सा के योग्य रोगीके रहने पर ही चिकित्सामार्गकी खोज की जाती है, उसी तरह आत्मद्रव्यकी प्रसिद्धि होनेपर मोक्षमार्ग-के अन्वेषणका औचित्य सिद्ध होता है ।

§ ३ ससारी आत्माके धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोमे मोक्ष ही अन्तिम और प्रधानभूत पुरुषार्थ है अत उसकी प्राप्तिके लिए मोक्षमार्गका उपदेश करना ही चाहिए ।

§ ४–८ **प्रश्न**–जब मोक्ष अन्तिम, अनुपम, श्रेष्ठ और प्रधान पुरुषार्थ है तब उसीका उपदेश करना चाहिए न कि उसके मार्गका ? **उत्तर**–मोक्षार्थी भव्यने मार्ग ही पूछा है अत प्रश्नानुरूप मार्गका ही उपदेश किया गया है । मोक्षके सम्बन्धमे प्राय सभी वादियोका एक मत है, सभी दु खनिवृत्तिको मोक्ष मानते है, पर उसके मार्गमे विवाद है । जैसे विभिन्न दिशाओसे पटना जानेवाले यात्रियोको पटना नगरमे विवाद नही होता किन्तु अपनी अपनी दिशा के अनुकूल मार्गमे विवाद होता है उसी तरह सर्वोच्च लक्ष्य भूत मोक्षमे वादियोको विवाद नही है किन्तु उसके मार्गमे विवाद है । कोई वादी ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष मानते है तो कोई ज्ञान और विषयविरक्ति रूप वैराग्य से तथा कोई क्रियासे ही मोक्ष मानते है । क्रियावादियोका कथन है कि नित्यकर्म करनेसे ही निर्वाण प्राप्त हो जाता है । फिर, प्रश्नकर्त्ताको यह बन्धन भी तो नही लगाया जा सकता कि–'आप मार्ग न पूछे, मोक्षको पूछे', लोगोकी रुचि विभिन्न प्रकार-की होती है । यद्यपि मोक्षके स्वरूपमे भी वादियोकी अनेक कल्पनाएँ है, यथा–बौद्ध रूप वेदना सज्ञा सस्कार और विज्ञान इन पाच स्कन्धोके निरोधको मोक्ष कहते है, साख्य प्रकृति और पुरुष मे भेद विज्ञान होनेपर शुद्ध चैतन्य मात्र स्वरूपमे प्रतिष्ठित होनेको मोक्ष मानते है, नैयायिक बुद्धि सुख-दु ख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और सस्कार इन आत्माके विशेष गुणोके उच्छेद को मोक्ष कहते है, फिर भी सभी वादी 'कर्मबन्धनका विनाश कर स्वरूपप्राप्ति' इस मोक्ष-सामान्यमे एकमत है । सभी वादियोको यह स्वीकार है कि मोक्ष अवस्थामे कर्मबन्धनका समूल उच्छेद हो जाता है ।

§ ९–१३ **प्रश्न**–मोक्ष जब प्रत्यक्षसे दिखाई नही देता तब उसके मार्गका ढूँढना व्यर्थ है ? **उत्तर**–यद्यपि मोक्ष प्रत्यक्षसिद्ध नही है फिर भी उसका अनुमान किया जा सकता है । जैसे घटीयन्त्र (रेहट) का घूमना उसके धुरेके घूमनेसे होता है और धुरेका घूमना उसमे जुते हुए बैलके घूमनेपर । यदि बैलका घूमना बन्द हो जाय तो धुरेका घूमना रुक जाता है और धुरेके रुक जानेपर घटीयन्त्रका घूमना बन्द हो जाता है उसी तरह कर्मोदयरूपी बैलके चलनेपर ही चार गति रूपी धुरेका चक्र चलता है और चतुर्गतिरूपी

धुरा ही अनेक प्रकारकी शारीरिक मानसिक आदि वेदनाओरूपी घटीयन्त्रको घुमाता रहता है। कर्मोदयकी निवृत्ति होनेपर चतुर्गतिका चक्र रुक जाता है और उसके रुकनेसे ससार-रूपी घटीयन्त्रका परिचलन समाप्त हो जाता है, इसीका नाम मोक्ष है। इस तरह साधारण अनुमानसे मोक्षकी सिद्धि हो जाती है। समस्त शिष्टवादी अप्रत्यक्ष होनेपर भी मोक्षका सद्भाव स्वीकार करते है और उसके मार्गका अन्वेषण करते है। जिस प्रकार भावी सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण आदि प्रत्यक्षसिद्ध नही है फिर भी आगमसे उनका यथार्थबोध कर लिया जाता है उसी प्रकार मोक्ष भी आगमसे सिद्ध हो जाता है। यदि प्रत्यक्ष सिद्ध न होनेके कारण मोक्षका निषेध किया जाता है तो सभीको स्वसिद्धान्तविरोध होगा, क्योकि सभी वादी कोई न कोई अप्रत्यक्ष पदार्थ मानते ही है।

§ १८–१६ **प्रश्न**–बन्धके कारणोको पहिले बताना चाहिए था तभी मोक्षके कारणोका वर्णन सुसगत हो सकता है? **उत्तर**–आगे आठवे अध्यायमे मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योगको बन्धका कारण बताया है। यद्यपि बन्धपूर्वक मोक्ष होता है अत पहिले बन्धकारणोका निर्देश करना उचित था फिर भी मोक्षमार्गका निर्देश आश्वासन के लिए किया है। जैसे जेलमे पडा हुआ व्यक्ति बन्धनके कारणोको सुनकर डर जाता है और हताश हो जाता है पर यदि उसे मुक्तिका उपाय बताया जाता है तो उसे आश्वासन मिलता है और वह आशान्वित हो बन्धनमुक्तिका प्रयास करता है उसी तरह अनादि कर्मबन्धनबद्ध प्राणी प्रथम ही बन्धके कारणोको सुनकर डर न जाय और मोक्षके कारणोको सुनकर आश्वासनको प्राप्त हो इस उद्देश्यसे मोक्षमार्गका निर्देश सर्वप्रथम किया है।

§ १७ अथवा, अन्यवादियोके द्वारा कहे गए ज्ञानमात्र और ज्ञान तथा चारित्र इन एक और दो मोक्षकारणोका निषेध करनेके लिए जनसम्मत सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोको ही मोक्षमार्ग बताया गया है एक या दो को नही।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोका सुमेल रूप रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है।

कोई व्याख्याकार कहते है कि–मोक्षके कारणके निर्देश द्वारा शास्त्रानुपूर्वी रचनेके लिए तथा शिष्यकी शक्तिके अनुसार सिद्धान्तप्रक्रिया बतानेके लिए इस सूत्रकी रचना हुई है। परन्तु यहा कोई शिष्याचार्य सम्बन्ध विवक्षित नही है किन्तु ससार-सागरमे डूबते हुए अनेक प्राणियोके उद्धारकी पुण्य भावनासे मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाले इस सूत्रकी रचना की गई है।

§ १ दर्शनमोह कर्मके उपशम क्षय या क्षयोपशम रूप अन्तरङ्ग कारणसे होनेवाले तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है। इस अन्तरङ्ग कारणकी पूर्णता कही निसर्गसे होती है और कही अधिगम अर्थात् परोपदेशसे होती है। इसी कारणसे सम्यग्दर्शन भी निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है।

§ २ प्रमाण और नयोके द्वारा जीवादितत्त्वोका सशय विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

§ ३ ससारके कारणभूत रागद्वेषादिकी निवृत्तिके लिए कृतसकल्प विवेकी पुरुष का शरीर और वचनकी बाह्य क्रियाओसे और आभ्यन्तर मानस क्रियासे विरक्त होकर स्वस्वरूपस्थिति प्राप्त करना सम्यक् चारित्र है। पूर्ण यथाख्यात चारित्र वीतरागी-ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थानमे तथा जीवन्मुक्त केवलीके होता है। उससे नीचे विविध प्रकारका तरतम चारित्र श्रावक और दसवे गुणस्थान तकके साधुओको होता है।

§ ४ ज्ञान और दर्शन शब्द करणसाधन है अर्थात् आत्माकी उस शक्तिका नाम ज्ञान है जिससे पदार्थ जाने जाते है और उस शक्तिका नाम दर्शन है जिससे तत्त्वश्रद्धान होता है। चारित्र शब्द कर्मसाधन है अर्थात् जो आचरण किया जाता है वह चारित्र है।

§ ५-६ **प्रश्न**–यदि जिसके द्वारा जाना जाय उस करणको ज्ञान कहते है तो जैसे 'कुल्हाडीसे लकड़ी काटते है' यहा कुल्हाडी और काटनेवाला दो जुदा पदार्थ है उसी तरह कर्त्ता आत्मा और करण-ज्ञान इन दोनोको दो जुदा पदार्थ होना चाहिए ? **उत्तर**–नही, जैसे 'अग्नि उष्णतासे पदार्थको जलाती है' यहाँ अग्नि और उष्णता दो जुदा पदार्थ नही है फिर भी कर्त्ता और करणरूपसे भेदप्रयोग हो जाता है उसी तरह आत्मा और ज्ञानमे भी जुदापन न होनेपर भी कर्त्ता-करणरूपसे भेदव्यवहार हो जायगा। एवम्भूतनयकी दृष्टिसे ज्ञानक्रिया मे परिणत आत्मा ही ज्ञान है और दर्शनक्रियामे परिणत आत्मा दर्शन जैसे कि उष्णपर्यायमे परिणत आत्मा अग्नि है। यदि अग्निको उष्णस्वभाव नही माना जाय तो अग्निका स्वरूप ही क्या रह जाता है जिससे उसे अग्नि कहा जा सकेगा ? उसी तरह यदि आत्माको ज्ञान-दर्शनस्वरूप न माना जाय तो आत्माका भी क्या स्वरूप बचेगा जिससे उस ज्ञानदर्शनादिशून्य पदार्थको आत्मा कह सके ? अत अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे आत्मा और ज्ञानमे कोई भेद नही है।

§ ७-८ **प्रश्न**–जिस प्रकार नीले रगके सम्बन्धसे साडी या कम्बल आदिमे 'नीला' यह प्रत्यय हो जाता है उसी तरह भिन्न ज्ञानगुणके सम्बन्धसे आत्मा ज्ञानवाला तथा भिन्न उष्णताके सम्बन्धसे अग्नि उष्ण बन जायगी ? **उत्तर**–नही, जैसे पुरुषसे सयुक्त होनेके पहिले डडा एक स्वतन्त्र सिद्ध पदार्थ है और पुरुष भी दण्डसम्बन्धके पहिले अपने लक्षणोसे स्वतन्त्रसिद्ध पदार्थ है उसी तरह क्या उष्णसम्बन्धके पहिले अग्नि स्वत सिद्ध पदार्थ है ? क्या ज्ञानके सम्बन्धके पहिले आत्मा स्वत सिद्ध पदार्थ है ? दण्ड और पुरुषका तथा नीलरग और साड़ीका सम्बन्ध तो उचित है क्योकि ये सब पृथक् सिद्ध पदार्थ है। परन्तु ज्ञानादिके सम्बन्ध-से पहिले ज्ञानादिशून्य आत्मा और उष्णगुणके सम्बन्धके पहिले अनुष्ण अग्नि सिद्ध ही नही है। इसी तरह निराश्रय ज्ञान और उष्ण भी स्वत. सिद्ध पदार्थ नही है अत इन्हे भिन्न मानकर इनके सम्बन्धकी कल्पना उचित नही है।

§ ९ उष्णगुणके सम्बन्धसे पहिले अग्निमे 'उष्ण' यह ज्ञान होता है या नही ? यदि होता है, तो उष्णगुणके सम्बन्धकी आवश्यकता ही क्या है ? यदि नही, तो अनुष्णपदार्थ में उष्णगुणके सम्बन्धसे उष्ण व्यवहार हो ही नही सकता अन्यथा घटादिमे भी उष्ण व्यवहार होना चाहिए। यदि अग्नि उष्णगुणके सम्बन्धसे उष्ण है तो उष्णगुण किसके सम्बन्धसे उष्ण होगा ? यदि उष्णगुणमे उष्णता लानेके लिए अन्य उष्णत्वका सम्बन्ध माना जाता है तो उस उष्णत्वमे उष्णता लानेके लिए अन्य उष्णत्व मानना होगा, उसमे भी उष्णता लानेके लिए तदन्य उष्णत्व इस तरह अनवस्था नामका दूषण होता है। यदि उष्णगुणमे स्वत ही उष्णता है तो अग्निको ही स्वतः उष्ण माननेमे क्या आपत्ति है ? फिर भिन्न पदार्थके सम्बन्ध

से भी प्रतीत होती है यह प्रतिज्ञा भी नही रही। इसी तरह आत्मा और ज्ञानमे भी समझ लेना चाहिए। अत आत्माको स्वत ज्ञानस्वरूप मानना चाहिए अन्यथा अनवस्था और प्रतिज्ञा-हानि दूषण आते है।

§ १० जिस प्रकार दण्डका सम्बन्ध होनेपर भी पुरुष स्वय दण्ड नही बन जाता किन्तु दण्डवान् या दण्डी इस व्यवहारको ही प्राप्त होता है उसी तरह उष्णत्व नामके विशिष्ट सामान्यके सम्बन्ध होनेपर भी उष्णगुण 'उष्णत्ववान्' तो बन सकता है स्वत उष्ण नही। इसी तरह अग्नि भी उष्णवान् बन सकती है स्वत उष्ण नही, क्योकि द्रव्य गुण और सामान्य पदार्थ वैशेषिकोके मतसे पृथक् स्वतन्त्र है।

§ ११ **प्रश्न**–वैशेषिक समवाय नामका सम्बन्ध मानते है, इससे अपृथक् सिद्ध पदार्थोमे 'इह इदम्' यह प्रत्यय होता है और इसीसे गुण-गुणीमे अभेदकी तरह भान होने लगता है। इस समवाय सम्बन्धके कारण उष्णत्वसमवायसे उष्णगुण उष्ण बन जायगा और उष्णगुणके समवायसे अग्नि उष्ण हो जायगी ? **उत्तर**–नही, स्वतन्त्र पदार्थोमे समवायका कोई नियम नही बन सकता। जब अग्नि और उष्ण भिन्न है तब क्या कारण है कि उष्णका समवाय अग्निमे ही होता है जलमे नही ? उष्णत्वका समवाय उष्णमे ही होता है शीतमे नही ? अत· उष्णता को अग्निद्रव्यका ही परिणमन मानना चाहिए, पृथक् पदार्थ नही।

§ १२–१३ समवाय नामका स्वतन्त्र पदार्थ भी सिद्ध नही होता। जिस प्रकार गुणकी गुणीमे समवाय सम्बन्धसे वृत्ति मानी जाती है उसी तरह समवायकी गुण और गुणीमे किस सम्बन्धसे वृत्ति होगी ? समवायान्तरसे तो नही, क्योकि समवाय पदार्थ एक ही स्वीकार किया गया है। सयोगसे भी नही, क्योकि दो पृथक् सिद्ध द्रव्योमे ही सयोग होता है। सयोग और समवायसे भिन्न तीसरा कोई सम्बन्ध है भी नही। अत. अपने समवायियोसे असम्बद्ध होनेके कारण समवाय नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध नही होता। यदि कहा जाय कि–चूंकि समवाय 'सम्बन्ध' है अत उसे स्वसम्बन्धियोमे रहनेके लिए अन्य सम्बन्धकी आवश्यकता नही है, सो भी ठीक नही है, क्योकि सयोगसे व्यभिचारदूषण आता है। सयोग भी 'सम्बन्ध' है पर उसे स्वसम्बन्धियोमे समवायसे रहना पडता है।

§ १४ 'जिस प्रकार दीपक स्वप्रकाशी और परप्रकाशी दोनो है उसी प्रकार समवाय भी अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा किए बिना स्वत ही द्रव्यादिकी परस्पर वृत्ति करा देगा तथा स्वय भी उनमे रह जायगा।' यह तर्क उचित नही है, क्योकि ऐसा माननेसे समवायको द्रव्यादिकी पर्याय ही माननी पडेगी। जैसे दीपक प्रकाशस्वरूपसे अभिन्न है अत स्वप्रकाशमे उसे प्रकाशान्तरकी आवश्यकता नही होती उसी तरह न केवल समवायको ही किन्तु गुण कर्म सामान्य और विशेषको भी द्रव्यकी ही पर्यायविशेष मानना होगा। द्रव्य ही बाह्य-आभ्यन्तर कारणोसे गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय आदि पर्यायोको प्राप्त हो जाता है। दीपकका दृष्टान्त भी उचित नही है क्योकि जैसे दीपक घटादि प्रकाश्य पदार्थोसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है उस तरह समवायकी द्रव्यादिसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही है। यदि गुणादि द्रव्यसे भिन्न हो, तो द्रव्यमे अद्रव्यत्वका प्रसंग तो होगा ही, साथ ही साथ निराश्रय होनेसे गुणादिका भी अभाव हो जायगा। अत. गुणादिको द्रव्यका ही पर्यायविशेष मानना युक्तिसगत है।

§ १५–१६ जब ज्ञान क्षणिक तथा एकार्थग्राही है तब ऐसे ज्ञानसे यह विवेक ही नही हो सकता कि युतसिद्धो–पृथक्सिद्धोका संयोग होता है तथा अयुतसिद्धोका समवाय।

सस्कार भी अनुभवके अनुसार ही होता है, अत एकार्थग्राही ज्ञानसे पडा हुआ सस्कार भी एकार्थग्राही ही फलित होता है इसलिये सस्कारसे भी उक्त विवेक नही हो सकेगा ।

अथवा, ज्ञान आत्माका स्वभाव होकर भी जब कथञ्चित् भिन्न विवक्षित हो जाता है तब एक ही आत्मा कर्त्ता और करण भी बन जाता है ।

§ १७–१८ पर्याय और पर्यायीके भेद और अभेदको अनेकान्तदृष्टिसे देखना चाहिए । यथा, घट कपाल सकोरा आदि पर्यायोमे मृद्रूप द्रव्यकी दृष्टिसे कथञ्चित् एकत्व है तथा उन घट आदि पर्यायोकी दृष्टिसे विभिन्नता है उसी तरह आत्मा और ज्ञानादि गुणोमे द्रव्यदृष्टिसे एकता है तथा गुण और गुणीकी दृष्टिसे विभिन्नता है । आत्मा ही बाह्य और आभ्यन्तर कारणोसे ज्ञानादि पर्यायोको प्राप्त होता है और ज्ञान दर्शन आदि व्यवहारोका विषय बन जाता है । वस्तुत आत्मा और ज्ञानादि भिन्न नही है । यदि यह ऐकान्तिक नियम बनाया जाय कि कर्त्ता और करणको भिन्न ही होना चाहिए तो 'वृक्ष शाखाओके भारसे टूट रहा है' यहा वृक्ष और शाखाभारमे भी भेद मानना होगा । पर ऐसा है नही, क्योकि शाखाभारको छोडकर वृक्षकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है । इसी तरह आत्माको छोडकर ज्ञानका और ज्ञानादिको छोडकर आत्माका पृथक् अस्तित्व नही है ।

§ १९–२१ जैसे द्रव्य मूर्त भी होते है तथा अमूर्त भी उसी तरह करण दो प्रकार का होता है–एक विभक्तकर्त्तृक–जिनका कर्त्ता जुदा और करण जुदा होता है और दूसरा अविभक्तकर्त्तृक । 'कुल्हाड़ीसे लकडी काटी जाती है' यहा कुल्हाडी विभक्तकर्त्तृक करण है तथा 'वृक्ष शाखाओके भारसे टूटता है' यहा शाखाभार अविभक्तकर्त्तृक करण है । इसी तरह 'अग्नि उष्णतासे जलाती है' 'आत्मा ज्ञानसे जानता है' यहा उष्णता और ज्ञान अविभक्त-कर्त्तृक करण है क्योकि उष्णताकी अग्निसे तथा ज्ञानकी आत्मासे पृथक् सत्ता ही नही है । जैसे 'कुशूल टूट रहा है' यहा जब कुशूल स्वय ही नष्ट हो रहा है तो स्वय ही कर्त्ता और स्वय ही करण बन जाता है उसी तरह आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञान होकर कर्त्ता और करण रूप बन जाता है । एक ही अर्थकी अनेक पर्याए होती है । जैसे एक ही देवराज इन्द्र शक्र और पुरन्दर आदि पर्यायोको धारण करता है । इन्दन क्रियाके समय इन्द्र, शासन क्रियाके समय शक्र तथा पूर्दारण क्रियाके समय पुरन्दर कहा जाता है । देवराजसे उक्त तीनो अवस्थाएँ सर्वथा भिन्न नही है क्योकि एक ही देवराज उन तीन अवस्थारूप होता है । वे देवराजसे अभिन्न है, इसलिए वह जिस रूपसे इन्द्र है उसी रूपसे शक्र, और पुरन्दर भी नही कहा जा सकता क्योकि इन्द्रादि अवस्थाएं जुदी जुदी है, उसी तरह एक ही आत्माका ज्ञान दर्शन आदि अवस्थाओसे कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है । अत ज्ञानादिकको आत्मासे सर्वथा भिन्न नही कहा जा सकता ।

§ २२–२३ अथवा, ज्ञान दर्शन आदि शब्दोको कर्तृसाधन मानना चाहिए–– 'जानाति इति ज्ञानम्' अर्थात् जो जाने सो ज्ञान, 'पश्यतीति दर्शनम्' अर्थात् जो तत्त्वश्रद्धा करे वह दर्शन, 'चरतीति चारित्रम्'–अर्थात् जो आचरण करे वह चारित्र । तात्पर्य यह कि ज्ञानादि-पर्यायोसे परिणत आत्मा ही ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप होता है, इसलिए कर्त्ता और करणकी भिन्नताका सिद्धान्त मानकर आत्मा और ज्ञानमे भेद करना उचित नही है । व्याकरण शास्त्रसे भी ज्ञान दर्शन चारित्र आदि शब्दोमे होनेवाले युट् और णित्र प्रत्यय कर्त्ता आदि सभी साधनोमे होते है अत. कोई शाब्दिक विरोध भी नही है ।

§ २४ अथवा, ज्ञान दर्शनादि शब्दोको भावसाधन कहना चाहिए–'ज्ञातिर्ज्ञानम्' अर्थात् जाननेरूप क्रिया, 'दृष्टिदर्शनम्' अर्थात् तत्त्वश्रद्धान, चरण चारित्रम् अर्थात् आचरण। उदासीनरूपसे स्थित ज्ञान दर्शनादि क्रियाएँ ही मोक्षमार्ग है। क्रियामे व्यापृत ज्ञानादिमे तो यथासभव कर्तृसाधन करणसाधन आदि व्यवहार होगे।

§ २५ **प्रश्न**–यदि ज्ञानको ही आत्मा कहा जाता है तो ज्ञानशब्दको आत्मा शब्दकी तरह पुल्लिग और एकवचन होना चाहिए ? **उत्तर**–नही, एक ही अर्थमे व्यक्ति-भेदसे लिगभेद और वचनभेद हो जाता है। जैसे कि–'गेह कुटी मठ' यहा एक ही घर रूप अर्थमे विभिन्न लिङ्गवाले शब्दोका प्रयोग है। 'पुष्य तारका नक्षत्रम्' यहा एक ही तारारूप अर्थ मे विभिन्नलिङ्गक और विभिन्न वचनवाले शब्दोका प्रयोग है।

§ २६–२९ **प्रश्न**–सूत्रमे ज्ञान शब्दका ग्रहण पहिले करना चाहिए क्योकि ज्ञानशब्द दर्शन शब्दसे थोडे अक्षरोवाला है और ज्ञानपूर्वक ही दर्शन होता है अत पूर्ववर्ती भी है ? **उत्तर**–नही, जैसे मेघपटलके हटते ही सूर्यका प्रकाश और प्रताप एक साथ ही फैलता है उसी तरह दर्शनमोहका उपशम क्षय या क्षयोपशम होते ही आत्मामे ज्ञान और दर्शनकी युगपत् वृत्ति होती है। तात्पर्य यह कि जिस समय आत्मामे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसी समय उसके मत्यज्ञान श्रुताज्ञान आदि मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि रूपसे सम्यग्ज्ञान बन जाते है अत दोनोमे पौर्वापर्य नही है। थोडे अक्षर होनेके कारण ही पूर्वग्रहण नही होता, जो पूज्य होता है उसका अधिकाक्षर होनेपर भी पूर्वग्रहण करना न्याय्य है। दर्शन ही ज्ञानमे सम्यक्त्व लानेके कारण पूज्य है, अत उसका ही प्रथम ग्रहण करना न्याय्य है।

§ ३० सूत्रमे दर्शन और चारित्रके बीचमे ज्ञानका ग्रहण किया गया है, क्योकि चारित्र ज्ञानपूर्वक ही होता है।

§ ३१–३३ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' यहाँ सर्वपदार्थप्रधान द्वन्द्व समास है। इसका यह तात्पर्य है कि मोक्षमार्गके प्रति तीनोकी प्रधानता है किसी एककी नही। इसीलिए बहुवचनका प्रयोग है। 'द्वन्द्व समासके साथ कोई भी विशेषण चाहे वह आदिमे प्रयुक्त हो या अन्तमे सबके साथ जुट जाता है' यह नियम है अत सम्यक् विशेषणका दर्शनादिके साथ अन्वय हो जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जैसे कि 'देवदत्त जिन-दत्त यज्ञदत्तको भोजन कराओ' यहाँ भोजन क्रियाका तीनोमे अन्वय हो जाता है।

§ ३४ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' इस बहुवचन पदके साथ समानाधिकरण होनेसे मार्ग शब्दमे बहुवचन और नपुसक लिग नही हो सकता, क्योकि मार्गस्वभावता तीनोमे समान रूपसे होनेके कारण उस मार्गस्वभावताकी प्रधानतापर दृष्टि रखनेसे उसमे पुल्लिगता और एकवचनत्व रखनेमे कोई विरोध नही है।

§ ३५ समस्त कर्मोके आत्यन्तिक उच्छेदको मोक्ष कहते है। मोक्ष शब्द 'मोक्षण मोक्ष' इस प्रकार क्रियाप्रधान भावसाधन है, 'मोक्ष् असने' धातुसे बना है।

§ ३६–३७ मार्गशब्द प्रसिद्ध मार्गकी तरह है। जैसे कांटे आदिसे रहित राज-मार्गसे यात्री अपने गन्तव्य स्थानको सुखपूर्वक पहुँच जाता है उसी तरह मिथ्यादर्शनादि कटको से रहित सम्यग्दर्शनादि मार्गसे मोक्षनगर तक सुखपूर्वक पहुंचा जा सकता है। मार्ग धातु अन्वेषण अर्थमे है अर्थात् मोक्ष जिसके द्वारा ढूंढ़ा जाय उन सम्यग्दर्शनादिको मार्ग कहते है।

§ ३८ जिस प्रकार वातादिके विकारसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंके निदानको नष्ट करनेके कारण औषधि आरोग्यका मार्ग कहलाती है उसी तरह ससार रोगरूप मिथ्यादर्शनादि के कारणोंको नष्ट करनेके कारण सम्यग्दर्शनादि मोक्षके मार्ग कहे जाते है ।

§ ३९–४६ **शंका**–मिथ्याज्ञानसे ही सभी वादियोने बन्ध माना है अत मोक्ष भी केवल सम्यग्ज्ञानसे ही होना चाहिए अत सम्यग्दर्शनादि तीन मोक्षके मार्ग नही हो सकते। यथा–

साख्य (४०–४१) धर्मसे ब्राह्म सौम्य आदि उच्च योनियोमे जन्म लेना पडता है तथा अधर्मसे मानुष पशु आदि नीच योनियोमे। प्रकृति और पुरुषमे विवेक ज्ञान होनेसे मोक्ष होता है तथा प्रकृति और पुरुष विषयक विपर्यय ज्ञानसे बन्ध । जबतक पुरुषको महान् बुद्धि, अहकार, पाच तन्मात्राए–स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द, अहकारजन्य पाच इन्द्रिया–पाचभौतिक शरीर आदि अनात्मीय पदार्थोमे 'मै सुनता हू, मै देखता हू' आदि मिथ्या ज्ञान होता है, वह शरीरको ही आत्मा मानता है तब तक इसको विपर्ययज्ञानके कारण बन्ध होता है और वह ससारी है पर जब इसे प्रकृति और पुरुषमे भेदविज्ञान हो जाता है, वह पुरुषके सिवाय यावत् पदार्थोको प्रकृतिकृत और त्रिगुणात्मक मानकर उनसे विरक्त होकर 'इनमे मै नही हू, मेरे ये नही है' यह परम विवेकज्ञान जाग्रत होता है तब सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष हो जाता है। तात्पर्य यह कि साख्य विपर्ययसे बन्ध और ज्ञानसे मोक्ष मानता है ।

वैशेषिक–इच्छा और द्वेषसे धर्म और अधर्मकी प्रवृत्ति होती है उनसे सुख और दु ख रूप ससार । जिस पुरुषको तत्त्वज्ञान हो जाता है उसे इच्छा और द्वेष नही होते, इनके न होनेसे धर्म-अधर्म नही होते, धर्म और अधर्मके न होनेसे नए शरीर और मनका सयोग नही होता, जन्म नही होता और सचित कर्मो का निरोध हो जानेसे मोक्ष हो जाता है । जैसे प्रदीप के बुझ जानेसे प्रकाशका अभाव हो जाता है उसी तरह धर्म और अधर्म रूप बन्धनके हट जानेपर जन्म-मरण-चक्ररूप ससारका अभाव हो जाता है । अत षट्पदार्थका तत्त्वज्ञान होते ही अनागत धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति नही होगी और सचित धर्माधर्मका उपभोग और ज्ञानाग्निसे विनाश होकर मोक्ष हो जाता है। अत वैशेषिकके मतसे भी विपर्यय बन्धका कारण है और तत्त्वज्ञान मोक्षका ।

नैयायिक–तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर क्रमश दोष प्रवृत्ति जन्म और दु खकी निवृत्ति होनेको मोक्ष कहते है । दु ख जन्म प्रवृत्ति दोष और मिथ्याज्ञानका कारण-कार्यभाव है अर्थात् मिथ्याज्ञानका कार्य दोष, दोषका कार्य प्रवृत्ति, प्रवृत्तिका कार्य जन्म और जन्मका कार्य दु ख है। अत कारणकी निवृत्ति होनेपर कार्यकी निवृत्ति होना स्वाभाविक ही है । आत्यन्तिक दु खनिवृत्तिको ही मोक्ष कहते है ।

बौद्ध–अविद्यासे बन्ध तथा विद्यासे मोक्ष मानते है । अनित्य अनात्मक अशुचि और दु खरूप सभी पदार्थोको नित्य सात्मक शुचि और सुखरूप मानना अविद्या है । इस अविद्यासे रागादिक सस्कार उत्पन्न होते है । सस्कार तीन प्रकारके है–१ पुण्योपग (शुभ), २ अपुण्योपग (अशुभ), ३ आनेज्योपग (अनुभयरूप) । वस्तुकी प्रतिविज्ञप्तिको विज्ञान कहते है । इन सस्कारोके कारण वस्तुमे इष्ट अनिष्ट प्रतिविज्ञप्ति होती है, इसीलिए सस्कार विज्ञानमे प्रत्यय अर्थात् कारण माना जाता है । इस विज्ञानसे नाम अर्थात् चार अरूपी स्कन्ध–वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान, तथा रूप अर्थात् रूपस्कध–पृथिवी जल अग्नि और वायु उत्पन्न होता

है । इस पचस्कन्धको नामरूप कहते है । विज्ञानसे ही नाम और रूपको नामरूप संज्ञाए मिलती है अत. इन्हे विज्ञानसम्भूत कहा गया है । इस नामरूपसे ही चक्षु आदि पाच इन्द्रिया और मन ये षडायतन होते है । अत षडायतनको नामरूपप्रत्यय कहा है । विषय इन्द्रिय और विज्ञानके सन्निपातको स्पर्श कहते है । छह आयतन द्वारो का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञानतन्तुओको जाग्रत करना स्पर्श है । स्पर्शके अनुसार वेदना अर्थात् अनुभव होता है । वेदनाके बाद उसमे होनेवाली आसक्ति तृष्णा कहलाती है । उन उन अनुभवोमे रस लेना, उनका अभिनन्दन करना, उनमे लीन रहना तृष्णा है । तृष्णाकी वृद्धिसे उपादान होता है । यह इच्छा होती है कि मेरी यह प्रिया मेरे साथ सदा बनी रहे, मुझमे सानुराग रहे और इसीलिए तृष्णातुर व्यक्ति उपादान करता है । इस उपादानसे ही पुनर्भव अर्थात् परलोकको उत्पन्न करनेवाला कर्म होता है । इसे भव कहते है । यह कर्म मन, वचन और काय इन तीनोसे उत्पन्न होता है । इससे परलोकमे नए शरीर आदिका उत्पन्न होना जाति है । शरीर स्कन्ध का पक जाना जरा है और उस स्कन्धका विनाश मरण कहलाता है । इसीलिए जरा और मरणको जातिप्रत्यय बताया है । इस तरह यह द्वादशागवाला चक्र परस्परहेतुक है । इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते है । प्रतीत्य अर्थात् एकको निमित्त बनाकर अन्यका समुत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना । इसके कारण यह भवचक्र बराबर चलता रहता है । जब सब पदार्थोमे अनित्य निरात्मक अशुचि और दु ख रूप तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है, फिर अविद्याके विनाशसे क्रमश सस्कार आदि नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है । इस तरह बौद्धमतमे भी अविद्यासे बन्ध और विद्यासे मोक्ष माना गया है । जैनसिद्धान्तमे भी मिथ्यादर्शन अविरति आदिको बन्धहेतु बताया है । पदार्थोमे विपरीत अभिप्रायका होना ही मिथ्यादर्शन है और यह मिथ्यादर्शन अज्ञानसे होता है अत अज्ञान ही बन्धहेतु फलित होता है । 'सामायिक मात्रसे अनन्त जीव सिद्ध हुए है' इस आर्ष वचनमे ज्ञानरूप सामायिकसे स्पष्टतया सिद्धिका वर्णन है । अत जब अज्ञानसे बध और ज्ञानसे मोक्ष यह सभी वादियोको निर्विवाद रूपसे स्वीकृत है तब सम्यग्दर्शनादि तीनको मोक्षका मार्ग मानना उपयुक्त नही है ।

एक बार एक लडकेको हाथीने मार डाला। एक वणिक्ने समझा कि मेरा लडका मर गया है और वह पुत्र शोकमे बेहोश हो गया । जब कुशल मित्रोने होशमे लाकर उस वणिक् को उसका जीवित पुत्र दिखाया तब उसे यह ज्ञान हुआ कि मेरा पुत्र जीवित है, मेरे पुत्रके समान कोई रूपवाला दूसरा ही लडका मरा है तो वह स्वस्थ हो गया । इस लौकिक दृष्टान्त से भी यह सिद्ध होता है कि अज्ञानसे दु ख अर्थात् बन्ध और ज्ञानसे सुख अर्थात् मोक्ष होता है ।

§ ४७ समाधान—यह शका ठीक नही है, क्योकि मोक्षकी प्राप्तिका सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोसे अविनाभाव है, वह इनके बिना नही हो सकती । जैसे मात्र रसायनके श्रद्धान ज्ञान या आचरण मात्रसे रसायनका फल-आरोग्य नही मिलता । पूर्णफलकी प्राप्तिके लिए रसायनका विश्वास ज्ञान और उसका सेवन आवश्यक ही है उसी तरह ससार व्याधिकी निवृत्ति भी तत्त्वश्रद्धान ज्ञान और चारित्रसे ही हो सकती है । अत तीनोंको ही मोक्षमार्ग मानना उचित है । 'अनन्ता सामायिकसिद्धा.' वचन भी तीनोके मोक्षमार्गका समर्थन करता है । ज्ञानरूप आत्माके तत्त्वश्रद्धानपूर्वक ही सामायिक-समताभाव रूप चारित्र हो सकता है । सामायिक अर्थात् समस्त पापयोगोसे निवृत्त होकर अभेद समता और वीतरागतामें प्रतिष्ठित होना । कहा भी है—क्रियाहीन ज्ञान नष्ट है और अज्ञा-

नियोंकी क्रिया निष्फल है। दावानलसे व्याप्त वनमे जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति इधर-उधर भागकर भी जल जाता है उसी तरह लँगडा देखता हुआ भी जल जाता है। एक चक्स रथ नही चलता। अत. ज्ञान और क्रियाका सयोग ही कार्यकारी है। यदि अन्धा और लँगडा दोनो मिल जायँ और अन्धेके कन्धेपर लगडा बैठ जाय तो दोनो हीका उद्धार हो जाय। लँगडा रास्ता बताकर ज्ञानका कार्य करे और अन्धा पैरो चलकर चारित्रका कार्य करे तो दोनो ही नगरमे आ सकते है।

§ ४८–५१ यदि ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष माना जाय तो पूर्णज्ञानकी प्राप्तिके द्वितीय क्षणमे ही मोक्ष हो जायगा। एक क्षण भी पूर्णज्ञानके बाद ससारमे ठहरना नही हो सकेगा, उपदेश, तीर्थप्रवृत्ति आदि कुछ भी नही हो सकेगे। यह सभव ही नही है कि दीपक भी जल जाय और अँधेरा भी रह जाय। उसी तरह यदि ज्ञानमात्रसे मोक्ष हो तो यह सभव ही नही हो सकता कि ज्ञान भी हो जाय और मोक्ष न हो। यदि पूर्णज्ञान होनेपर भी कुछ सस्कार ऐसे रह जाते है जिनका नाश हुए बिना मुक्ति नही होती और जब तक उन सस्कारोका क्षय नही होता तब तक उपदेश आदि हो सकते है, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सस्कारक्षयसे मुक्ति होगी ज्ञानमात्र से नही। फिर यह बताइये कि सस्कारोका क्षय ज्ञानसे होगा या अन्य किसी कारणसे ? यदि ज्ञानसे, तो ज्ञान होते ही सस्कारोका क्षय भी हो जायगा और तुरत ही मुक्ति हो जानेसे तीर्थोपदेश आदि नही बन सकेगे। यदि सस्कार क्षयके लिए अन्य कारण अपेक्षित है तो वह चारित्र ही हो सकता है, अन्य नही। अत ज्ञानमात्रसे मोक्ष मानना उचित नही है। यदि ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष हो जाय तो सिरका मुँडाना, गेरुआ वेष, यम नियम जप-तप, दीक्षा आदि सभी व्यर्थ हो जायगे।

§ ५२ इसी तरह ज्ञान और वैराग्यसे भी मुक्ति माननेपर तीर्थोपदेश आदि नही बन सकेगे। क्योकि तत्त्वज्ञान होते ही विषयविरक्तिरूप वैराग्य अवश्य ही होगा और तुरत मोक्ष हो जानेपर ससारमे ठहरना ही नही हो सकेगा।

§ ५३–५५ यदि आत्माको नित्य और व्यापक माना जाता है तो उसमे न तो ज्ञानादिकी उत्पत्ति ही हो सकती है और न हलन-चलन रूप क्रिया ही। इस तरह किसी भी प्रकारकी विक्रिया अर्थात् परिणमन न हो सकनेके कारण ज्ञान और वैराग्यरूप कारणोकी सभावना ही नही है। आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान निर्विकारी आत्मामे कैसे पैदा होगा ? जब आत्मा सदा एकसा रहता है, उसमे किसी भी प्रकारका परिवर्तन असभव है तो कूटस्थ नित्य आकाशकी तरह मोक्ष आदि नही बन सकेगे।

इसी तरह आत्माको सर्वथा क्षणिक अर्थात् प्रतिक्षण निरन्वयविनाशी माननेपर भी ज्ञानवैराग्यादि परिणमनोंका आधारभूत पदार्थ न होनेसे मोक्ष नही बन सकेगा। जिस मतमे सभी संस्कार क्षणिक है उसके यहाँ ज्ञानादिका उत्पत्तिके बाद ही तुरत नाश हो जानेपर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध आदि नही बनेगे और समस्त अनुभवसिद्ध लोकव्यवहारोका लोप हो जायगा। क्षणोकी अवास्तविक सन्तान मानना निरर्थक ही है। यदि सन्तान क्षणोसे अभिन्न है तो क्षणो की तरह ही निरन्वय क्षणिक होगी। ऐसी दशामे उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होगा। यदि क्षणोंसे भिन्न है तो उससे क्षणोका परस्पर समन्वय कैसे हो सकेगा ? आदि अनेक दूषण आते है।

§ ५६ जिस पुरुषने स्थाणु और पुरुषको पृथक् अनुभव किया हो उसको अन्धकार इन्द्रियदोष आदिसे स्थाणुमे पुरुषभान रूप विपर्यय होता है। जिसने आज तक स्थाणु और पुरुषगत विशेषोको नही जाना है उसे विपर्यय हो ही नही सकता। इस तरह जब अनादिसे पुरुष और प्रकृतिमे भेदोपलब्धि नही हुई तब विपर्यय कैसे हो सकता है ? इसी तरह बौद्ध-मतमे भी जब पहिले कभी अनित्य अनात्मक अशुचि दु खरूपसे प्रतीति नही हुई तब विपर्यय कैसे हो सकता है ? यदि साख्य यह कहे कि– हा, पहिले कभी प्रकृति और पुरुषमे भेदोपलब्धि हुई है, तो उसी समय भेदविज्ञानसे मुक्ति हो जाना चाहिए थी, फिर आज बन्ध कैसा ? इसी प्रकार यदि बौद्धको अनित्यादि रूपसे पहिले कभी प्रतीति हुई हो तो उसे भी मोक्ष हो जाना चाहिए था।

§ ५७ जिनके मतमे एक ज्ञान एक ही अर्थको जानता है उनके यहा स्थाणु विषयक ज्ञान स्थाणको ही जानेगा तथा पुरुषविषयक ज्ञान पुरुषको ही। अत एक ज्ञानका दो अर्थोको जानना जब सभव ही नही है तब न तो सशय हो सकता है और न विपर्यय ही। अत एकार्थ-ग्राहिज्ञानवादी के मतसे न तो विपर्यय होगा न बध और न मोक्ष।

§ ५८–६० **शंका**–ज्ञान और दर्शन चूंकि एक साथ उत्पन्न होते है अत इन्हे एक ही मानना चाहिए ? **समाधान**–जिस प्रकार ताप और प्रकाश एक साथ होकर भी दाह और प्रकाशन रूप अपने भिन्न लक्षणोसे अनेक है, उसी तरह तत्त्वज्ञान और तत्त्वश्रद्धानरूप भिन्न लक्षणोसे ज्ञान और दर्शन भी भिन्न भिन्न है। फिर, यह कोई नियम नही है कि जो एक साथ उत्पन्न हो वे एक हो। गायके दोनो सीग एक साथ उत्पन्न होते है पर अनेक है, अत इस पक्षमे दृष्टविरोध दोष आता है। जैनदर्शनमे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो नयोसे वस्तुका विवेचन किया जाता है। अत द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता और पर्यायार्थिक नयकी गौणता करनेपर ज्ञान और दर्शनमे एकत्व भी है। जैसे परमाणु आदि पुद्गलद्रव्योमे बाह्य और आभ्यन्तर कारणोसे एक साथ रूपरसादि परिणमन होता है फिर भी रूप-रस आदिमे परस्पर एकत्व नही है उसी तरह ज्ञान और दर्शनमे भी समझना चाहिए। अथवा, जैसे अनादि पारिणामिक पुद्गलद्रव्यकी विवक्षामे द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानता और पर्यायार्थिकनयकी गौणता रहनेपर रूप रस आदिमे एकत्व है क्योकि वही द्रव्य रूप है और वही द्रव्य रस, उसी तरह अनादिपारिणामिक चैतन्यमय जीवद्रव्यकी विवक्षा रहनेपर ज्ञान और दर्शनमे अभेद है क्योकि वही आत्मद्रव्य ज्ञानरूप होता है तथा वही आत्मद्रव्य दर्शनरूप। जब हम उन उन पर्यायोकी विवक्षा करते है तब ज्ञानपर्याय भिन्न है तथा दर्शन पर्याय भिन्न।

§ ६१–६४ **प्रश्न**–ज्ञान और चारित्रमे कालभेद नही है अत दोनोको एक ही मानना चाहिए। किसी व्यभिचारी पुरुषने अधेरी रातमे मार्गमे जाती हुई अपनी व्यभिचारिणी माताको ही छेड दिया। इसी समय बिजली चमकी। उस समय जैसे ही उसे यह ज्ञान हुआ कि यह 'मा' है वैसे ही तुरत वह अगम्यागमनसे निवृत्त हो जाता है, इसी तरह जैसे ही इस जीवको यह सम्यग्ज्ञान होता है कि जीवहिसा नही करनी चाहिए वैसे ही वह हिसासे निवृत्त हो जाता है। अत ज्ञान और चारित्रमे कालभेद नही है और इसीलिए इन्हे एक मानना चाहिए। **उत्तर**–जिस प्रकार सुईसे ऊपर नीचे रखे हुए १०० कमलपत्रोको एक साथ छेदने पर सूक्ष्म कालभेदकी प्रतीति नही होती यद्यपि वहा कालभेद है उसी तरह ज्ञान और चारित्र-मे भी सूक्ष्म कालभेदका भान नही हो पाता, कारण काल अत्यन्त सूक्ष्म है।

ज्ञान और चारित्रमे अर्थभेद भी है–ज्ञान जाननेको कहते है तथा चारित्र कर्मबन्ध-की कारण क्रियाओकी निवृत्तिको। फिर यह कोई नियम नही है कि जिनमे कालभेद न हो उनमे अर्थभेद भी न हो। देखो, जिस समय देवदत्तका जन्म होता है उसी समय मनुष्यगति पचेन्द्रियजाति शरीर वर्ण गन्ध आदिका भी उदय होता है पर सबके अर्थ जुदे जुदे है। इसी तरह ज्ञान और चारित्रके भी अर्थ भिन्न भिन्न है।

यह पहिले कह भी चुके है कि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे ज्ञानादिकमे एकत्व है तथा पर्यायार्थिक दृष्टिसे अनेकत्व।

§ ६५–६६ **प्रश्न**–यदि दर्शन ज्ञान आदिमे लक्षण भेद है तो ये मिलकर एक मार्ग नही हो सकते, इन्हे तीन मार्ग मानना चाहिए ? **उत्तर**–यद्यपि इनमे लक्षणभेद है फिर भी ये मिलकर एक ऐसी आत्मज्योति उत्पन्न करते है जो अखण्डभावसे एक मार्ग बन जाती है जैसे कि दीपक बत्ती तेल आदि विलक्षण पदार्थ मिलकर एक दीपक बन जाते है। इसमे किसी वादीको विवाद भी नही है। साख्य प्रसादलाघव-शोषताप-आवरणसादन रूपसे भिन्न लक्षण-वाले सत्त्व, रज और तम इन तीनोकी साम्यावस्थाको एक प्रधान तत्त्व मानते है। बौद्ध कक्खड-कर्कश द्रव उष्ण आदि रूपसे भिन्न लक्षणवाले पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतो तथा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चार भौतिकोके समुदायको एक रूपपरमाणु मानते है। इसी तरह रागादि धर्म और प्रमाण प्रमेय अधिगम आदि धर्मोका समावेश एक ही विज्ञानमे माना जाता है। नैयायिकादि भिन्न रगवाले सूतसे एक चित्रपट मान लेते है। उसी तरह भिन्न लक्षण-वाले सम्यग्दर्शनादि तीनो एक मार्ग बन सकते है।

§ ६७–६८ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमे पूर्वकी प्राप्ति होनेपर उत्तरकी प्राप्ति भजनीय है अर्थात् हो भी न भी हो। किन्तु उत्तरकी प्राप्तिमे पूर्वका लाभ निश्चित है–वह होगा ही। जैसे जिसे सम्यक्चारित्र होगा उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होगे ही पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे पूर्णसम्यग्ज्ञान और चारित्र हो भी और न भी हो।

§ ६९–७१ **शंका**–पूर्व सम्यग्दर्शनके लाभमे उत्तर ज्ञानका लाभ भजनीय है अर्थात् हो भी न भी हो यह नियम उचित नही है, क्योकि सम्यग्दर्शन होनेपर भी ज्ञान यदि नही होता तो अज्ञानपूर्वक श्रद्धानका प्रसङ्ग होता है। फिर जब तक स्वतत्त्वका ज्ञान नही किया गया तब तक उसका श्रद्धान कैसा ? जैसे कि अज्ञात फलके सम्बन्धमे यह विधान नही किया जा सकता कि 'इस फलके रससे यह आरोग्य आदि होता है' उसी तरह अज्ञात तत्त्वका श्रद्धान भी नही किया जा सकता। ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है अत वह न्यूनाधिक रूपमे सदा स्थायी गुण है उसे कभी भी भजनीय नही कहा जा सकता अन्यथा आत्माका ही अभाव हो जायगा, क्योकि सम्यग्दर्शन होनेपर मिथ्याज्ञानकी तो निवृत्ति हो जायगी और सम्यग्ज्ञान नियमत होगा नही, अत सर्वथा ज्ञानाभावसे आत्माका ही अभाव हो जायगा।

§ ७२ **समाधान**–पूर्ण ज्ञानको भजनीय कहा है न कि ज्ञानसामान्यको। ज्ञानकी पूर्णता श्रुतकेवली और केवलीके होती है। सम्यग्दर्शन होनेपर पूर्ण द्वादशाग और चतुर्दश पूर्वरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान अवश्य हो ही जायगा यह नियम नही है। इसी तरह चारित्र भी यथासभव देशसयतको सकलसयम यथाख्यात आदि भजनीय है।

§ ७३ 'पूर्व–अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके लाभमे चारित्र भजनीय है' यह अर्थ करना उचित नही है क्योंकि वार्तिकमे 'पूर्वस्य' यह एक वचनपद है अतः इससे एक

का ही ग्रहण हो सकता। यदि दो की विवक्षा होती तो 'पूर्वयो' ऐसा द्विवचनान्त पद देना चाहिए था। यदि एकवचनके द्वारा भी सामान्य रूपसे दोका ग्रहण किया जाता है तो 'भजनीयमुत्तरम्' यहा भी 'उत्तरम्' इस एकवचन पदके द्वारा ज्ञान और चारित्र दोका ग्रहण होनेसे पूर्वोक्त दोष बना ही रहता है। अथवा, 'क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेपर क्षायिक ज्ञान भजनीय है—हो अथवा न हो' यह व्याख्या कर लेनी चाहिए। अथवा, 'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोकी एक साथ उत्पत्ति होती है अत नारद और पर्वतके साहचर्यकी तरह एकके ग्रहणसे दूसरेका भी ग्रहण हो ही जाता है अत पूर्व अर्थात् सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञानका लाभ होनेपर भी उत्तर अर्थात् चारित्र भजनीय है' यह अर्थ भी किया जा सकता है।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

§ १–२ सम्यक् यह प्रशसार्थक शब्द (निपात) है। यह प्रशस्त रूप गति जाति कुल आयु विज्ञान आदि अभ्युदय और नि श्रेयसका प्रधान कारण होता है। 'सम्यगिष्टार्थतत्त्वयो·' इस प्रमाणके अनुसार सम्यक् शब्दका प्रयोग इष्टार्थ और तत्त्व अर्थमे होता है अत इसका प्रशसा अर्थ उचित नही है, इस शकाका समाधान यह है कि निपात शब्दोके अनेक अर्थ होते है, अत प्रशसा अर्थ माननेमे कोई विरोध नही है। अथवा सम्यक्का अर्थ 'तत्त्व' भी किया जा सकता है जिसका अर्थ होगा 'तत्त्वदर्शन'। अथवा, यह क्विप् प्रत्ययान्त शब्द है। इसका अर्थ है जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जाननेवाला।

दर्शन शब्द करणसाधन कर्तृसाधन और भावसाधन तीनो रूप है।

§ ३–४ **प्रश्न**—दर्शन दृशि धातुसे बना है और दृशि धातुका अर्थ देखना है। अत· दर्शनका श्रद्धान अर्थ नही हो सकता ? **उत्तर**—धातुओके अनेक अर्थ होते है, इसलिए उनमेसे श्रद्धान अर्थ भी ले लिया जायगा। चूंकि यहा मोक्षका प्रकरण है अत दर्शनका देखना अर्थ इष्ट नही है किन्तु तत्त्वश्रद्धान अर्थ ही इष्ट है।

§ ५–६ तत्त्व शब्द भावसामान्यका वाचक है। 'तत्' यह सर्वनाम है जो भावसामान्यवाची है। अत तत्त्व शब्दका स्पष्ट अर्थ है—जो पदार्थ जिस रूपसे है उसका उसी रूप होना। अर्थ माने जो जाना जाय। तत्त्वार्थ माने जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे ग्रहण। तात्पर्य यह कि जिसके होने पर तत्त्वार्थ—अर्थात् वस्तुका यथार्थ ग्रहण हो उसे सम्यग्दर्शन कहते है।

§ ७–८ जिस प्रकार दर्शन शब्द करण भाव और कर्म तीनो साधनोमे निष्पन्न होता है उसी तरह श्रद्धान शब्द भी 'जिसके द्वारा श्रद्धान हो' 'जो श्रद्धान किया जाय' और 'श्रद्धामात्र' इन तीनो साधनोमे निष्पन्न होता है। यह श्रद्धान आत्माकी पर्याय है। आत्मा ही श्रद्धान रूपसे परिणत होता है।

§ ९–१६ **प्रश्न**—मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोमे भी 'सम्यक्त्व' नामकी कर्मप्रकृति है और 'निर्देशस्वामित्व' आदि सूत्रके विवरणसे भी ज्ञात होता है कि यहा सम्यक्त्व कर्म प्रकृति का सम्यग्दर्शनसे ग्रहण है अत सम्यक्त्वको कर्मपुद्गल रूप मानना चाहिए ? **उत्तर**—यहा मोक्षके कारणोका प्रकरण है, अतः उपादानभूत आत्मपरिणाम ही विवक्षित है। औपशमिक

आदि सम्यग्दर्शन सीधे आत्मस्वरूप ही है। सम्यक्त्व प्रकृति तो पुद्गलकी पर्याय है। यद्यपि उत्पत्ति स्व और पर उभय निमित्तोसे होती है फिर भी पर पदार्थ तो उपकरणमात्र है, साधारण निमित्त है। वस्तुत मिट्टी ही घडा बनती है, दण्ड आदि तो साधारण उपकरण है, बाह्य-साधन है। इसी तरह सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमे भी आत्मपरिणमन ही मुख्य है। इस दर्शन-मोह नामक कर्मको आत्मविशुद्धिके द्वारा ही रसघात करके स्वल्पघाती क्षीणशक्तिक सम्यक्त्व कर्म बनाया जाता है। अत. यह सम्यक्त्व प्रकृति आत्मस्वरूप मोक्षका प्रधान कारण नही हो सकती। आत्मा ही अपनी शक्तिसे दर्शन पर्यायको धारण करता है अत वही मोक्षका कारण है। आत्माकी आन्तरिक सम्यग्दर्शन पर्याय अहेय होती है जब कि सम्यक्त्व प्रकृति हेय। इस सम्यक्त्व प्रकृतिका नाश करके ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। अत आभ्यन्तर स्वशक्ति-रूप ही सम्यग्दर्शन हो सकता है सम्यक्त्व कर्मपुद्गलरूप नही। आभ्यन्तर परिणमन ही प्रधान होता है, वही प्रत्यासन्न कारण होता है और उसी रूपसे आत्मा परिणति करता है अत अहेय होनेसे प्रधान और प्रत्यासन्न कारण होनेसे आत्मपरिणामरूप सम्यग्दर्शन ही मोक्षका कारण हो सकता है न कि कर्मपुद्गल। अल्पबहुत्वका विवेचन भी उपशम सम्यग्दर्शन आदि आत्मपरिणामके आधारसे किया जा सकता है, उसके लिए भी कर्मपुद्गलकी कोई आवश्यकता नही है। सबसे कम उपशम सम्यग्दृष्टि है, क्षायिकसम्यग्दृष्टि असख्यातगुणे और क्षायोपश-मिक सम्यग्दृष्टि उनसे असख्यातगुणे है। सिद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि अनन्तगुणे होते है। अत आत्मपरिणामरूप सम्यग्दर्शन ही मोक्षका साक्षात् कारण हो सकता है।

§ १७–२१ **प्रश्न**–अर्थश्रद्धानको ही सम्यग्दर्शन कहना चाहिए, यहा 'तत्त्व' पद-व्यर्थ है। इससे सूत्रमे भी लघुता आयगी ? **उत्तर**–यदि तत्त्व पद न दिया जाय सभी अर्थोके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन हो जायगा। मिथ्यावादिप्रणीत अर्थ भी उनके द्वारा जाने तो जाते ही है पर वे तत्त्व नही है। अर्थ शब्दके अनेक अर्थ है, अत सन्देह भी होगा कि किस अर्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा जाय ? वैशेषिक शास्त्रमे द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थोकी अर्थ सज्ञा है। 'आप यहा किस अर्थसे आए' यहा अर्थ शब्दका प्रयोजन अर्थ है। 'अर्थवान् देवदत्त' मे अर्थवान्का अर्थ धनवान् है। 'शब्दार्थसम्बन्ध' मे अर्थका तात्पर्य अभिधेय है। इस तरह अर्थ शब्दके अनेक अर्थ होते है। यह तर्क तो अनुचित है कि–'सभी अर्थोके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन माननेपर सभीका अनुग्रह हो जायगा, आपको सर्वानुग्रहसे द्वेष क्यो है', क्योकि असत् अर्थोका श्रद्धान सम्यग्दर्शन नाम नही पा सकता, अत सर्वानुग्रहके विचार से ही सन्मार्ग प्रदर्शन बुद्धिसे अर्थके साथ 'तत्त्व' विशेषण लगा दिया है जिससे लोग असदर्थोमे न भटक जाय। यद्यपि 'अर्यते इति अर्थ' अर्थात् जो जाना जाय वह अर्थ, इस व्युत्पत्तिके अनुसार मिथ्यावादिप्रणीत अर्थ तो ज्ञेय हो ही नही सकते क्योकि वे अविद्यमान है अत अर्थ-पदका इतना विशिष्ट अर्थ करके ही तत्त्व पदका कार्य चलाया जा सकता है किन्तु मिथ्यात्व के उदयमे इस आत्माको अस्ति नास्ति नित्य अनित्य आदि एकान्तोमे मिथ्या अर्थबुद्धि होने लगती है, जैसे कि पित्तज्वर वाले को मधुर रस भी कटुक मालूम होता है। अत इन एकान्त अर्थोका निराकरण करनेके लिए 'तत्त्व' पद दिया ही जाना चाहिए।

§ २२–२५ यद्यपि 'तत्त्व ही अर्थ है' यह विग्रह करनेपर तत्त्वके कहनेसे कार्य चल जाता है फिर भी अर्थ पदका ग्रहण निर्दोष प्रतिपत्तिके लिए किया गया है। यथा–यदि 'तत्त्व है' इस श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा जाय, तो एकान्तवादियोंको भी 'नास्ति आत्मा' इत्यादि

रूपसे तत्त्वश्रद्धा होती है अतः उनकी श्रद्धाको भी सम्यग्दर्शन कहना होगा। यदि 'तत्त्वकी श्रद्धा' को सम्यग्दर्शन कहा जाय, तो तत्त्व अर्थात् भावसामान्यकी श्रद्धा भी सम्यक्त्व कही जायगी। 'तत्त्व-भाव-सामान्य एक स्वतन्त्र पदार्थ है' यह मान्यता वैशेषिककी है। वे यह भी कहते है कि द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व आदि सामान्य द्रव्यादिसे भिन्न है। अथवा, तत्त्व–एकत्व, 'पुरुषरूप ही यह जगत् है' इस ब्रह्मैकवादके श्रद्धानको भी सम्यग्दर्शनत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। किन्तु यह उचित नही है क्योकि अद्वैतवादमे क्रियाकारक आदि समस्त भेद-व्यवहारका लोप हो जाता है। यदि 'तत्त्वेन-तत्त्वरूपसे श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है' तो 'किसका श्रद्धान, किसमे श्रद्धान' ये प्रश्न खडे रहते है। अत. अर्थपदका ग्रहण अत्यन्त आवश्यक है अर्थात् तत्त्व-रूपसे प्रसिद्ध अर्थोका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

§ २६–२८ कोई वादी इच्छापूर्वक श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है। उनका यह मत ठीक नही है, क्योकि मिथ्यादृष्टि भी बहुश्रुतत्व दिखानेके लिए या जैनमतको पराजित करनेके लिए अर्हत्तत्त्वोका झूठा ही श्रद्धान कर लेते है, जैन शास्त्रोको पढते है। इच्छाके बिना तो यह हो ही नही सकता। अत इन्हे भी सम्यग्दर्शन मानना होगा। यदि इच्छा का नाम सम्यग्दर्शन हो तो इच्छा तो लोभकी पर्याय है, निर्मोही केवलीके तो इच्छा नही होती अत केवलीके सम्यक्त्वका अभाव हो जायगा। अत 'जिसके होनेपर आत्मा यथाभूत अर्थको ग्रहण करता है उसे सम्यग्दर्शन कहते है' यही लक्षण उचित है।

§ २९–३१ सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है–१ सराग सम्यग्दर्शन, २ वीतराग-सम्यग्दर्शन। प्रशम सवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यसे जिसका स्वरूप अभिव्यक्त होता है वह सरागसम्यग्दर्शन है। रागादिकी शान्ति प्रशम है। ससारसे डरना सवेग है। प्राणि-मात्रमे मैत्रीभाव अनुकम्पा है। जीवादि पदार्थोके यथार्थस्वरूपमे 'अस्ति' बुद्धि होना आस्तिक्य है। मोहनीयकी सात कर्मप्रकृतियोका अत्यन्त विनाश होनेपर आत्मविशुद्धिरूप वीतराग सम्यक्त्व होता है। सराग सम्यक्त्व साधन ही होता है और वीतराग सम्यग्दर्शन साध्य भी।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके प्रकार––

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

सम्यग्दर्शन निसर्ग (स्वभाव) और अधिगम (परोपदेश) दो प्रकारसे उत्पन्न होता है। यहा 'उत्पद्यते–उत्पन्न होता है' इस क्रियाका अध्याहार कर लेना चाहिए।

§ १–६ **प्रश्न**–निसर्गज सम्यग्दर्शन नही बन सकता, क्योकि तत्त्वाधिगम हुए बिना उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है ? जब तक रसायनका ज्ञान नही होगा तब तक रसायन की श्रद्धा हो ही नही सकती। अत जब प्रत्येक सम्यग्दर्शनके लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है तब निसर्गज सम्यग्दर्शन नही बन सकता। 'जिस प्रकार वेदार्थको जाने बिना भी शूद्रको वेद-विषयक भक्ति हो जाती है उसी तरह अनधिगत तत्त्वमे श्रद्धा भी हो सकती है' यह कथन उपयुक्त नही है, क्योकि शूद्रको महाभारत आदि ग्रन्थोसे वेदकी महिमा सुनकर या वेद-पाठियोसे वेदके महत्त्वको जानकर वेदभक्ति होना उचित है पर ऐसी भक्ति नैसर्गिक नही कही जा सकती। किन्तु जीवादितत्त्व विषयक ज्ञान यदि किसी भी प्रकारसे पहिले होता है तो निसर्गज सम्यग्दर्शन नही हो सकेगा। इसी तरह मणिकी विशेष सामर्थ्यको न जानकर सामान्यसे उसकी चमक-दमकको देखकर मणिका ग्रहण और फलका मिलना ठीक भी है पर

जीवादिको सामान्यरूपसे भी बिना जाने नैसर्गिक श्रद्धानका होना कैसे सभव है ? यदि सामान्य-ज्ञान हो जाता है तो वह अधिगमज ही सम्यग्दर्शन कहलायगा नैसर्गिक नही । जिस समय इस जीवके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ठीक उसी समय इसके मत्यज्ञान आदिकी निवृत्तिपूर्वक मतिज्ञान आदि सम्यग्ज्ञान सूर्यके ताप और प्रकाशकी तरह युगपत् उत्पन्न हो जाते है अत नैसर्गिक सम्यग्दर्शनकी स्वतन्त्र सत्ता नही बन पाती, क्योकि जिसके ज्ञानसे पहिले सम्यग्दर्शन हो उसीके वह नैसर्गिक कहा जायगा । यहा तो दोनों ही साथ साथ होते है ।

उत्तर—दोनो सम्यग्दर्शनोमे अन्तरग कारण तो दर्शनमोहका उपशम क्षय या क्षयोपशम समान है । इसके होनेपर जो सम्यग्दर्शन बाह्योपदेशके बिना प्रकट होता है वह निसर्गज कहलाता है तथा जो परोपदेशसे होता है वह अधिगमज । लोकमे भी शेर, भेडिया, चीता आदिमे शूरता-क्रूरता आदि परोपदेशके बिना होनेसे नैसर्गिक कहे जाते है यद्यपि उनमे ये सब कर्मोदयरूप निमित्तसे होनेके कारण सर्वथा आकस्मिक नही है फिर भी परोपदेशकी अपेक्षा न होनेसे नैसर्गिक कहलाते है । अत परोपदेश निरपेक्षमे निसर्गता स्वीकार की गई है ।

§ ७–१० **प्रश्न**—भव्य जीव अपने समयके अनुसार ही मोक्ष जायगा । यदि अधिगम सम्यक्त्वके बलसे समयसे पहिले मोक्षप्राप्तिकी सभावना हो तभी अधिगम सम्यक्त्वकी सार्थकता है । अत एक निसर्गज सम्यक्त्व ही मानना चाहिए । **उत्तर**—यदि केवल निसर्गज या अधिगमज सम्यग्दर्शनसे मोक्ष माना गया होता तो यह प्रश्न उचित था । पर मोक्ष तो ज्ञान और चारित्र सहित सम्यक्त्वसे स्वीकार किया गया है । अत विचार तो यह है कि वह सम्यग्दर्शन किन कारणोसे उत्पन्न होता है । जैसे कि कुरुक्षेत्रमे बाह्य प्रयत्नके बिना ही सुवर्ण मिल जाता है उसी तरह बाह्य उपदेशके बिना ही जो तत्त्वश्रद्धान प्रकट होता है उसे निसर्गज कहते है और जैसे सुवर्णपाषाणसे बाह्य प्रयत्नो द्वारा सुवर्ण निकाला जाता है उसी तरह सदुपदेशसे जो सम्यक्त्व प्रकट होता है वह अधिगमज कहलाता है । अत यहा मोक्षका प्रश्न ही नही है । फिर भव्योकी कर्मनिर्जराका कोई समय निश्चित नही है और न मोक्षका ही । कोई भव्य सख्यात कालमे सिद्ध होगे कोई असख्यातमे और कोई अनन्त कालमे । कुछ ऐसे भी है जो अनन्तानन्त कालमे भी सिद्ध नही होगे । अत भव्यके मोक्षके कालनियमकी बात उचित नही है । जो व्यक्ति मात्र ज्ञानसे या चारित्रसे या दोसे या तीन कारणोसे मोक्ष मानते है उनके यहा 'कालानुसार मोक्ष होगा' यह प्रश्न ही नही होता । यदि सबका काल ही कारण मान लिया जाय तो बाह्य और आभ्यन्तर कारण-सामग्रीका ही लोप हो जायगा ।

§ ११–१२ इस सूत्रम 'तत्' शब्दका निर्देश अनन्तरोक्त सम्यग्दर्शनके ग्रहणके लिए है । अन्यथा मोक्षमार्ग प्रधान था सो उसका ही ग्रहण हो जाता, और इस तरह निसर्गसे और बहुश्रुतत्व प्रदर्शनकी इच्छावाले मिथ्यादृष्टियोंको भी अधिगमसे मोक्ष मार्गका प्रसङ्ग आ जाता । 'अनन्तरका ही विधान या प्रतिषेध होता है' यह नियम 'प्रत्यासत्ति रहनेपर भी प्रधान बलवान् होता है' इस नियमसे बाधित हो जाता है, अत तत्' शब्दके बिना प्रधानभूत मोक्षमार्गका ही सम्बन्ध हो जाता । अत स्पष्टताके लिए 'तत्' शब्दका ग्रहण किया गया है ।

तत्त्वोंका निरूपण—

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

जीव अजीव आस्रव बन्ध सवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व है ।

§ १ सक्षेप और विस्तारसे पदार्थोंके एकसे लेकर अनन्त तक विभाग किए जा सकते है। यथा एक ही पदार्थ अनन्तपर्यायवाला है। जीव और अजीवके भेदसे दो पदार्थ है। अर्थ शब्द और ज्ञान रूपसे तीन पदार्थ है। इसी तरह शब्दोके प्रयोगकी अपेक्षा सख्यात और ज्ञानके ज्ञेयकी अपेक्षा असख्यात और अनन्त भेद हो सकते है। यदि अत्यन्त सक्षेपसे कथन किया जाय तो विद्वज्जनोको ही प्रतीति हो सकेगी और अतिविस्तारसे निरूपण किया जाय तो चिरकाल तक भी प्रतिपत्ति नही हो सकेगी, अत. शिष्यके आशयानुसार मध्यमक्रमसे सात तत्त्वरूप विभाजन किया है।

§ २–५ **प्रश्न**–आस्रव बन्ध आदि पदार्थ या तो जीवकी पर्याय होगे या अजीवकी, अत. इनमे ही उनका अन्तर्भाव करके दो ही पदार्थ कहना चाहिए इनका पृथक् उपदेश निरर्थक है ? **उत्तर**–जीव और अजीवके परस्पर सश्लेप होनेपर ससार होता है, अत ससार और मोक्षके प्रधान कारणोके प्रतिपादनके लिए सात तत्त्व रूपसे विभाग किया है। यथा–मोक्ष-मार्गका प्रकरण है अत· मोक्षका निरूपण तो करना ही चाहिए। वह मोक्ष किसको होता है ? सो जीवका ग्रहण करना चाहिए। मोक्ष ससारपूर्वक होता है और ससारका अर्थ है जीव और अजीवका परस्पर सश्लेप। अत अजीवका ग्रहण भी आवश्यक है। ससारके प्रधान कारण बध और आस्रव है और मोक्षके प्रधान कारण सवर और निर्जरा। सामान्यमे अन्तर्भूत भी विशेषोका प्रयोजनवश पृथक् निरूपण किया जाता है जैसे 'क्षत्रिय आए है, शूर वर्मा भी आया है' उसी तरह प्रयोजन विशेषसे इन सात तत्त्वोंका विभाग किया है।

फिर, प्रश्नकर्ताने आस्रव आदिको जीव और अजीवसे पृथक् जाना है या नही ? यदि जाना है तो उनका पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो ही जाता है। यदि नही जाना, तो प्रश्न ही कैसे करता है ? आस्रव आदि जीव और अजीवसे भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है या नही ? यदि है, तो इनका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध हो ही जाता है। यदि नही, तो किसका किनमे अन्तर्भाव का प्रश्न किया जा रहा है ? गधेके सीगके अन्तर्भावका प्रश्न तो कही किसीने किया नही है।

वस्तुत: जीव अजीव और आस्रवादिके भेदाभेदका अनेकान्त दृष्टिसे विचार करना चाहिए। आस्रवादि द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकार है। द्रव्य पुद्गल रूप है तथा भाव जीवरूप। द्रव्यार्थिक दृष्टिकी प्रधानता रहनेपर अनादि पारिणामिक जीव और अजीव द्रव्यकी मुख्यता होनेसे आस्रव आदि पर्यायोकी विवक्षा न होनेपर उनका जीव और अजीवमे अन्तर्भाव हो जाता है। जिस समय उन उन आस्रवादि पर्यायोको पृथक् ग्रहण करनेवाले पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता होती है तथा द्रव्यार्थिकनय गौण हो जाता है तब आस्रव आदि स्वतन्त्र है उनका जीव और अजीवमे अन्तर्भाव नही होता। अत पर्यायार्थिक दृष्टिसे इनका पृथक् उपदेश सार्थक है निरर्थक नही।

§ ६–१३ जीवादि शब्दोका निर्वचन इस प्रकार है—

पाँच इन्द्रिय मनोबल वचनबल कायबल आयु और श्वासोच्छ्वास इन दश प्राणोमेसे अपनी पर्यायानुसार गृहीत प्राणोके द्वारा जो जीता था, जी रहा है और जीवेगा इस त्रैकालिक जीवन गुणवालेको जीव कहते है। 'सिद्धोके यद्यपि ये दश प्राण नही है फिर भी चूंकि वे इन प्राणोसे पहिले जिए थे अत उनमे भी जीवत्व सिद्ध हो जाता है' इस तरह सिद्धोमे औपचारिक जीवत्वकी आशका नही करना चाहिए, क्योकि उनमे अभी भी ज्ञानदर्शनरूप भाव प्राण है अत मुख्य ही जीवत्व है। अथवा रूढिवश क्रियाकी गौणतासे जीव शब्दका निर्वचन करना

चाहिये । रूढिमे क्रिया गौण हो जाती है जैसे 'गच्छतीति गौ:—जो चले सो गौ' यहाँ बैठी हुई गौमे भी गौ व्यवहार हो जाता है क्योकि कभी तो वह चलती थी, उसी तरह कभी तो सिद्धोने द्रव्य प्राणोंको धारण किया था । अत: रूढिवश उनमे जीव व्यवहार होता रहता है। ऊपर कहा गया जीवन जिनमे न पाया जाय वे अजीव है । जिनसे कर्म आवे वह और कर्मोका आना आस्रव है । जिनसे कर्म बँधे वह और कर्मोका बँधना बध है । जिनसे कर्म रुके वह और कर्मोंका रुकना सवर है । जिनसे कर्म झडे वह और कर्मोका झडना निर्जरा है । जिनसे कर्मोंका समूल उच्छेद हो वह और कर्मोका पूर्णरूपसे छूटना मोक्ष है ।

§ १४ जीव चेतना स्वरूप है । चेतना ज्ञानदर्शन रूप होती है । इसीके कारण जीव अन्य द्रव्योसे व्यावृत्त होता है ।

§ १५ जिसमे चेतना न पाई जाय वह अजीव है । भावकी तरह अभाव भी वस्तुका ही धर्म होता है जैसे कि विपक्षाभाव हेतुका स्वरूप होता है । यदि अभावको वस्तुका धर्म न माना जाय तो सर्वसांकर्य हो जायगा, क्योकि प्रत्येक वस्तुमे स्वभिन्न पदार्थोका अभाव होता ही है ।

प्रश्न—वनस्पति आदिमे बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नही देखी जाती अत उनमे जीव नही मानना चाहिए । कहा भी है—"अपने शरीरमे बुद्धिपूर्वक क्रिया बुद्धिके रहते ही देखी जाती है, वैसी क्रिया यदि अन्यत्र हो तो वहाँ भी बुद्धिका सद्भाव मानना चाहिए, अन्यथा नही ।"
उत्तर—वनस्पति आदिमे भी ज्ञानादिका सद्भाव है । इसको सर्वज्ञ तो अपने प्रत्यक्ष ज्ञानसे जानते है और हम लोग आगमसे । खाद पानीके मिलनेपर पुष्टि और न मिलनेपर म्लानता देखकर उनमे चैतन्यका अनुमान भी होता है । गर्भस्थजीव, मूर्च्छित और अडस्थ जीवमे बुद्धिपूर्वक स्थूल क्रिया भी नही दिखाई देती, अत. न दिखने मात्रसे अभाव नही किया जा सकता ।

§ १६ पुण्य और पापरूप कर्मोके आगमनके द्वारको आस्रव कहते है । जैसे नदियो के द्वारा समुद्र प्रतिदिन जलसे भरा जाता है वैसे ही मिथ्यादर्शन आदि स्रोतोसे आत्मामे कर्म आते रहते है । अत मिथ्यादर्शनादि आस्रव है ।

§ १७ मिथ्यादर्शनादि द्वारोसे आए हुए कर्मपुद्गलोंका आत्मप्रदेशोमे एकक्षेत्रावगाह हो जाना बध है । जैसे बेडी आदिसे बँधा हुआ प्राणी परतन्त्र हो जाता है और इच्छानुसार देशादिमे नही जा आ सकता उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा परतन्त्र होकर अपना इष्ट विकास नही कर पाता । अनेक प्रकारके शारीर और मानस दु खोसे दु खी होता है ।

§ १८ मिथ्यादर्शनादि आस्रव द्वारोके निरोधको सवर कहते है । जैसे जिस नगरके द्वार अच्छी तरह बन्द हो वह नगर शत्रुओको अगम्य होता है उसी तरह गुप्ति समिति धर्म आदिसे सुसंवृत आत्मा कर्मशत्रुओके लिए अगम्य होता है ।

§ १९ तप विशेषसे सचित कर्मोका क्रमश. अशरूपसे झड जाना निर्जरा है । जिस प्रकार मन्त्र या औषधि आदिसे नि शक्ति किया हुआ विष दोष उत्पन्न नही करता उसी प्रकार तप आदिसे नीरस किए गये और नि शक्ति हुए कर्म ससारचक्रको नही चला सकते ।

§ २० सम्यग्दर्शनादि कारणोंसे सपूर्ण कर्मोका आत्यन्तिक मूलोच्छेद होना मोक्ष है । जिस प्रकार बन्धनयुक्त प्राणी स्वतन्त्र होकर यथेच्छ गमन करता है उसी तरह कर्मबन्धन-मुक्त आत्मा स्वाधीन हो अपने अनन्त ज्ञानदर्शन सुख आदिका अनुभव करता है ।

§ २१—२७ समस्त मोक्षमार्गोपदेशादि प्रयत्न जीवके ही लिए किए जाते है अत:

तत्त्वोमे सर्वप्रथम जीवको स्थान दिया गया है। शरीर वचन मन श्वासोच्छ्वास आदिके द्वारा अजीव आत्माका प्रकृष्ट उपकारक है अत. जीवके बाद अजीवका ग्रहण किया गया है। जीव और पुद्गलके सम्बन्धाधीन ही आस्रव होता है और आस्रवपूर्वक बन्ध अतः इन दोनोका क्रमश. ग्रहण किया है। सवृत-सुरक्षित व्यक्तिको बध नही होता अत. बधकी विपरीतता दिखानेके लिए बधके पास सवरका ग्रहण किया है। सवर होनेपर ही निर्जरा होती है अतः सवरके बाद निर्जराका ग्रहण किया है। अन्तमे मोक्ष प्राप्त होता है अत. सबके अन्तमे मोक्षका ग्रहण किया गया है।

§ २८ आस्रव और बध या तो पुण्यरूप होते है या पापरूप। अत पुण्य और पाप पदार्थोंका अन्तर्भाव इन्हीमे कर दिया जाता है।

§ २९–३१ **प्रश्न**–सूत्रमे तत्त्व शब्द भाववाची है और जीवादि शब्द द्रव्यवाची, अत. इनका व्याकरण शास्त्रके नियमानुसार एकार्थ प्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य नही बन सकता ? **उत्तर**–द्रव्य और भावमे कोई भेद नही है, अत अभेद विवक्षामे दोनो ही एकार्थप्रतिपादक हो जाते है जैसे ज्ञान ही आत्मा है। चूंकि तत्त्व शब्द उपात्त-नपुसकलिग और एकवचन है अत. जीवादिकी तरह उसमे पुल्लिगत्व और बहुवचनत्व नही हो सकता।

जीवादितत्त्वोके सव्यवहारके लिए निक्षेप प्रक्रियाका निरूपण––

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥

नाम स्थापना द्रव्य और भावसे जीवादि पदार्थोका न्यास करना चाहिए।

§ १ शब्द प्रयोगके जाति गुण क्रिया आदि निमित्तोकी अपेक्षा न करके की जानेवाली सज्ञा नाम है। जैसे परमैश्वर्यरूप इन्दन क्रियाकी अपेक्षा न करके किसीका भी इन्द्र नाम रखना या जीवनक्रिया और तत्त्वश्रद्धानरूप क्रियाकी अपेक्षाके विना जीव या सम्यग्दर्शन नाम रखना।

§ २ 'यह वही है' इस रूपसे तदाकार या अतदाकार वस्तुमे किसीकी स्थापना करना स्थापना निक्षेप है, यथा–इन्द्राकार प्रतिमामे इन्द्रकी या शतरजके मुहरोमे हाथी घोडा आदिकी स्थापना करना।

§ ३–७ आगामी पर्यायकी योग्यतावाले उस पदार्थको द्रव्य कहते है जो उस समय उस पर्यायके अभिमुख हो। जैसे इन्द्रप्रतिमाके लिए लाए गए काठको भी इन्द्र कहना। इसी तरह जीव पर्याय या सम्यग्दर्शन पर्यायके प्रति अभिमुख द्रव्यजीव या द्रव्यसम्यग्दर्शन कहा जायगा।

प्रश्न–यदि कोई अजीव जीवपर्यायको धारण करनेवाला होता तो द्रव्यजीव बन सकता था अन्यथा नही ? **उत्तर**–यद्यपि सामान्यरूपसे द्रव्यजीव नही है फिर भी मनुष्यादि विशेष पर्यायोकी अपेक्षा 'द्रव्यजीव' का व्यवहार कर लेना चाहिए। आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्यके भेदसे द्रव्य दो प्रकारका है। जीवशास्त्रका अभ्यासी पर तत्काल तद्विषयक उपयोगसे रहित आत्मा आगमद्रव्यजीव है। नोआगमद्रव्यजीव ज्ञाताका त्रिकालवर्ती शरीर, भावि पर्यायोन्मुख द्रव्य और कर्म नोकर्मके भेदसे तीन प्रकारका होता है।

§ ८–११ वर्तमान उस उस पर्यायसे विशिष्ट द्रव्यको भावजीव कहते है। जीवशास्त्रका अभ्यासी तथा उसके उपयोगमे लीन आत्मा आगमभावजीव है। जीवनादि पर्यायवाला जीव नोआगमभावजीव है।

§ १२ यद्यपि नाम और स्थापना दोनो निक्षेपोंमे संज्ञा रखी जाती है। विना नाम

रखे स्थापना हो ही नही सकती तो भी स्थापित जिन आदिमे पूजा आदर और अनुग्रहाभिलाषा होती है जबकि केवल नाममें नही । अत इन दोनोंमे अन्तर है ।

§ १३ यद्यपि द्रव्य और भावकी पृथक् सत्ता नही है, दोनोमे अभेद है, फिर भी सज्ञा लक्षण आदिकी दृष्टिसे इन दोनोमें भिन्नता है ।

§ १४–१८ **प्रश्न**–सबसे पहिले द्रव्यका ग्रहण करना चाहिए; क्योकि द्रव्यके ही नाम स्थापना आदि निक्षेप किए जाते है ? **उत्तर**–चूंकि समस्त लोकव्यवहार सज्ञा अर्थात् नामसे चलते है अत· सव्यवहारमे मुख्य हेतु होनेसे नामका सर्वप्रथम ग्रहण किया है । स्तुति निन्दा राग द्वेप आदि सारी प्रवृत्तिया नामाधीन है । जिसका नाम रख लिया गया है उसीकी 'यह वही है' इस प्रकार स्थापना होती है । अत नामके बाद स्थापनाका ग्रहण किया है । द्रव्य और भाव पूर्वोत्तरकालवर्ती है । अत पहिले द्रव्य और बादमे भावका ग्रहण किया है । अथवा–भावके साथ निकटता और दूरीकी अपेक्षा इनका क्रम समझना चाहिए । भाव प्रधान है क्योंकि भावकी व्याख्या ही अन्यके द्वारा होती है । भावके निकट द्रव्य है क्योकि दोनोका सम्बन्ध है । इसके पहिले स्थापना इसलिए रखी गई है कि वह अतद्रूप पदार्थमे तद्बुद्धि करानेमे प्रधान कारण है । उससे पहिले नामका ग्रहण किया है क्योकि वह भावसे अत्यन्त दूर है ।

§ १९–२५ **प्रश्न**–विरोध होनेके कारण एक जीवादि अर्थके नामादि चार निक्षेप नही हो सकते । जैसे नाम नाम ही है स्थापना नही । यदि उसे स्थापना माना जाता है तो उसे नाम नही कह सकते । यदि नाम कहते है तो वह स्थापना नही हो सकती क्योकि उनमे विरोध है । **उत्तर**–एक ही वस्तुमे लोकव्यवहारमे नाम आदि चारो व्यवहार देखे जाते है अत उनमे कोई विरोध नही है । इन्द्र नामका व्यक्ति है । मूर्तिमे इन्द्रकी स्थापना होती है । इन्द्रकी प्रतिमा बनानेके लिए लाए गए काष्ठको भी लोग इन्द्र कह देते है । आगेकी पर्यायकी योग्यतासे भी इन्द्र, राजा, सेठ आदि व्यवहार होते है तथा शचीपति इन्द्रमे भावव्यवहार प्रसिद्ध ही है । शकाकारने जो दृष्टान्त दिया है कि नाम नाम ही है स्थापना नही, वह ठीक नही है क्योकि यह कहा ही नही जा रहा है कि नाम स्थापना है किन्तु नाम स्थापना द्रव्य और भावसे एक वस्तुके चार प्रकारसे व्यवहार की बात है । जैसे ब्राह्मण मनुष्य अवश्य होता है क्योंकि ब्राह्मणमे मनुष्य जातिरूप सामान्य अवश्य पाया जाता है पर मनुष्य ब्राह्मण हो न भी हो उसी तरह स्थापना 'नाम' अवश्य होगी क्योंकि बिना नामकरणके स्थापना नही होती परन्तु जिसका नाम रखा है उसकी स्थापना हो भी न भी हो । इसी तरह द्रव्य 'भाव' अवश्य होगा क्योकि उसकी उस योग्यताका विकास अवश्य होगा परन्तु भाव 'द्रव्य' हो भी न भी हो क्योकि उस पर्यायमे आगे अमुक योग्यता रहे भी न भी रहे । अत. नामस्थापनादिमे परस्पर अनेकान्त है । छाया और प्रकाश तथा कौआ और उल्लूमे पाया जानेवाला सहानवस्था और बध्यघातक विरोध विद्यमान ही पदार्थोमे होता है अविद्यमान खरविषाण आदिमे नही। अतः विरोधकी सभावनासे ही नामादिचतुष्टयका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है । विरोध यदि नामादिरूप है तो वह उनके स्वरूपकी तरह विरोधक नही हो सकता । यदि नामादिरूप नही है तो भी विरोधक नही हो सकता । इस तरह तो सभी पदार्थ परस्पर एक दूसरेके विरोधक हो जायगे ।

§ २६–३० **प्रश्न**–भाव निक्षेपमे वे गुण आदि पाए जाते है अत. इसे ही सत्य कहा जा सकता है नामादिको नही । **उत्तर**–ऐसा माननेपर नाम स्थापना और द्रव्यसे होनेवाले यावत् लोकव्यवहारोंका लोप हो जायगा । लोक-व्यवहारमें बहुभाग तो नामादि

तीनका ही है। नामाद्याश्रित व्यवहारोंको उपचारसे स्वीकार करना ठीक नही है; क्योकि बच्चेमे क्रूरता शूरता आदि गुणोका एकदेश देखकर उपचारसे सिह व्यवहार तो उचित है पर नामादिमे तो उन गुणोका एकदेश भी नही पाया जाता अत नामाद्याश्रित व्यवहार औपचारिक भी नही कहे जा सकते। यदि नामादि-व्यवहारको औपचारिक कहा जाता है तो "गौण और मुख्यमे मुख्यका ही ज्ञान होता है" इस नियमके अनुसार मुख्य 'भाव'का ही सप्रत्यय होगा नामादि का नही। अर्थ प्रकरण और सकेत आदिके अनुसार नामादिका भी मुख्य प्रत्यय भी देखा ही जाता है अत. नामादि व्यवहारको औपचारिक कहना उचित नही है। "कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थों मे कृत्रिमका ही बोध होता है" यह नियम भी सर्वथा एकरूप नही है। यद्यपि 'गोपालको लाओ' यहा जिसकी गोपाल सज्ञा है वही व्यक्ति लाया जाता है न कि जो गायोको पालता है वह। तथापि इस नियमकी उभयरूपसे प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे किसी प्रकरणके न जाननेवाले गावडेके व्यक्तिसे 'गोपालको लाओ' यह कहनेपर उसकी दोनो गति होगी—वह गोपाल नामक व्यक्तिको जिस प्रकार लायगा उसी तरह गायके पालनेवालेको भी ला सकता है। लोकमे अर्थ और प्रकरणसे कृत्रिममे प्रत्यय देखा जाता है। फिर सामान्य दृष्टिसे नामादि भी अकृत्रिम ही है। इनमे कृत्रिमत्व और अकृत्रिमत्वका अनेकान्त है।

§ ३१–३३ **प्रश्न**—जब नाम स्थापना और द्रव्य द्रव्यार्थिक नयके विषय है तथा भाव पर्यायार्थिक नयका। अत इनका नयोमे ही अन्तर्भाव हो जाता है और नयोका कथन आगे होगा ही ? **उत्तर**—विनेयोको समझानेके अभिप्रायसे दो तीन आदि नयोका सक्षेप या विस्तारसे कथन किया जाता है। जो विद्वान् शिष्य है वे दो नयोके द्वारा ही सभी नयोके वक्तव्य-प्रतिपाद्य अर्थोंको जान लेते है उनकी अपेक्षा पृथक् कथनका प्रयोजन न भी हो पर जो मन्दबुद्धि है उनके लिए पृथक् नय और निक्षेपका कथन करना ही चाहिए। विषय और विषयीकी दृष्टिसे नय और निक्षेपका पृथक् पृथक् निरूपण है।

§ ३४–३७ यद्यपि सम्यग्दर्शनादिका प्रकरण था अतः सूत्रमे 'तत्' शब्दका ग्रहण किए बिना भी सम्यग्दर्शनादिके साथ नामादिका सम्बन्ध हो जाता फिर भी प्रधान सम्यग्दर्शनादि और गौण विषयभूत जीवजीवादि सभीके साथ नामादिका सम्बन्ध द्योतन करनेके लिए विशेष रूपसे 'तत्' शब्दका ग्रहण किया है। 'अनन्तरका ही विधि या निषेध होता है' इस नियमके अनुसार जीवादिका ही सम्बन्ध होगा सम्यग्दर्शनादिका नही' इस शकाका समाधान तो यह है कि—जीवादि सम्यग्दर्शनादिके विषय होनेसे गौण है, अत प्रत्यासन्न होनेपर भी मुख्य सम्यग्दर्शनादिका ही ग्रहण किया जायगा। फिर—'विशेष बात प्रकरणागत सामान्यमे बाधा नही दे सकती' इस नियमके अनुसार विषय विशेषके रूपमे कहे गए जीवादि पदार्थ प्रकरणागत सम्यग्दर्शनादिके ग्रहणके बाधक नही हो सकते।

तत्त्वाधिगमके उपाय—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

प्रमाण और नयो से जीवादि पदार्थोंका अधिगम-ज्ञान होता है।

§ १–३ व्याकरणशास्त्रके 'अल्प अक्षरवाले पदका पूर्व प्रयोग करना चाहिए' इस नियमके अनुसार नयका प्रथम ग्रहण करना चाहिए था; किन्तु उक्त नियमके बाधक 'पूज्यका पूर्व निपात होता है' इस नियमके अनुसार 'प्रमाण' पदका प्रथम ग्रहण किया है। प्रमाण-

के द्वारा प्रकाशित ही अर्थके एक देशमे नयकी प्रवृत्ति होती है अत प्रमाण पूज्य है । प्रमाण समुदायको विषय करता है तथा नय अवयवको । प्रमाण सकलादेशी होता है तथा नय विकलादेशी ।

§ ४ ज्ञान स्वाधिगम हेतु होता है जो प्रमाण और नयरूप होता है । वचन पराधिगम हेतु है । वचनात्मक स्याद्वाद श्रुतके द्वारा जीवादिकी प्रत्येक पर्याय सप्तभगी रूपसे जानी जाती है ।

§ ५ प्रश्नके अनुसार एक वस्तुमे प्रमाणसे अविरुद्ध विधिप्रतिषेध धर्मोकी कल्पना सप्तभगी है । एक ही घड़ेका गौण और मुख्य रूपसे १ स्यात् घट, २ स्यात् अघट, ३ स्यात् उभय, ४ स्यात् अवक्तव्य, ५ स्यात् घट और अवक्तव्य, ६ स्यात् अघट और अवक्तव्य, ७ स्यात् उभय और अवक्तव्य इन सात रूपसे निरूपण किया जा सकता है । घट स्वस्वरूपसे है पररूपसे नही है । घडेके स्वात्मा और परात्माका विवेचन अनेक प्रकारसे होता है। यथा–

(१) जिसमे घट बुद्धि और घट शब्दका व्यवहार हो वह स्वात्मा तथा उससे भिन्न परात्मा है । स्वरूप ग्रहण और पररूप त्यागके द्वारा ही वस्तुकी वस्तुता स्थिर की जाती है। यदि पररूपकी व्यावृत्ति न हो तो सभी रूपोसे घटव्यवहार होना चाहिए और यदि स्वरूप ग्रहण न हो तो नि स्वरूपत्वका प्रसङ्ग होनेसे वह खरविषाणकी तरह असत् ही हो जायगा ।

(२) नाम स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेपोका जो आधार होता है वह स्वात्मा तथा अन्य परात्मा । यदि अन्य रूपसे भी घट हो जाय तो प्रतिनियत नामादि व्यवहारका ही उच्छेद हो जायगा ।

(३) घटशब्दके वाच्य अनेक घडोंमेसे विवक्षित अमुक घटका जो आकार आदि है वह स्वात्मा अन्य परात्मा । यदि इतर घटके आकारसे भी वह घट 'घट' हो जाय तो सभी घड़े एक घटरूप ही हो जायँगे और इस तरह अनेकत्वमूलक घटसामान्य व्यवहार ही नष्ट हो जायगा ।

(४) अमुक घट भी द्रव्यदृष्टिसे अनेक क्षणस्थायी होता है । अत अन्वयी मृद्द्रव्य-की अपेक्षा स्थास कोश कुशूल घट कपाल आदि पूर्वोत्तर अवस्थाओमे भी घट व्यवहार हो सकता है इनमे स्थास कोश कुशूल और कपाल आदि पूर्व और उत्तर अवस्थाए परात्मा है तथा मध्यक्षणवर्ती घट अवस्था स्वात्मा है । उसी अवस्थासे वह घट है क्योकि उसीमे घड़ेके गुण क्रिया आदि पाए जाते है । यदि उन कुशूलादि अवस्थाओमे भी घडेकी उपलब्धि हो तो घटकी उत्पत्ति और विनाशके लिए किया जानेवाला पुरुषका प्रयत्न ही निष्फल हो जायगा ।

(५) उस मध्यकालवर्ती घटपर्यायमे भी प्रतिक्षण उपचय और अपचय होता रहता है अत ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे एकक्षणवर्ती घट ही स्वात्मा है अतीत और अनागतकालीन उस घटकी ही पर्यायें परात्मा है । यदि प्रत्युत्पन्न क्षणकी तरह अतीत और अनागत क्षणोसे भी घट माना जाय तो सभी वर्तमान क्षणमात्र ही हो जायँगे । अतीत और अनागतकी तरह प्रत्युत्पन्न क्षणसे भी असत्त्व माना जाय तो जगत्से घटव्यवहारका ही लोप हो जायगा ।

(६) उस प्रत्युत्पन्न घटक्षणमें रूप रस गन्ध पृथुबुध्नोदराकार आदि अनेक गुण और पर्यायें है अतः घड़ा पृथुबुध्नोदराकारसे 'है' क्योंकि घटव्यवहार इसी आकारसे होता है अन्यसे नही । यदि उस आकारसे भी घड़ा 'न' हो तो घटका अभाव ही हो जायगा ।

(७) आकारमें रूप रस आदि सभी है। घडेके रूपको आंखसे देखकर ही घटके अस्तित्वका व्यवहार होता है अत रूप स्वात्मा है तथा रसादि परात्मा। 'आंखसे घडेको देखता हू' यहा रूपकी तरह रसादि भी घटके स्वात्मा हों तो रसादि भी चक्षुर्ग्राह्य हो जानेसे रूपात्मक हो जायगे फिर अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना ही निरर्थक हो जायगी। यदि रसादिकी तरह रूप भी स्वात्मा न हो तो वह चक्षुके द्वारा दिखाई ही नही देगा।

(८) शब्दभेदसे अर्थभेद होता ही है अत. घट शब्दका अर्थ जुदा है तथा कुट आदि शब्दोंका जुदा। घटन क्रियाके कारण घट है तथा कुटिल होनेके कारण कुट। अत घडा जिस समय घटन क्रियामे परिणत हो उसी समय उसे घट कहना चाहिए। इसलिए घटका घटनक्रियामे कर्त्तारूपसे उपयुक्त होनेवाला स्वरूप स्वात्मा है और अन्य परात्मा। यदि इतर रूपसे भी घट कहा जाय तो पटादिमे भी घटव्यवहारका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। और इस तरह सभी पदार्थ एकशब्दके वाच्य हो जायगे।

(९) घटशब्दप्रयोगके बाद उत्पन्न घटज्ञानाकार स्वात्मा है क्योकि वही अन्तरग है और अहेय है। बाह्य घटाकार परात्मा है। अत. घडा उपयोगाकारसे है अन्य से नही। यदि उपयोगाकारसे भी अघट हो जाय तो वचन व्यवहारके मूलाधार उपयोगके अभावमे सभी व्यवहार विनष्ट हो जायँगे।

(१०) चैतन्य शक्तिके दो आकार होते है—१ ज्ञानाकार २ ज्ञेयाकार। प्रतिबिम्ब-शून्य दर्पणकी तरह ज्ञानाकार है और प्रतिबिम्ब सहित दर्पणकी तरह ज्ञेयाकार। इनमे ज्ञेयाकार स्वात्मा है क्योकि घटाकार ज्ञानसे ही घट व्यवहार होता है। और ज्ञानाकार परात्मा है क्योकि वह सर्वसाधारण है। यदि ज्ञानाकारसे घट माना जाय तो पटादि ज्ञान कालमे भी घट-व्यवहार होना चाहिए। यदि ज्ञेयाकारसे भी घट 'न' माना जाय तो घट-व्यवहार निराधार हो जायगा।

इस प्रकार उक्त रीतिसे सूचित घटत्व और अघटत्व दोनों धर्मोका आधार घडा ही होता है। यदि दोनोमे भेद माना जाय तो घटमे ही दोनों धर्मोके निमित्तसे होनेवाली बुद्धि और वचन प्रयोग नही हो सकेगे। अत घडा उभयात्मक है। क्रमसे दोनो धर्मोकी विवक्षा होनेपर घडा स्यात् घट भी है और अघट भी। यदि उभयात्मक वस्तुको घट ही कहा जाय तो दूसरे स्वरूपका सग्रह न होनेसे वह अतत्त्व ही हो जायगी। यदि अघट कही जाय तो घट रूपका सग्रह न होनेसे अतत्त्व बन जायगी। और कोई ऐसा शब्द है नही जो युगपत् उभय रूपोका प्रधान भावसे कथन कर सके अत युगपदुभय विवक्षामे वस्तु अवक्तव्य है। प्रथम समयमे घटस्वरूपकी मुख्यता तथा द्वितीय समयमे युगपदुभय विवक्षा होनेपर घट स्यात् घट और अवक्तव्य है। अघट रूपकी विवक्षा तथा क्रमश· युगपदुभय विवक्षा होनेपर घट स्यादघट और अवक्तव्य है। क्रमश उभय धर्म और युगपदुभय धर्मोकी सामूहिक विवक्षा होनेपर घट स्यादुभय और अवक्तव्य है। इस तरह यह सप्तभगी प्रक्रिया सभी सम्यग्दर्शनादिमे लगा देनी चाहिए।

यदि द्रव्यार्थिक नयका एकान्त आग्रह किया जाता है तो अतत्को तत् कहनेके कारण उन्मत्त वाक्यकी तरह वह अग्राह्य हो जायगा। इसी तरह यदि पर्यायार्थिकका सर्वथा आग्रह किया जाता है तो तत्को भी अतत् कहनेके कारण असद्वाद ही हो जायगा। स्याद्वाद वस्तुके यथार्थरूपका निश्चय करनेके कारण सद्वाद है। वस्तुको सर्वथा अवक्तव्य कहना

भी असद्वाद है । क्योकि इस दशामे 'अवक्तव्य' यह वचन भी नही बोल सकेगे जैसे कि मौनव्रती 'मै मौनव्रती हू' यह शब्द भी नही बोल सकता । अत स्यादवक्तव्यवाद ही सत्य है । हिताहितविवेक भी इसीसे होता है ।

§ ६–७ **प्रश्न**–यदि अनेकान्तमे भी यह विधि प्रतिषेध कल्पना लगती है तो जिस समय अनेकान्तमे 'नास्ति' भग प्रयुक्त होगा उस समय एकान्तवादका प्रसङ्ग आ जाता है। और अनेकान्तमे अनेकान्त लगानेपर अनवस्था दूषण होता है । अत अनेकान्तको अनेकान्त ही कहना चाहिए । **उत्तर**–अनेकान्तमे भी प्रमाण और नयकी दृष्टिसे अनेकान्त और एकान्त रूपसे अनेकमुखी कल्पनाए हो सकती है । अनेकान्त और एकान्त दोनो ही सम्यक् और मिथ्याके भेदसे दो दो प्रकारके होते है । प्रमाणके द्वारा निरूपित वस्तुके एक देशको सयुक्ति ग्रहण करनेवाला सम्यगेकान्त है । एक धर्मका सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मोका निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है । एक वस्तुमे युक्ति और आगमसे अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मोको ग्रहण करनेवाला सम्यगनेकान्त है तथा वस्तुको तत् अतत् आदि स्वभावसे शून्य कहकर उसमे अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना अर्थशून्य वचनविलास मिथ्या अनेकान्त है । सम्यगेकान्त नय कहलाता है तथा सम्यगनेकान्त प्रमाण । यदि अनेकान्तको अनेकान्त ही माना जाय और एकान्तका लोप किया जाय तो सम्यगेकान्तके अभावमे शाखादिके अभावमे वृक्षके अभावकी तरह तत्समुदाय रूप अनेकान्तका भी अभाव हो जायगा। यदि एकान्त ही माना जाय तो अविनाभावी इतर धर्मोका लोप होनेपर प्रकृत शेषका भी लोप होनेसे सर्वलोपका प्रसग प्राप्त होता है।

§ ८ अनेकान्त छल रूप नही है क्योकि जहा वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना करके वचन विघात किया जाता है वहा छल होता है । जैसे 'नवकम्बलो देवदत्त' यहा 'नव' शब्दके दो अर्थ होते है । एक ९ सख्या और दूसरा नया । तो 'नूतन' विवक्षासे कहे गये 'नव' शब्दका ९ सख्या रूप अर्थविकल्प करके वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना छल कही जाती है किन्तु सुनिश्चित मुख्य गौण विवक्षासे सभव अनेक धर्मो का सुनिर्णीत रूपसे प्रतिपादन करनेवाला अनेकान्तवाद छल नही हो सकता, क्योकि इसमे वचनविघात नही किया गया है अपितु यथावस्थित वस्तुतत्त्वका निरूपण किया गया है ।

§ ९–१४ **प्रश्न**–एक आधारमे विरोधी अनेक धर्मोका रहना असभव है अत अनेकान्त सशय हेतु है ? **उत्तर**–सामान्य धर्मका प्रत्यक्ष होनेसे विशेष धर्मो का प्रत्यक्ष न होनेपर किन्तु उभय विशेषोका स्मरण होनेसे सशय होता है । जैसे धुंधली रात्रिमे स्थाणु और पुरुषगत ऊचाई आदि सामान्य धर्मकी प्रत्यक्षता होने पर स्थाणुगत कोटर पक्षिनिवास तथा पुरुषगत सिर खुजाना कपडा हिलने आदि विशेष धर्मो के न दिखनेपर किन्तु इन विशेषोका स्मरण रहनेपर ज्ञान दो कोटियोमे दोलित हो जाता है कि यह स्थाणु है या पुरुष । किन्तु अनेकान्तवादमे विशेष धर्मो की अनुपलब्धि नही है । सभी धर्मोकी सत्ता अपनी अपनी निश्चित अपेक्षाओंसे स्वीकृत है । तत्तद् धर्मोका विशेष प्रतिभास निर्विवाद सापेक्ष रीतिसे बताया गया है । संशयका यह आधार भी उचित नही है कि 'अस्ति आदि धर्मो को पृथक्-पृथक् सिद्ध करनेवाले हेतु है या नही ? यदि नही है तो प्रतिपादन कैसा ? यदि है, तो एक ही वस्तुमे परस्पर विरुद्ध धर्मो की सिद्धि होनेपर सशय होना ही चाहिए', क्योकि यदि विरोध होता तो सशय होता । किन्तु अपनी अपनी अपेक्षाओसे सभवित

धर्मोमे विरोधकी कोई सभावना ही नही है। जैसे एक ही देवदत्त भिन्न-भिन्न पुत्रादि सम्बन्धियोकी दृष्टिसे पिता पुत्र मामा आदि निर्विरोध रूपसे व्यवहृत होता है। उसी तरह अस्तित्व आदि धर्मोका भी एक वस्तुमे रहनेमे कोई विरोध नही है। देवदत्त यदि अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है तो सबकी अपेक्षा पिता नही हो सकता। जैसे कि एक ही हेतु सपक्षमे सत् होता है और विपक्षमे असत् होता है उसी तरह विभिन्न अपेक्षाओसे अस्तित्व आदि धर्मोके रहनेमे भी कोई विरोध नही है।

अथवा, जैसे वादी या प्रतिवादीके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक हेतु स्वपक्षकी अपेक्षा साधक और परपक्षकी अपेक्षा दूषक होता है उसीप्रकार एक ही वस्तुमे विभिन्न अपेक्षाओसे विविध धर्म रह सकते है। 'एक वस्तु अनेक धर्मात्मक है' इसमे किसी वादीको विवाद भी नही है। यथा—साख्य सत्त्व, रज और तम, इन भिन्न स्वभाववाले धर्मोंका आधार एक 'प्रधान' मानते है। वैशेषिक पृथिवीत्व आदि सामान्यविशेष स्वीकार करते है। एक ही पृथिवीत्व स्वव्यक्तियोमे अनुगत होनेसे सामान्यात्मक होकर भी जलादि से व्यावृत्ति करानेके कारण विशेष कहा जाता है। इसीलिए इसकी सामान्यविशेष सज्ञा है। बौद्ध कर्कश आदि विभिन्न लक्षणवाले परमाणुओंके समुदायको एक रूप स्वलक्षण मानते है। इनके मतमे भी विभिन्न परमाणुओमे रूपकी दृष्टिसे कोई विरोध नही है। विज्ञानाद्वैतवादी एक ही विज्ञानको ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और सवेदनाकार इस प्रकार त्रयाकार स्वीकार करते ही है। सभी वादी पूर्वावस्थाको कारण और उत्तरावस्थाको कार्य मानते है अत एक ही पदार्थमे अपनी पूर्व और उत्तरपर्यायकी दृष्टिसे कारण-कार्य व्यवहार निर्विरोध रूपसे होता ही है। उसी तरह सभी जीवादि पदार्थ विभिन्न अपेक्षाओसे अनेक धर्मोके आधार होते है।

जीवादिके अधिगमके अन्य उपाय—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

निर्देश-नाममात्र कथन या स्वरूप निश्चय, स्वामित्व—अधिकारी, साधन--कारण, अधिकरण-आधार, स्थिति-कालमर्यादा और विधान—भेद-प्रभेदसे भी जीवादिका अधिगम होता है।

§ १-२ जिस पदार्थके स्वरूपका निश्चय हो जाता है उसीके स्वामित्व साधन आदि जाननेकी इच्छा होती है अतः सर्वप्रथम निर्देशका ग्रहण किया गया है। अन्य स्वामित्व आदिका प्रश्नोके अनुसार क्रम है।

§ ३-५ पर्यायार्थिक नयसे औपशमिक आदि भावरूप जीव है। द्रव्यार्थिक नयसे नामादि रूप जीव है। प्रमाणदृष्टिसे जीवका निर्देश उभयरूपसे होता है।

§ ६-७ निश्चयदृष्टिसे जीव अपनी पर्यायोका स्वामी है। जैसे कि अग्निका स्वामित्व उष्णता पर है। पर्याय और पर्यायीमें कथञ्चिद् भेद दृष्टिसे स्वामित्व व्यवहार हो जाता है। व्यवहार नयसे सभी पदार्थोंका स्वामी जीव हो सकता है।

§ ८-९ निश्चय नयसे जीव अपने अनादि पारिणामिक भावोंसे ही स्वस्वरूपलाभ करता है। व्यवहार नयसे औपशमिकादि भावोसे तथा माता-पिताके रजवीर्य आहार आदिसे भी स्वरूपलाभ करता है।

§ १०--११ निश्चय नयसे जीव अपने असख्यात प्रदेशोंमें रहता है तथा व्यवहार नयसे कर्मानुसार प्राप्त शरीरमें रहता है।

§ १२ द्रव्यदृष्टिसे जीवकी स्थिति अनाद्यनन्त है। कभी भी जीव चैतन्य जीवद्रव्यत्व उपयोग असख्यातप्रदेशित्व आदि सामान्य स्वरूपको नही छोड सकता। पर्यायकी अपेक्षा स्थिति एक समय आदि अनेक प्रकार की है।

§ १३ जीवद्रव्य नारक मनुष्य आदि पर्यायोके भेदसे सख्यात असख्यात और अनन्त प्रकार के है।

§ १४ इसी तरह अजीवादिमे भी निर्देश आदिकी योजना करनी चाहिए। यथा निर्देश–दश प्राणरहित अजीव होता है। अथवा नाम आदि रूप भी अजीव है। अजीवका स्वामी अजीव ही होता है अथवा भोक्ता होनेके कारण जीव भी। पुद्गलोके अणुत्वका साधन भेद है और स्कन्धका साधन भेद और सघात। बाह्य साधन कालादि है। धर्म अधर्म काल और आकाशमे स्वाभाविक गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, वर्तनाहेतुता और अवगाहनहेतुता ही साधन है। अथवा जीव और पुद्गल, क्योकि इनके निमित्तसे गत्यादिहेतुताकी अभिव्यक्ति होती है। साधारणतया सभी द्रव्योका अपना निज रूप ही अधिकरण है। आकाश बाह्य अधिकरण है। जलादिके लिए घट आदि अधिकरण है। द्रव्य दृष्टिसे स्थिति अनाद्यनन्त है तथा पर्यायदृष्टिसे एक समय आदि। द्रव्यदृष्टिसे धर्मादि तीन द्रव्य एक एक है। पर्यायार्थिक दृष्टिसे अनन्त जीवपुद्गलोकी गत्यादिमे निमित्त होनेसे अनेक है–सख्यात असख्यात और अनन्त है। काल सख्यात और असख्यात है। परपरिणमनमे निमित्त होता है अत अनन्त भी है। पुद्गलद्रव्य सामान्यसे एक है। विशेष रूपसे सख्यात असख्यात और अनन्त है।

आस्रव–मन, वचन और कायकी क्रिया रूप होता है, अथवा नामादि रूप आस्रव होता है। उपादान रूपसे आस्रवका स्वामी जीव है, निमित्तकी दृष्टिसे कर्मपुद्गल भी आस्रवका स्वामी होता है। अशुद्ध आत्मा साधन है अथवा निमित्त रूपसे कर्म भी। जीव ही आधार है क्योकि कर्मपरिपाक जीवमे ही होता है। कर्मनिमित्तक शरीरादि भी उपचार से आधार है। वाचनिक और मानस आस्रवकी स्थिति जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्त है। कायास्रवकी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल या असख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है। वाचनिक और मानस आस्रव सत्य असत्य उभय और अनुभयके भेदसे चार प्रकारका है। कायास्रव औदारिक औदारिकमिश्र वैक्रियिक वैक्रियिकमिश्र आहारक आहारकमिश्र और कार्मणके भेदसे सात प्रकारका है। औदारिक और औदारिकमिश्र मनुष्य और तिर्यञ्चोके होता है। वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्र देव और नारकियोके होता है। ऋद्धिप्राप्त सयतोंके आहारक और आहारकमिश्र होता है। विग्रहगतिप्राप्त जीव और समुद्घातगत केवलियोंके कार्मण कायास्रव होता है। आस्रव शुभ और अशुभके भेदसे भी दो प्रकारका है। हिसा, असत्य, चोरी, कुशील आदिमे प्रवृत्ति अशुभ कायास्रव है तथा निवृत्ति शुभकायास्रव। कठोर गाली चुगली आदि रूपसे परबाधक वचनोंकी प्रवृत्ति वाचनिक अशुभास्रव है और इनसे निवृत्ति वाचनिक शुभास्रव। मिथ्या श्रुति ईर्षा मात्सर्य षड्यन्त्र आदि रूपसे मानस प्रवृत्ति मानस अशुभास्रव है और इनसे निवृत्ति मानस शुभास्रव।

बन्ध–जीव और कर्मप्रदेशोका परस्पर सश्लेष बन्ध है अथवा जिसका नाम बन्ध रखा या स्थापना आदि की, वह बन्ध है। बन्धका फल जीवको भोगना पड़ता है अतः स्वामी जीव है। चूंकि बन्ध दोमे होता है अत पुद्गल कर्म भी स्वामी कहा जा सकता है। मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये बन्धके साधन है अथवा इन रूपसे परिणत आत्मा साधन है। स्वामिसम्बन्धके योग्य वस्तु ही अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल ही बन्धके आधार है। जघन्य स्थिति वेदनीयकी बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त और शेष कर्मोकी अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तरायकी तीस कोडा-कोडी सागर है। मोहनीयकी सत्तर कोडाकोडी, नाम और गोत्रकी बीस कोडाकोड़ी सागर है। आयुकी तेतीस सागर स्थिति है। अभव्य जीवोके बन्ध सन्तानकी अपेक्षा अनाद्यनन्त है। उन भव्योका बन्ध भी अनाद्यनन्त है जो अनन्तकाल तक सिद्ध न होगे। ज्ञानावरण आदि कर्मोंका उत्पाद और विनाश प्रतिसमय होता रहता है अत सादि सान्त भी है। सामान्यरूपसे बन्ध एक है। शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकार है। द्रव्य भाव और उभयके भेदसे तीन प्रकारका है। प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका है। मिथ्यादर्शनादि कारणोके भेदसे पाच प्रकारका है। नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूपसे छह प्रकारका है। इनमे भव और मिलानेसे सात प्रकार का है। ज्ञानावरण आदि मूल कर्मप्रकृतियोकी दृष्टिसे आठ प्रकारका है। इस प्रकार कारणकार्यकी दृष्टिसे सख्यात असख्यात और अनन्त विकल्प होते है।

संवर–आस्रव-निरोधको सवर कहते है अथवा नामादि रूप भी सवर होता है। इसका स्वामी जीव होता है अथवा रोके जानेवाले कर्मकी दृष्टिसे कर्म भी स्वामी है। गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा आदि साधन है। स्वामि सम्बन्धके योग्य वस्तु आधार है। जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण है। विधान एकसे लेकर एक सौ आठ तक तथा आगे भी सख्यात आदि विकल्प होते है। तीन गुप्ति, पाच समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय, बारह तप, नव प्रायश्चित्त, चार विनय, दस वैयावृत्त्य, पाच स्वाध्याय, दो व्युत्सर्ग, दस धर्म ध्यान और चार शुक्लध्यान ये सवरके १०८ भेद होते है।

निर्जरा–यथाकाल या तपोविशेषसे कर्मोकी फलदानशक्ति नष्ट कर उन्हे झड़ा देना निर्जरा है। नामस्थापना आदि रूप भी निर्जरा होती है। निर्जराका स्वामी आत्मा है अथवा द्रव्य निर्जराका स्वामी जीव भी है। तप और समयानुसार कर्मविपाक ये दो साधन है। आत्मा या निर्जराका स्वस्वरूप आधार है। सामान्यसे निर्जरा एक प्रकार की है, यथाकाल और औपक्रमिकके भेदसे दो प्रकार की है, मूल कर्मप्रकृतियोकी दृष्टिसे आठ प्रकार की है, इसी तरह कर्मके रसको क्षीण करनेके विभिन्न प्रकारोकी अपेक्षा सख्यात असख्यात और अनन्त भेद होते है।

मोक्ष–सपूर्ण कर्मोका क्षय मोक्ष है अथवा नामादिरूप मोक्ष होता है। परमात्मा और मोक्षस्वरूप ही स्वामी है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके साधन है। स्वामिसम्बन्धके योग्य पदार्थ अर्थात् जीव और पुद्गल आधार होते है। सादि अनन्त स्थिति है। सामान्यसे मोक्ष एक ही प्रकारका है। द्रव्य भाव और भोक्तव्यकी दृष्टिसे अनेक प्रकार का है।

सम्यग्दर्शन–तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है अथवा नामादिरूप भी सम्यग्दर्शन होता है। स्वामी आत्मा और सम्यग्दर्शन पर्याय है। दर्शनमोहके उपशम आदि अन्तरग साधन है, उपदेश आदि बाह्य साधन है। स्वामि सम्बन्धके योग्य वस्तु अधिकरण है। जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छयासठ सागर प्रमाण है। अथवा औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन सादि सान्त होते है तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन सादि अनन्त। सामान्यसे सम्यग्दर्शन एक है, निसर्गज और अधिगमज रूपसे दो प्रकारका है, औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है। इसी तरह विभिन्न परिणामोंकी दृष्टिसे सख्यात असख्यात और अनन्त विकल्प होते है।

ज्ञान–जीवादितत्त्वोंके प्रकाशनको ज्ञान कहते है अथवा नामादि रूप भी ज्ञान होता है। स्वामी आत्मा है या ज्ञान पर्याय। ज्ञानावरण आदि कर्मका क्षयोपशम आदि साधन है अथवा अपनेको प्रकट करनेकी योग्यता। आत्मा अथवा स्वाकार ही अधिकरण है। क्षायोपशमिक मति आदि चार ज्ञान सादि सान्त है। क्षायिक ज्ञान सादि अनन्त होता है। सामान्यसे ज्ञान एक है, प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है। द्रव्य गुण और पर्यायरूप ज्ञेयके भेदसे तीन प्रकारका है। नामादिके भेदसे चार प्रकारका है। मति श्रुत अवधि आदिके भेदसे पाच प्रकारका है। इसी तरह ज्ञेयाकार परिणतिके भेदसे सख्यात असख्यात और अनन्त विकल्प होते है।

चारित्र–कर्मोके आनेके कारणोकी निवृत्तिको चारित्र कहते है अथवा नामादिरूप भी चारित्र होता है। आत्मा अथवा चारित्रपर्याय स्वामी है। चारित्रमोहका उपशम आदि अथवा चारित्रशक्ति साधन है। स्वामिसम्बन्धके योग्य वस्तु अधिकरण है। जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम पूर्वकोटी प्रमाण है। अथवा औपशमिक और क्षायोपशमिक चारित्र सादि और सान्त है। क्षायिक चारित्र शुद्धिकी प्रकटताकी अपेक्षा सादि अनन्त होता है। सामान्यसे चारित्र एक है। बाह्य और आभ्यन्तर निवृत्तिकी अपेक्षा दो प्रकारका है। औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है। चार प्रकारके यतिकी दृष्टिसे या चतुर्थमकी अपेक्षा चार प्रकारका है। सामायिक आदिके भेदसे पाच प्रकारका है। इसी तरह विविध निवृत्तिरूप परिणामोकी दृष्टिसे सख्यात असख्यात और अनन्त विकल्परूप होता है।

जीवादिके अधिगमके अन्य उपाय–

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

सत् सख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव और अल्प बहुत्वके द्वारा भी जीवादि-पदार्थोंका अधिगम होता है।

§ १–२ यद्यपि 'सत्' शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोमे होता है–जैसे 'सत्पुरुष, सदश्व' यहाँ प्रशसार्थक सत् शब्द है। 'सन् घटः सन् पट.' यहाँ सत् शब्द अस्तित्ववाचक है। 'प्रव्रजित सन् कथमनृतं ब्रूयात्–अर्थात् दीक्षित होकर असत्य भाषण कैसे कर सकते है' यहाँ सत् शब्द प्रतिज्ञावाचक है। 'सत्कृत्य'मे सत् शब्द आदरार्थक है। यहाँ विवक्षासे सत् शब्द विद्यमानवाची ग्रहण किया गया है। चूँकि सत् सर्वपदार्थव्यापी है और समस्त विचारो

का आधार होता है अत. उसको सर्वप्रथम ग्रहण किया है। गुण और क्रिया आदि किसीमे होते है किसीमे नही पर 'सत्' सर्वत्र अप्रतिहतगति है।

§ ३ जिसका सद्भाव प्रसिद्ध है उसी पदार्थकी सख्यात असख्यात या अनन्त रूपसे गणना की जाती है अत सत्के बाद परिमाण निश्चय करनेवाली सख्याका ग्रहण किया गया है।

§ ४ जिसकी सख्याका परिज्ञान हो गया है उस पदार्थके ऊपर-नीचे आदि रूपसे वर्तमान निवासकी प्रतिपत्तिके अर्थ उसके बाद क्षेत्रका ग्रहण किया है।

§ ५ पदार्थोकी त्रैकालिक अवस्थाएँ विचित्र होती है, अत· त्रैकालिक क्षेत्रकी प्रतिपत्तिके लिए उसके बाद स्पर्शनका ग्रहण किया है। किसीका क्षेत्र प्रमाण ही स्पर्शन होता है तो किसीका एक जीव या नाना जीवोकी अपेक्षा ६ राजू या आठ राजू।

§ ६ किसी क्षेत्रमे स्थित पदार्थकी काल मर्यादा निश्चय करना काल है।

§ ७ अन्तर शब्दके अनेक अर्थ है। यथा–'सान्तर काष्ठम्' मे छिद्र अर्थ है। 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभते' यहा द्रव्यान्तरका अर्थ अन्य द्रव्य है। 'हिमवत्सागरान्तरे'मे अन्तर शब्दका अर्थ मध्य है। 'शुक्लरक्ताद्यन्तरस्थस्य स्फटिकस्य–सफेद और लाल रगके समीप रखा हुआ स्फटिक' यहाँ अन्तरका समीप अर्थ है। कहीपर 'विशेषता' अर्थमे भी प्रयुक्त होता है। जैसे 'घोडा हाथी और लोहेमे' 'लकडी पत्थर और कपडेमे' स्त्री-पुरुष और जलमे अन्तर ही नही, महान् अन्तर है। यहाँ अन्तर शब्द वैशिष्ट्यवाचक ह। 'ग्राम-स्यान्तरे कूपा' मे बाह्यार्थक अन्तर शब्द है अर्थात् गाँवके बाहर कुआ है। कही उपसव्यान अर्थात् अन्तर्वस्त्रके अर्थमे अन्तर शब्दका प्रयोग होता हैं यथा 'अन्तरे शाटका'। कहीं विरह अर्थमे जैसे 'अनभिप्रेत श्रोतृजनान्तरे मन्त्रयते–अनिष्ट व्यक्तियोके विरहमे मन्त्रणा करता है'। प्रकृतमे छिद्र मध्य और विरहमेसे कोई एक अर्थ लेना चाहिए।

§ ८ किसी समर्थ द्रव्यकी किसी निमित्तसे अमुक पर्यायका अभाव होनेपर निमित्तान्तरसे जब तक वह पर्याय पुन प्रकट नही होती तब तकके कालको अन्तर कहते है।

§ ९ औपमशमिक आदि परिणामोके निर्देशके लिए भावका ग्रहण किया है।

§ १० सख्याका निश्चय होनेपर भी परस्पर न्यूनाधिक्यका ज्ञान करनेके लिए अल्पबहुत्वका कथन है।

§ ११–१४ **प्रश्न**–निर्देशके ग्रहणसे ही 'सत्'का अर्थ पूरा हो जाता है अत. इस सूत्रमे 'सत्' का ग्रहण निरर्थक है ? **उत्तर**–'सत्'के द्वारा गति इन्द्रिय काय आदि चौदह मार्गणाओमे 'कहा है कहा नहीं है ?' आदिरूपसे सम्यग्दर्शनादिका अस्तित्व सूचित किया जाता है। अधिकृत जीवादि और सम्यग्दर्शनादिका यद्यपि 'निर्देश'के द्वारा ग्रहण हो जाता है परन्तु अनधिकृत क्रोधादि या अजीवपर्याय वर्णादिके अस्तित्वका सूचन करनेके लिए 'सत्' का ग्रहण आवश्यक है।

§ १५ विधान और सख्या ग्रहणके पृथक्-पृथक् प्रयोजन हैं–विधानके द्वारा सम्यग्दर्शनादिके प्रकारोंकी गिनती की जाती है और प्रत्येक प्रकारकी वस्तुओंकी गिनती सख्याके द्वारा की जाती है–इतने उपशम सम्यग्दृष्टि है, इतने क्षायिकसम्यग्दृष्टि है आदि।

§ १६ यद्यपि आपातत क्षेत्र और अधिकरणमे कोई अन्तर नही है फिर भी अधिकृत अनधिकृत सभी पदार्थो का क्षेत्र बतानेके लिए विशेषरूपसे क्षेत्रका ग्रहण किया है।

§ १७–१९ **प्रश्न**–क्षेत्रके होनेपर ही स्पर्शन होता है, घटरूप क्षेत्रके रहने पर ही जल उसे स्पर्शन करता है अत क्षेत्रसे स्पर्शनका पृथक् कथन नही करना चाहिए ? **उत्तर**–क्षेत्र शब्द विषयवाची है जैसे राजा जनपदक्षेत्रमे रहता है यहा राजाका विषय जनपद है न कि वह सम्पूर्ण जनपदको स्पर्श करता है परन्तु स्पर्शन सम्पूर्ण विषयक होता है। क्षेत्र वर्तमानवाची है और स्पर्शन त्रिकालगोचर होता है, अर्थात् त्रैकालिक क्षेत्रको स्पर्शन कहते है।

§ २० मुख्यकालके अस्तित्वकी सूचना देनेके लिए स्थितिसे पृथक् कालका ग्रहण किया है। व्यवहारकाल पर्याय और पर्यायीकी अवधिका परिच्छेद करता है। सभी पदार्थो के अधिगमके लिए किचित् विशेषका निरूपण किया गया है।

§ २१ यद्यपि निक्षेपोमे 'भाव' का निरूपण है किन्तु यहा भावसे औपशमिकादि जीवभावोके कहनेकी विवक्षा है और वहा सामान्यसे पर्यायनिरूपण की।

§ २२ तत्त्वाधिगमके विभिन्न प्रकारोका निर्देश शिष्यकी योग्यता अभिप्राय और जिज्ञासाकी शान्तिके लिए किया जाता है। कोई अति सक्षेपमे समझ लेते है कोई विस्तारसे और कोई मध्यम रीतिसे। अन्यथा 'प्रमाण' इस सक्षिप्त ग्रहणसे ही सब प्रयोजन सिद्ध हो सकते है तो अन्य सभी उपायोका कथन निरर्थक हो जायगा।

सम्यग्ज्ञानका वर्णन––

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥

मति श्रुत अवधि मन पर्यय और केवल ये पाच ज्ञान है।

§ १ मत्यावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मनकी सहायतासे अर्थोका मनन मति है। यह 'मनन मति' भावसाधन है। 'मनुते अर्थान् मति.' यह कर्तृसाधन भी स्वतन्त्र विवक्षामे होता है। 'मन्यते अनेन' यह करण-साधन भी मति शब्द होता है। ज्ञान और आत्माकी भेद-अभेद विवक्षामे तीनो प्रकार बन जाते है।

§ २ श्रुत शब्द कर्मसाधन भी होता है। श्रुतावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर जो सुना जाय वह श्रुत। कर्तृसाधनमे श्रुतपरिणत आत्मा श्रुत है। करण विवक्षामे जिससे सुना जाय वह श्रुत है। भावसाधनमे श्रवणक्रिया श्रुत है।

§ ३ अव पूर्वक धा धातुसे कर्म आदि साधनोमे अवधि शब्द बनता है। 'अव' शब्द 'अध' वाची है जैसे अध क्षेपणको अवक्षेपण कहते है अवधिज्ञान भी नीचेकी ओर बहुत पदार्थो को विषय करता है। अथवा, अवधिशब्द मर्यादार्थक है अर्थात् द्रव्यक्षेत्रादिकी मर्यादासे सीमित ज्ञान अवधिज्ञान है। यद्यपि केवलज्ञानके सिवाय सभी ज्ञान सीमित है फिर भी रूढिवश इसी ज्ञानको अवधिज्ञान-सीमितज्ञान कहते है। जैसे गतिशील सभी पदार्थ है पर गाय ही रूढिवश गौ (गच्छतीति गौ.) कही जाती है।

§ ४ मन पर्यय-ज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर दूसरेके मनोगत अर्थको जानना मन पर्यय है। पर मनोगत अर्थको मन कहते है, मनमे रहनेके कारण वह अर्थ मन कहलाता है। अर्थात् मनोविचारका विषय भावघट आदिको विशुद्धिवश जान लेना मन पर्यय है।

§ ५ **प्रश्न**–आगममें 'मनसा मन. संपरिचिन्त्य–अर्थात् मनके द्वारा मनको विचारकर' ऐसा कथन है अत· मनोनिमित्त होनेसे इसे मानस मतिज्ञान कहना चाहिए ?

उत्तर–जैसे आकाशमे चन्द्रको देखनेमें आकाशकी साधारण अपेक्षा होती है उसी तरह मन·पर्यय ज्ञानमे मन अपेक्षा मात्र है जैसे मन मतिज्ञानमे कारण होता है उस तरह यहां कारण नही है क्योकि मन पर्ययमात्र आत्मविशुद्धिजन्य है।

§ ६–७ जिसके लिए बाह्य और आभ्यन्तर विविध प्रकारके तप तपे जाते है वह लक्ष्यभूत केवलज्ञान है। जैसे 'केवल अन्न खाता है' यहा केवल शब्द असहाय अर्थमे है अर्थात् असहाय शाक आदि रहित अन्न खाता है उसी तरह केवल अर्थात् क्षायोपशमिक आदि ज्ञानोकी सहायतासे रहित असहाय केवल ज्ञान है। यह रूढ शब्द है।

§ ८–९ जैनमतमे जिस प्रकार ज्ञान करण आदि साधनोमे निष्पन्न होता है अन्य एकान्तवादियोके यहा ज्ञानकी करणादि साधनता नही बन सकती।

§ १० जो बौद्ध आत्माका ही अस्तित्व नही मानते उनके यहा कर्ताका अभाव होनेसे ज्ञानमे 'ज्ञायते अनेन' यह करण प्रयोग नही हो सकता। फरसेके प्रयोग करनेवाले देवदत्तके रहनेपर ही फरसा छेदन क्रियाका करण कहा जा सकता है। इसी तरह 'ज्ञाति-र्ज्ञानम्' यह भाव साधन भी नही बन सकता, क्योकि भाववान्के अभावमे भावकी सत्ता नही रह सकती। 'जानातीति ज्ञानम्' इस तरह ज्ञानको कर्तृसाधन कहना भी उचित नही है क्योकि जब सभी पदार्थ निरीह है एक दूसरेकी अपेक्षा नही रखते तब निरीह पदार्थ कर्त्ता कैसे बन सकता है ? फिर, पूर्व और उत्तर पर्यायकी अपेक्षा रखनेवाला पदार्थ कर्ता होता है। क्षणिक ज्ञान तो पूर्वोत्तरकी अपेक्षा नही रखता अत निरपेक्ष होनेके कारण कर्ता नही बन सकता। ससारमे करणके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाला पदार्थ कर्ता होता है, पर ज्ञानके लिए कोई अन्य करण तो है ही नहीं अत वह कर्त्ता नही बन सकता। स्वशक्तिको करण कहना तो उचित नही है, क्योकि शक्ति और शक्तिमान्मे भेद माननेपर शक्तिमान्की जगह आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा। अभेद माननेपर तो वही कर्तृत्वाभाव नामक दोष आता है। सन्तानकी अपेक्षा पूर्व क्षणको कर्ता और उत्तर क्षणको करण मानकर व्यवस्था बनाना भी उचित नही है, क्योकि सन्तान यदि परमार्थ है, तो आत्माकी सिद्धि हो जाती है। यदि मिथ्या है, तो मृषावाद हो जायगा। सन्तान यदि क्षणोसे भिन्न है, तो उन क्षणोसे कोई वास्तविक सम्बन्ध न होनेके कारण वह 'उनकी' सन्तान नही कही जा सकती। यदि अभिन्न है तो क्षणोकी तरह परस्पर निरन्वय रहनेके कारण पूर्वोक्त दोष बने रहेगे। मन रूप इन्द्रियको करण कहना भी उचित नही है, क्योकि उसमे वह शक्ति ही नही है। "छहो ज्ञानोके लिए एक क्षण पूर्वका ज्ञान मन होता है" यह उनका सिद्धान्त है। इसीलिए अतीतज्ञान रूप मन इन्द्रिय भी नही हो सकता। जो ज्ञान उत्पन्न हो रहा है तत्समकालीनको भी करण नही कह सकते, क्योकि समसमयवालोमे कार्य कारण व्यवहार नही बन सकता जैसे कि एक साथ उत्पन्न होनेवाले दाए बाए दो सींगोमे परस्पर। ज्ञानमे 'ज्ञा–जानना' इस प्रकृतिको छोडकर अन्य कोई अश तो है नही जो 'जाननेवाला' बनकर कर्ता हो सके। क्षणिकवादीके मतमे कर्तृत्व जब एक क्षणवर्ती है तब वह अनेक क्षणवर्ती 'कर्तृ' शब्दसे कहा ही कैसे जायगा ? 'कर्तृ' शब्द भी जब एकक्षणवर्ती नही है तब वाचक कैसे बन सकता है ? सन्तानकी दृष्टिसे वाच्यवाचक सम्बन्ध बनाना भी समुचित

नही है क्योकि सन्तान अवास्तविक है। तत्त्वको सर्वथा अवाच्य कहना तो नितान्त अनुचित है क्योंकि अवाच्य पक्षमे उसे 'अवाच्य' शब्दसे भी नही कह सकेगे, अत. तत्त्व प्रतिपत्तिके उपायका भी लोप हो जायगा। किच, कर्तृसाधन और करणसाधन दोनोको जाननेवाला एक व्यक्ति ही यह भेद कर सकता है कि 'ज्ञान कर्तृसाधन है, करणसाधन नही है' जब क्षणिकवादीके यहाँ प्रत्येक ज्ञान एक अर्थको विषय करनेवाला और क्षणिक है तब निर्णय ही नही हो सकेगा। जो व्यक्ति सफेद और कालेको नही जानता वह 'यह काला है सफेद नही' यह विधिनिषेध कर ही नही सकता।

§ ११ आत्माका अस्तित्व मानकर भी यदि उसे निरतिशय अविकारी नित्य माना जाता है तो भी ज्ञानमे करणसाधनता आदि सिद्ध नहीं हो सकते, क्योकि अपरिणामी आत्मासे ज्ञान आदि परिणामोका सम्बन्ध ही नही बन पाता। जब आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है तथा आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञान भी स्वतन्त्र, तब ज्ञान आत्माका करण कैसे बन सकता है क्योकि दोनो निरपेक्ष होनेसे परस्पर सम्बन्धी नही हो सकते जिस प्रकार छेदनेवाले देवदत्तसे करणभूत फरसा कठोर तीक्ष्ण आदि रूपसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है उस तरह ज्ञानका पृथक् सिद्ध कोई स्वरूप उपलब्ध नही होता जिससे उसे करण बनाया जाय। फरसा भी तब करण बनता है जब वह देवदत्तकृत ऊपर उठने और नीचे गिरकर लकडीके भीतर घुसने रूप व्यापारकी अपेक्षा रखता है, किन्तु ज्ञानमे कर्ताके द्वारा की जानेवाली कोई क्रिया नही दिखाई देती जिसकी अपेक्षा रखनेके कारण उसे करण कहा जाय। स्वय छेदनक्रियामे परिणत देवदत्त अपनी सहायताके लिए फरसेको लेता है और इसीलिए फरसा करण कहलाता है पर यहाँ आत्मा स्वय ज्ञानक्रिया रूपसे परिणति ही नही करता। क्योकि ज्ञान स्वतन्त्र पदार्थ है। यदि ज्ञान आत्मासे भिन्न है तो आत्मा घटादि पदार्थोकी तरह अज्ञ अर्थात् ज्ञानशून्य जड हो जायगा। दडेके सम्बन्धसे दडीकी तरह सम्बन्ध कल्पना उचित नही है क्योकि जब आत्मा स्वय ज्ञानस्वभाव नही है तब ज्ञानका सम्बन्ध आत्मासे ही हो मन या इन्द्रियसे नही, यह प्रतिनियम ही नही बन सकता। फिर, दण्ड और दण्डी दोनो अपने अपने लक्षणोसे पृथक् सिद्ध है अत उनका सम्बन्ध तो समझमे आता है पर आत्मासे भिन्न ज्ञानकी या ज्ञानशून्य आत्माकी जब स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नही होती तब उनमे दण्डदण्डिकी तरह सम्बन्ध कैसे बन सकता है? ज्ञानके उत्पन्न होने पर भी यदि आत्मामे हिताहित विचाररूप परिणमन नहीं होता तो ज्ञान आत्माका विशेषण कैसे बन सकता है? दो अधोके सयोगसे जैसे रूप दर्शनकी शक्ति नहीं आ सकती वैसे ही ज्ञानशून्य आत्मा और ज्ञानके सम्बन्धसे 'ज्ञ' व्यवहार नही हो सकेगा।

किच, यदि 'जिनके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान' ऐसा निर्वचन किया जाता है तो इन्द्रिय और मनमे ज्ञानत्वका प्रसग आता है। क्योकि इनके द्वारा भी जाना जाता है। किच, आत्मा सर्वगत होनेसे क्रियाशून्य है और ज्ञान गुण होनेसे क्रियारहित है क्योकि क्रियावाला द्रव्य ही होता है, अत. दोनो क्रियारहित पदार्थोमे न तो कर्तृत्व बन सकता है और न करणत्व ही।

सांख्य पुरुषको प्रकृतिसे भिन्न नित्य शुद्ध और निर्विकार कहते है। इनके मतमे भी ज्ञान करण नहीं हो सकता। इन्द्रिय मन अहङ्कार और महान् तत्त्वोके आलोचन

संकल्प अभिमान और अध्यवसायात्मक व्यापाररूप बुद्धि प्रकृतितत्त्व है पुरुष इससे भिन्न नित्य शुद्ध और अविकारी है। बुद्धि ऐसे पुरुषका करण कैसे बन सकती है ? क्रिया-परिणत देवदत्तको ही करणकी आवश्यकता लोकमे प्रसिद्ध है ।

इसी तरह ज्ञान कर्त्तृसाधन नही बन सकता। करणरूपसे प्रसिद्ध तलवार आदि की तीक्ष्णता आदि गुणोकी प्रशसामे 'तलवारने छेद दिया' इस प्रकारका कर्तृत्वधर्मका अध्यारोपण करके कर्तृसाधन प्रयोग होता है किन्तु यहाँ जब ज्ञानकी करणरूपसे सिद्धि ही नही है तब इसमे कर्तृत्व धर्मका आरोप करके करण प्रयोग कैसे हो सकता है ?

ज्ञान भावसाधन भी नही हो सकता। जिन चावल आदि पदार्थोमे स्वत. क्रिया-स्वभाव है उन्हीमे पचनक्रिया देखकर 'पचन पाक' यह क्रियाप्रधान भावप्रयोग होता है आकाश आदिमे नही। अत परिणमनरहित अविकारी ज्ञानमे क्रियाप्रधान भावप्रयोग नहीं हो सकता। किच, ज्ञानको प्रमाण माना जाता है। अत· जब तक उससे कोई अन्य अवबोध या फलात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा तब तक उस ज्ञानका 'ज्ञातिर्ज्ञानम्' ऐसा भावसाधन निर्देश नही हो सकता। बौद्धोका यह कहना उचित नही है कि—'अधिगम भिन्न पदार्थ नहीं है अत फलमे ही प्रमाणताका आरोप कर लेना चाहिए' क्योकि मुख्य वस्तुके रहनेपर ही अन्यत्र आरोपकल्पना होती है, किन्तु यहा मुख्य प्रमाण पृथक् सिद्ध ही नही है। एक ही ज्ञानमे आकार भेदसे प्रमाण-फल भावकी कल्पना भी उचित नही है, क्योकि आकार और आकारवान्मे भेद और अभेद पक्षमे अनेक दोष आते है। निरश तत्त्वमे आकारभेदकी कल्पना भी उचित नहीं है। ज्ञानवादमें बाह्य वस्तुओके आकारके अभावमे अन्तरग ज्ञानमें आकार आ ही नहीं सकता। जैनदर्शनमे प्रत्येक वस्तु अनेक-धर्मात्मक है। अत पर्यायभेदसे एक ही ज्ञान कर्तृ करण और भाव साधन बन सकता है।

§१२ मति आदि प्रत्येकमे 'ज्ञान'का अन्वय कर लेना चाहिए। 'द्वन्द्व समासमें आदि या अन्तमे प्रयुक्त शब्दका सबके साथ अन्वय होता है' यह व्याकरणशास्त्रका प्रसिद्ध नियम है। 'केवलानि ज्ञानम्'मे सामानाधिकरण्य होनेपर भी चूंकि 'ज्ञान' शब्द उपात्तसख्यक है अत एकवचन ही रहा है बहुवचन नहीं हुआ।

§१३ मति शब्द धिसज्ञक है अल्पाक्षर है और मतिज्ञान अल्पविषयक है अत. उसका सर्वप्रथम ग्रहण किया गया है।

§१४–१६ चूंकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है अत. मतिके बाद श्रुतका ग्रहण किया है। मति और श्रुतका विषय बराबर है और नारद और पर्वतकी तरह दोनो सहभावी है अत दोनोका पास-पास निर्देश हुआ है।

§१७–२० तीनो प्रत्यक्षोंमे अवधिज्ञान सबसे कम विशुद्धिवाला है अत इसका सर्व-प्रथम निर्देश है इससे विशुद्धतर होनेके कारण सयमी जीवोके ही होनेवाले मन पर्ययका ग्रहण किया है। सबके अन्तमे केवलज्ञानका निर्देश है क्योकि इससे बडा कोई ज्ञान नही है। केवल ज्ञान अन्य सब ज्ञानोको जान सकता है पर केवलज्ञानको जाननेवाला उससे बडा दूसरा ज्ञान नही है। चूंकि केवलज्ञानके साथ ही निर्वाण होता है न कि क्षायोपशयिक मति आदि ज्ञानोंके साथ। इसलिए भी इसका अन्तमे निर्देश किया है।

§२१–२५ **प्रश्न**–चूंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों सहचारी है और एक व्यक्ति

में युगपत् पाए जाते है अत. दोनोंमे कोई विशेषता न होनेसे दोनोंको एक ही कहना चाहिए ?

उत्तर–साहचर्य तथा एक व्यक्तिमे दोनोके युगपत् रहनेसे ही यह सिद्ध होता है कि दोनों जुदे जुदे है, क्योकि दोनो बाते भिन्न सत्तावाले पदार्थो मे ही होती है । मतिपूर्वक श्रुत होता है, इसलिए दोनोकी कारण-कार्यरूपसे विशेषता सिद्ध है ही ।

"कारणके सदृश ही कार्य होता है, चूँकि श्रुत मतिपूर्वक हुआ है अत. उसे भी मतिरूप ही कहना चाहिए । सम्यग्दर्शन होने पर कुमति और कुश्रुतको युगपत् ज्ञानव्यपदेश प्राप्त होता है, अत दोनो एक ही कहना चाहिए" यह शका ठीक नही है, क्योकि जिन कारणसदृशत्व और युगपद्वृत्ति हेतुओसे आप एकत्व सिद्ध करना चाहते हो उन्हीसे उनमे भिन्नता सिद्ध होती है । सादृश्य और युगपद्वृत्ति पृथक्सिद्ध पदार्थोमे ही होते है । यद्यपि मति और श्रुतका विषय समान है परन्तु जाननेके प्रकार जुदा जुदा है । विषय एक होनेसे ज्ञानोमे एकता नही हो सकती, अन्यथा एक घटविषयक दर्शन और स्पर्शनमे भी एकत्व हो जायगा ।

§ २६–२९ **प्रश्न**–मति और श्रुत दोनो इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते है, मतिकी तरह श्रुत भी वक्ताकी जिह्वा और श्रोताके कान और मनसे उत्पन्न होता है । अत एक कारणजन्य होनेसे दोनो एक है ? **उत्तर**–एककारणता असिद्ध है । वक्ताकी जीभ शब्दोच्चारणमे निमित्त होती है न कि ज्ञानमे । श्रोताका कान भी शब्द प्रत्यक्षरूप मतिज्ञानमे निमित्त होता है न कि अर्थज्ञानमे, अत श्रुतमे इन्द्रिय और मनोनिमित्तता असिद्ध है । शब्द सुननेके बाद जो मनसे ही अर्थज्ञान होता है वह श्रुत है अत श्रुत अनिन्द्रियनिमित्तक है । यद्यपि ईहादि ज्ञान भी मनोजन्य होते है किन्तु वे मात्र अवग्रहके द्वारा गृहीत ही पदार्थको जानते है जब कि श्रुतज्ञान अपूर्व पदार्थको भी विषय करता है । एक घडेको इन्द्रिय और मनसे जानकर तज्जातीय विभिन्न देशकालवर्ती घटोके सम्बन्ध जाति आदिका विचार भी श्रुतसे होता है । श्रुतज्ञान मतिके द्वारा एक जीवको जानकर उसके सम्बन्धके सत् सख्या क्षेत्र आदि अनुयोगोके द्वारा नानाविध विशेषोको जानता है । 'सुनकर निश्चय करना श्रुत है' यह तो मतिज्ञानका लक्षण है क्योकि वह भी शब्दको सुनकर 'यह गोशब्द है' ऐसा निश्चय करता ही है । किन्तु श्रुतज्ञान मन और इन्द्रियके द्वारा गृहीत या अगृहीत पर्यायवाले शब्द या उसके वाच्यार्थको श्रोत्रेन्द्रियके व्यापारके बिना ही नय आदि योजना द्वारा विभिन्न विशेषोके साथ जानता है ।

मति आदि ज्ञान प्रमाण है–

तत्प्रमाणे ॥१०॥

मति आदि पाँचों ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे दो प्रमाणोमे विभाजित है ।

§ १ प्रमाणशब्द भाव कर्तृ और करण तीनो साधनोमे निष्पन्न होता है । जब भावकी विवक्षा होती है तो प्रमाको प्रमाण कहते है । कर्तृविवक्षामे प्रमातृत्वशक्तिकी मुख्यता होती है और करणविवक्षामे प्रमाता प्रमेय और प्रमाणकी भेदविवक्षा होती है । इनमें विवक्षानुसार अर्थ ग्रहण किया जाता है ।

§ २ **प्रश्न**–प्रमाणकी सिद्धि स्वत होती है या प्रमाणान्तर से ? यदि स्वत', तो प्रमेयकी सिद्धि भी स्वत. होनी चाहिए । यदि अन्य प्रमाणसे, तो प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होनेसे

अनवस्था दूषण आता है ? इच्छा मात्रसे किसीकी स्वतः सिद्धि और किसीकी परत.सिद्धि माननेमे कोई विशेष हेतु देना चाहिए अन्यथा स्वेच्छाचारित्वका दोष आयगा।

उत्तर–जिस प्रकार दीपक घटादि पदार्थोंके साथ ही साथ स्वस्वरूपका भी प्रकाशक है उसी तरह प्रमाण भी। प्रमाण या दीपकको स्वस्वरूपके प्रकाशनके लिए प्रमाणान्तर या प्रदीपान्तरकी आवश्यकता नही होती। जिस प्रकार एक ही प्रदीप 'प्रदीपन प्रदीप –प्रदीपन मात्र प्रदीप, प्रदीपयति प्रदीप –प्रदीपन करनेवाला प्रदीप, प्रदीप्यतेऽनेन–जिसके द्वारा प्रदीपन हो वह प्रदीप' इन तीन साधनोमे व्यवहृत होता है उसमे न तो कोई विरोध ही आता है और न अनवस्था ही, उसी तरह प्रमाणको भी तीनो साधनो मे व्यवहार करनेमे कोई विरोध या अनवस्था नही है।

§ ३–५ यदि प्रमाण स्वसवेदी न हो तो परसवेद्य होनेके कारण वह प्रमाण ही नही हो सकता, क्योकि परसवेद्य तो प्रमेय होता है। यदि घटज्ञान स्वाकारका परिच्छेदक नही है तो घटज्ञान और घट दोनोमे अन्तर नही हो सकेगा क्योकि दोनोमे समानरूपसे विषयाकारता ही रहती है। इसी तरह घटज्ञान और घटज्ञानका ज्ञान इन दोनो ज्ञानोमे अस्वसवेदन दशामे कोई अन्तर नही होगा क्योकि जैसे घटज्ञानमें विषयाकारता रहेगी वैसे ही घटज्ञानज्ञानमे भी अन्तत विषयाकारता ही विषय पडेगी, स्वाकार नही। यदि ज्ञान स्वसवेदी न हो तो उसे 'ज्ञोऽहम्–मै जाननेवाला हू' यह स्मृति उत्तरकालमे नही हो सकेगी। इसी तरह जिस ज्ञानने अपने स्वरूपको नही जाना उस ज्ञानके द्वारा ज्ञात अर्थकी स्मृति नही हो सकेगी जैसे कि पुरुषान्तरके ज्ञानके द्वारा जाने गए पदार्थों की। पुरुषान्तरके ज्ञेयकी स्मृति हमे इसीलिए नहीं होती कि हम उसके ज्ञानको नही जानते। यदि हमारा भी ज्ञान हमे अज्ञात हो तो उस ज्ञानके द्वारा ज्ञात अर्थकी स्मृति हमे स्वय नही हो सकेगी।

§६–७ **प्रश्न**–यदि भावसाधनमे प्रमाको प्रमाण कहा जाता है तो फलका अभाव हो जायगा। प्रमा ही फल होती थी। **उत्तर**–अर्थावबोधमे जो प्रीति होती है वही फल है, कर्ममलिन आत्माको इन्द्रियादिके द्वारा जब अर्थावबोध होता है तो उसे प्रीति होती है, वही प्रमाणका फल है। प्रमाणका मुख्य फल अज्ञाननिवृत्ति है। इसी तरह राग और द्वेषरूप वृत्ति न होकर उपेक्षा भावका होना भी प्रमाणका फल है।

§८–९ **प्रश्न**–प्रमाण शब्दको कर्तृसाधन मानने पर वह प्रमाता रूप हो जाता है, पर, प्रमाता तो आत्मा होता है जो कि गुणी है और प्रमाण तो ज्ञान रूप गुण है, गुण और गुणी तो जुदे होते है। कहा भी है कि–"आत्मा मन इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भिन्न है" अत प्रमाणशब्दको कर्तृसाधन न मानकर करणसाधन मानना ही उचित है। **उत्तर**–यदि ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न माना जाता है तो आत्मा घटकी तरह अज्ञ–ज्ञानशून्य जड हो जायगा। ज्ञानके सम्बन्धसे 'ज्ञ' कहना भी उचित नहीं है, क्योकि अन्धेको जैसे दीपकका सयोग होने पर भी दिखाई नहीं देता यतः वह स्वयं दृष्टिशून्य है उसी तरह ज्ञानस्वभावरहित आत्मामे ज्ञानका सम्बन्ध होनेपर भी ज्ञत्व नहीं आ सकेगा।

§१०–१३ **प्रश्न**–जैसे दीपक जुदा है और घड़ा जुदा, उसी तरह जो प्रमाण है वह प्रमेय नही हो सकता और जो प्रमेय है वह प्रमाण नही। दोनोके लक्षण भिन्न भिन्न है। **उत्तर**–जिस प्रकार बाह्य प्रमेयोसे प्रमाण जुदा है उसी तरह उसमे यदि अन्तरङ्ग प्रमेयता

न हो अर्थात् वह स्वय अपना प्रमेय न बन सकता हो तो अनवस्था दूषण होगा, क्योकि उसे अपनी सत्ता सिद्ध करनेके लिए द्वितीय प्रमाणकी आवश्यकता होगी और द्वितीय प्रमाणको भी तृतीय प्रमाण की। यदि अनवस्था दूषणके निवारणके लिए ज्ञानको दीपक की तरह स्वपरप्रकाशी अर्थात् स्वप्रमेय माना जाता है तो प्रमाण और प्रमेयके भिन्न होनेका पक्ष समाप्त हो जाता है। वस्तुतः सज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिकी भिन्नता होनेसे प्रमाता प्रमाण और प्रमेयमे भिन्नता है तथा पृथक् पृथक् रूपसे अनुपलब्धि होनेके कारण अभिन्नता है। निष्कर्ष यह है कि प्रमेय नियमसे प्रमेय ही है किन्तु प्रमाण प्रमाण भी है और प्रमेय भी।

§ १४ आगे मति और श्रुतका परोक्ष तथा अवधि आदिका प्रत्यक्ष रूपसे वर्णन है, अतः इन्ही दो भेदोकी अपेक्षा 'प्रमाणे' यह द्विवचन निर्देश किया गया है।

§ १५ 'तत्' शब्दके द्वारा मति आदि ज्ञानोमे प्रमाणताका विधान है, ये ही प्रमाण है सन्निकर्ष आदि नही।

§ १६-२२ सन्निकर्षको प्रमाण और अर्थाधिगमको फल मानने पर सर्वज्ञत्व नही बन सकेगा, क्योकि सकल पदार्थोसे सन्निकर्ष नही बनता। सर्वज्ञके आत्मा मन इन्द्रिय और अर्थ तथा आत्मा मन और अर्थ यह चतुष्टयसन्निकर्ष और त्रयसन्निकर्ष अर्थज्ञानमे कारण नही हो सकता, क्योकि मन और इन्द्रिया एक साथ प्रवृत्ति नही करती है तथा इनका विषय मर्यादित है। सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट आदि रूपसे ज्ञेय अनन्त है। इनका सन्निकर्ष हुए बिना इनका ज्ञान होगा नही, अत सर्वज्ञत्वका अभाव हो जायगा। आत्माको सर्वगत मानकर सर्वार्थ-सन्निकर्ष कहना उचित नही है, क्योकि आत्माका सर्वगतत्व परीक्षासिद्ध नही है। यदि आत्मा सर्वगत है तो उसमे क्रिया न होनेसे पुण्य पाप और पुण्य-पापमूलक ससार तथा ससारोच्छेदरूप मुक्ति आदि नही बन सकेगे। इन्द्रिया तो अचेतन है अत इन्हे ससार और मोक्ष नही हो सकता। चक्षु और मन प्राप्यकारी (पदार्थोसे सन्निकर्ष करके जाननेवाले) नही है अत सभी इन्द्रियोसे सन्निकर्ष भी नहीं होता। जो इन्द्रिया प्राप्यकारी है अर्थात् जिन स्पर्शनादि इन्द्रियोसे पदार्थका सम्बन्ध होकर ज्ञान होता है उनके द्वारा सदा और पूर्ण रूपसे ग्रहण होना चाहिए, क्योकि वे सर्वगत आत्माके द्वारा पदार्थोके प्रत्येक भागसे सम्बन्धको प्राप्त है। यदि सन्निकर्षको प्रमाण माना जाता है तो सन्निकर्षके फल अर्थाधिगमको अर्थमे भी होना चाहिए जैसे कि स्त्री और पुरुषके सयोगका फल-सुखानुभव दोनोका होता है। ऐसी दशामें आत्माकी तरह इन्द्रिय मन और अर्थको भी अर्थज्ञान होना चाहिए। शय्या पर सोनेवाले पुरुषके दृष्टान्तसे केवल पुरुषमे अर्थावबोध सिद्ध करना उचित नही है, क्योकि शय्या अचेतन है वह सुखकी अधिकारिणी नही हो सकती। यदि इन्द्रिय मन और अर्थमे अचेतन होनेके कारण सन्निकर्षके फल अर्थावबोधका वारण किया जाता है तो इस युक्तिसे तो आत्मामें भी अर्थावबोध नही हो सकेगा, क्योंकि सन्निकर्षवादियोंके मतमे आत्मा भी ज्ञानशून्य है अर्थात् अर्थबोधके पहिले सभी अज्ञ है; तब अर्थावबोध आत्मामे ही हो इन्द्रिय मन और अर्थमें नही यह नियम कैसे बन सकता है ? ज्ञानका आत्मासे ही सम्बन्ध हो इन्द्रिय आदिसे नहीं इसमे क्या विशेष हेतु है ? 'ज्ञानका समवाय आत्मामे ही होता है अन्यमें नहीं' यह उत्तर भी विवाद रहित नही है क्योंकि जब सभी ज्ञानशून्य हैं तब 'आत्मामें ही ज्ञानका समवाय हो अन्यमे नही'' यही प्रतिनियम नही बन सकता। समवाय

एक और सर्वगत है और आत्मा आदि सभी समान रूपसे ज्ञानशून्य है तब क्या कारण है कि समवाय 'आत्मामे ही ज्ञानका सम्बन्ध कराता है अन्यमे नही ?' अतः सन्निकर्षको प्रमाण मानना उचित नहीं है।

परोक्ष ज्ञानका वर्णन–

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

आदिके मति और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है।

§ १ आदि शब्द प्रथम प्रकार व्यवस्था समीपता अवयव आदि अनेक अर्थोमे प्रयुक्त होता है फिर भी यहाँ विवक्षासे उसका 'प्रथम' अर्थ लेना चाहिए।

§ २–५ **प्रश्न**–यदि आदि शब्दका 'प्रथम' अर्थ है तो श्रुतका ग्रहण नही हो सकेगा क्योकि सूत्रमे तो मतिका प्रथम निर्देश हुआ है। यह समाधान तो उचित नही है कि 'श्रुत अवधिकी अपेक्षा प्रथम है', क्योकि इसमे तो केवलज्ञानके सिवाय सभी अपने उत्तर ज्ञानकी अपेक्षा आदि हो सकते है। द्विवचनका निर्देश होनेसे श्रुतका ग्रहण करनेमे तो विवाद ही है कि किन दोका ग्रहण करना चाहिए ? **उत्तर**–निकटताके कारण श्रुतका ग्रहण किया जाना चाहिए। द्विवचन निर्देशसे जिस दूसरेका ग्रहण करना है वह प्रथम मतिका समीप–निकट होना चाहिए। समीपताके कारण श्रुतको भी 'आद्य' कह सकते है। एक तो सूत्रमे मतिके पास श्रुतका ग्रहण है दूसरे दोनो करीब-करीब समानविषयक और समस्वामिक होनेसे परस्पर निकट है।

§ ६–७ उपात्त-इन्द्रिया और मन तथा अनुपात्त-प्रकाश उपदेश आदि 'पर' है। परकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञान परोक्ष है। जैसे गतिस्वभाववाले पुरुषका लाठी आदिकी सहायतासे गमन होता है उसी प्रकार ज्ञस्वभाव आत्माको मतिश्रुतावरणका क्षयोपशम होनेपर भी इन्द्रिय और मन रूप परद्वारोसे ही ज्ञान होता है। यह ज्ञान पराधीन होनेसे परोक्ष है। परोक्षका अर्थ अज्ञान या अनवबोध नही है किन्तु पराधीन ज्ञान।

प्रत्यक्ष ज्ञान–

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

अन्य अवधि मन पर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।

§ १ इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना व्यभिचाररहित जो साकार ग्रहण होता है उसे प्रत्यक्ष कहते है। 'अतत्' को 'तत्' रूपसे ग्रहण करना व्यभिचार है, प्रत्यक्ष 'तत्' को 'तत्' जानता है अत अव्यभिचारी है। इस विशेषणसे विभङ्ग-कुअवधिका निराकरण हो जाता है क्योकि यह मिथ्यादर्शनके उदयसे व्यभिचारी-अन्यथा ग्राहक होता है। आकार अर्थात् विकल्प, जो ज्ञान सविकल्प अर्थात् निश्चयात्मक है वह साकार है। इस विशेषणसे अवधिदर्शन और केवलदर्शनका निराकरण हो जाता है क्योकि ये अनाकार है। इन्द्रिया-निन्द्रियानपेक्ष विशेषण मति और श्रुत ज्ञानकी व्यावृत्ति कर देता है क्योकि ये ज्ञान इन्द्रियमनोजन्य है।

§ २–३ प्रत्यक्ष लक्षणमे कहे गए विशेषण सूत्रसे ही प्रतीत होते है, ऊपरसे नही मिलाए गए है। यथा, 'अक्ष अर्थात् आत्मा, जो ज्ञान प्रक्षीणावरण या क्षयोपशमप्राप्त

आत्ममात्रकी अपेक्षासे हो वह प्रत्यक्ष' प्रत्यक्ष शब्दका यह व्युत्पत्त्यर्थ करनेसे इन्द्रिय और मनरूप परकी अपेक्षाकी निवृत्ति हो जाती है। 'ज्ञान'का प्रकरण है, अत अनाकार दर्शनका व्यवच्छेद हो जाता है। इसी तरह 'सम्यक्' का प्रकरण होनेसे व्यभिचारी ज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है ?

४–५ **प्रश्न**–इन्द्रिय और मन रूप बाह्य और आभ्यन्तर करणोके बिना ज्ञान का उत्पन्न होना ही असम्भव है। बिना करणके तो कार्य होता ही नही है ? **उत्तर**–असमर्थके लिए बसूला करौत आदि बाह्य साधनोकी आवश्यकता होती है। जैसे रथ बनानेवाला साधारण रथकार उपकरणोसे रथ बनाता है किन्तु समर्थ तपस्वी अपने ऋद्धि-बलसे बाह्य बसूला आदि उपकरणोके बिना सकल्प मात्रसे रथको बना सकता है उसी तरह कर्ममलीमस आत्मा साधारणतया इन्द्रिय और मनके बिना नही जान सकता पर वही आत्मा जब ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम रूप शक्तिवाला हो जाता है या ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय कर देता है तब उसे बाह्य करणोके बिना भी ज्ञान हो जाता है। आत्मा तो सूर्य आदिकी तरह स्वयप्रकाशी है, इसे प्रकाशनमे परकी अपेक्षा नही होती है। आत्मा विशिष्ट क्षयोपशम या आवरणक्षय होनेपर स्वशक्तिसे ही पदार्थो को जानता है।

§ ६–८ **प्रश्न**–इन्द्रियव्यापारजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-व्यापारकी अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञानको परोक्ष कहना चाहिए। सभी वादी इसमे प्राय एकमत है। यथा, बौद्ध कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते है। नाम जाति आदिकी योजना कल्पना कहलाती है। इन्द्रिया चूंकि असाधारण कारण है अत चाक्षुष प्रत्यक्ष रासन प्रत्यक्ष आदि रूपसे इन्द्रियोके अनुसार प्रत्यक्षका नामकरण हो जाता है। नैयायिक इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होनेवाले, अव्यपदेश्य-निर्विकल्पक, अव्य-भिचारि और व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते है। साख्य श्रोत्रादि इन्द्रियोकी वृत्ति को प्रत्यक्ष कहते है। मीमासक इन्द्रियोका सम्प्रयोग होनेपर पुरुषके उत्पन्न होनेवाली बुद्धिको प्रत्यक्ष मानते है।

उत्तर–इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेसे आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सकेगा, सर्वज्ञताका लोप हो जायगा, क्योकि सर्वज्ञ आप्तके इन्द्रियज ज्ञान नही होता। आगमसे अतीन्द्रिय पदार्थो का ज्ञान मानकर सर्वज्ञताका समर्थन करना तो युक्तियुक्त नही है, क्योकि आगम प्रत्यक्षदर्शी वीतराग पुरुषके द्वारा प्रणीत होता है। जब अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सिद्ध नही है तब अतीन्द्रिय पदार्थोमे आगमका प्रामाण्य कैसे बन सकता है ? आगमका अपौरुषेयत्व तो असिद्ध है। पुरुष प्रयत्नके बिना उत्पन्न हुआ कोई भी विधायक शब्द प्रमाण नही है। हिसादिका विधान करनेवाला वेद प्रमाण नही हो सकता।

§ ९–१० **बौद्ध** का यह कहना भी उचित नही है कि–'योगियोको आगम विकल्पसे शून्य एक अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है, उससे वह समस्त पदार्थोका ज्ञान करता है। कहा भी है–योगियोको गुरुनिर्देश अर्थात् आगमोपदेशके बिना पदार्थमात्रका बोध हो जाता है', क्योकि इस मतमे प्रत्यक्ष शब्दका अक्ष-इन्द्रियजन्य अर्थ नही बनेगा, कारण योगियोंके इन्द्रिया नही हैं। अथवा, जब 'स्वहेतु परहेतु उभयहेतु या बिना हेतुके पदार्थ उत्पन्न नही हो सकते, सामान्य और विशेषमे एकदेश और सर्वदेश रूपसे वृत्ति माननेपर अनेक दूषण आते है' आदि हेतुओंसे पदार्थमात्रका अभाव किया जाता है और

ज्ञानमात्र निरालम्बन है तब योगियोंको सर्वार्थज्ञानकी सभावना ही नही की जा सकती। निर्विकल्प पदार्थकी कल्पना न तो युक्तिसगत ही है और न प्रमाणसिद्ध ही। बौद्धोंके मतमे योगीकी सत्ता भी स्वय सिद्ध नहीं है, निर्वाणदशामे तो सर्वशून्यता तक स्वीकार की गई है। कहा भी है–'निर्वाण दो प्रकारका है–सोपधिशेष और निरुपधिशेष। सोपधिशेष निर्वाणमे ज्ञाताकी सत्ता रहती है।' परन्तु जिस प्रकारसे वे बाह्य पदार्थोका अभाव करते है उन्ही युक्तियोसे अन्तरङ्ग पदार्थ आत्माका भी अभाव हो जायगा।

नैयायिक का यह कहना भी उचित नही है कि 'आत्मा इन्द्रियादिसे रहित होकर भी योगजधर्मके प्रसादसे सर्वज्ञ हो सकता है,' क्योकि निष्क्रिय और नित्य योगीमे जिस प्रकार समस्त क्रियाएँ नहीं होती उसी तरह कोई भी अनुग्रह या विकार भी नही हो सकता, वह तो कूटस्थ अपरिणामी नित्य है।

§ ११ **बौद्धों** का प्रत्यक्षका 'कल्पनापोढ' लक्षण भी नहीं बनता; क्योकि कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष यदि सर्वथा कल्पनापोढ है, तो 'प्रमाण ज्ञान है, प्रत्यक्ष कल्पनापोढ है' इत्यादि कल्पनाए भी उसमे नही की जा सकेगी अर्थात् उसके अस्तित्व आदि की भी कल्पना नही की जा सकेगी, उसका 'अस्ति' इस प्रकारसे भी सद्भाव-सिद्ध नही होगा। यदि उसमे 'अस्ति' 'कल्पनापोढ' इत्यादि कल्पनाओंका सद्भाव माना जाता है तो वह सर्वथा कल्पनापोढ नही कहलायगा। यदि कथञ्चित् कल्पनापोढ माना जाता है तब भी स्ववचनव्याघात निश्चित है।

बौद्ध (पूर्वपक्ष)–निर्विकल्पकको हम सर्वथा कल्पनापोढ नही कहते। कल्पनापोढ यह विशेषण परमतके निराकरणके लिए है अर्थात् परमतमे नामजाति आदि भेदोंके उपचारको कल्पना कहा है उस कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष होता है न कि स्वरूपभूत विकल्पसे भी रहित। कहा भी है–"पाँच विज्ञानधातु सवितर्क और सविचार है, वे निरूपण और अनुस्मरण रूप विकल्पोसे रहित है।"

जैन (**उत्तरपक्ष**)–विषयके प्रथम ज्ञानको वितर्क कहते है। उसीका बार बार चिन्तन विचार कहलाता है। उसीमे नाम जाति आदिकी दृष्टिसे शब्दयोजनाको निरूपण कहते है। पूर्वानुभवके अनुसार स्मरणको अनुस्मरण कहते है। ये सभी धर्म क्षणिक निरन्वय विनाशी इन्द्रियविषय और ज्ञानोंमे नही बन सकते क्योकि दोनोंकी एक साथ उत्पत्ति होती है और क्षणिक है। गायके एक साथ उत्पन्न होनेवाले दोनों सीगोंकी तरह इनमे परस्पर कार्यकारणभावमूलक ग्राह्यग्राहकभाव भी नही बन सकता। यदि पदार्थ और ज्ञानको क्रमवर्ती मानते है तो ज्ञानकालमे पदार्थका तथा पदार्थकालमे ज्ञानका अभाव होने से विषयविषयिभाव नही बन सकता। मिथ्या सन्तानकी अपेक्षा भी इनमें उक्त धर्मोंका समावेश करना उचित नही है। अत समस्त विकल्पोंकी असम्भवता होनेसे 'यह, निर्विकल्पक है, यह नही है' आदि कोई भी विकल्प नहीं हो सकेगा। इस तरह समस्त विकल्पातीत ज्ञानका अभाव ही प्राप्त होता है। ज्ञानमे अनुस्मरण आदि माननेपर तो उस ज्ञानको या ज्ञानाधार आत्माको अनेकक्षणस्थायी मानना होगा, क्योंकि स्मरण स्वयमनुभूत वस्तुका कालान्तरमे होता है, अन्यके द्वारा अनुभूतका अन्यको नहीं।

बौद्धोंने–पांच इन्द्रिय और मानस ज्ञानमे एकक्षण पूर्वके ज्ञानको मन कहा है। ऐसे मनसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको मानस प्रत्यक्ष कहना युक्त नही है, क्योकि जब मन अतीत होनेसे असत् हो गया तब वह ज्ञानका कारण कैसे हो सकता है ? यदि पूर्वके नाश और उत्तरके उत्पादको एक साथ मानकर कार्यकारण भाव माना जाता है, तो भिन्न सन्तान-वर्ती पूर्वोत्तर क्षणोमे भी कार्यकारणभाव मानना चाहिए। यदि एक सन्तान-वर्ती क्षणोमे किसी शक्ति या योग्यताका अनुगम माना जाता है तो क्षणिकत्वकी प्रतिज्ञा नष्ट होती है।

§ १२ **बौद्धोंने** ज्ञानको अपूर्वार्थग्राही माना है। उनका यह मत भी युक्तियुक्त नही है, क्योकि सभी ज्ञान प्रमाण हो सकते है। जैसे दीपक प्रथमक्षणमे अन्धकारमग्न पदार्थो को प्रकाशित करता है और उत्तरकालमे भी वह प्रकाशक बना रहता है कभी भी अप्रकाशक नही होता उसी तरह ज्ञान भी प्रतिसमय प्रमाण रहता है चाहे वह गृहीतको जाने या अगृहीतको। यदि प्रतिक्षण परिवर्तनके आधारसे प्रदीपमे प्रतिक्षण नूतन प्रकाश-कत्व माना जाता है और इसी तरह ज्ञानको भी प्रतिक्षण अपूर्वका प्रकाशक बनाया जाता है "तो स्मृति इच्छा और द्वेष आदिकी तरह पूर्वपूर्व पदार्थो का जाननेवाला ज्ञान प्रमाण नही है" यह बौद्ध ग्रन्थका वाक्य खडित हो जाता है, क्योकि प्रतिक्षण परिवर्तनके अनुसार कोई भी ज्ञान गृहीतग्राही हो ही नहीं सकता।

१३–१४ ज्ञानद्वैतवादी बौद्धोके मतसे ज्ञान विषयाकार भी होता है और स्वाकार भी। ये उभयाभास ज्ञानके स्वसवेदनको प्रमाणका फल मानते है। उनका स्वसवेदन को फल मानना उचित नही है क्योकि फल चूँकि कार्य है अत उसे भिन्न होना ही चाहिए जैसे कि छेदन क्रिया छेदनेवाले और छिदे जानेवालेसे भिन्न होती है। यह समाधान भी उचित नहीं है कि 'अधिगमरूप फलमे ही व्यापाररूप प्रमाणताका उपचार करके एक ही अधिगमको प्रमाण और फल कह देते है', क्योकि उपचार तब होता है जब मुख्य वस्तु स्वतन्त्र भावसे प्रसिद्ध है। जैसे सिह अपने शूरत्व-क्रूरत्व आदि गुणोसे प्रसिद्ध है, तभी उसका सादृश्यसे बालकमे उपचार किया जाता है, पर यहा जब मुख्य प्रमाण ही प्रसिद्ध नही है तब फलमे उसके उपचारकी कल्पना ही नही हो सकती।

§ १५ एक ही ज्ञानमे ग्राहकाकार विषयाकार और सवेदनाकार इन तीन आकारो-को मानकर प्रमाण-फलव्यवस्था बनाना उचित नही है, क्योकि इस कल्पनामे एकान्तवादका निराकरण होकर अनेकान्तवादकी स्थापना हो जाती है। एक वस्तु अनेकधर्मवाली होती है यह तो जैनेन्द्रका अनेकान्त सिद्धान्त है। यदि एक ज्ञानमे अनेकाकारता हो सकती है तो जगत्के प्रत्येक पदार्थको अनेकधर्मात्मक माननेमे क्या बाधा है ? यदि अनेकान्तात्मक द्रव्यसिद्धिके भयसे केवल आकार ही आकार मानते है तो यह प्रश्न होता है कि 'वे आकार किसके है ?' निराश्रय आकार तो रह नही सकते। अत उनका अभाव ही हो जायगा। वे आकार यदि युगपत् उत्पन्न होते है तो उनमे कार्यकारणभाव नहीं बन सकेगा। क्षणिक आकारोकी क्रमिक उत्पत्ति हो ही नही सकती। यदि हो, तो 'अधि-गम भिन्न पदार्थ नही है अर्थात् आकाररूप ही है' यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है क्योकि क्रमिक उत्पत्तिमे अधिगमकी भी किसी क्षणमे स्वतन्त्र उत्पत्ति माननी पड़ेगी। यदि बाह्य पदार्थोकी सत्ता नही है और केवल ज्ञानमात्र ही सत् है; प्रमाण और

और प्रमाणाभासकी व्यवस्था नही बन सकेगी क्योकि अन्तरग आकारमे तो कोई भेद नही होता। जो 'असत्'को 'सत्' जाने वह प्रमाणाभास और जो 'असत्' ही है यह जाने वह प्रमाण–इस प्रकारकी प्रमाण-प्रमाणाभास व्यवस्था माननेपर स्वलक्षण और सामान्यलक्षण इन दो प्रमेयोसे प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोका नियम करना असङ्गत हो जायगा, क्योकि यह नियम प्रमेयकी सत्ता स्वीकार करके किया गया है। 'प्रत्यक्ष स्वलक्षण-को विषय करता है, असाधारण वस्तु स्वलक्षण है, वह विकल्पातीत है, इसीका 'यह वह' इत्यादिरूपसे व्यवहारमे निर्देश होता है, सामान्य अनुमानका विषय होता है' आदि व्याख्याएँ सर्वाभाववादमे नही बन सकतीं। सर्वाभाववादमे किसी भी भेदकी संभावना ही नही की जा सकती। सम्बन्धियोके भेदसे अभावमे भेद कहना तो तब उचित है जब सम्बन्धियोकी सत्ता सिद्ध हो।

संवेदनाद्वैतवादीका यह कथन भी उचित नही है कि–'सभी ज्ञान निरालम्बन होनेसे अयथार्थ है, निर्विकल्पक स्वज्ञान ही प्रमाण है। शास्त्रोमें जो प्रमाण प्रमेय आदिकी प्रक्रिया है उसके द्वारा अविद्याका ही विस्तार किया गया है। विद्या तो आगमविकल्पसे परे है, वह स्वय प्रकाशमान है"; क्योकि सवेदनाद्वैतकी सिद्धिका कोई उपाय नही है। कहा भी है–

"जो सवेदनाद्वैत प्रत्यक्षबुद्धिका विषय नही है, जिसका अनुमान अर्थरूप लिगके द्वारा हो नही सकता, और जिसके स्वरूपकी सिद्धि वचनो द्वारा भी नही हो सकती उस सर्वथा असिद्ध सवेदनको माननेवालोकी क्या गति होगी ?" अत सवेदनाद्वैतवाद त्याज्य है।

मति ज्ञानके प्रकार–

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

मति स्मृति सज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध आदि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेके कारण भिन्न नही है।

§ १ इति शब्दके अनेक अर्थ होते है–यथा 'हन्तीति पलायते–मारा इसलिए भागा' यहाँ इति शब्दका अर्थ हेतु है। 'इति स्म उपाध्याय कथयति–उपाध्याय इस प्रकार कहता है' यहाँ 'इस प्रकार' अर्थ है। 'गौ अश्व इति–गाय घोडा आदि प्रकार' यहाँ इतिशब्द प्रकारवाची है। 'प्रथममाह्निकमिति, यहाँ इति शब्दका अर्थ समाप्ति है। इसी तरह व्यवस्था अर्थविपर्यास शब्दप्रादुर्भाव आदि अनेक अर्थ है। यहाँ विवक्षासे आदि और प्रकार ये दो अर्थ लेने चाहिए। मति स्मृति आदिमे आदि शब्दसे प्रतिभा बुद्धि उपलब्धि आदिका ग्रहण होता है।

§ २ यद्यपि मति आदि शब्दोमें अर्थभेद है फिर भी रूढिवश इन शब्दोमें एकार्थता है। जैसे कि 'गच्छति गौ' इस प्रकार व्युत्पत्त्यर्थ मान लेने पर भी गौ शब्द सभी चलनेवालोमें प्रयुक्त न होकर एक पशुविशेषमे रूढिके कारण प्रयुक्त होता है। ये सभी मति आदि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ही पदार्थबोध कराते है अत. इनमें भेद नही है।

§ ३–५ **प्रश्न**–जैसे गौ अश्व आदिमे शब्दभेदसे अर्थभेद है उसी तरह मत्यादिमे भी होना चाहिए। **उत्तर**–'शब्द भेदसे अर्थभेद'का नियम संशय उत्पन्न करनेवाला है उससे किसी पक्षविशेषका निर्णय नही हो सकता, क्योकि इन्द्र शक्र और पुरन्दर आदिमे शब्दभेद होनेपर भी अर्थभेद नही देखा जाता। तीनों शब्द एक इन्द्र अर्थके वाचक

हैं। यदि शब्दभेदसे अर्थभेद है तो शब्द-अभेदसे अर्थ-अभेद भी होना चाहिए। फलत वचन पृथिवी आदि ग्यारह अर्थोमें अभेद हो जाना चाहिए, क्योकि ये सभी एक 'गो' शब्दके वाच्य है। अथवा, जैननयके अनुसार इन शब्दोमे भेद भी है और अभेद भी। द्रव्यदृष्टिसे जैसे इन्द्रादि शब्द इन्द्र द्रव्यके वाचक होनेसे अभिन्न है उसी तरह एक मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न सामान्य मतिज्ञानकी अपेक्षासे अथवा एक आत्मद्रव्यकी दृष्टिसे मत्यादि अभिन्न है और तत् तत् पर्यायकी दृष्टिसे भिन्न है। इन्दनक्रिया शासनक्रिया आदिसे विशिष्ट इन्द्रादिपर्याये जैसे भिन्न है उसी तरह मनन स्मरण सज्ञान चिन्तन आदि पर्याये भी भिन्न है। यह पर्यायार्थिक नयकी दृष्टि है।

§ ६–७ **प्रश्न**–जैसे मनुष्य मानव मनुज आदि पर्याय शब्द मनुष्यके लक्षण नही है उसी तरह मति आदि पर्याय शब्द भी मतिज्ञानके लक्षण नही हो सकते। **उत्तर**–जो पर्याय पर्यायवालेसे अभिन्न होती है वह लक्षण बनती है जैसे उष्ण पर्याय अग्निसे अभिन्न होनेके कारण अग्निका लक्षण बनती ही है। जैसे मनुष्य मानव मनुज आदि शब्द घटादि द्रव्योसे व्यावृत्त होकर एक सामान्य मनुष्य रूप अर्थके लक्षक होनेसे लक्षण है, अन्यथा यदि ये मनुष्य सामान्यका प्रतिपादन न करे तो मनुष्यका अभाव ही हो जायगा उसी प्रकार मति आदि शब्द अभिनिबोधसामान्यात्मक मतिज्ञानके लक्षक होनेसे मतिज्ञानके लक्षण होते है। जैसे 'अग्नि कौन ?' यह प्रश्न होनेपर बुद्धि तुरत दौडती है कि 'जो उष्ण', और 'कौन उष्ण' कहनेपर 'जो अग्नि' इस प्रकार गत्वा-प्रत्यागत न्याय (समान प्रश्नोत्तर न्याय) से भी पर्याय शब्द लक्षण बन सकते है। मति आदिमे भी यही न्याय समझना चाहिए, यथा– 'मतिज्ञान कौन ?' 'जो स्मृति आदि', 'स्मृति आदि क्या है' ? जो 'मतिज्ञान'। इस प्रकार मत्यादि पर्याय शब्दोके लक्षण बननेमे कोई बाधा नही है।

सभी पर्याये लक्षण नही होती किन्तु आत्मभूत अन्तरग पर्याय ही लक्षण होती है। अग्निका लक्षण उष्णता तो हो सकती है धूम आदि नही। उसी तरह मति आदि ज्ञान पर्याये लक्षण हो सकती है न कि मति आदि पुद्गल शब्द आदि बाह्य पदार्थ।

§ ८–१० अथवा, इति शब्द अभिधेयवाची है। अर्थात् मति स्मृति सज्ञा आदिके द्वारा जो अर्थ कहा जाता है वह मतिज्ञान है। मत्यादिके द्वारा श्रुतज्ञान आदिका तो कथन होता ही नही है क्योकि उनके भिन्न भिन्न लक्षण आगे कहे जायँगे।

मतिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण–

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है।

§ १ इन्द्र अर्थात् आत्मा। कर्ममलीमस आत्मा सावरण होनेसे स्वय पदार्थोंके ग्रहणमें असमर्थ होता है। उस आत्माको अर्थोपलब्धिमे लिङ्ग अर्थात् द्वार या कारण इन्द्रियाँ होती है।

§ २–३ अनिन्द्रिय अर्थात् मन, अन्त करण। जैसे अब्राह्मण कहनेसे ब्राह्मणत्व-रहित किसी अन्य पुरुषका ज्ञान होता है वैसे अनिन्द्रिय कहनेसे इन्द्रियरहित किसी अन्य पदार्थका बोध नहीं करना चाहिए; क्योंकि अनिन्द्रियमें जो 'न' है वह 'ईषत् प्रतिषेध'को

कहता है। जैसे 'अनुदरा कन्या' कहनेसे 'बिना पेटकी लड़की' न समझकर गर्भ धारण आदिके अयोग्य छोटे पेटवाली लडकीका ज्ञान होता है उसी तरह अनिन्द्रियसे इन्द्रियत्वका अभाव नहीं होता किन्तु मन, चक्षुरादिकी तरह प्रतिनियत देशवर्ती विषयोको नहीं जानकर अनियत विषयवाला है अत· वह 'अनिन्द्रिय' पदका वाच्य होता है। मन, गुण दोष विचार आदि अपनी प्रवृत्तिमे इन्द्रियादिकी अपेक्षा नही रखता अतः वह अन्तरग करण होनेसे अन्त.करण कहा जाता है।

§ ४ यद्यपि मतिज्ञानका प्रकरण होनेसे मतिज्ञानका सम्बन्ध हो ही जाता है अत. इस सूत्रमे 'तत्' शब्दके ग्रहणकी आवश्यकता न थी, फिर भी आगेके सूत्रमे कहे जानेवाले अवग्रहादि भेद मतिज्ञानके है यह स्पष्ट बोध करानेके लिए यहाँ 'तत्' शब्दका ग्रहण किया है।

मतिज्ञानके भेद–

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

अवग्रह ईहा अवाय और धारणा ये चार मतिज्ञानके भेद हैं।

§ १ विषय और विषयी-इन्द्रियोका सन्निपात अर्थात् योग्य देशस्थिति होनेपर दर्शन होता है। इसके बाद जो आद्य अर्थग्रहण है वह अवग्रह कहलाता है।

§ २ अवग्रहके द्वारा 'यह पुरुष है' ऐसा आद्यग्रहण होनेपर पुन उसकी भाषा उमर रूपादिके द्वारा विशेष जाननेकी ओर झुकना ईहा है।

§ ३ भाषा आदि विशेषोके द्वारा उसकी उस विशेषताका यथार्थ ज्ञान कर लेना अवाय है जैसे यह दक्षिणी है युवा है या गौर है आदि।

§ ४ निश्चित विशेषकी कालान्तरमे स्मृतिका कारण धारणा होती है।

§ ५ अवग्रह आदि क्रमश उत्पन्न होते है, अत उनका सूत्रमे क्रमश ग्रहण किया है।

§ ६–१० **प्रश्न**–जैसे चक्षुके रहते हुए सशय होता है अतः उसे निर्णय नही कह सकते उसी तरह अवग्रहके होते हुए ईहा देखी जाती है। ईहा निर्णय रूप तो है नही क्योंकि निर्णयके लिए ईहा है न कि स्वय निर्णयरूप, और जो निर्णयरूप नही है वह संशयकी ही कोटिका होता है अत अवग्रह और ईहाको प्रमाण नही कह सकते। जैसे ऊर्ध्वताका आलोचन होनेपर भी स्थाणु और पुरुष कोटिक सशय हो जाता है उसी तरह अवग्रहके द्वारा 'यह पुरुष है' इस ग्रहणमे भी आगेके विशेषोको लेकर सशय उत्पन्न होता है। अत· अवग्रहमे ईहाकी अपेक्षा होनेसे करीब-करीब सशयरूपता ही है। **उत्तर**– अवग्रह और सशयके लक्षण जल और अग्निकी तरह अत्यन्त भिन्न है अत दोनो जुदे-जुदे है। सशय स्थाणु पुरुष आदि अनेक पदार्थोंमे दोलित रहता है, अनिश्यचात्मक होता है और स्थाणु पुरुष आदिमेसे किसीका निराकरण नही करता जब कि अवग्रह एक ही अर्थको विषय करता है, निश्चयात्मक है और स्वविषयसे भिन्न पदार्थोका निराकरण करता है। सारांश यह कि सशय निर्णयका विरोधी होता है अवग्रह नहीं। अवग्रहमे भाषा वय रूप आदि सम्बन्धी निश्चय न होनेके कारण उसे सशयतुल्य कहना उचित नहीं है; क्योकि अवग्रह जितने विशेषको जानता है उतनेका निर्णय ही करता है।

§ ११–१३ निर्णयात्मक न होनेसे ईहाको सशय कहना भी ठीक नही है,

क्योंकि ईहामें पदार्थ विशेषके निर्णयकी ओर झुकाव होता है जब कि संशयमें किसी एक कोटिकी ओर कोई झुकाव नही होता। अवग्रहके द्वारा 'पुरुष' ऐसा निश्चय हो जाने पर 'यह दक्षिणदेशीय है या उत्तर देशीय' यह सशय होता है। इस संशयका उच्छेद करनेके लिए 'दक्षिणी होना चाहिए' इस प्रकारके एककोटिक निर्णयके लिए ईहा होती है। अत· इसे सशय नही कह सकते। इसीलिए सूत्रमे सशयका ग्रहण नही किया क्योंकि सशयमे किसी अर्थविशेषका ग्रहण नही है जब कि ईहामे है।

प्रश्न–अवाय नाम ठीक है या अपाय ? **उत्तर**–दोनो ठीक है। जब 'दक्षिणी ही है' यह अवाय निश्चय करता है तब 'उत्तरी नही है' यह अपाय-त्याग अर्थात् ही हो जाता है। इसी तरह 'उत्तरी नही है' इस प्रकार अपाय-त्याग होनेपर 'दक्षिणी है' यह अवाय-निश्चय हो ही जाता है। अत एकसे दूसरेका ग्रहण हो जानेसे दोनों ठीक है।

प्रश्न–दर्शन और अवग्रहमे क्या अन्तर है ? **उत्तर**–विषय और विषयीके सन्निपात के बाद चक्षुर्दर्शनावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके अनुसार प्रथम समयमे जो 'यह कुछ है' इस प्रकारका विशेषशून्य निराकार प्रतिभास होता है वह दर्शन कहलाता है। इसके बाद दो दूसरे तीसरे आदि समयोमे 'यह रूप है' 'यह पुरुष है' आदि रूपसे विशेषांश का निश्चय अवग्रह कहलाता है। अवग्रहमे चक्षुरिन्द्रिय ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी अपेक्षा होती है। जातमात्र बालकके भी इसी क्रमसे दर्शन और अवग्रह होते है। यदि बालकके प्रथम समयमे होनेवाले सामान्यालोचनको अवग्रहजातीय ज्ञान कहा जाता है तो वह कौन ज्ञान होगा ? बालकके प्रथम समय भावी आलोचनको सशय और विपर्यय तो नही कह सकते, क्योकि ये दोनो सम्यग्ज्ञानपूर्वक होते है। जिसने पहिले स्थाणु और पुरुषका सम्यग्ज्ञान किया है उसे ही तद्विषयक सशय और विपर्यय हो सकता है। चूँकि प्रश्न प्राथमिक ज्ञानका है अत. उसे सशय और विपर्यय नही कहा जा सकता। अनध्यवसाय भी नही कह सकते, क्योकि जन्मान्ध और जन्मबधिरकी तरह रूपमात्र और शब्दमात्रका स्पष्ट बोध हो ही रहा है। सम्यग्ज्ञान भी नही कह सकते; क्योकि किसी अर्थविशेषके आकारका निश्चय नही हुआ है। अवग्रह और दर्शनके उत्पादक कारण–ज्ञानावरणका क्षयोपशम और दर्शनावरणका क्षयोपशम चूँकि जुदे जुदे है, अत दोनो घट-पटकी तरह भिन्न है। अवग्रहसे पहिले वस्तुमात्रका सामान्यालोचन रूप दर्शन होता है फिर 'रूप है' यह अवग्रह, फिर 'यह शुक्ल है या कृष्ण' यह सशय, फिर 'शुक्ल होना चाहिए' यह ईहा, फिर 'शुक्ल ही है' यह अवाय, तदनन्तर अवायकी दृढ़तम अवस्था धारणा होती है। ज्ञानावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ असख्यात लोक प्रमाण है जो इस प्रकारके प्रत्येक इन्द्रियजन्य अवग्रहादि ज्ञानोका आवरण करती है। और इनके क्षयोपशमानुसार उक्त ज्ञान प्रकट होते है।

प्रश्न–मतिज्ञान तो इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है पर ईहा आदि चूँकि अवग्रह आदिसे उत्पन्न हुए है अतः इन्हे मतिज्ञान नही कहना चाहिए ?

उत्तर–ईहा आदि मनसे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञान है। यद्यपि श्रुतज्ञान भी अनिन्द्रियजन्य होता है पर ईहा आदिमें परम्परया इन्द्रियजनितता भी है क्योंकि इन्द्रियज अवग्रहके बाद ही ईहादि ज्ञान परम्परा चलती है और तब भी इन्द्रिय व्यापार रुकता नही है श्रुतकेवल अनिन्द्रिय जन्य है। इसीलिए ईहा आदिमे चक्षुरादि इन्द्रियजन्यताका भी व्यवहार हो जाता है।

अवग्रहादि किन अर्थोंके होते हैं ?

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

बहु एक बहुविध एकविध क्षिप्र अक्षिप्र अनि सृत नि.सृत अनुक्त उक्त ध्रुव और अध्रुव इन बारह प्रकारके अर्थोंके अवग्रह आदि होते है।

§ १ बहु शब्द सख्यावाची भी है और परिमाणवाचक भी। जैसे एक दो बहुत आदि, बहुत दाल बहुत भात आदि।

§ २–८ **प्रश्न**–जब एक ज्ञान एक ही अर्थको ग्रहण करता है तब बहु आदि विषयक अवग्रह नही हो सकता ? **उत्तर**–यदि एक ज्ञान एक ही अर्थको विषय करता है तो उससे सदा एक ही प्रत्यय होगा। नगर वन सेना आदि बहुविषयक ज्ञान नही हो सकेगे। नगर आदि सज्ञाएँ और व्यवहार समुदायविषयक है। अत समुदायविषयक समस्त व्यवहारोका लोप ही हो जायगा। एकार्थग्राहि ज्ञानपक्षमे यदि पूर्वज्ञानके कालमे ही उत्तर ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है तो 'एक मन होनेसे एक अर्थविषयक ही ज्ञान होता है' इस सिद्धान्तका विरोध हो जायगा। जैसे एक ही मन अनेक ज्ञानोको उत्पन्न कर सकता है उसी तरह एक ज्ञानको अनेक अर्थोको विषय करनेवाला माननेमे क्या आपत्ति है ? यदि अनेक ज्ञानोंको एककालीन मानकर अनेकार्थोकी उपलब्धि एक साथ की जाती है, तो 'एक का ज्ञान एक ही अर्थको जानता है' इस सिद्धान्तका खडन हो जायगा। यदि पूर्व ज्ञानके निवृत्त होनेपर उत्तर ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाती है तो सदा एकार्थ विषयक ज्ञानकी सत्ता रहनेसे 'यह इससे छोटा है, बडा है' इत्यादि आपेक्षिक व्यवहारोका लोप हो जायगा। एकार्थग्राहिज्ञानवादमे मध्यमा और प्रदेशिनी अगुलियोमे होनेवाले ह्रस्व दीर्घ आदि समस्त आपेक्षिक व्यवहारोका लोप हो जायगा क्योकि कोई भी ज्ञान दो को नही जानेगा। इस पक्षमे उभयार्थग्राही सशयज्ञान नहीं हो सकेगा क्योकि स्थाणु विषयक ज्ञान पुरुषको नही जानेगा तथा न पुरुष विषयक ज्ञान स्थाणुको। इस वादमे किसी भी इष्ट अर्थकी सम्पूर्ण उत्पत्ति नही हो सकेगी। जैसे कोई चित्रकार पूर्ण कलशका चित्र बना रहा है तो उसके प्रतिक्षणवर्ती ज्ञान पूर्वापरका अनुसन्धान तो कर ही नही सकेगे, ऐसी दशामे पूर्णकलशका परिपूर्ण चित्र नहीं बन सकेगा। इस पक्षमे दो तीन आदि बहुसख्या-विषयक प्रत्यय नही हो सकेगे, क्योंकि कोई भी ज्ञान दो तीन आदि समूहोको जान ही नही सकेगा। सन्तान या सस्कारकी कल्पनामे दो प्रश्न होते है कि वे ज्ञानजातीय होगे या अज्ञानजातीय ? अज्ञानजातीयसे तो अपना कोई प्रयोजन सिद्ध होगा ही नही। ज्ञानजातीय होकर यदि इनने भी एक ही अर्थको जाना तो समस्त दूषण ज्योके त्यो बने रहेगे। यदि अनेकार्थको जानते है तो एकार्थवाली प्रतिज्ञा की हानि हो जायगी।

§ ९–१५ विध शब्द प्रकारार्थक है, बहुविध अर्थात् बहुत प्रकारवाले पदार्थ। क्षिप्र अर्थात् शीघ्रतासे। अनि.सृतका अर्थ है वस्तुके कुछ भागोंका दिखना, पूरी वस्तुका न दिखना। अनुक्तका अर्थ है कहनेके बिना ही अभिप्रायसे जान लेना। ध्रुव अर्थात् यथार्थ ग्रहण। सेतरका अर्थ है इनसे उलटे पदार्थ, अर्थात् अल्प अल्पविध चिर नि.सृत उक्त और अध्रुव। 'इन सबके अवग्रहादि होते है' इस प्रकारका कर्मनिर्देश अवग्रह आदि ज्ञानोंकी अपेक्षा समझना चाहिये।

§ १६ बहु आदिका शब्दोंसे निर्देश इसलिए किया है कि इनके ज्ञानमे ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी विशुद्धि अत्यधिक अपेक्षित होती है। इन बारह प्रकारके अर्थोके अवग्रहादि प्रत्येक इन्द्रिय और मनके द्वारा होते हैं। जैसे श्रोत्रेन्द्रियावरण और वीर्यान्तरायका प्रकृष्ट क्षयोपशम होनेपर तदनुकूल अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे उन उन अङ्ग उपाङ्गोके सद्भावसे कोई श्रोता एक साथ तत वितत घन सुषिर आदि बहुत शब्दोको सुनता है। क्षयोपशमादिकी न्यूनतामे एक या अल्प शब्दको सुनता है। प्रकृष्ट क्षयोपशमादिसे ततादि शब्दोके एक-दो-तीन सख्यात असख्यात आदि प्रकारोको ग्रहण कर बहुविध शब्दोको जानता है। क्षयोपशमादिकी न्यूनतामे एक प्रकारके ही शब्दोको सुनता है। क्षयोपशम की विशुद्धिमे क्षिप्र-शीघ्रतासे शब्दोको सुनता है। क्षयोपशमकी न्यूनतामे अक्षिप्र–देरीसे शब्दको सुनता है। क्षयोपशमकी विशुद्धिमे अनि सृत–पूरे वाक्यका उच्चारण न होनेपर भी उसका ज्ञान कर लेता है। नि सृत अर्थात् पूर्ण रूपसे उच्चारित शब्दका ज्ञान कर लेना। क्षयोपशमकी प्रकृष्टतामे एक भी शब्दका उच्चारण किए विना अभिप्राय मात्रसे अनुक्त शब्दको जान लेता है। अथवा वीणा आदिके तारो के सम्हालते समय ही यह जान लेना कि 'इसके द्वारा यह राग बजाया जायगा' अनुक्त ज्ञान है। उक्त अर्थात् कहे गये शब्दको जानना। ध्रुव ग्रहणमे जैसा प्रथम समयमे ज्ञान हुआ था आगे भी वैसा ही ज्ञान होता रहता है न कम और न अधिक, परन्तु अध्रुवग्रहणमे क्षयोपशयकी विशुद्धि और अविशुद्धिके अनुसार कम और अधिक रूपसे ज्ञान होता है, कभी बहुत शब्दोको जानना हो तो कभी एकको, कभी क्षिप्र तो कभी देरीसे, कभी नि सृत तो कभी अनि सृत आदि।

प्रश्न–बहु और बहुविधमे क्या अन्तर है ?

उत्तर–जैसे कोई बहुत शास्त्रोका सामान्यरूपसे व्याख्यान करता है और दूसरा उन्ही शास्त्रोकी अनेकविध व्याख्याएँ करता है, उसी तरह ततादि शब्दोका सामान्य ग्रहण बहुग्रहण है तथा उन्हीका अनेकगुणी विशेषताओसे ज्ञान करना बहुविध ग्रहण है।

प्रश्न–उक्त और नि सृतमे क्या विशेषता है ?

उत्तर–परोपदेश पूर्वक शब्दोका ग्रहण उक्त है और अपने आप ज्ञान करना नि सृत है। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रियके द्वारा भी बह्वादि बारह प्रकारके अर्थोका ग्रहण होता है। पचरगी साडीके एक छोरके रगोको देखकर पूरी साडीके रगोका ज्ञान कर लेना अनि सृत ग्रहण है। सफेद काले आदि रगोके मिश्रणसे जो रग तैयार होते है उनके सम्बन्धमे विना कहे हुए अभिप्रायमात्रसे यह जान लेना कि 'आप इन दोनो रगोके मिश्रणसे यह रग बनायेगे' अनुक्त रूप ग्रहण है। अथवा अन्य देशमे रखे हुए पचरगे वस्त्रके सम्बन्धमे अभिप्रायमात्रसे यह जान लेना कि आप इन रगोका कथन करेगे अनुक्त ग्रहण है। दूसरेके अभिप्रायके बिना स्वयं अपने क्षयोपशमानुसार रूपको जानना उक्त ग्रहण है। अन्य बहु आदि विकल्पोकी व्याख्या सरल है। इसी तरह घ्राणादि इन्द्रियोंमे भी लगा लेना चाहिये।

§ १७ **प्रश्न**–स्पर्शन रसना घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी अर्थात् पदार्थोंसे सम्बद्ध होकर ज्ञान करनेवाली है अत इनसे अनि सृत और अनुक्त ज्ञान नहीं हो सकते ?

उत्तर–इन इन्द्रियोंसे किसी न किसी रूपमे पदार्थका सम्बन्ध अवश्य हो जाता है, जैसे कि चीटीको सुदूरवर्ती गुड़ आदिके रस और गन्धका ज्ञान सूक्ष्म परमाणुओंके सम्बन्ध

से होता है। हमलोगोंको अनि सृत और अनुक्त अवग्रहादि श्रुतज्ञानकी अपेक्षासे होते है क्योकि इनमे परोपदेश अपेक्षित होता है। शास्त्रमे श्रुतज्ञानके भेदप्रभेदके प्रकरणमे लब्ध्यक्ष के चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना स्पर्शन और मनके भेदसे छह भेद किये है, इसलिए इन लब्ध्यक्षरूप श्रुतज्ञानोसे उन उन इन्द्रियो द्वारा अनि सृत और अनुक्त आदिका विशिष्ट अवग्रहादि ज्ञान होता रहता है।

ये बहु आदि भेद पदार्थके है–

अर्थस्य ॥१७॥

चक्षु आदि इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थको अर्थ कहते है।

§ १ जो बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तोंसे समुत्पन्न पर्यायोंका आधार हो वह द्रव्य अर्थ है।

§ २ 'अर्थ'के ग्रहण करनेसे नैयायिकादिके इस कथनका निराकरण हो जाता है कि 'रूपादि गुण ही इन्द्रियोके द्वारा गृहीत होते है', क्योकि अमूर्त रूपादि गुणोका इन्द्रियोसे सम्बन्ध ही नही हो सकता। समुदाय अवस्थामे भी जब गुण अपनी सूक्ष्मता नही छोडते तब उनका ग्रहण कैसे हो सकता है ? चूंकि अर्थसे रूपादि अभिन्न है, अत अर्थके ग्रहण होने पर भी 'रूपको देखा, गन्ध सूंघी' आदि प्रयोग हो जाते है।

§ ३–५ **प्रश्न**–इनके होनेपर मतिज्ञान होता है अत 'अर्थे' ऐसा सप्तम्यन्त सूत्र बनाना चाहिये ?

उत्तर–यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि अर्थके होनेपर ज्ञान होता ही है। तल-घरमे बढ़े हुए बालकको 'घट'के सामने रहनेपर भी घटज्ञान नहीं होता। कारक विवक्षा-के अनुसार होता है, अत· अधिकरण विवक्षा न रहनेके कारण सप्तमी न होकर क्रिया-कारक सम्बन्धकी विवक्षामे सम्बन्धार्थक षष्ठीका प्रयोग हुआ है। अवग्रह आदि क्रिया-विशेष बहु आदि रूप अर्थके होते है।

§ ६–८ बहु आदिके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे 'अर्थानाम्' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग होना चाहिये ?

उत्तर–अवग्रहादिके साथ अर्थका सम्बन्ध किया जाना चाहिये। अवग्रहादि 'किसके' ऐसे प्रश्नका उत्तर है 'अर्थके'। अथवा बहु आदि सभी ज्ञानके विषय होनेके कारण अर्थ है, अत· सामान्य दृष्टिसे एकवचन निर्देश कर दिया है। अथवा बहु आदि एक एकसे एकवचन-वाले 'अर्थ'का सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

अवग्रहादिकी विशेषता–

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

व्यञ्जन–अव्यक्त शब्दादि पदार्थ, अर्थात् जिनका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होकर ज्ञान होता है ऐसे प्राप्त पदार्थ। इनका अवग्रह ही होता है ईहादिक नहीं।

§ १–जैसे 'अपो भक्षयति–पानी पीता है' इस वाक्यमे 'एवकार' न रहनेपर भी 'पानी ही पीता है' ऐसा अवधारणात्मक ज्ञान हो जाता है। उसी तरह सूत्र मे एवकार न देनेपर भी 'अवग्रह ही होता है' ऐसा अवधारण समझ लेना चाहिये।

§ २ व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह कहलाता है और अव्यक्त ग्रहण व्यञ्जनावग्रह। जैसे नया मिट्टीका सकोरा पानीकी दो तीन बिन्दु डालने तक गीला नहीं होता पर लगातार जलबिन्दुओंके डालते रहनेपर धीरे धीरे गीला हो जाता है उसी तरह व्यक्त ग्रहणके पहिले का अव्यक्तज्ञान व्यञ्जनावग्रह है और व्यक्तग्रहण अर्थावग्रह।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

§ १ चक्षु और मनके द्वारा व्यवञ्जनावग्रह नही होता क्योकि चक्षु और मन योग्यदेशमे स्थित पदार्थको सम्बन्ध किये बिना ही ज्ञान करते है अत. जो भी ज्ञान होता है वह स्पष्ट ही होता है।

§ २–३ मन अप्राप्त अर्थका विचार करता है यह तो निर्विवाद है और चक्षुकी अप्राप्यकारिता आगम और युक्तिसे सिद्ध है, स्वेच्छासे नही। आगममे बताया है कि–शब्द कानसे स्पृष्ट होकर सुना जाता है पर रूप अस्पृष्ट होकर दूरसे ही देखा जाता है। गन्ध रस और स्पर्श इन्द्रियोसे जब स्पृष्ट होते है और विशिष्ट सम्बन्धको प्राप्त होते है तब जाने जाते है।

युक्तियोसे भी चक्षुकी अप्राप्यकारिता प्रसिद्ध है। यथा–चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है क्योकि वह अपनेमे लगे हुए अजनको नही देख पाती। स्पर्शनेन्द्रिय प्राप्यकारी है तो वह अपनेसे छुए हुए किसी भी पदार्थके स्पर्शको जानती ही है। अत मनकी तरह चक्षु अप्राप्यकारी है। 'चक्षु प्राप्यकारी है क्योकि वह ढके हुए पदार्थको नही देखती जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय' यह पक्ष ठीक नही है, क्योकि चक्षु काँच अभ्रक स्फटिक आदिसे आवृत–ढके हुए पदार्थोको बराबर देखता है अत. पक्षमे ही अव्यापक होनेसे उक्त हेतु असिद्ध है, जैसे कि वनस्पतिमे चैतन्य सिद्ध करनेके लिए दिया जानेवाला 'स्वाप-सोना' हेतु, क्योकि किन्ही वनस्पतियोमे पत्र-सकोच आदि चिह्नोसे 'सोना' स्पष्ट जाना जाता है किन्हीका नही। चुम्बक तो दूरसे ही लोहेको खीचनेके कारण अप्राप्यकारी है फिर भी वह ढके हुए लोहेको नही खीचता अत सशय भी होता है कि आवृतको न देखनेके कारण चक्षु इन्द्रिय स्पर्शनकी तरह प्राप्यकारी है या चुम्बककी तरह अप्राप्यकारी। भौतिक होनेसे चक्षुको अग्निकी तरह प्राप्यकारी कहना भी ठीक नही है, क्योकि चुम्बक भौतिक होकर भी अप्राप्यकारी है। बाह्येन्द्रिय होनेसे स्पर्शनेन्द्रियकी तरह चक्षुको प्राप्यकारी कहना ठीक नही है, क्योकि बाहिर दिखनेवाली द्रव्येन्द्रिय तो अन्तरग मुख्य भावेन्द्रियकी सहायक है, मात्र उनसे ज्ञान नही होता। स्पर्शनेन्द्रिय आदि मे भी भीतरी भावेन्द्रिय ही की प्रधानता है। अत यह हेतु कार्यकारी नही है। जिस प्रकार चुम्बक अप्राप्त लोहेको खीचता है परन्तु अतिदूरवर्ती अतीत अनागत या व्यवहित लोहेको नही खीचता उसी तरह चक्षु भी न व्यवहितको देखता है और न अतिदूरवर्तीको ही; क्योकि पदार्थोंकी शक्तियाँ मर्यादित है। अप्राप्यकारी माननेपर चक्षुके द्वारा सशय और विपर्ययज्ञानके अभावका दूषण तो प्राप्यकारी मानने पर भी बना रहता है। अत· सशय और विपर्यय तो इन्द्रिय-दोषसे दोनो ही अवस्थाओमे होते है।

'चक्षु चूँकि तेजोद्रव्य है अत. इसके किरणे होती है और यह किरणोके द्वारा पदार्थसे सम्बन्ध करके ही ज्ञान करता है जैसे कि अग्नि।' यह अनुमान ठीक नही है; क्योंकि चक्षुको तेजोद्रव्य मानना ही गलत है। अग्नि तो गरम होती है अत चक्षुइन्द्रियका स्थान

उष्ण होना चाहिए। अग्निकी तरह चक्षुमे चमकदार भासुर रूप भी होना चाहिए। पर न तो चक्षु उष्ण ही है और न भासुररूपवाली ही। अदृष्ट–अर्थात् कर्मके कारण ऐसे तेजोद्रव्य की कल्पना करना 'जिसमे न भासुर रूप हो और न उष्णस्पर्श' उचित नही है, क्योकि अदृष्ट निष्क्रिय गुण है वह पदार्थके स्वाभाविक गुणोको पलट नही सकता। बिल्ली आदि की आखोको प्रकाशमान देखकर चक्षुको तेजोद्रव्य कहना भी ठीक नही है क्योंकि पार्थिव आदि पुद्गल द्रव्योमे भी कारणवश चमक उत्पन्न हो जाती है जैसे कि पार्थिवमणि या जलीय वरफ आदि मे। जो गतिमान् होता है वह समीपवर्ती और दूरवर्ती पदार्थोसे एक साथ सम्बन्ध नही कर सकता जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय किन्तु चक्षु समीपवर्ती शाखा और दूरवर्ती चन्द्रको एक साथ जानता है, अत गतिमान्से विलक्षण प्रकारका होनेसे चक्षु अप्राप्यकारी है। यदि चक्षु गतिमान् होकर प्राप्यकारी होता तो अँधियारी रातमे दूरदेशवर्ती प्रकाशको देखनेके समय उसे प्रकाशके पास रखे हुए पदार्थोका तथा मध्यवर्ती पदार्थो का ज्ञान भी होना चाहिए था। आपके मतमे जब चक्षु स्वय प्रकाशरूप है तब अन्य प्रकाशकी आवश्यकता उसे होनी ही नही चाहिए। किच, यदि चक्षु प्राप्यकारी होता तो जैसे शब्द कानके भीतर सुनाई देता है, उसी तरह रूप भी आँखके भीतर ही दिखाई देना चाहिए। आखके द्वारा जो अन्तराल्का ग्रहण और अपनेसे बडे पदार्थका अधिकरूपमे ग्रहण होता है वह नही होना चाहिए। यह मत कि 'इन्द्रियाँ बाहर जाकर पदार्थसे सम्बन्ध करके उन्हे जानती है अत सान्तर और अधिक ग्रहण हो जाता है' ठीक नही है, क्योंकि इन्द्रियोकी बहिर्वृत्ति अप्रसिद्ध है। चिकित्सा आदि तो शरीर देशमे ही किए जाते है बाहर नही। यदि इन्द्रिया बाहिर जाती है तो जिस समय देखना प्रारम्भ हुआ उसी समय आखकी पलक बन्द कर लेने पर भी दिखाई देना चाहिए। कारण–इन्द्रिय तो बाहर जा चुकी है। फिर, मनसे अधिष्ठित होकर ही इन्द्रिया स्वविषयमे व्यापार करती है, पर मन तो अन्त करण है, वह तो बाहिर जाकर इन्द्रियोकी सहायता नही कर सकता, शरीर देशमे ही उसकी सहायता सभव है। यदि अणुरूप मन बाहर चला भी गया तो वह फैले हुए आखोकी किरणोका नियन्त्रण कैसे कर सकता है? अतः चक्षु शरीर देशमे रहकर ही योग्यदेशस्थित पदार्थको जानता है।

बौद्ध का मत है कि श्रोत्र भी चक्षुकी तरह अप्राप्यकारी है क्योकि वह दूरवर्ती शब्दको सुन लेता है। यह मत ठीक नही है क्योकि श्रोत्रका दूरसे शब्दका सुनना असिद्ध है। वह तो नाककी तरह अपने देशमे आये हुए शब्द पुद्गलोको सुनता है। शब्द वर्गणाएँ कानके भीतर पहुचकर ही सुनाई देती है। यदि कान दूरवर्ती शब्दको सुनता है तो उसे कानके भीतर घुसे हुए मच्छरका भिनभिनाना नही सुनाई देना चाहिए क्योकि कोई भी इन्द्रिय अति निकटवर्ती और दूरवर्ती पदार्थोको नही जान सकती। शब्दको आकाशका गुण मानना तो अत्यन्त असगत है; क्योकि अमूर्तद्रव्यके गुण इन्द्रियोके विषय नही हो सकते जैसे कि आत्माके सुखादि गुण। श्रोत्रको प्राप्यकारी मानने पर भी 'अमुक देश अमुक दिशा आदिमे शब्द है' इस प्रकार दिग्देशविशिष्टताके ग्रहणका कोई विरोध नही है क्योकि वेगवान् शब्दपरिणत पुद्गलोके त्वरित और नियत देशादिसे आनेके कारण उस प्रकारका ज्ञान हो जाता है। शब्द पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म है, वे चारो ओर फैलकर श्रोताओके कानोमे प्रविष्ट होते है। कही कही प्रतिघात भी प्रतिकूल बायु और दीवाल

आदिसे हो जाता है। अत चक्षु और मनको छोडकर शेष इन्द्रियां प्राप्यकारी है। इनसे प्रथम व्यञ्जनावग्रह होता है बादमे अर्थावग्रह और चक्षु और मनसे सीधा अर्थावग्रह।

§ ३–७ **प्रश्न**–मन अपने विचारात्मक कार्यमे इन्द्रियान्तरकी सहायता की अपेक्षा नही करता अत उसे चक्षुकी तरह इन्द्रिय ही कहना चाहिए अनिन्द्रिय नही ? **उत्तर**–मन चक्षुरादि इन्द्रियोकी तरह दूसरोको दिखाई नही देता, सूक्ष्म है, वह अन्तरग करण है अतः उसे अनिन्द्रिय कहते है। इस अनुमानसे उसका सद्भाव सिद्ध होता है–चक्षु आदि इन्द्रियोंके समर्थ होने पर भी बाह्य रूपादि पदार्थोकी उपस्थिति तथा उनके युगपत् जाननेका प्रयोजन रहने पर जिसके न होनेसे युगपत् ज्ञान और क्रियाए नही होती वही मन है। मन जिस-जिस इन्द्रियको सहायता करता है उसी उसीके द्वारा क्रमश· ज्ञान और क्रिया होती है। जिसके द्वारा देखे या सुने गये पदार्थका स्मरण होता है वह मन है। स्मरणसे मनका सद्भाव सिद्ध होता है। अप्रत्यक्ष पदार्थोका ज्ञान अनुमानसे ही किया जाता है जैसे सूर्यकी गति और वनस्पतिके वृद्धि और ह्रास का।

§ ८-९ यद्यपि आत्मा स्वय समस्त ज्ञान और क्रियाशक्तियोसे सम्पन्न है फिर भी उसे उन उन ज्ञान आदिके लिए भिन्न भिन्न इन्द्रियोकी आवश्यकता होती है, जैसे कि अनेक कलाकुशल देवदत्तको चित्र बनाते समय कलम ब्रुश आदि उपकरणोकी अपेक्षा होती है और अलमारी बनानेके लिए वसूला करोत आदि उपकरणोकी। नामकर्मके उदयसे उत्पन्न अङ्ग उपाङ्गोके कारण इन्द्रियोका भेद होता है। कान यवनालीके समान, नाक मोतीके समान, जीभ खुरपाके समान, आख मसूरके समान काले तारेके आकार और स्पर्शनेन्द्रिय सर्वशरीरव्यापी अनेक आकारोकी है। ये ही इन्द्रिया अपने अपने विषयोको जाननेमे समर्थ है, अन्य नही।

द्रव्यकी दृष्टिसे मतिज्ञानी सभी द्रव्योकी कुछ पर्यायोको उपदेशसे जानता है। क्षेत्रकी दृष्टिसे उपदेश द्वारा सभी क्षेत्रोको जानता है। अथवा, आंखका उत्कृष्ट क्षेत्र ४७२६३$\frac{१}{९}$ योजन है। कानका क्षेत्र १२ योजन, नाक, जीभ और स्पर्शनका ९ योजन है। उपदेशसे सभी काल सभी औदयिक आदि भावोको मतिज्ञानी जान सकता है। सामान्यसे मतिज्ञान एक है। इन्द्रियज और अनिन्द्रियजके भेदसे दो प्रकारका है। अवग्रह आदिके भेदसे चार प्रकारका है। अवग्रहादि चार छहो इन्द्रियोसे होते है अत २४ प्रकारका है। चार इन्द्रियोसे चार व्यञ्जनावग्रह भी होते है अत मिलकर २८ प्रकारका है। इन्ही अट्ठाईसमे द्रव्य क्षेत्र काल भाव या अवग्रहादि चारको मिलानेसे ३२ प्रकारका हो जाता है। इस तरह इन २४, २८, ३२ प्रकारोको बहु आदि ६ भेदोसे गुणा करने पर क्रमशः १४४, १६८, १९२ भेद हो जाते है और बहु आदि १२ से गुणा करने पर २८८, ३३६ और ३८४।

व्यञ्जनावग्रहमे भी अव्यक्त रूपसे बहु आदि बारह प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण होता है। अनि.सृत ग्रहणमे भी जितने सूक्ष्म पुद्गल प्रकट है उनसे अतिरिक्तका ज्ञान भी अव्यक्त रूपसे हो जाता है। उन सूक्ष्म पुद्गलोका इन्द्रियदेशमे आ जाना ही उनका अव्यक्तग्रहण है।

श्रुतज्ञानका विवेचन--

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और उसके अगबाह्य अगप्रविष्ट दो भेद है। अंगबाह्यके अनेक भेद है और अगप्रविष्टके बारह भेद।

§ १ जिस प्रकार कुशल शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ कुशको काटनेवाला होता है फिर भी रूढ़िसे उसका चतुर अर्थ लिया जाता है उसी तरह श्रुतका व्युत्पत्त्यर्थ 'सुना हुआ' होनेपर भी उसका श्रुतज्ञान रूप ज्ञानविशेष अर्थ लिया जाता है।

§ २ पूर्व अर्थात् कारण, कार्यको पोषण या उसे पूर्ण करनेकी वजहसे कारण पूर्व कहा जाता है।

§ ३-५ **प्रश्न**–जैसे मिट्टीके पिण्डसे बना हुआ घड़ा मिट्टी रूप होता है उसी तरह मतिपूर्वक श्रुत भी मतिरूप ही होना चाहिए अन्यथा उसे मतिपूर्वक नही कह सकते।

उत्तर–मतिज्ञान श्रुतज्ञानमे निमित्तमात्र है उपादान नही। उपादान तो श्रुतपर्यायसे परिणत होनेवाला आत्मा है। जैसे दड चक्रादि घडेमे निमित्त है अत इनका घटरूप परिणमन नही होता और न इनके रहने मात्रसे घटभवनके अयोग्य रेत ही घडा बन सकती है किन्तु घट होने लायक मिट्टी ही घडा बनती है उसी तरह श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानके निमित्त होने मात्रसे श्रुतज्ञान नही बनता और न श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे रहित आत्मामे श्रुतज्ञान होता है किन्तु श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जिसमे श्रुत होनेकी योग्यता है वही आत्मा श्रुतज्ञानरूपसे परिणत होता है। फिर, यह कोई नियम नही है कि कारणके समान ही कार्य होना चाहिए। पुद्गलद्रव्यकी दृष्टिसे मिट्टी रूप कारणके समान घडा होता है पर पिण्ड और घट पर्यायोकी अपेक्षा दोनो विलक्षण है। यदि कारणके सदृश ही कार्य हो तो घट अवस्थासे भी पिड शिवक आदि पर्याये मिलनी चाहिए थी। जैसे मृत्पिडमे जल नही भर सकते उसी तरह घडेमे भी नही भरा जाना चाहिए। घटका भी घट रूपसे ही परिणमन होना चाहिए, कपालरूप नही, क्योकि आपके मतसे कारणके सर्वथा सदृश ही कार्य के होनेका नियम है। उसी तरह चैतन्य द्रव्यकी दृष्टिसे मति और श्रुत दोनो एक है क्योकि मति भी ज्ञान है और श्रुत भी ज्ञान है। किन्तु तत्तत् ज्ञान पर्यायोकी दृष्टिसे दोनो ज्ञान जुदा जुदा है।

§ ६ **प्रश्न**–श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानसे जो उत्पन्न हो उसे ही श्रुत कहना चाहिए क्योकि सुनकर जो जाना जाता है वही श्रुत होता है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय आदिसे श्रुत नही हो सकेगा ?

उत्तर–श्रुत शब्द श्रुतज्ञान विशेषमे रूढ होनेके कारण सभी मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानोमे व्याप्त है।

§ ७ **प्रश्न**–जिसका आदि होता है उसका अन्त भी, अत श्रुतमे अनादिनिधनता नही बन सकती। पुरुषकर्तृक होनेके कारण श्रुत अप्रमाण भी होगा ? **उत्तर**–द्रव्यादि सामान्यकी अपेक्षा श्रुत अनादि है, क्योकि किसी भी पुरुषने किसी नियत समयमे अविद्यमान श्रुतकी उत्पत्ति नही देखी। उस उस श्रुत पर्याय की अपेक्षा उसका आदि भी है और अन्त भी। तात्पर्य यह कि श्रुतज्ञान सन्तति की अपेक्षा अनादि है। अपौरुषेयता प्रमाणताका कारण नही है अन्यथा चोरी व्यभिचार आदिके उपदेश भी प्रमाण हो जायँगे

क्योंकि इनका कोई आदिप्रणेता ज्ञात नही है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अनित्य है पर इससे उनकी प्रमाणतामे कोई कसर नही आती।

§ ८ **प्रश्न**–प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर एक साथ मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानकी निवृत्ति होकर मति और श्रुत उत्पन्न होते है अत श्रुतको मतिपूर्वक नही कहना चाहिए ? **उत्तर**–मति और श्रुतमे 'सम्यक्' व्यपदेश युगपत् होता है न कि उत्पत्ति। दोनोकी उत्पत्ति तो अपने अपने कारणोसे क्रमश ही होती है।

§ ९ चूंकि सभी प्राणियोके अपने अपने श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार श्रुतकी उत्पत्ति होती है अत मतिपूर्वक होनेपर भी सभीके श्रुतज्ञानोमे विशेषता बनी रहती है। कारणभेदसे कार्यभेदका नियम सर्वसिद्ध है।

§ १० **प्रश्न**–घट शब्दको सुनकर प्रथम घट अर्थका श्रुतज्ञान हुआ उस श्रुतसे जलधारणादि कार्योका जो द्वितीय श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उसे श्रुतपूर्वक श्रुत होनेसे 'मतिपूर्वक' नही कह सकते, अत. लक्षण अव्याप्त हो जाता है। इसी तरह धूम अर्थका ज्ञान प्रथम श्रुत हुआ, उससे उत्पन्न होनेवाले अविनाभावी अग्निके ज्ञानमे श्रुतपूर्वक श्रुतत्व होनेसे 'मतिपूर्वक' लक्षण अव्याप्त हो जाता है।

उत्तर–प्रथम श्रुतज्ञानमे मतिजन्य होनेसे 'मतिज्ञानत्व'का उपचार कर लिया जाता है और इस तरह द्वितीय श्रुतमे भी 'मतिपूर्वकत्व' सिद्ध हो जाता है। अथवा, पूर्वशब्द व्यवहित पूर्वको भी कहता है। जैसे 'मथुरासे पटना पूर्वमे है' यहा अनेक नगरोसे व्यवहित भी पटना पूर्व कहा जाता है उसी तरह साक्षात् या परम्परया मतिपूर्वक ज्ञान श्रुत कहे जाते है।

§ ११ भेद शब्दका अन्वय द्वि आदिसे कर लेना चाहिए। अर्थात् दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद।

§ १२ श्रुतज्ञानके मूल दो भेद है–एक अंगप्रविष्ट और दूसरा अङ्गबाह्य। अङ्गप्रविष्ट आचाराङ्ग आदिके भेदसे बारह प्रकारका है। भगवान् महावीररूपी हिमाचलसे निकली हुई वाग्गगाके अर्थरूप जलसे जिनका अन्त करण अत्यन्त निर्मल है, उन बुद्धि ऋद्धिके धनी गणधरो द्वारा ग्रन्थरूपमे रचे गये आचाराङ्ग आदि बारह अङ्ग है।

आचाराङ्गमे चर्याका विधान आठ शुद्धि, पाच समिति, तीन गुप्ति आदि रूपसे वर्णित है। सूत्रकृताङ्गमे–ज्ञानविनय, क्या कल्प्य है क्या अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्मकी क्रियाओका निरूपण है। स्थानाङ्गमे एक एक, दो दो आदिके रूपसे अर्थोका वर्णन है। समवायाङ्गमे सब पदार्थो की समानता रूपसे समवायका विचार किया गया है। जैसे धर्म अधर्म लोकाकाश और एक जीवके तुल्य असख्यात प्रदेश होनेसे इनका द्रव्यरूपसे समवाय कहा जाता है। जम्बूद्वीप सर्वार्थसिद्धि अप्रतिष्ठान नरक नन्दीश्वरद्वीपकी बावडी ये सब १ लाख योजन विस्तारवाले होनेसे इनका क्षेत्रकी दृष्टिसे समवाय होता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दोनो दश कोडाकोडी सागर प्रमाण होनेसे इनका कालकी दृष्टिसे समवाय है। क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शनयथाख्यातचारित्र ये सब अनन्त विशुद्धिरूपसे भावसमवायवाले है। व्याख्याप्रज्ञप्तिमे 'जीव है कि नही' आदि साठ हजार प्रश्नोके उत्तर है। ज्ञातृधर्मकथामे अनेक आख्यान और उपाख्यानोका निरूपण है। उपासकाध्ययनमे श्रावकधर्मका विशेष विवेचन किया गया है। अन्तकृद्दशागमे प्रत्येक तीर्थङ्करके समयमें होनेवाले उन दश दश अन्तकृत् केवलियोंका वर्णन है जिनने भयङ्कर

उपसर्गोको सह कर मुक्ति प्राप्त की । जैसे महावीरके समय नमि मतङ्ग सोमिल रामपुत्र सुदर्शन यमलीक वलीक निष्कम्बल पाल और अम्बष्ठपुत्र ये दश अतकृत् केवली हुए थे । अथवा इसमें अर्हत् और आचार्यो की विधि तथा सिद्ध होनेवालोकी अन्तिम विधिका वर्णन है ।

अनुत्तरोपपादिकदशाङ्गमे–प्रत्येक तीर्थङ्करके समय होनेवाले उन दस दस मुनियो का वर्णन है जिनने दारुण उपसर्गोको सहकर विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाच अनुत्तर विमानोमे जन्म लिया । महावीरके समय ऋषिदास वान्य सुनक्षत्र कार्तिक नन्दनन्दन शीलभद्र अभय वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश मुनि हुए थे । अथवा, इसमे विजय आदि अनुत्तर विमानोकी आयु विक्रिया क्षेत्र आदिका निरूपण है ।

प्रश्नव्याकरणमे युक्ति और नयोके द्वारा अनेक आक्षेप विक्षेप रूप प्रश्नोका उत्तर दिया गया है, सभी लौकिक वैदिक अर्थोका निर्णय किया गया है । विपाकसूत्रमे पुण्य और पापके विपाकका विचार है ।

बारहवाँ दृष्टिवाद अंग है । इसमे ३६३ कुवादियोके मतोका निरूपण पूर्वक खडन है । कौत्कल काणेविद्धि कौशिक हरिस्मश्रु माछपिक रोमश हारीत मुण्ड आश्वलायन आदि क्रियावादियोके १८० भेद है । मरीचिकुमार कपिल उलूक गार्ग्य व्याघ्रभूति वाद्वलि माठर मौद्गलायन आदि अक्रियावादियोके ८४ प्रकार है । साकल्य वाल्कल कुथुमि सात्य-मुग्र नारायण कठ माध्यन्दिन मौद पैप्पलाद बादरायण अम्बष्ठि कृदौविकायन वसु जैमिनि आदि अज्ञानवादियोके ६७ भेद है । वशिष्ठ पाराशर जतुकर्णि वाल्मीकि रौमहर्षिणि सत्यदत्त व्यास एलापुत्र औपमन्यव इन्द्रदत्त अयस्थुण आदि वैनयिकोके ३२ भेद है । इस प्रकार कुल ३६३ भेद होते है । दृष्टिवादके पाँच भेद है–परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत और चूलिका । पूर्वगतके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद है । उत्पादपूर्वमे जीवपुद्गलादिका जहाँ जब जैसा उत्पाद होता है उस सबका वर्णन है । अग्रायणी पूर्वमे क्रियावाद आदिकी प्रक्रिया और स्वसमयका विषय विवेचित है । वीर्यप्रवादमे छद्मस्थ और केवलीकी शक्ति सुरेन्द्र असुरेन्द्र आदिकी ऋद्धिया नरेन्द्र चक्रवर्ती बलदेव आदिकी सामर्थ्य द्रव्योके लक्षण आदिका निरूपण है । अस्तिनास्ति प्रवादमे–पाचो अस्तिकायोका और नयोका अस्तिनास्ति आदि अनेक पर्यायो द्वारा विवेचन है । ज्ञानप्रवादमे पाचो ज्ञानो और इन्द्रियोंका विभाग आदि निरूपित है ।

सत्यप्रवाद पूर्वमे वाग्गुप्ति, वचन सस्कारके कारण, वचन प्रयोग, बारह प्रकारकी भाषाएँ, दस प्रकारके सत्य, वक्ताके प्रकार आदिका विस्तारसे विवेचन है । वचन सस्कारके सिर कठ आदि आठ स्थान है । शुभ और अशुभके भेदसे वाक् प्रयोग दो प्रकारका है । अभ्याख्यान कलह आदि रूपसे भाषा बारह प्रकार की है । हिसादिसे विरक्त मुनि या श्रावकको हिसादिका दोष लगाना अभ्याख्यान है । कलह–लडाई कराना । पीठ पीछे दोष दिखाना पैशुन्य है । चारो पुरुषार्थो से सम्बन्ध रखनेवाला प्रलाप असम्बद्ध भाषा है । शब्दादि विषयोंमे या अमुक देश नगर आदिमे रति उत्पन्न करनेवाली रतिवाक् है । इन्हींमे अरति उत्पन्न करनेवाली अरतिवाक् है । जिसे सुनकर परिग्रहके अर्जन रक्षण आदिमे आसक्ति उत्पन्न हो वह उपधिवाक् है । जिससे व्यापारमे ठगनेको प्रोत्साहन मिले वह निकृतिवाक् है । जिसे सुनकर तपोनिधि या गुणी जीवोंके प्रति अविनयकी प्रेरणा

मिले वह अप्रणतिवाक् है। जिससे चोरीमे प्रवृत्ति हो वह मोषवाक् है। सम्यक् मार्गकी प्रवर्तिका सम्यग्दर्शनवाक् है। मिथ्यात्ववर्धिनी मिथ्यावाक् है। 'द्वीन्द्रिय आदि जीव वक्ता है' जो शब्दोच्चारण कर सकते है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदिकी दृष्टिसे असत्य अनेक प्रकार का है। सत्यके दस भेद है—सचेतन या अचेतन द्रव्यका व्यवहारके लिए इच्छानुसार नाम रखना नाम सत्य है। चित्र आदि तदाकार रूपोमे उसका व्यवहार करना रूप सत्य है। जुआ आदिमे या शतरजके मुहरोमे हाथी घोडा आदिकी कल्पना स्थापना सत्य है। औपशमिकादि भावोकी दृष्टिसे किया जानेवाला व्यवहार प्रतीत्य सत्य है। जो लोकव्यवहार मे प्रसिद्ध प्रयोग है उसे सवृति सत्य कहते है, जैसे पृथिवी जल आदि अनेक कारणोसे उत्पन्न भी कमलको पकज कहना। धूप उबटन आदिमे या कमल मगर हस सर्वतोभद्र आदि मे सचेतन अचेतन द्रव्योंके भाव विधि आकार आदिकी योजना करनेवाले वचन सयोजना सत्य है। आर्य और अनार्य रूपमे विभाजित बत्तीस देशोमे धर्मादिकी प्रवृत्ति करनेवाले वचन जनपदसत्य है। ग्राम नगर राज्य गण मत जाति कुल आदि धर्मो के उपदेशक वचन देशसत्य है। सयत या श्रावकको स्वधर्मपालनके लिए 'यह प्रासुक है यह अप्रासुक है' इत्यादि वचन भावसत्य है। आगमगम्य पदार्थों का निरूपण समयसत्य है।

आत्मप्रवादमे आत्मद्रव्यका और छह जीवनिकायोका अस्ति नास्ति आदि विविध भगोसे निरूपण है। कर्मप्रवादमे कर्मो की बन्ध उदय उपशम आदि दशाओका और स्थिति आदिका वर्णन है। प्रत्याख्यानप्रवादमे व्रत नियम प्रतिक्रमण तप आराधना आदि तथा मुनित्वमे कारण द्रव्योके त्याग आदिका विवेचन है। विद्यानुवादपूर्वमे समस्त विद्याएँ, आठ महानिमित्त, रज्जुराशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोकप्रतिष्ठा, समुद्घात आदिका विवेचन है। अगुष्ठप्रसेना आदि ७०० अल्पविद्याएँ और रोहिणी आदि ५०० महाविद्याएँ होती है। अन्तरीक्ष, भूमि, अङ्ग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन और छिन्न ये आठ महानिमित्त है। क्षेत्र अर्थात् आकाश। कपडेके ताने-बानेकी तरह ऊपर-नीचे जो असख्यात आकाश प्रदेश पक्तिया है उन्हे श्रेणी कहते है। अनन्त अलोकाकाशके मध्यमे लोक है। इसमे ऊर्ध्वलोक मृदगके आकार है। अधोलोक वेत्रासनके आकार तथा मध्यलोक झालरके आकार है। यह लोक तनुवातवलयसे अन्तमे वेष्टित है और चौदह राजू लम्बा है। यह प्रतरवृत्त है। मेरु पर्वतके नीचे वज्र पृथिवी पर स्थित आठ मध्यप्रदेश लोकमध्य है। लोकमध्यसे ऊपर ऐशान स्वर्ग तक १॥ रज्जु, माहेन्द्र स्वर्ग तक ३ रज्जु, ब्रह्मलोक तक ३॥ रज्जु, कापिष्ठ तक ४ रज्जु, महाशुक्र तक ४॥ रज्जु, सहस्रार तक ५ रज्जु, प्राणत तक ५॥ रज्जु, अच्युत तक ६ रज्जु और लोकान्त तक सात रज्जु है। लोकमध्यसे नीचे शर्कराप्रभा तक १ रज्जु, फिर पांचो नरक क्रमश एक एक राजू है। इस प्रकार सातवे नरक तक छह राजू होते है। फिर लोकान्त तक एक राजू, इस प्रकार सात राजू हो जाते है। घनोदधिवातवलय घनवातवलय और तनुवलय इन तीन वातवलयोसे यह लोक चारों ओरसे घिरा हुआ है। अधोलोककी दिशा और विदिशामे तीनों वात वलय बीस-बीस हजार योजन मोटे है। ऊपर क्रमश घटकर तीनो वातवलय मध्यलोककी आठों दिशाओंमे ५, ४ और ३ योजन मोटे रह जाते है। ऊर्ध्वलोकमे बढकर ब्रह्मलोककी आठो दिशाओमे ७, ५ और ४ योजन मोटे हो जाते है। फिर ऊपर क्रमशः घटकर तीनों वलय लोकाग्रमे ५,४ और ३ योजन मोटे रह जाते है। ये ऊपर नीचे गोल डडेके समान हैं। लोकाग्रके ऊपर ये क्रमशः दो गव्यूति. एक कोश और कुछ कम एक कोश प्रमाण

विस्तारवाले हैं। नीचे कलकल पृथ्वीके नीचे क्रमशः ७,५ और ४ योजन विस्तृत हैं। नीचे लोकमूलमे चौड़ाई ७ राजू है। मध्यलोकमे एक राजू, ब्रह्मलोकमे पाच राजू और लोकाग्रमे एक राजू है। लोकमध्यसे एक रज्जु नीचे शर्करा प्रभाके अन्तमे आठो दिशाओमे चौडाई १$\frac{६}{७}$ राजू है, उससे एक रज्जू नीचे वालुकाप्रभाके अन्तमे २$\frac{५}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे पक प्रभाके अन्तमे ३$\frac{४}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे धूमप्रभाके अन्तमे ४$\frac{३}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे तम प्रभाके अन्तमे ५$\frac{२}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे महातम प्रभाके अन्तमे ६$\frac{१}{७}$ राजू, फिर एक राजू नीचे कलकल पृथ्वीके अन्तमे ७ राजू चौडाई है। इसी तरह लोक-मध्यसे एक राजू ऊपर २$\frac{१}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर ३$\frac{२}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर ४$\frac{३}{७}$ राजू, फिर आधी राजू ऊपर जाने पर ५ राजू विस्तार है। फिर आधी राजू ऊपर जाकर ४$\frac{३}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर ३$\frac{२}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर २$\frac{१}{७}$ राजू, फिर एक राजू ऊपर लोकान्तमे एक राजू विस्तार है। वेदना आदि निमित्तोसे कुछ आत्मप्रदेशोका शरीरसे बाहिर निकलना समुद्घात है, वह सात प्रकारका है—वात पित्तादि विकार-जनित रोग या विषपान आदिकी तीव्र वेदनासे आत्मप्रदेशोका बाहिर निकलना वेदना समुद्घात है। क्रोधादि कषायोके निमित्तसे कषाय समुद्घात होता है। उदीरणा या कालक्रमसे होनेवाले मरणके निमित्तसे मारणान्तिक समुद्घात होता है। जीवोके अनुग्रह और विनाशमे समर्थ तैजस शरीरकी रचनाके लिए तैजस समुद्घात होता है। एकत्व पृथक् आदि नाना प्रकारकी विक्रियाके निमित्तसे वैक्रियिक समुद्घात होता है। अल्पहिंसा और सूक्ष्मार्थ परिज्ञान आदि प्रयोजनोके लिए आहारक शरीरकी रचनाके निमित्त आहारक समुद्घात होता है। जब वेदनीयकी स्थिति अधिक हो और आयु कर्मकी अल्प तब स्थिति-समीकरणके लिए केवली भगवान् केवलिसमुद्घात करते है। जैसे मदिरामे फेन आकर शान्त हो जाता है उसी तरह समुद्घातमे आत्म-प्रदेश बाहिर निकलकर फिर शरीरमे समा जाते है। अहारके और मारणान्तिक समुद्घात एक दिशामे होते है, क्योकि आहारक शरीरकी रचनाके समय श्रेणिगति होनेके कारण एक ही दिशामे असख्य आत्मप्रदेश निकलकर एक अरत्नि प्रमाण आहारक शरीरको बनाते है। मारणान्तिकमे जहा नरक आदिमे जीवको मरकर उत्पन्न होना है वहाकी ही दिशामे आत्मप्रदेश निकलते है। शेष पाच समुद्घात श्रेणिके अनुसार ऊपर नीचे पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण इन छहो दिशाओमे होते है। वेदना आदि छह समुद्घातोका काल असख्यात समय है और केवलि समुद्घातका काल आठ समय है। दण्ड, कवाट, प्रतर, लोकपूरण, फिर प्रतर, कपाट, दड और स्वशरीर-प्रवेश इस तरह आठ समय होते है।

क्रियाविशाल पूर्वमे सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र तारागणोका गमनक्षेत्र, उपपादक्षेत्र, शकुन, चिकित्सा, भूतिकर्म, इन्द्रजाल विद्या, चौसठ कला, शिल्प, काव्य, गुणदोष, छन्द, क्रिया, क्रियाफलके भोक्ता आदिका विस्तृत विवेचन है।

लोकबिन्दुसारमे आठ व्यवहार, चार बीजराशि परिकर्म आदि गणित तथा समस्त श्रुतसम्पत्तिका विवरण है।

§ १३–१४ गणधरदेवके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा अल्पायु-बुद्धिबलवाले प्राणियोंके अनुग्रहके लिए अगोके आधारसे रचे गये सक्षिप्त ग्रन्थ अगबाह्य है। कालिक उत्कालिक आदिके भेदसे अगबाह्य अनेक प्रकारके है। स्वाध्यायकालमे जिनके पठन-पाठनका

नियम है उन्हें कालिक कहते है तथा जिनके पठन-पाठनका कोई नियत समय न हो वे उत्कालिक है। उत्तराध्ययन आदि अगबाह्य ग्रन्थ है।

§ १५ अनुमान आदिका स्वप्रतिपत्ति कालमे अनक्षरश्रुतमे अन्तर्भाव होता है तथा परप्रतिपत्ति कालमे अक्षरश्रुत मे। इसीलिए इनका पृथक् उपदेश नही किया है।

प्रत्यक्षपूर्वक तीन प्रकारका अनुमान होता है—पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। अग्नि और धूमके अविनाभावको जिस व्यक्तिने पहिले ग्रहण कर लिया है उसे पीछे धूमको देखकर अग्निका ज्ञान होना पूर्ववत् अनुमान है। जिसने सीग और सीगवालेके सम्बन्धको देखा है उसे सीगके रूपको देखकर सीगवालेका अनुमान होना शेषवत् है। देवदत्तका देशान्तरमे पहुचना गमनपूर्वक होता है, यह देखकर सूर्यमे देशान्तर प्राप्तिरूप हेतुसे गतिका अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है। 'गाय सरीखा गवय होता है' इस उपमान वाक्यको सुनकर जगलमे गवयको देखकर उससे गवय सज्ञाके सम्बन्धको जान लेना उपमान है। शब्द प्रमाण तो श्रुत है ही। 'भगवान् ऋषभने यह कहा' इत्यादि प्राचीन परम्परागत तथ्य ऐतिह्य प्रमाण है। 'यह आदमी दिनको नही खाकर भी जीता है' इस वाक्यको सुनकर अर्थात् ही 'रात्रिको खाता है' इस प्रकार रात्रि भोजनका ज्ञान कर लेना अर्थापत्ति है। 'चार प्रस्थका आढक होता है' इस ज्ञानके होनेपर एक आढकमे दो कुडव (आधा आढक) है इस प्रकारकी सभावना सभव प्रमाण है। वनस्पतियोमे हरा भरापन आदि न दिखनेपर वृष्टिके अभावका ज्ञान करना अभाव प्रमाण है। ये सभी अर्थापत्ति आदि अनुमानमे अन्तर्भूत है, अत अनुमानकी तरह स्वप्रतिपत्तिकालमे अनक्षरश्रुत है तथा परप्रतिपत्तिकालमे अक्षरश्रुत।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष। देशप्रत्यक्षके अवधि और मन पर्यय दो प्रकार है और सर्वप्रत्यक्ष एक केवल ज्ञानरूप है। अवधि-ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे द्रव्य-क्षेत्रादिसे मर्यादित रूपीद्रव्यका ज्ञान अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान दो प्रकार का है—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। अथवा देशावधि और सर्वावधि ये दो भेद भी होते है। परमावधि सर्वावधि की अपेक्षा न्यून होनेसे देशावधिमे ही गिन ली गई है।

भवप्रत्यय अवधिका स्वरूप—

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोके होता है।

§ १–६ भव अर्थात् आयु और नामकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली पर्याय, प्रत्यय अर्थात् निमित्त। भवको निमित्त लेकर जो अवधि ज्ञानावरणके क्षयोपशम पूर्वक ज्ञान होता है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। प्रत्यय शब्दके ज्ञान शपथ हेतु आदि अनेक अर्थ है, पर यहा 'निमित्त' अर्थकी विवक्षा है। देव और नारकी पर्यायमे जन्म लेते ही अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो जाता है और उससे अवधिज्ञान होता है। जैसे आकाश पक्षीके उडनेमे निमित्त मात्र है क्योकि आकाशके रहने पर ही पक्षी उड सकता है उसी तरह भव बाह्य निमित्त है। यदि भव ही मुख्य कारण होता तो सभी देव नारकियोके एक जैसा तुल्य अवधिज्ञान होता पर उनमे अपने अपने क्षयोपशमके अनुसार तारतम्य आगममे स्वीकार किया गया है। जैसे मनुष्य और तिर्यंचोको अहिसादिव्रतरूप गुणोसे अवधिज्ञान होता है

उस तरह देवनारकियोंको व्रतादिधारणकी आवश्यकता नही होती, उनके तो उस पर्यायके कारण ही क्षयोपशम प्रकट हो जाता है। अत. भव बाह्य निमित्त है। सम्यग्ज्ञानका प्रकरण होनेसे मिथ्यादृष्टि देवनारकियोके मिथ्या अवधि अर्थात् विभगावधि होती है इसलिए सभी देवनारकियोको सामान्यरूपसे अवधिज्ञानका प्रसग नही होता।

§ ७ **प्रश्न**—जीवस्थान आदि आगमोमे सदादि अनुयोग द्वारोंमे 'नारक' शब्दका ही पहले ग्रहण किया है अत यहां भी नारक शब्दका ही पहले प्रयोग करना चाहिए ? **उत्तर**—देव शब्द अल्पस्वर है और पूज्य है, अत व्याकरणके नियमानुसार देवशब्दका ही पूर्वप्रयोग उचित है। आगममे तो क्रमसे गतियोका निरूपण है वहा नियमकी अपेक्षा नही है, क्योकि जुदे जुदे वाक्य है।

दस प्रकारके भवनवासियोंका अवधिक्षेत्र जघन्य २५ योजन है। उत्कृष्ट असुर कुमारोका नीचेकी ओर असख्यात कोडा-कोडी योजन और ऊपर ऋतुविमानके ऊपरी भाग तक है। नागकुमार आदि नव भवनवासियोका उत्कृष्ट नीचेकी तरफ असख्यात हजार योजन और ऊपर सुमेरु पर्वतके शिखर तक है तथा तिरछा असख्यात हजार योजन है। आठो प्रकारके व्यन्तरोका जघन्य २५ योजन उत्कृष्ट नीचे असख्यात हजार योजन ऊपर अपने विमानके ऊपरी भाग तक और तिरछे असख्यात कोडा कोडी योजन है। ज्योतिषियोका जघन्य नीचेकी ओर सख्यात योजन उत्कृष्ट असख्यात हजार योजन, ऊपरकी ओर उत्कृष्ट अपने विमानके ऊपरी भाग तक तथा तिरछे असख्यात कोडा कोडी योजन है। वैमानिकोमे सौधर्म और ईशान स्वर्गवासी देवोके जघन्य अवधि ज्योतिषियोके उत्कृष्टक्षेत्र प्रमाण है तथा उत्कृष्ट अवधि नीचेकी ओर रत्नप्रभाके अन्तिम पटल तक है। सानत्कुमार और माहेन्द्रमे नीचेकी ओर जघन्य रत्नप्रभाके अन्तिम पटल तक और उत्कृष्ट शर्करा-प्रभाके अन्तिम पटल तक अवधिका क्षेत्र है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्टमे नीचेकी ओर जघन्य अवधि शर्करा प्रभाका अन्तिम भाग और उत्कृष्ट वालुका प्रभाका अन्तिम भाग है। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रारमे नीचेकी ओर जघन्य अवधि वालुका प्रभाका अन्तिम भाग और उत्कृष्ट पकप्रभाका अन्तिम भाग है। आनत प्राणत आरण और अच्युतमे नीचेकी ओर जघन्य अवधि पकप्रभाका अन्तिम भाग तथा उत्कृष्ट धूमप्रभाका अन्तिम भाग है। नव ग्रैवेयकोकी जघन्य अवधि धूमप्रभाका अन्तिमभाग और उत्कृष्ट तम प्रभाका अन्तिम भाग है। नव अनुदिश और पाच अनुत्तर विमानवासियोकी अवधि लोकनाली पर्यन्त है। सौधर्म आदि अनुत्तर पर्यन्त विमानवासियोकी अवधि ऊपरकी ओर अपने अपने विमानके ऊपरी भाग तक है। तिरछी असख्यात कोडाकोडी योजन है। जिस अवधिज्ञानका जितना क्षेत्र है उतने आकाश प्रदेश प्रमाण काल और द्रव्य होते है अर्थात् उतने समय प्रमाण अतीत और अनागतका ज्ञान होता है और उतने भेदवाले अनन्त प्रदेशी पुद्गलस्कन्धोमे और सकर्मक जीवोंमे ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। भावकी दृष्टिसे अपने विषयभूत पुद्गल स्कन्धोके रूपादिगुणोमे और जीवके औदयिक औपशमिक आदि भावोमे अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है।

नारकी जीवोमे रत्नप्रभामे अवधिक्षेत्र नीचे एक योजन शर्कराप्रभामे ३॥ गव्यूति बालुका प्रभामे ३ गव्यूति, पक प्रभामे २॥ गव्यूति, धूम प्रभामे २ गव्यूति, तम प्रभामे १॥ गव्यूति और महातमः प्रभामे एक गव्यूति है। सभी नरकोमें ऊपरकी ओर अवधिज्ञान

अपने नरकबिलोके ऊपरी भाग तक है और तिरछे असख्यात कोडाकोडी योजन है।

क्षयोपशमनिमित्तक अवधि–

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

अवधिज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोके उदयाभावी क्षय आगामीका सदवस्था उपशम और देशघाती प्रकृतिका उदय रूप क्षयोपशमसे होनेवाला अवधिज्ञान शेष अर्थात् मनुष्य और तिर्यचोके होता है।

§ १–३ शेष ग्रहणसे देवनारकियोके अतिरिक्त सभी प्राणिमात्रके अवधिका विधान नही समझना चाहिए क्योकि असंज्ञी और अपर्याप्तकोमे इसकी शक्ति ही नहीं है। सज्ञी और पर्याप्तकोमे भी उन्हीके, जिनके सम्यग्दर्शनादि गुणोसे अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम हो गया है। यद्यपि सभी अवधि क्षयोपशमनिमित्तक होती है फिर भी विशेष रूपसे क्षयोपशमके ग्रहण करनेसे यह नियम होता है कि मनुष्य और तिर्यचोके क्षयोपशम-निमित्तक ही अवधिज्ञान होता है भवप्रत्यय नही।

§ ४–अवधिज्ञानके अनुगामी अननुगामी वर्धमान हीयमान अवस्थित और अन-वस्थित ये छह भेद है। कोई अवधि सूर्यप्रकाशकी तरह पीछे-पीछे भवान्तर तक जाती है। कोई वही रुक जाती है जैसे मूर्खका प्रश्न। कोई अवधि सम्यग्दर्शनादि गुणोकी विशुद्धिके कारण पत्तोमे लगी हुई अग्निकी तरह असख्यातलोक तक बढती है। कोई अवधि ईधन-रहित अग्निकी तरह अगुलके असख्येय भाग तक कम हो जाती है। कोई अवधि ज्योंकी त्यो स्थिर रहती है न कम होती है और न बढती है जैसे कि तिल आदि चिह्न। वायुसे दोलित जलकी लहरोकी तरह कोई अवधि घटती भी है और बढती भी है।

देशावधि परमावधि और सर्वावधिके भेदसे भी अवधि-ज्ञान तीन प्रकारका है। देशावधि और परमावधिके जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योकृष्ट ये तीन प्रकार है। सर्वावधि एक ही प्रकारका है। देशावधिका जघन्यक्षेत्र उत्सेधागुलका असख्यात भाग है और उत्कृष्ट सर्वलोक। मध्यमक्षेत्र जघन्य और उत्कृष्टके बीचका असख्यात प्रकारका है। परमावधिका जघन्यक्षेत्र एक प्रदेश अधिक लोक प्रमाण है और उत्कृष्ट असख्यात लोक प्रमाण है। मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट क्षेत्र है। परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रसे बाहिर असख्यात लोकक्षेत्र सर्वावधिका है। उपर्युक्त अनुगामी आदि छह भेदोके साथ प्रतिपाती अर्थात् बिजलीकी चमककी तरह विनाशशील बीचमे ही छूटनेवाला और अप्रतिपाती अर्थात् केवलज्ञान होने तक नही छूटनेवाला ये आठो भेद देशावधिके होते है। परमावधि हीयमान और प्रतिपाती नही होती। सर्वावधिके अवस्थित अनुगामी अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार ही भेद होते है।

सर्वजघन्य देशावधिका उत्सेधागुलका असख्यातवा भाग क्षेत्र, आवलिका असख्यातवा भाग काल और अगुलके असख्यातवे भाग प्रमाण द्रव्य है, अर्थात् इतने बडे असख्यात स्कन्धोमे ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। स्वविषय स्कन्धके अनेक रूपादि भाव है। एक जीवके प्रदेशोत्तर क्षेत्रवृद्धि नही होती, नाना जीवोंकी अपेक्षा प्रदेशोत्तर क्षेत्रका विकल्प सभव है। एक जीवके मडूकप्लुति क्रमसे अंगुलके असख्येय भाग प्रमाण क्षेत्रवृद्धि होती है–सर्वलोक तक। काल-वृद्धि एक जीव और नाना जीवोंकी अपेक्षा एक समय दो समय आदि आवलिके असंख्यात

भाग तक होती है। द्रव्य क्षेत्र और कालकी वृद्धि, असख्यात भागवृद्धि सख्यात भागवृद्धि सख्यात गुणवृद्धि और असख्यात गुणवृद्धि इन चार प्रकारोसे होती है। भाववृद्धि अनन्त भागवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि मिलाकर छह प्रकारोसे होती है। हानि भी इसी क्रमसे होती है।

अगुलके असख्यात भाग क्षेत्रवाली अवधिका आवलिका संख्यात भाग काल है, अगुलके असख्यात भाग आकाश प्रदेश बराबर द्रव्य है, भाव अनन्त असख्यात या सख्यात रूप है। अगुल प्रमाणक्षेत्रवाली अवधिका कुछ कम आवलि प्रमाण काल है, द्रव्य और भाव पहिलेकी तरह। अगुल पृथक्त्व (तीनसे ऊपर ९ से नीचेकी सख्या) क्षेत्रवाली अवधिका आवली प्रमाण काल है। एक हाथ क्षेत्रवाली अवधिका आवलि पृथक्त्व काल है। एक गव्यूति प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका कुछ अधिक उच्छ्वास प्रमाण काल है। योजनमात्र क्षेत्रवाली अवधिका अन्तर्मुहूर्त काल है। पच्चीस योजन क्षेत्रवाली अवधिका कुछ कम एक दिन काल है। भरतक्षेत्र प्रमाणवाली अवधिका आधा माह काल है। जम्बूद्वीप प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका कुछ अधिक एक माह काल है। मनुष्यलोक प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका एक वर्ष काल है। रुचकद्वीप प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका संवत्सर-पृथक्त्व काल है। सख्यात द्वीप समुद्र प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका सख्यात वर्ष काल है। असख्यात द्वीप समुद्र प्रमाण क्षेत्रवाली अवधिका असख्यात वर्ष काल है। इस तरह तिर्यंच और मनुष्योकी मध्य देशावधिके द्रव्यक्षेत्र काल आदि है।

तिर्यंचोकी उत्कृष्ट देशावधिका क्षेत्र असख्यात द्वीपसमुद्र, काल असख्यात वर्ष और तेज शरीर प्रमाण द्रव्य है, अर्थात् वह असख्यात द्वीप समुद्र प्रमाण आकाश प्रदेशोसे परिमित असख्यात तेजोद्रव्य वर्गणासे रचे गए अनन्त प्रदेशी स्कन्धोको जानता है। भाव पहिलेकी तरह है। तिर्यंचो और मनुष्योके जघन्य देशावधि होता है। तिर्यंचोके केवल देशावधि ही होता है परमावधि और सर्वावधि नही।

मनुष्योकी उत्कृष्ट देशावधिका क्षेत्र असख्यात द्वीप समुद्र, काल असख्य वर्ष और द्रव्य कार्मण शरीर प्रमाण है अर्थात् वह असख्यात द्वीपसमुद्र प्रमाण आकाश प्रदेशोसे परिमित असख्यात ज्ञानावरणादि कार्मण द्रव्यकी वर्गणाओको जानता है। भाव पहिले की तरह है। यह उत्कृष्ट देशावधि सयत मनुष्योके होती है।

परमावधि—जघन्य परमावधिका क्षेत्र एकप्रदेश अधिक लोकप्रमाण, काल असख्यात वर्ष, द्रव्य प्रदेशाधिक लोकाकाश प्रमाण और भाव अनन्तादि विकल्पवाला है। इसके बाद नाना जीव या एक जीवके क्षेत्रवृद्धि असख्यात लोकप्रमाण होगी। असख्यात अर्थात् आवलिकाके असख्यात भाग प्रमाण। परमावधिका उत्कृष्ट क्षेत्र अग्नि-जीवोकी सख्या प्रमाण लोकालोक प्रमाण असख्यात लोक। परमावधि उत्कृष्ट चारित्रवाले संयतके ही होती है। यह वर्धमान होती है हीयमान नही। अप्रतिपाती होती है प्रति-पाती नही। अवस्थित होती है। अनवस्थित भी वृद्धिकी ओर होती है हानिकी ओर नही। इस पर्यायमे क्षेत्रान्तरमे साथ जानेसे अनुगामी होती है। परलोकमे नही जाती इसलिए अननुगामी भी होती है। चरमशरीरीके होनेके कारण परलोक तक जानेका अवसर ही नही है।

सर्वावधि–असख्यात लोकसे गुणित उत्कृष्ट परमावधिका क्षेत्र सर्वावधिका क्षेत्र है। काल द्रव्य और भाव पहिलेकी तरह। यह सर्वावधि न तो वर्धमान होता है न हीयमान, न अनवस्थित और न प्रतिपाती। केवलज्ञान होने तक अवस्थित है और अप्रतिपाती है। पर्यायान्तरको नही जाता इसलिए अननुगामी है। क्षेत्रान्तरको जाता है अतः अनुगामी है।

परमावधिका देशावधिमे अन्तर्भाव करके देशावधि और सर्वावधि ये दो भेद भी अवधिज्ञानके होते है।

ऊपर कही गई वृद्धियोमे जब कालवृद्धि होती है तब चारोकी वृद्धि निश्चित है पर क्षेत्रवृद्धि होनेपर कालवृद्धि भाज्य है अर्थात् हो भी और न भी हो। भाववृद्धि होनेपर द्रव्यवृद्धि नियत है पर क्षेत्र और कालवृद्धि भाज्य है। यह अवधिज्ञान श्रीवृक्ष स्वस्तिक नन्द्यावर्त आदि शरीरचिह्नोमेसे किसी एकसे प्रकट होनेपर एकक्षेत्र और अनेकसे प्रकट होनेपर अनेकक्षेत्र कहा जाता है। इन चिह्नोकी अपेक्षा रखनेके कारण इसे पराधीन-अतएव परोक्ष नही कह सकते, क्योकि इन्द्रियोको ही 'पर' कहा गया है जैसा कि गीता-मे भी कहा है–"इन्द्रिया पर है, इन्द्रियोंसे भी परे मन है, मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे भी परे आत्मा है।" अत इन्द्रियोकी अपेक्षा न होनेसे परोक्ष नही कह सकते।

मन.पर्ययज्ञानका वर्णन–

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

मन पर्यय ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे दो प्रकारका है। ऋजु अर्थात् सरल और विपुल अर्थात् कुटिल। परकीय मनोगत मन वचन काय सम्बन्धी पदार्थोको जाननेके कारण मन पर्यय दो प्रकारका हो जाता है।

◊ १-६ वीर्यान्तराय और मन:पर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर तथा तदनुकूल अङ्ग उपाङ्गोंका निर्माण होनेपर अपने और दूसरेके मनकी अपेक्षासे होनेवाला ज्ञान मन पर्यय कहलाता है। अपने मनकी अपेक्षा तो इसलिए होती है कि वहाके आत्म-प्रदेशोंमे मन पर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है। जैसे चक्षुमे अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर चक्षुकी अपेक्षा होने मात्रसे अवधिज्ञानको मतिज्ञान नही कहते उसी तरह मन पर्यय भी मतिज्ञान नही है क्योकि वह इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न नही होता। परके मनमे स्थित विचारोको जानता है अत आकाशमे चन्द्रको देखनेके लिए जैसे आकाश साधारण-सा निमित्त है वह चन्द्रज्ञानका उत्पादक नही है उसी तरह परका मन साधारण-सा आधार है वह मन पर्ययज्ञानका उत्पादक नही है। इसलिए मन पर्यय मतिज्ञान नही हो सकता। इसी तरह धूमसे स्वसम्बन्धी अग्निके ज्ञानकी तरह परकीय मन सम्बन्धी विचारोको जाननेके कारण मन पर्यय ज्ञानको अनुमान नही कह सकते, क्योकि अनुमान या तो इन्द्रियोसे हेतुको देखकर या परोपदेशसे हेतुको जानकर ही उत्पन्न होता है परन्तु मन पर्ययमे न तो इन्द्रियोकी अपेक्षा होती है और न परोपदेश की ही। फिर अनुमान परोक्ष ज्ञान है जब कि मन पर्यय प्रत्यक्ष। इसमे 'इन्द्रिय मनकी अपेक्षा न करके जो अव्यभिचारी और साकार ग्रहण होता है वह प्रत्यक्ष है' यह प्रत्यक्षका लक्षण पाया जाता है। जैसा कि सूत्रमे बताया है मन.पर्यय दो प्रकारका है।

§ ७ ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ और ऋजुकायकृतार्थज्ञ इस प्रकार ऋजुमति तीन प्रकारका है। जैसे किसीने किसी समय सरल मनसे किसी पदार्थका स्पष्ट विचार किया, स्पष्ट वाणीसे कोई विचार व्यक्त किया और शरीरसे इसी प्रकारकी स्पष्ट क्रिया की, कालान्तरमे उसे भूल गया, फिर यदि ऋजुमतिमन पर्ययज्ञानीसे पूछा जाय कि–'इसने अमुक समयमे क्या सोचा था, क्या कहा था या क्या किया था ?' या न भी पूछा जाय तो भी वह स्पष्ट रूपसे सभी बातोको प्रत्यक्ष जानकर बता देगा। महाबन्ध शास्त्रमे बताया है कि 'मनसा मनः परिच्छिद्य परेषा सज्ञादीन् विजानाति' अर्थात् मनसे–आत्मासे दूसरेके मनको जानकर उसकी संज्ञा चिन्ता जीवित मरण दुःख लाभालाभको जान लेता है। जैसे मच पर बैठे हुए लोगोंको उपचारसे मच कहते हैं उसी तरह मनमे विचारे गये चेतन अचेतन अर्थोंको भी मन कहते है। यह स्पष्ट और सरल मनवाले लोगोंकी बातको जानता है, कुटिल मनवालोंकी बातको नही। कालसे जघन्यरूपसे अपने या अन्य जीवोंके दो तीन भव और उत्कृष्ट रूपसे सात आठ भवोको गति आगति अर्थात् जिस भवको छोडा और जिसे ग्रहण किया उनकी दो गिनती करके जानता है। क्षेत्रसे जघन्य गव्यूति पृथक्त्वके भीतर और उत्कृष्ट योजनपृथक्त्वके भीतर जानता है।

§ ८ विपुलमति ऋजुके साथ ही साथ कुटिल मन वचन काय सम्बन्धी प्रवृत्तियोंको भी जानता है अत. छह प्रकारका हो जाता है। अर्थात् यह अपने या परके व्यक्त मनसे या अव्यक्त मनसे चिन्तित या अचिन्तित या अर्धचिन्तित सभी प्रकारसे चिन्ता जीवित मरण-सुख दुःख लाभ अलाभ आदिको जानता है। विपुलमति कालसे जघन्यरूपसे सात आठ भव तथा उत्कृष्टरूपसे गत्यागतिकी दृष्टिसे असंख्यात भवोको जानता है। क्षेत्र जघन्यरूपसे योजनपृथक्त्व है और उत्कृष्ट मानुषोत्तर पर्वतके भीतर है, बाहिर नही।

दोनो मन.पर्यय ज्ञानोकी परस्पर विशेषता–

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाली निर्मलताको विशुद्धि कहते है। सयम शिखरसे गिरनेको प्रतिपात कहते है। ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती उपशान्तकषायका प्रतिपात होता है बारहवे क्षीणकषायीका नही। इन दो दृष्टियोसे ऋजुमति और विपुलमतिमे विशेषता है अर्थात् विपुलमति विशुद्धतर और अप्रतिपाती होता है।

§ १–२ यद्यपि पहिले सूत्रसे ही विशेषता ज्ञात हो जाती थी फिर भी अन्य रूपसे विशेषता दिखानेके लिए यह सूत्र बनाया है। यदि विशुद्धि और अप्रतिपात मनःपर्ययज्ञान के भेद होते तो समुच्चयार्थक 'च' शब्दका ग्रहण करना उचित था पर ये भेद नही है। ये तो उनकी परस्पर विशेषता बतानेवाले प्रकार है।

सर्वावधिके विषयभूत कार्मणद्रव्यका अनन्तवाँ भाग ऋजुमतिका ज्ञेय होता है, उसका भी अनन्तवाँ भाग सूक्ष्म विपुलमतिका। अत. ऋजुमतिकी अपेक्षा विपुलमति द्रव्य क्षेत्र काल और भाव प्रत्येक दृष्टिसे विशुद्धतर है। विपुलमति अप्रतिपाती होनेके कारण ऋजुमतिसे विशिष्ट है क्योंकि विपुलमतिके स्वामी प्रवर्धमान चारित्रवाले होते हैं जब कि ऋजुमतिके स्वामी हीयमान चारित्रवाले।

अवधि और मनःपर्ययकी परस्पर विशेषता–

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ॥२५॥

विशुद्धि–निर्मलता, क्षेत्र–जहाँके पदार्थोको जानता है, स्वामी–ज्ञानवाला और विषय अर्थात् ज्ञेय इनसे अवधि और मन पर्ययमे विशेषता है ।

§ १ यद्यपि सर्वावधिज्ञानका अनन्तवाँ भाग मन पर्ययका विषय होता है अत· अल्प विषय है फिर भी वह उस द्रव्यकी बहुत पर्यायोंको जानता है । जैसे बहुत शास्त्रो-का थोडा थोडा परिचय रखनेवाले पल्लवग्राही पडितसे एक शास्त्रके यावत् सूक्ष्म अर्थो को तलस्पर्शी गभीर व्याख्याओंसे जाननेवाला प्रगाढ विद्वान् विशुद्धतर माना जाता है उसी तरह मनःपर्यय भी सूक्ष्मग्राही होकर भी विशुद्धतर है । क्षेत्रकी अपेक्षा विशेषता बताई जा चुकी है । विषय अभी ही आगे बतायेगे । मनःपर्ययका स्वामी सयमी मनुष्य ही होता है जब कि अवधिज्ञान चारों गतियोंके जीवोके होता है । आगममे कहा है कि–'मन पर्यय मनुष्योके होता है देव नारकी और तिर्य चोके नही । मनुष्योमे भी गर्भजोके ही होता है सम्मूर्च्छनोके नहीं । गर्भजोमे भी कर्मभूमिजोके होता है अकर्मभूमिजोके नही । कर्मभूमिजोमे पर्याप्तकोके, पर्याप्तकोंमे सम्यग्दृष्टियोके, सम्यग्दृष्टियोमे पूर्णसयमियोके, सयमियोमे छठवेसे बारहवे गुणस्थानवालोंके ही, उनमे भी जिनका चारित्र प्रवर्धमान है और जिन्हे कोई ऋद्धि प्राप्त है, उनमे भी किसीको ही होता है सबको नही । इस तरह विशिष्ट सयमवालोके होनेके कारण मन पर्यय विशिष्ट है ।

मति और श्रुतका विषय–

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

मति और श्रुत द्रव्योकी कुछ पर्यायोको विषय करते है ।

§ १–२ ऊपरके सूत्रसे 'विषय' शब्दका सम्बन्ध यहां हो जाता है अत. यहा फिर 'विषय' शब्द देनेकी आवश्यकता नही है । यद्यपि पूर्वसूत्रमे विषय शब्द अन्यविभक्तिक है फिर भी 'अर्थवशाद् विभक्तिपरिणाम.–अर्थात् अर्थके अनुसार विभक्तिका परिणमन हो जाता है' इस नियमके अनुसार यहा अनुकूल विभक्तिका सम्बन्ध कर लेना चाहिए, जैसे कि–'देवदत्तके बड़े-बडे मकान है उसे बुलाओ' यहा 'देवदत्तके' इस षष्ठी विभक्तिवाले देवदत्तका 'उसे' इस द्वितीया विभक्ति रूप परिणमन अर्थके अनुसार हो गया है ।

§ ३–४ 'द्रव्येषु' यह बहुवचनान्त प्रयोग सर्वद्रव्योंके सग्रहके लिए है । अर्थात् मति और श्रुत जानते तो सभी द्रव्योको है पर उनकी कुछ ही पर्यायोको जानते है इसीलिए सूत्रमे 'असर्वपर्यायेषु' यह द्रव्योंका विशेषण दे दिया है । मतिज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियोसे उत्पन्न होता है और रूपादिको विषय करता है अतः स्वभावत वह रूपी द्रव्योको जानकर भी उनकी कुछ स्थूल पर्यायोंको ही जानेगा । श्रुत भी प्राय. शब्दनिमित्तक होता है और असख्यात शब्द अनन्त पदार्थोंकी स्थूल पर्यायोको ही कह सकते है सभी पर्यायोको नही । कहा भी है–'शब्दोंके द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थोंसे वचनातीत पदार्थ अनन्तगुने है अर्थात् अनन्तवे भाग पदार्थ प्रज्ञापनीय होते है और जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ है उनके अनन्तवे भाग श्रुत निबद्ध होते है ।'

§ ४ धर्म अधर्म आकाशादि अरूपी अतीन्द्रिय पदार्थ भी मानस मतिज्ञानके विषय होते है अत. मतिश्रुतमे सर्वद्रव्य विषयता बन जाती है ।

अवधिज्ञानका विषय–

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

अवधिज्ञान रूपी पदार्थोको जानता है ।

§ १–३ रूप शब्दका स्वभाव भी अर्थ है और चक्षुके द्वारा ग्राह्य शुक्ल आदि गुण भी । पर यहा शुक्ल आदि रूप ही ग्रहण करना चाहिए । 'रूपी' मे जो मत्वर्थीय प्रत्यय है उसका 'नित्ययोग' अर्थ लेना चाहिए अर्थात् क्षीरी–सदा दूधवाले वृक्षकी तरह जो द्रव्य सदा रूपवाले हो उन्हे रूपी कहते है । उपलक्षणभूत रूपके ग्रहण करनेसे रूपके अविनाभावी रस गन्ध और स्पर्शका भी ग्रहण हो जाता है । अर्थात् रूप रस गन्ध स्पर्शवाले पुद्गल अवधिज्ञानके विषय होते है ।

§ ४ इस सूत्रमे 'असर्वपर्याय' की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए । अर्थात् पहिले कहे गए रूपी द्रव्योकी कुछ पर्यायोको और जीवके औदयिक औपशमिक और क्षायोपशमिक भावोको अवधिज्ञान विषय करता है क्योकि इनमे रूपी कर्मका सम्बन्ध है । वह क्षायिक भाव तथा धर्म अधर्म आदि अरूपी द्रव्योको नही जानता ।

मन.पर्यय ज्ञानका विषय–

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥

सर्वावधि ज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यके सूक्ष्म अनन्तवे भागमे मन.पर्यय ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है ।

केवलज्ञानका विषय–

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

सभी द्रव्योकी सभी पर्याएँ केवलज्ञानके विषय है ।

§ १–३ जो स्वतन्त्र कर्ता होकर अपनी पर्यायोको प्राप्त होता है अथवा अपनी पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किया जाता है वह द्रव्य है । एक ही द्रव्य कर्ता भी होता है कर्म भी, क्योकि उसका अपनी पर्यायोसे कथञ्चिद् भेद है । यदि सर्वथा अभेद होता तो एक ही निर्विशेष द्रव्यकी सत्ता रहनेसे कर्ता और कर्म ये विभिन्न व्यवहार नही हो सकते ।

§ ४ स्वाभाविक या नैमित्तिक विरोधी या अविरोधी धर्मोमे अमुक शब्द व्यवहारके लिए विवक्षित द्रव्यकी अवस्थाविशेषको पर्याय कहते है । जो धर्म द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि निमित्तोसे होते है उन्हे उपात्तहेतुक कहते है और जो तीनो कालोमे अपनी स्वाभाविक सत्ता रखते है वे अनुपात्तहेतुक है, जैसे जीवके औदयिक आदि भाव और अनादि पारिणामिक चैतन्य आदि । कुछ धर्म अविरोधी होते है और कुछ विरोधी, जैसे जीवके अनादि पारिणामिक चैतन्य भव्यत्व या अभव्यत्व ऊर्ध्वगतिस्वभाव अस्तित्वादि एक साथ होनेसे अविरोधी है और नारक तिर्यञ्च मनुष्य देव गति स्त्री पुरुष नपु सकत्व एकेन्द्रियादि जाति बचपन जवानी क्रोध शान्ति आदि एक साथ नही हो सकती अतः विरोधी है । पुद्गलके रूप रसादिसामान्य अचेतनत्व अस्तित्वादि अविरोधी है और अमुक

शुक्ल कृष्ण आदि रूप कडवा चिरपरा कषायला आदि रस आदि परस्पर विरोधी है। इसी तरह धर्माधर्मादि द्रव्योमे कुछ सामान्यधर्म अविरोधी है और विशेषधर्म विरोधी होते है।

§ ५–६ द्रव्य और पर्याय शब्द का इतरेतर योग द्वन्द्व समास है। द्वन्द्व समास जैसे प्लक्ष और न्यग्रोध आदि भिन्न पदार्थो मे होता है उसी तरह कथञ्चिद् भिन्न गो और गोत्व आदि मे भी होता है। गो और गोत्व सामान्य और विशेषरूपसे कथञ्चिद् अभिन्न है। 'द्रव्याणा पर्याया' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास करके द्रव्योको पर्यायका विशेषण बनाना उचित नही है, क्योकि ऐसी दशामे द्रव्य शब्द ही निरर्थक हो जायगा, कारण अद्रव्य की तो पर्याय होती नही है। फिर, तत्पुषसमासमे उत्तर पदार्थ प्रधान होता है अत 'केवलज्ञानके द्वारा पर्याये ही जानी जाती है, द्रव्य नही' यह अनिष्ट प्रसग प्राप्त होता है। 'सब पर्यायोके जान लेनेपर द्रव्य तो जान ही लिया जाता है' यह समाधान भी ठीक नही है क्योकि इस पक्षमे द्रव्यग्रहणकी अनर्थकता ज्योकी त्यो बनी रहती है। अतः उभयपदार्थ प्रधान द्वन्द्व समास ही यहा ठीक है। 'पर्यायके बिना द्रव्य उपलब्ध नही होता' अत द्वन्द्व समासमे भी द्रव्यग्रहण निरर्थक है' यह शका ठीक नही है क्योंकि सज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि की दृष्टिसे द्रव्य पर्यायमे विभिन्नता है।

§ ९ लोक और अलोक मे त्रिकाल विषयक जितने अनन्तानन्त द्रव्य और पर्याय है उन सभीमे केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। जितना यह लोक है उतने यदि अनन्त भी लोक हो तो उन्हे भी केवलज्ञान जान सकता है।

एक साथ कितने ज्ञान होते है ?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

एक साथ एक आत्मामे एक से लगाकर चार ज्ञान तक हो सकते है।

§ १ एक शब्दके सख्या भिन्नता अकेलापन प्रथम प्रधान आदि अनेक अर्थ है पर यहा 'प्रथम' अर्थ विवक्षित है।

§ २–३ आदि शब्दके भी व्यवस्था प्रकार सामीप्य अवयव आदि अनेक अर्थ है, यहा अवयव अर्थ की विवक्षा है। अर्थात् एक–प्रथम परोक्षज्ञानका आदि-अवयव मतिज्ञान। अथवा, आदि शब्द समीपार्थक है। इसका अर्थ है मतिज्ञानका आदि-समीप-श्रुतज्ञान।

§ ४–**प्रश्न**–यदि मतिज्ञान का समीप 'श्रुतज्ञान' आदि शब्दसे लिया जाता है तो इसमे मतिज्ञान छूट जायगा ? **उत्तर**–चूँकि मति और श्रुत सदा अव्यभिचारी है, नारद पर्वत की तरह एक दूसरेका साथ नही छोडते अत एकके ग्रहणसे दूसरेका ग्रहण ही हो जाता है।

§ ५–७ जैसे 'ऊंटके मुख की तरह मुख है जिसका वह उष्ट्रमुख' इस बहुव्रीहि समासमें एक मुख शब्दका लोप हो गया है उसी तरह 'एकादि है आदिमें जिनके वे एकादीनि' यहां भी एक आदि शब्दका लोप हो जाता है। अवयवसे विग्रह होता है और समुदाय समासका अर्थ होता है। इससे एकको आदिको लेकर चार तक विभाग करना चाहिए, क्योंकि केवलज्ञान असहाय है उसे किसी अन्य ज्ञानकी सहायताकी अपेक्षा

नही है जब कि क्षायोपशमिक मति आदि चार ज्ञान सहायताकी अपेक्षा रखते है अतः केवलज्ञान अकेला ही होता है उसके साथ अन्य ज्ञान नही रह सकते ।

§ ८–१० **प्रश्न**–केवलज्ञान होनेपर अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोका अभाव नही होता, किन्तु वे दिनमे तारागणोकी तरह विद्यमान रहकर भी अभिभूत हो जाते है और अपना कार्य नही करते ? **उत्तर**–केवलज्ञान चूंकि क्षायिक और परम विशुद्ध है अत सकलज्ञानावरणका विनाश होनेपर केवलीमे ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाले ज्ञानोकी सभावना कैसे हो सकती है ? सर्वशुद्धिकी प्राप्ति हो जाने पर लेशत अशुद्धिकी कल्पना ही नही हो सकती । आगममे असज्ञी पचेन्द्रियसे अयोगकेवलि तक जो पचेन्द्रिय गिनाए है वहा द्रव्येन्द्रियोकी विवक्षा है ज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियोकी नहीं । यदि भावेन्द्रिया विवक्षित होती तो ज्ञानावरणका सद्भाव होनेसे सर्वज्ञता ही नही हो सकती । अत. एक आत्मामे दो ज्ञान मति और श्रुत, तीन ज्ञान मति श्रुत अवधि या मति श्रुत मन पर्यय, चार ज्ञान मति श्रुत अवधि और मन पर्यय होगे, पाच एक साथ नही होगे । अथवा, एक शब्द-को सख्यावाची मानकर अकेला मतिज्ञान भी एक हो सकता है क्योकि जो अगप्रविष्ट आदि रूप श्रुतज्ञान है वह हर एकको हो भी न भी हो । अथवा, सख्या असहाय और प्राधान्यवाची एक शब्दको मानकर अकेला असहाय और प्रधान केवलज्ञान एक होगा दो मति श्रुत आदि ।

मति श्रुत अवधि विपर्यय भी होते है–

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

च शब्द समुच्चयार्थक है । अर्थात् मति श्रुत और अवधि मिथ्या भी होते है और सम्यक् भी ।

§ १–३ मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यादर्शनके साथ रहनेके कारण इन ज्ञानोमे मिथ्यात्व आ जाता है जैसे कडवी तूमरीमे रखा हुआ दूध कडुआ हो जाता है उसी तरह मिथ्यादृष्टिरूप आधार-दोषसे ज्ञानमे मिथ्यात्व आ जाता है । यह आशका उचित नही है कि 'मणि सुवर्ण आदि मलस्थानमे गिरकर भी जैसे अपने स्वभावको नही छोडते वैसे ज्ञानको भी नही छोडना चाहिए', क्योकि पारिणामिक अर्थात् परिणमन करानेवालेकी शक्तिके अनुसार वस्तुओमे परिणमन होता है । कडुवी तूंबडीके समान मिथ्यादर्शनमे ज्ञान दूधको बिगाडनेकी शक्ति है । यद्यपि मलस्थानसे मणि आदिमे बिगाड नही होता पर अन्य धातु आदिके सम्बन्धसे सुवर्ण आदि भी विपरिणत हो ही सकते है । सम्यग्दर्शनके होते ही मत्यादिका मिथ्याज्ञानत्व हटकर उनमे सम्यक् ज्ञानत्व आ जाता है और मिथ्यादर्शनके उदयमे ये ही–मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभङ्गावधि बन जाते है ।

'जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि मति श्रुत अवधिसे रूपादिको जानता है उसी प्रकार मिथ्या-दृष्टि भी, अत ज्ञानोंमे मिथ्यादर्शनसे क्या विपर्यय हुआ ? मिथ्यादृष्टि भी रूपको रूप ही जानता है अन्यथा नही' इस आशकाका परिहार करनेके लिए सूत्र कहते है–

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

§ १ सत्–अर्थात् प्रशस्ततत्त्वज्ञान, असत् अर्थात् अज्ञान इनमें मिथ्यादृष्टिको कोई विशेषताका भान नही होता वह कभी सत्को असत् और असत्को सत् कहता है, झोंकमे

आकर यदृच्छासे सत्‌को सत् और असत्‌को असत् कहने पर भी उसका वह मिथ्याज्ञान ही है। जैसे कि कोई पागल गायको घोड़ा या घोडाको गाय कहता है, कभी गायको गाय और घोड़ेको घोडा कहने पर भी उसका सब पागलपन ही कहा जाता है ।

§ २ अथवा सत् शब्द विद्यमानार्थक है । वह कभी विद्यमानको अविद्यमान अविद्यमानको विद्यमान रूपसे जानता है ।

§ ३ इसका कारण है विभिन्न मतवादियों द्वारा वस्तुके स्वरूपका विभिन्न प्रकार से वर्णन और प्रचार करना । किन्हीका (अद्वैत) कहना है कि द्रव्य ही है, रूपादिकी सत्ता नही है तो कोई (बौद्ध) रूपादिको ही मानना चाहते हैं द्रव्यको नही । कोई (वैशेषिक) कहते है कि द्रव्यसे रूपादि गुण भिन्न होते है। ये तीनो ही पक्ष मिथ्या है, क्योकि यदि द्रव्य ही हो रूपादि न हो तो द्रव्यका परिचायक लक्षण न रहनेसे लक्ष्यभूत द्रव्यका ही अभाव हो जायगा। इन्द्रियोसे पूरे द्रव्यका अखण्ड रूपसे ग्रहण होनेके कारण पाँच इन्द्रियाँ माननेकी आवश्यकता नही रह जाती क्योकि द्रव्य तो किसी एक भी इन्द्रियसे पूर्ण रूपसे गृहीत हो ही जायगा । पर ऐसा मानना न तो इष्ट ही है और न प्रमाणप्रसिद्ध ही । इसी तरह यदि द्रव्य का अस्तित्व न हो तो निराश्रय रूपादिका आधार क्या होगा ? यदि रूपादि परस्परमे अभिन्न हो तो एकसे अभिन्न होनेके कारण सभी एक हो जायँगे समुदायका अभाव ही हो जायगा। यदि द्रव्य और गुणमे सर्वथा भेद है तो उनमे परस्पर लक्ष्यलक्षणभाव नही हो सकेगा। दण्ड और दण्डीकी तरह पृथक् सिद्धगत लक्ष्यलक्षणभाव तो तब बन सकता है जब द्रव्य और गुण दोनो पृथक् सिद्ध हो। द्रव्यसे भिन्न अमूर्त रूपादि गुणोसे इन्द्रियका सन्निकर्ष भी नही होगा और इस तरह उनका परिज्ञान करना ही असम्भव हो जायगा, क्योकि भिन्न द्रव्य तो कारण हो नही सकेगा ।

§ ४ केवल स्वरूपमे ही नही किन्तु जगत्‌के मूल कारणोमे ही प्रवादियोको विवाद है। जैसे **सांख्यो** का मत है कि—अव्यक्त प्रकृतिसे महान्—बुद्धि, महान्‌से अहङ्कार, अहङ्कार से पाँच इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियोके विषय तन्मात्रा और पृथिवी आदि पाँच महाभूत और मन ये सोलह गण और पाँच महाभूतोसे यह दृश्य जगत् उत्पन्न होता है। यह मत निर्दोष नही है, क्योकि अमूर्त निरवयव निष्क्रिय अतीन्द्रिय नित्य और पर प्रयोगसे अप्रभावित प्रधानसे मूर्त सावयव सक्रिय इन्द्रियग्राह्य आदि विपरीत लक्षणवाले घटादि पदार्थोकी उत्पत्ति नही हो सकती । स्वय चेतनाशून्य प्रधानका इस तरह बुद्धिपूर्वक सृष्टिको उत्पन्न करना सम्भव ही नही है । पुरुष स्वय निष्क्रिय है वह प्रधानको प्रेरणा भी नही दे सकता । फिर प्रधानको सृष्टि के उत्पन्न करनेका खास प्रयोजन भी नही दिखाई देता । 'पुरुषको भोग सम्पादन करना' यह प्रयोजन भी नही हो सकता; क्योकि नित्य और विभु आत्माका भोक्तारूपसे परिणमन ही नही हो सकता। स्वय अचेतन प्रधान प्रेरित होकर भी बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

वैशेषिकों का मत है कि—पृथिवी आदि द्रव्योके जुदा जुदा परमाणु है । उनमे अदृष्ट आदिसे क्रिया होती है फिर द्व्यणुकादिक्रमसे घटादिकी उत्पत्ति होती है। यह मत भी ठीक नही है; क्योंकि परमाणु नित्य है, अतः उनमे कार्यको उत्पन्न करनेका परिणमन ही नही हो सकता। यदि परिणमन हो तो नित्यता नहीं हो सकती। फिर परमाणुओसे भिन्न किसी स्वतन्त्र अवयवीरूप कार्यकी उपलब्धि भी नहीं होती । परमाणुओमे पृथिवीत्व आदि जाति-भेदकी कल्पना भी प्रमाणसिद्ध नहीं है; क्योंकि भिन्नजातीय चन्द्रकान्तमणिसे जलकी, जल

से पार्थिव मोतीकी, लकड़ीसे अग्नि आदिकी उत्पत्ति देखी जाती है। भिन्नजातीयोमे केवल समुदायकी कल्पना करना तुल्यजातीयोमे भी समुदायमात्रको ही सिद्ध करेगी, कार्योत्पत्ति को नहीं। निष्क्रिय और निर्विकारी आत्मा कर्त्ता भी नही हो सकता। आत्माका अदृष्ट गुण भी चूँकि निष्क्रिय है अतः वह भी भिन्न पदार्थोमे क्रिया उत्पन्न नही कर सकेगा।

बौद्धोंकी मान्यता है कि वर्णादिपरमाणुसमुदयात्मक रूप परमाणुओका सचय ही इन्द्रियग्राह्य होकर घटादि व्यवहारका विषय होता है। इनका यह मत ठीक नही है, क्योकि जब प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है तो उनसे अभिन्न समुदाय भी इन्द्रियग्राह्य नही हो सकता। जब उनका कोई दृश्य कार्य सिद्ध नही होता तब कार्यलिङ्गक अनुमानसे परमाणुओकी सत्ता भी सिद्ध नही की जा सकेगी। परमाणु चूँकि क्षणिक और निष्क्रिय है अतः उनसे कार्योत्पत्ति भी नही हो सकती। विभिन्न शक्तिवाले उन परमाणुओका परस्पर स्वत सम्बन्धकी सभावना नही है और अन्य कोई सम्बन्धका कर्ता हो नही सकता। तात्पर्य यह कि परस्पर सम्बन्ध नही होनेके कारण घटादि स्थूल कार्योकी उत्पत्ति ही नही हो सकेगी।

इसी तरह बिगड़े पित्तवाले रोगीको रसनेन्द्रियके विपर्ययकी तरह अनेक प्रकारके विपर्यय मिथ्यादृष्टिको होते रहते है।

चारित्र मोक्षका प्रधान कारण है अत उसका वर्णन मोक्षके प्रसङ्गमे किया जायगा। केवलज्ञान हो जानेपर भी जब तक व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यानरूप चरम चारित्र नही होता तब तक मुक्तिकी संभावना नही है। अब नयोका निरूपण करते है–

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः ॥३३॥

शब्दकी अपेक्षा नयोके एकसे लेकर अख्यात विकल्प होते है। यहाँ मध्यमरुचि शिष्योकी अपेक्षा सात भेद बताए है।

§ १ प्रमाणके द्वारा प्रकाशित अनेकधर्मात्मक पदार्थके धर्मविशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान नय है। नयके मूल दो भेद है–एक द्रव्यास्तिक और दूसरा पर्यायास्तिक। द्रव्यमात्रके अस्तित्वको ग्रहण करनेवाला द्रव्यास्तिक और पर्यायमात्रके अस्तित्वको ग्रहण करनेवाला पर्यायास्तिक है। अथवा द्रव्य ही जिसका अर्थ है–गुण और कर्म आदि द्रव्यरूप ही है वह द्रव्यार्थिक और पर्याय ही जिसका अर्थ है वह पर्यायार्थिक। पर्यायार्थिकका विचार है कि अतीत और अनागत चूँकि विनष्ट और अनुत्पन्न है अत उनसे कोई व्यवहार सिद्ध नही हो सकता अत वर्तमान मात्र पर्याय ही सत् है। द्रव्यार्थिकका विचार है कि अन्वयविज्ञान अनुगताकार वचन और अनुगत धर्मोका लोप नही किया जा सकता, अत द्रव्य ही अर्थ है।

§ २–३ अर्थके सकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जैसे प्रस्थ बनाने के निमित्त जंगलसे लकड़ी लेनेके लिए जानेवाले फरसाधारी किसी पुरुषसे पूछा कि 'आप कहाँ जा रहे है?' तो वह उत्तर देता है कि 'प्रस्थके लिए'। अथवा, 'यहां कौन जा रहा है?' इस प्रश्नके उत्तरमे 'बैठा हुआ' कोई व्यक्ति कहे कि 'मै जा रहा हूँ'। इन दोनों दृष्टान्तोमें प्रस्थ और गमनके संकल्प मात्रमे वे व्यवहार किये गये है। इसी तरहके सभी व्यवहार नैगमनयके विषय है। यह नैगमनय केवल भाविसज्ञा व्यवहार ही नही है, क्योंकि वस्तुभूत राजकुमार या चावलोंमें योग्यताके आधारसे राजा या भात संज्ञा भाविसंज्ञा कहलाती है पर

नैगमनयमें कोई वस्तुभूत पदार्थ सामने नही है यहाँ तो तदर्थ किए जानेवाले संकल्पमात्रमें ही वह व्यवहार किया जा रहा है ।

§ ४ **प्रश्न**–भाविसज्ञामे तो यह आशा है कि आगे उपकार आदि हो सकते है, पर नैगमनयमे तो केवल कल्पना ही कल्पना है, अत यह सव्यवहारके अनुपयुक्त है ? **उत्तर**–नयोके विषयके प्रकरणमे यह आवश्यक नही है कि उपकार या उपयोगिताका विचार किया जाय । यहाँ तो केवल उनका विषय बताना है । फिर सकल्पके अनुसार निष्पन्न वस्तुसे आगे उपकारादिकी भी सभावना भी है ही ।

§ ५ अनुगताकार बुद्धि और अनुगत शब्द प्रयोगका विषयभूत सादृश्य या स्वरूप जाति है । चेतनकी जाति चेतनत्व और अचेतनकी जाति अचेतनत्व है । अत अपने अविरोधी सामान्यके द्वारा उन उन पदार्थो का सग्रह करनेवाला सग्रहनय है । जैसे 'सत' कहनेसे सत्ता सम्बन्धके योग्य द्रव्यगुण कर्म आदि सभी सद्व्यक्तियोका ग्रहण हो जाता है अथवा द्रव्य कहनेसे द्रव्य व्यक्तियोका । इस तरह यह सग्रह पर और अपरके भेदसे अनेक प्रकार का होता है ।

सत्ता नामक भिन्न पदार्थके सम्बन्धसे 'सत्' यह प्रत्यय मानना उचित नही है, क्योकि यदि सत्ता सम्बन्धके पहिले द्रव्यादिमे 'सत्' प्रत्यय होता था, तो फिर अन्य सत्ता-का सम्बन्ध मानना ही निरर्थक है जैसे कि प्रकाशितका प्रकाशन करना । इस तरह दो सत्ताए एक पदार्थमे माननी होगी–एक भीतरी और दूसरी बाहिरी । ऐसी दशामे "सत् सत् प्रत्यय सर्वत्र समान होनेसे तथा विशेष लिङ्ग न होनेसे एक ही सामान्य पदार्थ होता है" इस सिद्धान्तका विरोध हो जायगा । यदि सत्ता सम्बन्धसे पहिले द्रव्यादि 'असत्' है; तो उनमे खरविषाणकी तरह सत्ता सम्बन्ध नही हो सकेगा । समवाय भी सत्ताका नियामक स्वत नही हो सकता । किच, स्वय सत्तामे 'सत्' इस ज्ञानको यदि अन्य सत्तामूलक मानते है तो अनवस्था दूषण आता है । तथा 'द्रव्य गुण कर्ममे ही सत्ता रहती है' इस सिद्धान्तका विरोध भी होता है । यदि पदार्थकी शक्तिविचित्रतासे द्रव्यादिमे होनेवाले 'सत्' प्रत्ययको अन्य सामान्यहेतुक और सत्तामे स्वतः ही सत् प्रत्यय माना जाता है, तो यह व्यवस्था स्वेच्छाकृत होगी प्रमाणसिद्ध नही, और इस तरह ससर्गसे प्रत्यय माननेके सिद्धान्तका भी परित्याग हो जाता है । किच, द्रव्यादिकमे सत्ताकी वृत्ति यदि 'यह उसकी है' इस रूपसे मानी जाती है तो मतुप् प्रत्यय होकर 'सत्तावान् द्रव्य' ऐसा प्रयोग होगा जैसे गोमान् यवमान् आदि । अत 'सद्द्रव्यम्' इस प्रयोगमे भावार्थक और मत्वर्थक दोनो प्रत्ययोकी निवृत्ति करनी पड़ेगी । यदि 'यह वही है' इस प्रकार अभेदवृत्ति मानी जाती है तो 'यष्टिः पुरुषः' की तरह 'सत्ता द्रव्यम्' यह प्रयोग होगा न कि 'सद्द्रव्यम्' यह । इस पक्षमे भावार्थक तल् प्रत्ययकी निवृत्ति माननी पड़ेगी । ससारमे कोई भी एक पदार्थ अनेकमे सम्बन्धसे रहने-वाला प्रसिद्ध भी नही जिसे दृष्टान्त बनाकर सत्ताको एक होकर अनेक सम्बधिनी बनाया जाय । नीली आदि द्रव्य तो उन उन कपडोंमे जुदे जुदे है ।

§ ६ सग्रह नयके द्वारा सगृहीत पदार्थोंमे विधिपूर्वक विभाजन करना व्यवहार-नय है । जैसे सर्वसग्रहनयने 'सत्' ऐसा सामान्य ग्रहण किया था पर इससे तो व्यवहार चल नही सकता था अत. भेद किया जाता है कि–जो सत् है वह द्रव्य है या गुण ? द्रव्य भी जीव है या अजीव ? जीव और अजीव सामान्यसे भी व्यवहार नही चलता था, अत. उसके भी

देव नारक आदि और घट पट आदि भेद लोकव्यवहारके लिए किए जाते है । 'कषायरस'को किसी वैद्यने दवारूपमे बताया तो जब तक किसी खास 'आवला' आदिका निर्देश न किया जाय तब तक समस्त ससारका कषाय रस तो सम्राट् भी इकट्ठा नही कर सकता । यह व्यवहार नय वहाँ तक भेद करता जायगा जिससे आगे कोई भेद नही हो सकता होगा ।

§ ७ जिस प्रकार सरल सूत डाला जाता है उसी तरह ऋजुसूत्र नय एक समयवर्ती वर्त्तमान पर्यायको विषय करता है । अतीत और अनागत चूँकि विनष्ट और अनुत्पन्न है अत उनसे व्यवहार नही हो सकता । इसका विषय एक क्षणवर्ती वर्तमान पर्याय है । 'कषायो भैषज्यम्' मे वर्तमानकालीन वह कषाय भैषज हो सकती है जिसमे रसका परिपाक हुआ है न कि प्राथमिक अल्परसवाला कच्चा कषाय ।

पच्यमान इस नयका विषय है । पच्यमानमे भी कुछ अश तो वर्तमानमे पकता है तथा कुछ अश पक चुकते है । अत पच्यमान भातको अशत· पक्व कहनेमे भी कोई विरोध नही है, क्योकि पाकके प्रथम समयमे कुछ अश यदि पक जाता है तो मान लेना चाहिए कि पच्यमान पदार्थ अशत. पक्व हो चुका है । यदि नही पकता, तो द्वितीयादि क्षणोमे भी पकनेकी गुञ्जाइश नही हो सकती । अत पाकका ही अभाव हो जायगा । उस दशामे स्यात् पच्यमान ही कह सकते है , क्योकि जितने विशद रधे हुए भातमें 'पक्व' का अभिप्राय है उतना पाक अभी नही हुआ है । स्यात् पक्व भी कह सकते है ; क्योंकि किसी भोजनार्थीको उतना ही पाक इष्ट हो सकता है । इसी तरह क्रियमाणमे भी अशत कृत व्यवहार, भुज्यमानमे भी अशत भुक्त व्यवहार, बध्यमानमे भी अशत बद्ध व्यवहार आदि कर लेना चाहिए ।

जिस समय प्रस्थसे धान्य आदि मापा जाता हो उसी समय उसे प्रस्थ कह सकते है । वर्तमानमे अतीत और अनागतसे धान्यका माप तो होता ही नही है । इस नयकी दृष्टिसे कुम्भकार व्यवहार नही हो सकता; क्योकि शिविक आदि पर्यायोके बनाने तक तो उसे कुम्भकार कह ही नही सकते और घट पर्यायके समय अपने अवयवो से स्वय ही घड़ा बन रहा है । जिस समय जो बैठा है वह उस समय यह नही कह सकता कि 'अभी ही आ रहा हूँ'; क्योकि उस समय आगमन क्रिया नही हो रही है । जितने आकाश प्रदेशोमे वह ठहरा है उतने ही प्रदेशोमे उसका निवास है अथवा स्वात्मा मे; अत· ग्रामनिवास गृहनिवास आदि व्यवहार नही हो सकते । इस नयकी दृष्टिमे 'कौआ काला' नही है क्योकि काला रंग काला है और कौआ कौआ है । यदि काला रग कौआ रूप हो जाय तो संसारके भौ रा आदि सभी काले पदार्थ कौआ बन जायगे । इसी तरह यदि कौआ काले रग स्वरूप हो जाय तो शुक्ल काकका अभाव ही हो जायगा । फिर कौआका रक्त मास पित्त हड्डी चमडा आदि मिलकर पंचरंगी वस्तु होती है, अत· उसे केवल काला ही कैसे कह सकते है ? कृष्ण और काकमे सामानाधिकरण्य भी नही बन सकता, क्योकि विभिन्न शक्तिवाली पर्याए ही अपना अस्तित्व रखती है द्रव्य नही । यदि कृष्णगुणकी प्रधानतासे काकको काला कहा जाता है तो कम्बल आदिमे अतिप्रसग हो जायगा क्योकि उनमे भी काला रंग विशेष है, अत उन्हे भी काक कहना चाहिए । अधिक कसैले और स्वल्प मधुर मधुको फिर मधु नही कहना चाहिए । परोक्षमे कहनेपर संशय भी हो सकता है कि—क्या कृष्णगुणकी प्रधानतासे काककी

कृष्णताका वर्णन 'कृष्ण.' शब्दसे हो रहा है या कृष्णपरिणमनवाले द्रव्यका ही ? इस नयकी दृष्टिमे पलालका दाह नहीं हो सकता, क्योकि अग्नि सुलगाना, धौकना और जलाना आदि असख्य समयकी क्रियाएँ वर्तमान क्षणमे नही हो सकती । जिस समय दाह है उस समय पलाल नही और जिस समय पलाल है उस समय दाह नही, तब पलालदाह कैसा ? 'जो पलाल है वह जलता है' यह भी नही कह सकते, क्योकि बहुत पलाल बिना जला भी बाकी है । यह समाधान भी उचित नही है कि–'समुदाय-वाची शब्दोकी अवयवमे भी प्रवृत्ति देखी जाती है अत अशदाहसे सर्वदाह ले लेगे' क्योकि कुछ पलाल तो बिना जला शेष है ही । यदि सपूर्णदाह नही हो सकता, तो 'पलालदाह' यह प्रयोग ही नही करना चाहिए । यदि सपूर्णदाह नही हो सकता अत एकदेशदाहसे पलालका दाह माना जायगा उसमे, 'अदाह' नही होगा तो आपके वचन भी सपूर्ण रूपसे परपक्षके दूषक नही हो सकते, अत एकदेशके दूषक होनेसे उन्हे सर्वथा दूषक ही माना जायगा किसी भी तरह 'अदूषक' नही होगे और इस तरह उनमे स्वपक्ष-अदूषकत्व अर्थात् साधकत्व भी नही होगा । यदि अनेक अवयव होनेसे कुछ अवयवोमे दाह होनेसे सर्वत्र दाह माना जाता है ,तो कुछ अवयवोमे अदाह होनेसे सर्वत्र अदाह क्यो नहीं माना जायगा ? यदि सर्वत्र दाह है तो अदाह सर्वत्र क्यो नही ? इसी तरह इस नयकी दृष्टिसे पान-भोजन आदि कोई व्यवहार नही बन सकते । इस नयकी दृष्टिसे सफेद चीज काली नहीं बन सकती, क्योंकि दोनोका समय भिन्न भिन्न है । वर्तमानके साथ अतीतका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

यह नय व्यवहारलोपकी कोई चिता नही करता । यहाँ तो उसका विषय बताया गया है । व्यवहार तो पूर्वोक्त व्यवहार आदि नयोसे ही सध जाता है ।

§ ८-९ जिस व्यक्ति ने सकेतग्रहण किया है उसे अर्थबोध करानेवाला शब्द होता है । शब्दनय लिग सख्या साधनादि सम्बन्धी व्यभिचारकी निवृत्ति करता है अर्थात् उसकी दृष्टिसे ये व्यभिचार हो ही नही सकते क्योकि अन्य अर्थका अन्यके साथ कोई सम्बन्ध नही है । वह व्याकरणशास्त्रके इन व्यभिचारोको न्याय्य नही मानता ।

लिगव्यभिचार–स्त्रीलिगके साथ पुल्लिगका प्रयोग करना, जैसे 'तारका स्वाति' । पुल्लिगके साथ स्त्रीलिगका प्रयोग, जैसे 'अवगमो विद्या' । स्त्रीलिगके साथ नपुसकका प्रयोग, जैसे 'वीणा आतोद्यम्' । नपुसकलिगके साथ स्त्रीलिगका प्रयोग, जैसे–'आयुधं शक्ति.' ।

सख्याव्यभिचार–एकवचनके स्थानमे द्विवचनका प्रयोग, जैसे 'नक्षत्रं पुनर्वसू' । एकवचनके स्थानमे वहुवचन, जैसे 'नक्षत्र शतभिषज' । द्विवचनके स्थानमे एकवचन, जैसे 'गौदौ ग्राम.' । द्विवचनके स्थानमे बहुवचन, जैसे 'पुनर्वसू पञ्चतारका' । बहुवचनके स्थानमे एकवचन जैसे 'आम्रा वनम्' । बहुवचनके स्थानमे द्विवचन, जैसे 'देवमनुष्या उभौ राशी' ।

साधनव्यभिचार–परिहासमे मध्यम पुरुषके स्थानमे उत्तम पुरुष और उत्तम पुरुषके स्थानमें मध्यम पुरुषका प्रयोग करना, जैसे–'एहि, मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पिता' इसका प्रकृतरूप यह है 'त्वम् एहि, त्व मन्यसे यत् अह रथेन यास्यामि, त्वं नहि यास्यसि ते पिता अग्रे यात.' । यहाँ मन्यसेके स्थानमे मन्येका तथा यास्यामिके स्थानमे यास्यसि का प्रयोग हुआ है ।

कालव्यभिचार–जिसने विश्वको देख लिया ऐसा विश्वदृश्वा (विश्वं दृष्टवान्) पुत्र उत्पन्न होगा। उपसर्गके अनुसार धातओंमे परस्मैपद और आत्मनेपदका प्रयोग उपग्रह व्यभिचार है। जैसे सतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमति उपरमति आदिमे। इत्यादि व्यभिचार अयुक्त है क्योंकि अन्य अर्थका अन्य अर्थसे कोई सम्बन्ध नही है अन्यथा घट पट हो जायगा और पट मकान। अत यथालिग यथावचन और यथासाधन प्रयोग करना चाहिए।

यह नय लोक और व्याकरणशास्त्रके विरोधकी कोई चिन्ता नही करता। यहाँ तो नयका विषय बताया जा रहा है मित्रोकी खुशामद नही की जा रही है।

§ १० अनेक अर्थोंको छोडकर किसी एक अर्थमे मुख्यतासे रूढ होनेको समभिरूढ नय कहते है। जैसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान अर्थ व्यञ्जन और योगकी सक्रान्ति न होनेसे मात्र एक सूक्ष्म काययोगमे परिनिष्ठित हो जाता है उसी तरह 'गौ' आदि शब्द वाणी पृथ्वी आदि ग्यारह अर्थोमे प्रयुक्त होनेपर भी सबको छोड़कर मात्र एक सास्नादि-वाली 'गाय' मे रूढ हो जाता है। अथवा, शब्दका प्रयोग अर्थज्ञानके लिए किया जाता है। जब एक शब्दसे अर्थबोध हो जाता है तब उसीमे अन्य पर्यायवाची शब्दोका प्रयोग निरर्थक है। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिए, जैसे इन्दन क्रियासे इन्द्र, शासन या शक्तिके कारण शक्र और पूर्दारणसे पुरन्दर। अथवा जो जहा अधिरूढ है वहीं उसका मुख्य रूपसे प्रयोग करना समभिरूढ है। जैसे किसीने पूछा कि–आप कहा है ? तो समभिरूढ नय उत्तर देगा–'अपने स्वरूपमे' क्योकि अन्य पदार्थकी अन्यत्र वृत्ति नही हो सकती अन्यथा ज्ञानादि और रूपादिकी भी आकाशमें वृत्ति होनी चाहिए।

§ ११-१२ जिस समय जो पर्याय या क्रिया हो उस समय तद्वाची शब्दके प्रयोगको ही एवंभूत नय स्वीकार करता है। जिस समय इन्दन अर्थात् परमैश्वर्यका अनुभव करे उसी समय इन्द्र कहा जाना चाहिए, नाम स्थापना द्रव्यनिक्षेपकी दशामे नहीं। इसी तरह प्रत्येक शब्दका प्रयोग उस क्रियामे परिणत अवस्थामे ही उचित है। अथवा, यह नय जिस पर्यायमे है उसी रूपसे निश्चय करता है। गौ जिस समय चलती है उसी समय गौ है न तो बैठनेकी अवस्थामे और न सोनेकी अवस्थामे। पूर्व और उत्तर अवस्थाओमे वह पर्याय नही रहती अत. उस शब्दका प्रयोग ठीक नही है। अथवा, इन्द्र या अग्नि ज्ञानसे परिणत आत्मा ही इन्द्र या अग्नि है ऐसा निश्चय एवम्भूत नय करता है। ज्ञान या आत्मा मे अग्निव्यपदेश करनेके कारण दाहकत्व आदिका अतिप्रसङ्ग आत्मामे नही देना चाहिए, क्योकि नाम स्थापना आदिमे पदार्थके जो जो धर्म वाच्य होते है वे ही उनमे रहेगे, नो-आगमभाव अग्निमे ही दाहकत्व आदि धर्म होते है उनका प्रसङ्ग आगमभाव अग्निमे देना उचित नही है।

ये नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयक तथा पूर्व पूर्व हेतुक है अत इनका निर्दिष्ट क्रमके अनुसार निर्देश किया है। ये नय पूर्व पूर्वमे विरुद्ध और महा विषयवाले है और उत्तरोत्तर अनुकूल और अल्प विषयवाले है। अनन्तशक्तिक द्रव्यकी हर एक शक्तिकी अपेक्षा इनके बहुत भेद होते है। गौण मुख्य विवक्षासे परस्पर सापेक्ष होकर ये नय सम्यग्दर्शनके कारण होते है और पुरुषार्थ क्रियामे समर्थ होते है। जैसे तन्तु परस्पर सापेक्ष होकर पट अवस्थाको प्राप्त करके ही शीत निवारण कर सकते है और स्वतन्त्र दशामें न तो पट ही कहे जाते है और न शीतसे रक्षा ही कर सकते है। जिस

प्रकार अकेला तन्तु पटके द्वारा होनेवाली अर्थक्रिया नही कर सकता वैसे ही निरपेक्ष नय सम्यग्ज्ञानोत्पत्ति नही कर सकते। तन्तु तन्तुसाध्य अर्थक्रिया भी अपने अंशुओकी अपेक्षा रखकर ही कर सकता है। यदि तन्तुओमे शक्तिकी अपेक्षा पट कार्यकी सभावना है तो निरपेक्ष नयोमे भी शक्तचपेक्षया सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिकी संभावना है ही।

इस अध्यायमे ज्ञान दर्शन तत्त्व नयोके लक्षण और ज्ञानकी प्रमाणता आदिका निरूपण किया गया है।

प्रथम अध्याय समाप्त

लघुहव्व नृपतिके वर अर्थात् ज्येष्ठ या श्रेष्ठ पुत्र, निखिल विद्वज्जनोके द्वारा जिनकी विद्याका लोहा माना जाता है, जो सज्जन पुरुषोके हृदयोको आह्लादित करनेवाले है वे अकलङ्क ब्रह्मा जयशील है।

*

द्वितीय अध्याय

जीवके स्वभाव या स्वतत्त्वोंका वर्णन–

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च ॥१॥

औपशमिक क्षायिक मिश्र औदयिक और पारिणामिक ये पाच जीवके स्वतत्त्व है।

§ १ जैसे कतकफल या निर्मलीके डालनेसे मैले पानीका मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है उसी तरह परिणामोकी विशुद्धिसे कर्मो की शक्तिका अनुद्भूत रहना उपशम है। उपशमके लिए जो भाव होते है वे औपशमिक है।

§ २ जिस जलका मैल नीचे बैठा हो उसे यदि दूसरे बर्तनमे रख दिया जाय तो जैसे उसमे अत्यन्त निर्मलता होती है उसी तरह कर्मो की अत्यन्त निवृत्तिसे जो आत्यन्तिक विशुद्धि होती है वह क्षय है और कर्मक्षयके लिए जो भाव होते है वे क्षायिक भाव है।

§ ३ जैसे कोदोको धोनेसे कुछ कोदोकी मदशक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ की अक्षीण उसी तरह परिणामोकी निर्मलतासे कर्मो के एकदेशका क्षय और एकदेशका उपशम होना मिश्र भाव है। इस क्षयोपशमके लिए जो भाव होते है उन्हे क्षायोपशमिक कहते है।

§ ४ द्रव्य क्षेत्र काल और भावके निमित्तसे कर्मोका फल देना उदय है और उदयनिमित्तक भावोको औदयिक कहते है।

§ ५–६ जो भाव कर्मो के उपशमादिकी अपेक्षा न रखकर द्रव्यके निजस्वरूप-मात्रसे होते है उन्हे पारिणामिक कहते है।

§ ७–१५ यद्यपि औदयिक और पारिणामिक भव्य और अभव्य सभी जीवोमे रहते है अत बहुव्यापी है फिर भी भव्यजीवोके धर्मविशेषोको प्रधानता देनेके लिए औपशमिक आदिका प्रथम ग्रहण किया है। उनमे भी औपशमिकको प्रथम इसलिए ग्रहण किया है कि सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन औपशमिक ही होता है फिर क्षायोपशमिक और फिर क्षायिक। उपशम सम्यग्दृष्टि अन्तर्मुहूर्त कालमे अधिकसे अधिक पल्यके असख्यात भाग तक हो सकते है। अत. सख्याकी दृष्टिसे सभी सम्यग्दृष्टियोमें अल्प है और उसका काल भी अल्प है। क्षायिक सम्यग्दर्शनमे मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीनो प्रकृतियोका क्षय हो जानेसे परम विशुद्धि है और क्षायिक सम्यग्दर्शनका काल तेतीस सागर है अत: इतने समय तक सचयकी दृष्टिसे जीवोकी सख्या औपशमिककी अपेक्षा आवलिके असख्यात भागसे गुणित है अत: विशुद्धि और सख्याकी दृष्टिसे अधिक होनेके कारण क्षायिकका औपशमिकके बाद ग्रहण किया है। यद्यपि क्षायिक भाव शुद्धिकी दृष्टिसे क्षायोपशमिकसे अनन्तगुणा है तो भी छ्यासठ सागर कालमे संचित क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी संख्या क्षायिकसे आवलिकाके असंख्यात भाग गुणित है अत: क्षायिकके बाद इसका ग्रहण किया है। औदयिक और पारिणामिककी सख्या सबसे अनन्तगुणी है, अत दोनोंका अन्तमें ग्रहण किया है। ये दोनों भाव सभी जीवोके समान सख्यामे होते है तथा इनसे ही अतीन्द्रिय और अमूर्त

आत्माका ज्ञान किया जाता है। मनुष्य तिर्यञ्च आदि गतिभाव और चैतन्य आदि भाव ही जीवके परिचायक होते है। इसलिए सर्वसाधारण होनेसे दोनोको अन्तमे ग्रहण किया है।

§ १६–१८ जैसे 'गाये धन है' यहाँ गायोके भीतरी सख्याकी विवक्षा न होनेसे सामान्य रूपसे एक वचन धनके साथ सामानाधिकरण्य बन जाता है उसी तरह औपशमिक आदि भीतरी भेदकी विवक्षा न करके सामान्य स्वतत्त्वकी दृष्टिसे 'स्वतत्त्वम्' यह एक-वचन निर्देश है। अथवा 'औपशमिक स्वतत्त्व है क्षायिक स्वतत्त्व है' इस प्रकार प्रत्येकके साथ स्वतत्त्वका सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

§ १९–२० सूत्रमे यदि द्वन्द्व समास किया जाता तो दो 'च' शब्द नही देने पड़ते फिर भी 'मिश्र' शब्दसे औपशमिक और क्षायिकसे भिन्न किसी तृतीय ही भावके ग्रहणका अनिष्ट प्रसङ्ग प्राप्त होता अतः द्वन्द्व समास नही किया गया है। ऐसी दशामे 'च' शब्दसे उपशम और क्षयका मिला हुआ मिश्र भाव ही लिया जायगा। 'क्षायोपशमिक' शब्दके ग्रहणसे तो शब्दगौरव हो जाता है।

§ २१ मध्यमे 'मिश्र' शब्दके ग्रहणका प्रयोजन यह है कि भव्य जीवोके औपशमिक और क्षायिकके साथ मिश्र भाव होता है और अभव्योके औदयिक और पारिणामिकके साथ मिश्र भाव होता है। इस तरह पूर्व और उत्तर दोनो ओर 'मिश्र' का सम्बन्ध हो जाय।

§ २२ सूत्रगत 'जीवस्य' यह पद सूचित करता है कि ये भाव जीवके ही है अन्य द्रव्योके नही।

§ २३–२५ **प्रश्न**–आत्मा औपशमिकादि भावोको यदि छोड़ता है तो स्वतत्त्वके छोडनेसे उष्णताके छोड़नेपर अग्निकी तरह अभाव अर्थात् शून्यताका प्रसग होता है और यदि नही छोड़ता तो औदयिक आदि भावोके बने रहनेसे मोक्ष नही हो सकेगा ? **उत्तर**–अनेकान्तवादमे अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यकी दृष्टिसे स्वभावका अपरित्याग और आदिमान् औदयिक आदि पर्यायोकी दृष्टिसे स्वभावका त्याग ये दोनों ही पक्ष बन जाते है। फिर स्वभावके त्याग या अत्यागसे तो मोक्ष होता नही है, मोक्ष तो सम्यग्दर्शनादि अन्त करणोंसे सपूर्ण कर्मोंका क्षय होनेपर होता है। अग्नि उष्णताको छोड भी दे तो भी उसका सर्वथा अभाव नही होता, क्योकि जो पुद्गल अग्नि पर्यायको धारण किए था वह अन्य रूपस्पर्शवाली दूसरी पर्यायको धारण करके पुद्गल द्रव्य बना रहता है। जैसे कि निद्रा आदि अवस्थाओमे रूपोपलब्धि न रहनेपर भी नेत्रका अभाव नही माना जाता, अथवा केवली अवस्थामे मतिज्ञानरूप रूपोपलब्धि न होने पर भी द्रव्यनेत्र रहनेसे नेत्रका अभाव नही माना जाता। उसी तरह मोक्षावस्थामे भी क्षायिक भावोके विद्यमान रहनेसे कर्मनिमित्तक औदयिकादि भावोंका नाश होनेपर भी आत्माका अभाव नही होता।

औपशमिकादि भावोंके भेद–

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

इन भावोंके क्रमशः दो नव अठारह इक्कीस और तीन भेद है।

§ १–२ द्वि नव आदि शब्दोंका इतरेतरयोगार्थक द्वन्द्व समास है। **प्रश्न**–इतरेतर-योग तुल्ययोगमें होता है किन्तु यहाँ तुल्ययोग नही है क्योंकि द्वि आदि शब्द संख्येय प्रधान

है तथा एकविंशति शब्द संख्याप्रधान। **उत्तर**–निमित्तानुसार द्वि आदि शब्द भी संख्याप्रधान हो जाते है जैसे राजा स्वयं समय समयपर मन्त्रीको प्रधानता देता है। **प्रश्न**–तर्क से कैसा ही समाधान हो जाय पर व्याकरण शास्त्रमे स्पष्ट कहा है कि दो से १९ तकके अंक संख्येय प्रधान ही होते है तथा बीस आदि कभी सख्याप्रधान और कभी संख्येयप्रधान। यदि दो आदि शब्द भी कदाचित् संख्यावाची हो तो बीस आदिके समान ही इनकी स्थिति हो जायगी ऐसी दशामे 'विंशतिर्गवाम्' की तरह सम्बन्धीमे षष्ठी विभक्ति और स्वयंमे एकवचनान्त प्रयोग होना चाहिए। व्याकरणमे ही जो 'द्व्येकयोः' यह सख्याप्रधान प्रयोग देखा जाता है वह सख्यार्थक नही है किन्तु जिसके अवयव गौण है ऐसे समुदायके अर्थमे है, जैसे कि 'बहुशक्तिकिटक वनम्'–शक्तिशाली शूकरोवाला वन। **उत्तर**–सख्याप्रधान होनेपर भी इन्हे संख्येय विषयक मान लेते है। 'भावप्रत्ययके बिना भी गुणप्रधान निर्देश हो जाता है' यह नियम है। इस तरह दो आदि शब्द जब सख्येय प्रधान हो गये और एकविंशति शब्द भी सख्येय प्रधान तब तुल्ययोग होनेसे द्वन्द्व समास होनेमे कोई बाधा नही है।

भेद शब्दसे द्विआदि शब्दोंका स्वपदार्थ प्रधान समास है। विशेषणविशेष्य समास मे 'दो नव आदि ही भेद' ऐसा स्वपदार्थप्रधान निर्देश हो जाता है।

प्रश्न–'द्वियमुनम्' आदिमे पूर्वपदार्थप्रधान समास होता है, अतः द्वि आदि शब्दोको विशेष्य और भेद-शब्दको विशेषण माननेमे भेद शब्दका पूर्वनिपात होना चाहिये ?

उत्तर–सामान्योपक्रममे विशेष कथन होनेपर वह नियम लागू होता है। 'के?' कहनेसे 'द्वे यमुने' यह उत्तर मिलता है पर 'यमुने' यह कहनेपर दो शब्द निरर्थक हो जाता है। परन्तु यहां बहुत होनेसे सन्देह होता है–'भेदा' यह कहनेपर 'कति' यह सन्देह बना रहता है और 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय' कहनेपर 'के ते ?' यह सन्देह रहता है अत. उभयव्यभिचार होनेसे विशेषण विशेष्य भाव इष्ट है। दो आदि गुणवाचक है अत. विशेषण है। अथवा 'दो आदि है भेद जिनके' इस प्रकार अन्यपदार्थप्रधान भी समास किया जा सकता है। सख्या शब्दोंका विशेष्य होनेपर भी 'सर्वनामसख्ययोरुपसख्यानम्' सूत्रसे पूर्वनिपात हो जायगा। पूर्वसूत्रमे कहे गये औपशमिक आदिका अर्थवश विभक्ति परिणमन कराके 'औपशमिकादीनाम्' के रूपमे सम्बन्ध कर लिया जायगा।

§ ३ भेद शब्दका सम्बन्ध प्रत्येकमे कर लेना चाहिये, जैसे कि 'देवदत्त जिनदत्त गुरुदत्तको भोजन कराओ' यहा भोजनका सम्बन्ध प्रत्येकसे हो जाता है। 'यथाक्रमम्' शब्द दो आदिका निर्देशानुसार औपशमिक आदि भावोसे क्रमश. सम्बन्ध सूचित करता है।

औपशमिक भाव–

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिकचारित्र ये दो औपशमिक भाव है।

§ १–२ मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार चारित्रमोह, इस प्रकार इन सात कर्मप्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। अनादिमिथ्यादृष्टि भव्यके काललब्धि आदिके निमित्तसे यह सम्यग्दर्शन होता है। काललब्धि अनेक प्रकारकी है। जैसे–

(१) भव्य जीवके अर्धपुद्गलपरिवर्तन रूप समय शेष रहनेपर वह सम्यक्त्वके योग्य होता है अधिक कालमें नही। (२) जब कर्म उत्कृष्ट स्थिति या जघन्य स्थितिमे बँध रहे हो तब प्रथम सम्यक्त्व नही होता किन्तु जब कर्म अन्त कोडाकोड़ि सागरकी स्थितिमे बँध रहे हो तथा पूर्वबद्ध कर्म परिणामोकी निर्मलताके द्वारा सख्यात हजार सागर कम अन्त कोडाकोडी सागरकी स्थितिवाले कर दिए गये हो तब प्रथम सम्यक्त्वकी योग्यता होती है। (३) तीसरी काललब्धि भवकी अपेक्षा है। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमे जातिस्मरण वेदना आदि भी निमित्त होते है।

भव्य पञ्चेन्द्रिय सज्ञी मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक परिणामोकी विशुद्धिसे अन्तर्मुहूर्तमे ही मिथ्यात्व कर्मके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व रूपसे तीन विभाग कर देता है।

उपशम सम्यग्दर्शन चारो ही गतियोमे होता है। सातो नरकोमे पर्याप्तक ही नारकी जीव अन्तर्मुहूर्तके बाद प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते है। तीसरे नरक तक जातिस्मरण, वेदनानुभव और धर्मश्रवण इन तीन कारणोसे तथा आगे धर्मश्रवणके सिवाय शेष दो कारणोसे सम्यक्त्वका लाभ हो सकता है। सभी द्वीप समुद्रोके पर्याप्तक ही तिर्यञ्च दिवस पृथक्त्व (तीनसे ऊपर ८ से नीचेकी सख्याको पृथक्त्व कहते है)के बाद सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते है। तिर्यञ्चोके जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनप्रतिमाका दर्शन ये तीन सम्यक्त्वोत्पत्तिके निमित्त है। ढाई द्वीपके पर्याप्तक ही मनुष्य आठ वर्षकी आयुके बाद जातिस्मरण धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन रूप किसी भी कारण से सम्यक्त्व लाभ करते है। अन्तिम ग्रैवेयक तकके पर्याप्तक ही देव अन्तर्मुहूर्तके बाद ही सम्यक्त्व लाभ कर सकते है। भवनवासी आदि सहस्रार स्वर्ग तकके देव जातिस्मरण धर्मश्रवण जिनमहिमा-दर्शन तथा देवैश्वर्य-निरीक्षण रूप किसी भी कारणसे सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते है। आनत आदि चार स्वर्गवासी देवोमे देव-ऋद्धि निरीक्षणके सिवाय तीन कारण और नव ग्रैवेयेकवासी देवोंमे देव-ऋद्धि निरीक्षण और जिनमहिमा दर्शनके बिना शेष दो कारणोसे सम्यक्त्वोपत्ति हो सकती है। ग्रैवेयेकसे ऊपरके देव नियमसे सम्यग्दृष्टि ही होते है।

§ ३ अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और सज्वलन क्रोध मान माया लोभ ये सोलह कषाय, हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुसक-वेद ये ९ नोकषाय, मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोह इस प्रकार अट्ठाईस मोह प्रकृतियोके उपशमसे औपशमिक चारित्र होता है।

§ ४ औपशमिक सम्यग्दर्शन होनेके बाद ही क्रमश औपशमिक चारित्र होता है अत पूज्य होनेसे उसका प्रथम ग्रहण किया है।

क्षायिकभाव–

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

केवलज्ञान, केवलदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य और चशब्दसे सम्यक्त्व और चारित्र ये नव क्षायिकभाव है।

§ १ समग्र ज्ञानावरणके क्षयसे केवलज्ञान और दर्शनावरणके क्षयसे केवलदर्शन क्षायिक होते है।

§ २ समस्त दानान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे अनन्त प्राणियोको अभय और अहिसाका उपदेशरूप अनन्त दान क्षायिक दान है।

§ ३ सपूर्ण लाभान्तरायका अत्यन्त क्षय होनेपर कवलाहार न करनेवाले केवली को शरीरकी स्थितिमे कारणभूत परम शुभ सूक्ष्म दिव्य अनन्त पुद्गलोंका प्रतिसमय शरीर मे सम्बन्धित होना क्षायिक लाभ है। अत "कवलाहारके बिना कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक औदारिक शरीरकी स्थिति कैसे रह सकती है?" यह शका निराधार हो जाती है।

§ ४ सपूर्ण भोगान्तरायके नाशसे उत्पन्न होनेवाला सातिशय भोग क्षायिक भोग है। इसीसे पुष्पवृष्टि गन्धोदकवृष्टि पदकमलरचना सुगन्धित शीत वायु सह्य धूप आदि अतिशय होते है।

§ ५ समस्त उपभोगान्तरायके नाशसे उत्पन्न होनेवाला सातिशय उपभोग क्षायिक उपभोग है। इसीमे सिहासन छत्र-त्रय चमर अशोकवृक्ष भामण्डल दिव्यध्वनि देवदुन्दुभि आदि होते है।

§ ६ समस्त वीर्यान्तरायके अत्यन्त क्षयसे प्रकट होनेवाला अनन्त क्षायिक वीर्य है।

§ ७ दर्शनमोहके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन और चारित्रमोहके क्षयसे क्षायिक चारित्र होता है।

प्रश्न–दानान्तराय आदिके क्षयसे प्रकट होनेवाली दानादिलब्धियोके अभयदान आदि कार्य सिद्धोंमे भी होने चाहिए?

उत्तर–दानादिलब्धियोंके कार्यके लिए शरीर नाम और तीर्थङ्कर प्रकृतिके उदयकी भी अपेक्षा है। सिद्धोंमे ये लब्धियाँ अव्याबाध अनन्तसुख रूपसे रहती है। जैसे कि केवल ज्ञानरूपमे अनन्तवीर्य। जैसे पोरोके पृथक् निर्देशसे अगुलि सामान्यका कथन हो जाता है उसीतरह सभी क्षायिक भावोंमें व्यापक सिद्धत्वका भी कथन उन विशेष क्षायिकभावोके कथनसे हो ही गया है, उसके पृथक् कथनकी आवश्यकता नही है।

क्षायोपशमिक भाव–

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाच लब्धिया, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये १८ क्षायोपशमिक भाव है।

§ १-२ चतुः त्रि आदि शब्दोका द्वन्द्व समास करके पीछे भेदशब्दसे अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास करना चाहिए। यहा सूत्रमे 'त्रि' शब्द दो बार आया है अतः द्वन्द्वका अपवाद करके एकशेष नही किया गया है; क्योंकि एक त्रि सख्यासे अर्थबोध नही होता, यहा अन्यपदार्थ प्रधान है और त्रि शब्दको पृथक् कहनेका विशेष प्रयोजन भी है। 'चार प्रकारका ज्ञान, तीन अज्ञान' आदि अनुक्रमसे सम्बन्ध ज्ञापन करानेके लिए यहां 'यथाक्रम' शब्दका अनुवर्तन 'द्विनवाष्टा' सूत्रसे कर लेना चाहिए।

§ ३ उदयप्राप्त सर्वघाति स्पर्धकोंका क्षय होनेपर, अनुदयप्राप्त सर्वघाति स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम होनेपर तथा देशघाति स्पर्धकोंके उदय होनेपर क्षायोपशमिक भाव होते है ।

§ ४ स्पर्धक–उदय प्राप्त कर्मके प्रदेश अभव्योके अनन्तगुणे तथा सिद्धोंके अनन्तभाग प्रमाण होते है । उनमेसे सर्वजघन्य गुणवाले प्रदेशके अनुभागका बुद्धिके द्वारा उतना सूक्ष्म विभाग किया जाय जिससे आगे विभाजन न हो सकता हो । सर्वजीवराशिके अनन्तगुण प्रमाण ऐसे सर्वजघन्य अविभाग परिच्छेदोंकी राशिको एक वर्ग कहते है । इसी तरह सर्वजघन्य अविभाग परिच्छेदोके, जीवराशिसे अनन्तगुण प्रमाण, राशिरूप वर्ग बनाने चाहिए । इन समगुणवाले समसख्यक वर्गोके समूहको वर्गणा कहते है । पुन एक अविभाग परिच्छेद अधिक गुणवालोंके सर्वजीवराशिकी अनन्तगुण प्रमाण राशिरूप वर्ग बनाने चाहिए । उन वर्गोके समुदायकी वर्गणा बनानी चाहिए । इस तरह एक एक अविभाग परिच्छेद बढ़ाकर वर्ग और वर्गसमूहरूप वर्गणाएँ तब तक बनानी चाहिए जबतक एक अधिक परिच्छेद मिलता जाय । इन क्रमहानि और क्रमवृद्धिवाली वर्गणाओंके समुदायको एक स्पर्धक कहते है । इसके बाद दो तीन चार सख्यात और असख्यात गुण अधिक परिच्छेद नही मिलते किन्तु अनन्तगुण अधिकवाले ही मिलते है । फिर उनमेसे पूर्वोक्त क्रमसे समगुणवाले वर्गोके समुदायरूप वर्गणा बनानी चाहिए । इस तरह जहा तक एक एक अधिक परिच्छेदका लाभ हो वहा तककी वर्गणाओंके समूहका दूसरा स्पर्धक बनता है । इसके आगे दो तीन चार संख्यात असंख्यात गुण अधिक परिच्छेद नही मिलेगे किन्तु अनन्तगुण अधिक ही मिलते है । इस तरह समगुणवाले वर्गोके समुदायरूप वर्गणाओके समूहरूप स्पर्धक एक उदयस्थानमे अभव्योसे अनन्तगुणे तथा सिद्धोके अनन्तभाग प्रमाण होते है ।

§ ५ वीर्यान्तराय और मतिश्रुतज्ञानावरणके सर्वघाति स्पर्धकोका उदयक्षय और आगामीका सदवस्था उपशम होनेपर तथा देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते है । देशघाति स्पर्धकोके अनुभागतारतम्यसे क्षयोपशममे भेद होता है । इसी तरह अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान भी क्षायोपशमिक होते है ।

§ ६ मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान ये तीन अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान होते है ।

§ ७ चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन अपने अपने आवरणोंके क्षयोपशमसे होते है ।

§ ८ दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ दानान्तराय आदिके क्षयोपशमसे होती है ।

अनन्तानुबन्धी चार कषाय मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्वके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम होनेपर तथा सम्यक्त्व नामक देशघाति प्रकृतिके उदयमे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है । यह वेदक भी कहलाता है । अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान रूप बारह कषायोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम होनेपर तथा चार संज्वलनोंमें से किसी एक कषाय और नव नोकषायोंका यथासंभव उदय होनेपर क्षायोपशमिक चारित्र होता है । अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानरूप आठ कषायोंका

उदयक्षय और सदवस्था उपशम, प्रत्याख्यान कषायका उदय सज्वलनके देशघाति स्पर्धक और यथासभव नोकषायोका उदय होनेपर विरत-अविरत परिणाम उत्पन्न करनेवाला क्षायोपशमिक सयमासयम होता है ।

§ ९ क्षायोपशमिक सज्ञित्व भाव नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेके कारण मतिज्ञानमे अन्तर्भूत हो जाता है । सम्यङ्मिथ्यात्व यद्यपि दूध पानीकी तरह उभयात्मक है फिर भी सम्यक्त्वपना उसमे विद्यमान होनेसे सम्यक्त्वमे अन्तर्भूत हो जाता है । योगका वीर्यलब्धिमे अन्तर्भाव हो जाता है । अथवा, च शब्दसे इन भावोका सग्रह हो जाता है । पचेन्द्रियत्व समान होनेपर भी जिसके सज्ञिजाति नामकर्मके उदयके साथ ही नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशम होता है वही सज्ञी होता है, अन्य नही ।

औदयिक भाव–

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

चार गति, चार कषाय, तीन लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम, असिद्धत्व और छह लेश्याएँ ये इक्कीस औदयिक भाव है ।

§ १ जिस कर्मके उदयसे आत्मा नारक आदि भावोको प्राप्त हो वह गति है । नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ होती है ।

§ २ कषाय नामक चारित्रमोहके उदयसे होनेवाली क्रोधादिरूप कलुषता कषाय कहलाती है । यह आत्माके स्वाभाविक रूपको कष् देती है अर्थात् उसकी हिसा करती है । क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाएँ होती है ।

§ ३ द्रव्य और भावके भेदसे लिग दो प्रकार का है । चूंकि आत्मभावोका प्रकरण है, अतः नामकर्मके उदयसे होनेवाले द्रव्यलिगकी यहाँ विवक्षा नही है । स्त्रीवेदके उदयसे होनेवाली पुरुषाभिलाषा स्त्रीवेद है, पुरुषवेदके उदयसे होनेवाली स्त्री-अभिलाषा पुरुषवेद और नपुसकवेदके उदयसे होनेवाली उभयाभिलाषा नपुसकवेद है ।

§ ४ दर्शनमोहके उदयसे तत्त्वार्थमे अरुचि या अश्रद्धान मिथ्यात्व कहलाता है ।

§ ५ जिस प्रकार प्रकाशमान सूर्यका तेज सघन मेघो द्वारा तिरोहित हो जाता है उसी तरह ज्ञानावरणके उदयसे ज्ञानस्वरूप आत्माके ज्ञान गुणकी अनभिव्यक्ति अज्ञान है । एकेन्द्रियके रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्रेन्द्रियावरणके सर्वघाति स्पर्धकोका उदय होनेसे रसादिका अज्ञान रहता है । तोता मैना आदिके सिवाय पचेन्द्रिय तिर्यञ्चोमे तथा कुछ मनुष्योंमे अक्षर श्रुतावरणके सर्वघाति स्पर्धकोका उदय होनेसे अक्षर श्रुतज्ञान नही हो पाता । नोइन्द्रियावरणके उदयसे होनेवाला असज्ञित्व अज्ञानमे ही अन्तर्भूत है । इसी तरह अवधि ज्ञानावरणादिके उदयसे होनेवाले यावत् अज्ञान औदयिक है ।

§ ६ चारित्रमोहके उदयसे होनेवाली हिसादि और इन्द्रिय विषयोंमे प्रवृत्ति असंयम है ।

§ ७ अनादि कर्मबद्ध आत्माके सामान्यतः सभी कर्मोंके उदयसे असिद्ध पर्याय होती है । दसवे गुणस्थान तक आठों कर्मोंके उदयसे, ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थानमे

मोहनीयके सिवाय सात कर्मो के उदयसे और सयोगी तथा अयोगीमे चार अघातिया कर्मो के उदयसे असिद्धत्व भाव होता है ।

§ ८ कषायके उदयसे अनुरजित योगप्रवृत्ति लेश्या है । द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे होती है अत. आत्मभावोके प्रकरणमे उसका ग्रहण नही किया है । यद्यपि योगप्रवृत्ति आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप होनेसे क्षायोपशमिक वीर्यलब्धिमे अन्तर्भूत हो जाती है और कषाय औदयिक होती है फिर भी कषायोदयके तीव्र मन्द आदि तारतम्यसे अनुरंजित लेश्या पृथक् ही है । आत्मपरिणामोके अशुद्धि तारतम्यकी अपेक्षा लेश्याके कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल ये छह भेद हो जाते है ।

यद्यपि उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानोमे कषायका उदय नही है फिर भी वहा भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा शुक्ल लेश्या उपचारसे कही है । 'जो योगप्रवृत्ति पहिले कषायानुरजित थी वही यह है' इस तरह एकत्व उपचारका निमित्त होता है । चूँकि अयोगीमे योगप्रवृत्ति भी नहीं है अत वे अलेश्य कहे जाते है ।

§ ९–११ मिथ्यादर्शनमे दर्शनावरणके उदयसे होनेवाले अदर्शनका अन्तर्भाव हो जाता है । यद्यपि मिथ्यादर्शन तत्त्वार्थश्रद्धान रूप है फिर भी अदर्शन सामान्यमे दर्शनाभाव रूपसे दोनो प्रकारके दर्शनोका अभाव ले लिया जाता है । लिगके सहचारी हास्य रति आदि छह नोकषाय लिगमे ही अन्तर्भूत हो जाते है । गति अघातिकर्मोदयका उपलक्षण है, इससे नाम कर्म वेदनीय आयु और गोत्रकर्मके उदयसे होनेवाले यावत् जीवविपाकी भाव गृहीत हो जाते है । सूत्रमे 'यथाक्रम' का अनुवर्तन करके गति आदिका चार आदिके साथ क्रमश सम्बन्ध कर लेना चाहिये ।

पारिणामिक भाव–

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन अन्य द्रव्यमे न पाए जानेवाले आत्माके पारिणामिक भाव है ।

§ १–२ कर्मके उदय उपशम क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेवाले मात्र द्रव्यकी स्वभावभूत अनादि पारिणामिकी शक्तिसे ही आविर्भूत ये भाव पारिणामिक है ।

§ ३–६ यदि आयु नामक कर्म पुद्गलके सम्बन्धसे जीवत्व माना जाय तो उस कर्म पुद्गलका सम्बन्ध तो धर्म अधर्म आदि द्रव्योसे भी है अत उनमे भी जीवत्व होना चाहिए और सिद्धोमे कर्म सम्बन्ध न होनेसे जीवत्वका अभाव हो जाना चाहिए, अत. अनादि पारिणामिक जीवद्रव्यका निज परिणाम ही जीवत्व है । 'जीवति अजीवीत् जीविष्यति' यह प्राणधारणकी अपेक्षा जो व्युत्पत्ति है वह केवल व्युत्पत्ति है उससे कोई सिद्धान्त फलित नही होता जैसे कि 'गच्छतीति गौ.' से मात्र गोशब्दकी व्युत्पत्ति ही होती है न कि गौका लक्षण आदि । जीवका वास्तविक अर्थ तो चैतन्य ही है और वह अनादि पारिणामिक द्रव्य निमित्तक है ।

§ ७–९ सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र पर्याय जिसकी प्रकट होगी वह भव्य है और जिसके प्रकट न होगी वह अभव्य । द्रव्यकी शक्तिसे ही यह भेद है । उस भव्यको जो अनन्तकालमें भी सिद्ध नही होगा, अभव्य नही कह सकते, क्योकि उसमे भव्यत्वशक्ति

है। जैसे कि उस कनक पाषाणको जो कभी भी सोना नही बनेगा अन्धपाषाण नही कह सकते अथवा उस आगामी कालको जो अनन्तकालमे भी नही आयगा अनागामी नही कह सकते उसी तरह सिद्धि न होनेपर भी भव्यत्वशक्ति होनेके कारण उसे अभव्य नही कह सकते। वह भव्यराशिमे ही शामिल है।

§ १० **प्रश्न**–द्वन्द्व समासके बाद भावार्थक 'त्व' प्रत्यय करनेपर चूंकि भाव एक है अतः एकवचन प्रयोग होना चाहिए? **उत्तर**–द्रव्य भेदसे भाव भी भिन्न हो जाता है अत. भेद विवक्षामे बहुवचन किया गया है। 'त्व' का प्रत्येकसे सम्बन्ध कर लेना चाहिए–जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व।

§ ११ आगममे सासादन गुणस्थानमे दर्शन मोहके उदय उपशम क्षय या क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेके कारण जो पारिणामिक भाव बताया है वह सापेक्ष है। वस्तुत. वहां अनन्तानुबन्धिका उदय होनेसे औदयिक भाव ही है। अत उसका यहां ग्रहण नही किया है।

§ १२–१३ अस्तित्व अन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व पर्यायवत्त्व असर्वगतत्व अनादि-सन्ततिबन्धनबद्धत्व प्रदेशवत्त्व अरूपत्व नित्यत्व आदिके समुच्चयके लिए सूत्रमे 'च' शब्द दिया है। चूंकि ये भाव अन्य द्रव्योमे भी पाए जाते है अत. असाधारण पारिणामिक जीव-भावोके निर्देशक इस सूत्रमे इनका ग्रहण नही किया है, यद्यपि ये सभी भाव कर्मके उदय उपशम क्षय क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेके कारण पारिणामिक है। अस्तित्व छहो द्रव्योंमे पाया जाता है अत. साधारण है। एक द्रव्य दूसरेसे भिन्न होता है, अत अन्यत्व भी सर्वद्रव्यसाधारण है। स्वकार्यका कर्तृत्व भी सभी द्रव्योमे ही है। धर्म अधर्म आदिमे भी 'अस्ति' आदि क्रियाओका कर्तृत्व है ही। आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप योग क्षायोपशमिक है। जीवका पुण्य पाप सम्बन्धी कर्तृत्व कर्मके उदय और क्षयोपशमके अधीन होनेसे पारिणामिक नही है। मिथ्यादर्शन दर्शनमोहके उदयसे, अविरति प्रमाद और कषाय चारित्र मोहके उदयसे और योग वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होते है। चैतन्य होनेके कारण ही यदि पुण्य पापका कर्तृत्व जीवका असाधारण धर्म माना जाय तो मुक्त जीवोमे भी पुण्यपापका कर्तृत्व मानना होगा। अत कर्तृत्व सर्वद्रव्यसाधारण धर्म है। एक प्रकृष्ट शक्तिवाले द्रव्यके द्वारा दूसरे द्रव्यकी सामर्थ्यको ग्रहण करना भोक्तृत्व कहलाता है। जैसे कि आत्मा आहारादिद्रव्यकी शक्तिको खीचनेके कारण भोक्ता कहा जाता है। ऐसा भोक्तृत्व सर्वसाधारण ही है। विष द्रव्य अपनी तीव्र शक्तिसे कोदो आदिकी शक्तिको खीच लेता है अत. वह उसका भोक्ता ह। नमककी झील लकडी पत्थर आदिको नमक बना देती है अत वह उनकी भोक्त्री है। पदार्थोंकी तत्तत् प्रतिनियत शक्तियोंके कारण द्रव्योमे परस्पर भोक्तृभोग्यभाव होता है। वीर्यान्तरायके क्षयोपशम अङ्गोपाङ्ग नाम कर्मका उदय आदि कारणोंसे शुभ-अशुभ कर्मपुद्गलके फल भोगनेकी शक्ति आत्मामे आती है। आहारादिके भोगनेकी शक्ति भोगान्तरायके क्षयोपशमसे और उसको पचानेकी शक्ति वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होती है।

पर्यायवत्त्व भी सभी द्रव्योमे पाया जाता है। आकाशको छोड़कर परमाणु आदि सभी द्रव्योंमे असर्वगतत्व धर्म पाया जाता है। जीवका स्वशरीर प्रमाण अवगाहनाको धारण करना कर्मोदयनिमित्तक होनेसे पारिणामिक नहीं है। सभी द्रव्य अपने अनादिकालीन स्व-भाव सन्ततिसे बद्ध है, सभीके अपने अपने स्वभाव अनाद्यनन्त हैं। अनादिकालीन कर्म-

बन्धनबद्धता यद्यपि जीवमें ही पाई जाती है पर वह पारिणामिक नही है किन्तु कर्मोदय-निमित्तक है। प्रदेशवत्त्व भी सर्वद्रव्यसाधारण है, सब अपने अपने नियत प्रदेशोंको रखते है। अरूपत्व भी जीव धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्योमे साधारण है। नित्यत्व भी द्रव्यदृष्टिसे सर्वद्रव्यसाधारण है। अग्नि आदि की भी ऊर्ध्वगति होती है अत ऊर्ध्वगतित्व भी साधारण है। इसी तरह आत्मामे अन्य भी साधारण पारिणामिक भाव होते है।

§ १४–१८ **प्रश्न**–गति आदि औदयिक भावोके संग्रहके लिए 'च' शब्द मानना चाहिये। **उत्तर**–गति आदि पारिणामिक नही है किन्तु कर्मोदयनिमित्तक है अत सूत्रमे पारिणामिक भाव तीन ही बताए है। क्षयोपशम भावकी तरह गति आदिको औदयिक और पारिणामिक रूपसे उभयरूप नही कह सकते, गति आदि भाव केवल औदयिक है पारिणामिक नही। यदि ये पारिणामिक होते तो जीवत्वकी तरह सिद्धोंमे भी पाए जाते। आगममे जिस प्रकार क्षय और उपशमका 'मिश्र' क्षायोपशमिक बताया है उस तरह औदयिक और पारिणामिकको मिलाकर एक अन्य 'मिश्र' नही बताया है। अत अस्तित्व आदि के समुच्चयके ही लिए 'च' शब्द दिया गया है।

§ १९–२० **प्रश्न**–अस्तित्व आदिके समुच्चयके लिए सूत्रमे 'आदि' शब्द देना चाहिये? **उत्तर**–आदि शब्द देनेसे पारिणामिक भाव 'तीन' ही नही रहेगे। च शब्दसे गौणरूप से द्योतित होनेवाले अस्तित्व आदि भावोकी सख्यासे पारिणामिक भावोंकी मुख्य तीन सख्या का व्याघात नही होता; क्योकि प्रधान और असाधारण पारिणामिक तीन ही विवक्षित है। और यदि 'आदि' शब्द दिया जाता तो आदि शब्दसे सूचित होनेवाले अस्तित्व आदिका ही प्राधान्य हो जाता, जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व तो उपलक्षक हो जानेसे गौण ही हो जाते। यदि तद्गुणसविज्ञान पक्ष भी लिया जाय तो भी दोनोकी ही समानरूपसे प्रधानता हो जायगी।

§ २१–२२ सान्निपातिक नामका कोई छठवाँ भाव नही है। यदि है भी तो वह 'मिश्र' शब्दसे गृहीत हो जाता है। 'मिश्र' शब्द केवल क्षयोपशमके लिए ही नही है किन्तु उसके पास ग्रहण किया गया 'च' शब्द सूचित करता है कि मिश्र शब्दसे क्षायोपशमिक और सान्निपातिक दोनोका ग्रहण करना चाहिए। सान्निपातिक नामका एक स्वतन्त्र भाव नही है। सयोग भगकी अपेक्षा आगममे उसका निरूपण किया गया है।

सान्निपातिक भाव २६, ३६ और ४१ आदि प्रकारके बताए है।

द्विसयोगी १०, त्रिसयोगी १०, चतु सयोगी ५ और पचसयोगी १ इस तरह २६ भाव होते है। **द्विसंयोगी**–१ औदयिक-औपशमिक– मनुष्य और उपशान्त क्रोध। २ औदयिक-क्षायिक– मनुष्य और क्षीणकषायी। ३ औदयिक-क्षायोपशमिक– मनुष्य और पचेन्द्रिय। ४ औदयिक-पारिणामिक– लोभी और जीव। ५ औपशमिक-क्षायिक– उपशान्त लोभ और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। ६ औपशमिक-क्षायोपशमिक– उपशान्तमान और मतिज्ञानी। ७ औपशमिक-पारिणामिक– उपशान्तमाया और भव्य। ८ क्षायिक-क्षायोपशमिक– क्षायिक सम्यग्दृष्टि और श्रुतज्ञानी। ९ क्षायिक-पारिणामिक– क्षीणकषाय और भव्य। १० क्षायोपशमिक-पारिणामिक– अवधिज्ञानी और जीव। इस तरह द्विसंयोगीके १० भेद होते हैं। **त्रिसंयोगी**–१ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक– मनुष्य उपशान्तमोह और क्षायिक-सम्यग्दृष्टि। २ औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक– मनुष्य उपशान्त क्रोध और वाग्योगी।

३ औदयिक-औपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य उपशान्तमोह और जीव। ४ औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक– मनुष्य क्षीणकषाय और श्रुतज्ञानी। ५ औदयिक-क्षायिक पारिणामिक– मनुष्य क्षायिकसम्यग्दृष्टि और जीव। ६ औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य मनोयोगी और जीव। ७ औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक– उपशान्तमान क्षायिकसम्यग्दृष्टि और काययोगी। ८ औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक– उपशान्तवेद क्षायिकसम्यग्दृष्टि और भव्य। ९ औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– उपशान्तमान मतिज्ञानी और जीव। १० क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– क्षीणमोह पचेन्द्रिय और भव्य।

चतुःसंयोगी–१ औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– उपशान्तलोभ क्षायिकसम्यग्दृष्टि पचेन्द्रिय और जीव। २ औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य क्षीणकषाय मतिज्ञानी और भव्य। ३ औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य उपशान्तवेद श्रुतज्ञानी और जीव। ४ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक–मनुष्य उपशान्तराग क्षायिकसम्यग्दृष्टि और जीव। ५ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक–मनुष्य उपशान्तमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि और अवधिज्ञानी।

पंचभावसंयोगी–१ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक– मनुष्य उपशान्तमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि पचेन्द्रिय और जीव। इस तरह २६ प्रकारके सान्निपातिक भाव हैं।

३६ प्रकार— दो औदयिक भाव और औदयिकका औपशमिक आदिसे सयोग करने पर ५ भग होते हैं–१ औदयिक-औदयिक– मनुष्य और क्रोधी। २ औदयिक-औपशमिक– मनुष्य और उपशान्तक्रोध। ३ औदयिक-क्षायिक–मनुष्य और क्षीणकषाय। ४ औदयिक-क्षायोपशमिक–क्रोधी और मतिज्ञानी। ५ औदयिक-पारिणामिक–मनुष्य और भव्य।

दो औपशमिक और औपशमिकका शेष चारके साथ संयोग करनेपर पाच भग होते हैं–१ औपशमिक-औपशमिक– उपशमसम्यग्दृष्टि और उपशान्तकषाय। २ औपशमिक-औदयिक–उपशान्तकषाय और मनुष्य। ३ औपशमिक-क्षायिक–उपशान्तक्रोध और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। ४ औपशमिक-क्षायोपशमिक–उपशान्तकषाय और अवधिज्ञानी ५ औपशमिक पारिणामिक–उपशमसम्यग्दृष्टि और जीव।

दो क्षायिक और क्षायिकका औपशमिक आदिसे मेल करनेपर पाच भग होते हैं— १ क्षायिक-क्षायिक– क्षायिकसम्यग्दृष्टि और क्षीणकषाय। २ क्षायिक-औदयिक–क्षीणकषाय और मनुष्य। ३ क्षायिक-औपशमिक–क्षायिकसम्यग्दृष्टि और उपशान्तवेद। ४ क्षायिक-क्षायोपशमिक–क्षीणकषाय और मतिज्ञानी। ५ क्षायिक पारिणामिक–क्षीणमोह और भव्य।

दो क्षायोपशमिक और क्षायोपशमिकका शेषके साथ मेल करनेपर पाच भग होते हैं। क्षायोपशमिक-क्षायोपशमिक– संयत और अवधिज्ञानी। २ क्षायोपशमिक-औदयिक– सयत और मनुष्य। ३ क्षायोपशमिक-औपशमिक– सयत और उपशान्तकषाय। ४ क्षायोपशमिक-क्षायिक–सयतासयत और क्षायिकसम्यग्दृष्टि। ५ क्षायोपशमिक-पारिणामिक–अप्रमत्तसंयत और जीव।

दो पारिणामिक और पारिणामिकका शेषके साथ मेल करनेपर पांच भंग होते हैं–१ पारिणामिक-पारिणामिक–जीव और भव्य। २ पारिणामिक-औदयिक–जीव और

क्रोधी। ३ पारिणामिक-औपशमिक-भव्य और उपशान्तकषाय। ४ पारिणामिक-क्षायिक-भव्य और क्षीणकषाय। ५ पारिणामिक-क्षायोपशमिक-सयत और भव्य। इस तरह द्विभाव-संयोगी २५ त्रिभाव सयोगी १० और पचभावसयोगी १ मिलकर कुल ३६ भग हो जाते है। इन्ही छत्तीसमे चतुर्भावसयोगी ५ भग मिलानेपर ४१ प्रकारके भी सान्निपातिक भाव होते है।

§ २३ यद्यपि औपशमिक क्षायिक औदयिक आदि भाव पुद्गल कर्मो के उदय उपशम निर्जरा आदिकी अपेक्षा रखते है, फिर भी वे आत्माके ही परिणाम है। आत्मा ही कर्मनिमित्तसे उन उन परिणामोंको प्राप्त करता है, और इसीलिए इन परिणामोको आत्माका असाधारण स्वतत्त्व कहा है। कहा भी है–"जिस समय जो द्रव्य जिस रूपसे परिणत होता है उस समय वह तन्मय हो जाता है। इसलिए धर्मपरिणत आत्मा धर्म कहा जाता है।"

§ २४–२७ **प्रश्न**–चूंकि आत्मा अमूर्त है अत' उसका कर्मपुद्गलोसे अभिभव नही होना चाहिए? **उत्तर**–अनादि कर्मबन्धनके कारण उसमे विशेष शक्ति आ जाती है। अनादि पारिणामिक चैतन्यवान् आत्माकी नारकादि मतिज्ञानादि रूप पर्यायें भी चेतन ही है। वह अनादि कार्मण शरीरके कारण मूर्तिमान् हो रहा है और इसीलिए उस पर्याय सम्बन्धी शक्तिके कारण मूर्तिक कर्मो को ग्रहण करता है। आत्मा कर्मबद्ध होनेसे कथञ्चित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभावको न छोडनेके कारण अमूर्तिक है। जिस प्रकार मदिराको पीकर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है, उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है उसी तरह कर्मोदयसे आत्माके स्वाभाविक ज्ञानादि गुण अभिभूत हो जाते है। मदिराके द्वारा इन्द्रियो मे विभ्रम या मूर्च्छा आदि मानना ठीक नही है, क्योकि जब इन्द्रियाँ अचेतन है तो अचेतनमे बेहोशी आ नही सकती अन्यथा जिस पात्रमे मदिरा रखी है उसे ही मूर्छित हो जाना चाहिए। यदि इन्द्रियोंमे चैतन्य है तो यह सिद्ध हो जाता है कि बेहोशी चेतनमे होती है न कि अचेतन मे।

पूर्वपक्ष–(चार्वाक)–जिस प्रकार महुआ गुड़ आदिके सडाने पर उनमे मादकता प्रकट हो जाती है उसी तरह पृथिवी जल आदि भूतोका विशेष रासायनिक मिश्रण होनेपर सुखदु खादिरूप चैतन्य प्रकट हो जाता है, कोई स्वतन्त्र अमूर्त चैतन्य नही है।

उत्तरपक्ष (जैन)–सुखादिकसे रूपादिकमे विलक्षणता है। रूपरसादि पृथिवी आदि के गुण जब पृथिवी आदिको विभक्त कर देते है तब कम हो जाते है और जब पृथिवी आदि अविभक्त रहते है तब अधिक देखे जाते है। ऐसे ही शरीरके अवयवोंके विभक्त या अविभक्त कहने पर सुख ज्ञानादि गुणोमे न्यूनाधिकता नही देखी जाती। यदि सुखादि पृथिवी आदिके गुण हो तो मृत शरीरमे वे गुण रूपादि गुणोकी तरह अवश्य मिलने चाहिए। यह तर्क तो उचित नही है कि–'मृत शरीरसे कुछ सूक्ष्म भूत निकल गए है, अत. ज्ञानादि नही मिलते', क्योकि बहुतसे स्थूल भूत जब मिलते है तो ज्ञानादि गुणोका अभाव नहीं होना चाहिए। यदि सूक्ष्म भूतोंके निकल जानेसे वे गुण मृत शरीरमें नही रहे तो वे गुण उन सूक्ष्म भूतोके ही माने जाने चाहिए न कि समुदाय प्राप्त सभी भूतोके। ऐसी दशामे मदिराका दृष्टान्त समुचित नही होगा क्योकि मदिरामे तो कण-कणमें मादकता

व्याप्त रहती है। फिर उन सूक्ष्म भूतोकी सिद्धि कैसे की जायगी ? यदि ज्ञानादिके द्वारा, तो ज्ञानादिसे आत्मा की ही सिद्धि मान लेनी चाहिए।

जिन इन्द्रियोमे शराबके द्वारा बेहोशी मानते है वे इन्द्रियां यदि बाह्य करण है तो अचेतन होनेके कारण उनपर मदिराका कोई असर नही होना चाहिए। यदि अन्त.करण होकर वे अचेतन है तो इनमे भी वेहोशी नही आ सकती। यदि चेतन है, तो यह मानना होगा कि ज्ञानरूप होनेसे ही इनपर मदिराका असर हुआ। ऐसी दशामे अमूर्त होनेसे अभिभव नही हो सकता' यह पक्ष स्वत खडित हो जाता है।

यद्यपि आत्मा अनादिसे कर्मबद्ध है फिर भी उसका अपने ज्ञानादि गुणोंके कारण स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। कहा भी है–

"बन्धकी दृष्टिसे आत्मा और कर्ममे एकत्व होनेपर भी लक्षणकी दृष्टिसे दोनोमे भिन्नता है। अत आत्मामे एकान्तसे अमूर्तिकपना नही है।"

जीवका लक्षण–

उपयोगो लक्खणम् ॥८॥

उपयोग जीवका लक्षण है।

§ १ दो प्रकारके बाह्य तथा दो प्रकारके आभ्यन्तर हेतुओका यथासभव सन्निधान होनेपर आत्माके चैतन्यान्वयी परिणमनको उपयोग कहते है। बाह्य हेतु आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकारके है। आत्मासे सम्बद्ध शरीरमे निर्मित चक्षु आदि इन्द्रियां आत्मभूत बाह्य हेतु है और प्रदीप आदि अनात्मभूत बाह्य हेतु। मन वचन कायकी वर्गणाओके निमित्तसे होनेवाला आत्मप्रदेश परिस्पन्दन रूप द्रव्ययोग अन्त प्रविष्ट होनेसे आभ्यन्तर अनात्मभूत हेतु है तथा द्रव्ययोगनिमित्तक ज्ञानादिरूप भावयोग तथा आत्माकी विशुद्धि आभ्यन्तर आत्मभूत हेतु है। इन हेतुओका यथासंभव ही सन्निधान होता है। मनुष्योंको दीपककी आवश्यकता होती है, पर रात्रिचर बिल्ली आदिको नही। इन्द्रिया भी एकेन्द्रियादिके यथायोग्य ही रहती है। असज्ञी जीवोंके मन नही होता है। एकेन्द्रिय, विग्रहगतिप्राप्त जीव और समुद्घातगत सयोगकेवलीके एक काययोग ही होता है। क्षीणकषाय तक क्षयोपशमानुसार तन्निमित्तक एक ही भावयोग होता है। आगे ज्ञानावरणादिका क्षय होता है। इस तरह विभिन्न जीवोके उपयोगके कारण भिन्न-भिन्न होते है। चैतन्य केवल सुख दु ख मोह रूप ही नही है जिससे ज्ञानदर्शनको चैतन्य कहनेसे पूर्वापर विरोध हो। चैतन्य आत्माका सामान्य असाधारण धर्म है। वह सुख दु खादि रूप भी होता है और ज्ञान दर्शनादि रूप भी। 'समुदायवाची शब्दोका प्रयोग अवयवोमे भी हो जाता है' इस न्यायके अनुसार सुखदु खादिको चैतन्य कह दिया गया है।

§ २–३ परस्पर सम्मिलित वस्तुओसे जिसके द्वारा किसी वस्तुका पृथक्करण हो वह उसका लक्षण होता है। जैसे सोना और चांदीकी मिली हुई डलीमे पीला रग और वजन सोनेका भेदक होता है उसी तरह शरीर और आत्मामे बधकी दृष्टिसे परस्पर एकत्व होनेपर भी ज्ञानादि उपयोग उसके भेदक आत्मभूत लक्षण होते है। लक्षण आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकार का है। अग्निकी उष्णता आत्मभूत लक्षण है और दण्डी पुरुषका भेदक दड अनात्मभूत है।

§ ४ गुणी आत्मा और ज्ञानादि गुणमे सर्वथा भेद मानना उचित नही है। क्योकि यदि आत्मा ज्ञानादि स्वभाव न हो तो उसका निश्चायक कोई स्वभाव न होनेसे अभाव हो जायगा और इसी तरह ज्ञानादिका भी निराश्रय होनेसे सद्भाव सिद्ध नही हो सकेगा।

§ ५–६ **प्रश्न**–गुणी लक्ष्य है और गुण लक्षण है। लक्ष्य और लक्षण तो जुदे जुदे होते है। अत. आत्मा और ज्ञानमे भेद मानना चाहिए? **उत्तर**–यदि लक्ष्य और लक्षणमे सर्वथा भेद माना जाय तो अनवस्था हो जायगी क्योकि लक्षणका परिचायक अन्य लक्षण मानना होगा उसका भी परिचायक अन्य। यदि लक्षणका परिचायक अन्य लक्षण नही माना जाता है तो लक्षणशून्य होनेसे उसका मण्डूक शिखण्डकी तरह अभाव हो जायगा। लक्ष्य और लक्षणमे कथञ्चित् भेद माननेसे लक्षणके पृथक् लक्षणकी आवश्यकता नही रहती उसका साधारणलक्षण 'तल्लक्ष्यमे रहनेवाला' यह बन जाता है। लक्ष्य और लक्षण पृथक् उपलब्ध न होनेसे अभिन्न होकर भी सज्ञा सख्या गुण-गुणी आदिके भेदसे भिन्न भी होते है।

§ ७–१२ **प्रश्न**–जैसे दूधका दूध रूपसे ही परिणमन नही होता किन्तु दही रूपसे, उसी तरह ज्ञानात्मक आत्माका ज्ञानरूपसे परिणमन नही हो सकेगा। अत. जीवके ज्ञानादि उपयोग नही होना चाहिए। यदि आप यह कहे कि आत्माका ज्ञानरूपसे तो उपयोग होगा दूधका दूध रूपसे नही तो हम भी यह कह सकते है कि दूधका दूध रूपसे उपयोग हो, पर आत्माका ज्ञान रूपसे न हो। यह पक्ष आपके लिए अनिष्ट है। **उत्तर**–चूँकि आत्मा और ज्ञानमे अभेद है इसीलिए उसका ज्ञानरूपसे उपयोग होता है। आकाशका सर्वथा भिन्न रूपादिक रूपसे उपयोग नही देखा जाता। जिस प्रकार गायके उदरमे दूध बननेके योग्य तृणजलादि द्रव्योका दूध रूपसे परिणमन होता है। वे तृणादि द्रव्यदृष्टिसे दूध पर्यायके सम्मुख होनेसे दूध कहे जाते है और आगे वे ही दूध पर्यायको धारण करते है उसी तरह ज्ञानपर्यायके अभिमुख जीव भी ज्ञानव्यपदेशको प्राप्त करके स्वयं घटपटादि-विषयक अवग्रहादि ज्ञान पर्यायको धारण करता है अतः द्रव्यदृष्टिसे उसका ही उसी रूपसे परिणमन सिद्ध होता है। जो जिस रूप नही उसका उस रूपसे परिणमन माननेमे अतिप्रसङ्ग दोष आता है। देखिए आपके वचन स्वपक्ष साधन और परपक्षदूषणरूप है। उनका स्वपक्ष साधन और परपक्षदूषणरूपसे ही परिणमन होता है। जैसे आप दूधका दही रूप अन्यथापरिणमन ही मानते हो दूधरूप नही उसी तरह अपने वचनोका भी स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषणरूपसे परिणमन नही होकर अन्यथा ही परिणमन मानना होगा। आप स्वय रूपाद्यात्मक पृथिवी आदि महाभूतोका रूपादिक रूपसे ही परिणमन मानते ही है। यदि अन्यथा परिणमन मानोगे तो स्वसिद्धान्तविरोध होगा। जिसके मतमे सदा आत्मा ज्ञानात्मक ही रहता है उसके मतमे आत्माका ज्ञानरूपसे परिणमन तो कहा नही जा सकता क्योकि उस रूपसे वह स्वय परिणत है ही। जैन मतमे आत्मा कभी ज्ञानरूपसे, कभी दर्शनरूपसे और कभी सुखादिरूपसे परिणमन करता रहता है। अत कभी ज्ञानात्मकका ज्ञानात्मक भी परिणमन होता है तथा कभी दर्शनात्मक आदि रूप भी। यदि सर्वथा किसी एक रूपसे आत्माका परिणमन माना जाय तो फिर उस पर्यायका कभी विराम नही हो सकेगा। यदि हुआ तो आत्माका ही अभाव हो जायगा। तदात्मकका ही तद्रूप परिणमन देखा जाता है। देखो, गायके स्तनोंसे निकला हुआ

दूध गरम ठडा मीठा गाढा आदि अनेक पर्यायोको धारण करके भी दूध तो रहता ही है। इन अवस्थाओंमें दूधका दूध रूपसे ही परिणमन होता है। इसी तरह आत्माका भी उपयोग रूपसे ही परिणमन होता रहता है। यदि तत्का तदात्मक परिणमन न माना जाय तो वस्तु परिणामशून्य ही हो जायगी, क्योकि अन्यथा परिणमन मानने पर सर्वपदार्थसाकर्य दूषण होता है, जो कि अनिष्ट है। अत परिणामशून्यता और अन्यथापरिणमनके दूषणोसे बचनेके लिए वस्तुमे तत्का तदात्मक ही परिणमन स्वीकार करना होगा।

§ १३–१५ **प्रश्न**–चूंकि आत्माके कोई उत्पादक कारण आदि नही है अत मण्डूक शिखण्डकी तरह उसका अभाव ही है। अतः लक्ष्यभूत आत्माके अभावमे उपयोग आत्माका लक्षण नही हो सकता। आत्माका सद्भाव सिद्ध हो भी तो भी उपयोग चूंकि अस्थिर है अत. वह आत्माका लक्षण नही हो सकता। अस्थिर पदार्थको लक्षण बनानेपर वही दशा होगी जैसे किसीने देवदत्तके घरकी पहिचान बताई कि 'जिसपर कौआ बैठा है वह देवदत्तका घर है' सो जब कौआ उड जाता है तो देवदत्तके घरकी पहिचान समाप्त हो जाती है और लक्षणके अभावमे लक्ष्यके अवधारणका कोई उपाय ही नही बच पाता।

§ १६–१८ **उत्तर**–'अकारणत्वात्' हेतुसे आत्माका लोप करना उचित नही है, क्योकि आत्मा नर नारकादि पर्यायोसे पृथक् तो मिलता नही है और ये पर्याये मिथ्यादर्शन आदि कारणोसे होती है अत अकारणत्व हेतु असिद्ध है। पर्यायोको छोडकर पृथक् आत्मद्रव्यकी सत्ता न होनेसे आश्रयासिद्ध भी है। जितने घटादि सत् है वे स्वभावसे ही सत् है न कि किसी कारणविशेषसे। जो सत् है,वह तो अकारण ही होता है। मण्डूकशिखण्ड भी 'नास्ति' इस प्रत्ययका होनेसे 'सत्' तो है पर इसके उत्पादक कारण नही है अत यह हेतु अनैकान्तिक भी है। मण्डूक शिखण्ड दृष्टान्त भी साध्यसाधन उभयधर्मोसे विकल होनेके कारण दृष्टान्ताभास है। क्योकि उसके भी किसी अपेक्षासे कारण बन जाते है और वह 'सत्' भी सिद्ध हो जाता है। यथा–कोई जीव मेढक था और वही जीव जब युवतीकी पर्यायको धारण करता है तो भूतपूर्वनयकी अपेक्षा उस युवतीको भी हम मेंढक कह ही सकते है और उसके युवतिपर्यायापन्न मडूकके शिखा होनेसे मडूकशिखण्ड व्यवहार हो सकता है। पुद्गलद्रव्यकी पर्यायोंका कोई नियम नही है अत. युवतीके द्वारा उपभुक्त भोजन आदि पुद्गल द्रव्योंका शिखण्डक रूपसे परिणमन होनेके कारण सकारणता भी बन जाती है। इसी तरह आकाशकुसुम भी अपेक्षासे बन जाता है। वनस्पतिनामकर्मका जिस जीवके उदय है वह जीव और पुद्गलका समुदाय पुष्प कहा जाता है। जिस प्रकार वृक्षके द्वारा व्याप्त होनेसे वह पुष्प पुद्गल वृक्षका कहा जाता है उसी तरह आकाशके द्वारा व्याप्त होनेके कारण आकाशका क्यों न कहा जाय ? वृक्षके द्वारा उपकृत होनेके कारण यदि वह वृक्षका कहा जाता है तो आकाशकृत अवगाहनरूप उपकारकी अपेक्षा उसे आकाशका भी कहना चाहिए। वृक्षसे टूटकर फूल गिर भी जाय पर आकाशसे तो कभी भी दूर नही हो सकता, सदा आकाशमे ही रहता है। अथवा मण्डूकशिखण्डविषयक ज्ञानका विषय होनेसे भी मडूक शिखडका सद्भाव सिद्ध मानना चाहिए।

इसी तरह 'अप्रत्यक्ष' हेतुके द्वारा आत्माका अभाव करना भी उचित नही हैं, क्योंकि शुद्ध आत्मा केवलज्ञानके प्रत्यक्ष होता है तथा अशुद्ध कार्मणशरीरसयुक्त आत्मा अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञानके द्वारा। इन्द्रिय प्रत्यक्षकी दृष्टिसे तो आत्मा

परोक्ष ही माना जाता है। घटादि परोक्ष है क्योकि वे अग्राहकनिमित्तसे ग्राह्य होते हैं जैसे कि धूमसे अनुमित अग्नि। इन्द्रियाँ अग्राहक है क्योकि उनके नष्ट हो जानेपर भी स्मृति देखी जाती है। जैसे खिडकीके नष्ट हो जानेपर भी उसके द्वारा देखनेवाला कायम रहता है उसी तरह इन्द्रियोसे देखनेवाला ग्राहक आत्मा स्थिर है। अतः अग्राहकनिमित्तसे ग्राह्य होनेके कारण इन्द्रियग्राह्य पदार्थ परोक्ष ही है। अप्रत्यक्ष शब्दको यदि पर्युदासरूप लिया जाता है तो प्रत्यक्षसे भिन्न अप्रत्यक्ष वस्त्वन्तर सिद्ध होता है। यदि प्रसज्यपक्ष लेते है तो प्रतिषेध्यका क्वचित् सद्भावसिद्ध होनेपर ही प्रतिषेध किया जाता है अत कथञ्चित् सत्ता सिद्ध होनेसे हेतु असिद्ध हो जाता है। असत् खरविषाण आदि अप्रत्यक्ष है तथा विद्यमान ज्ञान आदि भी अप्रत्यक्ष है अत· यह हेतु अनैकान्तिक है। यदि ज्ञानको स्वप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष होनेसे प्रत्यक्ष मानते हो तो आत्माको ही इस तरह प्रत्यक्ष माननेमे क्या बाधा है ?

जितने भी पदार्थ शब्दगोचर है वे सब विधिनिषेधात्मक है। कोई भी वस्तु सर्वथा निषेधगम्य नही होती। जैसे कुरवक पुष्प लाल और सफेद दोनो रगोका नही होता, तो इसका यह अर्थ कदापि नही है कि वह वर्णशून्य है। इसी तरह परकी अपेक्षासे वस्तुमे नास्तित्व होने पर भी स्वदृष्टिसे उसका अस्तित्व प्रसिद्ध ही है। कहा भी है कथञ्चित् असत्की भी उपलब्धि और अस्तित्व है तथा कथञ्चित् सत्की भी अनुपलब्धि और नास्तित्व। यदि सर्वथा अस्ति और उपलब्धि मानी जाय तो घटकी पटादि रूपसे भी उपलब्धि होनेसे सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायँगे और यदि पररूपकी तरह स्वरूपसे भी असत्त्व माना जाय अर्थात् सर्वथा असत्त्व माना जाय तो पदार्थका ही अभाव हो जायगा, वह शब्दका विषय ही नही हो सकेगा। अत नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वसे शून्य जो होगा वह अवस्तु ही होगा। इस तरह जब धर्मी ही अप्रसिद्ध हो जाता है तब अनुमान नही बन सकेगा।

§ १९–२० इन्द्रियो और तज्जनित ज्ञानोमे नही पाया जानेवाला 'जो मै देखनेवाला था वही चखनेवाला हूँ' यह एकत्व-विषयक फल, सभी इन्द्रिय द्वारोसे जाननेवाले तथा सभी ज्ञानोमे परस्पर एकसूत्रता कायम रखनेवाले गृहीता आत्माका सद्भाव सिद्ध करता है। 'आत्मा है' यह ज्ञान यदि संशय रूप है तो भी आत्माकी सत्ता सिद्ध होती है, क्योकि अवस्तुका सशय नही होता। इसी तरह 'आत्मा है' इस ज्ञानको अनादिकालसे प्रत्येक व्यक्ति आत्माका अनुभव करता है अत अनध्यवसाय भी नही कह सकते। यदि इसे विपरीत ज्ञान कहते है तब भी आत्माकी क्वचित् सत्ता सिद्ध हो ही जाती है क्योकि अप्रसिद्ध पदार्थका विपर्यय ज्ञान नही होता। तात्पर्य यह कि 'आत्मा है' यह ज्ञान किसी भी रूपमे आत्माके अस्तित्वका ही साधक है। सम्यक् रूपमे तो आत्मसाधक है ही।

§ २१ बौद्धका यह पक्ष भी ठीक नही है कि अनेकज्ञानक्षणोंकी एक सन्तान है, इसीसे उक्त प्रत्यभिज्ञान आदि हो जाते है, क्योकि उनके मतसे सन्तान सवृतिसत् अर्थात् काल्पनिक है वास्तविक नही। यदि इस अनेक क्षणवर्ती सन्तानको वस्तु मानते है तो आत्मा और सन्तानमे नाममात्रका ही अन्तर रहा–पदार्थका नही, क्योकि अनेक ज्ञानादिपर्यायोंमें अनुस्यूत द्रव्यको ही आत्मा कहते है।

§ २२–२३ यह शका भी ठीक नहीं है कि उपयोग अस्थिर है अतः वह आत्माका

लक्षण नहीं हो सकता; क्योंकि एक उपयोग क्षणके नष्ट हो जानेपर भी दूसरा उसका स्थान ले लेता है, कभी भी उपयोगकी धारा टूटती नही है। पर्याय दृष्टिसे अमुक पदार्थ-विषयक उपयोगका नाश होनेपर भी द्रव्यदृष्टिसे उपयोग सामान्य बना ही रहता है। यदि उपयोगका सर्वथा विनाश माना जाय तो उत्तर कालमे स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि नहीं हो सकेंगे क्योकि स्मरण स्वय अनुभूत पदार्थका स्वयको ही होता है अन्यके द्वारा अनुभूतका अन्यको नही। स्मरणके अभावमे समस्त लोकव्यवहारका लोप ही हो जायगा।

§ २४ उपयोगको पृथक् गुण मानकर उसके सम्बन्धको लक्षण कहना उचित नहीं है, क्योकि यदि ज्ञानादि उपयोगको आत्मासे पृथक् माना जाता है तो उसका 'आत्मासे ही सम्बन्ध हो अन्यसे नही' यह नियम नही बन सकेगा। अत. उपयोगको आत्मभूत लक्षण मानना ही उचित है। दड तो अनात्मभूत है। अत वह पृथक् रहकर भी सम्बन्धसे लक्षण बन सकता है।

उपयोगके भेद—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

आठ प्रकारका ज्ञान और चार प्रकारका दर्शन, इस प्रकार उपयोग दो प्रकारका है।

§ १—२ साकार और अनाकार दो प्रकारका उपयोग है। ज्ञान साकार होता ह तथा दर्शन निराकार।

यद्यपि दर्शन पूर्वकालभावी है फिर भी विशेष ग्राहक होनेके कारण पूज्य होनेसे ज्ञानका ग्रहण पहिले किया है।

§ ३ ज्ञानकी सख्या आठ पहिले लिखी गई है अत ज्ञानकी पूज्यता सिद्ध होती है। इसी तरह 'छोटी सख्याका पहिले ग्रहण करना चाहिए' इस व्याकरणके सामान्य नियमके रहते हुए भी 'पूज्यका प्रथम ग्रहण होता है' इस विशेष नियमके अनुसार ज्ञानकी आठ सख्याका प्रथम ग्रहण किया गया है। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभङ्गावधिज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ये उपयोग निरावरण केवलीमे युगपत् होते है तथा छद्मस्थोके क्रमश।

जीवोंके भेद—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

ससारी और मुक्तके भेदसे जीव दो प्रकार के है।

§ १—२ अपने किए कर्मो से स्वयं पर्यायान्तरको प्राप्त होना ससार ह। आत्मा स्वय कर्मोंका कर्त्ता है और उनके फलोंका भोक्ता। साख्यका यह मत कि—'प्रकृति कर्त्री है और पुरुष फल भोगता है' नितान्त असङ्गत है, क्योकि अचेतन प्रकृतिमे घटादिकी तरह पुण्यपापकी कर्तृता नहीं आ सकती। यदि अन्यकृत कर्मोंका फल अन्यको भोगना पड़े तो मुक्ति नहीं हो सकती और कृतप्रणाश (किये गये कर्मोंका निष्फल होना) नामका दूषण होता है। संसार द्रव्य क्षेत्र काल भाव और भव इस प्रकार पांच प्रकारका है। जिनके

संसार है वे ससारी है। जिनके पुद्गलकर्मरूप द्रव्यबन्ध और तज्जनित क्रोधादिकषायरूप भावबन्ध दोनों नष्ट हो गये है वे मुक्त है।

§ ३–५ यदि सूत्रमे लघुताके विचारसे द्वन्द्व समास किया जाता तो अल्प अक्षर और पूज्य होनेसे मुक्त शब्दका पूर्वनिपात होने पर 'मुक्तससारिण' यह प्रयोग प्राप्त होता। इसका सीधा अर्थ निकलता–'छोड दिया है संसार जिनने' ऐसे जीव। अर्थात् केवल मुक्त-जीवोका ही बोध हो पाता। अत ससारिण मुक्ताश्च यह पृथक्-पृथक् वाक्य ही दिए गए है। सूत्रमे 'च' शब्द समुच्चयार्थक नही है किन्तु अन्वाचय अर्थमे है। ससारी जीवोमे उपयोगकी मुख्यता और मुक्त जीवोमे उपयोगकी गौणता बतानेके लिए 'च' शब्द दिया है। ससारी जीवोमे उपयोग बदलता रहता है अत जैसे एकाग्र चिन्तानिरोधरूप ध्यान छद्मस्थोमे मुख्य है, केवलीमे तो उसका फल कर्मध्वस देखकर उपचारसे ही वह माना जाता है उसी तरह ससारियोमे पर्यायान्तर होनेसे उपयोग मुख्य है, मुक्त जीवोमे सतत एक-सी धारा रहनेसे गौण है।

§ ६ संसारियोंके अनेक भेद है तथा मोक्ष ससारपूर्वक ही होता है और सभीके स्वसंवेद्य है अत· संसारीका ग्रहण प्रथम किया है। मुक्त तो अत्यन्त परोक्ष है, उनका अनुभव अभी तक अप्राप्त ही है।

ससारी जीवोके भेद–

समनस्काऽमनस्काः ॥११॥

सज्ञी और असज्ञी दो प्रकारके ससारी है।

§ १ मन दो प्रकारका है–एक द्रव्य मन और दूसरा भावमन। पुद्गलविपाकी नाम कर्मके उदयसे द्रव्यमन होता है और वीर्यान्तराय तथा नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे होनेवाली आत्मविशुद्धि भावमन है। मन सहित जीव समनस्क और मनरहित अमनस्क, इस प्रकार दो तरहके ससारी है।

§ २–७ **प्रश्न**–दो प्रकारके जीवोका प्रकरण है अत ससारी समनस्क और मुक्त अमनस्क इस प्रकार यथाक्रम सम्बन्ध कर लेना चाहिए। मुक्त जीवोंको मनरहित मानना इष्ट भी है। **उत्तर**–इस प्रकार सभी ससारी जीवोमे समनस्कताका प्रसग आता है। 'संसारिणो मुक्ताश्च' और 'समनस्काऽमनस्का' ये दो पृथक् सूत्र बनानेसे ज्ञात होता है कि पूर्वसूत्रसे केवल ससारी पदका यहां सम्बन्ध होता है अन्यथा एक ही सूत्र बनाना चाहिए था। अथवा आगे आनेवाले 'ससारिणः त्रसस्थावरा' सूत्रसे 'संसारी' पदका यहा सम्बन्ध कर लेना चाहिए। आगेके पूरे सूत्रका यहा सम्बन्ध विवक्षित नही है अन्यथा सभी त्रसोंमे समनस्कताका अनिष्ट प्रसङ्ग प्राप्त होता। यदि 'त्रसस्थावरा.'का भी सम्बन्ध इष्ट होता तो एक ही सूत्र बनाना चाहिए था। तात्पर्य यह कि तीनों पृथक् सूत्र बनानेसे यही फलित होता कि विवक्षानुसार पदोंका सम्बन्ध करना चाहिए। यदि एक सूत्र बनाना इष्ट होता तो एक संसारी पद निरर्थक हो जाता है और सूत्रका आकार 'ससारिमुक्ताः समनस्का-मनस्कास्त्रसस्थावराश्च' यह होता। ऐसी दशामे कई अनिष्ट प्रसङ्ग होते है।

§ ८ समनस्क ग्रहण प्रथम किया है क्योकि वह पूज्य है। समनस्कके सभी इन्द्रियां होती हैं।

ससारीके भेद–

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

ससारी जीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकारके है ।

§ १–२ जीव विपाकी त्रस नाम कर्मके उदयसे त्रस होते है। 'जो भयभीत होकर गति करे वे त्रस' यह व्युत्पत्त्यर्थ ठीक नही है , क्योकि गर्भस्थ अण्डस्थ मूर्च्छित सुषुप्त आदिमे बाह्य भयके निमित्त मिलने पर भी हलन-चलन नही होता अत: इनमे अत्रसत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। 'त्रस्यन्तीति त्रसा ' यह केवल 'गच्छतीति गौ.' की तरह व्युत्पत्ति मात्र है।

३–५ जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर होते है । 'जो ठहरे वे स्थावर' यह व्युत्पत्ति करनेपर वायु अग्नि जल आदि गतिशील जीव स्थावर नही कहे जा सकेगे । आगममे भी द्वीन्द्रियसे लेकर अयोगकेवली तक जीवोको त्रस कहा है । अत वायु आदिको स्थावर कोटिसे निकालकर त्रसकोटिमे लाना उचित नही है । इसलिए चलन और अचलनकी अपेक्षा त्रस और स्थावर व्यवहार नही किया जा सकता ।

§ ६ त्रस शब्द चूँकि अल्प अक्षरवाला है और पूज्य है इसलिए पहिले लिया गया है । त्रसोके सभी उपयोग हो सकते है अत वह पूज्य है ।

स्थावरोंके भेद–

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर है ।

§ १ पृथिवी काय आदि स्थावर नामकर्मके उदयसे जीवोकी पृथिवी आदि सज्ञाए होती है । पृथन क्रिया आदि तो व्युत्पत्तिके लिए साधारण निमित्त है, वस्तुत रूढिवश ही पृथिवी आदि सज्ञाए की जाती है । आर्ष ग्रन्थोमें पृथिवी आदिके चार भेद किए है–पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवी जीव । पृथिवी स्वाभाविक पुद्गल परिणमनरूप, कठिनता आदि गुणोंवाली और अचेतन है । अचेतन होनेसे यद्यपि इसमे पृथिवी कायिक नाम कर्मका उदय नही है फिर भी यह प्रथन क्रियासे उपलक्षित होनेके कारण पृथिवी कही जाती है । अथवा, पृथिवी सामान्य रूप है । आगेके तीनो भेदोमे यह अनुगत है । पृथिवी कायिक जीवके द्वारा छोडा गया पृथिवी शरीर अर्थात् मुर्दा शरीर की तरह अचेतन पृथिवी पृथिवीकाय है । पृथिवीकाय नामकर्मका उदय जिस जीवको है और जो जीव पृथिवीको शरीर रूपसे स्वीकार किए हुए है वह पृथिवी कायिक है । जिसके पृथिवीकाय नामकर्मका उदय तो हो गया है पर अभी तक जिसने पृथिवी-शरीरको धारण नही किया वह विग्रहगति-प्राप्त जीव पृथिवीजीव है । इसी तरह जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिके चार चार भेद समझना चाहिए ।

§ २–६ घट आदि पृथिवीके द्वारा जलका, सिगडी आदि पृथिवीके द्वारा अग्निका चमडेके कुप्पे आदिसे वायुका सुखपूर्वक ग्रहण किया जाता है, पर्वत मकान आदि रूपसे पृथिवी स्थूल रूपमे सर्वत्र मिलती है, भोजन, वस्त्र, मकान आदि रूपसे बहुतर उपकार पृथिवीके ही है, इतना ही नही, जल अग्नि वायु आदिके कार्य आधारभूत पृथिवीके बिना हो ही नही सकते अत सर्वाधारभूत पृथिवीका सूत्रमे सर्वप्रथम ग्रहण किया है । जलका आधार पृथिवी है वह आधेय है तथा पृथिवी और अग्निका विरोध है, अग्नि पृथिवीको

जलाकर खाक बना देती है और उसका शमन जलके द्वारा ही होता है अतः पृथिवी और अग्निके बीचमे जलका ग्रहण किया है। पृथिवी और जलका परिपाक अग्निके द्वारा होता है अत. इन दोनोंके बाद अग्निका ग्रहण किया है। अग्निका सन्दीपन वायुके द्वारा होता है, अत· अग्निके बाद तत्सखा वायुका ग्रहण किया है। वनस्पतिकी उत्पत्तिमे पृथिवी आदि चारो निमित्त होते है अत· वनस्पतिका ग्रहण सबके अन्तमे किया है। वनस्पति कायिक जीवोकी सख्या पृथिवी आदिसे अनन्तगुणी है, इसलिए सख्याकी दृष्टिसे भी उसका नम्बर अन्तमे ही आता है। इनके स्पर्शनेन्द्रिय कायबल आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते है।

त्रसोके भेद–

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियवाले जीव त्रस है।

§ १ आदि शब्दके अनेक अर्थ है, पर यहाँ आदि शब्द व्यवस्थावाची है।

§ २–४ **प्रश्न**–'दो इन्द्रियाँ है जिसकी' इस प्रकार बहुव्रीहि समासमे अन्य पदार्थ प्रधान होनेसे द्वीन्द्रियसे आगेके जीव त्रस कहे जायँगे जैसे कि 'पर्वतसे लेकर खेत है' यहाँ पर्वतकी गिनती खेतमे नही होती। **उत्तर**–जैसे 'सफेद वस्त्रवालेको लाओ' इस तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिमे सफेद कपडा नहीं छूटता है उसी तरह 'द्वीन्द्रियादय' मे भी द्वीन्द्रिय शामिल हो जाती है।

अथवा, अवयवसे विग्रह करनेपर भी समासका अर्थ समुदाय होता है, जैसे 'सर्वादि' मे सर्वका भी ग्रहण होता है उसी तरह द्वीन्द्रियका भी त्रसमे अन्तर्भाव कर लेना चाहिये।

द्वीन्द्रियके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिया, वचनबल और कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते है। त्रीन्द्रियके घ्राणेन्द्रियके साथ सात, चतुरिन्द्रियके चक्षुके साथ आठ, पचेन्द्रिय असंज्ञी तिर्यंचके श्रोत्रके साथ नव और सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च मनुष्य देव और नारकियोके मनोबलके साथ दस प्राण होते है।

इन्द्रिया–

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

इन्द्रिया पांच होती है।

अन्य मतवादी छह और ग्यारह भी इन्द्रिया मानते है उनका निराकरण करनेके लिए पाच शब्द दिया है।

§ १–२ कर्मपरतन्त्र होने पर भी अनन्त ज्ञानादि शक्तियोका स्वामी आत्मा इन्द्र कहलाता है। अतः इन्द्रभूत आत्माके अर्थग्रहणमे लिग अर्थात् कारणको इन्द्रिय कहते है। अथवा, कर्मके कारण ही यह आत्मा चारो गतियोमे संसरण करता है अत इस समर्थ कर्म को इन्द्र कहते है। इस कर्मके द्वारा सृष्ट–रची गई इन्द्रिया है। ये इन्द्रिया पांच है।

§ ३–४ मन भी यद्यपि कर्मकृत है और आत्माको अर्थग्रहणमे सहायक होता है फिर भी वह चक्षुरादि इन्द्रियोकी तरह नियतस्थानीय नही है, अनवस्थित है अत वह इन्द्रियोंमें शामिल नही किया गया है। चक्षु आदि इन्द्रियोके द्वारा ज्ञान होनेके पहिले ही

मनका व्यापार होता है। जब आत्माको रूप देखनेका मन होता है तब ही वह मनके द्वारा उपयोगको रूपाभिमुख करता है, इसके बाद ही इन्द्रिय व्यापार होता है अत मन अनिन्द्रिय है।

§ ५–६ साख्य वाक् पाणि पाद गुदा और उपस्थ (पुरुष या स्त्रीका चिह्न) इनको वचन आदि क्रियाका साधन होनेसे कर्मेन्द्रिय मानते है। पर चूंकि यहा उपयोगका प्रकरण है अत उपयोगके साधन ज्ञानेन्द्रियोंका ही ग्रहण किया है। क्रियाके साधन अगोको यदि इन्द्रियोंकी श्रेणीमे गिना जाय तो सिर आदि अनेक अवयवोको भी इन्द्रिय मानना होगा अर्थात् इन्द्रियोंकी कोई संख्या ही निश्चित नही की जा सकेगी।

इन्द्रियोके भेद–

द्विविधानि ॥१६॥

इन्द्रिया दो प्रकार की है–एक द्रव्येन्द्रिय और दूसरी भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रियां

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

निर्वृत्ति और उपकरणके भेदसे द्रव्येन्द्रिया दो प्रकार की है।

§ १–४ नाम कर्मसे जिसकी रचना हो उसे निर्वृत्ति कहते है। निर्वृत्ति बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकार की है। उत्सेधागुलके असख्यातभागप्रमाण विशुद्ध आत्म-प्रदेशोंकी चक्षुरादिके आकाररूपसे रचना आभ्यन्तर निर्वृत्ति है अर्थात् आत्मप्रदेशोका चक्षु आदिके आकार रूप होना। नाम कर्मके उदयसे शरीर पुद्गलोकी इन्द्रियोके आकाररूपसे रचना होना बाह्यनिर्वृत्ति है।

§ ५–६ जो निर्वृत्तिका उपकार करे वह उपकरण है। आंखमे सफेद और काला मडल आभ्यन्तर उपकरण है और पलक आदि बाह्य उपकरण है।

भावेन्द्रियां–

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिया है।

लाभको लब्धि कहते है। क्तित्वात् अङ्प्रत्यय होकर लब्ध इसलिए नही बना कि अनुबन्धकृत विधियां अनित्य होती है। महाभाष्यमे भी अनुपलब्धि प्रयोग है। अथवा, स्त्रीलिंग क्तिन् प्रत्यय करके लब्धि शब्द सिद्ध हो जाता है।

§ १ जिस ज्ञानावरणक्षयोपशमके रहनेपर आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनाके लिए व्यापार करता है उसे लब्धि कहते है।

§ २–४ लब्धिके अनुसार होनेवाला आत्माका ज्ञानादि व्यापार उपयोग है। यद्यपि उपयोग इन्द्रियका फल है फिर भी कारणके धर्मका कार्यमें उपचार करके उसे भी इन्द्रिय कहा है जैसे कि घटाकार परिणत ज्ञानको घट कह देते है। 'इन्द्रका लिग, इन्द्रके द्वारा सृष्ट' इत्यादि शब्दव्युत्पत्ति तो मुख्य रूपसे उपयोगमें ही घटती है। अतः उपयोगको इन्द्रिय कहनेमे कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रिया है ।

§ १ स्पर्शन आदि शब्द करणसाधन और कर्तृसाधन दोनोंमे निष्पन्न होते हैं। 'मै इस आखसे देखता हू' इत्यादि रूपसे जब आत्मा स्वतन्त्र विवक्षित होता है तो इन्द्रिया परतन्त्र होनेसे करण बन जाती है । वीर्यान्तराय और उन उन इन्द्रियावरणोके क्षयोपशम होनेपर 'स्पृशति अनेन आत्मा–छूता है जिससे आत्मा' इत्यादि करणसाधनता बन जाती है । जब 'मेरी आख अच्छा देखती है' इत्यादि रूपसे इन्द्रियोकी स्वतन्त्रता विवक्षित होती है तब 'स्पृशतीति स्पर्शनम्' जो छुए वह स्पर्शन इत्यादि रूपसे कर्तृसाधनता बन जाती है। इसमे आत्मा स्वय स्पर्शन आदि रूपसे विवक्षित होता है ।

§ २ कोई सूत्रमे 'इन्द्रियाणि' यह पाठ अधिक मानते है, पर चूंकि इन्द्रियोका प्रकरण है अत 'पचेन्द्रियाणि' सूत्रसे 'इन्द्रियाणि'का अनुवर्तन हो जाता है इसलिए उक्त पाठ अधिक मानना व्यर्थ है ।

§ ३–१० स्पर्शनेन्द्रिय सर्वशरीरव्यापी है, 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमे एक शब्दसे स्पर्शनेन्द्रियका ग्रहण करना है और सभी ससारी जीवोके यह अवश्य पाई जाती है अत. सूत्रमे इसका ग्रहण सर्वप्रथम किया है । प्रदेशोकी दृष्टिसे सबसे कम चक्षुके प्रदेश है, श्रोत्रेन्द्रियके सख्यातगुणे, घ्राणेन्द्रियके इससे कुछ अधिक और रसनाके असख्यातगुणे । अतः क्रमश रसना आदि इन्द्रियोका ग्रहण किया है। यद्यपि इस क्रममे चक्षुको सबसे पीछे लेना चाहिये था, फिर भी चूंकि श्रोत्रेन्द्रिय बहूपकारी है–इसीसे उपदेश सुनकर हितप्राप्ति और अहितपरिहारमे प्रवृत्ति होती है अत इसीको अन्तमे लिया है। रसनाको भी वक्तृत्वके कारण बहूपकारी कहनेका सीधा अर्थ तो यह है कि शकाकार श्रोत्रकी बहूपकारिता तो स्वीकार करता ही है । रसनाके द्वारा वक्तृत्व तो तब होता है जब पहिले श्रोत्रसे शब्दोंको सुन लेता है । अत· अन्ततः श्रोत्र ही बहूपकारी है। यद्यपि सर्वज्ञमे श्रोत्रेन्द्रियसे सुननेके बाद वक्तृत्व नही देखा जाता क्योकि वे समग्र ज्ञानावरणके क्षय हो जानेपर रसनेन्द्रियके सद्भाव मात्रसे उपदेश देते है, तथापि यहाँ इन्द्रियोका प्रकरण होनेसे इन्द्रियजन्य वक्तृत्ववालोकी ही चरचा है केवलियोकी नही ।

§ ११ आगे आनेवाले 'कृमिपिपीलिका' आदि सूत्रमे एक एक वृद्धिके साथ सगति बैठानेके लिए स्पर्शनादि इन्द्रियोका क्रम रखा है ।

§ १२ इन्द्रियोका परस्पर तथा आत्मासे कथञ्चित् एकत्व और नानात्व है। ज्ञानावरणके क्षयोपशम रूप शक्तिकी अपेक्षा सभी इन्द्रिया एक है। समुदायसे अवयव भिन्न नही होते है अतः समुदायकी दृष्टिसे एक है। सभी इन्द्रियोके अपने अपने क्षयोपशम जुदे जुदे है और अवयव भी भिन्न है अत परस्पर भिन्नता है। साधारण इन्द्रिय बुद्धि और शब्द प्रयोगकी दृष्टिसे एकत्व है और विशेषकी दृष्टिसे भिन्नता है। आत्मा ही चैतन्यांशका परित्याग नही करके तपे हुए लोहेके गोलेकी तरह इन्द्रिय रूपसे परिणमन करता है, उसको छोडकर इन्द्रियां पृथक् उपलब्ध नहीं होती अतः आत्मा और इन्द्रियोमे एकत्व है अन्यथा आत्मा इन्द्रियशून्य हो जायगा । किसी एक इन्द्रियके नष्ट हो जाने पर भी आत्मा

नष्ट नहीं होता, आत्मा पर्यायी है और इन्द्रियां पर्याय, तथा सज्ञा सख्या प्रयोजन आदिके भेदसे आत्मा और इन्द्रियोंमे भेद है ।

इन्द्रियोंके विषय---

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इन्द्रियोके विषय है ।

§ १ स्पर्श आदि शब्द द्रव्यविवक्षामे कर्मसाधन और पर्यायविवक्षामे भावसाधन होते है। द्रव्यविवक्षामे इन्द्रियोंसे द्रव्य गृहीत होता है उससे भिन्न स्पर्शादि तो पाये ही नही जाते, अत 'स्पृश्यते इति स्पर्श –जो छुआ जाय वह स्पर्श' ऐसी कर्मसाधन व्युत्पत्ति द्रव्यपरक हो जाती है। पर्यायविवक्षामे उदासीन भावका भी कथन होता है अत. 'स्पर्शन स्पर्श' आदि भावसाधनमे व्युत्पत्ति बन जाती है। यद्यपि परमाणुओके स्पर्शादि इन्द्रियग्राह्य नही है फिर भी उनके कार्यभूत स्थूल पदार्थोंमे स्पर्शादिका परिज्ञान होता है अत उनमे भी स्पर्शादिकी सत्ता निर्विवाद है ।

§ २–३ **प्रश्न**–'तदर्था' मे 'तत्' शब्द इन्द्रियसापेक्ष होनेसे असमर्थ हो जाता है अत· उसका अर्थ शब्दसे समास नही हो सकता । **उत्तर**–जैसे 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' यहाँ गुरुशब्द सदा शिष्यापेक्ष होकर भी समासको प्राप्त हो जाता है उसी तरह यहाँ भी सामान्यवाची 'तत्' शब्द विशेष इन्द्रियोकी अपेक्षा रखनेके कारण समासको प्राप्त हो जाता है ।

§ ४ इन्द्रियक्रमके अनुसार ही स्पर्श आदिका क्रम रखा गया है। ये सब सामान्य रूपसे पुद्गल द्रव्यके गुण है। **वैशेषिक** मतवादी पृथिवीमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, जलमे रूप रस और स्पर्श, तेजमे रूप और स्पर्श तथा वायुमे केवल स्पर्श मानते है। इस प्रकारका गुणविभाजन अयुक्त है, क्योंकि सभीमे सभी गुण पाए जाते है। वायुमे भी रूप है क्योकि उसमे स्पर्श है जैसे कि घटमे। अग्निमे भी रस और गन्ध है, क्योकि उसमे रूप है जैसे कि गुडमे। जलमे भी गन्ध है क्योकि उसमे रस है जैसे कि पके आममें। जल आदिमे गन्ध आदि गुणोंकी साक्षात् उपलब्धि भी होती है। यह कल्पना तो अत्यन्त असगत है कि जलादिकमे गन्ध पार्थिव परमाणुओके सयोगसे आई है स्वत नही है, क्योकि हम तो यही कहेगे कि गन्धादि जलादिके ही गुण है क्योकि वही पाए जाते है। यदि जलमे गन्धको संयोगज मानते है तो रसको भी सयोगज ही कहना चाहिये, उसे स्वाभाविक क्यों कहते है ? फिर, पृथिवी आदिमे जातिभेद भी नही है। एक ही पुद्गल द्रव्य पृथिवी आदि नाना रूपोमे पाया जाता है। पृथिवी ही निमित्त पाकर पिघल जाती है और जल बनती है। द्रवीभूत जल भी जमकर बरफ बन जाता है। अग्नि काजल बन जाती है आदि। इसी तरह वायु आदिमें भी रूप आदि समझ लेना चाहिए। हाँ कोई गुण कही विशेष प्रकट होता है कही नही ।

§ ५ स्पर्शादि परस्पर तथा द्रव्यसे कथञ्चिद् भिन्न और कथञ्चिद अभिन्न है। यदि स्पर्शादिमे सर्वथा एकत्व हो तो स्पर्शके छूनेपर रस आदिका ज्ञान हो जाना चाहिए। यदि द्रव्यसे सर्वथा एकत्व हो तो या तो द्रव्यकी सत्ता रहेगी या फिर स्पर्शादि की। यदि द्रव्यकी सत्ता रहती है तो लक्षणके अभावमे उसका भी अभाव हो जायगा और यदि गुणों की; तो निराश्रय होनेसे उनका अभाव ही हो जायगा। यदि सर्वथा भेद माना जाता

है तो घटके दिखनेपर घटकी तरह स्पर्शके छूनेपर 'घडेको छुआ' यह व्यवहार नही होना चाहिए। इन्द्रियभेदसे स्पर्शादिमे सर्वथा भेद मानना भी उचित नही है, क्योकि सख्या परिमाण पृथक्त्व सयोग विभाग परत्वापरत्व आदि रूपी द्रव्यमे समवाय सम्बन्धसे रहनेके कारण चाक्षुष होनेपर भी परस्पर भिन्न है। लक्षण भेदमे भी नानात्व नही होता, क्योकि द्रव्य गुण कर्ममे सत्तासम्बन्धित्व रूप एक लक्षणके पाए जानेपर भी भेद देखा जाता है। स्पर्शादि भिन्न उपलब्ध नही होते अतः सर्वथा एकत्व मानना उचित नही है, क्योकि साख्यके मतमे सत्त्व रज और तम पृथक् उपलब्ध नहीं होते फिर भी भेद माना जाता है। इनमे व्यक्त और अव्यक्त आदिके रूपसे अनेकधा भेद पाया जाता है। अत द्रव्य दृष्टिसे कथञ्चित् एकत्व और पर्यायदृष्टिसे कथञ्चित् भेद मानना ही उचित है।

मनका वर्णन–

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

श्रुतज्ञानका विषयभूत पदार्थ मनका विषय है।

श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर आत्माकी श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थमे मन के निमित्तसे प्रवृत्ति होती है। अथवा, श्रुतज्ञान मनसे उत्पन्न होता है। यह पदार्थ इन्द्रिय-व्यापारसे परे है।

§ १ श्रोत्रेन्द्रियजन्य ज्ञानको या श्रोत्रेन्द्रियके विषयको श्रुत नही कह सकते, क्योकि वह इन्द्रियजन्य होनेसे मतिज्ञान ही है। मतिज्ञानके बाद जो विचार केवल मन-जन्य होता है वह श्रुत है।

इन्द्रियोके स्वामी–

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

पृथिव्यादि वनस्पति पर्यन्त स्थावरोके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

§ १–३ अन्त शब्द पर्यन्तवाची है। यदि अन्त शब्दका अर्थ समीपता लिया जायगा तो वनस्पतिके समीप अर्थात् वायु और त्रसोका बोध होगा। अन्त शब्द सम्बन्धि-शब्द है अत वनस्पति-पर्यन्त कहनेसे 'पृथिवीको आदि लेकर' यह ज्ञान हो ही जाता है।

§ ४ एक शब्द प्रथमताका वाचक है, अत जिस किसी इन्द्रियका ज्ञान न कराके प्रथम स्पर्शनेन्द्रियका बोधक है। वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरणका क्षयोपशम, शरीर अङ्गोपाङ्ग नाम और एकेन्द्रिय जातिका उदय होनेपर एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

कृमि पिपीलिका भ्रमर और मनुष्यादिके क्रमशः एक एक इन्द्रिया बढ़ती गई है।

§ १–५ 'एकैकम्' यह वीप्सार्थक है। सभी इन्द्रियोंकी अपेक्षा 'वृद्धानि' मे बहु-वचन दिया है। 'स्पर्शन' का अनुवर्तन करके क्रमश. एक एक इन्द्रियकी वृद्धि विवक्षित है। स्पर्शन और रसना कृमि आदिके, घ्राण अधिक पिपीलिका आदिके, चक्षु अधिक भ्रमर आदिके और श्रोत्र अधिक मनुष्यके आदिके होती है। आदि शब्द प्रकार और व्यवस्थाके अर्थ मे है।

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

मनसहित जीव संज्ञी होते है ।

§ १-५ **प्रश्न**-यह हित है और यह अहित इस प्रकारके गुण-दोष-विचारको संज्ञा कहते है । मनका भी यही कार्य है अत समनस्क विशेषण व्यर्थ है । **उत्तर**-सज्ञा शब्दके अनेक अर्थ है, जो समनस्क जीवोंके सिवाय अन्यत्र भी पाये जाते है। यदि सज्ञाका अर्थ 'नाम' लिया जाता है तो वह ससारके सभी प्राणियोमे पाया जाता है ऐसी दशामें किसीकी व्यावृत्ति नही की जा सकेगी । यदि सज्ञाका अर्थ 'ज्ञान' लेते है तब भी वही बात है, सभी प्राणी ज्ञानात्मक होते है । यदि संज्ञाका अर्थ 'आहार भय मैथुन और परिग्रह सज्ञा' लिया जाता है; तब भी कोई अन्तर नही पड़ता, क्योकि सभी प्राणियोंके यथायोग्य ये संज्ञाएँ पाई जाती है । अत. मनरहित प्राणियोकी व्यावृत्तिके लिए समनस्क विशेषणकी सार्थकता है । इस तरह गर्भस्थ अण्डस्थ मूर्च्छित सुषुप्त आदि अवस्थाओमे हिताहित विचार न होने पर भी मनकी सत्ता होनेसे सज्ञित्व बन जाता है ।

नवीन शरीरग्रहणकी प्रक्रिया-

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

विग्रहगतिमे कर्मनिमित्तक योग अर्थात् परिस्पन्द होता है ।

§ १-४ औदारिकादि नाम कर्मके उदयसे उन शरीरोके योग्य पुद्गलोका ग्रहण विग्रह कहलाता है। विरुद्ध ग्रह अर्थात् कर्म पुद्गलोका ग्रहण होनेपर भी जहा नोकर्म पुद्गलोका ग्रहण नही होता वह विग्रह । विग्रहके लिए गति विग्रहगति कही जाती है । इस विग्रहगतिमे सभी औदारिकादि शरीरोको उत्पन्न करनेवाले कार्मण शरीरके निमित्तसे ही आत्मप्रदेश परिस्पन्द होता है । इसलिए समनस्क और अमनस्क सभी प्राणियोकी गतिमे कोई व्यवधान नही पड़ता ।

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

विग्रहगति आकाश प्रदेशोकी श्रेणिके अनुसार होती है ।

§ १-५ लोकके मध्यसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे आकाशके प्रदेश क्रमशः श्रेणिबद्ध है । इसके अनुकूल ही सभी गतिवाले जीव पुद्गलोकी गति होती है । गतिका प्रकरण होनेपर भी इस सूत्रमे जो पुन 'गति' शब्दका ग्रहण किया है और आगेके सूत्रमे जो 'जीव' शब्दका विशेषरूपसे ग्रहण किया है उससे ज्ञात होता है कि इस सूत्रसे सभी गतिवाले जीव पुद्गलोकी गतिका विधान किया गया है । विग्रहगतिमे जीवका बैठना सोना या ठहरना आदि तो होता नही है जिससे इनकी निवृत्तिके लिए 'गति' शब्दकी सार्थकता मानी जाय ।

§ ६ अनुश्रेणि गतिका देश और काल नियत है । इसके सिवाय लोकमें चक्र आदिकी विविध प्रकार विश्रेणि गति भी होती है । जीवोंके मरणकालमे नवीन पर्याय धारण करनेके समय तथा मुक्तजीवोंके ऊर्ध्वगमनके समय अनुश्रेणि ही गति होती है। ऊर्ध्वलोकसे नीचे अधोलोकसे ऊपर या तिर्यक् लोकसे ऊपर-नीचे जो गति होगी वह अनुश्रेणि होगी । पुद्गलोंकी जो लोकान्त तक गति होती है, वह नियमसे अनुश्रेणि ही होती है । अन्य गतियोका कोई नियम नही है ।

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

मुक्तजीवके अविग्रहा अर्थात् बिना मोड लिए हुए गति होती है।

§ १ आगेके सूत्रमे 'ससारी' का ग्रहण किया है, अत यह सूत्र मुक्तके लिए है यह निश्चित हो जाता है। यद्यपि 'अनुश्रेणि गति.' सूत्रसे मुक्तकी अविग्रह गति सिद्ध हो जाती है फिर भी जब वह सूत्र जीव-पुद्गल दोनोंके लिए साधारण हो गया और वह भी इसी सूत्रके बलपर तब इस सूत्रकी आवश्यकता बनी ही रहती है।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

ससारी जीवोंके चार समयसे पहिले विग्रहवाली अर्थात् मोडवाली भी गति होती है।

§ १ चार समयसे पहिले ही मोडेवाली गति होती है, क्योकि ससारमे ऐसा कोई कोनेवाला टेढ़ा-मेढा क्षेत्र ही नही है जिसमे तीन मोड़ासे अधिक मोड़ा लेना पडे। जैसे षष्टिक चावल साठ दिनमे नियमसे पक जाते है उसी तरह विग्रह गति भी तीन समयमे समाप्त हो जाती है।

§ २ च शब्दसे उपपाद क्षेत्रके प्रति ऋजुगति अविग्रहा तथा कुटिल गति सविग्रहा इस प्रकार दोनोंका समुच्चय हो जाता है।

§ ३-४ प्राक् शब्दकी जगह 'आचतुर्भ्य' कहनेसे लाघव तो होता पर इससे चौथे समयके ग्रहणका अनिष्ट प्रसंग प्राप्त हो जाता है। यद्यपि 'आङ्' का मर्यादा अर्थ भी होता है पर अभिविधि और मर्यादामेसे विवक्षित अर्थके जाननेके लिए व्याख्यान आदिका गौरव होता अत स्पष्टताके लिए 'प्राक्' शब्द ही दे दिया है।

ये गतियां चार है—इषुगति पाणिमुक्ता लागलिका और गोमूत्रिका। इषुगति बिना विग्रहके होती है और शेष गतियां मोडेवाली है। बाणकी तरह सीधी सरल गति मुक्तजीवोंके तथा किन्ही ससारियोके एक समयवाली बिना मोडकी होती है। हाथसे छोडे गये जलादिकी तरह पाणिमुक्ता गति एक विग्रहवाली और दो समयवाली होती हैं। हलकी तरह दो मोड़वाली लांगलिका गति तीन समयमें निष्पन्न होती है। गोमूत्रकी तरह तीन विग्रहवाली गोमूत्रिका गति चार समयमे परिपूर्ण होती है।

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

§ १ बिना मोड़ेकी ऋजुगति एक समयवाली ही होती है। लोकके अग्रभाग तक जीव पुद्गलोंकी गति एक ही समयमें हो जाती है।

§ २-३ आत्माको सर्वगत अत एव निष्क्रिय मानकर गतिका निषेध करना उचित नहीं है; क्योंकि जैसे बाह्य आभ्यन्तर कारणोंसे पत्थर सक्रिय होता है उसी तरह आत्मा भी कर्मसम्बन्धसे शरीरपरिमाणवाला होकर शरीरकृत क्रियाओके अनुसार स्वय सक्रिय होता है। शरीरके अभावमें दीपशिखाकी तरह स्वाभाविक क्रियामें परिपूर्ण रहता है। यदि आत्माको सर्वगत अतएव क्रियाशून्य माना जाता है तो संसार और बन्ध आदि नही हो सकेंगे। मोक्ष तो क्रियासे ही संभव है।

अनाहारकताका नियम-

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

जीव एक दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है ।

§ १ पूर्व सूत्रसे 'समय' शब्दकी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। यद्यपि पूर्वसूत्रमे समय शब्द समासान्तर्गत होनेसे गौण है फिर भी सामर्थ्यसे उसीका सम्बन्ध हो जाता है ।

§२-३ वा शब्द विकल्पार्थक है । विकल्पका अर्थ है यथेच्छ सम्बन्ध करना । अत्यन्त सयोग विवक्षित होनेके कारण सप्तमी न होकर यहा द्वितीया विभक्ति की गई है ।

§ ४ औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोके तथा छह पर्याप्तियो के योग्य पुद्गलोका ग्रहण करना आहार है। तैजस और कार्मण शरीरके पुद्गल तो जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक प्रतिक्षण आते ही रहते है ।

§ ५-६ ऋद्धिप्राप्त ऋषियोके ही आहारक शरीर होता है अत विग्रह गतिमे इसकी सभावना नही है । विग्रहगतिमे बाकी कवलाहार लेपाहार आदि कोई भी आहार नही होते, क्योकि इन आहारोमे समय लगता है अत समयका व्यवधान पड़ जायगा । जैसे तपाया हुआ बाण लक्ष्य देशपर पहुचनेके पहिले भी बरसातके जलको ग्रहण करता जाता है उसी तरह पूर्वदेहको छोडनेके दु.खसे सन्तप्त यह प्राणी आठ प्रकारके कर्मपुद्गलोसे निर्मित कार्मण शरीरके कारण जाते समय ही नोकर्मपुद्गलोंको भी ग्रहण करके आहारक हो जाता है । वक्रगतिमे तीन समय तक अनाहारक रहता है । एक समयवाली इषुगतिमे नोकर्म पुद्गलोको ग्रहण करता हुआ ही जाता है अत अनाहारक नही होता । दो समय और एक मोडा वाली पाणिमुक्ता गतिमे प्रथम समयमे अनाहारक रहता है। तीन समय और दो मोडावाली लागलिका गतिमे दो समय तक अनाहारक रहता है। चार समय और तीन मोडावाली गोमूत्रिका गतिमे तीन समय तक अनाहारक रहकर चौथे समयमे आहारक हो जाता है ।

जन्मके प्रकार-

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

सम्मूर्च्छन गर्भ और उपपाद ये तीन जन्म है ।

§ १ तीनो लोकोंमे ऊपर नीचे तिरछे सभी दिशाओसे पुद्गलपरमाणुओका इकट्ठा होकर शरीर बनना सम्मूर्छन है ।

§ २-३ स्त्रीके गर्भाशयमे शुक्र और शोणितके मिश्रणको गर्भ कहते है । अथवा, माताके द्वारा गृहीत आहारसे जहा रस ग्रहण किया जाय वह गर्भ है।

§ ४ देव और नारकियोंके उत्पत्तिस्थानोंको उपपाद कहते है। इन नियत स्थानोंके पुद्गलोसे उपपादजन्म होता है ।

§ ५-१० सम्मूर्च्छन शरीर अत्यन्त स्थूल होता है, अल्पकालजीवी होता है तथा उसके कारण मांसादि और कार्य शरीर, दोनों ही प्रत्यक्ष हैं अतः उसका ग्रहण प्रथम किया है । इसके बाद गर्भका; क्योंकि यह अधिक कालमे परिपूर्ण होता है । अति दीर्घजीवी होनेके कारण उपपादका सबके अन्तमें ग्रहण किया है । परिणामाधीन विविध कर्मोंके विपाकसे इन विभिन्न रूपोंमें प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है । कर्मके अनुसार ही जन्म होता है ।

§ ११ यद्यपि जन्मके प्रकार अनेक है फिर भी प्रकारगत सामान्यकी अपेक्षासे 'जन्म' शब्दको एकवचन ही रखा है।

जन्मकी आधारभूत योनियोंके भेद–

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

सचित्त शीत सवृत अचित्त उष्ण विवृत और सचित्ताचित्त शीतोष्ण और संवृत-विवृत ये नव योनियां है।

§ १–५ आत्माके चैतन्य परिणमनको चित्त कहते है। चित्त सहित सचित्त कहलाता है। शीत अर्थात् ठडा स्पर्श और ठडा पदार्थ। सवृत अर्थात् ढका हुआ। इतर अर्थात् अचित्त उष्ण और विवृत। मिश्र अर्थात् उभयात्मक।

§ ६–८ च शब्द प्रत्येकके समुच्चयके लिए है, अन्यथा 'सचित्त शीत सवृत जब अचित्त उष्ण और विवृतसे मिश्र हों तब योनिया होंगी' यह अर्थ हो जाता। च शब्दसे 'प्रत्येक भी योनियाँ है तथा मिश्र भी' यह स्पष्ट बोध हो जाता है। यद्यपि कही 'च' शब्द न देने पर भी समुच्चयका बोध देखा जाता है और समुच्चय और विशेषण दोनो अर्थोंमे इच्छानुसार समुच्चय अर्थ भी लिया जा सकता था फिर भी सूत्रमे नहीं कही गई चौरासी लाख योनियोंके सग्रहके लिए 'च' शब्दकी सार्थकता है।

§ ९ 'एकश.' पदसे ज्ञात होता है कि मिश्र योनियोंमे क्रममिश्रता होनी चाहिये। अर्थात् सचित-अचित, शीत-उष्ण, सवृत-विवृत आदि, न कि सचित्त-शीत आदि।

§ १० 'तत्' पदसे ज्ञात होता है कि ये योनिया पूर्वोक्त सम्मूर्च्छन आदि जन्मों की है।

§ ११–१२ योनि शब्दको केवल स्त्रीलिग समझकर द्वन्द्वसमासमे सचित्तादि शब्दोंके पुल्लिग प्रयोगमे आपत्ति नही करनी चाहिये; क्योकि योनि शब्द उभयलिग है। यहा पुल्लिग समझना चाहिये।

§ १३–योनि आधार है तथा जन्म आधेय है। सचित्तादि योनियोमे ही सम्मूर्च्छनादि जन्मोके द्वारा आत्मा शरीर ग्रहण करता है। यही योनि और जन्ममे भेद है।

§ १४–१७ चेतनात्मक होनेसे सचित्तका प्रथम ग्रहण किया है, उसके बाद तृप्तिकारक होनेसे शीतका तथा गुप्त होनेसे सवृतका अन्तमे ग्रहण किया है। जीवोके कर्मविपाक नाना प्रकारके है अत योनिया भी अनेक प्रकार की मानी गई है।

§ १८–२६ देव और नारकोंके अचित्त योनि है, क्योकि इनके उपपाद प्रदेशके पुद्गल अचेतन है। माताके उदरमे अचेतन वीर्य और रजसे चेतन आत्माका मिश्रण होनेसे गर्भजोंके मिश्र योनि है। सम्मूर्छन जीवोमे साधारण शरीरवालोके सचित्त योनि है। शेषमे किसीके अचित्त योनि तथा किसीके मिश्रयोनि होती है। देव और नारकियोके शीत और उष्ण योनि, तेजस्कायिकोंके उष्णयोनि तथा शेष जीवोके शीत उष्ण और मिश्रयोनि होती है। देव नारक और एकेन्द्रिय जीवोके संवृतयोनि, विकलेन्द्रियोके विवृत योनि और गर्भज जीवोंके मिश्रयोनि होती है।

§ २७ इन योनियोंके चौरासी लाख भेदोंका 'च' शब्दसे समुच्चय किया गया है। सर्वज्ञने इनका साक्षात्कार किया है और अल्पज्ञानियोंको ये आगमगम्य है। नित्यनिगोदके

७ लाख, अनित्य निगोदके ७ लाख, पृथिवी जल अग्नि और वायु प्रत्येकके सात सात लाख, वनस्पतिके दस लाख, विकलेन्द्रियोंके छह लाख, देव नारकी और पंचेन्द्रियतिर्यञ्च प्रत्येकके चार चार लाख, मनुष्योंके चौदह लाख इस प्रकार कुल ८४ लाख योनिभेद होते है। जो कभी भी त्रस पर्यायको प्राप्त न होगे वे नित्यनिगोद तथा जिनने त्रस पर्याय पाई थी या आगे पायेगे वे अनित्य निगोद है।

जन्म विवरण–

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

जरायुज अण्डज और पोतका गर्भजन्म होता है।

§ १–३ गर्भाशयमे प्राणीके ऊपर जो मास और रक्तका जाल होता है वह जरायु है। शुक्र और शोणितसे परिवेष्टित, नखके ऊपरी भागकी तरह कठिन और श्वेत गोलाकार अण्डा होता है। इनमे उत्पन्न जीव क्रमशः जरायुज और अण्डज है। जो योनिसे निकलते ही चलने फिरनेकी शक्ति रखते है, गर्भाशयमे जिनके ऊपर कोई आवरण नही रहता वे पोत है।

§ ४–५ कोई 'पोतजा.' ऐसा पाठ रखते है। पर यह ठीक नही है; क्योकि पोत तो स्वय आत्मा ही है, उसमे उत्पन्न होनेवाला कोई दूसरा जीव नही है जो पोतज कहा जाय। आत्मा ही पोत परिणमन करके पोत कहलाता है।

§ ६–१० चूँकि जरायुजोमे भाषा अध्ययन आदि असाधारण क्रियाएँ देखी जाती है, चक्रवर्ती वासुदेव आदि महाप्रभावशाली जरायुज ही होते है तथा मोक्षकी प्राप्ति जरायुजोंको ही होती है अतः पूज्य होनेसे उसका ग्रहण सर्वप्रथम किया है। अण्डजोमे भी तोता मैना आदि अक्षरोच्चारण आदिमे कुशल होते है अतः पोतसे पहिले उनका ग्रहण किया है।

§ ११ यद्यपि पहिले सूत्रमे सम्मूर्च्छनोंका नाम प्रथम लिया है अतः यहां भी उसीका वर्णन होना चाहिये था फिर भी आगे 'शेषाणां सम्मूर्च्छनम्' इस सूत्रकी लघुता के लिए उसका यहाँ प्रथम ग्रहण नही किया है; क्योंकि यदि समूर्च्छनका प्रथम कथन करते तो 'एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणा तिरश्चां मनुष्याणां च केषाञ्चित् सम्मूर्च्छनम्' इतना बड़ा सूत्र बनाना पडता।

§ १२ जरायुज आदिके गर्भजन्म सिद्ध ही था फिर भी 'गर्भ' शब्दके ग्रहण करनेसे 'जरायुज अण्डज और पोतोंके ही गर्भ होता है' यह नियम ज्ञापित होता है। आगेके सूत्रमे 'शेष' पद देनेसे ज्ञात होता है कि जन्मका ही नियम किया गया है जन्मवालोका नही। यदि इन सूत्रोंसे जन्मवालोका नियम होता तो आगे 'शेष' ग्रहण करना निरर्थक ही हो जाता।

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

देव और नारकियोंके उपपादजन्म होता है।

§ १ जिस समयसे देवगतिका उदय हो तभीसे उसका जन्म स्वीकार करना इसलिए ठीक नही है कि विग्रहगतिमे भी देवगतिका उदय हो जाता है पर शरीरयोग्य पुद्गलोका ग्रहण न होनेसे उस समय जन्म नहीं माना जाता। इसलिए उपपादको जन्म कहना ठीक है।

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

शेषके सम्मूर्च्छन जन्म होता है ।

§ १-२ देव और नारकियोके ही उपपाद और शेषके ही सम्मूर्च्छन होता है। पहिले गर्भ और उपपाद जन्मका तो नियम हुआ है पर जरायुज आदिका नही, उनके सम्मूर्च्छन जन्मका भी प्रसग प्राप्त होता है अत उसके वारण करनेके लिए यह सूत्र बनाया गया है । यदि 'जरायुज अण्डज पोतोंके गर्भ ही होता है और देव नारकियोके उपपाद ही होता है, तो अर्थात् ही शेषके सम्मूर्च्छन ही होता है, यह फलित हो जाता है । ऐसी दशामे न केवल शेषग्रहण किन्तु यह सूत्र ही निरर्थक हो जाता है । परन्तु जन्म और जन्मवाले दोनोंके अवधारणका प्रसग उपस्थित होनेपर 'जन्मका ही अवधारण करना चाहिए' यह व्यवस्था इस सूत्रसे ही फलित होती है अत. सूत्रकी सार्थकता है ।

शरीरोंका वर्णन-

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण ये पाच शरीर है ।

§ १-३ जो शीर्ण हो वे शरीर है । यद्यपि घटादि पदार्थ भी विशरणशील ह परन्तु वे उनमे नामकर्मोदय निमित्त नही है, अत. उन्हे शरीर नही कह सकते। जिस प्रकार 'गच्छतीति गौ ' यह विग्रह रूढ शब्दोमे भी किया जाता है उसी तरह 'शरीर' शब्दका भी विग्रह समझना चाहिए । शरीरत्व नामकी जातिके समवायसे शरीर कहना तो उचित नहीं है क्योकि स्वय शरीरस्वभाव न मानने पर अमुक जगह ही शरीरत्वका सम्बन्ध हो अमुक जगह न हो इत्यादि नियम नही बन सकता ।

§ ४-९ उदार अर्थात् स्थूल प्रयोजनवाला या स्थूल जो शरीर वह औदारिक है। अणिमा आदि आठ प्रकारके ऐश्वर्यके कारण अनेक प्रकारके छोटे-बड़े आकार करने रूप विक्रिया करना जिसका प्रयोजन है वह वैक्रियिक है। प्रमत्तसयत मुनिके द्वारासूक्ष्मतत्त्वज्ञान और असंयमके परिहारके लिए जिसकी रचना की जाती है वह आहारक है । जो दीप्तिका कारण होता है वह तैजस है । कर्मोंका कार्य या कर्मो के समूहको कार्मण कहते है ।

§ १०-१३ जैसे मिट्टीके पिण्डसे उत्पन्न होनेवाले घट घटी सकोरा आदिमें संज्ञा लक्षण आकार आदिकी दृष्टिसे भेद है उसी तरह यद्यपि औदारिकादि शरीर कर्मकृत है, फिर भी उनमे सज्ञा लक्षण आकार और निमित्त आदिकी दृष्टिसे परस्पर भिन्नता है । औदारिकादि शरीर प्रतिनियत नामकर्मके उदयसे होते है । कार्मण शरीरसे ही औदारिकादि शरीर उत्पन्न होते है अत. कारण कार्यकी अपेक्षा भी कार्मण और औदारिकादि भिन्न है । जैसे गीले गुडपर धूलि आकर जम जाती है उसी तरह कार्मण शरीर पर ही औदारिकादि शरीरोके योग्य परमाणु, जिन्हें विस्रसोपचय कहते है, आकर जमा होते है । इस दृष्टिसे भी कार्मण और औदारिकादि भिन्न है ।

§ १४-१७ जैसे दीपक परप्रकाशी होनेके साथ ही साथ स्वप्रकाशी भी है उसी तरह कार्मण शरीर औदारिकादिका भी निमित्त है और अपने उत्तर कार्मणका भी । अतः निर्निमित्त होनेसे उसे असत् नही कह सकते । फिर मिथ्यादर्शन आदि कार्मण शरीरके

निमित्त है। यदि यह निर्निमित्त माना जायगा तो मोक्ष ही नही हो सकता क्योंकि विद्यमान और निर्हेतुक पदार्थ नित्य होता है, उसका कभी विनाश नही हो सकेगा। कार्मण शरीरमें प्रतिसमय उपचय-अपचय होता रहता है अत. उसका अशत. विशरण सिद्ध है और इसीलिए वह शरीर है।

§ १८-१९ यद्यपि कार्मण शरीर सबका आधार और निमित्त है अत उसका सर्वप्रथम ग्रहण करना चाहिए था किन्तु चूंकि वह सूक्ष्म है और औदारिकादि स्थूल कार्योंके द्वारा अनुमेय है अतः उसका प्रथम ग्रहण नही किया। कर्मके मूर्तिमान् औदारिकादि फल देखे जाते है अत वह मूर्तिमान् सिद्ध होता है। आत्माके अमूर्त अदृष्ट नामके निष्क्रिय गुणसे परमाणुओंमें क्रिया होकर द्रव्योत्पत्ति मानना उचित नहीं है।

§ २०-२१ अत्यन्त स्थूल और इन्द्रियग्राह्य होनेसे औदारिक शरीरको प्रथम ग्रहण किया है। आगे आगे सूक्ष्मता दिखानेके लिए वैक्रियिक आदि शरीरोका क्रम है।

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

आगे आगेके शरीर सूक्ष्म है।

§ १-२ पर शब्दके व्यवस्था, भिन्न, प्रधान, इष्ट आदि अनेक अर्थ है पर यहा 'व्यवस्था' अर्थ विवक्षित है। सज्ञा लक्षण आकार प्रयोजन आदिकी दृष्टिसे परस्पर विभिन्न शरीरोका सूक्ष्मताके विचारसे पर शब्दका वीप्सा अर्थमे दो बार निर्देश किया है।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

तैजस शरीर तक असख्यातगुणे प्रदेशवाले है।

§ १-५ प्रदेश अर्थात् परमाणु। परमाणुओसे ही आकाशादिका क्षेत्र-विभाग किया जाता है। पूर्वसूत्रसे 'पर परम्' की अनुवृत्ति होती है अत. मर्यादा बाँधनेके लिए 'प्राक् तैजसात्' यह स्पष्ट निर्देश किया है। प्रदेशोकी दृष्टिसे पल्यके असंख्येय भागसे गुणित होनेपर भी इन शरीरोका अवगाह क्षेत्र कम ही होता है। तात्पर्य यह कि औदारिकसे वैक्रियिक असख्यात गुण प्रदेशवाला है और वैक्रियकसे आहारक। जैसे समप्रदेशवाले लोहा और रुईके पिण्डमे परमाणुओके निबिड और शिथिल सयोगोंकी दृष्टिसे अवगाहनक्षेत्रमे तारतम्य है उसी तरह वैक्रियिक आदि शरीरोमे उत्तरोत्तर निबिड सयोग होनेसे अल्पक्षेत्रता और सूक्ष्मता है।

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण क्रमशः अनन्तगुणें प्रदेशवाले है।

§ १-२ अनन्तगुणें अर्थात् अभव्योंके अनन्तगुणेसे गुणित और सिद्धोके अनन्तवे भागसे गुणित। अनन्तके अनन्त ही विकल्प होते है, अत उत्तरोत्तर अनन्तगुणता समझनी चाहिए। पूर्व सूत्रसे 'पर परं' की अनुवृत्ति होती है अत. आहारकसे तैजस अनन्तगुणा तथा तैजससे कार्मण अनन्तगुणा समझना चाहिए।

§ ३-५ **प्रश्न**—पर तो कार्मण हुआ और तैजस अपर, अतः 'परापरे' यह पद रखना चाहिए? **उत्तर**—शब्दोच्चारणकी दृष्टिसे यहाँ 'पर' व्यवहार अपेक्षित नही है किन्तु ज्ञानकी दृष्टिसे। बुद्धिमे आहारकसे आगे रखे गये तैजस और कार्मण दोनों ही 'पर' कहे

जाते है। जैसे 'पटनासे मथुरा परे है' यहा काशी आदि देशोंका व्यवधान होनेपर भी व्यवहित मथुरामे पर शब्दका प्रयोग हो जाता है उसी तरह आहारकसे पर तैजस और तैजससे पर कार्मणमे भी पर शब्दका प्रयोग उचित है।

§ ६ यद्यपि तैजस और कार्मणमे परमाणु अधिक है फिर भी उनका अतिसघन सयोग और सूक्ष्म परिणमन होनेसे इन्द्रियोंके द्वारा उपलब्धि नही हो सकती।

अप्रतीघाते ॥४०॥

ये दोनो शरीर सर्वत्र अप्रतीघाती है।

§ १-३ एक मूर्तिमान् द्रव्यका दूसरे मूर्तिमान् द्रव्यसे रुक जाना या टकराना प्रतीघात कहलाता है। जैसे अग्नि सूक्ष्म परिणमनके कारण लोहेके पिडमे भी घुस जाती है उसी तरह ये दोनो शरीर वज्रपटलादिकसे भी नही रुकते, सब जगह प्रवेश कर जाते है यद्यपि वैक्रियिक और आहारक भी अपनी-अपनी सीमामे अप्रतीघाती है फिर भी लोक भरमे सर्वत्र अप्रतीघाती ये दोनों ही है, अत. दोनोको ही अप्रतीघाती कहा है।

अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥

§ १-२ ये दोनों शरीर अनादिसे इस जीवके साथ है। उपचय-अपचयकी दृष्टि से इनका सादिसम्बन्ध भी होता है, इसीलिए च शब्द दिया है। जैसे वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष इस प्रकार सन्ततिकी दृष्टिसे बीज-वृक्ष अनादि होकर भी तद्बीज और तद्वृक्ष की अपेक्षा सादि है उसी तरह तैजस कार्मण भी बन्धसन्ततिकी दृष्टिसे अनादि और तत् तत् दृष्टिसे सादि है।

§ ३-५ यदि सर्वथा आदिमान् माना जाय तो अशरीर आत्माके नूतन शरीर का सम्बन्ध ही नही हो सकेगा, क्योकि शरीरसम्बन्धका कोई निमित्त ही नही है। और यदि निर्निमित्त ही शरीरसम्बन्ध होने लगे तो मुक्त आत्माओंके साथ भी शरीरका सम्बन्ध हो जायगा। इस तरह कोई मुक्त ही नही रह सकेगा। और यदि अनादि होने से उसे अनन्त माना जायगा, तो भी किसीको मोक्ष ही नही हो सकेगा। अतः जैसे अनादि कालीन बीज-वृक्ष सन्तति भी अग्नि आदि कारणोसे नष्ट हो जाती है उसी तरह कर्म शरीर भी ध्यानाग्निसे नष्ट हो जाता है।

सर्वस्य ॥४२॥

§ १-२ ये दोनो शरीर सभी संसारी जीवोके होते है। 'सर्वस्य' यह एक वचन संसारिसामान्यकी अपेक्षा दिया है। यदि ये किसी ससारीके न हो तो वह ससारी ही नही हो सकता।

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

एक जीवके एक साथ इन दो शरीरोंको लेकर चार शरीर तक हो सकते है।

§ १-६ 'तत्' शब्दसे जिन दो शरीरोका प्रकरण है उनका ग्रहण करना चाहिए। 'आदि' शब्द व्यवस्थावाची है। 'आङ्' उपसर्ग अभिविधिके अर्थमें है, अतः किसी के चार भी हो सकते हैं। यदि मर्यादार्थक होता तो चारसे पहिले अर्थात् तीन शरीरतक का नियम होता। किसी आत्माके दो शरीर तैजस और कर्मण होगे। तीन औदारिक तैजस

और कार्मण अथवा वैक्रियिक तैजस और कार्मण होगे। किसीके औदारिक आहारक तैजस और कार्मण ये चार भी हो सकते है। वैक्रियिक और आहारक एक साथ नही होते अत पांचकी सभावना नही है; क्योकि आहारक जिस प्रमत्तसंयत मुनिके होता है उसके वैक्रियिक नही होता, जिन देव और नारकियोंके वैक्रियिक होता है उनके आहारक नही होता।

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

अन्तिम कार्मण शरीर निरुपभोग होता है।

§ १-३ इन्द्रियोके द्वारा शब्दादिककी उपलब्धिको उपभोग कहते है। यद्यपि कर्मादान निर्जरा और सुखदु खानुभवन आदि उपभोग कार्मण शरीरमे सभव है फिर भी विग्रहगतिमे द्रव्येन्द्रियोकी रचना नही होती, अत· विवक्षित उपभोग कार्मण शरीरमे नही पाया जाता। तैजस शरीर चूंकि योगनिमित्त, योग अर्थात् आत्मप्रदेश परिस्पन्दमे भी निमित्त नही होता अत उसकी उपभोग विचारमे विवक्षा नही है। अत योगनिमित्त शरीरोमे अन्तिम कार्मण शरीर ही निरुपभोग है, शेष सोपभोग है।

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥

जितने गर्भज और सम्मूर्च्छनजन्य शरीर है वे सब औदारिक है।

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

उपपादजन्य यावत् शरीर वैक्रियिक है।

लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

वैक्रियिक शरीर ऋद्धिनिमित्तक भी होता है।

§ १-२ प्रत्यय शब्दके ज्ञान, सत्यता, कारण आदि अनेक अर्थ है किन्तु यहाँ कारण अर्थ विवक्षित है। विशेष तपसे जो ऋद्धि प्राप्त होती है वह लब्धि है। लब्धि-कारणक भी वैक्रियिक शरीर होता है।

§ ३ उपपाद तो निश्चित है, पर लब्धि अनिश्चित है, किसीके ही विशेष तप धारण करने पर होती है।

§ ४ विक्रियाका अर्थ विनाश नही है, जिससे प्रति समय न्यूनाधिक रूपसे सभी शरीरोका विनाश होनेसे सबको वैक्रियिक कहा जाय किन्तु नाना आकृतियोंको उत्पन्न करना है। विक्रिया दो प्रकार की है--१ एकत्व विक्रिया, २ पृथक्त्व विक्रिया। अपने शरीरको ही सिह व्याघ्र हिरण हस आदि रूपसे बना लेना एकत्व विक्रिया है और शरीरसे भिन्न मकान मण्डप आदि बना देना पृथक्त्व विक्रिया है। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी और सोलह स्वर्गके देवोके दोनो प्रकारकी विक्रिया होती है। ऊपर ग्रैवेयक आदि सर्वार्थ-सिद्धि पर्यन्तके देवोके प्रशस्त एकत्व विक्रिया ही होती है। छठवे नरक तकके नारकियोंके त्रिशूल चक्र तलवार मुद्गर आदि रूपसे जो विक्रिया होती है वह एकत्वविक्रिया ही है न कि पृथक्त्व विक्रिया। सातवें नरकमे गाय बराबर कीड़े लोहू आदि रूपसे एकत्व विक्रिया ही होती है, आयुधरूपसे एकत्व विक्रिया और पृथक्त्व विक्रिया नहीं होती। तिर्यञ्चोंमें मयूर

आदिके एकत्व विक्रिया होता है पृथक्त्व विक्रिया नही । मनुष्योके भी तप और विद्या आदिके प्रभावसे एकत्व विक्रिया होता है ।

तैजसमपि ॥४८॥

§ १ तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय होता है । यद्यपि आहारकका प्रकरण था परन्तु लब्धिप्रत्ययोके प्रकरणमे लाघवके लिए तैजसका कथन कर दिया है ।

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

आहारक शरीर शुभ विशुद्ध और अव्याघाती होता है, यह प्रमत्तसंयतके ही होता है।

§ १-३ जैसे प्राणोंका कारण होनेसे उपचारसे अन्नको भी प्राण कह देते है उसी तरह शुभ आहारकयोगका कारण होनेसे यह शरीर शुभ कहा जाता है । विशुद्ध कर्मके उदयसे होनेके कारण यह विशुद्ध है । न तो आहारक शरीर किसीका व्याघात करता है और न किसीसे व्याघातित ही होता है अत अव्याघाती है ।

§ ४ भरत और ऐरावत क्षेत्रमें केवलियोका अभाव होनेपर महाविदेह क्षेत्रमे केवली भगवान्के पास औदारिक शरीरसे जाना तो शक्य नही है और असयम भी बहुत होगा अत प्रमत्तसयत मुनि सूक्ष्म पदार्थके निर्णयके लिए या ऋद्धिका सद्भाव जाननेके लिए या सयम परिपालनके लिए आहारक शरीरकी रचना करता है । इन बातोके समुच्चयके लिए 'च' शब्द दिया गया है ।

§ ५-७ 'प्रमत्त संयतके ही आहारक होता है' इस प्रकार अवधारण करनेके लिए एवकार है न कि 'प्रमत्तसयतके आहारक ही होता है' इस अनिष्ट अवधारणके लिए । जिस समय मुनि आहारक शरीरकी रचना करता है उस समय वह प्रमत्तसयत ही हो जाता है ।

§ ८ इन शरीरोमें परस्पर सज्ञा लक्षण कारण स्वामित्व सामर्थ्य प्रमाण क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर सख्या प्रदेश भाव और अल्पबहुत्व आदिकी दृष्टिसे भेद है । यथा,

संज्ञा–औदारिक आदिके अपने-अपने जुदे नाम है ।

लक्षण–स्थूल शरीर औदारिक है । विविधगुण ऋद्धिवाली विक्रिया करनेवाला शरीर वैक्रियिक है । सूक्ष्मपदार्थविषयक निर्णयके लिए आहारक शरीर होता है । शखके समान शुभ्र तैजस होता है । वह दो प्रकारका है–१ नि.सरणात्मक २ अनि.सरणात्मक । औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरमे दीप्ति करनेवाला-रौनक लानेवाला अनि सरणात्मक तैजस है । नि सरणात्मक तैजस उग्रचारित्रवाले अतिक्रोधी यतिके शरीरसे निकलकर जिसपर क्रोध है उसे घेरकर ठहरता है और उसे शाककी तरह पका देता है, फिर वापिस होकर यतिके शरीरमें ही समा जाता है । यदि अधिक देर ठहर जाय तो उसे भस्मसात् कर देता है । सभी शरीरोंमें कारणभूत कर्मसमूहको कार्मण शरीर कहते है ।

कारण–औदारिक आदि भिन्न-भिन्न नाम कर्मोके उदयसे ये शरीर होते है । अत. कारणभेद स्पष्ट है ।

स्वामित्व–औदारिक शरीर तिर्यञ्च और मनुष्योंके होता है । वैक्रियिक शरीर देव नारकी तेजस्काय वायुकाय और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्योंमे किसीके होता है । **प्रश्न**–जीवस्थानके योगभंग प्रकरणमे तिर्यञ्च और मनुष्योके औदारिक और औदारिक मिश्र

तथा देव और नारकियोके वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्र बताया है पर यहा तो तिर्यञ्च और मनुष्योके भी वैक्रियिकका विधान किया है । इस तरह परस्पर विरोध आता है ?

उत्तर—व्याख्या प्रज्ञप्ति दडकके शरीरभगमे वायुकायिकके औदारिक वैक्रियिक तैजस और कार्मण ये चार शरीर तथा मनुष्योके पाच शरीर बताए है । भिन्न-भिन्न अभिप्रायो से लिखे गये उक्त सन्दर्भोमें परस्पर विरोध भी नही है। जीवस्थानमें जिस प्रकार देव और नारकियोके सर्वदा वैक्रियिक शरीर रहता है उस तरह तिर्यञ्च और मनुष्योके नही होता, इसीलिए तिर्यञ्च और मनुष्योके वैक्रियिक शरीरका विधान नही किया है जब कि व्याख्याप्रज्ञप्तिमें उसके सद्भावमात्रसे ही उसका विधान कर दिया है।

आहारक प्रमत्तसयतके ही होता है । तैजस और कार्मण सभी ससारियोंके होते है।

सामर्थ्य—मनुष्य और तिर्यञ्चोमे सिह और केशरी चक्रवर्ती वासुदेव आदिके औदारिक शरीरोमे शक्तिका तारतम्य सर्वानुभूत है। यह भवप्रत्यय है । उत्कृष्ट तपस्वियोके शरीरविक्रिया करनेकी शक्ति गुणप्रत्यय है। वैक्रियिक शरीरमे मेरुकम्पन और समस्त भूमण्डलको उलटा-पुलटा करनेकी शक्ति है । आहारक शरीर अप्रतिघाती होता है, वज्रपटल आदिसे भी वह नही रुकता। यद्यपि वैक्रियिक शरीर भी साधारणतया अप्रतिघाती होता है, फिर भी इन्द्र सामानिक आदिमे शक्तिका तारतम्य देखा जाता है । अनन्तवीर्ययतिने इन्द्रकी शक्तिको कुठित कर दिया था यह प्रसिद्ध ही है। अत वैक्रियिक क्वचित् प्रतिघाती होता है किन्तु सभी आहारक शरीर समशक्तिक और सर्वत्र अप्रतिघाती होते है । तैजस शरीर क्रोध और प्रसन्नताके अनुसार दाह और अनुग्रह करनेकी शक्ति रखता है । कार्मण शरीर सभी कर्मोंको अवकाश देता है, उन्हे अपनेमे शामिल कर लेता है ।

प्रमाण—सबसे छोटा औदारिक शरीर सूक्ष्मनिगोदिया जीवोंके अगुलके असख्यात भाग बराबर होता है और सबसे बडा नन्दीश्वरवापीके कमलका कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाणका होता है। वैक्रियिक मूल शरीरकी दृष्टिसे सबसे छोटा सर्वार्थसिद्धिके देवोके एक अरत्नि प्रमाण और सबसे बडा सातवे नरकमे पांच सौ धनुष प्रमाण है । विक्रियाकी दृष्टिसे बड़ीसे बडी विक्रिया जम्बूद्वीप प्रमाण होती है । आहारक शरीर एक अरत्नि प्रमाण होता है । तैजस और कार्मण शरीर जघन्यसे अपने औदारिक शरीरके बराबर होते है और उत्कृष्टसे केवलि समुद्घातमे सर्वलोकप्रमाण होते है ।

क्षेत्र—औदारिक वैक्रियिक और आहारकका लोकका असख्यातवा भाग क्षेत्र है ।

तैजस और कार्मणका लोकका असख्यातवा भाग असख्यात बहुभाग या सर्वलोक क्षेत्र होता है प्रतर और लोकपूरण अवस्थामे ।

स्पर्शन—तिर्यञ्चोने औदारिक शरीरसे सम्पूर्ण लोकका स्पर्शन किया है, और मनुष्योने लोकके असंख्यातवे भागका । मूल वैक्रियिक शरीरसे लोकके असख्यात बहुभाग और उत्तर वैक्रियिकसे कुछ कम $\frac{१}{४}$ भाग स्पृष्ट होते है। सौधर्मस्वर्गके देव स्वय या परनिमितसे ऊपर आरण अच्युत स्वर्ग तक छह राजू जाते है और नीचे स्वय बालुकाप्रभा नरक तक दो राजू, इस तरह $\frac{१}{४}$ भाग होते है । आहारक शरीरके द्वारा लोकका असख्यातवा भाग स्पर्श किया जाता है । तैजस और कार्मण समस्त लोकका स्पर्शन करते है ।

काल—तिर्यञ्च और मनुष्योके औदारिक शरीरका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है । उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम तीन पल्य है । यह अन्तर्मुहूर्त अपर्याप्तकका काल है । वैक्रियिक

शरीरका देवोंकी अपेक्षा मूलवैक्रियिकका जघन्य काल अपर्याप्तकालके अन्तर्मुहूर्तसे कम दस हजार वर्ष प्रमाण है। उत्कृष्ट अपर्याप्तकालीन अन्तर्मुहूर्तसे कम तेतीस सागर है। उत्तर वैक्रियिकका जघन्य और उत्कृष्ट दोनो ही काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। तीर्थङ्करोके जन्मोत्सव नन्दीश्वरपूजा आदिके समय अन्तर्मुहूर्तके बाद नए नए उत्तरवैक्रियिक शरीर उत्पन्न होते जाते है। आहारकका जघन्य और उत्कृष्ट दोनो ही काल अन्तर्मुहूर्त है। तैजस और कार्मण शरीर अभव्य और दूरभव्योंकी दृष्टिसे सन्तानकी अपेक्षा अनादि अनन्त है। भव्योंकी दृष्टिसे अनादि और सान्त है। निषेककी दृष्टिसे एक समयमात्र काल है। तैजस शरीरकी उत्कृष्ट निषेक स्थिति छचासठ सागर और कार्मण शरीरकी सत्तर कोडाकोडी सागर है।

अन्तर–औदारिक शरीरका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट अपर्याप्तिकालके अन्तर्मुहूर्तसे अधिक तेतीस सागर है। वैक्रियिक शरीरका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल है। आहारकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्टसे अन्तमुहूर्त कम अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल प्रमाण है। तैजस और कार्मण शरीरका अन्तर नही है।

संख्या–औदारिक असख्यात लोक प्रमाण है। वैक्रियिक असख्यात श्रेणी और लोकप्रतरका असंख्यातवाँ भाग है। आहारक ५४ है। तैजस और कार्मण अनन्त है, अनन्तानन्त लोक प्रमाण है।

प्रदेश–औदारिकके प्रदेश अभव्योसे अनन्तगुणे और सिद्धोके अनन्तभाग प्रमाण है। शेष चारके प्रदेश उत्तरोत्तर अधिक अनन्त प्रमाण है।

भाव–औदारिकादि नामके उदयसे सभीके औदयिकभाव है।

अल्पबहुत्व–सबसे कम आहारकशरीर है, वैक्रियिकशरीर असख्यातगुणे है। असख्यात श्रेणी वा लोकप्रतरका असख्यातवा भाग गुणकार है। उससे औदारिक शरीर असख्यातगुणे है। यहा गुणकार असख्यात लोक है। तैजस और कार्मण अनन्तगुणे है। यहा गुणकार सिद्धोका अनन्तगुणा है।

लिङ्गनियम–

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

नारक और सम्मूर्च्छन जन्मवाले नपुंसक होते है।

§ १–४ धर्म आदि चार पुरुषार्थोंका नयन करनेवाले 'नर' होते है जो इन नरोको शीत उष्ण आदिकी वेदनाओसे शब्दाकुलित कर दे वह नरक है। अथवा पापी जीवोको आत्यन्तिक दु:खको प्राप्त करानेवाले नरक है। इन नरकोमे जन्म लेनेवाले जीव नारक है। जो चारो ओरके परमाणुओसे शरीर बनता है वह समूर्च्छ है इस सम्मूर्च्छसे उत्पन्न होनेवाले जीव सम्मूर्च्छन कहलाते है। ये दोनो चारित्रमोहनीयके नपुंसकवेद नोकषाय तथा अशुभ नामकर्मके उदयसे न स्त्री और न पुरुष अर्थात् नपुंसक ही होते है। इनमे स्त्री और पुरुष सम्बन्धी स्वल्प सुख भी नही है।

न देवाः ॥५१॥

§ १ देवोंमे नपुंसक नही होते। वे स्त्री और पुरुषसम्बन्धी अतिशय सुखका उपभोग करते है।

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

शेष जीवोके यथासंभव तीनो ही वेद होते है ।

§ १ चारित्रमोहके भेद पुंवेद आदिके उदयसे तीनो वेद होते है । जो अनुभवमे आवे उसे वेद कहते है । वेद अर्थात् लिग । लिग दो प्रकारका है–१ द्रव्यलिग और दूसरा भावलिग । नामकर्मके उदयसे योनि पुरुषलिग आदि द्रव्यलिंग है और नोकषायके उदयसे भावलिग होते है । स्त्रीवेदके उदयसे जो गर्भ धारण कर सके वह स्त्री, जो सन्ततिका उत्पादक हो वह पुरुष और जो दोनो शक्तियोसे रहित हो वह नपु सक है । ये सब रूढ़ शब्द है । रूढियोमे क्रिया साधारण व्युत्पत्तिके लिए होती है जैसे 'गच्छतीति गौ.' यहा । यदि क्रियाकी प्रधानता हो तो बाल वृद्ध तिर्यंच और मनुष्य तथा कार्मणयोगवर्ती देवोमे गर्भधारणादि क्रियाए नही पाई जाती अत उनमे स्त्री आदि व्यपदेश नही हो सकेगा । स्त्रीवेद लकड़ीके अगारकी तरह, पुरुषवेद तृणकी अग्निकी तरह और नपु सकवेद ई टके भट्ठेकी तरह होता है ।

अकालमृत्युका नियम–

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

उपपाद जन्मवाले देव और नारकी, चरमोत्तम देहवाले और असख्यात वर्षकी आयुवालोकी आयुका घात विष-शस्त्रादिसे नही होता ।

§ १–५ औपपादिक–देव और नारकी । चरम–उसी जन्मसे मोक्ष जानेवाले । उत्तम शरीरी अर्थात् चक्रवर्ती वासुदेव आदि । असख्येयवर्षायुष् पल्य प्रमाण आयुवाले उत्तरकुरु आदिके जीव । अपवर्त–विष शस्त्र आदिके निमित्तसे आयुके ह्रासको अपवर्त कहते है ।

§ ६–९ **प्रश्न**–उत्तम देहवाले भी अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और कृष्ण वासुदेव तथा और भी ऐसे लोगोकी अकालमृत्यु सुनी जाती है अत यह लक्षण ही अव्यापी है ? **उत्तर**–चरम शब्द उत्तमका विशेषण है अर्थात् अन्तिम उत्तम देहवालोकी अकालमृत्यु नही होती । यदि केवल उत्तमदेह पद देते तो पूर्वोक्त दोष बना रहता है । यद्यपि केवल 'चरमदेह' पद देनेसे कार्य चल जाता है फिर भी उस चरमदेहकी सर्वोत्कृष्टता बतानेके लिए उत्तम विशेषण दिया है । कही 'चरमदेहा' यह पाठ भी देखा जाता है । इनकी अकालमृत्यु कभी नही होती ।

§ १०–१३ जैसे कागज पयाल आदिके द्वारा आम आदिको समयसे पहिले ही पका दिया जाता है उसी तरह निश्चित मरणकालसे पहिले भी उदीरणाके कारणोंसे आयुकी उदीरणा होकर अकालमरण हो जाता है । आयुर्वेदशास्त्रमें अकालमृत्युके वारणके लिए औषधिप्रयोग बताये गए है । जैसे दवाओके द्वारा वमन विरेचन आदि कराके श्लेष्म आदि दोषोको बलात् निकाल दिया जाता है उसी तरह विष शस्त्रादि निमित्तोसे आयुकी भी समयसे पहिले ही उदीरणा हो जाती है । उदीरणामे भी कर्म अपना फल देकर ही झडते है, अत कृतनाशकी आशंका नही है । न तो अकृत कर्मका फल ही भोगना पडता है और न कृत कर्मका नाश ही होता है, अन्यथा मोक्ष ही नही हो सकेगा और न दानादि क्रियाओंके करनेका उत्साह ही होगा । तात्पर्य यह कि जैसे गीला कपड़ा फैला देनेपर जल्दी सूख जाता है और वही यदि इकट्ठा रखा रहे तो सूखनेमे बहुत समय लगता है उसी तरह उदीरणाके निमित्तोंसे समयके पहिले ही आयु झड़ जाती है । यही अकालमृत्यु है ।

द्वितीय अध्याय समाप्त

*

तृतीय अध्याय

नरक पृथ्वियाँ–

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वियाँ नीचे-नीचे है और घनोदधिवात, घनवात और तनुवात इन तीन वातवलयोसे वेष्टित है । इन वातवलयोका आधार आकाश है ।

§ १–४ रत्न आदि शब्दोंका द्वन्द्व समास करके प्रत्येकमे प्रभा शब्द जोड़ देना चाहिए, रत्नप्रभा शर्कराप्रभा आदि । जैसे यष्टि सहित देवदत्तको यष्टि कहते है उसी तरह चित्र वज्र वैडूर्य लोहित आदि सोलह रत्नोकी प्रभासे सहित होनेके कारण रत्नप्रभा संज्ञा की गई है । इसी तरह शर्कराप्रभा आदि समझना चाहिए । तमकी भी अपनी एक आभा होती है । केवल दीप्तिका नाम ही प्रभा नही है किन्तु द्रव्योका जो अपना विशेष-विशेष सलोनापन होता है, उसीसे कहा जाता है कि यह स्निग्ध कृष्ण प्रभावाला है यह रूक्ष कृष्ण प्रभावाला ।

§ ५–६ जैसे मखमली कीडेकी 'इन्द्रगोप'सज्ञा रूढ़ है, इसमे व्युत्पत्ति अपेक्षित नही है उसी तरह तम प्रभा आदि सज्ञाएँ अनादि पारिणामिकी रूढ समझनी चाहिए । यद्यपि ये रूढ शब्द है फिर भी ये अपने प्रतिनियत अर्थोको कहते है ।

§ ७–८ जिस प्रकार स्वर्गपटल भूमिका आधार लिए बिना ही ऊपर ऊपर है उस प्रकार नरक नही है किन्तु भूमियोमे है । इन भूमियोका आलम्बन घनोदधिवातवलय है, घनोदधिवातवलय घनवातवलयसे वेष्टित है और घनवातवलय तनुवातवलयसे । तनुवात-वलयका आधार आकाश है और आकाश स्वात्माधार है । तीनो ही वातवलय बीस-बीस हजार योजन मोटे है । घनोदधिका रग मूंगके समान, घनवातका गोमूत्रके समान और तनुवातका रग अव्यक्त है ।

रत्नप्रभा पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है । उसके तीन भाग है । १ खरभाग २ पंकबहुल ३ अब्बहुल । चित्र आदि सोलह प्रकारके रत्नोकी प्रभासे चम-चमाता हुआ खरपृथिवी भाग सोलह हजार योजन मोटा है । पकबहुल भाग चौरासी हजार योजन मोटा है और अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है । खर पृथिवी भागके ऊपर और नीचेकी ओर एक एक हजार योजन छोडकर मध्यके १४ हजार योजनमे किन्नर किपुरुष महोरग गन्धर्व यक्ष भूत और पिशाच इन सात व्यन्तरोके तथा नाग विद्युत सुपर्ण अग्नि वात स्तनित उदधि द्वीप और दिक्कुमार इन नव भवनवासियोके निवास है । पक-बहुल भागमे असुर और राक्षसोंके आवास है । अब्बहुल भागमे नरक बिल है । शर्करा-प्रभाकी मुटाई ३२ हजार योजन, बालुकाप्रभाकी २८ हजार योजन, इस तरह छठवी पृथिवी तक चार चार हजार योजन कम होती गई है । सातवी नरकभूमि आठ हजार योजन मोटी है । सभीमें तिरछा अन्तर असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन है ।

§ ९–१२ सात ही नरकभूमियाँ है न छह और न आठ। अतः कोई मतवालोंका यह मानना ठीक नही है कि–अनन्त लोक धातुओमे अनन्त पृथ्वी प्रस्तार है। ये भूमियाँ नीचे-नीचे है तिरछी नही है। यद्यपि इन भूमियोंमे परस्पर असंख्यात कोड़ा-कोडी योजनका अन्तराल है फिर भी इसकी विवक्षा न होनेसे अथवा अन्तरको भूमिके ऊपर-नीचेके भागमे शामिल कर देनेसे सामीप्य अर्थमे 'अधोऽध' यह दो बार 'अध' शब्दका प्रयोग किया है। विद्यमान भी पदार्थकी अविवक्षा होती है जैसे कि अनुदरा कन्या और बिना रोमकी भेड आदिमे।

§ १३–१४ श्वेताम्बर सूत्रपाठमे 'पृथुतरा' यह पाठ है किन्तु जब तक कोई 'पृथु' सामने न हो तब तक किसीको 'पृथुतर' कैसे कहा जा सकता है? दो मेसे किसी एकमे अतिशय दिखानेके लिए 'तर'का प्रयोग होता है, खासकर रत्नप्रभामे तो 'पृथुतर' प्रयोग हो ही नही सकता; क्योकि कोई इससे पहिलेकी भूमि ही नही है। नीचे-नीचेकी पृथिवियाँ उत्तरोत्तर हीन परिमाणवाली है, अतः उनमे भी 'पृथुतरा' प्रयोग नही किया जा सकता। अधोलोकका आकार वेत्रासनके समान नीचे-नीचे पृथु होता गया है, अत इसकी अपेक्षा 'पृथुतर' प्रयोगकी उपपत्ति किसी तरह बैठ भी जाय तो भी इससे भूमियोके आजू-बाजू बाहर पृथुत्व आयगा न कि नरकभूमियोंमे। कहा है–"स्वयम्भूरमण समुद्रके अन्तसे यदि सीधी रस्सी डाली जाय तो वह सातवी नरकभूमिके काल महाकाल रौरव महारौरवके अन्तमे जाकर गिरती है"। यदि कथञ्चित् 'पृथुतरा' पाठ बैठाना भी हो तो 'तिर्यक् पृथुतरा' कहना चाहिए, न कि 'अधोऽध'। अथवा नीचे-नीचेके नरकोंमे चूँकि दुःख अधिक है आयु भी बडी है अत इनकी अपेक्षा भूमियोमे भी 'पृथुतरा' व्यवहार यथाकथंचित् किया जा सकता है। फिर भी रत्नप्रभामे 'पृथुतरा' व्यवहार किसी भी तरह नही बन सकेगा।

बिलोकी सख्या–

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

इन रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंमे क्रमशः ३० लाख २५ लाख १५ लाख १० लाख ३ लाख पाच कम एक लाख और ५ बिल है।

§ १–२ 'त्रिंशत्' आदि पदार्थोका परस्पर सम्बन्ध अर्थमे समास है। यथाक्रम कहनेसे क्रमश सख्याओंका सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

रत्नप्रभाके अब्बहुल भागमे ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोडकर मध्य भागमे नरक है। वे इन्द्रक श्रेणि और पुष्पप्रकीर्णकके रूपमे तीन विभागोमे विभाजित है। इसमे १३ नरक प्रस्तार है और उनमें सीमन्तक निरय रौरव आदि १३ ही इन्द्रक है। शर्कराप्रभामें ११ नरक प्रस्तार और स्तनक सस्तनक आदि ग्यारह इन्द्रक है। बालुकाप्रभामे ९ नरक प्रस्तार और तप्त त्रस्त आदि ९ इन्द्रक है। पकप्रभामे ७ नरक प्रस्तार और आर मार आदि सात ही इन्द्रक है। धूमप्रभामे ५ नरक प्रस्तार और तम भ्रम आदि ५ इन्द्रक हैं। तम.प्रभामें तीन नरक प्रस्तार और हिमवर्दल और ललक ये तीन ही इन्द्रक हैं। महातम प्रभामें एक ही इन्द्रक नरक अप्रतिष्ठान नामका है।

सीमन्त इन्द्रक नरककी चारों दिशाओ और चार विदिशाओमे क्रमबद्ध नरक है तथा मध्यमे प्रकीर्णक। दिशाओकी श्रेणीमे ४९, ४९ नरक हैं तथा विदिशाओंकी श्रेणीमे ४८, ४८। निरय आदि शेष इन्द्रकोमे दिशा और विदिशाके श्रेणीबद्ध नरकोकी सख्या क्रमसे एक-एक कम होती गई है। अत

पृथिवी	श्रेणी और इन्द्रक	पुष्प प्रकीर्णक	योग
१	४४३३	२९९५५६७	३००००००
२	२६९५	२४९७३०५	२५०००००
३	१४८५	१४९८५१५	१५०००००
४	७०७	९९९२९३	१००००००
५	२६५	२९९७३५	३०००००
६	६३	९९९३२	९९९९५
७	५	×	५
	९६५३	८३९०३४७	८४०००००

सातवेमे विदिशाओमे नरक नही है। पूर्वमे काल, पश्चिममे महाकाल, दक्षिणमे रौरव, उत्तरमे महारौरव और मध्यमे अप्रतिष्ठान है।

इन सातो पृथिवियोमे कुछ नरक सख्यात लाख योजन विस्तारवाले और कुछ असख्यात लाख योजन विस्तारवाले है। पाँचवे भाग तो सख्यात योजन विस्तारवाले और ४ भाग असख्यात योजन विस्तारवाले है।

इन्द्रक बिलोकी गहराई प्रथम नरकमे १ कोश और आगे क्रमश आधा-आधा कोश बढती हुई सातवेमे ४ कोश हो जाती है। श्रेणीबद्धकी गहराई अपने इन्द्रककी गहराईसे तिहाई और अधिक है। प्रकीर्णकोकी गहराई, श्रेणी और इन्द्रक दोनोकी मिली हुई यह-राईके बराबर है। ये सब नरक ऊँट आदिके समान अशुभ आकारवाले है। इनके शोचन रोदन आदि भद्दे-भद्दे नाम है।

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदना विक्रियाः ॥३॥

नारकी जीवोके सदा लेश्या, परिणमन, देह, वेदना और विक्रिया सभी अशुभतर होते है।

§ १–३ तिर्यञ्चोकी अपेक्षा अथवा ऊपरके नरकोकी अपेक्षा नीचे नरकोमे लेश्या आदि अशुभतर होते है।

§ ४ जैसे 'नित्यप्रहसितो देवदत्त –देवदत्त नित्य हसता है' यहाँ नित्य शब्द बहुधा अर्थ मे है अर्थात् निमित्त मिलनेपर देवदत्त जरूर हसता है उसी तरह नारकी भी निमित्त मिलनेपर अवश्य ही अशुभतर लेश्यावाले होते है। यहाँ नित्यका अर्थ शाश्वत या कूटस्थ नही है। अत. लेश्याकी अनिवृत्तिका प्रसग नही होता।

प्रथम और द्वितीय नरकमे कापोतलेश्या, तृतीय नरकमे ऊपर कापोत तथा नीचे नील, चौथेमे नील, पाँचवे मे ऊपर नील और नीचे कृष्ण, छठवेमे कृष्ण, और सातवेमे परमकृष्ण द्रव्यलेश्या होती है। भावलेश्या तो छहो होती है और वे अन्तर्मुहूर्तमे बदलती रहती है। क्षेत्रके कारण वहाँके स्पर्श, रस गन्ध वर्ण और शब्द परिणमन अत्यन्त दु खके कारण

होते है। उनके शरीर अशुभ नाम कर्मके उदयसे हुडक सस्थानवाले बीभत्स होते है। यद्यपि उनका शरीर वैक्रियिक है फिर भी उसमे मल मूत्र पीब आदि सभी बीभत्स सामग्री रहती है। प्रथम नरकमें शरीरकी ऊचाई ७ धनुष ३ हाथ और ६ अगुल है। आगेके नरकोमे दूनी होकर सातवे नरकमे ५०० धनुष हो जाती है। आभ्यन्तर असातावेदनीय के उदयसे शीत उष्ण आदिकी बाह्य तीव्र वेदनाए होती है। नरकोमे इतनी गरमी होती है कि यदि हिमालय बराबर ताबेका गोला उसमे डाल दिया जाय तो वह क्षणमात्रमे गल जायगा, और यदि वही पिघला हुआ शीतनरकोमे डाला जाय तो क्षणमात्रमे ही जम जायगा। आदिके चार नरकोमे उष्णवेदना है। पाँचवेके दो लाख बिलोमे उष्णवेदना तथा शेषमे शीतवेदना है। छठवे और सातवेमे शीतवेदना ही है। तात्पर्य यह है कि ८२ लाख नरक उष्ण है और दो लाख नरक शीत। नारकी जीव विचारते है कि शुभ करे पर कर्मोदयसे होता अशुभ ही है। दुःख दूर करनेके जितने उपाय करते है उनसे दूना दुःख ही उत्पन्न होता है।

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

§ १ जिस प्रकार एक कुत्ता दूसरे कुत्तेको देखकर अकारण ही भोकता है और काटता है उसी तरह नारकी तीव्र अशुभ कर्मके उदयसे तथा विभङ्गावधिसे पूर्वकृत वैरके कारणोंको जान जानकर निरन्तर एक दूसरेको तीव्र दुःख उत्पन्न करते रहते है। आपसमे मारना काटना छेदना घानीमे पेलना आदि भयकर दुःख कारणोको जुटाते रहते है।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

पूर्वभवके सक्लेशपरिणामोसे बाँधे गये अशुभ कर्मके उदयसे सतत सक्लेशपरिणामवाले असुरकुमार चौथे नरकसे पहिले नारकियोको परस्पर लडाते भिडाते है।

§ १-५ असुर नामक देवगतिके उदयसे असुर होते है। सभी असुर सक्लिष्ट नही होते किन्तु अम्बाम्बरीष आदि जातिके कुछ ही असुर। तीसरी पृथिवी तक ही इनकी गमन शक्ति है। यद्यपि 'आचतुर्थ्य' कहनेसे लघुता होती फिर भी चूँकि 'आङ्' का अर्थ मर्यादा और अभिविधि दोनो ही होता है अत. सन्देह हो सकता था कि 'चौथी पृथ्वीको भी शामिल करना या नही ?' इसलिए स्पष्ट और असन्दिग्ध अर्थबोधके लिए 'प्राक्' पद दिया है।

§ ६ 'च' शब्द पूर्वोक्त दुःख हेतुओके समुच्चयके लिए है, अन्यथा तीन पृथिवियोंमे पूर्वहेतुओके अभावका प्रसङ्ग होता।

§ ७ यद्यपि पूर्वसूत्रमे उदीरित शब्द है फिर भी चूँकि वह समासान्तर्गत होनेसे गौण हो गया है अत उसका यहाँ सम्बन्ध नहीं हो सकता था अत. इस सूत्रमे पुन 'उदीरित' शब्द दिया है।

§ ८ यद्यपि 'परस्परेणोदीरितदु.खा. संक्लिष्टासुरैश्च प्राक् चतुर्थ्या.' ऐसा एक वाक्य बनाया जा सकता था फिर भी उदीरणाके विविध प्रकारोंके प्रदर्शनके लिए पृथक् उदीरित शब्द देकर पूर्वोक्त सूत्र बनाए है। नरकोंमे असुर कुमार जातिके देव परस्पर तपे हुए लोहेको पिलाना, जलते हुए लोहस्तम्भसे चिपटा देना, लौह-मुद्गरोंसे ताडना, बसूला छुरी तलवार आदिसे काटना, तप्त तेलसे सीचना, भाँड़मे भूंजना, लोहेके घडेमे पका देना, कोल्हूमे पेल देना, शूली पर चढ़ा देना, करोंतसे काट देना, सुई जैसी घास पर घसीटना, सिह

व्याघ्र कौआ उल्लू आदिके द्वारा खिलाया जाना, गरम रेत पर सुला देना, वैतरिणीमें पटकना आदिके द्वारा नारकियोके तीव्र दु खके कारण होते है । वे ऐसे कलहप्रिय और सक्लेशमना है कि जब तक वे इस प्रकारकी मारकाट मार-धाड आदि नही करा लेते तब तक उन्हे शान्ति नहीं मिलती जैसे कि यहाँ कुछ रुद्र लोग मेढा तीतर मुर्गा बटेर आदिको लड़ाकर अपनी रौद्रानन्दी कुटेवकी तृप्ति करते है । यद्यपि उनके देवगति नामकर्मका उदय है फिर भी उनके माया मिथ्या निदान शल्य, तीव्र कषाय आदिसे ऐसा अकुशलानुबन्धी पुण्य बंधा है जिससे उन्हे अशुभ और संक्लेशकारक प्रवृत्तियोंमे ही आनन्द आता है । इस तरह भयकर छेदन भेदन आदि होनेपर भी नारकियोकी कभी अकालमृत्यु नही होती ।

नारकियोंकी आयु–

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

इन नरकोंके जीवोंकी क्रमश एक तीन सात दस सत्रह बाईस और तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है ।

◊ १–२ सागरमे जिस प्रकार अपार जलराशि होती है उसी तरह नारकियोकी आयुमे निषेकोंकी सख्या अपार होती है अत सागरकी उपमासे आयुका निर्देश किया है । एक आदि शब्दोका द्वन्द्व समास करके सागरोपमा विशेषणसे अन्वय कर देना चाहिए । **प्रश्न**–जब 'एका च तिस्रश्च' इत्यादि विग्रहमे एक शब्द स्त्रीलिग है तब सूत्रमे उसका पुल्लिग रूपसे निर्देश कैसे हो गया ? **उत्तर**–यह पुल्लिग निर्देश नही है किन्तु 'एकस्याः क्षीरम् एक-क्षीरम्'की तरह औत्तरपदिक ह्रस्वत्व है । अथवा 'सागर उपमा यस्य तत् सागरोपमम् आयु.' फिर, 'एक च त्रीणि च' आदि विग्रह करके स्त्रीलिग स्थिति शब्दसे बहुव्रीहि समास करने पर स्थिति शब्दकी अपेक्षा स्त्रीलिग निर्देश है ।

◊ ३ द्वितीय सूत्रसे 'यथाक्रमम्'का अनुवर्तन करके क्रमशः रत्नप्रभा आदिसे सम्बन्ध कर लेना चाहिए । रत्नप्रभाकी एक सागर, शर्करा प्रभाकी तीन सागर आदि ।

◊ ४–५ **प्रश्न**–'तेषु' कहनेसे रत्नप्रभा पृथिवीके सीमन्तक आदि नरक पटलोमे ही पूर्वोक्त स्थितिका सम्बन्ध होना चाहिए, क्योकि प्रकरण-सामीप्य इन्हीसे है । पर यह आपको इष्ट नही है । अतः 'तेषु' यह पद निरर्थक है । **उत्तर**–जो रत्नप्रभा आदिसे उपलक्षित तीस लाख पच्चीस लाख आदिरूपसे नरकबिल गिने गए है उन नरकोंके जीवोकी एक सागर आदि आयु विवक्षित है । अथवा, नरक सहचरित भूमियोको भी नरक ही कहते है, अतः इन रत्नप्रभा आदि नरकोंमे उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी यह स्थिति है । इसीलिए 'तेषु' पद की सार्थकता है, अन्यथा भूमिसे आयुका सम्बन्ध नही जुड़ पाता क्योकि वे व्यवहित हो गई हैं ।

◊ ६ 'सत्त्वानाम्' यह स्पष्ट पद दिया है अत नरकवासी जीवोंकी यह स्थिति है न कि नरकों की ।

◊ ७ परा अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति । रत्नप्रभा आदिमें प्रस्तार क्रमसे जघन्य स्थिति इस प्रकार है–

प्रस्तार	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१ सीमन्तक	दस हजार वर्ष	९० हजार वर्ष
२ निरय	९० हजार वर्ष	९० लाख वर्ष
३ रौरुक	१ पूर्व कोटी	असख्यात पूर्व कोटी
४ भ्रान्त	असख्यात पूर्व कोटी	$\frac{१}{६}$ सागर
५ उद्भ्रान्त	$\frac{१}{६}$ सागर	$\frac{२}{६}$ सागर
६ सम्भ्रान्त	$\frac{२}{६}$ सागर	$\frac{३}{६}$ सागर
७ असम्भ्रान्त	$\frac{३}{६}$ सागर	$\frac{४}{६}$ सागर
८ विभ्रान्त	$\frac{४}{६}$ सागर	$\frac{५}{६}$ सागर
९ तप्त	$\frac{५}{६}$ सागर	$\frac{६}{६}$ सागर
१० त्रस्त	$\frac{६}{६}$ सागर	$\frac{७}{६}$ सागर
११ व्युत्क्रान्त	$\frac{७}{६}$ सागर	$\frac{८}{६}$ सागर
१२ अवक्रान्त	$\frac{८}{६}$ सागर	$\frac{९}{६}$ सागर
१३ विक्रान्त	$\frac{९}{६}$ सागर	१ सागर

जघन्य स्थितिसे एक समय अधिक और उत्कृष्टसे एक समय कमके समस्त विकल्प रूप मध्य स्थिति है ।

इसी तरह शर्कराप्रभा आदिमे भी प्रति प्रस्तार जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति समझ लेनी चाहिए । उसका नियम यह है–

उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिका अन्तर निकालकर प्रतरोकी सख्यासे उसे विभाजित करके पहिली पृथिवीकी उत्कृष्ट स्थितिमे जोडनेपर दूसरी पृथिवीके प्रथम पटलकी उत्कृष्ट स्थिति होती है। आगे वही इष्ट जोडते जाना चाहिए। जैसे शर्कराप्रभाकी उत्कृष्ट ३ सागर और जघन्य एक सागर है। दोनोका अन्तर २ आया। इसमे प्रतरसख्या ११ का भाग देने पर $\frac{२}{११}$ इष्ट हुआ। इसे प्रतिपटलमे बढानेपर अवान्तर पटलोकी उत्कृष्ट स्थिति हो जाती है। पहिली पहिली पृथिवीकी तथा पहिले पहिले पटलोंकी उत्कृष्ट स्थिति आगे आगेकी पृथिवियों और पटलोंमे जघन्य हो जाती है ।

उत्पत्तिका विरहकाल–सभी पृथिवियोमे जघन्य एक समय और उत्कृष्ट क्रमश· २४ मुहूर्त, सात रात-दिन, एक पक्ष, एक माह, दो माह, चार माह और छह माह होता है।

उत्पाद और नियति–असज्ञी प्रथम पृथिवी तक, सरीसृप द्वितीय तक, पक्षी तीसरी तक, सर्प चौथी तक, सिह पाँचवी तक, स्त्रियाँ छठवी तक और मत्स्य तथा मनुष्य सातवी पृथिवी तक उत्पन्न होते है। देव नरकमे और नारकी देवोमे उत्पन्न नही हो सकते । पहिले नरकमे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वी नारक कोई मिथ्यात्वके साथ कोई सासादन होकर और कोई सम्यक्त्वको प्राप्त करके निकलते है । पहिली पृथिवीमे उत्पन्न होनेवाले बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शनके साथ ही निकलते है। द्वितीय आदि पाँच नरकोंमे उत्पन्न मिथ्यादृष्टि नारक कुछ मिथ्यात्वके साथ कुछ सासादनके साथ और कुछ सम्यक्त्व प्राप्त करके निकलते है। सातवे नरकमे मिथ्यात्वसे ही प्रविष्ट होते है तथा मिथ्यात्वके साथ ही निकलते है । छठवीं पृथिवी तक नारक मिथ्यात्व और सासादनके साथ निकलकर तिर्यञ्च और मनुष्य दो गतियोंको प्राप्त करते है । तिर्यञ्चोंमे पंचेन्द्रिय गर्भज संज्ञी पर्याप्तक

संख्येय वर्षकी आयुवाले तिर्यञ्च होते है। मनुष्योंमे गर्भज पर्याप्तक सख्येय वर्षकी आयुवाले ही मनुष्य होते है। सम्यङ्मिथ्यादृष्टि नारकोंका उसी गुणस्थानमे मरण नही होता। सम्यग्दृष्टि नारक सम्यक्त्वके साथ निकलकर केवल मनुष्यगतिमे ही जाते है। मनुष्योमे भी गर्भज पर्याप्तक संख्येय वर्षकी आयुवाले मनुष्योमे ही उत्पन्न होते है। सातवे नरकसे नारक मिथ्यात्वके साथ निकलकर एक तिर्यञ्च गतिमे ही जाते है। तिर्यञ्चोमे भी पचेन्द्रिय गर्भज सख्येय वर्षकी आयुवाले ही होते है। वहाँ उत्पन्न होकर भी मति, श्रुत, अवधिज्ञान, सम्यक्त्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सयमासयमको उत्पन्न नही कर सकते। छठवे नरकसे निकलकर तिर्यञ्च और मनुष्योमे उत्पन्न हुए कोई जीव मति श्रुत अवधिज्ञान सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्व और देशसंयम इन छहोंको प्राप्त कर सकते है। पाँचवीं से निकलकर तिर्यञ्चोंमे उत्पन्न हुए कोई जीव पूर्वोक्त छह स्थानोंको प्राप्त कर सकते है। मनुष्योमे उत्पन्न हुए जीव उक्त छहके साथ ही साथ पूर्ण संयम और मनःपर्यय ज्ञानको भी प्राप्त कर सकते है। चौथीसे निकलकर तिर्यञ्चोंमे उत्पन्न हुए कोई जीव मति आदि छहको ही प्राप्त कर सकते है, अधिकको नही। मनुष्योंमे उत्पन्न हुए केवल ज्ञान भी प्राप्त कर सकते है। मोक्ष जा सकते है पर बलदेव वासुदेव चक्रवर्ती और तीर्थंकर नही हो सकते। तीसरी पृथिवी तकके तिर्यञ्चोमे उत्पन्न हुए जीव पूर्वोक्त छह स्थानोको प्राप्त कर सकते है, मनुष्योंमे उत्पन्न जीव तीर्थंकर भी हो सकते है, मोक्ष भी जा सकते है, पर बलदेव वासुदेव और चक्रवर्ती नही होते।

तिर्यग् लोकका वर्णन–

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

चूंकि स्वयंभूरमण पर्यन्त असख्यात द्वीप समुद्र तिर्यक्-समभूमि पर तिरछे व्यवस्थित है अत इसको तिर्यक् लोक कहते है।

जम्बूद्वीप लवणसमुद्र आदि शुभनामवाले द्वीप और समुद्र हैं।

§ १ अतिविशाल महान् जम्बूवृक्षका आधार होनेसे यह द्वीप जम्बूद्वीप कहलाता है। उत्तरकुरुक्षेत्रमें ५०० योजन लम्बी-चौडी तिगुनी परिधिवाली, बीचमे बारह योजन मोटी और अन्तमे दो कोश मोटी भूमि है। उसके मध्यभागमे ८ योजन लबा ४ योजन चौडा इतना ही ऊँचा एक पीठ है। यह पीठ १२ पद्मवरवेदिकाओसे परिवेष्टित है। उन वेदिकाओंमें प्रत्येकमें चार चार शुभ्र तोरण है। इन पर सुवर्णस्तूप बने है। उसके ऊपर एक योजन लम्बा चौड़ा दो कोस ऊँचा मणिमय उपपीठ है। इस पर दो योजन ऊँची पीठवाला ६ योजन ऊचा मध्यमे ६ योजन विस्तारवाला और आठ योजन लम्बा सुदर्शन नामका जम्बूवृक्ष है। इसके चारों ओर इससे आधे लम्बे चौडे और ऊँचे १०८ परिवारभूत जम्बूवृक्ष और है।

§ २ खारे जलवाला होनेसे इस समुद्रका नाम 'लवणोद' पडा है।

इस तिर्यक्लोकमे जम्बूद्वीप, लवणोद, धातुकीखड, कालोद, पुष्करवर, पुष्करोद, वारुणीवर, वारुणोद, क्षीरवर, क्षीरोद, घृतवर, घृतोद, इक्षुवर, इक्षूद, नन्दीश्वरवर, नन्दीश्वरवरोद इत्यादि शुभ नामवाले असख्यात द्वीप समुद्र है। अन्तमे स्वयम्भूरमणद्वीप और स्वयम्भूरमणोद समुद्र है। अढ़ाई सागर कालके समयोंकी सख्याके बराबर द्वीप-समुद्रोंकी सख्या है।

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

क्रमशः दूने दूने विस्तारवाले और उत्तरोत्तर द्वीप समुद्र पूर्व पूर्वको घेरे हुए हैं और चूडीके आकार हैं।

§ १-३ पहिले द्वीपका जितना विस्तार है उससे दूना उसको घेरनेवाला समुद्र है उससे दूना उसको घेरनेवाला द्वीप है इस प्रकार आगे आगे दूने दूने विस्तारका स्पष्ट प्रतिपादन करनेके लिए 'द्विर्द्विः' ऐसा वीप्सार्थक निर्देश किया है। यद्यपि 'द्विदशा' की तरह समास करनेसे वीप्सा-अभ्यावृत्तिकी प्रतीति हो जाती पर यहां स्पष्ट ज्ञान करानेके लिए 'द्विर्द्वि' यह स्फुट निर्देश किया गया है।

ये द्वीप समुद्र ग्राम नगर आदिकी तरह बेसिलसिलेके नही बसे है किन्तु पूर्वपूर्वको घेरे हुए है और न ये चौकोर तिकोने पंचकोने षट्कोने आदि है किन्तु गोल है।

जम्बू द्वीपका वर्णन-

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

सभी द्वीप समुद्रोंके बीचमें एकलाखयोजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। इसके बीच में नाभिकी तरह गोलाकार सुमेरु पर्वत है।

§ १ 'तत्' शब्द पूर्वोक्त असख्य द्वीपसमुद्रोंका निर्देश करता है। जम्बूद्वीप की परिधि ३१६२२७ योजन ३ कोश १२८ धनुष १३॥ अगुलसे कुछ अधिक है। इस जम्बूद्वीपके चारों ओर एक वेदिका है। यह आधा योजन मोटी, आठ योजन ऊची, मूल मध्य और अन्तमे क्रमशः १२, ८ और ४ योजन विस्तृत, वज्रमयतलवाली, वैडूर्यमणिमय ऊपरी भागवाली, मध्यमे सर्वरत्नखचित, झरोखा, घंटा, मोती सोना मणि पद्ममणि आदिकी नौ जालियोंसे भूषित है। ये जालियाँ आधे योजन ऊची पाँच सौ धनुष चौडी और वेदिकाके समान लम्बी हैं। इसके चारों दिशाओमे क्रिजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित नामके चार महाद्वार है। ये आठ योजन ऊंचे और चार योजन चौडे है। विजय और वैजयन्तका अन्तराल ७९००५२$\frac{3}{4}$ योजन $\frac{3}{4}$ कोश ३२ धनुष ३$\frac{1}{4}$ अंगुल अंगुलका $\frac{1}{2}$ भाग तथा कुछ अधिक है।

सात क्षेत्र-

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

§ १ विजयार्धसे दक्षिण, समुद्रसे उत्तर और गंगा सिन्धु नदियोंके मध्य भागमें १२ योजन लम्बी ९ योजन चौड़ी विनीता नामकी नगरी थी। उसमे भरत नामका षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती हुआ था। उसने सर्वप्रथम राजविभाग करके इस क्षेत्रका शासन किया था अतः इसका नाम भरत पड़ा।

§ २ अथवा, जैसे ससार अनादि है उसी तरह क्षेत्र आदिके नाम भी बिना किसी कारणके स्वाभाविक अनादि है।

§ ३ तीन ओर समुद्र और एक ओर हिमवान् पर्वतके बीचमें भरतक्षेत्र है। इसके गंगा सिन्धु और विजयार्ध पर्वतसे विभक्त होकर छह खंड हो जाते है।

§ ४ चक्रवर्त्तीके विजयक्षेत्रकी आधी सीमा इस पर्वतसे निर्धारित होती है। अत इसे विजयार्ध कहते है। यह ५० योजन विस्तृत २५ योजन ऊँचा ६। योजन गहरा है और अपने दोनों छोरोंसे पूर्व और पश्चिमके समुद्रको स्पर्श करता है। इसके दोनों ओर आधा योजन चौड़े और पर्वत बराबर लबे वनखड है। ये वन आधी योजन ऊची पांच सौ धनुष चौड़ी और वन बराबर लबी वेदिकाओसे घिरे हुए है। इस पर्वतमे तमिस्र और खण्ड-प्रपात नामकी दो गुफाएँ है। ये गुफाएँ उत्तर दक्षिण ५० योजन लबी पूर्व-पश्चिम १२ योजन चौड़ी है। इसके उत्तर दक्षिण दिशाओमे ८ योजन ऊँचे दरवाजे है। इनमें ६½ योजन चौड़े एक कोश मोटे और आठ योजन ऊँचे वज्रमय किवाड़ लगे है। इनसे चक्रवर्त्ती उत्तरभरत विजयार्धको जाता है। इन्हीसे गगा और सिन्धु निकली है। इनमे विजयार्धसे निकली हुई उन्मग्नजला और निमग्नजला दो नदियाँ मिलती है। इसी पहाडकी तलहटीमे भूमितलसे दस योजन ऊपर दोनों ओर दस योजन चौडी और पर्वत बराबर लम्बी विद्याधर श्रेणिया है। दक्षिण श्रेणीमें रथनूपुर चक्रवाल आदि ५० विद्याधरनगर है। उत्तर श्रेणीमे गगनवल्लभ आदि ६० विद्याधर नगर है। यहाँके निवासी भी यद्यपि भरतक्षेत्रकी तरह षट्कर्मसे ही आजीविका करते है, किन्तु प्रज्ञप्ति आदि विद्याओको धारण करनेके कारण विद्याधर कहे जाते है। इनसे दश योजन ऊपर दोनो ओर दश योजन विस्तृत व्यन्तर श्रेणियाँ है। इनमे इन्द्रके सोम यम वरुण और वैश्रवण ये चार लोकपाल तथा आभियोग्य व्यन्तरोंका निवास है। इससे पाँच योजन ऊपर दश योजन विस्तृत शिखरतल है। पूर्वदिशामे ६। योजन ऊंचा तथा इतना ही विस्तृत, वेदिकासे वेष्टित सिद्धायतनकूट है। इसपर उत्तर दक्षिण लंबा, पूर्व-पश्चिम चौडा, एक कोस लबा, आधा कोस चौड़ा कुछ कम एक कोस ऊचा, वेदिकासे वेष्टित, चतुर्दिक् द्वारवाला सुन्दर जिनमन्दिर है। इसके बाद दक्षिणार्ध भरतकूट खण्डकप्रपातकूट माणिकभद्रकूट विजयार्धकूट पूर्णभद्रकूट तमिस्रगुहाकूट उत्तरार्धभरतकूट और वैश्रवणकूट ये आठ कूट सिद्धायतनकूटके समान लबे चौडे ऊचे है। इनके ऊपर क्रमशः दक्षिणार्धभरतदेव वृत्तमाल्यदेव माणिभद्रदेव विजयार्धगिरिकुमारदेव पूर्णभद्रदेव कृतमालदेव उत्तरार्धभरतदेव और वैश्रवणदेवोके प्रासाद है।

§ ५–७ हिमवान् नामके पर्वतके पासका क्षेत्र, या जिसमे हिमवान् पर्वत है वह हैमवत है। यह क्षुद्रहिमवान् और महाहिमवान् तथा पूर्वापर समुद्रोके बीचमे है। इसके बीचमें शब्दवान् नामका वृत्तवेदाढ्य पर्वत है। यह एक हजार योजन ऊचा, २५० योजन जडमें, ऊपर और मूलमे एक हजार योजन विस्तारवाला है। इसके चारों ओर आधा योजन विस्तारवाली तथा चतुर्दिक् द्वारवाली वेदिका है। उसके तलमे ६२½ योजन ऊचा ३१¼ योजन विस्तृत स्वातिदेवका विहार है।

§ ८–१० हरि अर्थात् सिंहके समान शुक्ल रूपवाले मनुष्य इसमे रहते है अत. यह हरिवर्ष कहलाता है। यह निषधसे दक्षिण महाहिमवान्से उत्तर और पूर्वापर समुद्रोके मध्यमे है। इसके बीचमें विकृतवान् नामका वृत्तवेदाढ्य है। इसपर अरुणदेवका विहार है।

§ ११–१२ निषधसे उत्तर नील पर्वतसे दक्षिण और पूर्वापरसमुद्रोंके मध्यमें विदेह क्षेत्र है। इसमे रहनेवाले मनुष्य सदा विदेह अर्थात् कर्मबन्धोच्छेदके लिए यत्न करते रहते है इसलिए इस क्षेत्रको विदेह क्षेत्र कहते है। यहाँ कभी भी धर्मका उच्छेद नही होता।

§ १३ यह पूर्वविदेह अपरविदेह उत्तरकुरु और देवकुरु इन चार भागोंमे विभाजित है। भरतक्षेत्रके दिग्विभागकी अपेक्षा मेरुके पूर्वमे पूर्वविदेह, उत्तरमे उत्तर कुरु, पश्चिममे अपर विदेह और दक्षिणमे देवकुरु है। विदेहके मध्यभागमे मेरु पर्वत है। उसकी चारों दिशाओंमे चार वक्षार पर्वत है।

सीतानदीके पूर्वकी ओर जम्बूवृक्ष है। उसके पूर्व दिशाकी शाखा पर वर्तमान प्रासादमे जम्बूद्वीपाधिपति अनावृत नामका व्यन्तरेश्वर रहता है। तथा अन्य दिशाओमें उसके परिवारका निवास है।

नीलकी दक्षिण दिशामे एक हजार योजन तिरछे जानेपर सीतानदीके दोनो तटोंपर दो यमकाद्रि है।

सीतानदीसे पूर्वविदेहके दो भाग हो जाते है—उत्तर और दक्षिण। उत्तरभाग चार वक्षार पर्वत और तीन विभग नदियोंसे बंट जाता है और ये आठो भूखण्ड आठ चक्रवर्तियोके उपभोग्य होते है। कच्छ सुकच्छ महाकच्छ कच्छक कच्छकावर्त लागलावर्त पुष्कल और पुष्कलावर्त ये उन देशोंके नाम है। उनमे क्षेमा क्षेमपुरी अरिष्टा अरिष्टपुरी खड्गा मजूषा ओषधि और पुण्डरीकिणी ये आठ राजनगरियाँ है। कच्छदेशमे पूर्व पश्चिम लबा विजयार्ध पर्वत है। वह गगा सिन्धु और विजयार्धसे बटकर छह खडको प्राप्त हो जाता है। इसी तरह दक्षिण पूर्वविदेह भी चार वक्षार और तीन विभग नदियोसे विभाजित होकर आठ चक्रवर्तियोके उपभोग्य होता है। वत्सा सुवत्सा महावत्सा वत्सावती रम्या रम्यका रमणीया और मंगलावती ये आठ देशोके नाम है।

इसी तरह अपर विदेह भी उत्तर-दक्षिण विभक्त होकर आठ-आठ देशोमे विभाजित होकर आठ-आठ चक्रवर्तियोके उपभोग्य होता है।

विदेहके मध्यमे मेरु पर्वत है। यह ९९ हजार योजन ऊंचा, पृथिवीतलमे एक हजार योजन नीचे गया है। इसके ऊपर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाडुक ये चार वन है। पांडुक वनमें बीचोबीच मेरुकी शिखर प्रारम्भ होती है। उस शिखरकी पूर्व दिशामे पांडुक शिला, दक्षिणमें पाण्डुकम्बल शिला, पश्चिममे रक्तकम्बल शिला और उत्तरमे अतिरक्त कम्बल नामकी शिला है। उनपर पूर्वमुख सिहासन रखे हुए है। पूर्व सिहासनपर पूर्वविदेहके तीर्थङ्करोंका, दक्षिणके सिहासनपर भरतक्षेत्रके तीर्थङ्करोंका, पश्चिममे अपर विदेहके तीर्थङ्करोका और उत्तरमे ऐरावतके तीर्थङ्करोका जन्माभिषेक देवगण करते है। यह मेरु पर्वत तीनो लोकोका मानदंड है। इसके नीचे अधोलोक, चूलिकाके ऊपर ऊर्ध्वलोक है और मध्यमे तिरछा फैला हुआ मध्यलोक है। इत्यादि विदेह क्षेत्रका विस्तृत वर्णन मूल-ग्रन्थसे जान लेना चाहिए।

§ १४-१६ नील पर्वतके उत्तर रुक्मि पर्वतके दक्षिण तथा पूर्व-पश्चिम समुद्रोंके बीच रम्यक क्षेत्र है। रमणीय देश नदी-पर्वतादिसे युक्त होनेके कारण इसे रम्यक कहते है। वैसे 'रम्यक' नाम रूढ़ ही है। रम्यक क्षेत्रके मध्यमें गन्धवान् नामक वृत्तवेदाढ्य है। यह शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यके समान लम्बा-चौडा है। इसपर पद्मदेवका निवास है।

§ १७-१९ रुक्मिके उत्तर शिखरीके दक्षिण तथा पूर्व पश्चिम समुद्रोंके बीच हैरण्यवत क्षेत्र है। हिरण्यवाले रुक्मि पर्वतके पास होनेसे इसका नाम हैरण्यवत पड़ा है।

इसमें शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यकी तरह माल्यवान् वृत्तवेदाढ्य है। इसपर प्रभासदेवका निवास है।

§ २०–२२ शिखरी पर्वत तथा पूर्व-पश्चिम और दक्षिण-उत्तर समुद्रोके बीच ऐरावत क्षेत्र है। रक्ता तथा रक्तोदा नदियोके बीच अयोध्या नगरी है। इसमे एक ऐरावत नामका राजा हुआ था। उसके कारण इस क्षेत्रका ऐरावत नाम पड़ा है। इसके बीचमें विजयार्ध पर्वत है।

पर्वतोंका वर्णन–

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

पूर्व और पश्चिम लवण समुद्र तक लम्बे हिमवन् महाहिमवन् निषध नील रुक्मी और शिखरी ये छह पर्वत है। इन पर्वतोंके कारण भरत आदि क्षेत्रोंका विभाग होता है अत. ये वर्षधर पर्वत कहे जाते है।

§ १–२ हिम जिसमे पाया जाय वह हिमवान्। चूंकि सभी पर्वतोंमे हिम पाया जाता है अत· रूढिसे ही इसकी हिमवान् सज्ञा समझनी चाहिए। यह भरत और हैमवत क्षेत्रकी सीमापर स्थित है। इसे क्षुद्रहिमवान् कहते है। यह २५ योजन पृथ्वीके नीचे, १०० योजन ऊचा १०५२$\frac{१२}{१९}$ योजन विस्तृत है। इसके ऊपर पूर्व दिशामें सिद्धायतन कूट है। पश्चिम दिशा मे हिमवत् भरत इला गगा श्री रोहितास्या सिन्धु सुरा हैमवत् और वैश्रवण ये दश कूट है इन सब पर चैत्यालय और प्रासाद है। इनमे हिमवत् भरत हैमवत् और वैश्रवण कूट पर इन्ही नामवाले देव तथा शेष कूटो पर उसी नामवाली देवियाँ रहती है।

§ ३–४ महाहिमवान् सज्ञा रूढिसे है। यह हैमवत और हरिवर्षका विभाग करनेवाला है। ५० योजन गहरा २०० योजन ऊचा और ४२१०$\frac{१२}{१९}$ योजन विस्तृत है। इसपर सिद्धायतन महाहिमवत् हैमवत् रोहित् हरि हरिकान्ता हरिवर्ष और वैडूर्य ये आठ कूट है। कूटोंमें चैत्यालय और प्रासाद है। प्रासादोमे कूटके नामवाले देव और देवियाँ निवास करती है।

§ ५–६ जिसपर देव और देवियाँ क्रीड़ा करे वह निषध। यह संज्ञा रूढ है। यह हरि और विदेह क्षेत्रकी सीमा पर है। यह १०० योजन गहरा ४०० योजन ऊंचा और १६८४२$\frac{३}{१९}$ योजन विस्तृत है। इस पर सिद्धायतन निषध हरिवर्ष पूर्वविदेह हरि धृति सीतोदा अपरविदेह और रुचकनामके नव कूट हैं। कूटोपर चैत्यालय और देवप्रासाद है। इनमें कूटोके नामवाले देव और देवियाँ रहती है।

§ ७–८ नीलवर्ण होनेके कारण इसे नील कहते है। वासुदेवकी कृष्णसज्ञाकी तरह यह सज्ञा है। यह विदेह और रम्यक क्षेत्रकी सीमापर स्थित है। इसका विस्तार आदि निषधके समान है। इस पर सिद्धायतन नील पूर्वविदेह सीता कीर्ति नरकान्ता अपरविदेह रम्यक और आदर्शक ये नव कूट है। इन पर चैत्यालय और प्रासाद है। प्रासादोंमे अपने कूटों के नाम वाले देव और देवियाँ रहती है।

§ ९–१० चाँदी जिसमें पाई जाय वह रुक्मी। यह रूढ सज्ञा है जैसे कि हाथीकी करिसंज्ञा। यह रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रका विभाग करता है। इसका विस्तार आदि महा-

हिमवान्के समान है। इस पर सिद्धायतन रुक्मि रम्यक नारी बुद्धि रूप्यकूला हैरण्यवत और मणिकाचन ये आठ कूट हैं। इनपर जिन-मन्दिर और प्रासाद हैं। प्रासादोंमे अपने कूटके नामवाले देव और देवियाँ रहती हैं।

§ ११-१२ जिसके शिखर हों यह शिखरी। यह रूढ संज्ञा है जैसे कि मोरकी शिखंडी सज्ञा। यह हैरण्यवत और ऐरावतकी सीमा पर पुलके समान स्थित है। इसका विस्तार आदि हिमवान्के समान है। इसपर सिद्धायतन शिखरी हैरण्यवत रसदेवी रक्तावती श्लक्ष्णकूला लक्ष्मी गन्धदेवी ऐरावत और मणिकाचन ये ११ कूट है। इनपर जिनायतन और प्रासाद है। प्रासादोमे अपने कूटके नामवाले देव और देवियाँ रहती है।

पर्वतोका रग—

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

हिमवान् हेममय चीनपट्टवर्ण का है। महाहिमवान् अर्जुनमय शुक्लवर्ण है। निषध तपनीयमय मध्याह्नके सूर्यके समान वर्णवाला है। नील वैडूर्यमय मोरके कंठके समान वर्णका है। रुक्मी रजतमय शुक्लवर्णवाला है। शिखरी हेममय चीनपट्टवर्णका है।

'मय' विकारार्थक है। हरएक पर्वतके दोनो ओर वनखड और वेदिकाएँ है।

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

इन पर्वतोंके पार्श्वभाग रग विरगी मणियोंसे चित्रविचित्र है और ये ऊपर नीचे और मध्यमे तुल्य विस्तारवाले है।

§ १ उपरि आदि वचन अनिष्ट संस्थानकी निवृत्तिके लिए है। च शब्दसे मध्यका ग्रहण कर लेना चाहिये।

सरोवरोका वर्णन—

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि॥१४॥

इन सरोवरोके ऊपर पद्म महापद्म तिगिञ्छ केसरी महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामके छह सरोवर है।

§ १ पद्म आदि कमलोंके नाम है। इनके साहचर्यसे सरोवरोकी भी पद्म आदि संज्ञाएँ हैं।

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

प्रथम सरोवर पूर्व-पश्चिम एक हजार योजन लम्बा और उत्तर दक्षिण पाँच सौ योजन चौडा है। इसका वज्रमय तल और मणिजटित तट है। यह आधी योजन ऊँची और पाच सौ धनुष विस्तृत पद्मवरवेदिकासे वेष्टित है। चारो ओर यह मनोहर वनोसे शोभायमान है। विमल स्फटिककी तरह स्वच्छ जलवाला विविध जलपुष्पोंसे परितः विराजित शरत्कालमे चन्द्रतारा आदिके प्रतिबिम्बोंसे चमचमायमान यह सरोवर ऐसा मालूम होता है मानो आकाश ही पृथ्वीपर उलट गया हो।

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

पहिले सरोवरकी गहराई दस योजन है।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

इसके मध्यमें एक योजनका कमल है। इसके पत्ते एक एक कोसके और कर्णिका दो कोस विस्तृत है। जलसे दो कोस ऊंचा नाल है और पत्रोंका भाग भी दो कोस ऊचा ही है। इसका मूलभाग वज्रमय, कन्द अरिष्ट मणिमय, मृणाल रजतमणिमय और नाल वैडूर्यमणिमय है। इसके बाहरी पत्ते सुवर्णमय, भीतरी पत्ते चाँदीके समान, केसर सुवर्णके समान और कर्णिका अनेक प्रकारकी चित्रविचित्र मणियोंसे युक्त है। इसके आसपास १०८ कमल और भी है। इसके ईशान उत्तर और वायव्यमे श्रीदेवी और सामानिक देवोके चार हजार कमल हैं। आग्नेयमे अभ्यन्तर परिषद्के देवोके बत्तीस हजार कमल है। दक्षिणमे मध्यम परिषद्-देवोके चालीस हजार कमल है। नैर्ऋत्यमे बाह्यपरिषद् देवोके अड़तालीस हजार कमल है। पश्चिममे सात अनीक महत्तरोके सात कमल है। चारो दिशाओमे आत्मरक्ष देवोंके सोलह हजार कमल है। ये सब परिवार कमल मुख्य कमलसे आधे ऊचे है।

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

आगेके सरोवरो और कमलोका विस्तार दूना दूना है।

§ १ पद्मह्रदसे दूना लम्बा-चौड़ा और गहरा महापद्मह्रद, महापद्मह्रदसे दूना लम्बा चौडा और गहरा तिगिछह्रद है। इसी तरह कमल भी दूने लम्बे-चौडे है।

§ २-४ **प्रश्न**–यदि पद्मह्रदसे आगेके दो सरोवरोको ही दूना दूना कहना है तो 'द्विगुणा.' यहाँ बहुवचन न कहकर द्विवचन कहना चाहिए? **उत्तर**–'आदि और अन्तके पद्म और पुण्डरीकह्रदसे दक्षिण और उत्तरके दो दो ह्रद दूने-दूने प्रमाणवाले है।' इस अर्थकी अपेक्षा बहुवचनका प्रयोग किया है। यद्यपि सूत्रमे दिये गये 'तत्' शब्दसे पद्मह्रदका ही ग्रहण होता है फिर भी व्याख्यानसे विशेष अर्थका बोध होता है। आगे 'उत्तरा दक्षिणतुल्याः' सूत्रसे भी इसी अर्थका समर्थन होता है।

प्रश्न–यदि 'तत्' शब्दका द्विगुणशब्दसे समास किया जाता है तो 'तद्द्विगुण' शब्दका ही द्वित्व होगा न कि केवल द्विगुणशब्द का। यदि पहिले द्विगुणशब्दको द्वित्व किया जाता है तो 'तत्' शब्दसे समास नही हो सकेगा। यदि वीप्सार्थक द्वित्व किया जाता है तो वाक्य ही रह जायगा। **उत्तर**–'तत्' यह अपादानार्थक निपात है। अतः 'ततो द्विगुणद्विगुणाः' 'तद्द्विगुणद्विगुणा.' पद बन जाता है।

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥

इन कमलोंकी कर्णिकाके बीचमे शरत्कालीन चन्द्रकी तरह समुज्ज्वल प्रासाद है।

ये प्रासाद एक कोस लबे, आधे कोस चौडे और कुछ कम एक कोस ऊचे है। इनमे श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी सामानिक और पारिषत्क जातिके देवोके साथ रहती है।

§ १-३ श्री आदिका द्वन्द्व समास है। वे क्रमश पद्म आदि ह्रदोंमे रहती है। इनकी आयु एक पल्य की है। ये सामानिक और पारिषत्क जातिके देवोके साथ निवास करती है।

नदियोंका वर्णन–

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्ता-सुवर्णकूलारूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

इन क्षेत्रोंके मध्यमे गंगा आदि चौदह नदियाँ है।

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

गगा सिन्धु आदि नदी युगलोंमें प्रथम नदी पूर्व समुद्रमें जाकर मिलती है।

§ १–२ दो-दो नदियाँ एक-एक क्षेत्रमे बहती है। 'पूर्वा पूर्वगा' से नदियोके बहावकी दिशा बताई है।

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

गगा सिन्धु आदि नदी युगलोंमे दूसरी नदी पश्चिम समुद्रमे मिलती है।

§ १ पद्मह्रदके पूर्व तोरणद्वारसे गगा नदी निकली है। वह पाँच सौ योजन पूर्वकी ओर जाकर गगा कूटसे ५२३$\frac{१}{६}$ दक्षिणमुख जाती है। स्थूल मुक्तावलीकी तरह १०० योजन धारावाली ६$\frac{१}{४}$ योजन विस्तृत आधे योजन गहरी यह आगे ६० योजन लबे चौडे १० योजन गहरे कुडमे गिरती है। फिर दक्षिण तरफसे निकलकर खडकप्रपातगुहासे विजयार्धको लाघकर दक्षिणभरतक्षेत्रको प्राप्त करके पूर्वमुखी होकर लवणसमुद्रमे मिल जाती है।

§ २ पद्मह्रदके पश्चिम तोरणसे सिन्धु नदी निकलती है। वह ५०० योजन आगे जाकर सिन्धुकूटसे टकराकर सिन्धुकुण्डमे गिरती हुई तमिस्र गुहासे विजयार्ध होती हुई पश्चिम लवणसमुद्रमे मिलती है।

गगाकुण्डके द्वीपके प्रासादमे गगादेवी और सिन्धुकुण्डवर्ती द्वीपके प्रासादमे सिन्धु देवी रहती है। हिमवान् पर्वतपर गंगा और सिन्धुके मध्यमे दो कमलके आकारके द्वीप है। इनके प्रासादोमे क्रमश बला और लवणा नामकी एक पल्यस्थितिवाली देवियाँ रहती है।

§ ३ पद्मह्रदके ही उत्तर द्वारसे रोहितास्या नदी निकली है। यह २६७$\frac{५}{६}$ योजन उत्तरकी तरफ जाकर श्रीदेवीके कुण्डमे गिरती है। फिर कुण्डके उत्तर द्वारसे निकलकर उत्तरकी तरफ बहती हुई शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यको घेरकर पश्चिमकी ओर बह कर पश्चिम लवण समुद्रमे मिलती है।

§ ४ रोहित् नदी महाहिमवान् पर्वतवर्ती महापद्मह्रदके दक्षिण तोरणद्वारसे निकलकर पूर्वलवण समुद्रमे मिलती है।

§ ५ हरिकान्ता नदी महाहिमवान् पर्वतवर्ती महापद्मह्रदके उत्तर तोरणद्वारसे निकलकर रोहितकी तरह पहाड़की तलहटीमें जाकर कुण्डमें गिरती है। फिर उत्तरकी ओर बहकर विकृतवान् वृत्तवेदाढ्यको आध योजन दूरसे घेरकर पश्चिम मुख हो पश्चिम समुद्रमे गिरती है।

§ ६ हरित् नदी निषध पर्वतवर्ती तिगिछ ह्रदके दक्षिण तोरण द्वारसे निकलकर पूर्वकी ओर बहकर कुण्डमे गिरती है। फिर पूर्व समुद्रमे मिलती है।

§ ७ सीतोदा नदी तिगिंछ ह्रदके उत्तर तोरण द्वारसे निकलकर कुण्डमे गिरती है फिर कुण्डके उत्तर तोरण द्वारसे निकलकर देवकुरुके चित्र विचित्रकूटके बीचसे उत्तर मुख बहती हुई मेरु पर्वतको आध योजन दूरसे ही घेरकर विद्युत्प्रभको भेदती हुई अपर विदेहके बीचसे बहती हुई पश्चिम समुद्रमे मिलती है।

§ ८ सीता नदी नीलपर्वतवर्ती केसरी ह्रदके दक्षिण तोरणद्वारसे निकलकर कुंडमे गिरती हुई माल्यवान्को भेदती हुई पूर्वविदेहमे बहकर पूर्वसमुद्रमें मिलती है।

§ ९ नरकान्ता नदी केसरी ह्रदके उत्तर तोरणद्वारसे निकलकर गन्धवान् वेदाढ्य को घेरती हुई पश्चिम समुद्रमे मिलती है।

§ १० नारी नदी रुक्मि पर्वतके ऊपर स्थित महापुण्डरीक ह्रदके दक्षिणतोरण-द्वारसे निकलकर गन्धवान् वेदाढ्यको घेरती हुई पूर्वसमुद्रमें गिरती है।

§ ११ इसी महापुण्डरीक ह्रदके उत्तर तोरणद्वारसे रूप्यकूला नदी निकलती है और माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यको घेरकर पश्चिम समुद्रमे गिरती है।

§ १२ शिखरी पर्वतपर स्थित पुण्डरीक ह्रदके दक्षिण तोरणद्वारसे सुवर्णकूला नदी निकलती है और माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यको घेरती हुई पूर्वसमुद्रमे मिलती है।

§ १३ इसी पुण्डरीक ह्रदके पूर्वतोरणद्वारसे रक्ता नदी निकली है और यह गगा नदीकी तरह पूर्वसमुद्रमे मिलती है।

§ १४ इसी पुण्डरीक ह्रदके पश्चिम तोरणद्वारसे रक्तोदा नदी निकलती है और पश्चिम समुद्रमे मिलती है।

ये सभी नदियाँ अपने अपने नामके कुण्डोंमे गिरती है और उसमे नदीके नामवाली देवियाँ रहती हैं।

गंगा सिन्धु रक्ता और रक्तोदा नदियाँ कुटिलगति होकर बहती है शेष ऋजुगतिसे। सभी नदियोके दोनों किनारे वनखडोंसे सुशोभित है।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

गगा सिन्धु आदि नदियोके चौदह हजार आदि सहायक नदियाँ है।

§ १–३ यदि प्रकरणगत होनेके कारण 'गगासिन्धु आदि'का ग्रहण नही किया जाता तो 'अनन्तरका ही विधि या निषेध होता है' इस नियमके अनुसार अपरगा-पश्चिम-समुद्रमें मिलनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होता। इसी तरह यदि 'गगा' का ग्रहण करते तो पूर्वगा--पूर्वसमुद्रमे गिरनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होता। यद्यपि 'नदी' कहनेसे सबका ग्रहण हो सकता था फिर भी 'द्विगुण-द्विगुण' बतानेके लिए 'गंगा सिन्धु आदि' पद दिया गया है। यदि केवल 'द्विगुण'का सम्बन्ध करते तो 'गगाकी चौदह हजार और सिन्धुकी अट्ठाईस हजार' यह अनिष्ट प्रसंग होता। अतः गंगा और सिन्धु दोनोके चौदह हजार, रोहित रोहितास्याके अट्ठाइस हजार, हरित् हरिकान्ताके छप्पन हजार और सीता सीतोदाके एक लाख बारह हजार सहायक नदियाँ है। आगे 'उत्तरा दक्षिणतुल्या.'के अनुसार व्यवस्था है।

भरतक्षेत्रका विस्तार–

भरतः षड्विंश-पञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥

भरतक्षेत्रका विस्तार ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन है।

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

विदेहक्षेत्र पर्यन्तके पर्वत और क्षेत्र क्रमशः दूने दूने विस्तारवाले है।

§ १ यद्यपि व्याकरणके नियमानुसार वर्षशब्दका पूर्वनिपात होना चाहिए था फिर भी आनुपूर्वी दिखानेके लिए 'वर्षधर' शब्दका पूर्वप्रयोग किया है। 'लक्षणहेत्वो क्रियाया.' इस प्रयोगके बलसे यह नियम फलित होता है।

§ २ 'विदेहान्त' पदसे मर्यादा ज्ञात हो जाती है। अर्थात् हिमवान्का विस्तार १०५२$\frac{१२}{१९}$ योजन, हैमवतका २००५$\frac{५}{१९}$ योजन, महाहिमवान्का ४०१०$\frac{१०}{१९}$ योजन, हरिवर्षका ८४२१$\frac{१}{१९}$ योजन, निषधका १६८४२$\frac{२}{१९}$ और विदेहका ३३६८४$\frac{४}{१९}$ योजन है।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

ऐरावत आदि नील पर्वत पर्यन्त क्षेत्र पर्वत भरत आदिके समान विस्तारवाले है।

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिणयवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

भरत और ऐरावत क्षेत्रमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके छह छह कालोमे वृद्धि और ह्रास होता है।

§ १–३ जैसे 'पर्वतदाह' कहनेसे पर्वतवर्ती वनस्पति आदिका दाह समझा जाता है उसी तरह क्षेत्रकी वृद्धिह्रासका अर्थ है क्षेत्रमें रहनेवाले मनुष्योकी आयु आदिका वृद्धि-ह्रास। अथवा, 'भरतैरावतयो.' यह आधारार्थक सप्तमी है। अर्थात् इन क्षेत्रोंमे मनुष्योंका अनुभव आयु शरीरकी ऊचाई आदिका वृद्धिह्रास होता है।

§ ४–५ जिसमे अनुभव आयु शरीरादिकी उत्तरोत्तर उन्नति हो वह उत्सर्पिणी और जिसमें अवनति हो वह अवसर्पिणी है। अवसर्पिणी–सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदु.षमा, दु षमसुषमा, दु षमा और अतिदु षमाके भेदसे छह प्रकार की और उत्सर्पिणी अतिदु षमाके क्रमसे छह प्रकारकी है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों ही दस दस कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। इन्हे कल्पकाल कहते है। सुपमसुषमा चार कोडाकोडी सागरकी होती है। इसमें मनुष्य देवकुरु और उत्तरकुरुके समान होते है अर्थात् प्रथम भोगभूमिकी रचना होती है। फिर क्रमशः हानि होते होते सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागरकी आती है। इसके प्रारम्भमें हरिक्षेत्रकी तरह मध्यम भोगभूमि होती है। फिर क्रमश. सुषमदु षमा दो कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। इसमें हैमवत क्षेत्रकी तरह जघन्य भोगभूमि होती है। फिर क्रमशः ४२ हजार वर्ष कम एक कोडाकोड़ी सागरका दु षमसुषमा काल होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य विदेह-क्षेत्रके समान होते हैं। क्रमसे २१ हजार वर्षका दु.षमा और फिर इक्कीस हजार वर्षका अतिदु षमा काल आता है। उत्सर्पिणी अतिदु षमासे प्रारम्भ होती है और क्रमशः बढ़ती हुई सुषमा तक जाती है।

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

भरत और ऐरावतके सिवाय अन्य भूमियोमे परिवर्तन नही होता, वे सदा एक-सी रहती हैं ।

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतक-हारिवर्षक-दैवकुरुवकाः ॥२९॥

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरुमे क्रमश एक, दो और तीन पल्यकी आयु है ।

§ १-२ हैमवतक, हारिवर्षक और दैवकुरुवकका अर्थ है इन क्षेत्रोमे रहनेवाले मनुष्य । पाँचो हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंकी आयु एक पल्य, शरीरकी ऊचाई २००० धनुष, और रंग नीलकमलके समान है । ये दूसरे दिन आहार करते है । यहाँ सुषमदु षमा काल अर्थात् जघन्य भोगभूमि सदा रहती है । पाँचो हरिक्षेत्रमे मध्यम भोगभूमि अर्थात् सुषमा-काल रहता है । इसमे मनुष्योकी आयु दो पल्य, शरीरकी ऊचाई ४ हजार धनुष, रग शख-के समान धवल है । ये तीसरे दिन भोजन करते हैं । पाँचो देवकुरुमे सुषमसुषमा अर्थात् प्रथम भोगभूमि सदा रहती है । इसमे मनुष्योंकी आयु तीन पल्य, शरीरकी ऊचाई ६००० धनुष और रग सुवर्णके समान होता है । ये चौथे दिन भोजन करते है ।

तथोत्तराः ॥३०॥

उत्तरवर्ती क्षेत्र दक्षिणके समान है अर्थात् हैरण्यवत हैमवतके समान, रम्यक हरि-वर्षके समान और देवकुरु उत्तरकुरुके समान है ।

विदेहेषु संख्येयकालः ॥३१॥

विदेहक्षेत्रमे संख्यात वर्षकी आयु होती है । इसमे सुषमदु.षमाकाल सदा रहता है । मनुष्योकी ऊचाई पाँच सौ धनुष है । नित्य भोजन करते है । उत्कृष्ट स्थिति एकपूर्व-कोटि और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है ।

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

भरतक्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपका १९०वाँ भाग है ।

§ १-२ धातकीखड और पुष्करवरके क्षेत्रोंके विस्तार-निरूपणमे सुविधाके लिए भरतक्षेत्रका प्रकारान्तरसे विस्तार कहा है ।

§ ३-७ लवण समुद्रका सम भूमितलमें दो लाख योजन विस्तार है । उसके मध्यमें यवराशिकी तरह १६ हजार योजन ऊँचा जल है । वह मूलमे दश हजार योजन विस्तृत है तथा एक हजार योजन गहरा है । इसमे क्रमश: पूर्वादि दिशाओंमे पाताल बडवामुख यूपकेसर और कलम्बुक नामके चार महापाताल हैं । ये एक लाख योजन गहरे हैं, तथा इतने ही मध्यमें विस्तृत है । जलतल और मूलमें दस हजार योजन विस्तृत हैं । इन पातालोंमें सबसे नीचेके तीसरे भागमे वायु है, मध्यके तीसरे भागमे वायु और जल है तथा ऊपरी त्रिभागमें केवल जल है । रत्नप्रभा पृथिवीके खरभागमे रहनेवाली वातकुमार देवियोंकी क्रीड़ासे क्षुब्ध वायुके कारण ५०० योजन जलकी वृद्धि होती है । विदिशाओंमें क्षुद्रपाताल है तथा अन्तरालमें भी हजार हजार पाताल है । मध्यमे पचास पचास क्षुद्र पाताल और भी हैं । रत्नवेदिकासे तिरछे बयालीस हजार योजन जाकर चारों दिशाओंमें

वेलन्धर नागाधिपतिके नगर है। वेलन्धर नागाधिपतियोंकी आयु एक पल्य, शरीरकी ऊंचाई दश धनुष है। प्रत्येकके चार चार अग्रमहिषी है। ४२ हजार नाग लवणसमुद्रके आभ्यन्तर तटको, ७२ हजार बाह्य तटको तथा २८ हजार बढ़े हुए जलको धारण करते है।

§ ८ रत्नवेदिकासे तिरछे १२ हजार योजन जाकर १२ हजार योजन लंबा चौडा गौतम नामके समुद्राधिपतिका गौतम द्वीप है। रत्नवेदिकासे प्रति ९५ हाथ आगे एक हाथ गहराई है। इस तरह ९५ योजनपर एक योजन, ९५ हजार योजनपर एक हजार योजन गहराई है। लवण समुद्रके दोनो ओर तट है। लवणसमुद्रमे ही पाताल है अन्य समुद्रोमे नही। सभी समुद्र एक हजार योजन गहरे हैं। लवणसमुद्रका जल खारा है। वारुणीवरका मदिराके समान, क्षीरोदका दूधके समान, घृतोदका घीके समान जल है। कालोद पुष्कर और स्वयम्भूरमणका जल पानी जैसा ही है। बाकीका इक्षुरसके समान जल है। लवण समुद्र कालोदधि और स्वयम्भूरमण समुद्रमे ही मछली कछवा आदि जलचर है, अन्यत्र नही। लवणसमुद्रमे नदी गिरनेके स्थानपर ९ योजन अवगाहनावाले मत्स्य हैं, मध्यमे १८ योजनके है। कालोदधिमे नदीमुखमें १८ योजन तथा मध्यमे ३६ योजनके मत्स्य है। स्वयम्भूरमण मे नदीमुखमे ५०० योजनके तथा मध्यमे एक हजार योजनके मत्स्य हैं।

धातकीखंडका वर्णन–

द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥

धातकीखंडमे भरतादि क्षेत्र और पर्वत दो दो है।

§ १ जैसे 'द्विस्तावानयं प्रासाद.' यहाँ 'मीयते' क्रियाका अध्याहार करके क्रिया की अभ्यावृत्तिमें सुज् प्रत्यय होता है उसी तरह 'द्विर्धातकीखण्डे' मे भी 'सख्यायन्ते' क्रियाका अध्याहार करके सुज् प्रत्यय कर लेना चाहिए। धातकीखडमे भरतादि क्षेत्र दो दो हैं तथा उनका विस्तार भी दूना दूना है।

§ २–४ धातकीखडके भरतका आभ्यन्तर विष्कम्भ–६६१४ योजन, योजनके $\frac{१२९}{२१२}$ भाग प्रमाण है। मध्यविष्कम्भ–१२५८१ योजन एक योजनके $\frac{३६}{२१२}$ भाग प्रमाण है। बाह्य विष्कम्भ–१८५४७ $\frac{५५}{२१२}$ योजन प्रमाण है।

§ ५ धातकीखडमे भरतसे चौगुना हैमवत, हैमवतसे चौगुना हरिक्षेत्र और हरिक्षेत्रसे चौगुना विदेह क्षेत्र है। दक्षिणकी तरह ही उत्तरके क्षेत्र हैं। धातकीखंडका विस्तार ४ लाख योजन है। इसकी परिधि ४११०९६१ योजन है। क्षेत्र पर्वत नदी वृत्तवेदाढ्य और सरोवरोके वे ही नाम है। विस्तार आदि दूना दूना हो गया है।

§ ६ भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमे कालोदधि और लवणसमुद्रको स्पर्श करनेवाले १०० योजन गहरे, ४०० योजन ऊचे, ऊपर एक हजार योजन विस्तृत इष्वाकार पर्वत हैं। धातकीखंडमे पूर्व और पश्चिममे दो मेरु पर्वत है। ये एक हजार योजन गहरे ९५०० योजन मूलमे विस्तृत, पृथ्वीतलपर ९४०० योजन विस्तृत और ८४००० हजार योजन ऊचे हैं। भूमितलसे ५०० योजन ऊपर नन्दनवन है। यह ५०० योजन विस्तृत है। ५५५०० योजन ऊपर सौमनस वन है। यह भी ५०० योजन विस्तृत है। इससे २८ हजार योजन ऊपर पाडुकवन है। जम्बूद्वीपमे जहाँ जम्बू वृक्ष है धातकीखंडमे वही धातकीवृक्ष है। जैसे चक्रके आरे होते है उसी प्रकारके पर्वत हैं और आरेके बीचके भागके समान

क्षेत्र हैं। धातकीखंडको घेरे हुए कालोदधि समुद्र है। कालोदधिके बाद पुष्करवर द्वीप सोलह लाख योजन विस्तृत है।

पुष्करवरद्वीपका वर्णन–

पुष्करार्धे च ॥३४॥

आधे पुष्करद्वीपमें भी भरतादिक्षेत्र दो दो है।

§ १ च शब्दसे 'द्वि.' इस सख्याकी पूर्वसूत्रसे अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। यह द्विगुणता जम्बूद्वीपके भरतादिकी सख्याकी अपेक्षासे है। यद्यपि धातकीखडका वर्णन अनन्तर निकट है, फिर भी इच्छानुसार जम्बूद्वीपकी सख्यासे ही द्विगुणता लेनी चाहिये।

§ २–४ पुष्करार्धके भरतका आभ्यन्तर विष्कम्भ–४१५७९ योजन और ७३ भाग है। मध्यविष्कम्भ ५३५१२ योजन और १९९ भाग प्रमाण है। बाह्यविष्कम्भ ६५४४२ योजन और १३ भाग प्रमाण है।

§ ५ विदेह तक एक क्षेत्रसे दूसरा क्षेत्र चौगुने विस्तारवाला है। उत्तरके क्षेत्रोका विस्तार क्रमश. दक्षिणके क्षेत्रोके ही समान है। पर्वत विजयार्ध वृत्तवेदाढ्य आदिकी सख्या और विस्तार भी दूना दूना है। जम्बूद्वीपमे जहाँ जम्बू वृक्ष है वहाँ पुष्करद्वीपमे पुष्कर है। इसीके कारण इस द्वीपको पुष्करवर द्वीप कहते है।

§ ६ मानुषोत्तर पर्वतसे अर्ध विभक्त होनेके कारण इसे पुष्करार्ध कहते है। पुष्करद्वीपके मध्यमे मानुषोत्तर पर्वत है। यह १७२१ योजना ऊचा ४३०$\frac{1}{4}$ योजन गहरा २२ हजार योजन मूलमे विस्तृत १७२३ योजन मध्यमे विस्तृत ४२४ योजन ऊपर विस्तृत है। यवराशिके समान यह पर्वत नीचे मुख किए हुए बैठे सिहके सदृश मालूम होता है। उसके ऊपर चारों दिशाओमे ५० योजन लम्बे २५ योजन चौड़े और ३७$\frac{1}{2}$ योजन ऊचे जिनायतन है। इसके ऊपर वैडूर्य आदि चौदह कूट हैं।

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

मानुषोत्तर पर्वतके इस ओर ही मनुष्य है उस ओर नही। उपपाद और समुद्घात अवस्थाके सिवाय इस पर्वतके उस ओर विद्याधर या ऋद्धिधारी मनुष्य भी नही जा सकते। इसीलिए इसकी मानुषोत्तर सज्ञा सार्थक है।

आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है। इसका विस्तार ३६३८४००००० योजन है। इसके मध्यमे चारो दिशाओमे ८४ हजार योजन ऊचे चार अजनगिरि है। इसकी चारो दिशाओ मे चार चार बावडी है। ये १ हजार योजन गहरी और एक लाख योजन विस्तारवाली है। इन सोलह वापियोंमे दस हजार योजन विस्तृत दधिमुख पर्वत है। इन वापियोके चारों ओर चार वन है। इन वापियोके चारो कोनोमे एक हजार योजन ऊचे चार चार रतिकर हैं। इस तरह ६४ रतिकर है। बाहरी कोणोमे स्थित ३२ रतिकर चार अजनगिरि तथा १६ दधिमुख इस तरह ५२ पर्वतो पर ५२ जिनालय हैं। ये जिनालय १०० योजन लम्बे, ५० योजन चौडे तथा ७५ योजन ऊचे है।

ग्यारहवाँ कुण्डलवर द्वीप है। उसके मध्यमे कुडलवर पर्वत है। उसके ऊपर प्रत्येक दिशामें चार-चार कूट हैं। इसको घेरे हुए कुण्डलवर समुद्र है। इसके आगे क्रमश शंखवरद्वीप, शंखवरसमुद्र, रुचकवरद्वीप, रुचकवरसमुद्र आदि असख्यात द्वीपसमुद्र है।

रुचकवर द्वीपमें ८४ हजार योजन ऊँचा ४२ हजार योजन विस्तृत रुचक पर्वत है। इसके नन्द्यावर्त आदि चार कूट हैं। इनमें दिग्गजेन्द्र रहते हैं। उनके ऊपर प्रत्येकके आठ-आठ कूट और हैं। इन पर दिक्कुमारियाँ रहती हैं। ये तीर्थङ्करोके गर्भ और जन्मकल्याणकके समय माताकी सेवा करती हैं।

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

मानुषोत्तरसे पहिले रहनेवाले मनुष्य आर्य और म्लेच्छके भेदसे दो प्रकार के हैं।

§ १–२ गुण और गुणवानोसे जो सेवित हैं वे आर्य हैं। आर्य दो प्रकारके हैं–एक ऋद्धिप्राप्त और दूसरे अनृद्धिप्राप्त आर्य। अनृद्धिप्राप्त आर्य पांच प्रकार के हैं–क्षेत्रार्य जात्यार्य कर्मार्य चारित्रार्य और दर्शनार्य। काशी कौशल आदि देशोमे उत्पन्न क्षेत्रार्य हैं। इक्ष्वाकु ज्ञाति भोज आदि कुलोमे उत्पन्न जात्यार्य हैं। कर्मार्य तीन प्रकार के हैं–सावद्यकर्मार्य अल्पसावद्यकर्मार्य और असावद्यकर्मार्य। सावद्यकर्मार्य असि मषी कृषि विद्या शिल्प और वणिक्कर्मके भेदसे छह प्रकार के हैं। तलवार धनुष आदि शस्त्रविद्यामे निपुण असिकर्मार्य हैं। मुनीमीका कार्य करनेवाले मषिकर्मार्य हैं। हल आदिसे कृषि करनेवाले कृषिकर्मार्य हैं। चित्र गणित आदि ७२ कलाओमे कुशल विद्याकर्मार्य हैं। धोबी नाई लुहार कुम्हार आदि शिल्पकर्मार्य हैं। चन्दन घी धान्यादिका व्यापार करनेवाले वणिक्कर्मार्य हैं। ये छहों अविरत होनेसे सावद्यकर्मार्य हैं। श्रावक और श्राविकाएँ अल्पसावद्यकर्मार्य हैं। मुनिव्रतधारी सयत असावद्यकर्मार्य हैं। ये दो प्रकार के हैं–अधिगतचारित्रार्य और अनधिगतचारित्रार्य। जो बाह्योपदेशके बिना स्वय ही चारित्रमोहके उपशम क्षय आदिसे चारित्रको प्राप्त हुए हैं वे अधिगतचारित्रार्य और जो बाह्योपदेशकी अपेक्षा चारित्रधारी हुए हैं वे अनधिगतचारित्रार्य हैं। दर्शनार्य दश प्रकार के हैं–सर्वज्ञकी आज्ञाको मुख्य मानकर सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए आज्ञारुचि हैं। अपरिग्रही मोक्षमार्गके श्रवणमात्रसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए मार्गरुचि हैं। तीर्थङ्कर बलदेव आदिके चरित्रके उपदेशको सुनकर सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले उपदेशरुचि हैं। दीक्षा आदिके निरूपक आचाराग आदि सूत्रोके सुनने मात्रसे जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है वे सूत्ररुचि हैं। बीजपदोके निमित्तसे जिन्हे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई वे बीजरुचि हैं। जीवादिपदार्थोके सक्षेप कथनसे ही सम्यग्दर्शनको प्राप्त होनेवाले सक्षेपरुचि हैं। अगपूर्वके विषय, प्रमाणनय आदिका विस्तार कथनसे जिन्हे सम्यग्दर्शन हुआ है वे विस्ताररुचि हैं। वचनविस्तारके बिना केवल अर्थग्रहणसे जिन्हे सम्यग्दर्शन हुआ वे अर्थरुचि हैं। आचाराग आदि द्वादशागमे जिनका श्रद्धान अतिदृढ है वे अवगाढरुचि हैं। परमावधि केवल ज्ञानदर्शनसे प्रकाशित जीवादि पदार्थ विषयक प्रकाशसे जिनकी आत्मा विशुद्ध है वे परमावगाढरुचि हैं। इस तरह रुचिभेदसे सम्यग्दर्शन दस प्रकार का है और दर्शनार्य भी दस प्रकार के हैं।

§ ३ ऋद्धिप्राप्त आर्य आठ ऋद्धियोंके भेदसे आठ प्रकार के हैं। बुद्धि-ज्ञान, यह ऋद्धि केवलज्ञान अवधिज्ञान मन:पर्ययज्ञान बीजबुद्धि आदिके भेदसे अठारह प्रकार की है। केवलज्ञान अवधि और मन पर्यय प्रसिद्ध है। जैसे उर्वर क्षेत्रमे एक भी बीज अनेक बीजोंका उत्पादक होता है उसी तरह एक बीजपदसे ही श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे अनेक पदार्थोंका ज्ञान करना बीजबुद्धि है। जैसे कोठारमे अनेक प्रकारके धान्य सुरक्षित

और जुदे-जुदे रखे रहते है उसी तरह बुद्धिरूपी कोठेमे समझे हुए पदार्थोंका सुविचारित रूपसे बने रहना कोष्ठबुद्धि है। पदानुसारित्व तीन प्रकार की है—अनुस्रोत प्रतिस्रोत और उभयरूप। आदि मध्य या अन्तके एक पदके अर्थको सुनकर समस्त ग्रन्थार्थका ज्ञान हो जाना पदानुसारित्व है। बारह योजन लम्बे और नव योजन चौडे चक्रवर्तीके कटकके भी विभिन्न शब्दोंको एक साथ सुनकर उनको पृथक् पृथक् ग्रहण करना सभिन्नश्रोतृत्व है। रसनादि इन्द्रियोंके द्वारा उत्कृष्ट नव योजन आदि क्षेत्रोसे रस गन्ध आदिका ज्ञान करना दूरादास्वादन दर्शन घ्राण स्पर्शन ऋद्धियाँ है।

महारोहिण्यादि लौकिक विद्याओके प्रलोभनमे न पडकर दशपूर्वका पाठी होना दशपूर्वित्व है। पूर्णश्रुतकेवली हो जाना चतुर्दशपूर्वित्व है। आठ महानिमित्तोमे कुशल होना अष्टाग महानिमित्तज्ञत्व है। आकाशके सूर्य चन्द्र तारा आदिकी गतिसे अतीतानागत का ज्ञान करना अन्तरीक्षनिमित्त है। जमीनकी रूक्षस्निग्ध आदि अवस्थाओसे हानि-लाभका परिज्ञान या जमीनमे गडे हुए धन आदिका ज्ञान करना भौम निमित्त है। शरीरके अग प्रत्यगोसे उसके सुखद् खादिका ज्ञान अंग है। अक्षरात्मक या अनक्षरात्मक कैसे भी शब्दोंको सुनकर इष्टानिष्ट फलका ज्ञान कर लेना स्वर है। सिर मुँह गले आदिमे तिल मस्से आदि चिह्नोसे लाभालाभ आदिका ज्ञान व्यञ्जन है। श्रीवृक्ष स्वस्तिक कलश आदि चिह्नोसे शुभाशुभका ज्ञान कर लेना लक्षण है। वस्त्र-शस्त्र छत्र जूता आसन और शय्या आदिमे शस्त्र चूहा काटे आदिसे हुए छेदके द्वारा शुभाशुभका ज्ञान करना छिन्न है। पिछली रातमे हुए चन्द्र सूर्यादि स्वप्नोसे भाविसुखदु खादिका निश्चय करना स्वप्न है।

श्रुतज्ञानियोंके द्वारा ही समाधान करने योग्य सूक्ष्म शकाओका भी अपने श्रुत-ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे समाधान कर देना प्रज्ञाश्रवणत्व है। परोपदेशके बिना स्वभावत ही ज्ञान चारित्र आदिमे निपुण हो जाना प्रत्येकबुद्धता है। शास्त्रार्थमें कभी भी निरुत्तर नही होना वादित्व है।

क्रिया विषयक ऋद्धि दो प्रकार की है—चारणत्व और आकाशगामित्व। जल जघा तन्तु पुष्प पत्र आदिका निमित्त लेकर अप्रतिहत गति करना चारणत्व है। पद्मासन या कायोत्सर्गरूपसे आकाशमे गमन करना आकाशगामित्व है।

विक्रिया विषयक ऋद्धि अणिमा आदिके भेदसे अनेक प्रकारकी है। सूक्ष्म शरीर बना लेना अणिमा, महान् शरीर बनाना महिमा, वायुसे भी लघु शरीर कर लेना लघिमा, वज्रसे भी गुरु शरीर बना लेना गरिमा है। भूमिपर बैठे हुए अगुलीसे मेरु या सूर्य चन्द्र आदिको स्पर्श कर लेना प्राप्ति है। जलमे भूमिकी तरह चलना आदि प्राकाम्य है। त्रैलोक्यकी प्रभुता ईशित्व है। सबको वशमें कर लेना वशित्व है। पर्वतमें भी घुस जाना अप्रतीघात है। अदृश्य रूप बना लेना अन्तर्धान है। एक साथ अनेक आकार बना लेना कामरूपित्व है।

तपोऽतिशय-ऋद्धि सात प्रकारकी है—दो दिन तीन दिन चार दिन एक माहके उपवास आदि किसी भी उपवासको निरन्तर कठोरतापूर्वक करनेवाले उग्रतप है। महोपवास करनेपर भी जिनका काय वचन और मनोबल बढ़ता ही जाता है और शरीर

की दीप्ति उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती है वे दीप्ततप हैं। गरम तवेपर गिरे हुए जलकी तरह जिनके अल्प आहारका मलादिरूपसे परिणमन नहीं होता, वह वही सूख जाता है वे तप्ततप हैं। सिंहनिष्क्रीडित आदि महान् तपोको तपनेवाले महातप हैं। ज्वर सन्निपात आदि महाभयकर रोगोंके होनेपर भी जो अनशन कायक्लेश आदिमे मन्द नही होते और भयानक श्मशान, पहाड़की गुफा आदिमे रहनेके अभ्यासी है वे घोर तप हैं। ये ही जब तप और योगको उत्तरोत्तर बढाते जाते है तब घोरपराक्रम कहे जाते हैं। जो अस्खलित अखंड ब्रह्मचर्य धारण करते है तथा जिन्हे दुःस्वप्न तक नहीं आते वे घोर ब्रह्मचारी है।

बलालम्बन ऋद्धि तीन प्रकारकी है—मन श्रुतावरण और वीर्यान्तरायके प्रकृष्ट क्षयोपशमसे अन्तर्मुहूर्तमे ही सकलश्रुतार्थके चिन्तनमे निष्णात मनोबली है। मन और रसनाश्रुतावरण तथा वीर्यान्तरायके प्रकृष्ट क्षयोपशमसे अन्तर्मुहूर्तमे ही सकलश्रुतके उच्चारणमें समर्थ वचनबली है। वीर्यान्तरायके असाधारण क्षयोपशमसे जो मासिक चातुर्मासिक सावत्सरिक आदि प्रतिमायोगोके धारण करनेपर भी थकावट और क्लान्तिका अनुभव नही करते वे कायबली है। औषध-ऋद्धि आठ प्रकारकी है—जिनके हाथ-पैर आदिके स्पर्शसे बडी भयंकर व्याधियाँ शान्त हो जाती है वे आमर्श ऋद्धिवाले है। जिनका थूक औषधिका कार्य करता है वे क्ष्वेलौषधि है। जिनका पसीना व्याधियोंको दूर कर देता है वे जल्लौषधि है। जिनका कान दाँत या आँखका मल औषधिरूप होता है वे मलौषधि है। जिनका प्रत्येक अवयवका स्पर्श या उसका स्पर्श करनेवाली वायु आदि सभी पदार्थ औषधिरूप हो जाते है वे सर्वौषधि ऋद्धिवाले है। उग्रविषमिश्रित भी आहार जिनके मुखमे जाकर निर्विष हो जाता है अथवा मुखसे निकले हुए वचनोको सुनने मात्रसे महाविषव्याप्त भी निर्विष हो जाते है वे आस्याविष है। जिनके देखने मात्रसे ही तीव्र विष दूर हो जाता है वे दृष्ट्यविष हैं।

रस ऋद्धि प्राप्त आर्य छह प्रकारके है—जिस प्रकृष्ट तपस्वी यतिके 'मर जाओ' आदि शापसे व्यक्ति तुरत मर जाता है वे आस्यविष है। जिनकी क्रोधपूर्ण दृष्टिसे मनुष्य भस्मसात् हो जाता है वे दृष्टिविष है। जिनके हाथमे पड़ते ही नीरस भी अन्न क्षीरके समान सुस्वादु हो जाता है, अथवा जिनके वचन क्षीरके समान सबको मीठे लगते है वे क्षीरास्रवी है। जिनके हाथमे पडते ही नीरस भी आहार मधुके समान मिष्ट हो जाता है, अथवा जिनके वचन मधुके समान श्रोताओको तृप्त करते है वे मध्वास्रवी है। जिनके हाथमे पड़कर रूखा भी अन्न घीकी तरह पुष्टिकारक और स्निग्ध हो जाता है अथवा जिनके वचन घीकी तरह सन्तर्पक है वे सर्पिरास्रवी है। जिनके हाथमे रखा हुआ भोजन अमृतकी तरह हो जाता है या जिनके वचन अमृतकी तरह सन्तृप्ति देनेवाले है वे अमृतास्रवी है।

क्षेत्रऋद्धिप्राप्त आर्य दो प्रकारके हैं—अक्षीणमहानस और अक्षीणमहालय। प्रकृष्ट लाभान्तरायके क्षयोपशमवाले यतियोंको भिक्षा देनेपर उस भोजनसे चक्रवर्तीके पूरे कटकको भी जिमानेपर क्षीणता न आना अक्षीणमहानस ऋद्धि है। अक्षीणमहालय ऋद्धिवाले मुनि जहाँ बैठते है उस स्थानमे इतनी अवगाहन शक्ति हो जाती है कि वहाँ सभी देव मनुष्य और तिर्यञ्च निर्बाध रूपसे बैठ सकते है। ये सब ऋद्धिप्राप्त आर्य है।

§ ४ म्लेच्छ दो प्रकारके है–१ अन्तरद्वीपज और २ कर्मभूमिज। लवणसमुद्रकी आठों दिशाओंमे आठ और उनके अन्तरालमे आठ, हिमवान् और शिखरी तथा दोनो विजयार्धोके अन्तरालमे आठ इस तरह चौबीस अन्तरद्वीप है। दिशावर्ती द्वीप वेदिकासे तिरछे पाँच सौ योजन आगे है। विदिशा और अन्तरालवर्ती द्वीप ५५० योजन जाकर है। पहाड़ोंके अन्तिम भागवर्ती द्वीप छह सौ योजन भीतर आगे है। दिशावर्ती द्वीप सौ योजन विस्तृत है, विदिशावर्ती द्वीप पचास योजन और पर्वतान्तवर्ती द्वीप पच्चीस योजन विस्तृत है। पूर्व दिशामे एक जाँघ वाले, पश्चिममे पूँछवाले, उत्तरमे गूँगे, दक्षिणमे सीग-वाले प्राणी है। विदिशाओंमे खरगोशके कान सरीखे कानवाले, पुड़ीके समान कानवाले, बहुत चौडे कानवाले और लम्बकर्ण मनुष्य है। अन्तरालमे अश्व, सिह, कुत्ता, सुअर, व्याघ्र उल्लू और बन्दरके मुख जैसे मुखवाले प्राणी हैं। शिखरी पर्वतके दोनो अन्तरालोमे मेघ और बिजलीके समान मुखवाले, हिमवान्के दोनो अन्तरालोमे मत्स्यमुख और कालमुख, उत्तर विजयार्धके दोनो अन्तमे हस्तिमुख और आदर्शमुख और दक्षिण विजयार्धके दोनों अन्तमे गोमुख और मेषमुखवाले प्राणी हैं। एक टाँगवाले गुफाओमे रहते हैं और मिट्टीका आहार करते हैं। बाकी वृक्षोपर रहते हैं और पुष्प फल आदिका आहार करते है। ये सब प्राणी पल्योपम आयुवाले है। ये चौबीसो द्वीप जल तलसे एक योजन ऊँचे है। इसी तरह कालोदधिमे है। ये सब अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। शक, यवन, शवर और पुलिन्द आदि कर्मभूमिज म्लेच्छ है।

कर्मभूमियोंका वर्णन–

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

भरत ऐरावत और देवकुरु उत्तरकुरु भागको छोडकर शेष विदेह क्षेत्र कर्मभूमियाँ है। मोक्ष मार्गकी प्रवृत्ति कर्मभूमिसे ही होती है। यद्यपि भोगभूमियोमे ज्ञान दर्शन होते है पर चारित्र नही होता।

§ १–३ यद्यपि ज्ञानावरणादि आठ कर्मोका बन्ध और उनका फलभोग सभी मनुष्य क्षेत्रोमे समान है फिर भी यहाँ कर्मभूमि व्यवहारविशेषके निमित्तसे है। सर्वार्थ-सिद्धि प्राप्त करानेवाला या तीर्थङ्कर प्रकृति बाँधनेवाला प्रकृष्ट शुभकर्म अथवा सातवे नरक ले जानेवाला प्रकृष्ट अशुभकर्म कर्मभूमिमे ही बँधता है। सकल ससारका उच्छेद करनेवाली परमनिर्जराकी कारण तपश्चरणादि क्रियाएँ भी यही होती है। असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य रूप छह कर्मोकी प्रवृत्ति भी यही होती है। अत. भरतादिकमे ही कर्मभूमि व्यवहार उचित है।

§ ४ जैसे 'न क्वचित् सर्वदा सर्वविस्रम्भगमन नय अन्यत्र धर्मात्' अर्थात् धर्म को छोडकर अन्य आर्थिक आदि प्रसङ्गोंमे पूर्ण विश्वास करना नीतिसगत नही है। यहाँ 'अन्यत्र' शब्द 'छोडकर' इस अर्थमे है उसी तरह 'अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्य' यहाँ भी। अर्थात् देवकुरु और उत्तरकुरुको छोडकर शेष विदेहक्षेत्र कर्मभूमि है। देवकुरु उत्तरकुरु और हैमवत आदि भोगभूमि है।

मनुष्योकी आयु–

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त है।

§ १–३ लौकिक और लोकोत्तरके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है। लौकिक मान छह प्रकारका है–मान, उन्मान, अवमान, गणना, प्रतिमान और तत्प्रमाण। मान दो प्रकारका है–रसमान और बीजमान। घी आदि तरल पदार्थोंको मापनेकी छटंकी आदि रसमान है और धान्य नापनेके कुडव आदि बीजमान है। तगर आदि द्रव्योको ऊपर उठाकर जिनसे तौला जाता है वे तराजू आदि उन्मान है। खेत नापनेके डडा आदि अवमान है। एक दो तीन आदि गणना है। पूर्वकी अपेक्षा आगेके मानोंकी व्यवस्था प्रतिमान है जैसे–चार मंहदीके फलोका एक सफेद सरसों, सोलह सरसोका एक उड़द, दो उड़दकी एक गुमची, दो गुमचीका एक रूप्यमाष (सफेद उडद), दो रूप्यमाषका एक धरण, २॥ धरण का एक सुवर्ण कंस, चार कंसका एक पल, एक सौ पलकी तुला, तीन पल और आधे कस का एक कुडव, चार कुडवका एक प्रस्थ, चार प्रस्थका एक आढक, चार आढकका एक द्रोण, सोलह द्रोणकी एक खारी, बीस खारीका एक वाह, इत्यादि मगध देशका प्रमाण है। मणि आदिकी दीप्ति, अश्व आदिकी ऊचाई गुण आदिके द्वारा मूल्य निर्धारण करनेके लिए तत्प्रमाणका उपयोग होता है। जैसे मणिकी प्रभा ऊपर जहाँ तक जाय उतनी ऊचाई तकका सुवर्णका ढेर उसका मूल्य होगा। घोडा जितना ऊचा हो–उतनी ऊची सुवर्ण मुद्राए घोडेका मूल्य। अथवा जितनेमे रत्नके मालिकको सन्तोष हो उतना रत्नका मूल्य होता है। आदि।

§ ४ लोकोत्तर प्रमाण द्रव्य क्षत्र काल और भावके भेदसे चार प्रकार का है। द्रव्य-प्रमाण एक परमाणुसे लेकर महास्कन्धपर्यन्त, क्षेत्र प्रमाण एक प्रदेशसे लेकर सर्व लोकपर्यन्त, और काल प्रमाण एक समयसे लेकर अनन्त कालपर्यन्त जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन तीन प्रकारका है। भाव प्रमाण अर्थात् ज्ञान दर्शन उपयोग। वह जघन्य सूक्ष्म निगोदके उत्कृष्ट केवलीके और मध्यम अन्य जीवोके होता है।

§ ५ द्रव्यप्रमाण संख्या और उपमाके भेदसे दो प्रकारका है। सख्या प्रमाण संख्येय असंख्येय और अनन्तके भेदसे तीन प्रकारका है। संख्येय प्रमाण जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है। असंख्यात और अनन्त नौ नौ प्रकारके है।

संख्येय प्रमाणके ज्ञानके लिए जम्बूद्वीपके समान एक लाख लम्बे चौड़े और एक योजन गहरे शलाका प्रतिशलाका महाशलाका और अनवस्थित नामके चार कुण्ड बुद्धिसे कल्पित करने चाहिए। अनवस्थित कुण्डमे दो सरसों डालना चाहिए। यह जघन्य सख्येयका प्रमाण है। उस अनवस्थित कुण्डको सरसोंसे भर देना चाहिए। फिर कोई देव उससे एक-एक सरसोंको क्रमशः एक-एक द्वीप समुद्रमे डालता जाय। जब वह कुण्ड खाली हो जाय तब शलाका कुण्डमे एक दाना डाला जाय। जहाँ अनवस्थितकुण्डका अन्तिम सरसो गिरा था उतना बडा अनवस्थित कुण्ड कल्पना किया जाय। उसे सरसोंसे भरकर फिर उससे आगेके द्वीपोंमे एक एक सरसों डालकर उसे खाली किया जाय। जब वह खाली हो जाय तब शलाका कुण्डमें दूसरा सरसों डाले। फिर जहाँ अन्तिम सरसों गिरा था उतना बडा अनवस्थित कुण्ड कल्पित करके उसे सरसोंसे भरकर उससे आगेके द्वीपसमुद्रोंमें एक एक सरसों डालकर खाली करना चाहिए। तब शलाका कुण्डमें एक सरसों डाले। इस तरह अनवस्थितकुण्डको तब तक बढ़ाता जाय जब तक शलाका कुण्ड सरसोंसे न भर जाय।

जब शलाका कुण्ड भर जाय तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्डमें डाले। इस तरह उसे भी भरे। जब प्रतिशलाका कुण्ड भर जाय तब एक सरसों महाशलाका कुण्डमे डाले। उक्त विधिसे जब वह भी परिपूर्ण हो जाय तब जो प्रमाण आता है वह उत्कृष्ट सख्यातसे एक अधिक जघन्यपरीतासख्यात है। उसमेसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट संख्यात होता है। जघन्य और उत्कृष्टके बीचके सभी भेद अजघन्योत्कृष्ट सख्यात है। जहाँ भी सख्यात शब्द आता है वहाँ यही अजघन्योत्कृष्ट सख्यात लिया जाता है।

असख्यात तीन प्रकार है—परीतासख्येय युक्तासख्येय और असख्येयासख्येय। परीता सख्यात जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है। इसी तरह अन्य असख्यातो के भी भेद होते है।

अनन्त भी तीन प्रकारका है—परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। ये तीनो अनन्त जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्टके भेदसे तीन तीन प्रकारके है। जघन्य परीतासख्येयको फैलाकर मोतीके समान जुदे जुदे रखना चाहिए। प्रत्येक पर एक एक जघन्य परीतासख्येयको फैलाना चाहिए। इनका परस्पर वर्ग करे। जो जघन्य परीतासख्येय मुक्तावली पर दिये गये थे उनका गुणाकर एक राशि बनावे। उसे विरलन कर उसपर उस वर्गित राशिको दे। उसका परस्पर वर्ग कर जो राशि आती है वह उत्कृष्ट परीतासख्येयसे एक अधिक होती है। उसमेसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट परीतासख्येय होता है। बीचके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट परीतासंख्येय है। जहाँ आवलिसे प्रयोजन होता है वहाँ जघन्ययुक्तासख्येय लिया जाता है। जघन्ययुक्तासख्येयको विरलन कर प्रत्येकपर जघन्ययुक्तासख्येयको स्थापित करे। उनका वर्ग करनेपर जो राशि आती है वह जघन्य सख्येयासख्येय है। उसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट युक्तासख्येय होती है। बीचके विकल्प मध्यम युक्तासख्येय है। जघन्य सख्येयासंख्येयका विरलनकर पूर्वोक्त विधिसे तीन बार वर्ग सवर्ग करनेपर भी उत्कृष्ट सख्येयासख्येय नही होता। इसमे धर्म, अधर्म, एक जीव, लोकाकाश, प्रत्येक शरीरजीव, बादर निगोत शरीर ये छहों असख्येय, स्थितिबन्धाध्यवसाय स्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, योगके अविभाग परिच्छेद, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके समयोको जोडनेपर फिर तीन बार वर्गित सवर्गित करनेपर उत्कृष्टासख्येयासख्येयसे एक अधिक जघन्यपरीतानन्त होता है। इसमेसे एक कम करनेपर उत्कृष्टासख्येयासख्येय होता है। मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्टासख्येयासख्येय होते है। असख्येयासंख्येयके स्थानमे अजघन्योत्कृष्टासंख्येयासख्येय विवक्षित होता है। इसी तरह जघन्यपरीतानन्तको विरलन कर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर उत्कृष्टपरीतानन्तसे एक अधिक जघन्ययुक्तानन्त होता है। उससे एक कम करनेपर उत्कृष्टपरीतानन्त होता है। मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट परीतानन्त है। अभव्यराशिके प्रमाणमे जघन्ययुक्तानन्त लिया जाता है। जघन्ययुक्तानन्तको विरलनकर प्रत्येकपर जघन्ययुक्तानन्तको रखे। उन्हे परस्पर वर्ग करनेपर जो राशि आती है वह उत्कृष्टयुक्तानन्तसे एक अधिक जघन्य अनन्तानन्तकी राशि है। उसमेसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट युक्तानन्त होता है। मध्यके विकल्प अजघन्योत्कृष्ट युक्तानन्त हैं। जघन्य अनन्तानन्तको विरलनकर प्रत्येकपर जघन्य अनन्तानन्तको स्थापितकर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं होता। अतः उसमें सिद्ध, निगोदजीव, वनस्पतिकाय, अतीत अनागतकालके समय, सभी

पुद्गल, आकाशके प्रदेश, धर्म, अधर्म और अनन्त अगुरुलघुगुण जोड़े। फिर तीन बार वर्गित-सवर्गित करे। तब भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नही होता। अत. उसमें केवलज्ञान और केवलदर्शनको जोड़े तब उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। उससे एक कम अजघन्योत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। जहा अनन्तानन्तका प्रकरण आता है वहाँ अजघन्योत्कृष्ट अनन्तानन्त लेना चाहिए।

§ ७ उपमा प्रमाण आठ प्रकारका ह–पल्य, सागर, सूची, प्रतर, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, लोकप्रतर और लोक। आदि अन्तसे रहित अतीन्द्रिय एक रस एकगन्ध एक रूप और दो स्पर्शवाला अविभागी द्रव्य परमाणु कहलाता है। अनन्तानन्त परमाणुओंके सघात की एक उत्सज्ञासज्ञा। आठ उत्सज्ञासंज्ञाकी एक सज्ञासज्ञा। आठ सज्ञासंज्ञाकी एक त्रुटिरेणु। आठ त्रुटिरेणुकी एक त्रसरेणु। आठ त्रसरेणुकी एक रथरेणु। आठ रथरेणुका एक देवकुरु उत्तरकुरुके मनुष्यका बालाग्र। उन आठ बालाग्रोका एक रम्यक और हरिवर्षके मनुष्योका बालाग्र। उन आठ बालग्रोका एक हैरण्यवत और हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंका बालाग्र। उन आठ बालाग्रोका एक भरत ऐरावत और विदेहके मनुष्योंका बालाग्र। उन आठ बालाग्रोकी एक लीख। आठ लीखकी एक जूं। आठ जूंका एक यवमध्य। आठ यवमध्योका एक उत्सेधागुल। इससे नारक तिर्यञ्च देव मनुष्य और अकृत्रिम चैत्यालयोकी प्रतिमाओका माप होता है। ५०० उत्सेधागुलका एक प्रमाणांगुल। यही अवसर्पिणीके प्रथम चक्रवर्तीका आत्मागुल होता है। उस समय इसीसे गाँव नगर आदिका माप किया जाता है। दूसरे युगोंमे उस उस युगके मनुष्योंके आत्मागुलसे ग्राम नगर आदिका माप किया जाता है। प्रमाणागुलसे द्वीप समुद्र वेदिका पर्वत विमान नरक प्रस्तार आदि अकृत्रिम द्रव्योकी लम्बाई चौड़ाई मापी जाती है। छह अगुलका एक पाद। बारह अंगुलका एक बीता। दो बीतेका एक हाथ। दो हाथका एक किष्कु। दो किष्कुका एक दड। दो हजार दडका एक गव्यूत। चार गव्यूतका एक योजन होता है।

§ ८ पल्य तीन प्रकारका है–व्यवहारपल्य उद्धारपल्य और अद्धापल्य। व्यवहार-पल्य आगेके पल्योके व्यवहारमे कारण होता है, उससे अन्य किसीका परिच्छेद नही होता। उद्धारपल्यके लोमच्छेदोंसे द्वीप समुद्रोंकी गिनती की जाती है। अद्धापल्यसे स्थितिका परिच्छेद किया जाता है। प्रमाणागुलसे परिमित एक योजन लम्बे चौड़े गहरे तीन गड्ढे किये जायँ। वे सात दिन तककी आयु वाले भेडोंके रोमके अतिसूक्ष्म टुकड़ोसे भरे जाय। एक एक सौ वर्षमे एक एक रोमका टुकड़ा निकाला जाय। जितने समयमे वह खाली हो उतना काल व्यवहारपल्य कहलाता है। उन्ही रोमच्छेदोंको यदि प्रत्येकको असंख्यात करोड वर्षके समयोंसे छिन्न कर दिया जाय और प्रत्येक समयमे एक एक रोम छेदको निकाला जाय तो जितने समयमे वह खाली होगा वह समय उद्धारपल्य कहलाता है। दस कोडाकोड़ी उद्धारपल्योका एक उद्धारसागर होता है। ढाई उद्धारसागरोंके जितने रोमच्छेद होते है उसने ही द्वीप समुद्र है। उद्धारपल्यके रोमच्छेदोको सौ वर्षके समयोंसे छेद करके एक एक समयमें एक एक रोमच्छेदको निकालनेपर जितने समयमें वह खाली हो उतना समय अद्धापल्य कहलाता है। दस कोडाकोडी अद्धापल्योंका एक अद्धासागर होता है। दस कोड़ाकोड़ी अद्धासागरोकी एक अवसर्पिणी होती है और इतनी

ही उत्सर्पिणी। अद्धापल्यसे नारक तिर्यञ्च मनुष्य और देवोकी कर्मस्थिति भवस्थिति आयुस्थिति और कायस्थिति मापी जाती है। अद्धापल्यके अर्धच्छेदोको विरलनकर प्रत्येक अद्धापल्यको स्थापितकर परस्पर गुणा करे, तब जितने रोमच्छेद हो उतने प्रदेशोको सूच्यंगुल कहते है। सूच्यगुलको सूच्यगुलसे गुणा करनेपर प्रतरागुल होता है। प्रतरागुल को सूच्यगुलसे गुणा करनेपर घनागुल होता है। असख्येय वर्षोके जितने समय है उतने खडवाला अद्धापल्य स्थापित करे। उनसे अखख्यात खंडोको निकालकर एक असख्यात भागको बुद्धिसे विरलनकर प्रत्येकपर घनागुलको स्थापित करे। उनका परस्पर गुणा करनेपर एक जगत्श्रेणी होती है। जगत्श्रेणीको जगत्श्रेणीसे गुणा करनेपर प्रतरलोक होता है। प्रतरलोक जगत्श्रेणीसे वर्ग करनेपर घनलोक होता है।

क्षेत्र प्रमाण दो प्रकारका है—अवगाह क्षेत्र और विभागनिष्पन्न क्षेत्र। अवगाह क्षेत्र एक दो तीन चार सख्येय असख्येय और अनन्त प्रदेशवाले पुद्गलद्रव्यको अवगाह देनेवाले आकाश प्रदेशोकी दृष्टिसे अनेक प्रकारका है। विभाग निष्पन्नक्षेत्र भी अनेक प्रकारका है—असख्यात आकाश श्रेणी, क्षेत्र प्रमाणागुलका एक असख्यात भाग, असख्यात क्षेत्र प्रमाणागुलके असख्यात भाग, एक क्षेत्र प्रमाणांगुल। पाद बीता आदि पहिलेकी तरह जानना चाहिए।

कालप्रमाण—जघन्यगतिसे एक परमाणु सटे हुए द्वितीय परमाणु तक जितने कालमे जाता है उसे समय कहते है। असख्यात समयकी एक आवली। सख्यात आवलीका एक उच्छ्वास या निश्वास। एक उच्छ्वास निश्वासका एक प्राण। सात प्राणोका एक स्तोक। सात स्तोकका एक लव। ७७ लवका एक मुहूर्त। ३० मुहूर्तका एक दिन रात। १५ दिन रातका एक पक्ष। दो पक्षका एक माह। दो माहकी एक ऋतु। तीन ऋतुओका एक अयन। दो अयनका एक सवत्सर। ८४ लाख वर्षोका एक पूर्वाङ्ग। ८४ लाख पूर्वाङ्गोका एक पूर्व। इसी तरह पूर्वाङ्ग पूर्व, नयुताग नयुत, कुमुदाग कुमुद, पद्माग पद्म, नलिनाग नलिन, कमलाग कमल, तुट्याग तुट्य, अटटाग अटट, अममाग अमम, हूहूअग हूहू, लताग लता, महालताग महालता आदि काल वर्षोंकी गिनतीसे गिना जानेवाला सख्येय कहलाता है। इसके आगेका काल पल्योपम सागरोपम आदि असख्येय है, उसके अनन्तकाल है जो कि अतीत और अन्तगत रूप है। वह सर्वज्ञके प्रत्यक्षगम्य है।

पाँच प्रकारका ज्ञान भावप्रमाण है।

तिर्यचोंकी स्थिति—

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

तिर्यचोकी भी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

§ १–२ तिर्यच गति नाम कर्मके उदयसे जिनका जन्म हुआ है वे तिर्यच है। तिर्यञ्च एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रियके भेदसे तीन प्रकारके हैं।

§ ३ शुद्ध पृथिवी कायिकोकी उत्कृष्ट स्थिति १२ हजार वर्ष, खरपृथिवी कायिको की २२ हजार वर्ष, वनस्पति कायिकोंकी १० हजार वर्ष, जल कायिकोकी ७ हजार वर्ष, वायुकायिकोकी तीन हजार वर्ष और तेजस्कायिकोकी तीन रात दिन है।

§ ४ द्वीन्द्रियोकी उत्कृष्ट स्थिति १२ वर्ष, त्रीन्द्रियोकी ४९ दिन रात और चतुरिन्द्रियोंकी ६ माह है।

§ ५ जलचर पचेन्द्रियोकी उत्कृष्ट स्थिति मछली आदिकी एक पूर्वकोटि, परिसप गोह नकुल आदिकी ९ पूर्वाङ्ग, उरग-सर्पोकी ४२ हजार वर्ष, पक्षियोंकी ७२ हजार वर्ष, चतुष्पदोकी तीन पल्य। सबकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

§ ६ तिर्यंचोंकी आयुका पृथक् निर्देश इसलिए किया है जिससे प्रत्येककी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकारकी स्थितिका ज्ञान स्वतन्त्र भावसे हो जाय। अन्यथा यथासख्य अन्वय होकर मनुष्योंकी उत्कृष्ट और तिर्यचोकी जघन्य यह ज्ञान होता।

एक भवकी स्थिति भवस्थिति कहलाती है और एक कायका परित्याग किये बिना अनेक भव विषयक कायस्थिति होती है। पृथिवी जल तेज और वायुकायिकोंकी उत्कृष्ट कायस्थिति असख्यात लोक है। वनस्पतिकायकी उत्कृष्ट काय स्थिति अनन्तकाल, असख्यात पुद्गल परिवर्त, आवलिकाका असख्यात भागमात्र है। विकलेन्द्रियोकी असंख्यात हजार वर्ष, पचेन्द्रिय तिर्यच मनुष्योकी पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक तीन पल्य। सभीकी जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। देव और नारकोकी भवस्थिति ही कायस्थिति है।

तृतीय अध्याय समाप्त

*

चौथा अध्याय

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

§ १–२ देवगतिनामकर्मके उदय होनेपर बाह्य दीप्ति यथेच्छ क्रीड़ा आदिसे जो दिव्य है वे देव है। अन्तर्गत भेदोंकी दृष्टिसे 'निकाया.' मे बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

§ ३ देवगतिनामकर्मोदयकी भीतरी सामर्थ्यसे बने हुए समुदायोको निकाय कहते है। भवनवासी, किन्नर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये चार निकाय है।

देवोकी लेश्या–

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

आदिके तीन निकायोमे पीतपर्यन्त लेश्याएँ होती है।

§ १–३ अन्त या मध्यसे नहीं किन्तु आदिसे एक या दो नही किन्तु तीन निकायों म अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषियोंमे कृष्ण नील कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती है।

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥३॥

§ १–३ इन्द्रसामानिक आदि कल्पनाए जिनमे होती है वे कल्पोपपन्न है। यद्यपि भवनवासी आदिमे भी ये कल्पनाए है फिर भी रूढिवश कल्पोपपन्न शब्दसे १६ स्वर्गवासियोका ग्रहण है। ग्रैवेयक आदि कल्पातीतोकी इससे निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् भवनवासी दस प्रकार, व्यन्तर आठ प्रकार, ज्योतिषी पाँच प्रकार और वैमानिक कल्प बारह प्रकारके है।

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णका-भियोग्यकिल्विषकाश्चैकशः ॥४॥

प्रत्येक निकायमे इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद् आत्मरक्ष लोकपाल अनीक प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्विषक ये दश भेद है।

§ १ अन्य देवोंमे नही पाया जानेवाला अणिमा आदि ऋद्धिरूप ऐश्वर्यवाला इन्द्र है।

§ २ आज्ञा और ऐश्वर्यके सिवाय स्थान आयु शक्ति परिवार और भोगोपभोग आदिमें जो इन्द्रोंके समान है वे सामानिक है। ये पिता गुरु उपाध्याय आदिके समान आदरणीय होते हैं।

§ ३ मन्त्री और पुरोहितके समान हित चेतानेवाले त्रायस्त्रिंश देव होते है। त्रयस्त्रिंशत् संख्या और संख्येयमे भेद मानकर यहाँ समास हो गया है। अथवा स्वार्थिक अण् प्रत्यय करनेपर त्रायस्त्रिंश रूप बन जाता है।

§ ४ पारिषद् अर्थात् सभ्य। ये मित्र और पीठमर्द–अर्थात् नर्तकाचार्यके समान विनोदशील होते है।

§ ५ अंगरक्षकके समान कवच पहिने हुए सशस्त्र पीछे खडे रहनेवाले आत्मरक्ष हैं। यद्यपि कोई भय नही है फिर भी विभूतिके द्योतनके लिए तथा दूसरोपर प्रभाव डालनेके लिए आत्मरक्ष होते है।

§ ६ अर्थरक्षकके समान लोकपाल होते है।

§ ७ पदाति आदि सात प्रकारकी सेना अनीक है।

§ ८ नगर या प्रान्तवासियोके समान प्रकीर्णक होते है।

§ ९ दासोके समान आभियोग्य होते है। ये ही विमान आदिको खीचत है और वाहक आदि रूपसे परिणत होते है।

§ १० पापशील और अन्तवासीकी तरह किल्विषक होते है।

§ ११ प्रत्येक निकायमे इन भेदोकी सूचनाके लिए 'एकश' पदमे वीप्साथक शस् प्रत्यय है।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

व्यन्तर और ज्योतिष्कोमे त्रायस्त्रिंश और लोकपालके सिवाय आठ भेद होते है।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

भवनवासी और व्यन्तरोमे दो दो इन्द्र होते है।

§ १–२ 'पूर्वयो' इस शब्दसे प्रथम और द्वितीय निकायका ग्रहण करना चाहिए, समुदाय और समुदायवालेमे भेद विवक्षाकी दृष्टिसे देवोके निकायोमे ऐसा भेदपरक निर्देश किया है। जैसे आमोंका वन या धान्यकी राशि।

§ ३ 'द्वीन्द्रा.' यहाँ वीप्सार्थकी विवक्षा है अर्थात् दो दो इन्द्र होते है। भवनवासियोमे असुरकुमारोके चमर और वैरोचन, नागकुमारोके धरण और भूतानन्द, विद्युत्कुमारोके हरिसिह और हरिकान्त, सुपर्णकुमारोके वेणुदेव और वेणुधारी, अग्निकुमारोके अग्निशिख और अग्निमाणव, वातकुमारोंके वैलम्ब और प्रभञ्जन, स्तनितकुमारोके सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारोके जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारोके पूर्ण और वशिष्ट तथा दिक्कुमारोंके अमितगति और अमितवाहन नामके इन्द्र है।

व्यन्तरोमे किन्नरोंके किन्नर और किपुरुष, किम्पुरुषोंके सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगोंके अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वोंके गीतरति और गीतयश, यक्षोंके पूर्णभद्र और माणिभद्र, राक्षसोंके भीम और महाभीम, पिशाचोंके काल और महाकाल तथा भूतोंके प्रतिरूप और अप्रतिरूप नामके इन्द्र हैं।

सुखभोगका प्रकार–

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

ऐशान स्वर्ग पर्यन्त मैथुन सेवन शरीरसे होता है।

§ १ मैथुन व्यवहारको प्रवीचार कहते है। शरीरसे मैथुन सेवनको कायप्रवीचार कहते है।

§ २ आङ् उपसर्ग अभिविधि अर्थ मे है। अर्थात् ऐशान स्वर्ग तकके देव सक्लिष्ट कर्मवाले होनेसे मनुष्योंकी तरह स्त्री विषयका सेवन करते हैं। यदि 'प्राग् ऐशानात्' ऐसा ग्रहण करते तो ऐशान स्वर्गके देव छूट जाते।

§ ३ 'आ ऐशानात्' ऐसा बिना सन्धिका निर्देश असन्देहके लिए किया गया है। यदि सन्धि कर देते तो 'आङ्' उपसर्गका पता ही न चलता। पूर्वसूत्रमें 'पूर्वयो.' का अधिकार है। अत उसका अनुवर्तन होनेसे 'ऐशानसे पहिलेके' यह अनिष्ट अर्थ होता। अतः यहाँ सन्धि नही की है।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥८॥

शेष स्वर्गोमे स्पर्श रूप शब्द और मनके द्वारा ही कामवेदना शान्त हो जाती है।

§ १ शेष शब्दके द्वारा ऐशानके सिवाय अन्य विमानवासियोका सग्रह होता है। ग्रैवेयकादिके देव तो 'परेऽप्रवीचारा.' सूत्रसे मैथुनरहित बताए जायगे।

§ २-४ **प्रश्न**-इस सूत्रके द्वारा यह ज्ञात नही होता कि स्वर्गोमे स्पर्श-प्रवीचार है तथा किनमे रूप-प्रवीचार आदि। अतः यह सूत्र अगमक है। 'दो दो' का सम्बन्ध लगानेसे भी आगमोक्त अर्थ नही निकलता। इन्द्रोंकी अपेक्षा दो दो का सम्बन्ध लगानेसे आनतादिक चार अन्तमे बच जाते है। तात्पर्य यह कि यह सूत्र अपूर्ण है।

§ ५ **उत्तर**-यद्यपि पूर्वसूत्रसे प्रवीचार शब्दकी अनुवृत्ति आती है फिर भी इस सूत्रमें दुबारा प्रवीचार शब्दके ग्रहण करनेसे इस प्रकार आगमाविरोधी इष्ट अर्थका ज्ञान हो जाता है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमे देव-देवियाँ परस्पर अंग स्पर्श करनेसे सुखानुभवन करते है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गके देव और देवियाँ परस्पर सुन्दर रूपको देखकर ही तृप्त हो जाते है। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गके देव और देवियाँ परस्पर मधुर सगीत श्रवण, मृदु हास्य, भूषणोकी झंकार आदि शब्दोके सुनने मात्रसे सुखानुभव करते है। आनत प्राणत आरण और अच्युत स्वर्गके देव देवियाँ मनमे एक दूसरेका विचार आते ही तृप्त हो जाते है।

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

§ १-२ कल्पातीत-ग्रैवेयकादि वासी देव प्रवीचारसे रहित है। प्रवीचार काम-वेदनाका प्रतीकार है। इनके काम वेदना ही नही होती। अतः ये परमसुखका सदा अनुभव करते हैं।

भवनवासियोंके भेद-

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कु-मारा: ॥१०॥

§ १-३ भवनोंमें रहनेके कारण ये भवनवासी कहे जाते हैं। असुर आदि उनके भेद हैं। ये भेद नामकर्मके कारण हैं।

§ ४-६ 'देवोंके साथ असुरका युद्ध होता था अतः ये असुर कहलाते है' यह देवोंका अवर्णवाद मिथ्यात्वके कारण किया जाता है। क्योंकि सौधर्मादि स्वर्गोके देव महा-

प्रभावशाली है, वे सदा जिनपूजा आदि शुभकार्योंमे लगे रहते है, उनमे स्त्रीहरण आदि निमित्तोसे वैरकी सभावना ही नही है अतः अल्पप्रभाववाले असुरोंसे युद्धकी कल्पना ही व्यर्थ है ।

§ ७–८ ये सदा कुमारोकी तरह वेषभूषा तथा यौवनक्रीडाओमे लगे रहते है अत· कुमार कहलाते है। कुमार शब्दका सम्बन्ध प्रत्येकके साथ है–असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार आदि ।

इस जम्बूद्वीपसे तिरछे असख्यात द्वीपसमुद्रोंके बाद पक बहुल भागमे चमर नामके असुरेन्द्रके ३४ लाख भवन है । इस दक्षिणाधिपतिके ६४ हजार सामानिक, ३३ त्रायस्त्रिश, तीन परिषत्, सात अनीक, चार लोकपाल, पाँच अग्रमहिषी, ४०३४ आत्मरक्ष यह विभव परिवार है । उत्तरदिशामे वैरोचनके तीस लाख भवन है । इसके ६० हजार सामानिक, ३३ त्रायस्त्रिश, ३ परिषत्, ७ अनीक, ४ लोकपाल, ५ अग्रमहिषी, ४०६४ आत्मरक्ष यह विभव परिवार है । कुल मिलाकर पकबहुल भागमे ६४ लाख भवन है ।

खर पृथिवी भागके ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोडकर शेष भागमे शेष नव कुमारोके भवन है । इस जम्बूद्वीपसे तिरछे असंख्यात द्वीप समुद्रोके बाद धरण नागराजके ४४ लाख भवन है । इसके ६० हजार सामानिक, ३३ त्रायस्त्रिश, तीन परिषत्, सात अनीक, चार लोकपाल, छह अग्रमहिषी, छह हजार आत्मरक्ष है । इस जम्बूद्वीपसे तिरछे उत्तरकी ओर असंख्यात द्वीप-समुद्रोके बाद भूतानन्द नागेन्द्रके ४० लाख भवन है । इसका विभव धरणेन्द्रके समान है । इस तरह नागकुमारोंके ८४ लाख भवन है। सुवर्णकुमारोके ७२ लाख भवन है । इसमें दक्षिणदिशाधिपति वेणुदेवके ३८ लाख और उत्तराधिपति वेणुधारीके ३४ लाख है । विभव धरणेन्द्रके समान है । विद्युत्कुमार अग्निकुमार स्तनित-कुमार उदधिकुमार द्वीपकुमार और दिक्कुमार इन प्रत्येकके ७६ लाख भवन है । इनमे दक्षिणेन्द्र हरिसिह, अग्निशिख, सुघोष, जलकान्त, पूर्ण और अमितगति इन प्रत्येकके ४० लाख भवन है । हरिकान्त, अग्निमाणव, महाघोष, जलप्रभ, शिष्ट और अमितवाहन इन प्रत्येक उत्तरेन्द्रके ३६ लाख भवन है। वातकुमारोंके ९६ लाख भवन है। इनमे दक्षिणेन्द्र वैलम्बके ५० हजार भवन है । और उत्तराधिपति प्रभञ्जनके ४६ लाख भवन है । इस तरह कुल मिलाकर सात करोड़ ७२ लाख भवन है ।

व्यन्तरोंके भेद–

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥११॥

§ १–३ विविध देशोमे निवास होनेसे इन्हे व्यन्तर कहते है । इनके किन्नर आदि आठ भेद है । देवगतिके उत्तरभेद रूप उन उन प्रकृतियोके उदयसे ये किन्नर आदि भेद हुए है ।

§ ४ **प्रश्न**–खोटे मनुष्योको चाहनेके कारण किन्नर, कुत्सित पुरुषोंकी कामना करनेके कारण किम्पुरुष, मास खानेसे पिशाच आदि कारणोंसे ये सज्ञाएं क्यों नही मानते ? **उत्तर**–यह सब देवोंका अवर्णवाद है । ये पवित्र वैक्रियिक शरीरके धारक होते हैं वे कभी भी अशुचि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदिकी कामना नही करते और न वे मांस मदिरादिके खानपानमे प्रवृत्त ही होते हैं । लोकमें जो व्यन्तरोंकी मांसादि ग्रहणकी प्रवृत्ति सुनी जाती है वह केवल उनकी क्रीड़ा है । वे तो मानस आहार लेते है ।

इस जम्बूद्वीपसे तिरछे असंख्य द्वीप समुद्रोके बाद नीचे खर पृथिवी भागमे दक्षिणाधिपति किन्नरेन्द्रके असख्यात लाख नगर है। इसके ४ हजार सामानिक, तीन परिषद्, सात अनीक, चार अग्रमहिषी और सोलह हजार आत्मरक्ष है। उत्तराधिपति किन्नरेन्द्र किम्पुरुषका भी इतना ही विभव परिवार है। शेष छह दक्षिणाधिपति–सत्पुरुष अतिकाय गीतरति पूर्णभद्र स्वरूप और कालके दक्षिण दिशामे आवास है। तथा उत्तराधिपति महापुरुष महाकाय गीतयश माणिभद्र अप्रतिरूप और महाकालके उत्तरदिशामे आवास है। राक्षसेन्द्र भीमके दक्षिण दिशामे पंकबहुल भागमे असंख्यात लाख नगर हैं और उत्तराधिपति महाभीमके उत्तरदिशामे। सोलहो व्यन्तरोंके सामानिक आदि विभव परिवार एक जैसा है। भूमितलमे भी व्यन्तर द्वीप पर्वत समुद्र देश ग्राम नगर तिगड्डा चौराहा घर गली जलाशय उद्यान देवमन्दिर आदिमें निवास करते हैं।

ज्योतिष्कोका वर्णन–

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥१२॥

सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र और तारागण ये पाच प्रकारके ज्योतिष्क देव है।

§ १–३ प्रकाश स्वभाव होनेसे ये ज्योतिष्क कहलाते है। ज्योतिष् शब्दसे स्वार्थ मे 'क' प्रत्यय होनेपर ज्योतिष्क शब्द सिद्ध होता है। यद्यपि ज्योतिष् शब्द नपुंसक लिग है फिर भी क प्रत्यय स्वार्थमे होनेपर पुल्लिग ज्योतिष्क शब्द बन जाता है। जैसे कुटीसे कुटीर शुण्डासे शुण्डार आदि। अर्थात् कही कही लिग-व्यतिक्रम हो जाता है।

§ ४–१० उन उन देवगति नाम कर्मकी उत्तर प्रकृतियोके उदयसे सूर्य चन्द्र आदि सज्ञाए रूढ हुई है। 'सूर्याचन्द्रमसौ' यहाँ 'देवताद्वन्द्वे' सूत्रसे आनङ् प्रत्यय हुआ है। यह सर्वत्र नही होता। 'सूर्याचन्द्रमसौ' का पृथक् ग्रहण इसलिए किया है कि ये प्रभाव ज्योति आदिके कारण सबमे प्रधान है। सूर्यका प्रथम पाठ इसलिए किया है कि उसमे अल्प स्वर है और वह प्रभावशाली तथा अपनी प्रभासे सबका अभिभव करनेमे समर्थ होनेसे पूज्य भी है। ग्रह शब्द अल्प अच्वाला है और अभ्यर्हित है अत उसका नक्षत्र और तारकासे पहिले ग्रहण किया है। इसी तरह तारकासे नक्षत्र अल्पाच् और अभ्यर्हित है।

इस भूमितलसे ७९० योजन ऊपर ज्योतिर्मण्डलमे सबसे नीचे तारागण है। उससे दश योजन ऊपर सूर्य, उससे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा, उससे तीन योजन ऊपर नक्षत्र, उससे तीन योजन ऊपर बुध, उससे तीन योजन ऊपर शुक्र, उससे तीन योजन ऊपर बृहस्पति, उससे चार योजन ऊपर मगल और उससे चार योजन ऊपर शनैश्चर है। इस तरह सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र ११० योजन ऊचाई और असंख्यात द्वीपसमूह प्रमाण लम्बाईमे है।

अभिजित नक्षत्र सबसे भीतर और मूल सबसे बाहिर है। भरणी सबसे नीचे और स्वाति सबसे ऊपर है। सूर्यके विमान तपे हुए सुवर्णके समान प्रभावाले लोहित मणिमय, ४८$\frac{३}{६१}$ योजन लम्बे २४$\frac{३}{६१}$ योजन चौडे, आधे गोलकके आकारवाले और सोलह हजार देवों द्वारा वहन किये जाते है। पूर्व दक्षिण उत्तर और पश्चिम दिशामें क्रमश चार चार हजार देव सिह हाथी वृषभ और घोडेके आकारको धारण करके सूर्यके विमानमे जुते रहते हैं। इनके ऊपर सूर्य देव है। इनके सूर्यप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी और प्रभंकरा ये चार अग्रमहिषी हैं। ये प्रत्येक चार चार हजार देवियोंकी विक्रिया कर सकती है। सूर्य असंख्यात

लाख विमानोंके स्वामी है। चन्द्रविमान निर्मल मृणालवर्णके समान धवल प्रभावाले है। ये ५६$\frac{१}{६१}$ योजन लबे २८$\frac{१}{६१}$ योजन चौड़े और हजार देवों द्वारा वहन किए जाते है। पूर्वादिक दिशाओमे क्रमशः सिह हाथी घोड़ा और वृषभके रूपको धारण किए हुए चार चार हजार देव चन्द्रविमानोंमें जुते रहते है। इनके चन्द्रप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी और प्रभकरा ये चार अग्रमहिषी चार चार हजार देवियोकी विक्रिया करनेमे समर्थ है। ये असख्यात लाख विमानोके अधिपति है।

राहुके विमान अजनमणिके समान काले, एक योजन लम्बे चौडे और २५० धनुष विस्तारवाले है। नव मल्लिका कुसुमकी तरह रजतमय शुक्र विमान है। ये एक गव्यूत लम्बे चौड़े है। वृहस्पतिके विमान अकमणिमय और सुवर्ण तथा मोतीकी समान कान्तिवाले है। कुछ कम गव्यूत प्रमाण लम्बे चौडे है। बुधके विमान कनकमय और पीले रगके है। तपे हुए सोनेके समान लालरगके शनैश्चरके विमान है। लोहित मणिमय तप्त सुवर्णकी कान्तिवाले मगलके विमान है। बुध आदिके विमान आधे गव्यूत लम्बे चौड़े है। शुक्र आदिके विमान राहुके विमान बराबर लम्बे चौडे है। राहु आदिके विमानोंको चार-चार हजार देव वहन करते है। नक्षत्र विमानोको भी चार हजार देव ही ढोते है। तारा विमानोंको दो हजार देव वहन करते है। राहु आदिके विमानवाहक देव चन्द्रविमानवाहक देवोकी तरह रूपविक्रिया करते है। नक्षत्र विमानोका उत्कृष्ट विस्तार एक कोश है। तारा विमानोंका जघन्य विस्तार $\frac{१}{४}$ कोश, मध्यम कुछ अधिक $\frac{१}{४}$ कोश और उत्कृष्ट $\frac{१}{२}$ गव्यूत है। ज्योतिषी विमानोका सर्वजघन्य विस्तार ५०० धनुष है। ज्योतिषियोके इन्द्र सूर्य और चन्द्रमा हैं। ये असख्यात है।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

ज्योतिषी देव मनुष्यलोकमे मेरुकी प्रदक्षिणा करके नित्य भ्रमण करते है।

§ १ अन्य प्रकारकी गतिकी निवृत्तिके लिए 'मेरुप्रदक्षिणा' शब्द दिया है।

§ २–३ यद्यपि गति प्रतिक्षण भिन्न होनेके कारण अनित्य है फिर भी सतत गतिकी सूचनाके लिए 'नित्य' पद दिया है। तात्पर्य यह कि वे सदा चलते है कभी रुकते नही। गति भी द्रव्यदृष्टिसे नित्य होती है क्योकि सभी पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य इस तरह अनेकान्तरूप है।

§ ४ 'नृलोक' ग्रहण सूचित करता है कि ढाई द्वीपके ज्योतिषी नित्यगतिवाले है बाहरके नही। गतिपरिणत आभियोग्य जातिके देवो द्वारा इनके विमान ढोए जाते है अत. वे नित्यगतिक है। इन देवोंके ऐसे ही कर्मका उदय है जिससे इन्हे विमानोंको वहन करके ही अपना कर्मफल भोगना पड़ता है। ये मेरु पर्वतसे ११ सौ योजन दूर घूमते है।

जम्बूद्वीपमें २ सूर्य, २ चन्द्र, ५६ नक्षत्र, १७६ ग्रह, एक कोड़ाकोडी लाख ३३ कोड़ाकोडी हजार ९ कोडाकाडी सैकड़ा ५० कोडाकोड़ी तारागण हैं। लवण समुद्रमें ४ सूर्य, ४ चन्द्र, ११२ नक्षत्र, ३५२ ग्रह, २ कोड़ाकोडी लाख ६७ कोड़ाकोड़ी हजार ९ सौ कोड़ाकोड़ी तारा है। धातकीखण्डमे १२ सूर्य, १२ चन्द्र, ३३६ नक्षत्र, १०५६ ग्रह, आठ लाख कोड़ाकोड़ी ३७ सौ कोड़ाकोड़ी तारा हैं। कालोदधिमें ४२ सूर्य, ४२

चन्द्र, ११६७ नक्षत्र, ३६९६ ग्रह, २८ कोड़ाकोड़ी लाख १२ कोड़ाकोड़ी हजार ९ कोडीकोडी सैकड़ा ५० कोडाकोडी तारा है। पुष्करार्धमे ७२ सूर्य, ७२ चन्द्र, २०१६ नक्षत्र, ६३३६ ग्रह, ४८ कोड़ाकोड़ी लाख २२ कोड़ाकोड़ी हजार, दो कोड़ाकोडी सैकडा तारा है। बाह्य पुष्करार्धमे भी इतने ही ज्योतिष्क देव है। पुष्कर समुद्रमें इससे चौगुनी सख्या है उससे आगे प्रत्येक द्वीप समुद्रमे दूनी दूनी है।

ताराओंका जघन्य अन्तर $\frac{1}{8}$ गव्यूत है, मध्यम ५० गव्यूत और उत्कृष्ट अन्तर एक हजार योजन है। चन्द्र और सूर्यका जघन्य अन्तर ९९६४० योजन और उत्कृष्ट अन्तर १००६६६ योजन है। जम्बूद्वीप आदिमे एक एक चन्द्रमाके ६६ हजार कोडाकोड़ी ९ सौ कोड़ाकोडी और ७५ कोड़ाकोड़ी तारा, ८८ महाग्रह और २८ नक्षत्र है। सूर्यके १८४ मडल ८० सौ जम्बूद्वीपके भीतर घुसकर प्रकाशित करते है। इनमे ६५ आभ्यन्तर मडल है तथा लवणोदधिके भीतर ३३ सौ योजन घुसकर प्रकाशित करते है। बाह्य मण्डल ११९ है। एक एक मण्डलका अन्तर दो दो योजन है। $२\frac{४८}{६१}$ योजन उदयान्तर है। सबसे भीतरी मण्डलमे सूर्य ४४८२० योजन मेरुपर्वतसे दूर सूर्य प्रकाशित होता है। इसका विस्तार ९९६४० योजन है। इस समय १८ मुहूर्तका दिन होता है। एक मुहूर्तका गतिक्षेत्र $५२५१\frac{३९}{६०}$ योजन है। सर्व बाह्यमण्डलमे सूर्य ४५३३० योजन मेरु पर्वतसे दूर रहकर प्रकाशित होता है। इसका विस्तार १००६६० योजन है। इस समय दिनमान १२ मुहूर्त है। $५३०५\frac{१५}{६०}$ योजन मुहूर्तगतिक्षेत्र है। उस समय ३१८३१$\frac{१}{२}$ योजनमे सूर्य दिखाई देता है।

चन्द्रमण्डल १५ है। द्वीपके भीतर पाँच मडल है और समुद्रमे दस। १५ मडलो के १४ अन्तर है। एक एक मडलान्तरका प्रमाण $३५\frac{३५}{६१}-\frac{५}{८}$ योजन है। सर्वाभ्यन्तर मडलको १३७२५ से भाग देनेपर $५०७३\frac{४४}{६१}$ शेष रहता है। यह चन्द्रमण्डलकी एक मुहूर्तकी गतिका परिमाण है। सर्व बाह्यमडलको १३७२५ से भाग देनेपर $५१२५\frac{६९}{६१}$ शेष रहता है। यह चन्द्रमडलकी एक मुहूर्तकी गतिका परिमाण है। ५१० योजन सूर्य और चन्द्रका चार क्षेत्रका विस्तार है।

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

ज्योतिषियोंकी गतिसे दिन रात्रि आदि कालविभाग जाना जाता है।

§ १ 'तत्' शब्दसे ज्ञात होता है कि न तो केवल गतिसे कालविभाग होता है और न केवल ज्योतिषियोंसे, क्योकि गतिकी उपलब्धि नही होती और ज्योतिषियोंमें परिवर्तन नही होता।

§ २–४ काल दो प्रकारका है–मुख्य और व्यवहार। समय आवली आदि व्यवहार काल ज्योतिषियोंकी गतिसे गिना जाता है। यह क्रियाविशेषसे परिच्छिन्न होता है और अन्य पदार्थोंके परिच्छेदका कारण होता है।

प्रश्न–सूर्य आदिकी गतिसे पृथक् कोई मुख्य काल नही है, क्योकि उसका अनुमापक लिग नही पाया जाता। कलाओके समूहको काल कहते है। कला अर्थात् क्रियाके भाग। आगममे पाँच ही अस्तिकाय बताए है अतः छठवाँ काल कोई पदार्थ नही है।

उत्तर–सूर्यगति आदिमें जिस कालका उपचार किया जाता है वही मुख्य काल है। मुख्यके बिना कहीं भी गौण व्यवहार नही होता। यदि मुख्य गौ न होती तो बोझा

ढोनेवालेमे गौण गौ व्यवहार कैसे होता ? अत. कालका गौण व्यवहार ही वर्तना लक्षण-वाले मुख्य कालका अस्तित्व सिद्ध करता है। इसीलिए कलाओंके समूहको ही काल नही कहते। अस्तिकायोंमे उन द्रव्योको गिनाया है जिनमे प्रदेशप्रचय–बहुत प्रदेश पाये जाते है। काल एकप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय नही है। यदि कालकी सत्ता ही न होती तो वह द्रव्योमे क्यो गिनाया जाता ?

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

मनुष्यलोकसे बाहरके ज्योतिषी देव अवस्थित है।

§ १ मनुष्य-लोकसे बाहिर ज्योतिषी है और अवस्थित है, इन दोनों बातोकी सिद्धिके लिए यह सूत्र बनाया है। यदि यह न बनाया जाता तो पहिलेके सूत्रसे 'मनुष्य-लोकमे ही ज्योतिषी है और वे नित्यगति है' यह अर्थ स्थित रह जाता है।

वैमानिकाः ॥१६॥

यहाँसे वैमानिकोका कथन किया जाता है–

जिनमे रहनेसे विशेषतया अपनेको सुकृति माने वे विमान, विमानोमे रहनेवाले वैमानिक है। इन्द्रक श्रेणि और पुष्पप्रकीर्णकके भेदसे विमान तीन प्रकारके है। इन्द्रक विमान इन्द्रकी तरह मध्यमे है। उसकी चारो दिशाओमे क्रमबद्ध श्रेणिविमान है तथा विदिशाओमे प्रकीर्ण पुष्पकी तरह अक्रमी पुष्पप्रकीर्णक विमान है।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

वैमानिकोके दो भेद है–कल्पोपपन्न और कल्पातीत। इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाए जिनमे पाई जायं वे कल्पोपपन्न तथा जहाँ सभी 'अहमिन्द्र' हों वे कल्पातीत।

§ १ यद्यपि नव ग्रैवेयेक नव अनुदिश आदिमे नव आदि सख्याकृत कल्पना है पर 'कल्पातीत' व्यवहारमे इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाए ही मुख्य रूपसे विवक्षित है।

उपर्युपरि ॥१८॥

§ १ ये ऊपर ऊपर है। न तो ज्योतिषियोकी तरह तिरछे है और न व्यन्तरोकी तरह अनियत ही है। यहाँ 'समीप' अर्थमे उपरि शब्दका द्वित्व हुआ है। यद्यपि इनमे परस्पर असख्यात योजनोका व्यवधान है फिर भी दो स्वर्गोमे अन्य किसी सजातीय-स्वर्गका व्यवधान नही है अतः समीपता मानकर द्वित्व कर दिया है।

§ २–५ ऊपर ऊपर कल्प अर्थात् स्वर्ग है। देव तो एक दूसरेके ऊपर है नही और न विमान ही क्योकि श्रेणि और पुष्पप्रकीर्णक विमान समतलपर तिरछे फैले हुए है। यद्यपि पूर्व सूत्रमे 'कल्पोपपन्ना' मे 'कल्प' पद समासान्तर्गत होनेसे गौण हो गया है फिर भी विशेष प्रयोजनसे उसका यहाँ सम्बन्ध हो जाता है। जैसे 'राजपुरुषोऽयम्' यहाँ 'कस्य' प्रश्न होनेपर 'राजपुरुष' मे से 'राज' का सम्बन्ध कर लिया जाता है।

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र-शतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्तजयान्तपराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

सौधर्म ऐशान आदि स्वर्ग, नवग्रैवेयक विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धिमे कल्पोपपन्न और कल्पातीत विमानवासियोंका निवास है ।

§ १–२ सौधर्म आदि संज्ञाए स्वभावसे अथवा साहचर्यसे पडी है । इनके साहचर्यसे इन्द्र भी सौधर्म आदि कहलाते है । सुधर्मा नामकी सभा जिसमे पाई जाती है वह सौधर्म कल्प है । सौधर्म कल्पके साहचर्यसे इन्द्र भी सौधर्म कहा जाता है । ईशान नामका इन्द्र है । ईशानका निवासभूत कल्प ऐशान कहा जाता है, फिर इन्द्र भी ऐशान ही कहा जाता है । सनत्कुमार नामका इन्द्र स्वभावसे है । उसका निवासभूत कल्प सानत्कुमार कहलाता है । इन्द्र भी इसीलिए सानत्कुमार कहा जाता है । महेन्द्र नामका इन्द्र है । इसका निवासभूत कल्प माहेन्द्र और इन्द्र भी माहेन्द्र कहा जाता है । ब्रह्मा इन्द्र है । उसके निवासको ब्रह्मलोक कल्प कहते है तथा इन्द्र भी ब्रह्म कहलाता है । इसी तरह ब्रह्मोत्तर । लान्तव इन्द्रके निवासभूत कल्पको लान्तव कहते है, इन्द्र भी लान्तव कहलाता है । शुक्र इन्द्रका निवास कल्प शौक्र या शुक्र, इन्द्र भी शुक्र । शतार इन्द्रका निवासभूत कल्प शतार और इन्द्र भी शतार । इसी तरह सहस्रारमे भी । आनत इन्द्रका निवासभूत कल्प आनत और इन्द्र भी आनत । प्राणत इन्द्रका निवास प्राणत कल्प और इन्द्रका नाम भी प्राणत । आरण इन्द्रका निवास कल्प आरण और इन्द्रका नाम भी आरण । अच्युत इन्द्रका निवास अच्युत कल्प और इन्द्र भी अच्युत । लोक पुरुषके ग्रीवाकी तरह ग्रैवेयक है । विजयादि विमानोकी भी इसी तरह सार्थक सज्ञाए है । इनके इन्द्रोके भी यही नाम है ।

§ ३ सर्वार्थसिद्धि विमानमे एक ही उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है, प्रभाव भी सर्वार्थसिद्धिके देवोका सर्वोत्कृष्ट है इत्यादि विशेषताओके कारण सर्वार्थसिद्धिका पृथग् ग्रहण किया है ।

§ ४–५ ग्रैवेयक आदिको कल्पातीत बतलानेके लिए उनका पृथक् ग्रहण किया है । नव शब्दको पृथक् रखनेसे नव अनुदिशकी सूचना हो जाती है । अनुदिश अर्थात् प्रत्येक दिशामे वर्तमान विमान ।

§ ६–८ 'उपरि उपरि' के साथ दो दो स्वर्गोका सम्बन्ध है । अर्थात् सौधर्म ऐशान के ऊपर सानत्कुमार माहेन्द्र आदि । सोलह स्वर्गोमे एक एक इन्द्र है पर मध्यके ८ स्वर्गोमे चार इन्द्र है । इसलिए 'आनतप्राणतयो. आरणाच्युतयोः' इन चार स्वर्गोका पृथक् निर्देश करना सार्थक होता है । अन्यथा लाघवके लिए एक ही द्वन्द्व समास करना उचित होता ।

इस भूमितलसे ९९००४० योजन ऊपर सौधर्म ऐशान कल्प है । उनके ३१ विमान प्रस्तार है । ऋतु चन्द्र विमल आदि उनके नाम है । मेरु पर्वतके शिखर और ऋतुविमानमे मात्र एक बालका अन्तर है । ऋतुविमानसे चारों दिशाओंमे चार विमान श्रेणियाँ है । प्रत्येकमे ६२-६२ विमान है । विदिशाओंमे पुष्प प्रकीर्णक है । प्रभा नामक इन्द्रककी श्रेणीमे अठारहवाँ विमान कल्पविमान है । उसके स्वस्तिक वर्धमान और विश्रुत नामके तीन प्राकार है । बाह्य-

प्राकारमें अनीक और पारिषद, मध्य प्राकारमे त्रायस्त्रिंश देव और अन्तर प्राकारमे सौधर्म इन्द्र रहता है। उस विमानकी चारो दिशाओमे चार नगर है। उसके ३२ लाख विमान है। ३३ त्रायस्त्रिंश, ८४ हजार आत्मरक्ष, तीन परिषदे, सात अनीक, ८४ हजार सामानिक, चार लोकपाल, पद्मा आदि अग्रमहिषी, ४० हजार वल्लभिकाए है। इत्यादि विभूति है। प्रभा विमानसे उत्तरमें १८वें कल्प विमानमे ऐशान इन्द्र रहता है। इसका परिवार सौधर्मकी तरह है। इसी तरह सोलहो स्वर्गका वर्णन है।

लोकानुयोगमें चौदह इन्द्र कहे गए है। पर यहाँ बारह विवक्षित है क्योंकि ब्रह्मोत्तर कापिष्ठ महाशुक्र और सहस्रार ये चार अपने दक्षिणेन्द्रके अनुवर्ती है।

आरणाच्युत विमानसे सैकड़ो योजन ऊपर अधोग्रैवेयकके तीन विमान पटल है। फिर मध्यम ग्रैवेयक और फिर उत्तम ग्रैवेयकके विमान पटल है। इनके ऊपर नव अनुदिश विमानोंका एक पटल है। इनसे सैकड़ों योजन ऊपर एक सर्वार्थसिद्धि पटल है। इसमे चारो दिशाओंमे विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित तथा मध्यमे सर्वार्थसिद्धि विमान है।

सौधर्म ईशानके विमान पचवर्णके, सानत्कुमार माहेन्द्रके कृष्णवर्णके बिना चार वर्ण के, ब्रह्मादि चार स्वर्गोंके कृष्ण और नीलके बिना तीन वर्णके, शुक्रादि आठ स्वर्गोंके विमान पीले और शुक्ल वर्णके है। ग्रैवेयक अनुदिश और अनुत्तर विमान शुक्लवर्णके ही है। सर्वार्थसिद्धि विमान परम शुक्लवर्ण है।

देवोकी विशेषताएं–

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥

ऊपर ऊपरके देवोके स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेश्या इन्द्रियविषय और अवधिविषय उत्तरोत्तर अधिक है।

§ १–६ अपनी देवायुके उदयसे उस पर्यायमे रहना स्थिति है। शाप और अनुग्रहकी शक्तिको प्रभाव कहते है। सातावेदनीयके उदयसे बाह्य विषयोमे इष्टानुभव करना सुख है। शरीर वस्त्राभरण आदिकी कान्तिको द्युति कहते है। कषायसे रगी हुई योगप्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। लेश्याकी निर्मलता लेश्याविशुद्धि है।

§ ७–८ यहाँ इन्द्रिय और अवधिज्ञानका विषय विवक्षित है, अन्यथा ऊपर ऊपरके स्वर्गोंमे इन्द्रियोकी संख्या अधिक समझी जाती।

§ ९ स्थिति आदि ऊपर ऊपर विमानोंके तथा प्रसारोंके देवोमें अधिक है। जिन स्वर्गोंमे समस्थिति है उनमे भी विमानो और प्रस्तारोमे ऊपर क्रमशः अधिक है। निग्रह अनुग्रह सम्बन्धी प्रभाव या शक्ति भी इसी तरह ऊपर ऊपर अधिक होती गई है। यह शक्तिकी दृष्टिसे है क्योंकि ऊपर ऊपर अल्पसंक्लेश तथा मन्द अभिमान होनेसे उसके प्रयोगका अवसर ही नही आता। परन्तु–

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

गति शरीर परिग्रह और अभिमानकी दृष्टिसे ऊपर ऊपरके देव हीन है।

§ १–४ एक देशसे दूसरे देश जानेको गति कहते है। शरीर तो प्रसिद्ध है। लोभ कषायके उदयसे होनेवाले मूर्छा परिणामको परिग्रह कहते है। मानकषायके उदयसे अभिमान होता है।

§ ५–८ गति शब्द स्वन्त तथा अल्प अच्वाला है अत इसका सर्वप्रथम ग्रहण किया है । शरीरके रहते ही परिग्रहसंचयकी वृत्ति होती है अतः परिग्रहसे पहिले शरीरका ग्रहण है । यद्यपि वीतरागी केवलीके शरीर रहते भी परिग्रहकी इच्छा नही होती पर यहाँ देवोंका प्रकरण है अत रागादियुक्त देवोंके शरीर रहते हुए परिग्रहेच्छा अवश्यभाविनी है । परिग्रहमूलक ही ससारमे अभिमान देखा जाता है अत परिग्रहके बाद अभिमानका ग्रहण किया है । ये सब बाते ऊपर ऊपरके देवोमे क्रमश कम होती गई है । जिस प्रकार सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देव विषय क्रीडा आदिके निमित्त इधर उधर गमन करते है उस प्रकार ऊपरके देव नहीं, क्योकि उनकी विषयाभिलाषा क्रमश कम होती जाती है ।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंके शरीरकी ऊंचाई ७ अरत्नि प्रमाण है । सानत्कुमार और माहेन्द्रमे छह अरत्नि, ब्रह्मलोक ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठमे पाँच अरत्नि, शुक्र महाशुक्र सतार और सहस्रारमे चार अरत्नि, आनत और प्राणतमे ३½ अरत्नि, आरण और अच्युतमे तीन अरत्नि प्रमाण है । अधोग्रैवेयकमें २½ अरत्नि, मध्य ग्रैवेयकमे २ अरत्नि, उपरिम ग्रैवेयक तथा अनुदिश विमानों २½ अरत्नि और विजयादि अनुत्तर विमानोंमे एक अरत्नि प्रमाण है । परिग्रह और अभिमान भी ऊपर ऊपर कम है ।

§ ९ मन्दकषायोकी मन्दतासे अवधिज्ञानकी विशुद्धि होती है । अवधिकी विशुद्धिसे ऊपर ऊपरके देव नारकी तिर्यञ्च और मनुष्योके विविध प्रकारके दुखोको बराबर देखते रहते है और इसीलिए उनके वैराग्यरूप परिणाम रहते है तथा परिग्रह और अभिमान कम रहता है ।

§ १० विशुद्ध परिणामोंसे ही जीव ऊपरके देवोमे उत्पन्न होते है, इसलिए भी उनमे अभिमान आदि कषाये कम रहती है ।

तिर्यञ्च असज्ञी पर्याप्त पचेन्द्रिय भवनवासी और व्यन्तरोमे उत्पन्न होते है । सज्ञी तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि और सासादनगुणस्थानवर्ती सहस्रार स्वर्ग तक, सम्यग्दृष्टी तिर्यञ्च सौधर्म आदि अच्युत पर्यन्त, असंख्यातवर्षकी आयुवाले तिर्यञ्च और मनुष्य मिथ्यादृष्टि तथा सासादनगुणस्थानवर्ती एवं अन्य तपस्वी ज्योतिषी देवों तक, ये ही सम्यग्दृष्टी सौधर्म और ऐशान स्वर्गमे उत्पन्न होते है । सख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि भवनवासी आदि उपरिम ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते है । परिव्राजक ब्रह्मस्वर्ग तक, आजीवक सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होते है । इससे ऊपर अन्यलिगियोंकी उत्पत्ति नही होती । जैनलिगधारी उत्कृष्ट तप तपनेवाले मिथ्यादृष्टियोंका अन्तिम ग्रैवेयक तक उत्पाद होता है इससे ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते है । श्रावक व्रतधारियोंका सौधर्म आदि अच्युतस्वर्गपर्यन्त उत्पाद होता है।

वैमानिकोंकी लेश्याए––

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

दो तीन तथा शेष मे पीत पद्म और शुक्ल लेश्या है ।

§ १ यहाँ अलगसे लेश्याओंका कथन लघूनिर्देशके लिए है । 'पीतपद्मशुक्ललेश्या' पदमे पीत आदिमे औत्तरपदिक ह्रस्व है जैसे भाष्यमे 'मध्यमविलम्बितयो.' पदमे है ।

§ २–६ सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंके पीतलेश्या होती है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंमे पीत और पद्म लेश्या है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ट इन चार स्वर्गोंमे पद्मलेश्या है तथा शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गके देवोमे पद्म और शुक्ल लेश्या है। आनतादिकके देवोमे शुक्ल लेश्या है। तथा अनुत्तर विमानोंमे परमशुक्ल लेश्या है।

§ ७–८ यद्यपि सूत्रमे शुद्ध और मिश्र दो प्रकारकी लेश्याओका निर्देश स्पष्ट नही किया गया है फिर भी जिनका मिश्रण है उन एक एकका ग्रहण होनेसे मिश्रका निर्देश समझ लेना चाहिए। यद्यपि सूत्रमे द्वि त्रि और शेष ग्रहण करनेसे पीत पद्म और शुक्ल इन तीनो लेश्याओका पृथक् पृथक् अन्वय हो जाता है फिर भी इच्छानुसार सम्बन्ध इस प्रकार कर लेना चाहिए—दो कल्प युगलोमे पीत लेश्या है, सानत्कुमार और माहेन्द्रमे पद्म लेश्याकी विवक्षा नही है। ब्रह्मलोक आदि तीन युगलोमे पद्म लेश्या है, शुक्र महाशुक्रमे शुक्ललेश्याकी विवक्षा नही है। शतार आदि शेषमे शुक्ल लेश्या है, पद्मलेश्याकी विवक्षा नही है। इस तरह आगमविरोध नही होता।

§ ९ अथवा 'पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु' यह स्पष्टार्थक सूत्रपाठ मान लेनेसे कोई दोष नही रहता।

§ १० निर्देश आदि सोलह अनुयोगो द्वारा लेश्याका विशेष विवेचन इस प्रकार है–

१ निर्देश–कृष्ण नील कपोत तेज पद्म और शुक्ल। वर्ण-भोंरा मयूरकण्ठ कबूतर सुवर्ण पद्म और शखके समान क्रमश लेश्याओका वर्ण है। अवान्तर तारतम्य प्रत्येक लेश्यामे अनन्त प्रकारका है।

परिणाम–असख्यात लोक प्रदेश प्रमाण कषायोंके उदयस्थान होते है। उनमे नीचेसे उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अशोंमे सक्लेश हानिसे क्रमश कृष्ण नील और कपोत अशुभ लेश्या रूप परिणमन होता है। इसी तरह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अशोमे विशुद्धिकी वृद्धिसे तेज पद्म और शुक्ल तीन शुभ लेश्या रूप परिणाम होते है। इसी तरह ऊपरसे उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अशोमे विशुद्धि हानिसे शुक्ल पद्म और पीत तथा जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट अशोमे सक्लेशवृद्धिसे कपोत नील और कृष्णलेश्या रूप परिणमन होता है। प्रत्येक लेश्याके असख्यात लोक प्रमाण अवान्तर परिणाम होते है।

सक्रमण–यदि कृष्णलेश्यावाला अधिक सक्लेश करता है तो वह कृष्णलेश्याके ही अवान्तर उत्कृष्ट आदि भेदोमे बना रहता है। इस तरह वृद्धिमे एक ही स्वस्थान संक्रमण होता है। हानिमे स्वस्थान तथा परस्थान दोनो सक्रमण होते है। शुक्ल लेश्यामे विशुद्धि वृद्धिमे एक स्वस्थान सक्रमण ही होगा तथा विशुद्धि हानिमे स्वस्थान और परस्थान दोनों सक्रमण होते है। मध्यकी लेश्याओंमे संक्लेश और विशुद्धिकी हानि-वृद्धिसे स्वस्थान और परस्थान दोनो सक्रमण होते है। अनन्त भागवृद्धि आदि इनमे होती रहती है।

लेश्याकर्म–जामुन भक्षणको दृष्टान्त मानकर–पीढ़से वृक्षको काटना, शाखाएं काटना, छोटी डालियाँ काटना, गुच्छे तोड़ना, पके फल तोड़ना तथा स्वय गिरे हुए पके फल खाना इस प्रकार कृष्ण आदि लेश्याओंके आचरण समझना चाहिए।

लक्षण–दुराग्रह, उपदेशावमानन, तीव्र वैर, अति क्रोध, दुर्मुख, निर्दयता, क्लेश, ताप, हिंसा, असन्तोष आदि परम तामस भाव कृष्णलेश्याके लक्षण है। आलस्य, मूर्खता,

कार्यानिष्ठा, भीरुता, अतिविषयाभिलाष, अतिगृद्धि, माया, तृष्णा, अतिमान, वचना, अनृत भाषण, चपलता, अतिलोभ आदि भाव नीललेश्याके लक्षण है। मात्सर्य, पैशुन्य, परपरिभव, आत्मप्रशसा, परपरिवाद, जीवन नैराश्य, प्रशसकको धन देना, युद्ध, मरणोद्यम आदि कपोत लेश्याके लक्षण है। दृढमित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलत्व, स्वकार्यपटुता, सर्वधर्म-समदर्शित्व आदि तेजोलेश्याके लक्षण है। सत्यवाक्य, क्षमा, सात्त्विकदान, पाण्डित्य, गुरु-देवता-पूजनरुचि आदि पद्मलेश्याके लक्षण है। निर्वैर, वीतरागता, शत्रुके भी दोषो पर दृष्टि न देना, निन्दा न करना, पाप कार्योसे उदासीनता, श्रेयोमार्ग रुचि आदि शुक्ललेश्याके लक्षण है।

गति–लेश्याके छब्बीस अशोमे मध्यके आठ अशोमे आयुबध होता है तथा शेष अठारह अश गतिहेतु होते है। उत्कृष्ट शुक्ललेश्यावाला सर्वार्थसिद्धि जाता है। जघन्य शुक्ल लेश्यासे शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार जाता है। मध्यम शुक्ललेश्यासे आनत और सर्वार्थसिद्धिके मध्यके स्थानोमे उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट पद्मलेश्यासे सहस्रार, जघन्य पद्म-लेश्यासे सानत्कुमार माहेन्द्र तथा मध्यम पद्मलेश्यासे ब्रह्मलोकसे शतार तक उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट तेजोलेश्यासे सानत्कुमार माहेन्द्र कल्पके अन्तमे चक्रेन्द्रकश्रेणि विमान तक, जघन्यतेजोलेश्यासे सौधर्म ऐशानके प्रथम इन्द्रकश्रेणि विमान तक, तथा मध्य तेजोलेश्यासे चन्द्रादि इन्द्रकश्रेणि विमानसे बलभद्र इन्द्रक श्रेणि विमान तक उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट कृष्णलेश्याशसे सातवे अप्रतिष्ठान नरक, जघन्य कृष्णलेश्याशसे पाचवे नरकके तमिस्रबिल तक तथा मध्य कृष्णलेश्याशसे हिमेन्द्रकसे महारौरव नरक तक उत्पन्न होते है। उत्कृष्ट नीललेश्याशसे पाचवे नरकमे अन्ध इन्द्रक तक, जघन्य नीललेश्यांशसे तीसरे नरकके तप्त इन्द्रक तक, तथा मध्यमनीललेश्याशसे तीसरे नरकके त्रस्त इन्द्रकसे झष इन्द्रक तक उत्पन्न होते है। उत्कृष्ट कपोतलेश्याशसे बालुकाप्रभाके सप्रज्वलित नरकमे, जघन्यकपोत लेश्याशसे रत्नप्रभाके सीमतक तक तथा मध्यमकपोत लेश्याशसे रौरकादिकमे सज्वलित इन्द्रक तक उत्पन्न होते है। कृष्ण नील कपोत और तेजके मध्यम अशोसे भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क पृथिवी जल और वनस्पतिकायमे उत्पन्न होते है। मध्यम कृष्ण नील कपोत लेश्याशोसे तेज और वायुकायमे उत्पन्न होते है। देव और नारकी अपनी लेश्याओ-से तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमे जाते है।

स्वामित्व–रत्नप्रभा और शर्कराप्रभामे नारकियोके कापोत लेश्या, है बालुकाप्रभामे कापोत और नील लेश्या, पकप्रभामे नीललेश्या धूमप्रभामे, नील और कृष्ण लेश्या, तम-प्रभामे कृष्ण लेश्या तथा महातम प्रभामे परमकृष्ण लेश्या है। भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके कृष्ण नील कपोत और तेजो लेश्या, एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोके सक्लिष्ट कृष्ण नील और कपोत लेश्या, असज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्चोके सक्लिष्ट कृष्ण नील कापोत और पीतलेश्या, चारो गुण स्थानवर्ती सज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्योंके छहो लेश्याएं, पांचवे छठवे तथा सातवे गुणस्थानमे तीन शुभलेश्याएं, अपूर्वकरणसे १३ वे गुणस्थान तक केवल शुक्ललेश्या होती है। अयोगकेवलियोके लेश्या नही होती। सौधर्म और ऐशानमे तेजोलेश्या सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमे तेज और पद्मलेश्या, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ठमें पद्मलेश्या, शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रारमें पद्म और शुक्ललेश्या, आनतसे लेकर सर्वार्थसिद्धिसे पहिले केवल शुक्ललेश्या तथा सर्वार्थसिद्धिमे परमशुक्ललेश्या होती है।

साधन–द्रव्यलेश्या शरीरके रंगसे सम्बन्ध रखती है, वह नामकर्मके उदयसे होती है। भावलेश्या कषायोके उदय क्षयोपशम उपशम और क्षयसे होती है।

संख्या–कृष्ण नील और कपोत लेश्यावाले प्रत्येकका द्रव्यप्रमाण अनन्त है, कोई प्रमाण अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी प्रमाण है और क्षेत्र प्रमाण अनन्तानन्त-लोक प्रमाण है। तेजोलेश्याका द्रव्य प्रमाण ज्योतिषीदेवोसे कुछ अधिक है। पद्म-लेश्यावालोंका द्रव्यप्रमाण सज्ञीपचेन्द्रियतिर्यञ्च योनिनियोके सख्येयभाग है। शुक्ललेश्या-वाले पल्योपमके असंख्यातवे भाग है।

क्षेत्र–कृष्ण नील और कपोतलेश्यावालोका प्रत्येकका स्वस्थान, समुद्घात तथा उपपादकी दृष्टिसे सर्वलोकक्षेत्र है। तेजोलेश्या और पद्मलेश्यावालोका प्रत्येकका स्वस्थान,समुद्घात और उपपादकी दृष्टिसे लोकके असख्येय भाग है। शुक्ललेश्यावालोका स्वस्थान और उपपादकी दृष्टिसे लोकका असख्येयभाग, समुद्घातकी दृष्टिसे लोकके असख्येय एक भाग असख्येय बहुभाग और सर्वलोकक्षेत्र है।

स्पर्शन–कृष्ण नील और कपोत लेश्यावालोंका स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की दृष्टिसे सर्वलोक स्पर्शन है। तेजोलेश्यावालोंका स्वस्थानकी दृष्टिसे लोकका असंख्येयभाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ भाग स्पर्शन है, समुद्घातका दृष्टिसे लोकका असंख्येय-भाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ और $\frac{९}{१४}$ भाग है, उपपादकी दृष्टिसे लोकके असख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{१\text{॥}}{१४}$ भाग है। पद्मलेश्यावालोंका स्वस्थान और समुद्घातसे लोकका असख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ भाग है, उपपादकी दृष्टिसे लोकका असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{५}{१४}$ भाग है। शुक्ललेश्यावालोंका स्वस्थान और उपपादकी दृष्टिसे लोकका असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{६}{१४}$ भाग स्पर्शन है, समुद्घातकी दृष्टिसे लोकका असख्येय भाग, कुछ कम $\frac{६}{१४}$ भाग, असख्येय बहुभाग और सर्वलोक स्पर्शन है।

काल–कृष्ण नील कपोतलेश्यावालोंका प्रत्येकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ अधिक तेतीससागर सत्रहसागर और सातसागर है। तेज पद्म और शुक्ललेश्यावालोंका प्रत्येकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टसे कुछ अधिक दो सागर अठारह सागर और तेतीस सागर है।

अन्तर–कृष्ण नील कपोत लेश्यावालोका प्रत्येकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट कुछ अधिक तेतीससागर है। तेज पद्म और शुक्ललेश्यावालोंका प्रत्येकका अन्तर जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्टसे अनन्तकाल और असख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है।

भाव–छहो लेश्याओंमें औदयिक भाव है क्योंकि शरीर नाम कर्म और मोहके उदयसे होती है।

अल्पबहुत्व–सबसे कम शुक्ललेश्यावाले, पद्मलेश्यावाले असंख्यातगुणे, तेजोलेश्यावाले असंख्यातगुणे, अलेश्या अनन्तगुणे, कपोतलेश्यावाले अनन्तगुणे, नीललेश्यावाले विशेष अधिक तथा कृष्णलेश्यावाले विशेष अधिक है।

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

सौधर्मसे लेकर ग्रैवेयकसे पहिलेकी कल्प संज्ञा है।

§ १ यदि सौधर्म आदिके बाद ही यह सूत्र रचा जाता तो स्थिति प्रभाव आदि तीन सूत्रोंका सम्बन्ध भी कल्प विमानोंसे ही होता जब कि इनका विधान पूरे देवलोकके लिए है।

§ २-कल्पोंसे अतिरिक्त ग्रैवेयक आदि कल्पातीत है। भवनवासी आदिको कल्पातीत इसलिए नही कहा जा सकता क्योकि यहाँ 'उपर्युपरि' का अनुवर्तन होता है जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि कल्पसे ऊपर ऊपर कल्पातीत है। कल्पातीत 'अहमिन्द्र' कहलाते है क्योकि इनमे सामानिक आदि भेद नही है।

§ ४ यद्यपि देवोके भवनवासी पातालवासी व्यन्तर ज्योतिष्क कल्पवासी और विमानवासीके भेदसे छह प्रकार तथा पाशुतापि लवणतापि तपनतापि भवनतापि सोमकायिक यमकायिक वरुणकायिक वैश्रवणकायिक पितृकायिक अनलकायिक रिष्टक अरिष्ट और संभव ये बारह प्रकारवाले आकाशोपपन्नको मिलाकर सात प्रकार हो सकते है, फिर भी इन सबका चारों निकायोमे उसी तरह अन्तर्भाव हो जाता है जैसे कि लौकान्तिक देवोका कल्पवासियोमें। पातालवासी और आकाशोपपन्न व्यन्तरोमे और कल्पवासियोका वैमानिकोमे अन्तर्भाव हो जाता है अत चारसे अतिरिक्त निकाय नही है।

लौकान्तिकोका वर्णन–

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

§ १-२ जिसमे प्राणिगण रहे उसे आलय कहते है। लोकान्तिकोका आलय ब्रह्मलोक है। सभी ब्रह्मलोकवासियोंको लौकान्तिक नही कह सकते क्योकि 'लौकान्तिका' पदसे 'लोकान्त' निकाल लेते है। इससे यह अर्थ फलित होता है कि ब्रह्मलोकके अन्तमे रहनेवाले लौकान्तिक है अथवा जन्मजरामरणसे व्याप्त लोक ससारका अन्त करना जिनका प्रयोजन है वे लौकान्तिक है। ये निकटससारी है। वहाँसे च्युत होकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर नियमसे मोक्ष चले जाते है।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

§ १ पूर्व उत्तर आदि दिशाओमे यथाक्रम सारस्वत आदि देवोका निवास है। अरुण समुद्रके मध्यसे एक तमस्कन्ध मूलमे असख्यात योजनका विस्तृत तथा मध्य और अन्तमे क्रमश घटकर सख्यात योजन विस्तारवाला है। यह अत्यन्त तीव्र अन्धकार रूप तथा समुद्रकी तरह गोल है। यह तमस्कन्ध अरिष्ट विमानके नीचे स्थित है। इससे आठ अन्धकार राशियाँ निकलती है जो अरिष्ट विमानके आसपास है। चारों दिशाओमे दो दो करके तिर्यक्लोक तक आठ है। इनके अन्तरालमे सारस्वत आदि लौकान्तिक है। पूर्व और उत्तरके कोणमे सारस्वत, पूर्वमे आदित्य, पूर्वदक्षिण कोणमे वह्नि, दक्षिणमे अरुण, दक्षिण पश्चिममे गर्दतोय, पश्चिममे तुषित, उत्तर पश्चिममे अव्याबाध और उत्तरमे अरिष्ट विमान है।

§ ३ दो दो लौकान्तिकोंमे अग्न्याभ सूर्याभ आदि १६ लौकान्तिक और भी है। सारस्वत और आदित्यके बीचमे अग्न्याभ और सूर्याभ, आदित्य और वह्निके अन्तरालमें चन्द्राभ और सत्याभ, वह्नि और अरुणके बीचमे श्रेयस्कर और क्षेमकर, अरुण और गर्दतोयके अन्तरालमे वृषभेष्ट और कामवर, गर्दतोय और तुषितके बीचमे निर्माणरज और दिगन्तरक्षित, तुषित और अव्याबाधके बीचमे आत्मरक्षित और सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्टके बीचमे मरुत् और वसु तथा अरिष्ट और सारस्वतके बीच अश्व और विश्व है। इन नामोंके विमान है। इनमे रहनेवाले लौकान्तिक देव भी इसी नामसे व्यवहृत होते है।

इनकी संख्या इस प्रकार है–सारस्वत–७००, आदित्य ७००, वह्नि, ७००७, अरुण ७००७, गर्दतोय ९००९, तुषित ९००९, अव्याबाध ११०११, अरिष्ट ११०११, अग्न्याभ ७००७, सूर्याभ ९००९, चन्द्राभ ११०११, सत्याभ १३०१३, श्रेयस्कर १५०१५, क्षेमकर १७०१७, वृषभेष्ट १९०१९, कामवर २१०२१, निर्माणरज २३०२३, दिगन्तरक्षित २५०२५, आत्मरक्षित २७०२७, सर्वरक्षित २९०२९, मरुत् ३१०३१, वसु ३३०३३, अश्व ३५०३५, विश्व ३७०३७ । इस तरह इन चालीस लौकान्तिकोंकी समग्र सख्या ४०७८६ । ये सभी स्वतन्त्र है । विषयविरक्त होनेसे देवर्षि कहे जाते है । ये चौदह पूर्वके पाठी, ज्ञानोपयोगी, ससारसे उद्विग्न, अनित्य आदि भावनाओंको भानेवाले, अति विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होते है । तीर्थङ्करोंकी दीक्षाके समय उन्हे प्रतिबोध देने आते है । नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ असख्यात है । उन्हीके उदयसे ससारी जीवोके अनेक प्रकारकी शुभ-अशुभ सज्ञाएँ होती है ।

यह अष्टकर्ममय ससार सामान्यतया भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकारके जीवोके अनादि अनन्त है । जो मोहका उपशम या क्षय करनेके लिए उद्यत है उन सम्यग्दृष्टियोके उत्कृष्टसे ७-८ भव तथा जघन्यसे २-३ भवमे ससारका उच्छेद हो जाता है । जो सम्यक्त्वसे च्युत हो गए है उनका कोई नियम नही ।

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

§ १ आदि शब्द प्रकारार्थक है, अर्थात् विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और अनुदिश विमानोमे द्विचरम होते है । इनमे एकप्रकारता इसलिए है कि सभी पूर्व सम्यग्दृष्टि और अहमिन्द्र है । सर्वार्थसिद्धि नामसे ही सूचित होता है कि वहाँके देव सर्वोत्कृष्ट है और एकचरम है ।

§ २–४ द्विचरमत्व मनुष्यदेहकी अपेक्षा है, अर्थात् विजयादिकसे च्युत होकर सम्यग्दर्शनको कायम रखते हुए मनुष्योंमे उत्पन्न होते है फिर सयमकी आराधना कर विजयादिकमे उत्पन्न होते है । फिर च्युत होकर मनुष्यभव धारण कर मुक्त हो जाते है । इस तरह मनुष्यभवकी अपेक्षा द्विचरमत्व है वैसे तो दो मनुष्यभव तथा एक देवभव मिलाकर त्रिचरम गिने जा सकते है । चूँकि मनुष्य पर्यायसे ही मोक्षलाभ होता है अत मनुष्यदेहकी अपेक्षा ही चरमत्व गिना जा सकता है । यद्यपि चरम शब्द अन्त्यवाची है अतः एक ही चरम हो सकता है परन्तु चरमके पासका अव्यवहित पूर्वका मनुष्यभव भी उपचारसे चरम कहा जा सकता है । देवभवके व्यवधान अव्यवधानका विचार मोक्षके प्रकरणमें नही होता क्योकि मोक्ष मनुष्य पर्यायसे ही होता है ।

§ ५ प्रश्न–आगममें अन्तर प्रकरणमें अनुदिश अनुत्तर और विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित विमानवासियोंका जघन्य अन्तर वर्षपृथक्त्व तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ अधिक दो सागर बताया है । इसका यह अर्थ है कि मनुष्योंमे उत्पन्न होकर आठ वर्ष संयमकी आराधना कर अन्तर्मुहूर्तमे फिर विजयादिमे उत्पन्न हो जाते है इस तरह जघन्यसे वर्षपृथक्त्व अन्तर है । कुछ विजयादिकसे च्युत होकर मनुष्यभवसे सौधर्म ऐशान कल्पमे जाते है फिर मनुष्य होकर विजयादिमे जाते है इनके दो सागरसे कुछ अधिक उत्कृष्ट अन्तर होता है । इस अपेक्षा मनुष्यके तीन भव हो जानेसे द्विचरमत्व नही रहता ?

उत्तर–आगममें उक्त कथन प्रश्न विशेषकी अपेक्षासे है। गौतमने भगवान्‌से यह प्रश्न किया कि विजयादिकमें देव मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर कितनी गति आगति विजयादिकमें करते है ? इसके उत्तरमे भगवान्‌ने व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडकमें कहा कि आगतिकी दृष्टिसे जघन्यसे एक भव तथा गति आगतिकी अपेक्षा उत्कृष्टसे दो भव। सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होनेवाले मनुष्य-पर्यायमे आते है तथा उसी पर्यायसे मोक्षलाभ करते है। विजयादिके देव लौकान्तिककी तरह एकभविक नही है किन्तु द्विभविक है। इसमें बीचमे यदि कल्पान्तरमे उत्पन्न हुआ है तो उसकी विवक्षा नही है।

तिर्यञ्चोंका वर्णन–

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

औपपादिक–देव और नारकी तथा मनुष्योंके सिवाय अन्य ससारी तिर्यञ्च है। यद्यपि मनुष्य शब्दका अल्पस्वरवाला होनेसे पहिले प्रयोग होना चाहिए था परन्तु चूंकि औपपादिकोंमे अन्तर्गत देव स्थिति प्रभाव आदिकी दृष्टिसे बड़े और पूज्य है अत. औपपादिक शब्दका ही पूर्वप्रयोग किया गया है।

§ १–२ औपपादिक–देव नारकी और मनुष्योंसे बचे शेष प्राणी तिर्यञ्च है। ससारी जीवोंका प्रकरण होनेसे सिद्धोमे तिर्यञ्चत्वका प्रसङ्ग नही आता।

§ ३–७ तिरोभाव अर्थात् नीचे रहना–बोझा ढोनेके लायक। कर्मोदयसे जिनमें तिरोभाव प्राप्त हो वे तिर्यग्योनि है। इसके त्रस स्थावर आदि भेद पहिले बतलाये जा चुके है। तिर्यञ्चोका आधार सर्वलोक है वे देवादिकी तरह निश्चित स्थानोंमे नही रहते। तिर्यञ्च सूक्ष्म और बादरके भेदसे दो प्रकारके है। सूक्ष्म पृथिवी अप् तेज और वायुकायिक सर्वलोकव्यापी है पर बादर पृथिवी अप् तेज वायु विकलेन्द्रिय और पचेन्द्रिय लोकके कुछ भागोंमे पाये जाते है। चूंकि तीनो लोक ही सूक्ष्म तिर्यञ्चोंका आधार है अत तीन लोकके वर्णनके बाद ही यहाँ उनका निर्देश किया है, द्वितीय अध्यायमे नही, और यही शेष शब्दका यथार्थ बोध भी हो सकता है क्योंकि नारक देवो और मनुष्योके निर्देशके बाद ही शेषका अर्थ समझमे आ सकता है।

देवोंकी स्थिति–

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिताः ॥२८॥

असुरकुमारोंकी एक सागर, नागकुमारोकी तीन पल्य, सुपर्णकुमारोंकी २॥ पल्य, द्वीपकुमारोंकी २ पल्य तथा शेष छह कुमारोंकी १॥ पल्य उत्कृष्ट स्थिति है।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥२९॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गमे कुछ अधिक दो सागर स्थिति है। 'अधिके' यह अधिकार सहस्रार स्वर्गतक चालू रहेगा।

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

सागर और अधिक पदका अनुवर्तन पूर्वसूत्रसे हो जाता है। अतः सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें कुछ अधिक सात सागर स्थिति समझनी चाहिए।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

सातका तीन आदिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए। 'तु' शब्द सूचित करता है कि 'अधिक' का सम्बन्ध सहस्रार तक ही करना चाहिए। अर्थात्—ब्रह्म ब्रह्मोत्तरमे कुछ अधिक दश सागर, लान्तव कापिष्ठमे कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र महाशुक्रमे कुछ अधिक सोलह सागर, शतार सहस्रारमे कुछ अधिक १८ सागर, आनत प्राणतमे २० सागर, आरण अच्युतमें २२ सागर उत्कृष्ट स्थिति है। इस 'तु' शब्दसे ही 'अधिक' का अन्वय सहस्रार स्वर्ग तक ही होता है।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥३२॥

§ १-४ 'अधिक ग्रहण' की अनुवृत्ति आ रही है अत. 'एक एक अधिक' यह अर्थ कर लेना चाहिए। ग्रैवेयक और विजयादि का पृथक् ग्रहण करने से अनुदिशोका सग्रह हो जाता है। 'नव' शब्द देनेसे प्रत्येक में 'एक अधिक' का सम्बन्ध हो जाता है। 'सर्वार्थसिद्ध' का पृथक् ग्रहण करनेसे सूचित होता है कि उसमे एक ही उत्कृष्ट स्थिति है, विजयादिकी तरह जघन्य और उत्कृष्ट विकल्प नही है। तात्पर्य यह कि अधो ग्रैवेयकोंमे पहिले ग्रैवेयकमे २३ सागर, दूसरेमे २४ सागर तथा तीसरेमे २५ सागर, मध्यम ग्रैवेयकके प्रथम ग्रैवेयकमे २६ सागर, दूसरेमे २७ तथा तृतीयमे २८, उपरिम ग्रैवेयकके प्रथम ग्रैवेयकमे २९ सागर, द्वितीयमें ३० तथा तृतीयमें ३१ सागर उत्कृष्ट स्थिति है। अनुदिश विमानोमें ३२ तथा विजयादि और सर्वार्थसिद्धिमे ३३ सागर है। सर्वार्थसिद्धिमे केवल उत्कृष्ट ही स्थिति ३३ सागर है।

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गकी जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्य है। आगेके सूत्रोंमे भवनवासी आदि तथा सानत्कुमार आदिकी जघन्य स्थिति बताई जायगी। अतः ज्ञात होता है कि इस सूत्रमें सौधर्म और ऐशानकी ही स्थिति बतायी जा रही है।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥३४॥

पूर्व-पूर्वकी उत्कृष्ट स्थिति आगे आगे जघन्य हो जाती है।

§ १-३ 'अधिक' की अनुवृत्ति हो जाती है। सौधर्म और ऐशानकी जो दो सागरसे कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है वही कुछ अधिक होकर सानत्कुमार और माहेन्द्रमें जघन्य हो जाती है। सानत्कुमार और माहेन्द्रकी जो कुछ अधिक सात सागर उत्कृष्ट स्थिति है वही कुछ अधिक होकर ब्रह्म ब्रह्मोत्तरमें जघन्य हो जाती है। सर्वार्थसिद्धका पृथक् ग्रहण करनेसे यही सूचित होता है कि यह जघन्य स्थितिका क्रम विजयादि तक ही चलता है। यद्यपि पूर्वशब्दसे 'पहिलेकी स्थिति' का ग्रहण हो सकता है फिर भी चूंकि पूर्वशब्दका प्रयोग 'मथुरासे पूर्वमे पटना है' इत्यादि स्थलोंमे व्यवहितमें भी देखा जाता है अत. 'अव्यवहित' का सम्बन्ध करनेके लिए 'अनन्तर' शब्दका प्रयोग किया गया है।

सरल उपायसे नारकियोंकी जघन्य स्थितिका निरूपण—

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

च शब्दसे पूर्वसूत्रमें सूचित क्रमका सम्बन्ध हो जाता है। अत. रत्नप्रभाकी जो एक सागर उत्कृष्ट स्थिति है वह शर्कराप्रभामें जघन्य होती है। इसी प्रकार आगे भी।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

प्रथम नरककी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

भवनेषु च ॥३७॥

भवनवासियोंकी भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

व्यन्तराणां च ॥३८॥

इसी तरह व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति पहिले इसीलिए नही कही गई कि यदि उत्कृष्ट स्थिति पहिले कही जाती तो जघन्य स्थितिके निर्देशके लिए फिरसे 'दशवर्षसहस्राणि' सूत्र बनाना पडता।

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक पल्यसे कुछ अधिक है।

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

ज्योतिषियोंकी भी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्य है।

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति पल्यके आठवे भाग प्रमाण है।

§ १-९ चन्द्रकी उत्कृष्ट स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य, सूर्यकी एक एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य, शुक्रकी एक सौ वर्ष अधिक एक पल्य तथा वृहस्पतिकी पूर्ण एक पल्य है। शेष बुध आदि ग्रहोंकी और नक्षत्रोंकी आधे पल्य प्रमाण स्थिति है। तारागणकी पल्यका चौथा भाग उत्कृष्ट स्थिति है। तारा और नक्षत्रोंकी जघन्य स्थिति पल्यके आठवें भाग है। सूर्य आदिकी जघन्य स्थिति पल्यके चौथाई भाग प्रमाण है।

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

§ १ सभी लौकान्तिकोंकी दोनों प्रकारकी स्थिति आठ सागर प्रमाण है।

§ २ जीव पदार्थका व्याख्यान हुआ।

§ ३ वह एक होकर भी अनेकात्मक है क्योंकि-

§ ४ वह अभावसे विलक्षण है। 'अभूत' 'नही है' आदि अभावमें कोई भेद नही पाया जाता पर भावमे तो अनेक धर्म और अनेक भेद पाये जाते है। भावमे ही जन्म, सद्भाव, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश देखे जाते हैं। बाह्य आभ्यन्तर दोनों निमित्तोंसे आत्मलाभ करना जन्म है, जैसे मनुष्यगति आदिके उदयसे जीव मनुष्य पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। आयु आदि निमित्तोंके अनुसार उस पर्यायमें बने रहना सद्भाव या स्थिति है। पूर्वस्वभावको कायम रखते हुए अधिकता हो जाना वृद्धि है। क्रमशः एक देशका जीर्ण होना अपक्षय है। उस पर्यायकी निवृत्तिको विनाश कहते है। इस तरह पदार्थोंमें अनन्तरूपता

होती है। अथवा सत्त्व ज्ञेयत्व द्रव्यत्व अमूर्तत्व अतिसूक्ष्मत्व अवगाहनत्व असंख्येयप्रदेशत्व अनादिनिधनत्व और चेतनत्व आदिकी दृष्टिसे जीव अनेक रूप है।

§ ५ अनेक अब्द और अनेक ज्ञानका विषय होनेसे। जिस पदार्थमे जितने शब्दों का प्रयोग होता है उसमें उतनी ही वाच्य-शक्तियाँ होती है तथा वह जितने प्रकारके ज्ञानोका विषय होता है उसमे उतनी ही ज्ञेय शक्तियाँ होती है। शब्द प्रयोगका अर्थ है प्रतिपादन क्रिया। उसके साधन दोनों ही है—शब्द और अर्थ। एक ही घटमे घट पार्थिव मार्तिक-मिट्टीसे बना हुआ, सत्, ज्ञेय, नया, बड़ा आदि अनेको शब्दोंका प्रयोग होता है तथा इन अनेक ज्ञानोका विषय होता है। अत. जैसे घड़ा अनेकान्त रूप है। उसी तरह आत्मा भी अनेक धर्मात्मक है।

§ ६ अनेक शक्तियोंका आधार होनेसे। जैसे घी चिकना है, तृप्ति करता है, उपबृंहण करता है अतः अनेक शक्तिवाला है अथवा, जैसे घड़ा जल-धारण आहरण आदि अनेक शक्तियोंसे युक्त हे उसी तरह आत्मा भी द्रव्य क्षेत्र काल और भावके निमित्तसे अनेक प्रकारकी वैभाविक पर्यायोकी शक्तियोको धारण करता है।

§ ७ जिस प्रकार एक ही घड़ा अनेक सम्बन्धियोकी अपेक्षा पूर्व पश्चिम, दूर पास, नया पुराना, समर्थ असमर्थ, देवदत्त कृत चैत्रस्वामिक, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभागादिके भेदसे अनेक व्यवहारोंका विषय होता है उसी तरह अनन्त सम्बन्धियोकी अपेक्षा आत्मा भी उन उन अनेक पर्यायोंको धारण करता है। अथवा, जैसे अनन्त पुद्गल सम्बन्धियोंकी अपेक्षा एक ही प्रदेशिनी अंगुली अनेक भेदोको प्राप्त होती है उसी तरह जीव भी कर्म और नोकर्म विषय उपकरणोंके सम्बन्धसे जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान, दडी, कुडली आदि अनेक पर्यायोको धारण करता है। प्रदेशिनी अगुलीमे मध्यमाकी अपेक्षा जो भिन्नता है वही अनामिकाकी अपेक्षा नही है, प्रत्येकपर रूपका भेद जुदा-जुदा है। मध्यमाने प्रदेशिनीमे ह्रस्वत्व उत्पन्न नही किया, अन्यथा शशविषाणमे भी उत्पन्न हो जाना चाहिए था, और न स्वतः ही था, अन्यथा मध्यमाके अभावमे भी उसकी प्रतीति हो जानी चाहिए थी। तात्पर्य यह कि अनन्त परिणामी द्रव्य ही उन-उन सहकारी कारणों-की अपेक्षा उन उन रूपसे व्यवहारमे आता है।

§ ८ जिस प्रकार एक ही घड़ेके रूपादि गुणोमें अन्यद्रव्योंके रूपादि गुणोंकी अपेक्षा एक दो तीन चार सख्यात असख्यात आदि रूपसे तरतम भाव व्यक्त होता है और इसलिए वह अनेक है उसी तरह जीवमे भी अन्य आत्माओंकी अपेक्षा क्रोधादिके अविभाग प्रति-च्छेदोंकी तरतमता होती है। अन्य सहकारियोंकी अपेक्षा वैसे क्रोधादि परिणाम अभिव्यक्त होते रहते हैं।

§ ९ जैसे मिट्टी आदि द्रव्य प्रध्वंसरूप अतीतकाल, संभावनारूप भविष्यत् काल तथा क्रिया सातत्यरूप वर्तमानकालके भेदसे उन उन कालोंमें अनेक पर्यायोंको प्राप्त होता है, उसीतरह जीव भी अनादि अतीतकाल, सभावनीय अनागत और वर्तमान अर्थपर्याय व्यञ्जनपर्यायोसे अनन्तरूपको धारण करता है। यदि वर्तमान मात्र माना जाय तो पूर्व और उत्तरकी रेखा न होनेसे वर्तमानका भी अभाव हो जायगा।

§ १० अनन्तकाल और एककालमें अनन्त प्रकारके उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होनेके कारण आत्मा अनेकान्तरूप है। जैसे घड़ा एक कालमे द्रव्य दृष्टिसे पार्थिव-

रूपमें उत्पन्न होता है जलरूपमें नहीं, देश दृष्टिसे यहाँ उत्पन्न होता है पटना आदिमें नही, कालदृष्टिसे वर्तमानकालमे उत्पन्न होता है अतीत-अनागतमें नही, भावदृष्टिसे बड़ा उत्पन्न होता है छोटा नही। यह उत्पाद अन्य सजातीय घट, किंचित् विजातीय घट, पूर्ण विजातीय पटादि तथा द्रव्यान्तर आत्मा आदिके अनन्त उत्पादोसे भिन्न है अतः उतने ही प्रकारका है। इसी प्रकार उस समय उत्पन्न नही होनेवाले द्रव्योकी ऊपर नीची तिरछी लम्बी चौड़ी आदि अवस्थाओसे भिन्न वह उत्पाद अनेक प्रकारका है। अनेक अवयववाले मिट्टीके स्कन्धसे उत्पन्न होनेके कारण भी उत्पाद अनेक प्रकारका है। इसी तरह जल-धारण आहरण हर्ष भय शोक परिताप आदि अनेक अर्थक्रियाओंमे निमित्त होनेसे उत्पाद अनेक तरहका है। उसी समय उतने ही प्रतिपक्षभूत व्यय होते है। जब तक पूर्व पर्यायका विनाश नही होगा तब तक नूतनके उत्पादकी सभावना नही है। उत्पाद और विनाशकी प्रतिपक्षभूत स्थिति भी उतने ही प्रकारकी है। जो स्थित नही है उसके उत्पाद और व्यय नही हो सकते। 'घट' उत्पन्न होता है' इस प्रयोगको वर्तमान तो इसलिए नही मान सकते कि अभी तक घड़ा उत्पन्न ही नही हुआ है, उत्पत्तिके बाद यदि तुरन्त विनाश मान लिया जाय तो सद्भावकी अवस्थाका प्रतिपादक कोई शब्द ही प्रयुक्त नही होगा, अतः उत्पादमे भी अभाव और विनाशमे भी अभाव, इस तरह पदार्थका अभाव ही होनेसे तदाश्रित व्यवहारका लोप हो जायगा। अतः पदार्थमे उत्पद्यमानता उत्पन्नता और विनाश ये तीन अवस्थाएँ माननी ही होगी। इसी तरह एक जीवमे भी द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयकी विषयभूत अनन्त शक्तियाँ तथा उत्पत्ति विनाश स्थिति आदि रूप होनेसे अनेकान्तात्मकता समझनी चाहिए।

§ ११ अन्वय व्यतिरेक रूप होनेसे भी। जैसे एक ही घड़ा सत् अचेतन आदि सामान्य रूपसे अन्वयधर्मका तथा नया पुराना आदि विशेष रूपसे व्यतिरेक धर्मका आधार होता है उसी तरह आत्मा भी सामान्य और विशेष धर्मोंकी अपेक्षा अन्वय और व्यतिरेकात्मक है। अनुगताकार बुद्धि और अनुगताकार शब्द प्रयोगके विषयभूत स्वास्तित्व आत्मत्व ज्ञातृत्व द्रष्टृत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व अमूर्तत्व असख्यातप्रदेशत्व अवगाहनत्व अतिसूक्ष्मत्व अगुरुलघुत्व अहेतुकत्व अनादि सम्बन्धित्व ऊर्ध्वगतिस्वभाव आदि अन्वय धर्म है। व्यावृत्ताकार बुद्धि और शब्द प्रयोगके विषयभूत परस्पर विलक्षण उत्पत्ति स्थिति विपरिणाम वृद्धि ह्रास क्षय विनाश गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान दर्शन सयम लेश्या सम्यक्त्व आदि व्यतिरेक धर्म है।

§ १२–१३ इस अनेकान्तात्मक जीवका कथन शब्दोंसे दो रूपमें होता है–एक क्रमिक और दूसरा यौगपद्य रूपसे। तीसरा कोई प्रकार नही है। जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न विवक्षित होते है उस समय एक शब्दमे अनेक अर्थोंके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे क्रमसे प्रतिपादन होता है। इसे विकलादेश कहते है। परन्तु जब उन्ही अस्तित्वादि धर्मोंकी कालादिककी दृष्टिसे अभेद विवक्षा होती है तब एक भी शब्दके द्वारा एकधर्ममुखेन तादात्म्यरूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखंड भावसे युगपत् कथन हो जाता है। यह सकलादेश कहलाता है। विकलादेश नयरूप है और सकलादेश प्रमाण रूप। कहा भी है–सकलादेश प्रमाणाधीन है और विकलादेश नयाधीन।

§ १४ एक गुणरूपसे संपूर्ण वस्तुधर्मोंका अखंडभावसे ग्रहण करना सकलादेश है। जिस समय एक अभिन्न वस्तु अखडरूपसे विवक्षित होती है उस समय वह अस्तित्वादि धर्मोंका अभेदवृत्ति या अभेदोपचार करके पूरीकी पूरी एक शब्दसे कही जाती है यही सकलादेश है। द्रव्यार्थिकनयसे धर्मोंमे अभेद है तथा पर्यायार्थिककी विवक्षामे भेद होनेपर भी अभेदोपचार कर लिया जाता है।

§ १५ इस सकलादेशमे प्रत्येक धर्मकी अपेक्षा सप्तभगी होती है। १ स्यात् अस्त्येव जीव २ स्यात् नास्त्येव जीव ३ स्यात् अवक्तव्य एव जीवः ४ स्यात् अस्ति च नास्ति च ५ स्यात् अस्ति च अवक्तव्यश्च ६ स्यात् नास्ति च अवक्तव्यश्च ७ स्यात् अस्ति नास्ति च अवक्तव्यश्च। कहा भी है—

"प्रश्नके वशसे सात ही भंग होते है। वस्तु सामान्य और विशेष उभय धर्मोंसे युक्त है।"

'स्यात् अस्त्येव जीव.' इस वाक्यमे जीव शब्द विशेष्य है द्रव्यवाची है और 'अस्ति' शब्द विशेषण है गुणवाची है। उनमे विशेषण विशेष्यभाव द्योतनके लिए 'एव' का प्रयोग है। इससे इतर धर्मोंकी निवृत्तिका प्रसंग होता है, अतः उन धर्मोंका सद्भाव द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'स्यात्' शब्द तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। इसके अनेकान्त विधि विचार आदि अनेक अर्थ हो सकते है परन्तु विवक्षा-वश यहाँ 'अनेकान्त' अर्थ लिया जाता है। यद्यपि 'स्यात्' शब्दसे सामान्यतया अनेकान्तका द्योतन हो जाता है फिर भी विशेषार्थी विशेष शब्दका प्रयोग करते है जैसे 'वृक्ष' कहनेसे धव खदिर आदिका ग्रहण हो जाने पर भी धव खदिर आदिके इच्छुक उन-उन शब्दोंका प्रयोग करते है। अथवा 'स्यात्' शब्द अनेकान्तका द्योतक होता है। जो द्योतक होता है वह किसी वाचक शब्दके द्वारा कहे गये अर्थका ही द्योतन कर सकता है अतः उसके द्वारा प्रकाश्य धर्मकी सूचनाके लिए इतर शब्दोका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—यदि 'स्यात् अस्त्येव जीव' यह वाक्य सकलादेशी है तो इसीसे जीवद्रव्यके सभी धर्मोंका संग्रह हो ही जाता है, तो आगेके भग निरर्थक है ?

उत्तर—गौण और मुख्य विवक्षासे सभी भगो की सार्थकता है। द्रव्यार्थिक की प्रधानता तथा पर्यायार्थिक की गौणतामे प्रथम भग सार्थक है और द्रव्यार्थिक की गौणता और पर्यायार्थिक की प्रधानतामे द्वितीय भग। यहाँ प्रधानता केवल शब्द प्रयोगकी है, वस्तु तो सभी भगोमे पूरी ही ग्रहण की जाती है। जो शब्दसे कहा नहीं गया है अर्थात् गम्य हुआ है वह यहाँ अप्रधान है। तृतीय भगमे युगपत् विवक्षा होनेसे दोनों ही अप्रधान हो जाते है क्योंकि दोनोंको प्रधान भावसे कहने वाला कोई शब्द नही है। चौथे भगमे क्रमशः उभय प्रधान होते है। यदि अस्तित्वै-कान्तवादी 'जीव एव अस्ति' ऐसा अवधारण करते है तो अजीवके नास्तित्वका प्रसंग आता है अतः 'अस्त्येव' यही एवकार दिया जाता है। 'अस्त्येव' कहनेसे पुद्गलादिकके अस्तित्वसे भी जीवका अस्तित्व व्याप्त हो जाता है अत. जीव और पुद्गलमे एकत्वका प्रसंग होता है। 'अस्तित्व सामान्यसे जीवका सम्बन्ध होगा अस्तित्व विशेषसे नहीं, जैसे 'अनित्यमेव कृतकम्' कहनेसे अनित्यत्वके अभावमें कृतकत्व नहीं होता ऐसा अवधारण करने पर भी सब प्रकारके अनित्यत्वसे सब प्रकारके कृतकत्वकी व्याप्ति नही होती किन्तु

अनित्यत्व सामान्यसे ही होती है न कि रथ घट पट आदिके अनित्यत्व विशेषसे ।' यह समाधान प्रस्तुत करने पर तो यही फलित होता है कि आप स्वयं अवधारणकी निष्फलता स्वीकार कर रहे है । 'स्वगत विशेषसे अनित्यत्व है' इसका स्पष्ट अर्थ है कि परगत विशेषसे अनित्यत्व नही है । फिर तो 'अनित्यं कृतकम्' ऐसा विना अवधारणका वाक्य कहना चाहिए । ऐसी दशामे अनित्यत्वका अवधारण न होनेसे नित्यत्वका भी प्रसग प्राप्त होता है । इसी तरह आप यदि 'अस्तित्व सामान्यसे जीव 'स्यादस्ति' है पुद्गलादिगत अस्तित्व विशेषसे नही' यह स्वीकार करते है तो यह स्वय मान रहे है कि दो प्रकारका अस्तित्व है—एक सामान्य अस्तित्व और दूसरा विशेष अस्तित्व । ऐसी दशामे सामान्य अस्तित्वसे स्यादस्ति और विशेष अस्तित्वसे स्यान्नास्ति होने पर अवधारण निष्फल हो ही जाता है । सब प्रकारसे अस्तित्व स्वीकृत होनेपर ही नास्तित्वके निराकरणसे ही अवधारण सार्थक हो सकता है । नियम न रहने पर पुद्गलादिके अस्तित्वसे भी 'स्यादस्ति' की प्राप्ति होती है अत एकान्तवादीको अवधारण मानना ही होगा और ऐसी स्थितिमे पूर्वोक्त दोष आता है ।

'जो अस्ति है वह अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे, इतर द्रव्यादिसे नही क्योकि वे अप्रस्तुत है । जैसे घड़ा पार्थिव रूपसे, इस क्षेत्रसे, इस कालकी दृष्टिसे तथा अपनी वर्तमान पर्यायोसे 'अस्ति' है अन्यसे नही क्योकि वे अप्रस्तुत है ।' इस समाधानसे ही फलित होता है कि घड़ा स्यादस्ति और स्यान्नास्ति है । यदि नियम न माना गया तो वह घडा ही नही हो सकता क्योकि सामान्यात्मकताके अभावमे विशेषरूपता भी नही टिक सकती, अथवा अनियत द्रव्यादिरूप होनेसे वह घडा ही नही रह सकता किंतु सर्वरूप होनेसे महा सामान्य बन जायगा । यदि घडा पार्थिवत्वकी तरह जलादि रूपसे भी अस्ति हो जाय तो जलादि रूप भी होनेसे वह एक सामान्य द्रव्य बन जायगा न कि घडा । यदि इस क्षेत्रकी तरह अन्य समस्त क्षेत्रोंमे भी घडा अस्ति हो जाय तो वह घडा नही रह पायगा किन्तु आकाश बन जायगा । यदि इस कालकी तरह अतीत अनागत कालसे भी वह 'अस्ति' हो तो भी घड़ा नही रह सकता किन्तु त्रिकालानुयायी होनेसे मृद् द्रव्य बन जायगा, फिर तो जिस प्रकार इस देश काल रूपसे हमलोगोंके प्रत्यक्ष है और अर्थक्रियाकारी है उसीतरह अतीत अनागतकाल तथा सभी देशोंमे उसकी प्रत्यक्षता तथा तत्सम्बन्धी अर्थक्रियाकारिता होनी चाहिये । इसी तरह जैसे वह नया है उसी तरह पुराने या सभी रूप रस गन्ध स्पर्श सख्या संस्थान आदिकी दृष्टिसे भी 'अस्ति' हो तो वह घडा नही रह जायगा किन्तु सर्वव्यापी होनेसे महासत्ता बन जायगा । इसी तरह मनुष्य जीव भी स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी दृष्टिसे ही 'अस्ति' है अन्यरूपो से नास्ति है । यदि मनुष्य अन्य रूपसे भी 'अस्ति' हो जाय तो वह मनुष्य ही नही रह सकता, महासामान्य हो जायगा । इसी तरह अनियत क्षेत्र आदि रूपसे 'अस्ति' माननेमे अनियतरूपता का प्रसंग आता है ।

स्वसद्भाव और पर-अभाव के अधीन जीव का स्वरूप होनेसे वह उभयात्मक है । यदि जीव परसत्ताके अभावकी अपेक्षा न करे तो वह जीव न होकर सन्मात्र हो जायगा । इसी तरह परसत्ताके अभावकी अपेक्षा होने पर भी स्वसत्ताका सद्भाव न हो तो वह वस्तु ही नहीं हो सकेगा, जीव होनेकी बात तो दूर ही रही। अत परका अभाव भी स्वसत्ता सद्भावसे ही वस्तुका स्वरूप बन सकता है । जैसे अस्तित्व धर्म अस्तित्व रूपसे ही है नास्तित्व

रूपसे नहीं, अतः उभयात्मक है। अन्यथा वस्तुका अभाव ही हो जायगा क्योंकि अभाव, भावनिरपेक्ष होकर सर्वथा शून्यका ही प्रतिपादन करेगा तथा भाव अभावरूपसे निरपेक्ष रहकर सर्वसन्मात्ररूप वस्तुको कहेगा। सर्वथा सत् या सर्वथा अभाव रूपसे वस्तुकी स्थिति तो है नहीं। क्या कभी वस्तु सर्वाभावात्मक या सर्वसत्तात्मक देखी गई है ? वैसी वस्तु ही नहीं हो सकती क्योंकि वह खरविषाणकी तरह सर्वाभाव रूप है। जब वस्तुत्व श्रावणत्वकी तरह सपक्ष विपक्ष दोनोंसे व्यावृत्त होनेके कारण असाधारण हो गया तब उसका बोध होना भी कठिन है। वस्तुमे क्रियागुण व्यपदेशका अभाव होनेसे भावविलक्षणताके कारण अभावता आती है तथा भावता अभाव वैलक्षण्यसे। इस तरह भावरूपता और अभाव रूपता दोनों परस्पर सापेक्ष है अभाव अपने सद्भाव तथा भावके अभावकी अपेक्षा सिद्ध होता है तथा भाव स्वसद्भाव और अभावके अभावकी अपेक्षासे। यदि अभावको एकांतसे अस्ति स्वीकार किया जाय तो जैसे वह अभावरूपसे अस्ति है उसी तरह भावरूपसे भी 'अस्ति' हो जानेके कारण भाव और अभावमें स्वरूपसांकर्य हो जायगा। यदि अभावको सर्वथा 'नास्ति' माना जाय तो जैसे वह भावरूपसे 'नास्ति' है उसी तरह अभावरूपसे भी 'नास्ति' होनेसे अभावका सर्वथा लोप होनेके कारण भावमात्र ही जगत् रह जायगा। और इस तरह खपुष्प आदि भी भावात्मक हो जायगे। अत घटादिक भाव स्यादस्ति और स्यान्नास्ति है। इस तरह घटादि वस्तुओमे भाव और अभावको परस्पर सापेक्ष होनेसे प्रतिवादीका यह कथन कि 'अर्थ या प्रकरणसे जब घटमे पटादिकी सत्ताका प्रसंग ही नही है तब उसका निषेध क्यो करते हो ?' अयुक्त हो जाता है।

किच, अर्थ होनेके कारण सामान्यरूपसे घटमे पटादि अर्थोंकी सत्ताका प्रसग प्राप्त है ही, यदि उसमे हम विशिष्ट घटरूपता स्वीकार करना चाहते है तो वह पटादिकी सत्ता का निषेध करके ही आ सकती है। अन्यथा वह घट नही कहा जा सकता क्योंकि पटादि रूपोंकी व्यावृत्ति न होनेसे उसमे पटादि रूपता भी उसी तरह मौजूद है।

घटमें जो पटादिका 'नास्तित्व' है वह भी घडेका ही धर्म है, वह उसकी स्वपर्याय है। हाँ, परकी अपेक्षा व्यवहारमें आनेसे परपर्याय उपचारसे कही जाती है।

प्रश्न—'अस्त्येव जीव.' यहाँ 'अस्ति' शब्दके वाच्य अर्थ से जीव शब्दका वाच्य अर्थ भिन्न स्वभाववाला है, या अभिन्न स्वभाववाला ? यदि अभिन्न स्वभाव है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि जो 'सत्' है वही जीव है, उसमे अन्य धर्म नही है। तब उनमें परस्पर सामानाधिकरण्य विशेषण-विशेष्य भाव आदि नही हो सकेगे, तथा दोनों शब्दोंका प्रयोग भी नही होना चाहिये। जिस तरह 'सत्त्व' सर्व द्रव्य और पर्यायोमे व्याप्त है उसी तरह उससे अभिन्न जीव भी व्याप्त होगा। तात्पर्य यह कि संसारके सब पदार्थोंमें एक जीवरूपताका प्रसग आयगा। जीवमे सामान्य सत्स्वभाव होनेसे जीवके चैतन्य ज्ञानादि क्रोधादि नारकत्वादि सभी पर्यायोंका अभाव हो जायगा। अथवा, अस्तित्व जब जीवका स्वभाव हो गया, तब पुद्गलादिकमे 'सत्' यह प्रत्यय नही करा सकेगा। यदि उक्त दोषसे बचनेके लिए अस्ति शब्दके वाच्य अर्थसे जीव शब्दका वाच्य अर्थ भिन्न माना जाता है तो जीव स्वयं असद्रूप हो जायगा। कहा जा सकता है कि जीव असद्रूप है क्योंकि वह अस्ति शब्दके वाच्य अर्थसे भिन्न है जैसे कि खरविषाण। ऐसी दशामे जीवाश्रित बन्ध मोक्ष आदि सभी व्यवहार नष्ट हो जायँगे। और जिस तरह अस्तित्व जीवसे भिन्न है

उसी तरह अन्य पुद्गलादिसे भी भिन्न होगा, तात्पर्य यह कि सर्वथा निराश्रय होनेसे उसका अभाव ही हो जायगा। किच, अस्तित्वसे भिन्न स्वभाववाले जीवका फिर क्या स्वरूप रह जाता है ? जिसे भी आप स्वभाव कहोगे वह सब असद्रूप ही होगा।

उत्तर–'अस्ति' शब्दके वाच्य अर्थसे जीव शब्दका वाच्य अर्थ कथचित् भिन्न रूप है तथा कथचित् अभिन्न रूप। पर्यायार्थिक नयसे भवन और जीवन पर्यायोमे भेद होनेसे दोनों शब्द भिन्नार्थक है। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे दोनों अभिन्न है, जीवके ग्रहणसे तद्भिन्न अस्तित्वका भी ग्रहण होता ही है अत पदार्थ स्यात् अस्ति और स्यान्नास्ति रूप है।

अर्थ अभिधान और प्रत्ययोकी अस्ति और नास्ति उभयरूपसे प्रसिद्धि होनेके कारण भी पदार्थ अस्ति-नास्ति रूप है। जीव अर्थ जीवशब्द और जीव प्रत्यय ये तीनों अत्यन्त प्रसिद्ध है। लोकमे प्रचलित वाच्यवाचक भाव और ज्ञेयज्ञायक भाव तीनोके अस्तित्वके साक्षी है। शून्यवाद या शब्दाद्वैतवाद मानकर इनका निषेध करना उचित नही है। अत प्रत्येक पदार्थ स्यादस्ति और स्यान्नास्ति रूप है। इनमे द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकको तथा पर्यायार्थिक द्रव्यार्थिकको अपनेमे अन्तर्भूत करके व्यापार करता है अत दोनो ही भंग सकलादेशी है।

जब दो गुणोके द्वारा एक अखड अर्थकी युगपत् विवक्षा होती है तो तीसरा अवक्तव्य भग होता है। जैसे प्रथम और द्वितीय भगमे एककालमे एक शब्दसे एक गुणके द्वारा समस्त वस्तुका कथन हो जाता है उस तरह जब दो प्रतियोगी गुणोके द्वारा अवधारण रूपसे युगपत् एक कालमे एक शब्दसे समस्त वस्तुके कहनेकी इच्छा होती है तो वस्तु अवक्तव्य हो जाती है क्योकि वैसा शब्द और अर्थ नही है। गुणोके युगपद्भावका अर्थ है कालादिकी दृष्टिसे अभेदवृत्ति।

वे कालादि आठ है––काल आत्मरूप अर्थ सम्बन्ध उपकार गुणिदेश ससर्ग और शब्द। जिस कारण गुण परस्पर विरुद्ध है अत उनकी एक कालमे किसी एक वस्तुमे वृत्ति नही हो सकती अत सत्त्व और असत्त्वका वाचक एक शब्द नही है। एक वस्तुमे सत्त्व और असत्त्व परस्पर भिन्न रूपमे है उनका एक स्वरूप नही है जिससे वे एक शब्दके द्वारा युगपत् कहे जा सके। परस्पर विरोधी सत्त्व और असत्त्वकी एक अर्थमे वृत्ति भी नही हो सकती जिससे अभिन्न आधार मानकर अभेद और युगपद्भाव कहा जाय तथा किसी एक शब्दसे उनका प्रतिपादन हो सके। सम्बन्धसे भी गुणोमे अभिन्नताकी सभावना नही है क्योकि सम्बन्ध भिन्न होता है। देवदत्त और दंडका सम्बन्ध यज्ञदत्त और छत्रके सम्बन्धसे जुदा है ही। जब कारणभूत सम्बन्धी भिन्न है तब कार्यभूत सम्बन्ध एक नही हो सकता। इसी तरह सत्त्व और असत्त्वका पदार्थसे अपना-अपना पृथक् ही सम्बन्ध होगा, अत सम्बन्धकी दृष्टिसे भी अभेदवृत्तिकी सभावना नही है। समवायको भी सयोगकी तरह विशेषण भेदसे भिन्न ही होना चाहिये। उपकार-दृष्टिसे भी गुण अभिन्न नही है, क्योंकि द्रव्यमे अपना प्रत्यय या विशिष्ट व्यवहार कराना रूप उपकार प्रत्येक गुणका जुदा-जुदा है। नील घटमे नीलानुराग और नील प्रत्यय उत्पन्न करता है जब कि पीत पीतानुराग और पीत प्रत्यय। इसी तरह सत्त्व सत् प्रत्यय कराता है और असत्त्व असत्प्रत्यय। अत उपकारकी दृष्टिसे भी अभेदवृत्ति नही बन सकती। फिर गुणीका उपकार एक देशसे नही होता जिससे एक देशोपकारक होनेसे उनमे अभेदरूपता लाई जाय। एकान्त पक्षमे गुणोंसे संसृष्ट अनेकात्मक रूप नही है। जब शुक्ल और कृष्ण वर्ण परस्पर

भिन्न है तब उनका संसृष्ट रूप एक नही हो सकता जिससे एक शब्दसे कथन हो सके।

कोई एक शब्द या पद दो गुणोंको युगपत् नही कह सकता। यदि कहे तो 'सत्' शब्द सत्त्वकी तरह असत्त्वका भी कथन करेगा तथा 'असत्' शब्द सत्त्वका। पर ऐसी लोक-प्रतीति नही है क्योकि प्रत्येकके वाचक शब्द जुदा-जुदा है। इस तरह कालादिकी दृष्टिसे युगपद्भावकी सम्भावना नही है तथा उभयवाची कोई एक शब्द है नही अत वस्तु अवक्तव्य है। अथवा, शब्दमे वस्तुके तुल्य बलवाले दो धर्मोका मुख्य रूपसे युगपत् कथन करनेकी शक्यता न होनेसे, या परस्पर शब्द प्रतिबन्ध होनेसे निर्गुणत्वका प्रसग होनेसे तथा विवक्षित उभय धर्मोका प्रतिपादन न होनेसे वस्तु अवक्तव्य है। यह भी सकलादेश है, क्योकि परस्पर अवधारित दो मुख्य गुणोसे अखण्ड वस्तुको समस्त रूपसे कहनेकी इच्छा है। यह अखंडता एक गुण रूपसे अभेद वृत्तिके द्वारा या अभेदोपचारसे बन जाती है। यह अवक्तव्य शब्दके द्वारा अन्य छह भगोके द्वारा वक्तव्य होनेसे 'स्यात् अवक्तव्य है सर्वथा नही। यदि सर्वथा अवक्तव्य हो जाय तो 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा भी उसका कथन नही हो सकता। ऐसी दशामे बन्ध मोक्षादिकी प्रक्रियाका निरूपण निरर्थक हो जाता है।

जब दोनो धर्मोकी क्रमश मुख्य रूपसे विवक्षा होती है तब उनके द्वारा समस्त वस्तुका ग्रहण होनेसे चौथा भी भग सकलादेशी होता है। यह भी 'कथञ्चित्' ही समझना चाहिए। यदि सर्वथा उभयात्मक हो तो परस्पर विरोध दोष तथा उभय दोषका प्रसग होता है। इनका निरूपण इस प्रकार होता है—

१—सर्वसामान्य और तदभावसे। पदार्थ दो प्रकारके है एक श्रुतिगम्य और दूसरे अर्थाधिगम्य। श्रुतिमात्रसे बोधित श्रुतिगम्य है तथा अर्थ प्रकरण अभिप्राय आदिसे कल्पित अर्थाधिगम्य है। 'आत्मा अस्ति' यहाँ सभी प्रकारके अवान्तर भेदोकी विवक्षा न रहने पर सर्वविशेषव्यापी सन्मात्रकी दृष्टिसे उसमे 'अस्ति' व्यवहार होता है और उसके प्रतिपक्षी अभाव सामान्यसे 'नास्ति' व्यवहार होता है। जब इन्ही दृष्टियोंसे ये दोनों धर्म युगपत विवक्षित होते है तो वस्तु अवक्तव्य और क्रमश. विवक्षित होनेपर उभयात्मक है।

२—विशिष्ट सामान्य और तदभावसे। आत्मा आत्मत्व रूप विशिष्ट सामान्यकी दृष्टिसे 'अस्ति' है और अनात्मत्वकी दृष्टिसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामे अवक्तव्य तथा क्रमश उभय विवक्षामे उभयात्मक है।

३—विशिष्ट सामान्य और तदभाव सामान्यसे। आत्मा 'आत्मत्व' रूपसे 'अस्ति' है तथा पृथिवी जल घट पट आदि सब प्रकारसे अभाव सामान्य रूपसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामे अवक्तव्य और क्रम विवक्षामे उभयात्मक है।

४—विशिष्ट सामान्य और तद्विशेषसे। आत्मा 'आत्मत्व' रूपसे 'अस्ति' है और आत्मविशेष 'मनुष्य' रूपसे 'नास्ति' है। युगपत् विवक्षामे अवक्तव्य और क्रम-विवक्षामे उभयात्मक है।

५—सामान्य और विशिष्ट सामान्यसे। सामान्य दृष्टिसे द्रव्यत्व रूपसे आत्मा 'अस्ति' है और विशिष्ट सामान्यके अभाव रूप अनात्मत्वसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामे अवक्तव्य और क्रम विवक्षामे उभयात्मक है।

६—द्रव्य सामान्य और गुणसामान्यसे। द्रव्यत्व रूपसे आत्मा 'अस्ति' है तथा प्रतियोगि गुणत्वकी दृष्टिसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामे अवक्तव्य और क्रमशः उभय विवक्षामे उभयात्मक है।

७—धर्मसमुदाय और तद्व्यतिरेकसे। त्रिकाल गोचर अनेकशक्ति तथा ज्ञानादि धर्म समुदाय रूपसे आत्मा 'अस्ति' है तथा तदभाव रूपसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षा मे अवक्तव्य और क्रमश. उभय विवक्षामे उभयात्मक है।

८—धर्म सामान्य सम्बन्धसे और तदभावसे। ज्ञानादि गुणोके सामान्य सम्बन्ध की दृष्टिसे आत्मा 'अस्ति' है तथा किसी भी समय धर्मसामान्य सम्बन्धका अभाव नही होता अत· तदभावकी दृष्टिसे 'नास्ति' है। युगपत् विवक्षामे अवक्तव्य और क्रमविवक्षामे उभयात्मक है।

९—धर्मविशेष सम्बन्ध और तदभावसे। किसी विवक्षित धर्मके सम्बन्धकी दृष्टि से आत्मा 'अस्ति' है तथा उसीके अभाव रूपसे 'नास्ति' है। जैसे आत्मा नित्यत्व या चेतनत्व किसी अमुक धर्मके सम्बन्धसे 'अस्ति' है और विपक्षी धर्मसे 'नास्ति' है। युगपत् उभय विवक्षामे अवक्तव्य है और क्रमविवक्षामे उभयात्मक है।

पाँचवाँ भंग तीन स्वरूपोंसे द्वयात्मक होता है। अनेक द्रव्य और अनेक पर्यायात्मक जीवके किसी द्रव्यार्थ विशेष या पर्यायार्थ विशेषकी विवक्षामे एक आत्मा 'अस्ति' है, वही पूर्व विवक्षा तथा द्रव्यसामान्य और पर्यायसामान्य या दोनोकी युगपदभेद विवक्षामे वचनोके अगोचर होकर अवक्तव्य हो जाता है। जैसे आत्मा द्रव्यत्व जीवत्व या मनुष्यत्व रूपसे 'अस्ति' है तथा द्रव्यपर्याय सामान्य तथा तदभावकी युगपत् विवक्षामे अवक्तव्य है। इस तरह 'स्यादस्ति अवक्तव्य' भग बनता है। यह भी विवक्षासे अखड वस्तुको ग्रहण करनेके कारण सकलादेश है क्योकि इसने एक अशरूपसे समस्त वस्तुको ग्रहण किया है।

छठवाँ भग भी तीन स्वरूपोंसे दो अंशवाला होता है। वस्तुगत नास्तित्व ही जब अवक्तव्य रूपसे अनुबद्ध होकर विवक्षित होता है तब यह भग बनता है। नास्तित्व पर्याय-की दृष्टिसे है। पर्याये दो प्रकारकी है—एक सहभाविनी और दूसरी क्रमभाविनी। गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय आदि सहभाविनी तथा क्रोध मान बाल्य यौवन आदि क्रम-भाविनी पर्याये है। गत्यादि और क्रोधादि पर्यायोसे भिन्न कोई एक अवस्थायी जीव नही है, किन्तु ये ही क्रमिक-पर्याये जीव कही जाती है। जो वस्तुत्वेन 'सत्' है वही द्रव्याश है तथा जो अवस्तुत्वेन 'असत्' है वही पर्यायाश है। इन दोनोकी युगपत् अभेद विवक्षामे वस्तु अवक्तव्य है। इस तरह आत्मा नास्ति अवक्तव्य है। यह भी सकलादेश है क्योकि विव-क्षित धर्मरूपसे अखण्ड वस्तुको ग्रहण करता है।

सातवाँ भङ्ग चार स्वरूपोंसे तीन अशवाला है। किसी द्रव्यार्थ विशेषकी अपेक्षा अस्तित्व किसी पर्यायविशेषकी अपेक्षा 'नास्तित्व' होता है तथा किसी द्रव्यपर्याय विशेष और द्रव्यपर्याय सामान्यकी युगपत् विवक्षामे वही अवक्तव्य भी हो जाता है। इस तरह अस्ति नास्ति अवक्तव्य भंग बन जाता है। यह भी सकलादेश है क्योकि इसने विवक्षित-धर्मरूपसे अखण्ड समस्त वस्तुका ग्रहण किया है।

§ २५ निरश वस्तुमे गुणभेदसे अशकल्पना करना विकलादेश है। स्वरूपसे अविभागी अखड सत्ताक वस्तुमे विविध गुणोंकी अपेक्षा अंश कल्पना करना अर्थात् अनेकत्व और एकत्वकी व्यवस्थाके लिए मूलतः नरसिहमे सिहत्वकी तरह समुदायात्मक वस्तुस्वरूपको स्वीकार करके ही काल आदिकी दृष्टिसे परस्पर विभिन्न अशोकी कल्पना करना विकलादेश है। केवल सिहमे सिहत्वकी तरह एकमे एकाशकी कल्पना विकलादेश नही है। जैसे दाडिम कर्पूर आदिसे बने हुए शर्बतमे विलक्षण रसकी अनुभूति और स्वीकृतिके बाद अपनी पहचान शक्तिके अनुसार 'इस शर्बतमे लायची भी है, कर्पूर भी है' इत्यादि विवेचन किया जाता है उसी तरह अनेकान्तात्मक एक वस्तुकी स्वीकृतिके बाद हेतुविशेषसे किसी विवक्षित अशका निश्चय करना विकलादेश है। अखड भी वस्तुमे गुणोसे भेद होता है जैसे 'गतवर्ष आप पटु थे, इस वर्ष पटुतर है' इस प्रयोगमे अवस्थाभेदसे तदभिन्न द्रव्यमे भेद व्यवहार होता है। गुणभेदसे गुणिभेदका होना स्वाभाविक ही है।

§ २६ विकलादेशमे भी सप्तभगी होती है। गुणभेदक अशोमे क्रम, यौगपद्य तथा क्रम-यौगपद्य दोनोंसे विवक्षाके वश विकलादेश होते है। प्रथम और द्वितीय भंगमे स्वतंत्र क्रम, तीसरेमे यौगपद्य, चौथेमें सयुक्त क्रम, पांचवे और छठे भगमे स्वतत्र क्रमके साथ यौगपद्य तथा सातवे भगमे सयुक्त क्रम और यौगपद्य है। सर्वसामान्य आदि किसी एक द्रव्यार्थ-दृष्टिसे 'स्यादस्त्येव आत्मा' यह पहिला विकलादेश है। इस भगमे अन्य धर्म यद्यपि वस्तुमे विद्यमान है तो भी कालादिकी अपेक्षा भेदविवक्षा होनेसे शब्दवाच्यत्वेन स्वीकृत नही है अत. न उनका विधान ही है और न प्रतिषेध ही। इसी तरह अन्य भगोमे भी स्वविवक्षित धर्मकी प्रधानता होती है और अन्य धर्मोके प्रति उदासीनता, न तो उनका विधान ही होता है और न उनका प्रतिषेध ही।

प्रश्न––जब आप 'अस्त्येव' इस तरह विशेषण-विशेष्यके नियमनको एवकार देते हो तब अर्थात् ही इतरकी निवृत्ति हो जाती है? उदासीनता कहाँ रही?

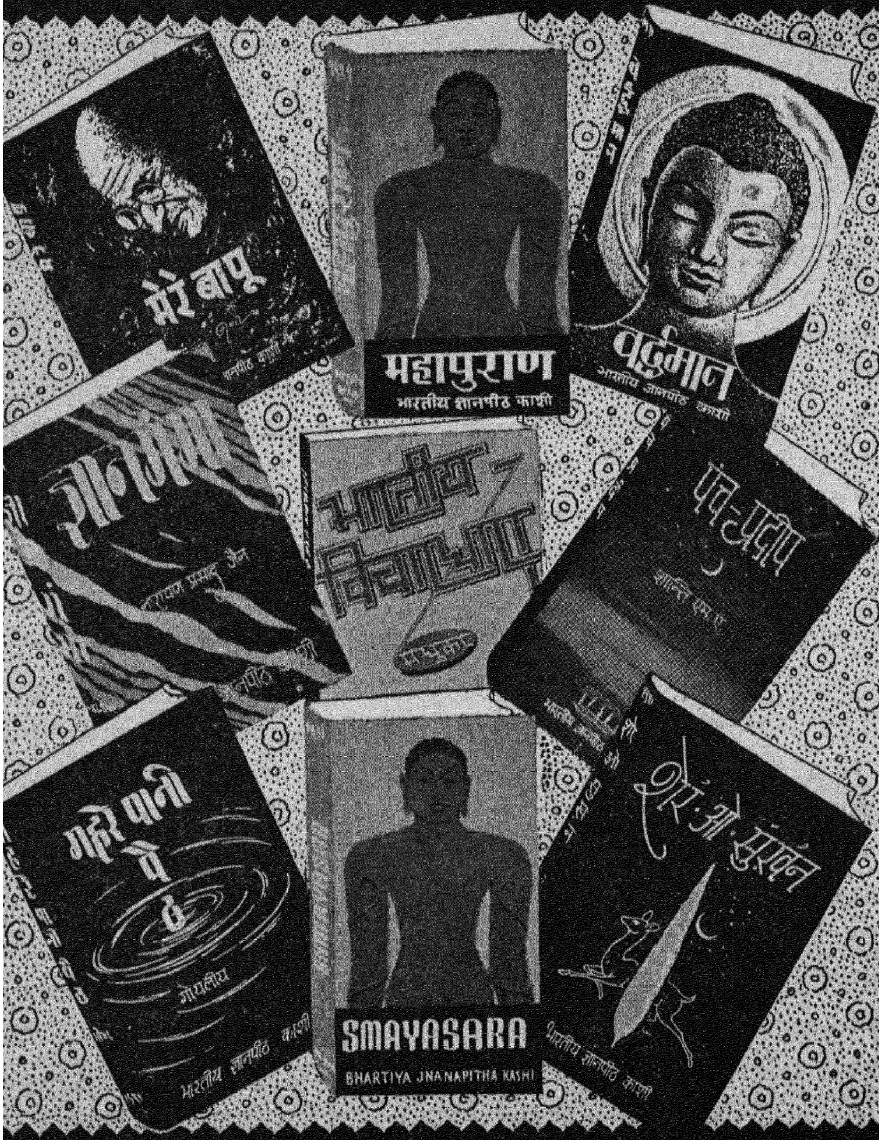
उत्तर––इसीलिए शेष धर्मोंके सद्भावको द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। एवकारसे जब इतरनिवृत्तिका प्रसंग प्रस्तुत होता है तो सकल लोप न हो जाय इसलिए 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्मके साथ ही साथ अन्यधर्मोंके सद्भावकी सूचना दे देता है। इस तरह अपुनरुक्त रूपसे अधिकसे अधिक सात प्रकारके वचन हो सकते है। यह सब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी विवक्षासे होता है। ये नय संग्रह और व्यवहार रूप होते है शब्द नय और अर्थनय रूपसे भी इनके विभाग है। संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थनय है तथा शब्द समभिरूढ और एवभूत शब्दनय है। सग्रहनय सत्ताको विषय करता है, वह समस्त वस्तुतत्त्वका सत्तामे अन्तर्भाव करके अभेद रूपसे संग्रह करता है। व्यवहारनय असत्त्वको विषय करता है क्योंकि वह उन परस्पर भिन्न सत्त्वोंको ग्रहण करता है जिनमे एक दूसरेका असत्त्व अन्तर्भूत है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान क्षणवर्ती पर्यायको जानता है। इसकी दृष्टिमें अतीत और अनागत चूँकि विनष्ट और अनुत्पन्न है, अतः उनसे व्यवहार नही हो सकता। ये तीनों अर्थनय मिलकर तथा एकाकी रहकर सात प्रकारके भंगोंको उत्पन्न करते है। पहिला संग्रह दूसरा व्यवहार, तीसरा अविभक्त (युगपद् विवक्षित) सग्रह व्यवहार, चौथा समुच्चित (क्रम विवक्षित समुदाय) सग्रह व्यवहार, पाचवां सग्रह और अविभक्त संग्रह व्यवहार, छठवां व्यवहार और अविभक्त सग्रह व्यवहार तथा सातवां समुदित संग्रह व्यवहार

और अविभक्त संग्रह व्यवहार। शब्दनय व्यजन पर्यायोंको विषय करते है। वे अभेद तथा भेद दो प्रकारके वचन प्रयोगको सामने लाते है। शब्दनयमे पर्यायवाची विभिन्न शब्दोका प्रयोग होनेपर भी उसी अर्थका कथन होता है, अत. अभेद है। समभिरूढनयमे घटनक्रियामे परिणत या अपरिणत, अभिन्न ही घटका निरूपण होता है। एवभूतमे प्रवृत्तिनिमित्तसे भिन्न ही अर्थका निरूपण होता है। अथवा एक अर्थमे अनेक शब्दोकी प्रवृत्ति या प्रत्येकमे स्वतंत्र शब्दोंका प्रयोग, इस तरह भी दो प्रकार है। शब्दनयमे अनेक पर्यायवाची शब्दोका वाच्य एक ही होता है। समभिरूढमे चूंकि शब्द नैमित्तिक है अत. एक शब्दका वाच्य एक ही होता है। एवंभूत वर्तमान निमित्तको पकडता है अत उसके मतसे भी एक शब्दका वाच्य एक ही है।

§ २७ इन परस्पर विरुद्ध सरीखे दिखनेवाले धर्मोमे नयदृष्टिसे योजना करनेपर कोई विरोध नही रहता। विरोध तीन प्रकारका है–१ वध्यघातक भाव, २ सहानवस्थान, ३ प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक भाव। वध्यघातक भाव विरोध सर्प और नकुल या अग्नि और जलमे होता है। यह दो विद्यमान पदार्थोंमे संयोग होनेपर होता है, संयोगके बाद जो बलवान् होता है वह निर्बलको बाधित करता है। अग्निसे असंयुक्त जल अग्निको नही बुझा सकता। परन्तु आप अस्तित्व और नास्तित्वकी एक वस्तुमे क्षणमात्र भी वृत्ति नही मानना चाहते अतः यह विरोध कैसे होगा? यदि दोनोकी एक वस्तुमे युगपत् वृत्ति स्वीकार करते हो तो जब दोनों धर्म तुल्य हेतुक और समान बलशाली है तब एक दूसरेको कैसे बाध सकता है? जिससे इनमें बध्यघातक विरोध माना जाय। दूसरा सहानवस्थान विरोध एक वस्तुकी क्रमसे होनेवाली दो पर्यायोंमे होता है। नयी पर्याय उत्पन्न होती है तो पूर्वपर्याय नष्ट हो जाती है। जैसे आमका हरा रूप नष्ट होता है और पीतरूप उत्पन्न होता है। किन्तु अस्तित्व और नास्तित्व वस्तुमे क्रमिक नही है। यदि ये क्रमभावी होते तो अस्तित्वकालमे नास्तित्व और नास्तित्वकालमें अस्तित्वका अभाव प्राप्त होगा। ऐसी दशामे नास्तित्वका अभाव होनेपर जीवमात्र जगत् हो जायगा। और अस्तित्वके अभावमे शून्यताका प्रसङ्ग आयगा, और समस्त बन्ध मोक्षादि व्यवहारका उच्छेद हो जायगा। सर्वथा असत्की उत्पत्ति और सत्का सर्वथा विनाश नही हो सकता। अतः यह विरोध भी अस्तित्व-नास्तित्वमे नही हो सकता। प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक भाव विरोध भी इनमे नही है। जैसे आमका फल जब तक डालमे लगा हुआ है तब तक फल और डठलका संयोग रूप प्रतिबन्धकके रहनेसे गुरुत्व मौजूद रहने पर भी आमको नीचे नही गिराता। जब संयोग टूट जाता है तब गुरुत्व फल को नीचे गिरा देता है। 'सयोग' के अभावमे गुरुत्व पतनका कारण होता है, यह सिद्धान्त है। परन्तु यहाँ न तो अस्तित्व नास्तित्वके प्रयोजनका प्रतिबन्ध करता है और न नास्तित्व अस्तित्व के। अस्तित्वकालमें ही परकी अपेक्षा 'नास्ति' बुद्धि होती है तथा नास्तित्वके समय ही स्वापेक्षया अस्तित्व बुद्धि और व्यवहार होता है। इस तरह विवक्षाभेदसे जीवादिपदार्थ एकानेकात्मक हैं।

चतुर्थ अध्याय समाप्त

सन् १९५१ की प्रकाशित पुस्तकें



भारतीय ज्ञानपीठ काशी


सन्
१९५२
की
प्रकाशित
पुस्तकें
भारतीय ज्ञान पीठ
काशी

भारतीय ज्ञानपीठ काशीके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

[हिन्दी ग्रन्थ]

१. **मुक्तिदूत** [उपन्यास]—अञ्जना-पवनञ्जयकी पुण्यगाथा ५)
२. **पथचिह्न** [स्वर्गीया बहिनके पवित्र संस्मरण और युगविश्लेषण] २)
३. **दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ** ३)
४. **पाश्चात्य तर्कशास्त्र** [अप्राप्य] ६)
५. **शेरो-शायरी** [उर्दूके सर्वोत्तम १५०० शेर और १६० नज्म] ८)
६. **मिलनयामिनी** [बच्चनजीके नवीनतम गीत] ४)
७. **वैदिक साहित्य** [वेदोपर हिन्दीमें साधिकार मौलिक विवेचन] ७)
८. **मेरे बापू** [महात्मा गाँधीके प्रति श्रद्धाञ्जलि] २॥)
९. **पंच प्रदीप** [श्री शान्ति एम० ए० के मधुर गीत] २)
१०. **भारतीय विचारधारा** [भारतीय दर्शनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ] २)
११. **ज्ञानगंगा** [संसारके महान् साधकोंकी सूक्तियोंका अक्षय भण्डार] ६)
१२. **गहरे पानी पैठ** [सूक्तिरूपमें ११८ मर्मस्पर्शी कहानियाँ] २॥)
१३. **वर्द्धमान** [महाकाव्य] ६)
१४. **शेर-ओ सुखन** [उर्दू शायरीका प्रामाणिक इतिहास] ८)
१५. **जैन-जागरणके अग्रदूत** ४)
१६. **हमारे आराध्य** ३)
१७. **संस्मरण** ३)
१८. **रेखाचित्र** ४)
१९. **भारतीय ज्योतिष** [ज्योतिष शास्त्रका प्रामाणिक ग्रन्थ] ६)
२०. **रजतरश्मि** [डॉ० वर्माके ५ एकांकी नाटक] २॥)
२१. **आकाशके तारे : धरतीके फूल** २)
२२. **आधुनिक जैन कवि** [श्रीमती रमा जैन] ३॥)
२३. **जैनशासन** [जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करनेवाली सुन्दर रचना] ३)
२४. **कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न** [अध्यात्मवादका अद्भुत ग्रन्थ] २)
२५. **हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास** २॥=)

[प्राकृत, संस्कृत ग्रंथ]

२६. **महाबन्ध** [महाधवल सिद्धान्त शास्त्र]—प्रथम भाग, हिन्दी अनुवाद सहित १२)
२७. **करलक्खण** [सामुद्रिक शास्त्र]—हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ [स्टाक समाप्त] १)
२८. **मदनपराजय** [भाषानुवाद तथा ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना] ५)
२९. **कन्नड प्रन्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची** १३)
३०. **न्यायविनिश्चय विवरण** [प्रथम भाग] १५)
३१. **तत्त्वार्थवृत्ति** [श्रुतसागर सूरिरचित टीका। हिन्दी सार सहित] १६)
३२. **आदिपुराण** भाग १ [भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र] १०)
३३. **आदिपुराण** भाग २ [भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र] १०)
३४. **नाममाला सभाष्य** ३॥)
३५. **केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि** [ज्योतिष ग्रन्थ] ४)
३६. **सभाष्यरत्नमंजूषा** [छन्दशास्त्र] २)
३७. **समयसार**—[अंग्रेजी] ५)
३८. **थिरुकुरल**—तामिल भाषाका पञ्चमवेद [तामिल लिपि] ४)
३९. **वसुनन्दि-श्रावकाचार** ५)
४०. **तत्त्वार्थवार्तिक** [राजवार्तिक भाग १] १२)

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ५